KALYAN JUNE-DEC 1951 G.K.U.

110361

2-6-

कल्याण

76150

वर्ष २८

अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २००८, जून सन् १९५१

विषय पृष्ठ-संख्या
१–शुभ आकाङ्क्षा [कविता] (श्रीसूरदासजी) १०७९
२–कल्याण ('शिव') १०८०
३–संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्कके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०८१
४–सब नाम-रूपोंमें एक ही भगवान् (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ११११
५–विकासके पथपर (स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजी) १११२
६–सत्सङ्गमाला (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) १११५
७–नैतिक अर्थशास्त्रकी आवश्यकता (श्रीभगवानदासजी केला) ११२०
८–भक्तगाथा [विरक्त रामभक्त श्रीबनादासजी] (बाबा श्रीराघवदासजी एम्० एल्० ए०) ... ११२४
९–सेवाकी सात आवश्यक बातें ११२६
१०–सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन (सङ्कलनकर्ता—एक सत्सङ्गी) ११२७
११–भगवान्‌को छोड़कर अपना कौन है ? [कविता] (श्रीसूरदासजी) ११३३
१२–क्षमा [कहानी] (श्रीजनार्दन शर्मा 'अवनीन्द्र') ११३४
१३–कामके पत्र ११३९
१४–मनकी दशा [कविता] (श्रीनानकजी) ११४२

चित्र-सूची

तिरंगा

१–दिव्य युगल १०७९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।=)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए० शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

110361

110361

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१–**श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी**–'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिन्दी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य	४)
२–**श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य**–[हिन्दी-अनुवादसहित] इसमें मूल, श्लोक, भाष्य, हिन्दीमें भावार्थ, टिप्पणी तथा शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है। पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य	२॥।)
३–**श्रीमद्भगवद्गीता**–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' नामक लेखसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रंगीन चित्र ४, मूल्य	१।)
४–**श्रीमद्भगवद्गीता**–[मझली] प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० ३ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अ० ॥≥), सजि०	१)
५–**श्रीमद्भगवद्गीता**–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥), सजि०	॥=)
६–**श्रीमद्भगवद्गीता**–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द ।–), सजिल्द	॥–)
७–**श्रीमद्भगवद्गीता**–केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य	।)
८–**श्रीपञ्चरत्न-गीता**–सचित्र, इसमें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज, श्रीअनुस्मृति, श्रीगजेन्द्रमोक्षके मूल पाठ हैं। गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य	≡)
९–**श्रीमद्भगवद्गीता**–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिल्द	=)॥
१०–**श्रीमद्भगवद्गीता**–मूल, ताबीजी, साइज २×२॥ इंच, पृष्ठ २९६, सजिल्द मूल्य	=)
११–**श्रीमद्भगवद्गीता**–विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य	–)॥
१२–**ईशावास्योपनिषद्**–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य	≡)
१३–**ऐतरेयोपनिषद्**–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १०४, मूल्य	।=)
१४–**श्रीमद्भागवत महापुराण**–मूल-गुटका, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य	३)
१५–**श्रीरामचरितमानस**–मोटा टाइप, भाषाटीकासहित, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द मूल्य	७॥)
१६–**श्रीरामचरितमानस**–बड़े अक्षरोंमें केवल मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य	४)
१७–**श्रीरामचरितमानस**–मूल, मोटा टाइप, पाठभेदवाली, सचित्र, पृष्ठ ७९६, मूल्य	३॥)
१८–**श्रीरामचरितमानस**–मूल, गुटका, पृष्ठ ६८०, रंगीन चित्र १ और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द मूल्य	॥।)
१९–**मानस-रहस्य**–चित्र रंगीन १, पृष्ठ-संख्या ५१२, मूल्य १।), सजिल्द	१॥=)
२०–**मानस-शंका-समाधान**–चित्र रंगीन १, पृष्ठ १९४, मूल्य	॥)
२१–**विनय-पत्रिका**–गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनुवादक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ४७२, सुनहरी चित्र १, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द	१।=)
२२–**गीतावली**–गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४४४, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द	१।=)
२३–**कवितावली**–गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत, सटीक, चित्र १, सचित्र पृष्ठ २२४, मूल्य	॥–)
२४–**दोहावली**–सानुवाद, अनुवादक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, १ रंगीन चित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य	॥)
२५–**प्रेम-योग**–लेखक—श्रीवियोगीहरिजी, पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य	१॥)
२६–**तत्त्व-चिन्तामणि**–(भाग १)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५२, मूल्य ॥=), सजिज्द	१)
२७–**तत्त्व-चिन्तामणि**–(भाग २)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५९२, मूल्य ॥।=), सजिल्द	१।)
२८–**तत्त्व-चिन्तामणि**–(भाग ३)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४२४, मूल्य ॥≥), सजिल्द	१–)
२९–**तत्त्व-चिन्तामणि**–(भाग ४)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५२८, मूल्य ॥।–), सजिल्द	१≥)

३०-**तत्त्व-चिन्तामणि**-(भाग ५)-सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४९६, मूल्य |||-), सजिल्द १≡)
३१-**तत्त्व-चिन्तामणि**-(भाग ६)-सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४५६, मूल्य १), सजिल्द १|=)
३२-**तत्त्व-चिन्तामणि**-(भाग ७)-सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५३०, मूल्य १=), सजिल्द १||)
३३-**तत्त्व-चिन्तामणि**-(भाग ४)-(छोटे आकारका गुटका संस्करण) सचित्र, पृष्ठ ६८४, मूल्य |=), सजिल्द ||=)
३४-**ढाई हजार अनमोल बोल (संत-वाणी)**-सम्पादक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ३२४, सचित्र, मूल्य ||=)
३५-**सूक्ति-सुधाकर**-सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य ||=)
३६-**स्तोत्र-रत्नावली**-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३१६, मूल्य ||)
३७-**पातञ्जलयोगदर्शन**-सटीक, व्याख्याकार-श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, पृष्ठ १७६, दो चित्र, मूल्य |||) सजिल्द १)
३८-**श्रीदुर्गासप्तशती**-सटीक, पृष्ठ २४०, चित्र तिरंगा १, मूल्य |||)
३९-**सत्सङ्गके बिखरे मोती**-पृष्ठ २४४, ग्यारह मालाएँ, मूल्य |||)
४०-**सुखी जीवन**-लेखिका-श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, मूल्य ||)
४१-**भगवच्चर्चा भाग १**-(तुलसीदल)-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य अजिल्द ||) सजि० |||=)
४२-**भगवच्चर्चा भाग २**-(नैवेद्य)-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके २८ लेख और ६ कविताओंका संग्रह, सचित्र,
पृष्ठ २६४, मूल्य ||), सजिल्द |||=)
४३-**रामायणके कुछ आदर्श पात्र**-पृष्ठ १६८, मूल्य |=)
४४-**उपनिषदोंके चौदह रत्न**-पृष्ठ ९०, मूल्य |=)
४५-**लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र]**-(प्रथम भाग)—पृष्ठ-संख्या २२०, मूल्य |=)
४६-**लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र]**-(द्वितीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २४४, मूल्य |=)
४७-**रामायण-प्रथमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक**-पृष्ठ १५६, मूल्य |=)
४८-**भक्त नरसिंह मेहता**-सचित्र, पृष्ठ १६०, मूल्य |=)
४९-**प्रेम-दर्शन**-नारदरचित भक्तिसूत्रोंकी विस्तृत टीका, टीकाकार-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ १८८, मूल्य |-)
५०-**भवरोगकी रामबाण दवा**-लेखक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ १७२, मूल्य |-)
५१-**विवेक-चूडामणि**-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, मूल्य अजिल्द |-)
५२-**भक्त बालक**-गोविन्द, मोहन आदि बालक भक्तोंकी ५ कथाएँ हैं, पृष्ठ ७२, सचित्र, मूल्य |-)
५३-**भक्त नारी**-स्त्रियोंमें धार्मिक भाव बढ़ानेके लिये बहुत उपयोगीमीरा, शबरी आदिकी कथाएँ हैं, पृष्ठ ६८,
१ रंगीन, ५ सादे चित्र, मूल्य |-)
५४-**भक्त-पञ्चरत्न**- रघुनाथ, दामोदर आदि पाँच भक्तोंकी कथाओंकी पुस्तक, पृष्ठ ८८, दो चित्र, मूल्य |-)
५५-**आदर्श भक्त**-शिबि, रन्तिदेव आदिकी ७ कथाएँ, पृष्ठ ९६, १ रंगीन, ११ लाइन-चित्र, मूल्य |-)
५६-**भक्त-सप्तरत्न**-दामा, रघु आदिकी गाथाएँ, पृष्ठ ८६, चित्र १, मूल्य |-)
५७-**भक्त-चन्द्रिका**-सखू, विट्ठल आदि ६ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, चित्र १, मूल्य |-)
५८-**भक्त-कुसुम**-जगन्नाथ, हिम्मतदास आदिकी ६ कथाएँ, पृष्ठ ८४, चित्र १, मूल्य |-)
५९-**प्रेमी भक्त**-बिल्वमंगल, जयदेव आदिकी ५ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य |-)
६०-**प्राचीन भक्त**-मार्कण्डेय, कण्डु, उत्तङ्क आदिकी १५ कथाएँ, पृष्ठ १५२, चित्र बहुरंगे ४, मूल्य ||)
६१-**भक्त-सरोज**-गङ्गाधरदास, श्रीधर आदिकी १० कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र मूल्य |=)
६२-**भक्त-सुमन**-नामदेव, राँका-बाँका आदिकी १० कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र बहुरंगे २, सादे २, मूल्य |=)
६३-**भक्त-सौरभ**-व्यासदासजी, प्रयागदासजी आदिकी ५ कथाएँ, पृष्ठ ११०, चित्र १, मूल्य |-)
६४-**भक्तराज हनुमान्**-सचित्र, पृष्ठ ७२, चित्र १ रंगीन ४ सादे, मूल्य |-)
६५-**सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र**-पृष्ठ ५२, चित्र रंगीन ४, मूल्य |-)
६६-**प्रेमी भक्त उद्धव**-पृष्ठ-संख्या ६४, रंगीन चित्र १, मूल्य ≡)

६७–**महात्मा विदुर**–पृष्ठ-संख्या ६०, १ सादा चित्र, मूल्य	=)॥
६८–**भक्तराज ध्रुव**–पृष्ठ-संख्या ४४, २ रंगीन चित्र, मूल्य	≡)
६९–**परमार्थ-पत्रावली**–(भाग १)–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १२४, सचित्र, मूल्य	।)
७०–**परमार्थ-पत्रावली**–(भाग २)–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ८० पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १७२, सचित्र, मूल्य	।)
७१–**परमार्थ-पत्रावली** (भाग ३)–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ७२ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य	॥)
७२–**परमार्थ-पत्रावली** (भाग ४)–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ९१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ २०४, सचित्र, मूल्य	॥)
७३–**कल्याणकुञ्ज**–मननीय तरंगोंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ १३६, मूल्य	।)
७४–**महाभारतके कुछ आदर्श पात्र**–पृष्ठ १२६, मूल्य	।)
७५–**भगवान्‌पर विश्वास**–सचित्र, पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य	।)
७६–**प्रार्थना**–सचित्र, पृष्ठ ५६, इक्कीस प्रार्थनाओंका संग्रह, मूल्य	≡)
७७–**आदर्श नारी सुशीला**–सचित्र, पृष्ठ ५६, लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य	≡)
७८–**आदर्श भ्रातृ-प्रेम**–लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ १०४, मूल्य	≡)
७९–**मानव-धर्म**–लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ९८, मूल्य	≡)
८०–**गीता-निबन्धावली**–गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये बहुत उपयोगी है, पृष्ठ ८०, मूल्य	=)॥
८१–**साधन-पथ**–लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य	=)॥
८२–**अपरोक्षानुभूति**–शंकरस्वामिकृत, सानुवाद, पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य	=)॥
८३–**मनन-माला**–यह भावुक भक्तोंके बड़े कामकी चीज है, पृष्ठ ५४, सचित्र, मूल्य	=)॥
८४–**नवधा भक्ति**–लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६०, सचित्र, मूल्य	=)
८५–**बाल-शिक्षा**–लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य	=)
८६–**रामायण-शिशु-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक**–पृष्ठ ४०, मूल्य	=)
८७–**भजन-संग्रह**–(प्रथम भाग)–पृष्ठ १८०, मूल्य	=)
८८–**भजन-संग्रह**–(द्वितीय भाग)–पृष्ठ १६८, मूल्य	=)
८९–**भजन-संग्रह**–(तृतीय भाग)–पृष्ठ २२८, मूल्य	=)
९०–**भजन-संग्रह**–(चतुर्थ भाग)–पृष्ठ १६०, मूल्य	=)
९१–**भजन-संग्रह**–(पञ्चम भाग)–पृष्ठ १४०, मूल्य	=)
९२–**स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी**–पृष्ठ ५६, मूल्य	-)॥
९३–**नारीधर्म**–पृष्ठ ४८, मूल्य	-)॥
९४–**गोपी-प्रेम**–पृष्ठ ५२, मूल्य	-)॥
९५–**मनुस्मृति**–द्वितीय अध्याय सार्थ, पृष्ठ ५२, मूल्य	-)॥
९६–**ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप**–पृष्ठ ३६, मू०	-)॥
९७–**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्**–सटीक, पृष्ठ ९६, मूल्य	-)॥
९८–**हनुमानबाहुक**–सचित्र, सार्थ, पृष्ठ ४०, मूल्य	-)॥
९९–**श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा**–पृष्ठ ४०,	-)।
१००–**मनको वश करनेके कुछ उपाय**–पृष्ठ २४, मू०	-)।
१०१–**ईश्वर**–पृष्ठ ३२, मूल्य	-)।
१०२–**मूल-रामायण**–पृष्ठ २४, मूल्य	-)।
१०३–**रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक**–मूल्य	-)।
१०४–**हरेरामभजन १४ माला**–मूल्य	।-)
१०५–**हरेरामभजन ६४ माला**–मूल्य	१)
१०६–**शारीरकमीमांसादर्शन**–मूल्य	)॥।
१०७–**बलिवैश्वदेवविधि**–मूल्य	)॥

Our English Publications

108–The Philosophy of Love—(*By Hanumanprasad Poddar*)		1-0-0
109–The Bhagavadgitā—(*With Sanskrit text and an English translation*)		0-4-0
	Bound	0-6-0
110–The Divine Name and Its Practice—(*By Hanumanprasad Poddar*)		0-3-0
111–Wavelets of Bliss—(*By Hanumanprasad Poddar*)		0-2-0

112-**The Immanence of God**—(*By Madan Mohan Malviya*)	0-2-0
113-**What is God ?**—(*By Jayadayal Goyandka*)	0-2-0
114-**The Divine Message**—(*By Hanumanprasad Poddar*)	0-0-9
115-**What is Dharma ?**—(*By Jayadayal Goyandka*)	0-0-9

नयी सूचना

छोटी-छोटी ५२ पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं। इन पैकेटोंपर पुस्तकोंके अलग-अलग नाम तथा मूल्य छाप दिया गया है। पैकेटोंमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। किसी भी पुस्तककी अधिक संख्यामें अलग माँग दी जा सकती है।

पैकेटोंका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-संख्या १३, मूल्य ॥।)

१-सामयिक चेतावनी-पृष्ठ २४, मूल्य -)
२-आनन्दकी लहरें-पृष्ठ २४, मूल्य -)
३-गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र-सार्थ, पृष्ठ ३२, मूल्य -)
४-श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश-पृष्ठ १६, मूल्य -)
५-ब्रह्मचर्य-पृष्ठ ३२, मूल्य -)
६-हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप-पृष्ठ २४, मूल्य -)
७-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय-पृष्ठ ३२ -)
८-श्रीभगवन्नाम-पृष्ठ ७२, मूल्य -)
९-श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन-पृष्ठ ६४ -)
१०-भगवत्तत्त्व-पृष्ठ ६४, मूल्य -)
११-सन्ध्योपासनविधि अर्थसहित-पृष्ठ २४, मूल्य -)
१२-हरेरामभजन दो माला-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
१३-पातञ्जलयोगदर्शन मूल-पृष्ठ २०, मूल्य)।

॥।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-संख्या ५, मूल्य ।)

१-संत-महिमा-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
२-श्रीरामगीता-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
३-विष्णुसहस्रनाम मूल-पृष्ठ ४८, मूल्य)॥
४-वैराग्य-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
५-रामायण सुन्दरकाण्ड-पृष्ठ ६४, मूल्य -)

।)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-संख्या १६, मूल्य ॥)

१-विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद-(सार्थ) पृष्ठ १६)॥
२-सीतारामभजन-पृष्ठ ६४, मूल्य)॥
३-भगवान् क्या हैं ?-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
४-भगवान्‌की दया-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
५-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग पृष्ठ ४८)॥
६-सेवाके मन्त्र-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
७-प्रश्नोत्तरी-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
८-सन्ध्या विधिसहित-पृष्ठ १६, मूल्य)॥
९-सत्यकी शरणसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
१०-भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
११-व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
१२-स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग-पृष्ठ २०)॥
१३-परलोक और पुनर्जन्म-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
१४-ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन-पृष्ठ ३२)॥
१५-अवतारका सिद्धान्त-पृष्ठ २८, मूल्य)॥
१६-गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची-पृष्ठ ४८)॥

॥)

पैकेट नं० ४, पुस्तक-संख्या १८, मूल्य ।)

१-धर्म क्या है ?-पृष्ठ १६, मूल्य)।
२-श्रीहरिसंकीर्तन-धुन-पृष्ठ ८, मूल्य)।
३-दिव्य सन्देश-पृष्ठ १६, मूल्य)।
४-नारद-भक्ति-सूत्र-पृष्ठ २४, मूल्य)।
५-महात्मा किसे कहते हैं ?-पृष्ठ २४, मूल्य)।
६-ईश्वर दयालु और न्यायकारी है-पृष्ठ २४, मूल्य)।
७-प्रेमका सच्चा स्वरूप-पृष्ठ २४, मूल्य)।
८-हमारा कर्तव्य-पृष्ठ २४, मूल्य)।

९–कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ–पृष्ठ ३२, मूल्य	)।
१०–शोक-नाशके उपाय–पृष्ठ २४, मूल्य	)।
११–ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है–पृष्ठ २४, मूल्य	)।
१२–चेतावनी–पृष्ठ २४, मूल्य	)।
१३–त्यागसे भगवत्प्राप्ति–पृष्ठ २४, मूल्य	)।
१४–श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव–पृष्ठ २०, मूल्य	)।
१५–लोभमें पाप–पृष्ठ ८, मूल्य	आधा पैसा
१६–सप्तश्लोकी गीता–पृष्ठ ८, मूल्य	आधा पैसा
१७-१८–गजल गीता–पृष्ठ ८, २ प्रति, मूल्य	)।
	।)

कुछ ध्यान देने योग्य बातें—

(१) हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी या अंग्रेजी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो उत्तर देने या माल भेजनेमें बहुत असुविधा होगी।

(२) गीता और रामायण कई तरहकी मिलती हैं। इसलिये जिस तरहकी मँगानी हो साफ-साफ नाम और दाम लिखनेकी कृपा करें।

(३) स्टेशनका नाम जरूर लिखना चाहिये। पुस्तकोंका वजन देखकर जिस तरह सुविधा होगी माल उसी हिसाबसे डाक या रेलपारसलसे भेजा जा सकता है। आर्डरके साथ कुछ दाम पेशगी भेजने चाहिये।

(४) थोड़ी पुस्तकोंपर डाकखर्च अधिक पड़ जानेके कारण एक रुपयेसे कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती, इससे कमकी किताबोंकी कीमत, डाकखर्च और रजिस्ट्रीखर्च जोड़कर कुल लागत पहले भेजें।

(५) हमारी पुस्तकोंकी कीमत कम और वजन अधिक होनेके कारण उनपर डाकखर्च अधिक अर्थात् ।) प्रति रुपया डाकखर्च और ।) रजिस्ट्रीखर्च लगता है। इस प्रकार आर्डरके पुस्तकोंकी कीमत मय डाकखर्च और रजिस्ट्रीखर्च—कुल लागत पहले भेज देनेपर पुस्तकें शीघ्र मिल सकेंगी। रेलसे मँगानेवाले सज्जन पुस्तककी कीमत, ।≈)॥ रजिस्ट्रीखर्च तथा)॥ प्रति रुपया पैकिंगखर्च जोड़कर कुल लागत पहले भेजें।

(६) बड़े आर्डर देनेवाले सज्जन यह स्पष्ट लिखें कि मालगाड़ीसे भेजना है या पारसलसे।

(७) आर्डर आने और उसकी प्राप्ति स्वीकार करनेपर भी हम उसका माल भेजनेके लिये बाध्य नहीं हैं। उस आर्डरमेंसे जितना माल हम भेज सकेंगे, उतना ही भेजकर शेष आर्डर कैंसिल कर सकेंगे। पुस्तकें स्टाकमें तैयार न रहनेके कारण माल भेजनेमें देर भी हो सकती है। किसी ग्राहकको किसी भी कारणसे माल न मिलनेपर हमारी कोई जिम्मेदारी न होगी।

(८) 'कल्याण' रजिस्टर्ड होनेसे उसका डाकखर्च कम लगता है और वह ग्राहकोंको नहीं देना पड़ता है। इसलिये 'कल्याण'के साथ पुस्तकें नहीं भेजी जा सकती हैं। पुस्तकोंके लिये अलग आर्डर देना चाहिये। सुविधा एवं शीघ्रताके लिये रुपया भी अलग भेजना चाहिये। 'कल्याण'के रुपयेके साथ पुस्तकोंके लिये रुपया भेजनेसे पुस्तकें विशेष विलम्बसे प्राप्त होंगी।

(९) पैकेट नंबर १, २, ३ और ४ की पुस्तकें लिफाफेमें बंद की हुई हैं, लिफाफेपर पुस्तकोंका नाम और मूल्य छपा है। पैकेटके सिवा अलग भी ये पुस्तकें मिल सकेंगी।

(१०) पुस्तकविक्रेताओंको कम-से-कम ३०) के आर्डरपर १५) प्रतिशत कमीशन दी जायगी। ३०) से कमके आर्डरपर कुछ नहीं। विक्रेताओंके अतिरिक्त दूसरे लोगोंको कमीशनके लिये लिखा-पढ़ी नहीं करनी चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

नोट—कृपया पेशगीसहित आर्डर भेजिये।

गीताप्रेसकी पुस्तकें बहुत-से पुस्तक-विक्रेता भी छपे मूल्यपर ही बेचते हैं और यही उचित भी है; परंतु निम्नलिखित स्थानोंपर तो हमारी पुस्तक-सूचीमें छपे हुए दामोंपर ही बेची जाती हैं। ग्राहकोंको अधिक दाम नहीं देने पड़ते।

(१) श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय ३०, बाँसतल्ला गली,
कलकत्ता।

(२) श्रीगीताप्रेस पेपर एजेन्सी ५९ । ९,
नीचीबाग, **बनारस**।

(३) श्रीगीताभवन, स्वर्गाश्रम, **ऋषिकेश** (देहरादून)

(४) श्रीसत्सङ्गभवन, दादीसेठ अग्यारीलेन,
सिंहानिया बाड़ी गणेशबाग, **बम्बई**।

(५) श्रीमोतीलाल श्यामसुन्दर २५, श्रीरामरोड,
लखनऊ।

(६) श्रीभगवान् भजनाश्रम, अष्टखम्भा, **वृन्दावन**।

(७) श्रीज्वालादत्त गोविन्दराम, **राँची**।

(८) श्रीसुन्दरमल हरीराम, **बेतिया** (चम्पारन)।

(९) श्रीईश्वरदास डागा, बी० के० विद्यालयके
निकट, **बीकानेर**।

(१०) श्रीशंकरदास दुर्गाप्रसाद आढ़ती, सदरगंज
बाजार, **मेरठ**।

(११) श्रीहनुमानदास हरलालका, **शेगाँव** (बरार)

(१२) गीता-आश्रमका पुस्तक-भण्डार गऊघाट, **मथुरा**।

(१३) अच्युत स्टोर, महावीरगंज, **अलीगढ़**।

(१४) किताबघर, सोजतीगेट, **जोधपुर** (राजस्थान)

(१५) लक्ष्मीनारायण शास्त्री, बिड़लामन्दिर,
सब्जीबाग, **पटना**।

(१६) श्रीरामनरसिंहजी हरलालका, संतनगर
करोलबाग, **दिल्ली**।

(१७) राधेहाउस, स्टेशनर्स निकट-तहसील, **मेरठ**।

(१८) श्रीप्रकाश घी-स्टोर काहूकोठी, **कानपुर**।

निवेदक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

* * *

'कल्याण'के प्राप्य साधारण अङ्क

वर्ष १९ वाँ—साधारण अङ्क २, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२ **मूल्य ।) प्रात**

वर्ष २० वाँ— ,, ,, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ११ और १२ ,, ,,

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें

वर्ष २१ वें के साधारण अङ्क—२, ३, ४, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२—कुल १० अङ्क एक साथ, मूल्य १॥-) रजिस्ट्री खर्च ।)

वर्ष २२ वें के ,, ,,—३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११—कुल ९ अङ्क एक साथ, मूल्य १।≡) रजिस्ट्रीखर्च ।)

वर्ष २३ वें के ,, ,,—२, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११—कुल ८ अङ्क एक साथ, मूल्य १॥) रजिस्ट्रीखर्च ।)

उपर्युक्त तीनों वर्षोंके कुल २७ अङ्क एक साथ रजिस्ट्रीखर्चसहित मूल्य ४॥।)

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीविरचित श्रीरामचरितमानसके विभिन्न संस्करणोंके टाइपोंके नमूने—

☞ (१) सटीक-मोटा-टाइप—पृष्ठ १२००, चित्र तिरंगे ८, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ७॥)

* किष्किन्धाकाण्ड *   ७६३

चौ०—जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्रक दुख रज मेरु समाना ॥

जो लोग मित्रके दुःखसे दुखी नहीं होते, उन्हें देखनेसे ही बड़ा पाप लगता है । अपने पर्वतके समान दुःखको धूलके समान और मित्रके धूलके समान दुःखको सुमेरु (बड़े भारी पर्वत) के समान जाने ॥ १ ॥

☞ (२) बड़े अक्षरोंमें केवल मूल-पाठ, पृष्ठ ५१६, चित्र बहुरंगे ८, सजिल्द मूल्य ४)

* अयोध्याकाण्ड *   १९३

रामचंदु पति सो बैदेही । सोवत महि बिधि बाम न केही ॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू । करम प्रधान सत्य कह लोगू ॥
दो०—कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह ।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह ॥ ९१ ॥

☞ (३) मूल, मोटा टाइप, २१ मुख्य-मुख्य प्रतियोंके पाठ-भेद और मानसके व्याकरणसहित, पृष्ठ ८००, सुनहरी चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मू० ३॥)

लङ्काकाण्ड

दस[1] दिसि रहे बान नभ छाई । मानहुँ मघा मेघ झरि लाई ॥
धरु धरु मारु सुनिअ[2] धुनि काना । जो मारइ तेहि कोउ न जाना ॥

---

१. रहे दसहु दिसि सायक छाई—(काशि.) (कोदो.) (ना. प्र. स.) (रा. प. प. प्र.)
२. सुनहि कपि काना—(काशि.) (कोदो.) (रा. प. प. प्र.) (ना. प्र. स.)

५६७

☞ (४) मूल-गुटका, पृष्ठ ६८०, श्रीरामदरबारका तिरंगा चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मू० ॥।)

* अयोध्याकाण्ड *   २७१

निदरहिं सरित सिंधु सर भारी । रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक । बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥
दो०—जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु ॥१२८॥

आपको जिस तरहकी रामायण मँगानी हो, साफ-साफ नाम और दाम लिखनेकी कृपा करें । डाकखर्च अलग ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीमद्भगवद्गीता (तत्त्वविवेचनी हिंदी-टीकासहित)

टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

☞ **बारहवें अध्यायके एक श्लोककी टीकाका नमूना—**

सम्बन्ध—*इस प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासनासे देहाभिमानियोंके लिये परमात्माकी प्राप्ति कठिन बतलानेके उपरान्त अब दो श्लोकोंद्वारा सगुण परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरकी प्राप्ति शीघ्र और अनायास होनेकी बात कहते हैं*—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं ॥ ६ ॥

प्रश्न—'तु' पदका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तु'पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंकी अपेक्षा सगुण-उपासकोंकी विलक्षणता दिखलानेके लिये है ।

प्रश्न—भगवान्‌के परायण होना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌पर निर्भर होकर भाँति-भाँतिके दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भय और निर्विकार रहना; उन दुःखोंको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान्‌को ही परमप्रेमी, परम गति, परम सुहृद् और सब प्रकारसे शरण लेनेयोग्य समझकर अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण कर देना—यही भगवान्‌के परायण होना है ।

प्रश्न—सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना क्या है?

उत्तर—कर्मोंके करनेमें अपनेको पराधीन समझकर भगवान्‌की आज्ञा और संकेतके अनुसार कठपुतलीकी भाँति समस्त कर्म करते रहना; उन कर्मोंमें न तो ममता और आसक्ति रखना और न उनके फलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना; शास्त्रानुकूल प्रत्येक क्रियामें ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, मेरी कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझसे समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण करना है ।

प्रश्न—अनन्य भक्तियोग क्या है ? और उसके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना क्या है?

उत्तर—एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान्‌में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना है—जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किञ्चित् अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेमको 'अनन्य भक्तियोग' कहते हैं । और ऐसे भक्तियोगद्वारा निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, उनके नामोंका उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है ।

यह टीका इसी प्रकारके अंत्यन्त सुन्दर विवेचनात्मक ढंगसे २५१५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें है । पृष्ठ-संख्या ६८४, चार तिरंगे चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ४) डाकखर्च अलग ।

पता—**गीताप्रेस, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)**

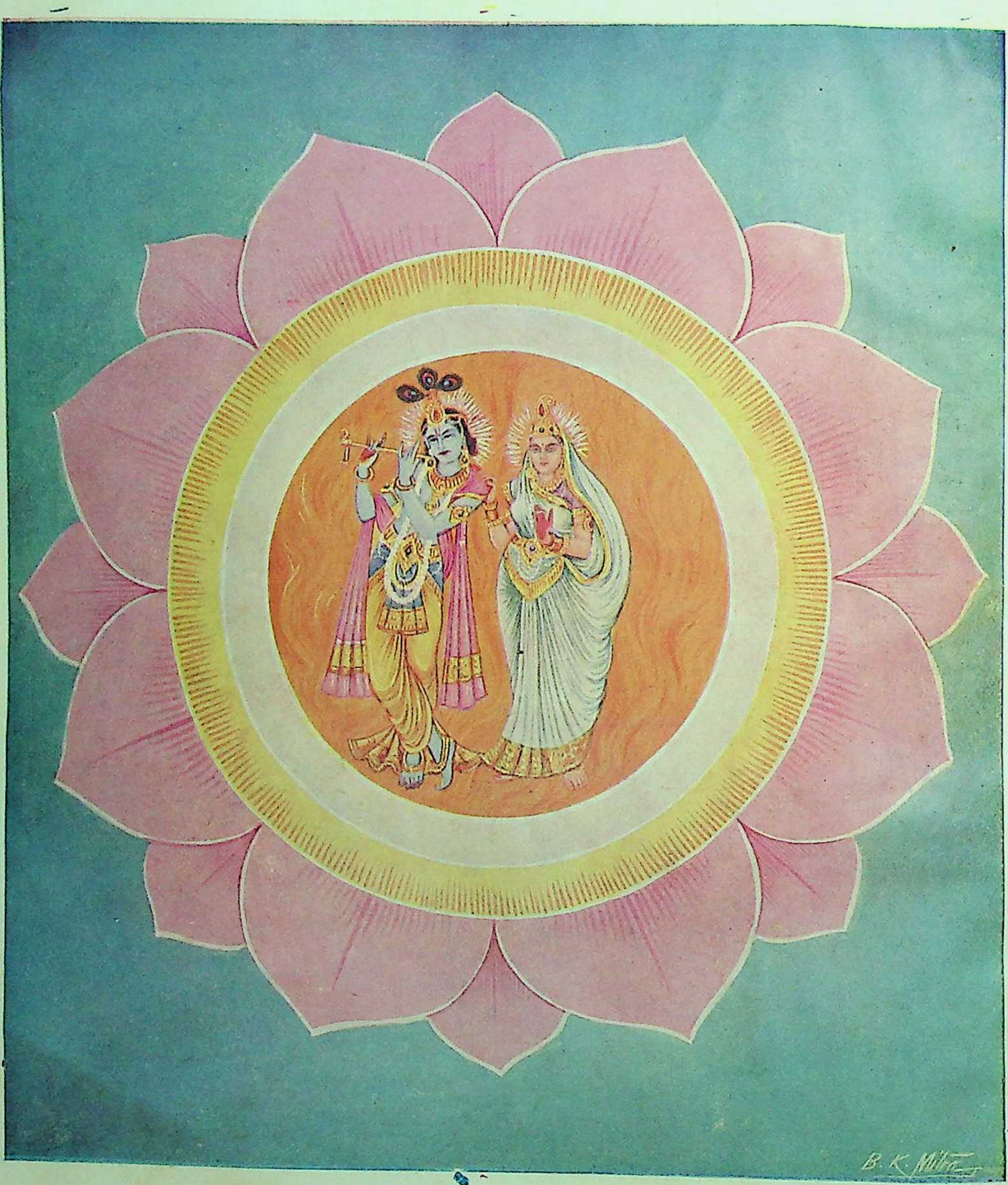

दिव्य युगल

76150

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥

वर्ष २५ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २००८, जून १९५१ { संख्या ६
पूर्ण संख्या २९५

शुभ आकाङ्क्षा

बसौ मेरे नैननिमैं यह जोरी ।
सुंदर स्याम कमल-दल-लोचन, सँग बृषभानु-किसोरी ॥
मोर मुकुट, मकराकृत कुंडल, पीतांवर झकझोरी ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरसकौं, का बरनौं मति थोरी ॥
—सूरदासजी

याद रक्खो—जबतक तुम्हारे मनमें यह धारणा बनी हुई है कि भोग-पदार्थोंमें सुख है, तबतक तुम सच्चे सुखके समीप कभी नहीं पहुँच सकते। भगवान्‌ने तो गीतामें भोगोंको दुःखयोनि—दुःख उत्पन्न होनेका क्षेत्र बतलाया है।

याद रक्खो—जबतक भोग-पदार्थोंमें सुखकी भावना है, तबतक तुम उनका त्याग भी नहीं कर सकते। कहीं किसी हेतुसे किसी भोग-पदार्थका बाहरसे त्याग कर भी दोगे, तो भी मनमें यह धारणा रहेगी कि उस वस्तुमें सुख तो था; मैंने उसका त्याग कर दिया! अतः उसकी सुखरूपतामें तुम्हारी धारणा पूर्ववत् ही रहेगी। इसका अर्थ यही हुआ कि तुमने मनसे उसका त्याग नहीं किया।

याद रक्खो—धन, परिवार, मकान, शरीरके आरामकी सामग्रियाँ तथा अन्यान्य भोग-पदार्थोंका त्याग करके एकान्तवास करनेवाले लोगोंके मनोंमें भी प्रायः यह बात रहती है कि हमने बड़ा काम किया है, जो इतनी उत्तम-उत्तम और ग्रहण करनेयोग्य महत्त्वकी वस्तुओंका त्याग कर दिया है—सारांश यह कि उन वस्तुओंका गौरव उनके मनमें बना है और जबतक गौरव है, तबतक मनसे त्याग कभी नहीं होता। वरं अवसर पाकर वे वस्तुएँ उस त्यागीके पास पुनः स्थूलरूपमें पहुँच जाती हैं और वह त्यागकी पोशाकमें ही उन्हें दूसरे-दूसरे नाम देकर स्वीकार कर लेता है।

याद रक्खो—जबतक किसी विषयमें त्याज्यबुद्धि, हेयबुद्धि, विषबुद्धि या मलिनबुद्धि नहीं होती, तबतक उसका पूर्णतया त्याग नहीं होता; परंतु हेयबुद्धि होनेपर जो त्याग होता है, उसमें न तो उन वस्तुओंके गौरवकी धारणा मनमें रहती है और न उनके त्यागमें अपने प्रति ही गौरवकी भावना होती है। कोई जंगलमें शौच होकर आवे, की हुई उलटीको नालीमें बहा दे, नाकसे बलगम छिनक दे, घरके कूड़े-कर्कटको बुहारकर कोई बाहर फेंक दे, इधर-उधर बिखरे मैलेको साफ करके उसे कूड़ेमें डलवा दे, या दुर्गन्धसे पूर्ण मरे चूहे आदि जीवोंको दूर फेंकवा दे, इन सब कामोंको करके क्या किसीके मनमें कभी यह आता है कि हमने बड़े गौरवकी, ग्रहण करनेयोग्य उत्तम वस्तुओंका त्याग कर दिया या कभी वह इस बातका गौरव या गर्व करता है कि मैंने इसको फेंककर बड़ा त्याग किया। शास्त्रोंने विषयोंको विषवत् त्यागनेकी, 'तजत बमन इव' आदि बातें इसीलिये कही हैं कि इनमें मलिनबुद्धि होनेपर जो त्याग होगा, वह पक्का होगा; और फिर कभी इनकी पुनः स्मृति नहीं होगी।

याद रक्खो—जबतक तुम्हारे मनमें भोग-पदार्थोंके—विषयोंके प्रति गौरव-बुद्धि है, तबतक उनका त्याग यथार्थतः होता ही नहीं। उनकी स्मृति होती रहती है और किसी-न-किसी रूपमें ग्रहण भी होता रहता है और उस ग्रहणके समय मनमें जरा भी घृणा या विपरीत भावना नहीं होती; वरं अपनी इस क्रियाका अनौचित्य ढकने या औचित्य सिद्ध करनेके लिये इसे 'समता' का नाम दे दिया जाता है, जो एक प्रकारकी प्रबल प्रवञ्चना होती है।

याद रक्खो—शास्त्रोंने प्रतिष्ठाको सूकरीविष्ठा कहा है, मान-सत्कारको संतोंने मीठा विष बतलाया है, धनादि पदार्थोंको विष्ठावत् असह्य कहा है, कामिनीको तप्त अङ्गारके समान बतलाया है। पर तुम सोचो, अपने अंदर देखो—क्या इन वस्तुओंकी प्राप्तिके समय तुम्हारे अंदर ऐसा भाव होता है या कुछ सुखकी प्रतीति होती है—हृदयमें मीठी-सी गुदगुदी होती है? यदि होती है तो तुम्हारा त्याग क्या सच्चा त्याग है?

याद रक्खो—विषयोंकी प्राप्तिमें सुखकी प्रतीति न होनेपर भी यदि मनमें यह भाव है कि हमने सुखोपभोगका—सुख देनेवाली बहुमूल्य वस्तुओंका—त्याग कर दिया है तो भी तुम्हारा त्याग सच्चा नहीं है।

याद रक्खो—या तो सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनी चाहिये—भगवान्‌के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुका अस्तित्व ही न रहे और यदि रहे तो वह मलिन, दुःखदोषपूर्ण त्याज्य वस्तुके रूपमें रहे। उसकी ओर मन न जाय, वैसे ही जैसे निरामिषभोजी वैष्णवका मांसकी ओर मन नहीं जाता, मृत्युका ज्ञान रखनेवाले पुरुषका संखिया आदि विष खानेकी ओर नहीं जाता, सती पतिव्रताका परपुरुषकी ओर नहीं जाता और सच्चे अहिंसाव्रतीका किसीको मारनेकी ओर नहीं जाता।

याद रक्खो—जगत नित्य सच्चिदानन्दघन परमात्मासे परिपूर्ण है। ये सब प्राणी उस आनन्दमयसे ही उत्पन्न हुए हैं, उन आनन्दमयमें ही जीवित रहते हैं और अन्तमें आनन्दमयमें ही समा जाते हैं। प्राणी ही नहीं, समस्त जड पदार्थ भी परमात्मस्वरूप ही हैं; परंतु जबतक ऐसी अनुभूति नहीं होती, तबतक परमात्माको भुलानेवाले समस्त भोगोंमें दुःखबुद्धि, हेयबुद्धि, त्याज्यबुद्धिका होना परमावश्यक है। इसके बिना उनका त्याग होता ही नहीं।

'शिव'

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
110361

संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्कके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इस वर्ष 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंकी सेवामें 'संक्षिप्त स्कन्दपुराण' दिया गया है। इसमें नारद-पुराणके मतानुसार माहेश्वर, वैष्णव, ब्राह्म, काशी, अवन्ती, नागर और प्रभास—इस प्रकार सात खण्ड हैं। इन खण्डोंमें कई अवान्तर खण्ड हैं। इस पुराणका नाम 'स्कन्द' इसलिये रक्खा गया कि भगवान् श्रीशिवजीके पुत्र श्रीकार्तिकेयजीका नाम 'स्कन्द' है और इस पुराणमें उन भगवान् कार्तिकेयजीकी उत्पत्ति, उत्पत्तिके कारण, उनके प्रभाव तथा उनके द्वारा देवताओंके सेनापति बनकर तारकासुरके मारे जाने आदि चरित्रोंका वर्णन है।

इसमें भगवान् श्रीशिवजीकी महिमाका वर्णन विशेषरूपसे पाया जाता है, अतः शिवभक्तोंके लिये यह बहुत ही उपयोगी उत्तम ग्रन्थ है। इसमें सर्वप्रथम 'माहेश्वरखण्ड' है, जो भगवान् श्रीशङ्करकी प्रधानताका द्योतक है। काशी एवं अवन्ती-खण्डोंमें भी शिवलिङ्गकी स्थापना तथा पूजनादिका विवेचन बड़े ही विस्तारसे किया गया है। कई खण्डोंमें भगवान् श्रीविष्णुके पावन चरित्र तथा विष्णुभक्तोंकी कथाओंका भी बड़ा सुन्दर वर्णन है। दूसरे खण्डका तो नाम ही 'वैष्णवखण्ड' है और उसमें विशेषतया भगवान् श्रीविष्णुकी भक्ति तथा विष्णुभक्त एवं भगवान् श्रीविष्णुके स्वरूप, गुण आदिका ही वर्णन किया गया है।

इसमें तीर्थोंका वर्णन प्रधानरूपसे किया गया है, जिनमें पुरुषोत्तमक्षेत्र (जगन्नाथपुरी), बदरिकाश्रम, अयोध्या, रामेश्वर, काशी, नर्मदा (अमरकण्टक), हाटकेश्वरक्षेत्र, अवन्तिका, प्रभास और द्वारका आदि तीर्थोंका तो बड़े ही विस्तारके साथ उल्लेख किया गया है। इनके सिवा व्रत और उपवासकी महिमाका तो इसमें विशेषतासे निरूपण है ही। साथ ही कार्तिक, मार्गशीर्ष और वैशाख मासोंमें स्नान-दानका भी बड़ा भारी पुण्य बतलाया गया है। इसी प्रकार ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, शौचाचार, सदाचार, वर्णाश्रमधर्म, पातिव्रत, यज्ञ, दान, तप, श्राद्ध आदि विषयोंपर भी अनेक जगह बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। स्थान-स्थानपर अनेकों इतिहास और कथाओंके द्वारा तीर्थोंकी महिमा विस्तृत रूपमें बतलायी गयी है। इस अङ्कमें स्कन्दपुराणका अति संक्षिप्त अनुवाद ही दिया जा सका है।

इस पुराणमें जो विशेष महत्त्वके ज्ञातव्य विषय हैं, उनमेंसे कुछपर विशेष लक्ष्य दिलानेके उद्देश्यसे बहुत ही संक्षेपमें यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् स्कन्दका जन्म

सर्वप्रथम माहेश्वर-खण्डमें भगवान् स्कन्दजी (कार्तिकेयजी) के जन्म-प्रसङ्गमें दक्षप्रजापतिके यज्ञमें

भगवान् शङ्करकी प्रियतमा पत्नी भगवती सतीके अग्निप्रवेश, वीरभद्रके द्वारा दक्षयज्ञ-विध्वंस, दक्षवध, ब्रह्माजीके द्वारा कैलाशगमन और दक्षके पुनर्जीवनके लिये सदाशिवका स्तवन, महादेवजीका ब्रह्माजी तथा देवताओंके साथ कनखलमें दक्षके यज्ञमण्डपमें जाकर दक्षकी धड़पर पशुका सिर जोड़ना, दक्षका जीवित होना, लोमशजीके द्वारा शिवपूजनकी विधि और शिवमहिमापर महत्त्वपूर्ण प्रवचन, भगवान् महेश्वरकी तपस्या, हिमवान्‌के घरमें भगवती सतीका पार्वतीके रूपमें प्राकट्य और पार्वतीकी घोर तपस्याका बड़ा ही विशद वर्णन है । इसके बादका प्रसङ्ग इस प्रकार है—

पार्वतीजीके महान् तपसे जब सम्पूर्ण चराचर जगत् संतप्त होने लगा, तब देवता और असुर ब्रह्माजीके सहित पिनाकधारी महादेवजीका दर्शन करनेके लिये गये । उस समय भगवान् शिव समाधि लगाये योगासनपर विराजमान थे ।

ब्रह्माजी बोले—भगवन् ! तारकासुरने देवताओंको महान् कष्ट पहुँचाया है, अतः हमारी प्रार्थना है कि आप उसके वधके लिये पार्वतीजीका पाणिग्रहण करें । इसपर महादेवजीने देवताओं और ऋषियोंको भलीभाँति समझाया। तत्पश्चात् वे पुनः ध्यान लगाकर मौन हो गये । तब वे सब देवता अपने-अपने स्थानको चले गये । इधर शिवजी मनको आत्मामें एकाग्र करके अपने स्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करने लगे—

परात्परतरं स्वस्थं निर्मलं निरवग्रहम् ।
निरञ्जनं निराभासं यन्मुह्यन्ति च सूरयः ॥
भानुर्न भात्यग्निरथो शशी वा न ज्योतिरेवं न च मारुतो हि ।
यत्केवलं वस्तु विचारतोऽपि सूक्ष्मात्परं सूक्ष्मतरात्परं च ॥
अनिर्देश्यमचिन्त्यं च निर्विकारं निरामयम् ।
ज्ञप्तिमात्रस्वरूपं च न्यासिनो यान्ति यत्र वै ॥
शब्दातीतं निर्गुणं निर्विकारं सत्तामात्रं ज्ञानगम्यं त्वगम्यम् ।
यत्तद् वस्तु सर्वदा कथ्यते वै वेदान्तैश्चागमैर्मूकभूतैः ॥
तद्वस्तुभूतो भगवान् स ईश्वरः पिनाकपाणिर्भगवान् वृषध्वजः।
(स्क० मा० के० २२ । ३३–३७)

जो परसे भी अत्यन्त परे, अपने-आपमें स्थित, मल आदि दोषोंसे रहित, विघ्न-बाधाओंसे शून्य, निरञ्जन (निर्लिप्त) तथा निराभास (मिथ्या ज्ञानसे रहित) है, जिसके विषयमें विवेकी विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अथवा नक्षत्र आदि दूसरी किसी ज्योतिका प्रकाश नहीं, जहाँ वायुकी भी गति कुण्ठित हो जाती है, जो विचारदृष्टिसे भी केवल (अद्वितीय) सद्वस्तु है, सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर वस्तुओंसे भी परे है, जिसका कोई नाम या संकेत नहीं है, जो चिन्तनका विषय नहीं है, जिसमें विकारका सर्वथा अभाव है, जो रोग और शोकसे सर्वथा दूर है, विशुद्ध ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, कर्तृत्व-अभिमानसे रहित पुरुष जिसे प्राप्त होते हैं, जो शब्द या वाणीकी पहुँचसे परे है, निर्गुण और निर्विकार है, सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञानगम्य होकर भी वास्तवमें अगम्य है, वेदान्त और आगम भी मूक होकर (नेति-नेतिकी भाषामें) जिसका सर्वदा प्रतिपादन करते हैं, वही सबके ईश्वर पिनाकधारी भगवान् वृषभध्वज परमार्थवस्तु (परब्रह्म परमात्मा) हैं ।*

उधर पार्वतीदेवी बड़ी कठोर तपस्यामें लगी हुई थीं । उस तपस्यासे उन्होंने भगवान् शङ्करको जीत लिया । देवीकी तपस्यासे हार मानकर भगवान् शिव समाधिसे विरत हो तुरंत उस स्थानपर गये, जहाँ पार्वतीजी विराजमान थीं । ध्यानमें लगी हुई पार्वतीदेवी अपने ध्यानगत स्वरूपका अन्वेषण कर रही थीं । उसी समय उनके हृदयस्थित देवता बाहर दिखायी देने लगे । गिरिजाने आँख खोलकर देखा तो सर्वलोकमहेश्वर शिव सामने दृष्टिगोचर हुए ।

भगवान् शिव पार्वतीसे बोले—कल्याणी ! तुम वर माँगो । उन्होंने कहा—'देवेश ! आप मेरे सनातन स्वामी हैं । मैं वही सती हूँ' जिसके लिये आपने दक्षयज्ञका विनाश किया था । वही आप हैं और वही मैं हूँ । तारकासुरके वधरूप देवकार्यकी सिद्धिके लिये मैं मेनाके गर्भसे प्रकट हुई हूँ । आपसे मेरेद्वारा एक पुत्र होगा । इसलिये आपको मेरी प्रार्थना स्वीकारकर हिमवान्‌के पास जाना चाहिये और उनसे मेरे लिये याचना करनी चाहिये ।'

तब महादेवजीने पार्वतीजीसे कहा—मैं हिमालयके पास जाकर किसी प्रकार याचना नहीं करूँगा; क्योंकि किसीके सामने 'दीजिये' ऐसा वचन मुँहसे निकालनेपर पुरुष उसी क्षण लघुताको प्राप्त हो जाता है ।

ऐसा कहकर भगवान् शिव अपने स्थानको चले

---

* निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये यह ध्यानकी प्रक्रिया बड़ी ही उपादेय है, उन्हें इसी प्रकार ध्यानका अभ्यास करना चाहिये ।

गये । तदनन्तर हिमवान् अपनी धर्मपत्नी मेना तथा दूसरे पर्वतोंके साथ वहाँ आये । पार्वतीजी उन्हें देखकर खड़ी हो गयीं और उन्होंने अपने माता-पिता, भाई-बन्धुओंको प्रणाम किया । तदनन्तर हिमालयके पूछनेपर पार्वतीने वे सब बातें बतला दीं, जो महादेवजीसे हुई थीं । पार्वतीकी बात सुनकर हिमवान्को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे पार्वतीको अपने घर लिवा लाये ।

तदनन्तर भगवान् महेश्वरके भेजे हुए सप्तर्षिगण हिमवान्के पास आये और उन्होंने पार्वतीके माता-पिता हिमवान् तथा मेनासे पक्की बातचीत करके लौटकर भगवान् शिवसे सब वृत्तान्त कहा और बोले कि 'हिमवान्ने आपको कन्या देना स्वीकार कर लिया है ।' तब भगवान् महेश्वर सम्पूर्ण देव-दानवोंके साथ सब प्रकारसे अलङ्कृत हो पार्वतीजीका पाणिग्रहण करनेके लिये गिरिराज हिमवान्के यहाँ गये । तदनन्तर गिरिराज हिमालयने गर्गाचार्यके आदेशसे अपनी पत्नी मेनाके साथ कन्यादान किया । उन्होंने बड़े विस्तारके साथ परम मङ्गलमय और अतिशय शोभायमान वैवाहिक उत्सव सम्पन्न किया । अन्तिम दिन हिमवान्ने उत्साहपूर्ण हृदयसे वस्त्र, आभूषण और भाँति-भाँतिके रत्न भेंट करके भगवान् शिवका पूजन किया । इस प्रकार जिनके कन्यादानरूपी महान् दानसे भगवान् शङ्कर संतुष्ट हुए, वे पर्वतराज हिमालय तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये ।

इसी प्रसङ्गमें भगवन्नामजप और भगवत्पूजाका बड़ा सुन्दर माहात्म्य बतलाया है, उसपर सबको ध्यान देना चाहिये । वह इस प्रकार है—'जिनकी जिह्वाके अग्रभागपर सदा भगवान् शङ्करका दो अक्षरोंवाला नाम (शिव) विराजमान रहता है, वे धन्य हैं, वे महात्मा पुरुष हैं तथा वे ही कृतकृत्य हैं । महादेवजी थोड़ा-सा बिल्वपत्र पाकर भी सदा संतुष्ट रहते हैं । फूल और जल अर्पण करनेसे भी प्रसन्न हो जाते हैं । भगवान् शिव सदा सबके लिये कल्याणस्वरूप हैं । ये पत्र, पुष्प और जलसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं । इसलिये सबको इनकी पूजा करनी चाहिये । शिवजी इस जगत्में मनुष्योंको महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं । ये एक हैं, महान् हैं, ज्योतिःस्वरूप हैं तथा अजन्मा परमेश्वर हैं । महात्मा शिव कार्य और कारण सबसे परे हैं । ये व्यवधानशून्य, निर्गुण, निर्विकार, निर्बाध, निर्विकल्प, निरीह, निरञ्जन, नित्यमुक्त, निष्काम, निराधार और नित्यमुक्त हैं ।'

ऐसी महिमावाले भगवान् शिवकी आराधनासे ही हिमवान् सबसे महान् वन्दनीय और पर्वतोंमें श्रेष्ठ हो गये । इसके बाद उन्होंने सब पर्वतोंको बिदा किया । पश्चात् भगवान् शिवजी गन्धमादनपर्वतके एकान्त प्रदेशमें पार्वतीदेवीके साथ निवास करने लगे । उस समय भगवान् शङ्करके दुःसह वीर्यसे समस्त चराचर जगत् नष्ट होने लगा । यह देख ब्रह्माजी तथा विष्णुने अग्निदेवका स्मरण किया । अग्निदेव तत्काल वहाँ आ पहुँचे । उनकी आज्ञा पाकर अग्निने हंसका रूप धारण करके शिवजीके भवनमें प्रवेश किया और कहा—'मा ! हाथ ही मेरा पात्र है, इसमें मुझे भिक्षा दो ।' तब माता पार्वतीने अग्निको भिक्षाके रूपमें वीर्य दे दिया, जिससे वे अत्यधिक संतप्त हो गये । उस समय नारदजीने अग्निदेवसे कहा—'माघ मासमें प्रातःस्नान करके जो अग्निसेवनके लिये आयें, उनमें तुम यह तेज स्थापित कर देना ।' उनकी बात मानकर अग्निदेव ब्राह्ममुहूर्तमें प्रचण्ड तेजसे प्रज्वलित हो उठे । शीतसे आर्त हुई कृत्तिकाओंने अग्निसेवनकी इच्छासे वहाँ आनेका विचार किया । उस समय अरुन्धती देवीने उनको रोका तो भी वे सब आग तापने लगीं । तब शङ्करजीके वीर्यके सभी परमाणु उनके रोमकूपोंमें होकर शरीरमें घुस गये । अब अग्निदेव उस वीर्यसे मुक्त हो गये । तत्पश्चात् वे कृत्तिकाएँ गर्भवती होकर जब अपने घरको लौटीं, तब उनके पति महर्षियोंने शाप दिया, जिससे वे नक्षत्रोंके रूपमें आकाशमें विचरने लगीं और उन्होंने उस वीर्यको हिमालयके शिखरपर छोड़ दिया । वह सुवर्णके समान चमक उठा । फिर वह गङ्गाजीमें डाल दिया गया । गङ्गाजीमें बहता हुआ वह तेजोमय वीर्य सरकंडोंके समूहसे घिर गया । वहाँ वह तेज छः मुखवाले बालकके रूपमें परिणत हो गया । इसका पता लगनेपर सम्पूर्ण देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई । नारदजीने आकर शिव और पार्वतीसे उस बालकके जन्मका समाचार कहा । यह सुनकर शङ्करजी पार्वतीके साथ वहाँ आये और अपने पुत्रको देखा । देखते ही पार्वती वात्सल्यस्नेहमें मग्न हो गयीं । भगवान् शङ्कर उस महातेजस्वी कुमारको अपनी गोदमें बिठाकर अत्यन्त शोभायमान हुए ।

भगवान् शङ्करने इन्द्रादि देवताओंसे कहा—देवगण ! यह बालक बड़ा प्रतापी है । इससे तुम्हें कौन-सा काम लेना है, सो बतलाओ । तब सम्पूर्ण देवताओंने भगवान् पशुपतिसे

कहा—'प्रभो ! इस समय सम्पूर्ण जगत्को तारकासुरसे महान् भय प्राप्त हुआ है, उसे मारनेके लिये हमलोग आज ही प्रस्थान करेंगे ।' यों कहकर तथा भगवान् शङ्करकी अनुमति जानकर उन्होंने कार्तिकेयजीको सेनापति बनाकर तारकासुरपर चढ़ाई कर दी । इस युद्धमें ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवता सम्मिलित थे । देवतालोग युद्धके लिये प्रयत्नशील हैं, यह सुनकर महाबली तारकासुर भी बड़ी भारी सेनाके साथ देवताओंसे लोहा लेनेके लिये चल दिया ।

दोनों सेनाओंमें घमासान युद्ध होने लगा । बाणोंकी बौछारोंसे वहाँका सारा मैदान रुण्ड-मुण्डोंसे भर गया । अन्तमें वीरवर कार्तिकेय एक बहुत बड़ी शक्ति लेकर उसके द्वारा तारकासुरको मार डालनेके लिये उद्यत हुए । तारकासुर और कुमार कार्तिकेयमें बड़ा विकट और सब प्राणियोंके लिये भयङ्कर तथा अत्यन्त दुःसह संग्राम हुआ । फिर कुमार कार्तिकेयने मन-ही-मन अपने पिता और माताको प्रणाम करके दैत्यराज तारकपर बड़े वेगसे प्रहार किया । शक्तिका आघात होते ही तारकासुर धराशायी हो गया । तारकासुरका वध देखकर देवताओंको बड़ा हर्ष हुआ और उन सबने मिलकर कुमार कार्तिकेयकी स्तुति की । भगवान् शङ्कर और सती पार्वती भी वहाँ आये और अपने पुत्रको गोदमें बिठाकर पूर्ण सन्तोष प्राप्त किया ।

तीर्थोंकी महिमा तथा दानका महत्त्व

ऋषियोंके पूछनेपर उग्रश्रवाजीने तीर्थोंके प्रसङ्गमें बतलाया है कि पूर्वकालमें कुछ कारणवश महात्मा अर्जुन दक्षिण समुद्रके तटपर वहाँके तीर्थोंमें स्नान करनेके लिये आये और वहाँ नारदजीके दर्शन करके उन्होंने उनसे तीर्थोंके गुण बतलानेकी प्रार्थना की । इसपर नारदजीने तीर्थोंके गुणोंका वर्णन करते हुए कहा कि 'जिसके हाथ, पैर और मन भलीभाँति संयममें हों तथा जिसकी सभी क्रियाएँ निर्विकारभावसे सम्पन्न होती हों, वही तीर्थका पूरा फल प्राप्त करता है ।* यह बात तुम्हें अपने हृदयमें धारण करनी चाहिये । पूर्वकालकी बात है, एक बार मैं कपिलजीके साथ ब्रह्मलोकमें गया था । उसी समय वहाँ कुछ ब्राह्मण पधारे । तब पितामहने उनसे पूछा कि 'तुमलोगोंने भ्रमण करते हुए क्या-क्या देखा-सुना है ? कोई अद्भुत बात हो तो सुनाओ ।' इसपर सुश्रवा ब्राह्मणने कहा—'भगवन् ! एक बार कात्यायन और सारस्वत मुनिमें परस्पर जो धर्मविषयक अद्भुत वार्तालाप हुआ, वह सुनिये ।'

मुनिवर कात्यायनने मुनिश्रेष्ठ सारस्वतके पास जाकर प्रणाम किया और पूछा—कोई सत्यकी प्रशंसा करते हैं, कोई तप और शौचाचारकी; कोई ज्ञानकी तो कोई योगकी; कोई क्षमाको श्रेष्ठ बतलाते हैं तो कोई इन्द्रिय-संयमको; कोई सरलताको तो कोई स्वाध्यायको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं । कोई वैराग्यको उत्तम बताते हैं तो कोई यज्ञकर्मको और अन्य कोई समभावको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं । अतः सबसे श्रेष्ठ क्या है, वह मुझे बतानेकी कृपा करें ?

सारस्वत बोले—ब्रह्मन् ! माता सरस्वतीने मुझको जो कुछ बतलाया है, उसके अनुसार मैं सार-तत्त्व बतलाता हूँ । यह सम्पूर्ण जगत् छायाकी भाँति उत्पत्ति और विनाशरूप धर्मसे युक्त है । धन, यौवन और भोग जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाकी भाँति चञ्चल हैं । यह जानकर मनुष्यको भगवान्की शरणमें जाना और दान करना चाहिये, यह वेदकी आज्ञा है । जिसमें दुःखरूपी भँवर उठता है, अज्ञानमय प्रवाह बहता रहता है, धर्म और अधर्म ही जिसके जल हैं, जो क्रोधरूपी कीचड़से युक्त है, जिसमें मदरूपी ग्राह निवास करता है, जहाँ लोभरूपी बुलबुले उठते रहते हैं, अभिमान ही जिसकी पातालतक पहुँचनेवाली गहराई है, सत्त्वगुणरूपी जहाज जिसकी शोभा बढ़ाता है, ऐसे संसारसमुद्रमें डूबनेवाले जीवोंको केवल भगवान् ही पार लगानेवाले हैं । दान, सदाचार, व्रत, सत्य और प्रिय वचन, उत्तम कीर्ति, धर्म-पालन तथा आयुपर्यन्त दूसरोंका उपकार—इन सार वस्तुओंका इस असार शरीरसे उपार्जन करना चाहिये । राग हो तो धर्ममें, चिन्ता हो तो शास्त्रकी, व्यसन हो तो दानका—ये सभी बातें उत्तम हैं । इन सबके साथ यदि विषयोंके प्रति वैराग्य हो जाय तो समझना चाहिये कि मैंने जन्मका फल पा लिया । इस भारतवर्षमें मनुष्यका शरीर, जो सदा टिकनेवाला नहीं है, पाकर जो अपना कल्याण नहीं कर लेता, उसने दीर्घकालतकके लिये अपने आत्माको धोखेमें डाल दिया । देवता और असुर सबके लिये मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेका सौभाग्य अत्यन्त दुर्लभ है । उसे पाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे नरकमें न जाना पड़े । यह मानव-शरीर सर्वस्वसाधनाका मूल है तथा सब पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाला है । यदि तुम सदा लाभ उठानेके ही प्रयासमें रहते हो तो इस

---

* यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स तीर्थफलमश्नुते ॥
(स्क० मा० कुमा० २ । ६)

मूलकी यत्नपूर्वक रक्षा करो। महान् पुण्यरूपी मूल्य देकर तुम्हारे द्वारा यह मानव-शरीररूपी नौका इसलिये खरीदी जाती है कि इसके द्वारा दुःखरूपी समुद्रके पार पहुँचा जा सके। जबतक यह नौका छिन्न-भिन्न नहीं हो जाती, तबतक ही तुम इसके द्वारा संसार-समुद्रको पार कर लो। जो नीरोग मानव-शरीररूपी दुर्लभ वस्तुको पाकर भी उसके द्वारा संसार-सागरके पार नहीं हो जाता, वह नीच मनुष्य आत्महत्यारा है। इसी शरीरमें रहकर यतिजन परलोकके लिये तप करते हैं, यज्ञकर्ता होम करते हैं और दाता पुरुष आदरपूर्वक दान देते हैं।

कात्यायनने पूछा—सारस्वतजी! दान और तपमें कौन दुष्कर तथा महान् फलदायक है?

सारस्वतने कहा—मुने! इस पृथ्वीपर दानसे बढ़कर अत्यन्त दुष्कर कार्य कोई नहीं है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो बड़े दुःखसे और सैकड़ों आयास-प्रयाससे उपार्जन किया गया है, ऐसे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय धनका त्याग अत्यन्त दुष्कर है। पर मनुष्य अपने हाथसे जो धन दूसरेको दे देता है, वही धन वास्तवमें उस धनीका है। मरे हुए मनुष्यके धनसे तो दूसरे लोग ही मौज किया करते हैं। दिया जानेवाला धन घटता नहीं, अपितु सदा बढ़ता ही रहता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुएँसे पानी उलीचनेपर वह शुद्ध और अधिक जलवाला होता है। जो धनवान् होकर दान नहीं करता और दरिद्र होकर कष्ट-सहनरूप तपसे दूर भागता है, वे दोनों गलेमें बड़ा भारी पत्थर बाँधकर जलमें छोड़ देनेयोग्य हैं। गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी पुरुष तथा लोभहीन, दानशील मनुष्य—इन सातोंके द्वारा ही यह पृथ्वी धारण की जाती है। ऐसा विचार करके तुम सारभूत धर्मके अभिलाषी होकर भगवान्की प्रसन्नताके लिये सदा दान करते रहो। यह उपदेश सुनकर कात्यायन मुनि मोह त्यागकर वैसे ही हो गये।

दानका रहस्य

तदनन्तर नारदजीने अर्जुनसे कहा कि महीसमुद्र-सङ्गम-पर मैं श्रीभृगुजीके साथ गया था। वहाँ स्नान करनेके लिये बहुत-से ऋषि-मुनि भी आ गये। वे मुझे प्रणाम करके मेरे पूछनेपर बोले—'मुने! हमलोग सौराष्ट्र देशमें रहते हैं, जहाँके राजा धर्मवर्मा हैं। राजाने दानका तत्त्व जाननेकी इच्छासे बहुत वर्षोंतक तपस्या की, तब आकाशवाणीने उनसे एक श्लोक कहा—

द्विहेतु षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुक्।
चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते॥

नारदजी! राजाके पूछनेपर भी आकाशवाणीने श्लोकका अर्थ नहीं बतलाया। तब राजाने ढिंढोरा पिटवाकर यह घोषणा करायी कि 'जो मेरी तपस्याद्वारा प्राप्त हुए इस श्लोककी ठीक-ठीक व्याख्या कर देगा, उसे मैं सात लाख गौएँ, इतनी ही स्वर्णमुद्राएँ तथा सात गाँव दूँगा।' यह सुनकर हम भी वहाँ गये; किंतु उसकी व्याख्या न कर सकनेके कारण अब तीर्थयात्राके लिये जा रहे हैं।'

नारदजी बोले—अर्जुन! उन महात्माओंकी बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि यह स्थान राजा धर्मवर्माका है, मुझे यहाँ कुछ स्थान चाहिये, सो अब इस स्थानकी प्राप्तिके लिये मुझे अच्छा उपाय मिल गया। इस श्लोककी व्याख्या करके विद्याके मूल्यपर मैं राजासे स्थान प्राप्त करूँगा। इस प्रकार विचार करके मैंने राजाके पास जाकर कहा—राजन्! मुझसे श्लोककी व्याख्या सुनिये और इसके बदलेमें जो कुछ देनेकी घोषणा की है, उसकी यथार्थता प्रकट कीजिये।

राजा बोले—ब्रह्मन्! दानके वे दोनों हेतु कौन हैं, छः अधिष्ठान कौन-से हैं, छः अङ्ग कौन हैं, दो फल कौन हैं, चार प्रकार और तीन भेद कौन-कौन-से हैं तथा दानके विनाशके तीन हेतु कौन-से बताये गये हैं—यह सब स्पष्ट रूपसे वर्णन कीजिये।

नारदजी बोले—राजन्! दानके दो हेतु सुनिये—श्रद्धा और शक्ति ही दानकी वृद्धि और क्षयमें कारण होती है। इनमेंसे श्रद्धाके विषयमें ये श्लोक हैं—शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है। श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई विना श्रद्धाके अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही निछावर कर दे तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता। इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। देहधारियोंमें उनके स्वभावके अनुसार होनेवाली श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी श्रद्धावाले पुरुष देवताओंकी, राजसी श्रद्धावाले यक्षों और राक्षसोंकी और तामसी श्रद्धावाले मनुष्य प्रेत, भूत और पिशाचोंकी पूजा किया करते हैं। इसलिये श्रद्धावान् पुरुष अपने न्यायोपार्जित धनका सत्पात्रके लिये जो दान करते हैं, वह थोड़ा भी हो तो उसीसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

शक्तिके विषयमें श्लोक इस प्रकार हैं—कुटुम्बके भरण-पोषणसे जो अधिक हो, वही धन दान करनेयोग्य है, वही मधुके समान मीठा है, उसीसे वास्तविक धर्मका लाभ होता है । इसके विपरीत करनेपर वह आगे जाकर विषके समान हानिकारक होता है । दाताका धर्म अधर्मरूपमें परिणत हो जाता है ।

राजन् ! धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय—ये दानके छः अधिष्ठान हैं । सदा ही किसी प्रयोजनकी इच्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धिसे सुपात्र व्यक्तियोंको जो दान दिया जाता है, उसे 'धर्मदान' कहते हैं । मनमें कोई प्रयोजन रखकर प्रसङ्गवश जो कुछ दिया जाता है, उसे 'अर्थदान' कहते हैं । वह इस लोकमें ही फल देनेवाला होता है । स्त्रीसमागम, सुरापान, शिकार और जुएके प्रसङ्गमें अनधिकारी मनुष्योंको यत्नपूर्वक जो कुछ दिया जाता हो, वह 'कामदान' कहलाता है । भरी सभामें याचकोंके माँगनेपर लज्जावश देनेकी प्रतिज्ञा करके जो कुछ उन्हें दिया जाता है, वह 'लज्जादान' माना गया है । कोई प्रिय कार्य देखकर अथवा प्रिय समाचार सुनकर हर्षोल्लाससे जो कुछ दिया जाता है, उसे महात्मा पुरुष 'हर्षदान' कहते हैं । निन्दा, अनर्थ और हिंसाका निवारण करनेके लिये अनुपकारी व्यक्तियोंको विवश होकर जो कुछ दिया जाता है, उसे 'भयदान' कहते हैं ।

राजन् ! दाता, प्रतिग्रहीता, शुद्धि, धर्मयुक्त देय वस्तु, देश और काल—ये दानके छः अङ्ग हैं । दाता नीरोग, धर्मात्मा, देनेकी इच्छा रखनेवाला, व्यसनरहित, पवित्र तथा सदा अनिन्दनीय कर्मसे आजीविका चलानेवाला होना चाहिये । इन छः गुणोंसे दाताकी प्रशंसा होती है । जिसके कुल, विद्या और आचार तीनों उज्ज्वल हों, जीवननिर्वाहकी वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक हो, जो दयालु, जितेन्द्रिय तथा योनिदोषसे मुक्त हो, वह ब्राह्मण दानका उत्तम पात्र कहा जाता है । याचकोंको देखनेपर सदा प्रसन्नमुख होना, उनके प्रति हार्दिक प्रेम होना, उनका सत्कार करना तथा उनमें दोषदृष्टि न रखना—ये सब सद्गुण दानमें शुद्धिकारक माने गये हैं । जो धन किसी दूसरेको सताकर न लाया गया हो, अति क्लेश उठाये बिना अपने प्रयत्नसे उपार्जित किया गया हो, वही देने योग्य बताया गया है । कोई धार्मिक उद्देश्य लेकर जो वस्तु दी जाती है, उसे धर्मयुक्त देय कहते हैं । जिस देश अथवा कालमें जो-जो पदार्थ दुर्लभ हों, उस-उस पदार्थका दान करने योग्य वही-वही देश और काल श्रेष्ठ है ।

नृपश्रेष्ठ ! महात्माओंने दानके दो परिणाम (फल) बतलाये हैं । उनमेंसे एक तो परलोकके लिये होता है और एक इस लोकके लिये । तथा दानके ध्रुव, त्रिक, काम्य और नैमित्तिक—ये चार प्रकार बतलाये गये हैं । कुआँ बनवाना, बगीचे लगवाना, पोखरे खुदवाना आदि सर्वोपयोगी कार्योंमें धन लगाना 'ध्रुव' कहा गया है । प्रतिदिन दिये जानेवाले 'नित्य' दानको 'त्रिक' कहते हैं । जो दान सन्तान, विजय, ऐश्वर्य, स्त्री और बल आदिके निमित्तसे तथा इच्छापूर्तिके लिये किया जाता है वह 'काम्य' है । 'नैमित्तिक' दान तीन प्रकारका होता है—ग्रहण, संक्रान्ति आदि कालकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'कालापेक्ष', श्राद्ध आदि क्रियाओंकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'क्रियापेक्ष' तथा संस्कार और विद्याध्ययन आदि गुणोंकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'गुणापेक्ष' नैमित्तिक दान है ।

अब दानके तीन भेद सुनिये । आठ वस्तुओंके दान उत्तम, चारके दान मध्यम और शेष कनिष्ठ माने गये हैं । घर, मन्दिर, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण—इन आठ वस्तुओंका दान अन्य दानोंकी अपेक्षा 'उत्तम' है । अन्न, बगीचा, वस्त्र तथा अश्व आदि वाहनोंका दान 'मध्यम' दान है । जूता, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि वस्तुओंके दानको 'कनिष्ठ' बताया गया है ।

राजन् ! पश्चात्ताप, अपात्रता और अश्रद्धा—ये तीनों दानके नाशक हैं । जिसे देकर पीछे पश्चात्ताप किया जाय, जो अपात्रको दिया जाय तथा जो बिना श्रद्धाके अर्पण किया जाय, वह दान नष्ट हो जाता है । नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह सात पदोंमें बँधा हुआ दानका उत्तम रहस्य है ।

राजा धर्मवर्मा बोले—मुनिवर ! आज मेरा जन्म सफल हुआ । आज मुझे अपनी तपस्याका फल मिल गया । यदि आप देवर्षि नारद हैं तो यह सारा राज्य आपका ही रहे । मैं तो आपकी और समस्त ब्राह्मणोंकी चाकरी करूँगा । यह सुनकर मैंने धर्मवर्मासे कहा—'राजन् ! यह धन धरोहर रूपसे तुम्हारे ही पास रहे । आवश्यकताके समय मैं ले लूँगा ।'

कलियुगकी विशेषता

इसी खण्डमें आगे जाकर महाकालने चारों युगोंकी

व्यवस्थाका बहुत विस्तृत सुन्दर वर्णन करते हुए कलियुगके भयानक दुःख-दोषोंका वर्णन करके अन्तमें कहा—

यद्यपि इस प्रकार कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है तथापि उसमें एक महान् गुण भी है। कलिकालमें थोड़े ही समयमें साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं।* सत्ययुग, त्रेता और द्वापरके लोग कहते हैं कि 'जो मनुष्य कलियुगमें श्रद्धासे वेदों, स्मृतियों और पुराणोंमें बताये हुए धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे धन्य हैं। त्रेतामें एक वर्षतक और द्वापरमें एक मासतक क्लेशसहनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषको जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुगमें एक दिनके अनुष्ठानसे मिल जाता है। कलियुगमें भगवान् विष्णु और शिवकी नियमपूर्वक पूजा करनेवाले जितने मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं, उतने अन्य युगोंमें तीन युगोंतक उपासना करनेसे प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार चारों युगोंकी व्यवस्था बदलती रहती है। चारों युगोंमें वही लोग धन्य हैं, जो भगवान्का भजन करते हैं।

पापोंके भेद

तदनन्तर करन्धमके पूछनेपर महाकालने पापोंके भेद बतलाये—

महाकालने कहा—अधर्म तीन प्रकारके हैं—स्थूल, सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म। ये ही करोड़ों भेदोंके द्वारा अनेक प्रकारके हो जाते हैं। इन पापोंका अनुष्ठान मन, वाणी और कर्मोंद्वारा होता है। उनमें मानसिक पापके चार भेद हैं—परस्त्रीचिन्तन, दूसरोंके धन हड़प लेनेका संकल्प, अपने मनसे किसीका भी अनिष्टचिन्तन तथा न करने योग्य कार्योंके लिये मनमें आग्रह रखना। इसी प्रकार वाचिक पापकर्मके भी चार भेद हैं—असंगत वचन बोलना, झूठ बोलना, अप्रिय भाषण करना तथा दूसरोंकी निन्दा और चुगली करना। शारीरिक पापकर्म भी चार प्रकारके हैं—अभक्ष्यभक्षण, हिंसा, मिथ्या भोगोंका सेवन तथा पराये धनका अपहरण। इस प्रकार मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले ये बारह प्रकारके पापकर्म हैं।

सदाचारका निरूपण

इसके पश्चात् महाकालने राजा करन्धमके पूछनेपर शिवपूजाकी विधि बतलाते हुए सदाचारका बड़ा सुन्दर निरूपण किया है, जो कि इस प्रकार है—

'मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धर्म और अर्थका चिन्तन करना चाहिये। फिर शय्यासे उठकर मलत्यागके बाद दाँतुन-कुल्ला करे एवं द्विजको चाहिये कि स्नान करके सन्ध्योपासना करे। विद्वान् द्विजको उचित है कि वह शान्तचित्त, संयमी तथा पवित्र होकर प्रातःसन्ध्याकी उपासना उस समय आरम्भ करे जब कि आकाशके तारे कुछ दिखायी देते हों तथा सायंसन्ध्या सूर्यास्त होनेसे पहले ही आरम्भ करे। इस प्रकार यथाविधि सन्ध्योपासना करता रहे। कभी भी सन्ध्याकर्मका परित्याग न करे। राजन्! झूठ, असत्य, लोभ तथा कठोरभाषण सदाके लिये त्याग दे। दुष्ट पुरुषोंकी सेवा, नास्तिकवाद तथा असत् शास्त्रोंको भी सदाके लिये छोड़ दे। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि आसनको पैरसे न खींचे। गुरु, देवता तथा अग्निके सम्मुख पाँव न फैलाये। चौराहा, चैत्य-वृक्ष, देवालय, संन्यासी, विद्यामें बढ़े हुए पुरुष, गुरु तथा वृद्धजन इन सबको अपने दाहिने करके चलना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुषको आहार-विहार और मैथुन ओटमें रहकर ही करने चाहिये। इसी प्रकार अपनी वाणी और बुद्धिकी शक्ति, तपस्या और जीविका तथा आयुको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये। दिनमें उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये तथा रातमें दक्षिण दिशाकी ओर। ऐसा करनेसे आयु नहीं घटती। अग्नि, सूर्य, गौ, व्रतधारी पुरुष, चन्द्रमा और जलके सम्मुख तथा सन्ध्याके समय मल-मूत्र त्याग करनेवाले मनुष्यकी बुद्धि नष्ट होती है। भोजन, शयन, स्नान, मल-मूत्रका त्याग तथा सड़कोंपर भ्रमण करनेके समय दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँचोंको भलीभाँति धोकर आचमन करे। नदीमें, श्मशान-भूमिमें, रातमें, गोबरपर, जोते-बोये हुए खेतमें तथा हरी-भरी घासवाली भूमिपर मल-मूत्रका त्याग न करे। जलके भीतरसे, देवस्थानसे, बाँबीसे और चूहोंके स्थानसे निकाली हुई तथा शौचावशिष्ट—इन पाँच प्रकारकी मिट्टियोंको त्याग दे। विद्वान् पुरुष हाथको इतना धोवे कि मलकी गन्ध और लेप सर्वदा दूर हो जाय। अपने आपको ताड़ना न दे, दुःखमें न डाले। दोनों हाथोंसे अपना सिर न खुजलावे। स्त्रीकी रक्षा करे और उसके प्रति अकारण ईर्ष्या छोड़ दे। भगवान् सूर्यको अर्घ्य दिये बिना कोई कर्म न करे। प्राणियोंसे द्रोह न करके मनसे भगवान्का चिन्तन करते हुए धनका उपार्जन

---

* कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥

करे। अत्यन्त कृपण न हो। किसीके प्रति ईर्ष्या न रक्खे, कृतघ्न न हो। दूसरोंसे द्रोह पैदा करनेवाले कार्यमें मन न लगावे। हाथ, पैर और नेत्रोंसे चञ्चल न हो। सरल भावसे बोले। वाणीसे अथवा अङ्गोंकी चेष्टाओंसे चञ्चलता प्रकट न करे। अशिष्ट पुरुषका सङ्ग न करे। व्यर्थ विवाद और अकारण वैर न करे। साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंसे अपना मनोरथ सिद्ध करे। दण्डनीतिका आश्रय तो तभी लेना चाहिये, जब उसके सिवा दूसरा कोई उपाय ही न रह जाय। दो अग्नि, दो ब्राह्मण, पति और पत्नी, सूर्य और चन्द्रमाकी प्रतिमा तथा भगवान् शङ्कर और नन्दिकेश्वर वृषभ—इनके बीचमें होकर न जाय; क्योंकि इनके बीचसे जानेवाला मनुष्य पापका भागी होता है। विद्वान् पुरुष एक वस्त्र धारण करके न तो भोजन करे, न अग्निमें आहुति दे, न ब्राह्मणोंकी पूजा करे और न देवताओंकी ही अर्चना करे। कूटना, पीसना, झाड़ू देना, पानी छानना, राँधना, भोजन करना, सोना, उठना, जाना, छींकना, कार्यारम्भ करना, कार्यको समाप्त करना, मुँहसे अप्रिय वचन निकल जाना, पीना, सूँघना, स्पर्श करना, सुनना, बोलनेकी इच्छा करना, मैथुन करना और शौच कर्म—इन बीस कार्योंके होते या करते समय भी जो सदा भगवान् शङ्करका नाम स्मरण करता है, उसीको शिवभक्त जानना चाहिये।

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि परायी स्त्रीसे बातचीत न करे। यदि कभी आवश्यकतावश करे तो माताजी, बहिनजी, बेटी अथवा आर्ये इस प्रकार सम्बोधन करके बोले। हाथ और मुँह जूँठे हों तो कोई बात न करे और न किसी वस्तुका स्पर्श ही करे। उच्छिष्ट दशामें सूर्य, चन्द्रमा, तारे, देवता और अपने मस्तककी ओर देखना भी मना है। बहन, बेटी अथवा माताके साथ भी एकान्तमें न बैठे। क्योंकि इन्द्रियसमुदाय दुर्जय होता है। इनसे विद्वान् पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं।* यदि गुरुदेव घरपर आ जायँ तो उनके लिये स्वयं उठकर आसनकी व्यवस्था करे और प्रणाम करे। विद्वान् मनुष्य सिरहानेकी ओर दक्षिण दिशा अथवा पूर्व दिशाको रखकर शयन करे। रजस्वला स्त्रीका दर्शन-स्पर्श न करे। उसके साथ बातचीत भी नहीं करनी चाहिये। जलके भीतर मल-मूत्र और मैथुन न करे। मनुष्य अपने वैभवके अनुसार देवता, मनुष्य, ऋषि और पितरोंको उनका भाग समर्पित करके शेष अन्नका स्वयं भोजन करे। पवित्र हो आचमन करके पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके दोनों हाथोंको घुटनोंके भीतर रखकर मौनभावसे भोजन करे। यदि अन्न किसी उच्छिष्ट आदि दोषसे दूषित हो गया है तो उस दोषके प्रकट करनेमें कोई हानि नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी दोषकी चर्चा न करे। नग्न होकर न तो स्नान करे, न सोवे और न चले ही। यदि गुरुके द्वारा कोई अनुचित कार्य भी हो जाय तो उसे अन्यत्र न कहे। वे क्रोधमें हों तो उन्हें मनावे। दूसरे लोगोंके मुखसे भी गुरुकी निन्दा न सुने। सैकड़ों कार्य छोड़कर भी धर्मकी कथा-वार्ता सुने। प्रतिदिन धर्मचर्चा श्रवण करनेवाला मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लेता है। सायंकाल और प्रातःकाल अतिथिकी पूजा करके भोजन करना चाहिये। दोनों सन्ध्याओंके समय सोना, पढ़ना और भोजन करना निषिद्ध है। नीलसे रँगा हुआ वस्त्र नहीं पहनना चाहिये।

विद्वान् पुरुषको सदा तीनों वेदोंका स्वाध्याय तथा धर्मपूर्वक धनोपार्जन करके आत्मकल्याणार्थ यत्नपूर्वक भगवान्‌का भजन करना चाहिये। विद्वान् पुरुषको उचित है कि वह नीच श्रेणीके मनुष्योंके लिये भी कभी अनादर-सूचक 'तू' का प्रयोग न करे। इस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये धर्माचरण करनेवाले सद्गृहस्थको इस लोकमें धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होकर परलोकमें उसका परम कल्याण होता है।'

आगे वैष्णवखण्डान्तर्गत धर्मारण्य-माहात्म्यके पाँचवें-छठवें अध्यायोंमें सदाचार, शिष्टाचार आदिका बहुत विस्तारसे निरूपण किया गया है। जो विस्तृत वर्णन देखना चाहें, उन्हें उन अध्यायोंका अध्ययन करना चाहिये।

संसारसे वैराग्यका निरूपण तथा परमार्थचर्चाका अद्भुत प्रभाव

आगे चलकर श्रीनारदजीने ऐतरेय मुनि और उनकी माताके बीच हुए संवादका उल्लेख किया है, जिसमें बतलाया है कि ऐतरेय मुनिने माताको वैराग्यका उपदेश दिया और उस वैराग्यमय परमार्थचर्चाके अद्भुत प्रभावसे तुरंत भगवान् विष्णु उनके सामने प्रकट हो गये।

नारदजीने कहा—पूर्वकालकी बात है, इस श्रेष्ठ तीर्थमें

---

* स्वस्रा दुहित्रा मात्रा वा नैकान्तासनमाचरेत्।
दुर्जयो हीन्द्रियग्रामो मुह्यते पण्डितोऽपि सन्॥
(स्क० मा० कुमा० ३६।१५७)

ऐतरेय नामक ब्राह्मणने भगवान् वासुदेवकी कृपा प्राप्त की थी। हारीतमुनिके वंशमें माण्डुकि नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। उनके इतरा नामवाली पत्नीसे ऐतरेयका जन्म हुआ था। ये बाल्यावस्थासे ही निरन्तर द्वादशाक्षर मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'का जप करते थे। इन्हें इस मन्त्रकी पूर्वजन्ममें ही शिक्षा मिली थी। ये न तो किसीकी बात सुनते और न स्वयं कुछ बोलते और न अध्ययन ही करते थे। इससे सबको निश्चय हो गया कि यह बालक गूँगा है। एक दिन इनकी माता इतराने अपने पुत्रसे कहा—'अरे ! तू तो मुझे क्लेश देनेके लिये ही पैदा हुआ है। मेरे जन्म और जीवनको धिक्कार है। इससे तो मेरा मर जाना ही अच्छा है।' माताकी बात सुनकर ऐतरेय हँस पड़े। वे बड़े धर्मज्ञ थे। उन्होंने दो घड़ी भगवान्का ध्यान करके माताके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'मा ! तुम जो शोचनीय नहीं है, उसीके लिये शोक करती हो और जो वास्तवमें शोचनीय है, उसके लिये तुम्हारे मनमें जरा भी शोक नहीं है। यह संसार मिथ्या है। इसमें तुम इस शरीरके लिये क्यों चिन्तित एवं मोहित हो रही हो। यह तो मूर्खोंका काम है। तुम-जैसी विदुषी स्त्रियोंके लिये यह शोभा नहीं देता। यह जो मानवशरीर है, गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त सदा अत्यन्त कष्टप्रद है। यह शरीर एक प्रकारका घर है। हड्डियोंका समूह ही इसके भारको सँभालनेवाला खंभा है। नाड़ीजालरूपी रस्सियोंसे ही इसे बाँधा गया है। रक्त और मांसरूपी मिट्टीसे इसको लीपा गया है। विष्ठा और मूत्ररूपी द्रव्योंके संग्रहका यह पात्र है। यह सदा कालकी मुखाग्निमें स्थित है। ऐसे इस देहरूपी गेहमें जीव नामवाला गृहस्थ निवास करता है। कितने कष्टकी बात है कि जीव इस देह-गेहकी मोह-मायासे मूढ होकर तदनुकूल बर्ताव करता है!

'जैसे पर्वतसे झरने गिरते रहते हैं, उसी प्रकार शरीरसे भी कफ और मूत्र आदि बहते रहते हैं। उसी शरीरके लिये जीव मोहित होता है! विष्ठा और मूत्रसे भरे हुए चर्मपात्रकी भाँति यह शरीर समस्त अपवित्र वस्तुओंका भण्डार है और इसका एक प्रदेश (अंश) भी पवित्र नहीं है। अपने शरीरसे निकले हुए मल-मूत्र आदिके जो प्रवाह हैं, उनका स्पर्श हो जानेपर मिट्टी और जलसे हाथ शुद्ध किया जाता है तथापि उन्हीं अपवित्र वस्तुओंके भण्डाररूप इस देहसे न जाने क्यों मनुष्यको वैराग्य नहीं होता ? सुगन्धित तेल और जल आदिके द्वारा यत्नपूर्वक भलीभाँति सफाई करनेपर भी यह शरीर अपनी स्वाभाविक अपवित्रताको नहीं छोड़ता है, ठीक उसी तरह जैसे कुत्तेकी टेढ़ी पूँछको कितना ही सीधा किया जाय, वह अपना टेढ़ापन नहीं छोड़ पाती। अपनी देहकी अपवित्र गन्धसे जो मनुष्य विरक्त नहीं होता, उसे वैराग्यके लिये अन्य किस साधनका उपदेश दिया जाय ? दुर्गन्ध तथा मल-मूत्रके लेपको दूर करनेके लिये ही शारीरिक शुद्धिका विधान किया गया है। इन दोनोंका निवारण हो जानेके पश्चात् आन्तरिक भावकी शुद्धि हो जानेसे मनुष्य शुद्ध होता है। भावशुद्धि ही सबसे बढ़कर पवित्रता है। वही सब कर्मोंमें प्रमाणभूत है। आलिङ्गन पत्नीका भी किया जाता है और पुत्रीका भी; परंतु दोनोंमें भावका महान् अन्तर है। पत्नीका आलिङ्गन किसी और भावसे ही किया जाता है और पुत्रीका किसी और भावसे। एक स्त्रीके स्तनोंको पुत्र दूसरे भावसे स्मरण करता है और पति दूसरे भावसे। अतः अपने चित्तको ही शुद्ध करना चाहिये; भाव-दृष्टिसे जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है, वह स्वर्ग और मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है।

'ज्ञानरूपी निर्मल जल तथा वैराग्यरूपी मृत्तिकासे ही पुरुषके अविद्या और रागमय मल-मूत्रके लेप तथा दुर्गन्धका शोधन होता है। इस प्रकार इस शरीरको स्वभावतः अशुद्ध माना गया है। जो बुद्धिमान् अपने शरीरको इस प्रकार दोषयुक्त जानकर उदासीन हो जाता है, शरीरसे अनुराग हटा लेता है, वही इस संसारबन्धनसे छूटकर निकल सकता है; किंतु जो इस शरीरको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहता है—इसका मोह नहीं छोड़ता, वह संसारमें ही पड़ा रह जाता है। इस प्रकार यह मानव-जन्म लोगोंके अज्ञान-दोषसे तथा नाना कर्मवशात् दुःखस्वरूप और महान् कष्टप्रद बतलाया गया है। गर्भकी झिल्लीमें रुँधा हुआ जीव महान् कष्ट पाता है। जैसे किसीको लोहेके घड़ेमें रखकर आगसे पकाया जाता है, वैसे ही गर्भरूपी घरमें डाला हुआ जीव जठरानलकी आँचसे पकता रहता है। यदि आगके समान दहकती हुई सूइयोंसे किसीको निरन्तर छेदा जाय तो उसे जितनी पीड़ा हो सकती है, उससे आठगुनी पीड़ा गर्भमें भोगनी पड़ती है। इस प्रकार स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंको अपने-अपने गर्भके अनुरूप यह महान् गर्भरूप दुःख प्राप्त होता है।

'गर्भमें स्थित होनेपर सभीको अपने पूर्वजन्मोंका

स्मरण हो आता है । उस समय जीव इस प्रकार सोचता रहता है—'मैं मरकर पुनः उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होकर पुनः मृत्युको प्राप्त हुआ । जन्म ले-लेकर मैंने सहस्रों योनियोंका दर्शन किया है । इस समय जन्म धारण करते ही मेरे पूर्वसंस्कार जाग उठे हैं । अब मैं ऐसे कल्याणकारी साधनका अनुष्ठान करूँगा, जिससे पुनः मेरा गर्भवास न हो । मैं संसारबन्धनसे दूर करनेवाले भगवदीय तत्त्वज्ञानका चिन्तन करूँगा । इस प्रकार इस दुःखसे छूटनेके उपायपर विचार करता हुआ गर्भस्थ जीव चिन्तामग्न रहता है । जब उसका जन्म होने लगता है, उस समय तो उसे गर्भकी अपेक्षा करोड़ों गुना अधिक दुःख होता है । गर्भवासके समय जो सद्बुद्धि जाग्रत् हुई रहती है, वह जन्म होनेपर नष्ट हो जाती है । बाहरकी हवा लगते ही मूढ़ता आ जाती है । राग और मोहके वशीभूत हुआ वह संसारमें न करने योग्य पापादि कर्ममें लग जाता है । उनमें फँसकर वह न तो अपनेको जानता है और न दूसरेको जानता है और न किसी देवताको ही कुछ समझता है । वह अपने परम कल्याणकी बाततक नहीं जानता । आँख रहते हुए भी नहीं देखता । विद्वानोंके समझानेपर भी, बुद्धि रहते हुए भी वह नहीं समझ पाता । इसीलिये राग और मोहके वशीभूत होकर संसारमें क्लेश पाता रहता है ।

'बाल्यावस्थामें इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अव्यक्त रहती हैं, इसलिये जीव उस समयके महान् दुःखको बतानेकी इच्छा होनेपर भी नहीं बता सकता और न उस दुःखके निवारणके लिये कुछ कर ही सकता है । जब दाँत उठने लगते हैं, तब उसे महान् कष्ट भोगना पड़ता है । इसके बाद जब वह कुछ बड़ा होता है, तब अक्षरोंके अध्ययन आदिसे और गुरुके शासनसे उसको महान् दुःख होता है ।

युवावस्थामें रागोन्मत्त पुरुषको यदि कहीं अनुराग हो जाता है, तो ईर्ष्याके कारण उसे बड़ा भारी दुःख होता है । जो उन्मत्त और क्रोधी है, उसका कहीं भी राग होना केवल दुःखका ही कारण है । रातमें कामाग्निजनित खेदसे पुरुषको निद्रा नहीं आती, दिनमें द्रव्योपार्जनकी चिन्ता लगी रहनेके कारण उसे सुख नहीं मिल सकता । सम्मान-अपमानसे, प्रियजनोंके संयोग-वियोगसे तथा वृद्धावस्थासे ग्रस्त होनेके कारण जवानीमें सुख कहाँ ?

'युवावस्थाका शरीर एक दिन जरा-अवस्थाके द्वारा जर्जर कर दिया जानेपर सम्पूर्ण कार्योंके लिये असमर्थ हो जाता है । बदनमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, सिरके बाल सफेद हो जाते हैं और शरीर बहुत ढीला-ढाला हो जाता है । बुढ़ापेसे दबा हुआ पुरुष असमर्थ होनेके कारण पत्नी-पुत्र आदि बन्धु-बान्धवों तथा सेवकोंद्वारा भी अपमानित होता है । वृद्धावस्थामें रोगातुर पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन करनेमें असमर्थ हो जाता है; इसलिये युवावस्थामें ही धर्मका आचरण करना चाहिये ।

'वात, पित्त और कफकी विषमता ही व्याधि कहलाती है । इस शरीरको वात आदिका समूह बताया गया है । इसलिये अपना यह शरीर व्याधिमय है, ऐसा जानना चाहिये । यदि जीवका काल आ पहुँचा है तो उसे धन्वन्तरि भी जीवित नहीं रख सकते । कालसे पीड़ित मनुष्योंको औषध, तपस्या, दान, मित्र तथा बन्धु-बान्धव कोई भी नहीं बचा सकते । रसायन, तपस्या, जप, योग, सिद्ध-महात्मा तथा पण्डित सब मिलकर भी मृत्युको नहीं टाल सकते । समस्त प्राणियोंके लिये मृत्युके समान कोई दुःख नहीं है, मृत्युके समान कोई भय नहीं है तथा मृत्युके समान कोई त्रास नहीं है । सती भार्या, उत्तम पुत्र, श्रेष्ठ मित्र, राज्य, ऐश्वर्य और सुख—ये सभी स्नेहपाशमें बँधे हुए हैं, मृत्यु इन सबका उच्छेद कर डालती है ।

'इस जीवनकी समाप्ति होनेपर मनुष्य अत्यन्त भयङ्कर मृत्युको प्राप्त होता है । मृत्युके बाद वह पुनः करोड़ों योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है । कर्मोंकी गणनाके अनुसार देहभेदसे जो जीवका एक शरीरसे वियोग होता है, उसे 'मृत्यु' नाम दिया गया है; वास्तवमें उससे जीवका विनाश नहीं होता । मृत्युके समय महान् मोहको प्राप्त हुए जीवके मर्मस्थान जब विदीर्ण होने लगते हैं, उस समय उसे जो बड़ा भारी कष्ट भोगना पड़ता है, उसकी इस संसारमें कहीं उपमा नहीं है ।

'विवेकी पुरुषके लिये किसीसे कुछ माँगना मृत्युसे भी अधिक दुःखदायी होता है । तृष्णा ही लघुताका कारण है । इससे आदि, मध्य और अन्तमें भी दारुण दुःख ही प्राप्त होता है । दुःखोंकी यह परम्परा समस्त प्राणियोंको स्वभावतः प्राप्त होती है । क्षुधाको सब रोगोंसे महान् रोग माना गया है । जैसे अन्य रोगोंसे लोग मरते हैं, उसी प्रकार क्षुधासे पीड़ित होनेपर भी मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है । (यदि कहें धनधान्यसम्पन्न राजा सुखी होंगे तो यह भी ठीक नहीं) राजाको केवल यह अभिमान ही होता है कि मेरे घरमें

इतना वैभव शोभा पा रहा है। वास्तवमें तो उनका सारा आभरण भाररूप है, समस्त आलेपन-द्रव्य मल-मात्र है, सम्पूर्ण संगीत-राग प्रलाप-मात्र है तथा नृत्य आदि भी पागलोंकी-सी चेष्टा है। विचारदृष्टिसे देखनेपर इन राज्य-भोगोंके द्वारा राजाओंको सुख कहाँ मिलता है; क्योंकि वे लोग तो एक-दूसरेको जीतनेके लिये सदा ही चिन्तित रहते हैं। राज्य-लक्ष्मी अथवा धन-ऐश्वर्यसे भला कौन सुख पाता है? मनुष्य स्वर्गलोकमें जो पुण्यफल भोगते हैं, वह अपने मूलधनको गवाँकर ही भोगते हैं; क्योंकि वहाँ वे दूसरा नवीन कर्म नहीं कर सकते। यही स्वर्गमें अत्यन्त भयंकर दोष है। जैसे वृक्षकी जड़ काट देनेपर वह विवश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार पुण्यरूपी मूलका क्षय हो जानेपर स्वर्गवासी जीव पुनः पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं। इस तरह विचारपूर्वक देखा जाय तो स्वर्गमें भी देवताओंको कोई सुख नहीं है। नरकमें गये हुए पापी जीवोंका दुःख तो प्रसिद्ध ही है—उनका क्या वर्णन किया जाय? स्थावर-जङ्गम योनिमें पड़े हुए जीवोंको भी बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं।

'दुर्भिक्ष, दुर्भाग्यका प्रकोप, मूर्खता, दरिद्रता, नीच-ऊँचका भाव, मृत्यु, राष्ट्रविप्लव, पारस्परिक अपमानका दुःख, एक दूसरेसे धन-वैभवमें या मान-बड़ाईमें बढ़नेका कष्ट, अपनी प्रभुताका सदा स्थिर न रहना, ऊँचे चढ़े हुए लोगोंका नीचे गिराया जाना इत्यादि महान् दुःखोंसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है। अतः इस जगत्‌को दुःखोंसे भरा हुआ जानकर इसकी ओरसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाना चाहिये। उद्वेगसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे परमात्मा विष्णुको जानकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

'मा! जैसे कौओंके अपवित्र स्थानमें विशुद्ध राजहंस नहीं रह सकता, उसी प्रकार ऐसे दुःखमय संसारमें मैं तो कभी रम नहीं सकता। जहाँ रहकर मैं बिना किसी बाधाके आनन्दपूर्वक रह सकता हूँ, वह स्थान बताता हूँ—तेज, अभयदान, अद्रोह, कौशल, अचपलता, अक्रोध और प्रिय वचन—उस विद्या-वनमें ये सात पर्वत स्थित हैं। दृढ़ निश्चय, सबके साथ समता, मन और इन्द्रियोंका संयम, गुण-सञ्चय, ममताका अभाव, तपस्या तथा सन्तोष—ये सात सरोवर हैं। भगवान्‌के गुणोंका विशेष ज्ञान होनेसे जो भगवान्‌में भक्ति होती है, वह विद्या-वनकी पहली नदी है, वैराग्य दूसरी, ममताका त्याग तीसरी, भगवत्-आराधन चौथी, भगवदर्पण पाँचवीं; ब्रह्मैकत्वबोध छठी तथा सिद्धि सातवीं—ये ही सात नदियाँ वहाँ स्थित हैं। वैकुण्ठ-धामके निकट इन सातों नदियोंका सङ्गम होता है। जो आत्मतृप्त, शान्त तथा जितेन्द्रिय होते हैं; वे महात्मा ही इस मार्गसे परात्पर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

'मा! मैं यहाँ ब्रह्मचर्यका आचरण करता हूँ। ब्रह्म ही समिधा, ब्रह्म ही अग्नि तथा ब्रह्म ही कुशास्तरण है। जल भी ब्रह्म है और गुरु भी ब्रह्म ही है, यही मेरा ब्रह्मचर्य है। विद्वान् पुरुष इसीको सूक्ष्म ब्रह्मचर्य मानते हैं। अब मेरे गुरुका परिचय सुनो—एक ही शिक्षक है दूसरा कोई नहीं। हृदयमें विराजमान अन्तर्यामी पुरुष ही शिक्षक होकर शिक्षा देता है। उनके सिवा दूसरा कोई गुरु नहीं है। उनको मैं प्रणाम करता हूँ। जो हृदयमें विराजमान हैं, वह एक परमात्मा ही बन्धु हैं। इसलिये मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। अब मेरा गार्हस्थ्य भी सुन लो—प्रकृति ही मेरी पत्नी है, किन्तु मैं कभी उसका चिन्तन नहीं करता; वही मेरे सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली है। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान, मन तथा बुद्धि—ये सात प्रकारकी अग्नि सदा मेरी अग्निशालामें प्रज्वलित रहती हैं। गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श, मन्तव्य और बोद्धव्य—ये सात मेरी समिधाएँ हैं। होता भी नारायण हैं और वही ध्यानसे साक्षात् उपस्थित होकर उस हविष्यका उपयोग करते हैं। ऐसे यज्ञद्वारा मैं अपनी इस गृहस्थीमें उन परमेश्वर विष्णुका यजन करता हूँ और किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रखता। मेरा स्वभाव राग-द्वेष आदि-से लिप्त नहीं होता। माता! ऐसे मुझ पुत्रसे तुम दुखी न होओ। मैं तुम्हें उस पदपर पहुँचाऊँगा, जहाँ सैकड़ों यज्ञ करके भी पहुँचना असम्भव है।'

अपने पुत्रकी यह बात सुनकर इतराको बड़ा विस्मय हुआ। ऐतरेयके अपना कथन समाप्त करते ही वहाँ उस अर्चाविग्रहसे शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु साक्षात् प्रकट हो गये, वे उस ब्राह्मण-बालककी बातोंसे अत्यन्त प्रसन्न थे। भगवान्‌की कान्ति करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान और दिव्य थी। वे अपनी प्रभासे सम्पूर्ण जगत्‌को उद्भासित कर रहे थे। भगवान्‌को देखते ही ऐतरेय दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे और वाणी गद्गद हो गयी। बुद्धिमान् ऐतरेयने भगवान्‌की स्तुति की। स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उससे वर माँगनेके लिये कहा।

इसपर ऐतरेयने कहा—मेरा अभीष्ट वर तो यही है कि घोर संसारमें डूबते हुए मुझ असहायके लिये आप कर्णधार हो जायँ ।

भगवान् वासुदेव बोले—वत्स ! तुम तो संसार-सागरसे मुक्त ही हो । जो सदा इस स्तोत्रसे गुप्त क्षेत्रमें स्थित हुए मुझ वासुदेवका स्तवन करेगा, उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जायगा । यों कहकर भगवान् विष्णु पुनः वासुदेवविग्रहमें ही प्रवेश कर गये । उस समय ऐतरेयकी माता और ऐतरेय दोनों एकटक दृष्टिसे भगवान्की ओर देखते हुए आनन्दमग्न हो रहे थे ।

राजा शङ्ख और अगस्त्य मुनिको भगवद्दर्शन

अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'भगवान् श्रीहरि वेङ्कटाचलपर मनुष्योंको प्रत्यक्ष कैसे हुए ?' श्रीभरद्वाज मुनिने जो एक बड़ी सुन्दर कथा कही, जिसमें—सामूहिक कीर्तन करनेवाले सभी लोगोंके सामने भगवान् विष्णु प्रत्यक्ष प्रकट हो गये,—इस प्रकार भगवन्नाम-कीर्तनकी अद्भुत महिमा प्रकट की गयी ।

भरद्वाजजीने कहा—अर्जुन ! हैहयवंशमें 'श्रुत' नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं । उनके पुत्र शङ्ख हुए, जो समस्त गुणोंके निधि और सब शास्त्रोंमें कुशल थे । कमलनयन भगवान् विष्णुमें राजा शङ्खकी निश्चल एवं अनन्य भक्ति थी । उन्होंने भगवान्का ध्यान करते हुए नाना प्रकारके व्रत, दान और पुण्य किये । भक्तवत्सल केशवमें मन लगाकर वे प्रतिदिन गोविन्दका स्मरण, अविनाशी अच्युतका जप, कमलनयन विष्णुका पूजन तथा शार्ङ्ग-धनुषधारी श्रीहरिका कीर्तन किया करते थे । पवित्र भगवत्कथाओंको, जो संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाली हैं, सदैव सुना करते थे । इस प्रकार सर्वथा अविराम गतिसे श्रीहरिकी आराधनामें संलग्न होनेपर भी राजा शङ्खने भगवान् पुरुषोत्तमका कभी प्रत्यक्ष दर्शन नहीं पाया । भगवान्का दर्शन न पानेसे उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो गया । वे बड़ी चिन्ताको प्राप्त हुए । शङ्ख बोले—अनेक जन्मोंमें उपार्जित तपस्याओंका यह एक ही अखण्ड फल है कि मधुसूदन भगवान् विष्णुका दर्शन प्राप्त हो । अहो ! भगवान् मेरे नेत्रोंके समक्ष कैसे प्रकट होंगे । कानोंसे उनके वचन सुननेका सौभाग्य मुझे कैसे प्राप्त होगा ।

इस प्रकार चिन्तासे व्याकुल राजाके मनमें जब जीवित रहनेकी अभिलाषा नहीं रह गयी, तब अव्यक्तमूर्ति भगवान् विष्णुने सबके सुनते हुए कहा—'राजन् ! तुम शोक मत करो । तुम तो एकमात्र मेरी शरणमें आये हुए साधु-भक्त हो । मैं तुम्हारा त्याग कैसे कर सकता हूँ । यह वेङ्कट नामक पर्वत तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है । राजन् ! यहाँका निवास मुझे वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय है । उस श्रेष्ठ पर्वतपर जाकर भक्तिपूर्वक तपस्या करते रहनेपर मैं तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा । तुम्हारी ही तरह महर्षि अगस्त्य भी वहाँ तपस्या करने आवेंगे । उसी पवित्र पर्वतपर निवास करते हुए तुम भी मेरी आराधना करो । इससे मेरा दर्शन प्राप्त कर लोगे ।'

भगवान्के इस प्रकार आज्ञा देनेपर राजा शङ्खको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने भगवान् विष्णुके दर्शनकी आकाङ्क्षासे नारायणगिरिको प्रस्थान किया । वहाँ स्वामिपुष्करिणीके किनारे कुटी बनाकर जगदीश जनार्दनको अपने समस्त कर्म समर्पित करके राजा शङ्ख प्रतिदिन जप और ध्यानमें संलग्न रहने लगे । इसी समय सैकड़ों मुनियोंसे घिरे हुए अगस्त्यजी भी उस पर्वतपर आये और उन्होंने बहुत समयतक भगवान्की आराधना की, परंतु भगवान्को कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं देखा, इससे वे चिन्तामग्न हो गये । उस समय बृहस्पति, शुक्र तथा राजा उपरिचर और वसु—ये सब महानुभाव अगस्त्यजीके पास आये और इस प्रकार बोले—'मुनिश्रेष्ठ ! ब्रह्माजीने हमें जो आज्ञा दी है, उसे आपको बता रहे हैं । दक्षिण दिशामें वेङ्कटाचल नामक पर्वत है । जगद्गुरु गोविन्द उस पर्वतपर महर्षि अगस्त्य तथा राजा शङ्खको अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन करायेंगे । उस समय सब देवताओं, ऋषियों और अन्य सब लोगोंको भी देवाधिदेव श्रीहरिका दर्शन होगा । यह बात शीघ्र ही होनेवाली है ।'

यह सुनकर अगस्त्य मुनि शोकका त्याग करके शीघ्र ही उन सबके साथ चल दिये । फिर उन्होंने निर्मल स्वामिपुष्करिणीको और उसके किनारे आश्रम बनाकर रहनेवाले राजा शङ्खको भी देखा जो मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्म भगवान्को समर्पित करके विराजमान थे । उन्हें आया देख राजाने उनका यथावत् सत्कार किया । फिर सब लोग एक दूसरेका आदर करते हुए वहाँ बैठे और उत्कण्ठित होकर गोविन्दके नामोंका कीर्तन करने लगे । भगवान्में मन लगाकर उन्हींकी पूजा और स्तुतिमें संलग्न उन सब लोगोंको तीन दिन व्यतीत हो गये । तीसरे दिन रातमें उन सबको नींद आ गयी, फिर चौथे पहरमें उत्तम स्वप्न देखा—भगवान् विष्णु हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा

धारण किये प्रसन्नमुखसे वर देनेके लिये खड़े हैं, उनके नेत्र खिले हुए हैं। भगवान्‌की यह झाँकी देखकर सभी प्रसन्नचित्त हो उठे और कुटीसे निकलकर सबने स्वामिपुष्करिणीमें स्नान किया। तत्पश्चात् राजाके आश्रमपर लौटे।

तदनन्तर भगवान्‌का पूजन करके उन्होंने स्तोत्रोंद्वारा स्तवन किया। स्तुतिके अन्तमें महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख भगवान्‌के अष्टाक्षर—'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्रका जप करने लगे। इस प्रकार श्रीहरिमें चित्त लगाये हुए उन महात्माओंके आगे एक महान् अद्भुत तेज प्रकट हुआ, जो कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नियोंके तेजःपुञ्ज-सा प्रतीत होता था। उस तेजका दर्शन करके सबको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसके भीतर परमानन्दविग्रह दिव्य रूपधारी भगवान् श्रीनारायणका चिन्तन किया। भगवान्‌को अपने सामने देखकर अगस्त्य और शङ्ख आदि सब मनुष्योंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। सबने बार-बार भगवान्‌के चरणोंमें मस्तक झुकाया। उस समय भगवान्‌के दिव्य शरीरपर सुनहरे रंगका पीताम्बर छवि पा रहा था। भगवान् रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके चारों हाथ शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे शोभायमान थे। भगवान् लक्ष्मीपतिके इस मनोहर रूपको देखकर सबने बार-बार प्रणाम किया। भगवान्‌ने अभीष्ट वरदानसे ब्रह्मा आदि देवताओंको संतुष्ट करके मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे कहा—'मुनीन्द्र! तुमने मेरे लिये कठोर व्रतोंका अनुष्ठान करके बहुत क्लेश उठाया है। अतः मैं तुम्हें अभीष्ट वरदान दूँगा। बोलो, क्या चाहते हो?' भगवान्‌का यह वचन सुनकर अगस्त्यजीके सम्पूर्ण अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया। वे भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करके बोले—'प्रभो! आपकी कृपासे मैं सब कुछ पहले ही पा गया हूँ। माधव! इस समय सोचने-विचारनेपर भी मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखायी देती, जो प्राप्त करनेयोग्य हो। अतः आपके चरणारविन्दोंमें निरन्तर ऐसी ही भक्ति बनी रहे, यही कृपा कीजिये। स्वर्णमुखरी नदीके जलमें स्नान करके जो लोग वेङ्कटाचलपर विराजमान आपका दर्शन करें, वे भोग और मोक्षके भी भागी हों।' इसपर भगवान्‌ने कहा—'ब्रह्मन्! तुमने जो प्रार्थना की है, वह सब पूर्ण होगी।'

अगस्त्य मुनिसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने राजा शङ्खकी ओर देखा और ब्रह्मा आदिके सुनते हुए कहा—'राजन्! मैं तुम्हारी भक्तिसे बहुत संतुष्ट हूँ। तुम कोई मनोवाञ्छित वर माँगो।' शङ्ख बोले—'भगवन्! आपके चरणकमलोंकी सेवाके अतिरिक्त दूसरा मैं कुछ नहीं माँगता।' भगवान्‌ने कहा—'शङ्ख! तुमने जो कुछ माँगा है, वह सब उसी रूपमें तुम्हें प्राप्त होगा।'

तदनन्तर ब्रह्मा आदि सब देवताओंको विदा करके भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। अर्जुन! यह वेङ्कटाचलका प्रभाव तुम्हें बतलाया गया है। इस पावन कथाको श्रवण करके सब मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।

फिर नीलाचल पर्वतपर स्थित जगन्नाथ (पुरुषोत्तम) क्षेत्रकी अत्यन्त अद्भुत महिमा बड़े विस्तारमें बतलायी गयी है। इस प्रसङ्गको वैष्णवखण्डके उत्कलखण्डमें देखना चाहिये। इसी प्रसङ्गमें राजा इन्द्रद्युम्न और नारदजीके संवादमें भक्ति और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन भी आया है, हमलोगोंको उसपर ध्यान देकर उसका अनुष्ठान करना चाहिये।

भगवद्भक्ति और भक्तोंके लक्षण एवं जगन्नाथ-क्षेत्रकी महिमा

सत्ययुगकी बात है, उत्कल देशमें इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ राजा थे। उन्होंने एक बार एक तीर्थयात्रीसे पुरुषोत्तम-क्षेत्रकी महिमा सुनी, तब वे वहाँ जानेका विचार कर रहे थे कि श्रीनारदजी उनके पास आ गये। उनका आतिथ्य-सत्कार करके राजा इन्द्रद्युम्नने नारदजीसे पूछा—'भगवन्! भक्तिका क्या स्वरूप है? उसके लक्षणका वर्णन कीजिये।'

नारदजीने कहा—राजन्! सावधान होकर सुनो। मैं भगवान् विष्णुकी सनातन भक्तिका सामान्य और विशेषरूपसे वर्णन करता हूँ। गुणोंके भेदसे भक्तिके तीन भेद हैं—तामसी, राजसी और सात्त्विकी। इनके अतिरिक्त एक चौथी भक्ति भी है जो निर्गुणा मानी गयी है। राजन्! जो लोग काम और क्रोधके वशीभूत हैं और प्रत्यक्ष (इस जगत्) के सिवा और किसी (परलोक आदि) की ओर दृष्टि नहीं रखते, वे अपनेको लाभ तथा दूसरोंको हानि पहुँचानेके लिये जो भजन करते हैं, उनकी वह भक्ति 'तामसी' कही गयी है। अधिक यशकी प्राप्तिके लिये अथवा दूसरोंकी स्पर्धा (लाग-डाँट) से प्रसङ्गवश स्वर्गके लिये भी जो भक्ति होती है, वह 'राजसी' कही गयी है। पारलौकिक लाभको स्थायी और इहलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंको नश्वर समझकर अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका परित्याग न करते हुए आत्मज्ञानके लिये जो भक्ति की

जाती है, वह 'सात्त्विकी' भक्ति मानी गयी है। यह जगत् जगन्नाथका स्वरूप है। उससे भिन्न उसका कोई दूसरा कारण नहीं है। मैं भी भगवान्से भिन्न नहीं हूँ और वे भी मुझसे पृथक् नहीं हैं। ऐसा समझकर अभिन्नरूपसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवत्स्वरूपका चिन्तन करते रहना—यह 'अद्वैत निर्गुणा' नामवाली भक्ति है।

अब मैं भगवान् विष्णुके भक्तोंके लक्षण बतलाता हूँ— जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, जिन्होंने स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है तथा जो मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह रखनेकी इच्छा नहीं रखते, जिनका चित्त दयासे द्रवीभूत होता है, जो चोरी और हिंसासे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं, सद्गुणोंके संग्रह तथा दूसरोंके कार्य-साधनमें जो प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं, सदाचारसे जिनका जीवन सदा उज्ज्वल (निष्कलङ्क) बना रहता है, सब प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर जो कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे सौ कोटि गुनी अधिक प्रीतिका विस्तार भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुको नहीं देखते, समष्टि और व्यष्टि सब भगवान्के ही स्वरूप हैं, भगवान् जगत्से भिन्न होकर भी भिन्न नहीं हैं, सेव्य अथवा सेवक कोई भी आपसे भिन्न नहीं है, इस भावनासे सदा सावधान रहकर जो ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगल चरणारविन्दों-वाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते हैं, उनके नामोंका कीर्तन करते हैं, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनय-पूर्ण बर्ताव करते हैं, दूसरोंके कुशल-क्षेमको अपना ही मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना करते हैं, वे ही विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, पर-धन एवं मिट्टीके ढेलेमें, मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते और पराये मर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्में सदा मन लगाये रहते तथा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे पसिद्ध हैं। जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जडबुद्धि-सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान हैं, जो भगवान्की पूजामें चतुर हैं तथा अपने मन और विनययुक्त वाणीको भगवान्की सेवामें समर्पित कर चुके हैं, वे ही वैष्णव नामसे प्रसिद्ध हैं। भगवान्में सदैव उत्तम भक्ति रखनेवाले भक्तोंके शुभ चरित्र और लक्षणका वर्णन मैंने तुमसे किया है। भगवान्के भजनके लिये धनकी आवश्यकता तथा शरीरको कष्ट देकर किये जानेवाले किसी विशेष प्रकारके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है। मृदुल एवं मन्द स्वरसे वाणीके द्वारा भगवान्के नामोंका कीर्तन होता रहे तो मैं इसीको भजन मानता हूँ। तुम्हारे मनमें भगवान्के दास्य-भावका ही चिन्तन होना चाहिये। जिनके मनमें परायी स्त्री और पराये धनके लिये सदा लोभ बना रहता है, जो कृपण बुद्धिवाले हैं और सदा अपना ही पेट भरनेमें लगे रहते हैं, वे नरपशु विष्णुभक्तिसे सर्वथा रहित हैं। जो निरन्तर दुष्ट पुरुषोंके साथ अनुराग करते हैं, दूसरोंका तिरस्कार और हिंसा करते हैं, जिनका स्वभाव अत्यन्त भयङ्कर है तथा जो भगवान् नरसिंहके चिन्तनसे विरक्त रहते हैं, उन मलिन पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

इसके बाद राजाके प्रार्थना करनेपर श्रीनारदजी राजाको साथ लेकर पुरुषोत्तमक्षेत्रमें गये और महीनदीके तटपर विश्राम किया। वहाँ राजा इन्द्रद्युम्नने नारदजीके साथ भगवान् श्रीनरसिंहजी, कल्पवट तथा नीलमाधवके स्थानका दर्शन किया।

नारदजीने जब वहाँ भगवान् नृसिंहकी प्रतिमाकी स्थापना की, उस समय राजाने भगवान्का स्तवन करते हुए कहा कि 'भगवन्! आप मुझे अपने चरणारविन्दोंकी श्रेष्ठ भक्ति दीजिये। आप मुझ अनाथपर कृपा कीजिये कि मैं अपने इस चर्मचक्षुसे आपके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकूँ।'

तत्पश्चात् उन्होंने एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ किया। जब वह अश्वमेध यज्ञ नौ सौ निन्यानबेकी संख्यातक पहुँच गया, तब सोमरस निकालनेके सात दिनके बाद जो रात्रि आयी, उसके चौथे प्रहरमें राजा इन्द्रद्युम्नने अविनाशी भगवान् विष्णुका ध्यान किया। उस ध्यानमें उन्हें एक रत्नसिंहासनपर शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका दर्शन हुआ। उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति नील मेघके

समान श्याम थी। वे वनमालासे विभूषित थे। उनके दाहिने भागमें शेषजी विराजमान थे, जो फणरूपी मुकुटका विस्तार करके सुन्दर छत्रके आकारमें परिणत हो गये थे। भगवान्‌के वाम भागमें भगवती लक्ष्मी विराजमान थीं। भगवान्‌के आगे ब्रह्माजी हाथ जोड़े खड़े थे। सनकादि मुनीश्वर उनकी स्तुति कर रहे थे। ध्यानमें भगवान्‌का इस प्रकार दर्शन पाकर राजा इन्द्रद्युम्नको बड़ा हर्ष हुआ। इन्द्रद्युम्नने भगवान्‌की स्तुति करके उन्हें प्रणाम किया। फिर ध्यानके अन्तमें राजाको अपने आपका भान हुआ तो उन्होंने नारदजीसे सब बातें कहीं। तब नारदजीने आश्वासन देते हुए कहा—'राजन्! इस यज्ञके अन्तमें तुम्हें भगवान् यहाँ प्रत्यक्ष दर्शन देंगे। ये सब बातें दूसरे किसीके आगे प्रकाशित न करना।'

राजा इन्द्रद्युम्नके अश्वमेध यज्ञके समाप्त होनेपर आकाशवाणी हुई; तदनुसार वहाँ भगवान् स्वयं चार विग्रहोंमें प्रकट हुए। बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शन चक्रके साथ भगवान् जगन्नाथजी दिव्य आसनपर विराजमान हुए। भगवान्‌के चार दिव्य रूप सम्पन्न हो जानेपर पुनः आकाशवाणी हुई कि 'इन चारों प्रतिमाओंकी नीलाचलपर कल्पवृक्षके वायव्य कोणमें सौ हाथकी दूरीपर और भगवान् नृसिंहके उत्तर भागमें जो मैदान है, उसमें मन्दिर बनवाकर स्थापना करो।' राजाने उसका प्रसन्नतापूर्वक पालन किया। राजा इन्द्रद्युम्नने भगवान् जगन्नाथजीकी स्थापना करके उनकी स्तुति की और फिर उन चारों काष्ठमयी प्रतिमाओंका विधिवत् पूजन किया। यह वही पुरुषोत्तम क्षेत्र है, जो चारों धामोंमेंसे एक है और जगन्नाथपुरीके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीबदरी और केदारक्षेत्रका माहात्म्य

बदरिकाश्रमका माहात्म्य वर्णन करते हुए श्रीमहादेवजीने स्वामिकार्तिकेयजीसे कहा है कि भगवान् विष्णुका बदरी नामक क्षेत्र तीनों लोकोंमें दुर्लभ है, उसके स्मरणमात्रसे महापातकी मनुष्य भी तत्काल पापरहित होकर मृत्युके पश्चात् मोक्षके भागी होते हैं। तप, योग और समाधिसे तथा सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह बदरीक्षेत्रके भलीभाँति दर्शनमात्रसे मिल जाता है। इस क्षेत्रके अधिपति साक्षात् भगवान् नारायण हैं। जहाँ भगवान् नारायणके चरणोंका सान्निध्य है, जहाँ साक्षात् अग्निदेवका निवास है और केदाररूपसे मेरा लिङ्ग प्रतिष्ठित है, वह सब बदरीक्षेत्रके अन्तर्गत है। केदारके दर्शन, स्पर्श तथा भक्ति-भावसे पूजन करनेपर कोटि-कोटि जन्मोंके पाप तत्काल भस्म हो जाते हैं। उस क्षेत्रमें विशेषतः मैं अपनी सम्पूर्ण कलासे स्थित रहता हूँ। काशीमें मरे हुए पुरुषोंको तारक ब्रह्म मुक्ति देनेवाला होता है, परंतु केदारक्षेत्रमें मेरे लिङ्गके पूजनसे मनुष्योंकी मुक्ति हो जाती है।

बदरीक्षेत्रमें, जो अत्यन्त निर्मल भगवान् नर-नारायणका आश्रम है, स्नान और भगवान्‌का पूजन करनेसे मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। धर्मकी पत्नी मूर्तिसे भगवान्‌का नर और नारायणके रूपमें अवतार हुआ। वे दोनों माता-पिताकी आज्ञा लेकर तपस्याके लिये गये और नर-नारायण नामवाले दोनों पर्वतोंके बीच तपस्याकी साक्षात् मूर्तिके समान स्थित हो गये। उस तीर्थमें स्नान करके भगवान् विष्णुका पूजन करनेसे मनुष्य नरसे नारायण हो जाता है। वहाँ विराजमान साक्षात् भगवान् विष्णु क्रमशः वहाँकी यात्रा करनेवाले पुरुषोंको अपना पद प्रदान करते हैं।

कार्तिकमासका माहात्म्य

कार्तिकमास-माहात्म्यके प्रकरणमें ब्रह्माजीने नारदसे कार्तिकमासकी श्रेष्ठता, उसमें करनेयोग्य स्नान, दान, पूजन आदि धर्मोंका माहात्म्य बतलाकर स्नानकी विधि एवं कार्तिक-व्रत करनेवालोंके लिये पालनीय नियमोंका वर्णन किया है। कार्तिक-व्रत करनेवालोंको विधि और नियमोंपर विशेष ध्यान देकर उनको अनुष्ठानमें लाना चाहिये।

कार्तिकमासके सम्बन्धमें ब्रह्माजीने बतलाया है कि कार्तिकमासके समान कोई मास नहीं, सत्ययुगके समान कोई युग नहीं, वेदोंके समान कोई शास्त्र नहीं और गङ्गाजीके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं तथा इसी प्रकार अन्नदानके सदृश कोई दूसरा दान नहीं है। दान करनेवाले पुरुषोंके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यके दानका सुअवसर दुर्लभ है, उसका भी तीर्थमें दान किया जाना तो और भी दुर्लभ है। पापसे डरनेवाले मनुष्यको कार्तिकमासमें शालग्राम-शिलाका पूजन और भगवान् वासुदेवका स्मरण अवश्य करना चाहिये। नारद! सब दानोंसे बढ़कर कन्यादान है, उससे अधिक विद्यादान है, विद्यादानसे भी गोदानका महत्त्व अधिक है और गोदानसे भी बढ़कर अन्नदान है; क्योंकि यह समस्त संसार अन्नके आधारपर ही जीवित रहता है। इसलिये कार्तिकमें अन्नदान अवश्य करना चाहिये। कार्तिकमें नियमका पालन करनेपर अवश्य ही १)

भगवान् विष्णुका सारूप्य एवं मोक्षदायक पद प्राप्त होता है । पूर्वकालमें सत्यकेतु नामक ब्राह्मणने केवल अन्नदानसे सब पुण्योंका फल पाकर परम दुर्लभ मोक्षको भी प्राप्त कर लिया था ।

कार्तिकमासमें अनेक प्रकारके दान देकर भी यदि मनुष्य भगवान्का चिन्तन नहीं करता, तो वे दान उसे कभी पवित्र नहीं करते । भगवन्नामस्मरणकी महिमाका वर्णन मैं भी नहीं कर सकता । मनुष्यको 'गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे, गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण । गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे, गोविन्द दामोदर माधवेति'—इस प्रकार प्रतिदिन कीर्तन करना चाहिये । नित्यप्रति भागवतके आधे श्लोक या चौथाई श्लोकका भी कार्तिकमें श्रद्धा और भक्तिके साथ अवश्य पाठ करे । देवर्षे ! जो मनुष्य कार्तिकमासमें प्रतिदिन गीताका पाठ करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है । गीताके समान कोई शास्त्र न तो हुआ है और न होगा । एकमात्र गीता ही सदा सब पापोंको हरनेवाली तथा मोक्ष देनेवाली है* । गीताके एक अध्यायका पाठ करनेसे मनुष्य घोर नरकसे मुक्त हो जाते हैं ।

भक्त विष्णुदास और चोलकी कथा

इसी कार्तिकमासके माहात्म्य-वर्णनके प्रकरणमें नारदजीने श्रीविष्णुभक्तिकी प्रशंसामें एक बड़ी ही सुन्दर कथाका उल्लेख किया है । उसमें दिखाया गया है कि भगवान् बड़े-बड़े यज्ञोंसे भी शीघ्र प्रसन्न नहीं होते और भाव होनेपर साधारण पूजासे ही प्रसन्न हो जाते हैं । यह कथा पद्मपुराणमें भी है । पहले काञ्चीपुरीमें चोल नामके एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं । राजा चोलके राज्यमें कोई भी मनुष्य दरिद्र, दुखी तथा पापमें मन लगानेवाला अथवा रोगी नहीं था । एक समयकी बात है—राजा चोल अनन्तशयन नामक तीर्थमें गये, जहाँ जगदीश्वर भगवान् विष्णुने योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन किया था । वहाँ भगवान् विष्णुके दिव्य विग्रहकी राजाने विधिपूर्वक पूजा की । दिव्य मणि, मुक्ताफल तथा स्वर्णके बने हुए सुन्दर पुष्पोंसे पूजन करके राजाने साष्टाङ्ग प्रणाम किया । प्रणाम करके वे ज्यों ही बैठे, उसी समय उनकी दृष्टि भगवान्के पास आते हुए एक ब्राह्मणपर पड़ी, जो उन्हींकी काञ्ची नगरीके निवासी थे । उनका नाम विष्णुदास था । उन्होंने भगवान्की पूजाके लिये अपने हाथमें तुलसीदल एवं जल ले रक्खा था । निकट आनेपर उन ब्रह्मर्षिने विष्णुसूक्तका पाठ करते हुए देवाधिदेव भगवान्को स्नान कराया और तुलसीकी मञ्जरी तथा पत्तोंसे उनकी विधिवत् पूजा की । राजा चोलने जो पहले रत्नोंसे भगवान्की पूजा की थी, वह सब तुलसी-पूजासे ढक गयी । यह देखकर राजा कुपित होकर बोले, 'विष्णुदास ! मैंने मणियों तथा स्वर्णसे भगवान्की पूजा की थी, वह कितनी शोभा पा रही थी । तुमने तुलसीदल चढ़ाकर उसे ढक दिया । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम दरिद्र और गँवार हो । भगवान् विष्णुकी भक्ति बिल्कुल नहीं जानते ।' राजाकी यह बात सुनकर द्विजश्रेष्ठ विष्णुदासने कहा—'राजन् ! आपको भक्तिका कुछ भी पता नहीं है, केवल राजलक्ष्मीके कारण आप घमण्ड कर रहे हैं ।' तब नृपश्रेष्ठ चोलने हँसकर कहा, 'तुम तो दरिद्र एवं निर्धन हो । तुम्हारी भगवान् विष्णुमें भक्ति ही कितनी है । तुमने भगवान् विष्णुको संतुष्ट करनेवाला कोई भी यज्ञ, दान आदि नहीं किया और न पहले कभी कोई देवमन्दिर ही बनवाया है । इतनेपर भी तुम्हें अपनी भक्तिका इतना गर्व है । अच्छा, तो ये सभी ब्राह्मण मेरी बात सुन लें । भगवान् विष्णुके दर्शन पहले मैं करता हूँ या यह ब्राह्मण । इस बातको आप सब देखें, फिर हम दोनोंमें किसकी भक्ति कैसी है, यह सब लोग स्वतः जान लेंगे ।'

ऐसा कहकर राजा अपने राजभवनको चले गये । वहाँ उन्होंने महर्षि मुद्गलको आचार्य बनाकर वैष्णवयज्ञ प्रारम्भ किया । उधर सदैव भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाले शास्त्रोक्त नियमोंमें तत्पर विष्णुदास भी व्रतका पालन करते हुए वहीं भगवान् विष्णुके मन्दिरमें टिक गये । उन्होंने माघ और कार्तिकके उत्तम व्रतका अनुष्ठान, तुलसीवनकी रक्षा, एकादशीको द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्रका जप, नृत्य, गीत आदि मङ्गलमय आयोजनोंके साथ प्रतिदिन षोडशोपचारसे भगवान् विष्णुकी पूजा आदि नियमोंका आचरण किया । वे प्रतिदिन चलते, फिरते और सोते सब समय भगवान् विष्णुका स्मरण किया करते थे । वे सब प्राणियोंके भीतर

---

* कार्तिके मासि विप्रेन्द्र यस्तु गीतां पठेन्नरः ।
तस्य पुण्यफलं वक्तुं मम शक्तिर्न विद्यते ॥
गीतायास्तु समं शास्त्रं न भूतं न भविष्यति ।
सर्वपापहरा नित्यं गीतैका मोक्षदायिनी ॥
(स्क० वै० कार्तिक० २ । ४९-५०)

एकमात्र भगवान् विष्णुको ही स्थित देखते थे । इस प्रकार राजा चोल एवं विष्णुदास दोनों ही भगवान् लक्ष्मीपतिकी आराधनामें संलग्न थे । दोनों ही अपने-अपने व्रतमें स्थित रहते थे और दोनोंकी ही सम्पूर्ण इन्द्रिय तथा समस्त कर्म भगवान् विष्णुको समर्पित हो चुके थे । इस अवस्थामें उन दोनोंने दीर्घकाल व्यतीत किया । एक दिनकी बात है कि विष्णुदासने पूजा-पाठ आदि नित्यकर्म करनेके पश्चात् भोजन तैयार किया, किन्तु कोई अलक्षित रहकर उसको चुरा ले गया । विष्णुदासने देखा भोजन नहीं है, परंतु उन्होंने दुबारा भोजन नहीं बनाया; क्योंकि ऐसा करनेपर सायंकालकी पूजाके लिये उन्हें अवकाश नहीं मिलता । अतः प्रतिदिनके नियमका भंग हो जानेका भय था । दूसरे दिन पुनः उसी समयपर भोजन बनाकर वे ज्यों ही भगवान् विष्णुको भोग अर्पण करनेके लिये गये, त्यों ही किसीने आकर फिर सारा भोजन हड़प लिया । इस प्रकार सात दिनोंतक कोई आ-आकर उनके भोजनका अपहरण करता रहा । इससे विष्णुदासको बड़ा विस्मय हुआ । वे इस प्रकार मन-ही-मन विचारने लगे—'अहो! कौन प्रतिदिन आकर मेरी रसोई चुरा ले जाता है । यदि दुबारा रसोई बनाकर भोजन करता हूँ तो सायंकालकी पूजा छूट जाती है । यदि रसोई बनाकर तुरंत ही भोजन कर लेना उचित हो तो भी मुझसे यह न होगा; क्योंकि भगवान् विष्णुको सब कुछ अर्पण किये बिना कोई भी वैष्णव भोजन नहीं करता । आज उपवास करते मुझे सात दिन हो गये । इस प्रकार मैं व्रतमें कबतक स्थिर रह सकता हूँ ।' ऐसा निश्चय करके भोजन बनानेके पश्चात् वे कहीं छिपकर खड़े हो गये । इतनेमें ही उन्हें एक चाण्डाल दिखायी दिया । जो रसोईका अन्न हरकर जानेके लिये तैयार खड़ा था । भूखके मारे उसका सारा शरीर दुर्बल हो गया था । मुखपर दीनता छा रही थी । शरीरमें हाड़ और चामके सिवा और कुछ शेष नहीं बचा था । उसे देखकर श्रेष्ठ ब्राह्मण विष्णुदासका हृदय करुणासे भर आया । उन्होंने भोजन चुरानेवाले चाण्डालकी ओर देखकर कहा, 'भैया! जरा ठहरो, ठहरो, क्यों रूखा-सूखा खाते हो, यह घी तो ले लो ।' यों कहते हुए विप्रवर विष्णुदासको आते देख वह चाण्डाल भयके मारे बड़े वेगसे भागा और कुछ ही दूरपर मूर्छित होकर गिर पड़ा । चाण्डालको भयभीत एवं मूर्छित देखकर विष्णुदास बड़े वेगसे उसके पास आये तथा दयावश अपने वस्त्रके छोरसे उसको हवा करने लगे । तदनन्तर जब वह उठकर खड़ा हुआ, तब विष्णुदासने देखा कि वहाँ चाण्डाल नहीं है । साक्षात् भगवान् नारायण ही शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये सामने उपस्थित हैं । अपने प्रभुको उपस्थित देखकर विष्णुदास सात्त्विक भावोंके वशीभूत हो गये । वे स्तुति और नमस्कार करनेमें भी समर्थ न हो सके । तब भगवान् विष्णुने सात्त्विक व्रतका पालन करनेवाले अपने भक्त विष्णुदासको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने ही-जैसा रूप देकर वैकुण्ठधामको ले चले । उस समय यज्ञमें दीक्षित हुए राजा चोलने देखा—विष्णुदास एक श्रेष्ठ विमानपर बैठकर भगवान् विष्णुके समीप जा रहे हैं ।

विष्णुदासको वैकुण्ठधाममें जाते देख राजाने शीघ्र ही अपने गुरु महर्षि मुद्गलको बुलाया और इस प्रकार कहना प्रारम्भ कर दिया—'जिसके साथ स्पर्धा करके मैंने इस यज्ञ, दान आदि कर्मका अनुष्ठान किया है, वह ब्राह्मण आज भगवान् विष्णुका रूप धारण करके मुझसे पहले वैकुण्ठ-धामको जा रहा है । मैंने इस वैष्णवयागमें भलीभाँति दीक्षित होकर अग्निमें हवन किया और दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोंका मनोरथ पूर्ण किया तथापि अभीतक भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न नहीं हुए और इस विष्णुदासको केवल भक्तिके ही कारण श्रीहरिने प्रत्यक्ष दर्शन दिया है । अतः जान पड़ता है भगवान् विष्णु केवल दान एवं यज्ञोंसे ही प्रसन्न नहीं होते । उन प्रभुका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है ।' यों कहकर राजा यज्ञशालामें गये और यज्ञकुण्डके सामने खड़े होकर भगवान् विष्णुको सम्बोधित करते हुए उच्च स्वरसे निम्नाङ्कित वचन बोले—'भगवान् विष्णु! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रिया-द्वारा होनेवाली अविचल भक्ति प्रदान कीजिये ।' इस प्रकार कहकर वे सबके देखते-देखते अग्निकुण्डमें कूद पड़े । बस, उसी समय भक्तवत्सल भगवान् विष्णु उस अग्निकुण्डसे प्रकट हो गये । उन्होंने राजाको छातीसे लगाकर एक श्रेष्ठ विमानपर चढ़ाकर उन्हें साथ ले वैकुण्ठधामको प्रस्थान किया ।

नारदजी कहते हैं—इन दोनोंकी भक्तिपर ही भगवान् परम प्रसन्न हुए थे । भगवत्कृपासे ब्राह्मण विष्णुदास तो पुण्यशील नामसे प्रसिद्ध भगवान्‌के पार्षद हुए और राजा चोल सुशील नामक पार्षद हुए । इन दोनोंको अपने ही समान रूप देकर भगवान् लक्ष्मीपतिने अपना द्वारपाल बना लिया ।

ब्रह्माजीके पूछनेपर स्वयं श्रीभगवान्ने मार्गशीर्षमासमें स्नान और भगवत्पूजनकी महिमा एवं विधि विस्तारपूर्वक कही है। इसी प्रसङ्गमें भगवान्ने एकादशीव्रत, श्रीकृष्णनाम-कीर्तन, व्रजभूमि और श्रीमद्भागवतकी महिमाका निरूपण किया है। पाठकोंको इन प्रकरणोंका ग्रन्थके वैष्णवखण्डमें अध्ययन करके लाभ उठाना चाहिये। इनमेंसे यहाँ केवल श्रीकृष्णनामकीर्तनकी महिमाका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीकृष्णनाम-माहात्म्य

श्रीभगवान् ब्रह्माजीसे कहते हैं—अगहनके महीनेमें मेरा कृष्ण-कृष्ण नाम विशेषरूपसे लेना चाहिये। यह मुझे अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। मेरी एक प्रतिज्ञा है, जिसे देवता और असुर भी नहीं जानते। वह प्रतिज्ञा इस प्रकार है—'जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा मेरी शरणमें आ जाता है, वह यहाँ सम्पूर्ण लौकिक कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और अन्तमें सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठ धाममें जाता है। जो 'हे कृष्ण ! हे कृष्ण !! हे कृष्ण !!!' ऐसा कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार मैं नरकसे निकाल लाता हूँ*। पूर्व अवस्थामें किसीने सम्पूर्ण पाप किये हों, तथापि वह अन्तकालमें श्रीकृष्णका स्मरण कर लेता है तो निश्चय ही मुझे प्राप्त होता है। मृत्युकाल उपस्थित होनेपर यदि कोई 'परमात्मा विष्णुको नमस्कार है' इस प्रकार विवश होकर भी कहे तो वह अविनाशी पदको प्राप्त होता है। यदि कृष्ण-कृष्णका उच्चारण करता हुआ कोई श्मशानमें अथवा सड़कपर भी मर जाता है तो भी वह मुझको ही प्राप्त होता है। जो मेरे भक्तोंका दर्शन करके कहीं मृत्युको प्राप्त होता है, वह मनुष्य मेरा स्मरण किये विना ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।† बेटा ! पापरूपी प्रज्वलित अग्निसे भय न करो। श्रीकृष्णरूपी मेघोंके जल-विन्दुओंसे उसे सींचकर बुझा दिया जाता है। तीखी दाढ़ोंवाले कलिकालरूपी सर्पका क्या डर है। श्रीकृष्णके नामरूपी इन्धनसे उत्पन्न आगके द्वारा वह जलकर नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार प्रयागमें गङ्गा, शुक्लतीर्थमें नर्मदा और कुरुक्षेत्रमें सरस्वती है, उसी प्रकार सर्वत्र श्रीकृष्णका कीर्तन सब पापोंको नष्ट करनेवाला है। संसार-समुद्रमें डूबकर जो महान् पापोंकी लहरोंमें गिर गये हैं, ऐसे मनुष्योंके लिये श्रीकृष्ण-स्मरणके सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। जो पापी हैं, जिनमें श्रीकृष्ण-स्मरणकी भावना नहीं है, ऐसे मनुष्योंके लिये परलोककी यात्राके समय श्रीकृष्ण-चिन्तनके सिवा दूसरा कोई पाथेय (राहखर्च) नहीं है। उसीका जन्म एवं जीवन सफल है तथा उसीका मुख सार्थक है, जिसकी जिह्वा सदा कृष्ण-कृष्णका कीर्तन करती है। जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षके लिये जानेको कमर कस ली है*। कृष्ण-कृष्णके कीर्तनसे मनुष्यका शरीर और मन कभी श्रान्त नहीं होता। उसे पाप नहीं लगता और विकलता भी नहीं होती। जो श्रीकृष्णनामोच्चारणरूपी पथ्यका कलियुगमें त्याग नहीं करता, उसके चित्तमें पापरूपी रोग नहीं पैदा होते। श्रीकृष्ण-नामका कीर्तन करते हुए मनुष्यकी आवाज सुनकर दक्षिण दिशाके अधिपति यमराज उसके सौ जन्मोंके पापोंका परिमार्जन कर देते हैं। सैकड़ों चान्द्रायण और सहस्रों पराक व्रतसे जो पाप नष्ट नहीं होता, वह कृष्ण-कृष्णका कीर्तन करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है। श्रीकृष्णनामका उच्चारण करनेसे मेरी अधिकाधिक प्रीति बढ़ती है।

'कोटि-कोटि चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणमें स्नान करनेसे जो फल वतलाया गया है, उसे मनुष्य कृष्ण-कृष्णके कीर्तन-मात्रसे पा लेते हैं। जैसे सूर्य-किरणोंके प्रतापसे बर्फ पिघल जाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-कीर्तनसे महापातक नष्ट हो जाते हैं। महापापोंसे युक्त मनुष्य भी अन्तकालमें एक बार श्रीकृष्णनामका कीर्तन कर ले तो वह उससे पापमुक्त हो जाता है। जो जिह्वा कलिकालमें श्रीकृष्णके नामोंका कीर्तन

---

* कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः ।
जलं भित्त्वा यथा पद्म नरकादुद्धराम्यहम् ॥
(स्क० पु० वै० मा० मा० १५ । ३६)

† श्मशाने यदि रथ्यायां कृष्ण कृष्णेति जल्पति ।
म्रियते यदि चेत् पुत्र मामेवैति न संशयः ॥
दर्शनान्मम भक्तानां मृत्युमाप्नोति यः क्वचित् ।
विना मत्स्मरणात्पुत्र मुक्तिमेति स मानवः ॥
(स्क० पु० वै० मा० मा० १५ । ४२-४३)

* जीवितं जन्मसाफल्यं मुखं तस्यैव सार्थकम् ।
सततं रसना यस्य कृष्ण कृष्णेति जल्पति ॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥
(स्क० पु० वै० मा० मा० १५ । ५१-५२)

नहीं करती, वह दुष्टा मुँहमें न रहे, रसातलमें पहुँच जाय। जो दिन-रात श्रीकृष्णके गुणोंका कीर्तन नहीं करती, वह जिह्वा नहीं, मुखमें कोई पापमयी लता है, जिसे जिह्वाके नामसे पुकारा जाता है। जो 'श्रीकृष्ण कृष्ण-कृष्ण श्रीकृष्ण' इस प्रकार श्रीकृष्णनामका कीर्तन नहीं करती, उस रोगरूपिणी जिह्वाके सौ टुकड़े हो जायँ*। जो श्रीकृष्णके नामकी महिमाका प्रातःकाल उठकर पाठ करता है, उसके लिये निश्चय ही मैं कल्याणदाता होता हूँ। जो तीनों सन्ध्याओंके समय श्रीकृष्णनामके माहात्म्यका पाठ करता है, वह जीते-जी सम्पूर्ण कामनाओंको और मरनेपर परम गतिको पाता है।'

वैशाखमासमें भगवद्भक्तिकी महिमा

देवर्षि नारदजीने राजा अम्बरीषके पूछनेपर उसे वैशाखमासका माहात्म्य विस्तारपूर्वक बतलाया है। वे कहते हैं—वैशाखमासको ब्रह्माजीने सब मासोंमें उत्तम सिद्ध किया है। वैशाखमासके समान कोई मास नहीं, सत्ययुगके समान कोई युग नहीं, वेदके समान कोई शास्त्र नहीं और गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं है। जलके समान दान नहीं, खेतीके समान धन नहीं और जीवनसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है। उपवासके समान कोई तप नहीं, दानसे बढ़कर कोई सुख नहीं, दयाके समान धर्म नहीं, धर्मके समान मित्र नहीं, सत्यके समान यश नहीं, आरोग्यके समान उन्नति नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई रक्षक नहीं और वैशाखमासके समान संसारमें कोई पवित्र मास नहीं है, ऐसा विद्वानोंका मत है। वैशाखमास श्रेष्ठ है और शेषशायी भगवान् विष्णुको सदा प्रिय है। सब दानोंसे जो पुण्य होता है और सब तीर्थोंमें जो फल होता है, उसीको मनुष्य वैशाखमासमें केवल जलदान करके प्राप्त कर लेता है। राजन्! वैशाखमासमें जलकी इच्छावालेको जल, छाया चाहनेवालेको छाता और पंखेकी इच्छा रखनेवालेको पंखा देना चाहिये।

इसी प्रसङ्गमें काशीपुरीके चक्रवर्ती राजा कीर्तिमान्‌का आख्यान कहा गया है, जिन्होंने अपने समस्त राज्यमें सभी मनुष्योंसे वैशाखमासके धर्मोंका पालन कराकर उन्हें विष्णुलोक प्राप्त करा दिया था। उनके इस धार्मिक राज्यकालमें धर्मराजकी पुरी सूनी हो गयी। कैसी अद्भुत बात है कि एक राजाके धार्मिक हो जानेसे उनके प्रभावसे सम्पूर्ण प्रजाजनोंको वैकुण्ठधामकी प्राप्ति हो गयी। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस उक्तिकी चरितार्थता सिद्ध हो गयी।

राजा कीर्तिमान् महाराज नृगके पुत्र थे। संसारमें उनका बड़ा यश था। वे अपनी इन्द्रियोंपर और क्रोधपर विजय पा चुके थे। ब्राह्मणोंके प्रति उनके मनमें बड़ी भक्ति थी। राजा कीर्तिमान्‌के राज्यमें सर्वत्र सब देशोंमें धर्मका पौधा उत्पन्न होकर बढ़े हुए वृक्षके रूपमें परिणत हो गया। उनके राज्यमें जो लोग मर जाते, वे भगवान् विष्णुके धाममें जाते थे। वहाँके मनुष्योंको विष्णुलोककी प्राप्ति निश्चित थी। एक बार अपने धर्मानुकूल कर्ममें स्थित हुए लोगोंके विष्णुलोकमें चले जानेसे यमपुरीके सब नरक खाली हो गये। वहाँ एक भी पापी प्राणी नहीं रह गया। सब लोग भगवान्‌के धाममें जाने लगे, इससे देवताओंके लोक भी सूने हो गये।

इस प्रकार स्वर्ग और नरक दोनोंके सूने हो जानेपर यमराज ब्रह्माजीके लोकमें गये और प्रणाम करके बोले—'काममें नियुक्त जो पुरुष स्वामीकी आज्ञाका ठीक-ठीक पालन नहीं करता और उसका धन लेकर भोगता है, वह काठका कीड़ा होता है। राजा कीर्तिमान्‌के राज्यमें सब लोग वैशाखमासोक्त पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करके पितरों और पितामहोंके साथ वैकुण्ठधाममें चले जाते हैं। उनके मरे हुए पितर और पितामह आदि भी विष्णुलोकमें चले जाते हैं। सम्पूर्ण तीर्थोंसे, दान आदिसे, तपस्याओंसे, व्रतोंसे अथवा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त मनुष्य भी उस गतिको नहीं पाता, जो वैशाखधर्ममें तत्पर हुए मनुष्यको प्राप्त हो रही है। इस संसारमें पवित्र और अपवित्र सभी लोग राजाकी आज्ञासे वैशाखमासके धर्मका पालन करके विष्णुलोकको जा रहे हैं। उस राजाने केवल भगवान्‌के चरणोंकी शरण ले रक्खी है, इससे जान पड़ता है, वह समस्त संसारको विष्णुलोकमें पहुँचा देगा। जिस प्रकार कीर्तिमान् मेरी लिपिको मिटानेमें उद्यत हुआ है, ऐसा उद्योग पुराणोंमें और किसीका नहीं सुना गया है। भगवान्‌की भक्तिमें लगे हुए राजा कीर्तिमान्‌के सिवा दूसरे ऐसे किसीको मैं नहीं जानता, जो डंका बजाकर घोषणा करते हुए लोगोंको ऐसी प्रेरणा देता हो और मेरे मार्गको विलुप्त करनेकी चेष्टा करता रहा हो।'

ब्रह्माजीने कहा—यमराज! इसमें तुमने क्या आश्चर्य देखा? भगवान् गोविन्दको एक बार भी प्रणाम कर लिया जाय तो वह सौ अश्वमेध यज्ञोंके अवभृथस्नानके सम

---

* पततां शतखण्डा तु सा जिह्वा रोगरूपिणी।
श्रीकृष्ण कृष्ण कृष्णेति श्रीकृष्णेति न जल्पति॥
(स्क० पु० वै० मा० मा० १५। ६६)

होता है। यज्ञ करनेवाला तो पुनः इस संसारमें जन्म लेता है, परंतु भगवान्‌को किया हुआ प्रणाम पुनर्जन्मका हेतु नहीं बनता—मुक्तिकी प्राप्ति करा देता है*। जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर 'हरि' ये दो अक्षर विद्यमान हैं, उसको कुरुक्षेत्र तीर्थके सेवन अथवा सरस्वती नदीके जलमें स्नान करनेसे क्या लेना है? जो मृत्युकालमें भगवान् विष्णुका स्मरण करता है, वह पाप-राशिका परित्याग करके भगवान् विष्णुके सायुज्यको पाता है; क्योंकि भगवान् विष्णुको अपना स्मरण बहुत ही प्रिय है। यमराज! इसी प्रकार वैशाखमास भी भगवान् विष्णुको प्रिय है। जिसके धर्मको सुननेमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है, उसके अनुष्ठानमें तत्पर रहनेवाला मनुष्य यदि मुक्तिको प्राप्त हो तो उसके लिये क्या कहना है? वैशाखमासमें भगवान् पुरुषोत्तमके नाम और यशका गान किया जाता है, जिससे भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। यह राजा कीर्तिमान् वैशाखमासमें उन्हीं भगवान्‌के प्रिय धर्मोंका अनुष्ठान करता है, जिससे प्रसन्नचित्त होकर भगवान् सदा उसकी सहायतामें स्थित रहते हैं। भगवान्‌के भक्तोंका कभी अमङ्गल नहीं होता।

यमराज! कार्यमें नियुक्त पुरुष यदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर स्वामीके कार्यसाधनकी चेष्टा करता है तो उतनेसे ही वह कृतार्थ हो जाता है। कभी शक्तिके बाहरका कार्य उपस्थित हो जाय तो स्वामीको उसकी सूचना दे दे। उतना कर देनेसे वह उऋण हो जाता है और सुखका भागी होता है। अच्छा चलो, हमलोग भगवान् विष्णुके पास चलें। उनसे सब बात बताकर उनके कथनानुसार कार्य किया जायगा।

तदनन्तर ब्रह्माजीने उनके साथ क्षीरसागरके तटपर जाकर भगवान्‌का स्तवन किया। भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हो गये, तब उन्होंने भगवान्‌को प्रणाम किया। भगवान्‌ने उनसे पूछा—'तुमलोग यहाँ क्यों आये हो?' ब्रह्माजीने कहा—'प्रभो! आपके श्रेष्ठ भक्त राजा कीर्तिमान्‌के शासनकालमें सब मनुष्य वैशाख-धर्मके पालनमें संलग्न हो आपके अविनाशी पदको प्राप्त हो रहे हैं। इससे यमपुरी सूनी हो गयी है।'

उनकी बात सुनकर भगवान् विष्णु हँसते हुए उनसे बोले—मैं लक्ष्मीको त्याग दूँगा। अपने प्राण, शरीर, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वैजयन्ती माला, श्वेतद्वीप, वैकुण्ठधाम, क्षीरसागर, शेषनाग तथा गरुड़जीको भी छोड़ दूँगा, परंतु अपने भक्तका त्याग नहीं कर सकूँगा। जिन्होंने मेरे लिये सब भोगोंका त्याग करके अपना जीवनतक मुझे सौंप दिया है, जो मुझमें मन लगाकर मेरे स्वरूप हो गये हैं, उन महाभाग भक्तोंको मैं कैसे त्याग सकता हूँ*। राजा कीर्तिमान्‌को इस पृथ्वीपर मैंने दस हजार वर्षोंकी आयु दी है। उसमेंसे आठ हजार वर्ष तो बीत गये। शेष आयु और बीत जानेपर उसे मेरा सायुज्य प्राप्त होगा।

इस प्रकार कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। ब्रह्माजी भी अपने सेवकोंके साथ सत्यलोकको चले गये। उनके बाद यमराज भी अपनी पुरीको लौट आये।

इस वैशाखमासके माहात्म्यखण्डमें मुनिवर शङ्ख और व्याधके संवादमें भगवान् विष्णुके स्वरूपके विवेचन, जीवके स्वभाव और कर्मके कारण तथा भागवत-धर्मोंको भलीभाँति बताया गया है एवं कलियुगकी महिमा और उसकी अवस्थाओंका भी वर्णन है तथा अयोध्या-माहात्म्य और वहाँके तीर्थोंका भी वर्णन किया गया है। पाठकोंको चाहिये कि इन प्रकरणोंको मूल ग्रन्थमें पढ़कर उनसे लाभ उठावें।

सेतुबन्ध श्रीरामेश्वरका माहात्म्य

अब ब्राह्मखण्डकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातोंका विचार किया जाता है। सूतजीने शौनकादि ऋषियोंसे सेतु-माहात्म्यका वर्णन करते हुए कहा है—'ब्राह्मणो! श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बँधाये हुए सेतुसे जो परम पवित्र हो गया है, वह रामेश्वर नामक क्षेत्र सब तीर्थोंमें उत्तम है। उसके दर्शनमात्रसे संसारसागरसे मुक्ति हो जाती है एवं भगवान् विष्णुमें और शिवमें भक्ति तथा पुण्यकी वृद्धि होती है। जिसने सेतुका दर्शन कर लिया, उसने सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्रकारकी तपस्याका अनुष्ठान कर लिया। सेतु, रामेश्वरलिङ्ग और

---

* एकोऽपि गोविन्दकृतः प्रणामः
शताश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
यज्ञस्य कर्ता पुनरेति जन्म
हरेः प्रणामो न पुनर्भवाय॥
(स्क० पु० वै० वैशाख० १३ । ३)

* लक्ष्मीं वापि परित्यक्ष्ये प्राणान्देहमथापि वा।
श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां वैजयन्तीमथापि वा॥
श्वेतद्वीपं च वैकुण्ठं क्षीरसागरमेव च।
शेषं च गरुडं चैव न भक्तं त्यक्तुमुत्सहे॥
विसृज्य सकलान् भोगान् मदर्थं त्यक्तजीवितान्।
मदात्मकान् महाभागान् कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(स्क० पु० वै० वैशाख० १३ । ३४—३६)

गन्धमादन पर्वतका चिन्तन करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

'जो मनुष्य भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा स्थापित रामेश्वर शिवलिङ्गका एक बार दर्शन कर लेता है, वह भगवान् शङ्करके सायुज्यस्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है। सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य किया जाता है, उसीको त्रेताके मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध करते हैं, वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें सार्थक होता है। परंतु जो लोग भगवान् रामेश्वरका दर्शन करते हैं, उनको वही पुण्य कोटिगुना होकर एक-एक पलमें प्राप्त होता है । रामेश्वर नामक महालिङ्गमें सब तीर्थ, सम्पूर्ण देवता, ऋषि-मुनि तथा पितर विद्यमान हैं। जो एक समय, दो समय, तीनों समय अथवा सर्वदा ही मोक्षदायक रामेश्वर नामक महादेवजीका स्मरण या कीर्तन करते हैं, वे पापसमूहसे मुक्त हो जाते हैं और सच्चिदानन्दमय अद्वैतरूप साम्बशिवको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य रामेश्वर नामक महालिङ्गको नमस्कार और उसका पूजन करते हैं, उनका जन्म सफल है, वे कृतार्थ हो जाते हैं।'

इस प्रकार सेतुबन्ध रामेश्वरकी महिमाका और तत्पश्चात् भगवान् श्रीरामके द्वारा सेतुक्षेत्रमें रामेश्वरलिङ्गकी स्थापना करनेका विस्तृत वर्णन किया गया है, उसे ब्राह्मखण्डके सेतुमाहात्म्य-प्रकरणमें देखना चाहिये ।

भगवान् श्रीरामका हनुमान्‌को ज्ञानोपदेश

इसी प्रसङ्गमें श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीको जो ज्ञानोपदेश दिया है, उसका संक्षेपमें नीचे दिग्दर्शन कराया जाता है ।

श्रीरामचन्द्रजी बोले—कपि ! इस संसारमें जो जन्म ले चुके हैं, जो जन्म लेनेवाले हैं और जो मर चुके हैं, उन सबको तथा अपने और पराये सब कार्योंको मैं भलीभाँति जानता हूँ। जीव अपने कर्मके अनुसार अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही मरता है । अतः तुम तत्त्वज्ञानमें ही सदा स्थिर रहो। यह आत्मा स्वयंप्रकाश है । तुम सदा आत्माके स्वरूपका चिन्तन करो। देह आदिमें ममता त्याग दो, सदा धर्मका आश्रय लो, साधुपुरुषोंका सेवन करो, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका दमन करो, दूसरोंके दोषकी चर्चासे दूर रहो, एवं शिव और विष्णु आदि देवताओंकी सदा पूजा करो । सर्वदा सत्य बोलो तथा आत्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव करो । राग और द्वेषसे बँधकर जीव धर्म और अधर्मके वशीभूत होते हैं तथा उन्हींके अनुसार देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियोंमें तथा नरकोंमें पड़ते हैं। वायुनन्दन ! मुझसे परमार्थकी बात सुनो। यह संसार एक गड्ढेके समान है। इसमें कुछ भी सुख नहीं। यहाँ पहले तो जीवका जन्म होता है; तत्पश्चात् उसकी बाल्यावस्था रहती है, फिर वह जवान होता है और उसके बाद वह बुढ़ापा भोगता है । तदनन्तर मृत्युको प्राप्त होता है और मृत्युके बाद पुनः जन्मका कष्ट भोगता है। इस प्रकार अज्ञानके प्रभावसे ही मनुष्य दुःख पाता है और अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उसे उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है । अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है। ज्ञान परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। वेदान्त-वाक्यके श्रवण और मननसे जो ज्ञान होता है, वह विरक्त पुरुषको ही होता है । श्रेष्ठ अधिकारीको गुरुदेवकी कृपासे भी ज्ञान हो जाता है, यह सत्य है।

संग्रहका अन्त विनाश है, अधिक ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है, संयोगका अन्त वियोग और जीवनका अन्त मरण है *। जैसे सुदृढ़ खंभोंवाला गृह सुदीर्घकालके बाद जीर्ण होनेपर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा-जीर्ण होकर मृत्युके अधीन हो नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्रमें बहते हुए दो काठ एक दूसरेसे मिलकर फिर विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार कालयोगसे मनुष्योंका एक दूसरेके साथ संयोग और वियोग होता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, भाई, क्षेत्र और धन—ये सब कभी कुछ कालके लिये एकत्र होते और फिर अन्यत्र चले जाते हैं। जीवोंके शरीर जिस प्रकार उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्माका जन्म और मरण नहीं होता। अतः तुम शोकरहित अद्वैत ज्ञानमय सत्स्वरूप निर्मल परब्रह्म परमात्माका दिन-रात चिन्तन करो ।

पतिव्रता और विधवाओंके कर्तव्य

श्रीव्यासजीने धर्मारण्य-माहात्म्यका वर्णन करते हुए शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, स्वाध्याय, अतिथि-सेवा, पञ्चयज्ञ तथा व्यावहारिक शिष्टाचारोंका विस्तारसे

---

* सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥
(स्क० पु० ब्रा० सेतु० ४५ । ४१)

विवेचन किया है । पाठकोंको यह प्रसङ्ग मूलग्रन्थमें पढ़ना चाहिये । इसी प्रकरणमें पतिव्रता और विधवा स्त्रियोंके कर्तव्योंका निर्देश किया है, जिसे संक्षेपमें नीचे दिया जाता है ।

व्यासजी कहते हैं—जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री होती है, उसका जीवन सफल हो जाता है । पतिव्रता स्त्रियाँ अरुन्धती, सावित्री, अनुसूया, शाण्डिली, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, सुनीति, संज्ञा और स्वाहाके समान होती हैं । पतिव्रता स्त्री पतिके भोजन कर लेनेपर भोजन करती है । उनके खड़े रहनेपर स्वयं भी खड़ी रहती है । पतिके सो जानेपर सोती है और पहले ही जाग उठती है । स्वामी यदि दूसरे देशमें हो तो वह अपने शरीरका श्रृंगार नहीं करती । पतिकी आयु बढ़े, इस उद्देश्यसे वह कभी पतिके नामका उच्चारण नहीं करती । वह दूसरे पुरुषका नाम भी कभी नहीं लेती । जब स्वामी कहते हों कि 'यह कार्य करो' तब वह शीघ्र उत्तर देती है 'जो आज्ञा ।' पतिके बुलानेपर वह घरका काम-काज छोड़कर तुरंत उनके पास दौड़ी जाती है और पूछती है 'प्राणनाथ ! किस कार्यके लिये दासीको बुलाया है, मुझे सेवाका आदेश देकर अपने कृपाप्रसादकी भागिनी बनाइये ।' वह घरके दरवाजेपर देरतक नहीं खड़ी रहती । दरवाजेपर सोती-बैठती भी नहीं । जो वस्तु नहीं देनेयोग्य होती है, उसे वह स्वयं किसीको कभी नहीं देती ।

पतिव्रता स्त्रीको चाहिये कि स्वामीके लिये पूजनकी सामग्री बिना कहे ही जुटा दे । नित्य नियमके लिये जल, कुशा, पत्र, पुष्प, अक्षत आदि प्रस्तुत करे और पतिकी प्रतीक्षामें खड़ी होकर जिस समय जो वस्तु आवश्यक हो, वह सब शीघ्र बिना किसी उद्वेगके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत करे । स्वामीके भोजनसे बचे हुए प्रसादस्वरूप अन्न और फल आदिको अत्यन्त प्रिय मानकर ग्रहण करे । सामाजिक उत्सवोंका दर्शन तो वह दूरसे ही त्याग दे, पतिकी आज्ञाके बिना वह तीर्थयात्राको और विवाहोत्सवोंको देखने आदिके लिये भी न जाय । रजस्वला होनेपर भलीभाँति स्नान कर लेनेके बाद सबसे पहले पतिके ही मुखका दर्शन करे, दूसरे किसीका नहीं अथवा पतिदेव उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करे । कभी अकेली न रहे और नंगी होकर न नहाये । पतिके सम्मुख धृष्टता न करे । स्त्रियोंके लिये यही सबसे उत्तम व्रत, यही महान् धर्म और यही पूजा है कि वह पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करे । वह लोहेके बर्तनमें भोजन न करे । यदि उसे तीर्थ-स्नानकी इच्छा हो तो वह प्रतिदिन पतिका चरणोदक पीये । उसके लिये शंकर और भगवान् विष्णुसे भी बढ़कर उसका पति ही है । जो स्त्री पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके व्रत और उपवास आदिका नियम करती है, वह पतिकी आयु हर लेती है और मरनेपर नरकमें जाती है । जो नारी पतिके कोई बात कहनेपर क्रोधपूर्वक उसका उत्तर देती है, वह गाँवमें कुतिया और निर्जन वनमें सियारिन होती है । स्त्रियोंके लिये एकमात्र यही सर्वोत्तम नियम बताया गया है कि वह प्रतिदिन अपने पतिके चरणोंकी पूजा करके भोजन करे और दृढ़ निश्चयपूर्वक इस नियमका पालन करे । पतिसे ऊँचे आसनपर न बैठे, दूसरेके घर न जाय और कड़वी बातें मुँहसे न निकाले । गुरुजनोंके समीप जोरसे न बोले और न किसीको पुकारे ही । जो खोटी बुद्धिवाली स्त्री पतिका साथ छोड़कर एकान्तमें विचरती है, वह वृक्षके एक खोखलेमें सोनेवाली क्रूर उलूकी होती है । जो दूसरे पुरुषकी ओर कटाक्षसे देखती है, वह ऐंची आँखवाली हो जाती है । जो पतिको छोड़कर अकेली मिठाइयाँ उड़ाती है, वह गाँवकी विष्ठाभोजी सूकरी अथवा चमगादड़ होती है । जो हुंकार और त्वंकार करके (पतिके प्रति अनादरसूचक वचन कहकर) अप्रिय भाषण करती है, वह गूँगी होती है । जो पतिकी आँख बचाकर किसी दूसरे पुरुषको निहारती है, वह कानी, विकृत मुखवाली अथवा कुरूपा होती है । पतिको बाहरसे आते देख जो तुरंत उठकर पानी और आसन देती है, पानका बीड़ा खिलाती है, पंखा करती, पाँव दबाती, प्रिय वचन बोलती और पसीना आदि दूर करके प्रियतमको सन्तुष्ट करती है, उसके द्वारा तीनों लोक तृप्त हो जाते हैं । पिता, भाई और पुत्र—ये सब परिमित यानी नपी-तुली वस्तुएँ प्रदान करते हैं परंतु पति अपनी पत्नीको अपरिमित दान करता है । इसके दानकी कोई सीमा नहीं होती । ऐसे पतिका कौन ऐसी स्त्री है, जो पूजन न करे । पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है, अतः स्त्री सब छोड़कर एकमात्र पतिकी पूजा करे *।

---

* मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥
भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत् ॥
(स्क० पु० ब्रा० ध० मा० ७ । ४७-४८)

जो श्मशानमें जाते हुए स्वामीके शवके पीछे-पीछे घरसे (सती होनेके लिये) प्रसन्नतापूर्वक जाती है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है । पतिव्रता स्त्रीको देखकर यमदूत भाग जाते हैं । संसारमें वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है और वह पति धन्य है, जिनके घरमें पतिव्रता स्त्री शोभा पाती है । केवल पतिव्रता नारीके पुण्यसे उसके पिता, माता और पति—इन तीनों कुलोंकी तीन-तीन पीढ़ियाँ स्वर्गीय सुख भोगती हैं । दुराचारिणी स्त्रियाँ अपना शील भङ्ग करनेके कारण पिता, माता और पति—तीनों कुलोंको नरकमें गिराती हैं और स्वयं भी इहलोक तथा परलोकमें दुःख भोगती हैं । पतिव्रताका चरण जहाँ-जहाँ धरतीका स्पर्श करता है, वह-वह स्थान तीर्थभूमिकी भाँति मान्य है । वास्तवमें गृहस्थ उसीको समझना चाहिये, जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री है । जैसे गङ्गामें स्नान करनेसे शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रताका दर्शन करके सम्पूर्ण गृह पवित्र हो जाता है ।

यदि विधवा स्त्री पलँगपर सोती है तो वह पतिको नरकमें गिरा देती है, अतः पतिके सुखकी इच्छासे विधवा स्त्रीको धरतीपर ही शयन करना चाहिये । विधवा स्त्रीको कभी अपने अङ्गोंमें उबटन नहीं लगाना चाहिये तथा उसे कभी सुगन्धित वस्तुका उपयोग भी नहीं करना चाहिये । उसे पतिबुद्धिसे भगवान् विष्णुका पूजन करना चाहिये । वह विष्णुरूपधारी पति-परमेश्वरका ही ध्यान करे । स्नान, दान, तीर्थयात्रा और पुराण-श्रवण बार-बार करती रहे ।

इस प्रकार स्त्रियोंके कर्तव्य बतलाये गये हैं । इनपर माता-बहिनोंको विशेष ध्यान देकर इनका आचरण करना चाहिये । इसी ब्राह्मखण्डमें धर्मारण्य-माहात्म्यके वर्णन-प्रसङ्गमें सदाचार, शिष्टाचार और धर्म, नियम आदिका विस्तृत निरूपण किया है एवं संक्षेपसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सम्पूर्ण चरित्र चित्रण किया गया है । पाठकोंको ये प्रसङ्ग ग्रन्थमें पढ़ने चाहिये ।

रामनाम-महिमा और ध्यानयोग

ब्राह्मखण्डके चातुर्मास्य-माहात्म्यका वर्णन करते हुए भगवान् शङ्करजीने पार्वतीजीसे राम-नामकी महिमा और ध्यानयोगका निरूपण किया है, जो सभीके लिये बड़ा ही उपयोगी है । उसे संक्षेपमें नीचे दिया जाता है ।

भगवान् शिवजी बोले—प्रिये ! भगवान् विष्णुके सहस्रनामोंमें जो सारभूत नाम है, मैं उसीका नित्य-निरन्तर जप-चिन्तन करता हूँ । मैं राम-नाम जपता हूँ और उसीके अङ्ककी इस मालाद्वारा गणना करता हूँ । ओंकारसहित जो द्वादशाक्षर बीज है, उसका जप करनेवाले मनुष्यके लिये वह कोटि-कोटि पापोंका दाह करनेवाला दावानल बन जाता है । इस अक्षरसे प्रकट हुए मन्त्रका जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा आश्रय लेता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता । द्वादशाक्षर मन्त्रके माहात्म्यका सहस्रों जिह्वाओंद्वारा भी वर्णन नहीं किया जा सकता । संसारमें इसका जप-ध्यान और स्तवन करनेपर यह महामन्त्र सभी मासोंमें पापनाश करनेवाला होता है; किंतु चातुर्मास्यमें तो इसका यह माहात्म्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है । इस महामन्त्रके चिन्तनमात्रसे ही मनुष्योंको मनचाही सिद्धि प्राप्त हो जाती है । इसके जपसे सनातन मोक्ष प्राप्त होता है । शूद्रों और स्त्रियोंके लिये प्रणवरहित जपका विधान है । शूद्रोंके लिये राम-नाम-मन्त्र विशेष ध्येय है । यही उन्हें कोटि मन्त्रोंसे अधिक फल देनेवाला होता है । 'राम' इस दो अक्षरके नामका जप पापोंका नाश कर देनेवाला है । मनुष्य चलते, खड़े होते और सोते समय भी श्रीराम-नामका कीर्तन करनेसे इहलोकमें सुख पाता है और अन्तमें भगवान् विष्णुका पार्षद होता है । 'राम' यह दो अक्षरोंका मन्त्र कोटि-शत मन्त्रसे भी बढ़कर है । यह सभी संकर जातियोंके भी पापका नाशक बताया गया है । चातुर्मास्य प्राप्त होनेपर तो यह राम-मन्त्र अनन्त फल देनेवाला होता है । इस भूतलपर रामनामसे बढ़कर कोई पाठ नहीं है । जो रामनामकी शरण ले चुके हैं उन्हें कभी यमलोककी यातना नहीं भोगनी पड़ती । जो-जो विघ्नकारक दोष हैं, सब राम-नामका उच्चारण करनेमात्रसे नष्ट हो जाते हैं । जो परमात्मा समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे रम रहा है, उसे राम कहते हैं । 'राम' यह मन्त्रराज भय तथा उपाधियोंका नाश करनेवाला है । क्षत्रियोंके लिये यह युद्धमें विजय देनेवाला तथा समस्त कार्यों एवं मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है । रामनामको ही सम्पूर्ण तीर्थोंका फल कहा गया है । वह ब्राह्मणोंके लिये भी मनोवाञ्छित फल देनेवाला है । 'रामचन्द्र, राम-राम' इत्यादि रूपसे उच्चारण किया जानेवाला यह दो अक्षरोंका मन्त्रराज भूतलपर सब कार्य सिद्ध करनेवाला है । देवता भी राम-नामके गुण गाते हैं । इसलिये पार्वती ! तुम भी सदा राम-नामका जप करो । जो राम-नामका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । राम-नामसे सहस्र नामोंका पुण्य होता है । विशेषतः चातुर्मास्यमें उसका पुण्य दसगुना बढ़ जाता है । राम-नामके उच्चारणसे हीन जातिमें उत्पन्न लोगोंका भी महान् पाप भस्म हो जाता है । भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण जगत्को अपने तेजसे व्याप्त करके स्थित हैं

और सब मनुष्योंमें अन्तरात्मारूपसे रहकर उनके पूर्वजन्मोपार्जित स्थूल एवं सूक्ष्म पापोंको क्षणभरमें भस्म करके उन्हें पवित्र कर देते हैं।

ध्यानयोगसे समस्त पापोंका नाश होता है। जप और ध्यान ही योगका स्वरूप है। शब्द-ब्रह्म (ॐकार एवं वेद) से प्रकट हुआ द्वादशाक्षर मन्त्र वेदके समान है। ध्यानसे मनुष्य सब कुछ पाता है। ध्यानसे वह शुद्धताको प्राप्त होता है। ध्यानसे परब्रह्मका बोध होता है तथा सगुण-स्वरूपमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रतारूप योग भी ध्यानसे ही सम्भव होता है *। ध्यानयोग दो प्रकारका होता है—एक सालम्ब (सगुण) का और दूसरा निरालम्ब (निर्गुण) का। सगुण साकार विग्रह नारायणका दर्शन सालम्ब ध्यान है। दूसरा जो निरालम्ब ध्यान है, वह ज्ञानयोगके द्वारा बताया गया है। रूपरहित अप्रमेय तथा सर्वस्वरूप जो सनातन तेज है, जो सदा उदयशील एवं पूर्णतम है, जो निष्कल एवं निरञ्जनमय है, आकाशके समान सर्वव्यापक है, सुखस्वरूप एवं तुरीयातीत है, जिसकी कहीं उपमा नहीं है, वही परमेश्वरका निराकार स्वरूप ध्यानयोगके द्वारा चिन्तन करनेयोग्य है। वह द्वन्द्वोंसे रहित एवं साक्षीमात्र है। शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है। अपने तेजसे उपमारहित और अगाध है। उसीको तुम अङ्गीकार करो।

काशी-माहात्म्य, मानसतीर्थ एवं गङ्गाकी महिमा

अब काशीखण्डकी कुछ सार बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है। इसमें काशीकी महिमाका विस्तृत वर्णन है। काशीके अनेक तीर्थोंका माहात्म्य तथा काशीकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हुए मानस-तीर्थोंका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। मुनिवर अगस्त्यजीने अपनी धर्मपत्नी लोपामुद्रासे कहा—'वरारोहे ! सुनो, तत्त्वका विचार करनेवाले ज्ञानी मुनियोंने बार-बार यह निर्णय किया है कि मुक्तिके अनेक स्थान हैं। पहला तीर्थराज प्रयाग है, जो सर्वत्र विख्यात है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है। इसके सिवा नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, गङ्गाद्वार (हरिद्वार), अवन्ती, अयोध्या, मथुरा, द्वारका, अमरावती, सरस्वती और समुद्रका संगम, गङ्गासागर-संगम, काञ्चीपुरी, त्र्यम्बक तीर्थ, सप्तगोदावरी, कालंजरतीर्थ, प्रभासक्षेत्र, बदरिकाश्रम, महालय, ॐकारक्षेत्र (अमरकण्टक), पुरुषोत्तमक्षेत्र (जगन्नाथपुरी), गोकर्णतीर्थ, भृगुकच्छ, भृगुतुंग, पुष्कर, धारातीर्थ आदि बहुतसे तीर्थ मुक्तिदायक हैं।

मानस-तीर्थ

सत्य, दया आदि जो मानसिक तीर्थ हैं, वे भी मोक्ष देनेवाले हैं। सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियोंको वशमें रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियोंपर दया करना तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है। दान, दम (मनका संयम) तथा सन्तोष—ये भी तीर्थ कहे गये हैं। ब्रह्मचर्यका पालन उत्तम तीर्थ है। ज्ञान और धैर्य तीर्थ हैं और तपस्याको भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थोंमें भी सबसे बड़ा तीर्थ है—अन्तःकरणकी आत्यन्तिक शुद्धि। पानीमें शरीरको डुबो लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसने दम तीर्थमें स्नान किया है, मन एवं इन्द्रियोंको संयममें रक्खा है, उसीने वास्तविक स्नान किया है। जिसने मनकी मैल धो डाली है, वही शुद्ध है। विषयोंके प्रति अत्यन्त राग होना मानसिक मल कहलाता है और उन्हीं विषयोंमें विराग होना निर्मलता कही गयी है। यदि अपने भीतरका मन दूषित है तो मनुष्य तीर्थस्नानसे शुद्ध नहीं होता। जिसने अपने इन्द्रियसमुदायको वशमें कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर आदि तीर्थ हैं। ध्यानसे पवित्र तथा ज्ञानरूपी जलसे भरे हुए रागद्वेषमय मलको दूर करनेवाले मानस-तीर्थमें जो पुरुष स्नान करता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है *।

तीर्थसेवनके अधिकारी

अब पृथ्वीपर जो तीर्थ हैं, उनकी पवित्रताका क्या हेतु है, यह सुनो। पृथ्वीके कुछ भाग अत्यन्त पुण्यमय हैं। पृथ्वीके अद्भुत प्रभाव, जलके विलक्षण तेज तथा मुनियोंके निवासस्थान होनेसे तीर्थ पुण्यस्वरूप माने जाते हैं। अतः जो प्रतिदिन भूमण्डलके तीर्थों एवं मानस-तीर्थोंमें भी स्नान करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप और कीर्ति सभी संयममें हैं, वह तीर्थके पूर्ण फलका भागी होता है। जो प्रतिग्रह नहीं लेता और जिस किसी भी वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है तथा जिसमें अहङ्कारका सर्वथा अभाव है, वह तीर्थफलका भागी होता है। अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कका सहारा लेनेवाला—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थसेवनका फल नहीं पाते। काशी, काञ्ची, माया (लक्ष्मणझूलेसे कनखलतक), अयोध्या, द्वारका, मथुरा और अवन्ती—ये सात पुरियाँ मोक्ष देनेवाली हैं। केदारतीर्थका महत्त्व उससे भी अधिक है। श्रीशैल और केदारसे भी उत्तम मोक्षदायक तीर्थ

---

* ध्यानेन सर्वमाप्नोति ध्यानेनाप्नोति शुद्धताम् ।
ध्यानेन परमं ब्रह्म मूर्तौ योगस्तु ध्यानजः ॥

* ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥
(स्क० पु० का० पू० ६ । ४१)

प्रयाग है तथा तीर्थश्रेष्ठ प्रयागसे भी बढ़कर अविमुक्त-क्षेत्र (काशी) में जैसा मोक्ष मिलता है, वैसा कहीं नहीं।

श्रेष्ठ तीर्थ काशी सम्पूर्ण भुवनोंमें सबसे उत्तम है। काशीमें देहावसान होनेसे अनायास मुक्ति होती है। अविमुक्तक्षेत्र ब्रह्माण्डके भीतर रहकर भी ब्रह्माण्डमें नहीं है। इसकी लंबाई पाँच कोस है। काशीमें देहत्याग करनेवालोंका नियन्त्रण स्वयं भगवान् काशीनाथ करते हैं। जिन्होंने वहाँ रहकर भी पाप किये हैं, उनको दण्ड देनेवाले कालभैरव हैं। वहाँ कभी किसीको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि वहाँ पाप करनेवालोंको दारुण रुद्रयातना भोगनी पड़ती है, जो नरकसे भी अधिक दुःसह है। जो मनुष्य दूसरेकी निन्दा और परस्त्रीकी अभिलाषा करते हैं, उन्हें काशीका सेवन नहीं करना चाहिये। जो वहाँ सदा प्रतिग्रह लेकर धनसंग्रह करनेकी अभिलाषा रखते हैं अथवा कपटपूर्वक दूसरोंका धन हड़प लेना चाहते हैं, ऐसे लोगोंको भी काशीका सेवन नहीं करना चाहिये। काशीमें रहनेवाले पुरुषको दूसरोंको पीड़ा देनेवाला कर्म सदाके लिये त्याग देना चाहिये। यदि यही करना हो तो दुष्ट चित्तवाले पुरुषोंका काशीमें निवास करना किस कामका ?

यहाँ काशीकी महिमाके प्रसङ्गसे सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, वायु, कुबेर, ध्रुव आदि विभिन्न लोकोंका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है तथा श्रीगङ्गाजीकी महिमा, स्तुति एवं गङ्गासहस्रनामस्तोत्रका वर्णन है। यहाँ तो संक्षेपमें केवल गङ्गाजीकी महिमाका उल्लेखमात्र किया जाता है।

गङ्गाजीकी महिमा

श्रीमहादेवजीने कहा—गङ्गा शुद्ध विद्यास्वरूपा, इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूप तीन शक्तियोंवाली, दयामयी, आनन्दामृतरूपा तथा शुद्ध धर्मस्वरूपा है। जगद्धात्री परब्रह्म-स्वरूपिणी गङ्गाको मैं अखिल विश्वकी रक्षा करनेके लिये लीलापूर्वक अपने मस्तकपर धारण करता हूँ। जो गङ्गाजीका सेवन करता है, उसने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सब यज्ञोंकी दीक्षा ले ली और सम्पूर्ण व्रतोंका अनुष्ठान पूरा कर लिया। अज्ञान, राग और लोभादिसे मोहित चित्तवाले पुरुषोंकी धर्म और गङ्गामें विशेष श्रद्धा नहीं होती। जो चलते, खड़े होते, जप और ध्यान करते, खाते, पीते, जागते, सोते तथा बात करते समय भी सदा गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जैसे बिना इच्छाके भी स्पर्श करनेपर आग जला ही देती है, उसी प्रकार अनिच्छासे भी अपने जलमें स्नान करनेपर गङ्गा मनुष्यके पापोंको भस्म कर देती है*। जो गङ्गास्नानके लिये उद्यत होकर चलता है और मार्गमें ही मर जाता है, वह भी निःसन्देह गङ्गास्नानका फल पाता है। जो लोग खोटी बुद्धिवाले, दुराचारी, कोरा तर्क करनेवाले और अधिक सन्देह रखनेवाले मोहित मनुष्य हैं, वे गङ्गाको अन्य साधारण नदियोंके समान ही देखते हैं। क्रोधसे तपका, कामसे बुद्धिका, अन्यायसे लक्ष्मीका, अभिमानसे विद्याका तथा पाखण्ड, कुटिलता और छल-कपटसे धर्मका नाश होता है। उसी प्रकार गङ्गाजीके दर्शनमात्रसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे मन्त्रोंमें ॐकार, धर्मोंमें अहिंसा और कमनीय वस्तुओंमें लक्ष्मी श्रेष्ठ है तथा जिस प्रकार विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और स्त्रियोंमें पार्वती देवी उत्तम हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थोंमें गङ्गातीर्थ विशेष माना गया है। अनेक रूपवाले पितर सदा यह गाथा गाते हैं कि 'क्या हमारे कुलमें भी कोई गङ्गा नहानेवाला होगा, जो विधि और श्रद्धाके साथ गङ्गा-स्नान कर देवताओं तथा ऋषियोंका भलीभाँति तर्पण करके दीनों, अनाथों और दुखियोंको तृप्त करते हुए हमारे निमित्त जलाञ्जलि देगा।' गङ्गास्नान करनेके लिये तिथि, नक्षत्र और पूर्व आदि दिशाका विचार नहीं करना चाहिये; क्योंकि किसी प्रकार भी गङ्गास्नान करनेमात्रसे समस्त सञ्चित पापका नाश हो जाता है।

महाकालक्षेत्रकी महिमा

अब आवन्त्य-खण्डकी कुछ सार बातोंका उल्लेख किया जाता है। उसमें पहले अवन्ती (महाकाल) क्षेत्रकी महिमा बतलाते हुए श्रीसनत्कुमारजीने श्रीव्यासजीके प्रति कहा है—'यहाँ सब पातक क्षीण हो जाता है, इसलिये इसे क्षेत्र कहा जाता है। यह मातृकाओंका निवासस्थान होनेके कारण पीठ कहलाता है। इस भूमिमें मरे हुए जीव फिर जन्म नहीं लेते, इसीलिये इसे ऊसर नाम दिया गया है। अतः यह परमात्मा शङ्करका गुह्य, प्रिय एवं नित्य क्षेत्र है और इसीलिये सम्पूर्ण प्राणियोंको बहुत प्रिय है। भगवान् शिवके इस अतिशय प्रिय क्षेत्रको महाकाल वन और विमुक्तिक्षेत्र भी कहते हैं।

जो ब्राह्मण ममता, अहङ्कार, आसक्ति तथा परिग्रहसे रहित हैं, बन्धुजनोंके प्रति अनासक्त रहकर मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हुए महाकाल वनमें निवास करते हैं, मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले त्रिविध कर्मोंद्वारा

---

* अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहनो हि यथा दहेत्।
अनिच्छयापि संस्नाता गङ्गा पापं तथा दहेत्॥
(स्क० पु० का० पू० २७। ४९)

सदा सब प्राणियोंको अभयदान देते हैं, सांख्य और योगकी विधिको जानते हैं, धर्मके स्वरूपको समझते हैं और संशयरहित हो नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान् शङ्करका यजन करते हैं, यहाँ मृत्यु होनेके पश्चात् वे सभी अत्यन्त दुर्लभ एवं अक्षय ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त होते हैं ।

इसके बाद सनत्कुमारजीने वहाँके अनेक तीर्थोंका माहात्म्य वर्णन किया है । इसी प्रकरणमें ब्रह्माजीने देवताओंको विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका उपदेश दिया है, जो कि संक्षिप्त स्कन्दपुराणके ७३४ से ७४१ तकके पृष्ठोंमें अर्थसहित प्रकाशित किया गया है । श्रीविष्णुभक्तोंके लिये यह बहुत ही उपादेय है । इसी खण्डके पृ० ७८५ से ७९२ तक यमलोकके मार्गके कष्टोंका तथा अट्ठाईस नरक तथा उनमें भी पाँच-पाँच प्रधान विभागोंका एवं नरक-यातना तथा नरकसे उद्धार होनेके उपायोंका विस्तृतरूपसे वर्णन किया गया है। यह प्रसङ्ग भी देखने योग्य है ।

अतिथिसत्कारका माहात्म्य

ऋषि बोले—महाभाग सूतजी ! आप हमें अतिथिसत्कारका उत्तम माहात्म्य विस्तारपूर्वक बताइये ।

सूतजीने कहा—मुनीश्वरो ! गृहस्थोंके लिये अतिथिसत्कारसे बढ़कर दूसरा कोई महान् धर्म नहीं है, अतिथिसे महान् कोई देवता नहीं है । अतिथिके उल्लङ्घनसे बड़ा भारी पाप होता है । जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसे वह अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है । जो अतिथिका आदर नहीं करता, उसके सौ वर्षोंके सत्य, तप, स्वाध्याय, दान और यज्ञ आदि सभी सत्कर्म नष्ट हो जाते हैं । अतिथिको सन्तुष्ट करनेसे गृहस्थके ऊपर सब देवता सन्तुष्ट रहते हैं और अतिथिके विमुख होनेपर सम्पूर्ण देवता भी विमुख हो जाते हैं । अतः गृहस्थको चाहिये कि वह सदा अतिथिको सन्तुष्ट करे । यदि वह अपने लिये पुण्य चाहता है तो आत्मदान करके भी अतिथिको सन्तुष्ट रक्खे । द्विजवरो ! तीन प्रकारके अतिथि बताये गये हैं । जो श्राद्ध-कालमें स्वतः आ जाता है, वह 'श्राद्धीय अतिथि' कहा जाता है । जो दूरका रास्ता तै करके थका-माँदा बलिवैश्वदेव कर्मके समय आता है, उसको 'वैश्वदेवीय अतिथि' जानना चाहिये । उसके गोत्र, चरण (शाखा), स्थान और वेद आदिके विषयमें न पूछे । केवल यज्ञोपवीत देखकर भक्तिपूर्वक भोजन करा दे । तीसरा अतिथि 'सूर्योंद' है, जो दिनमें या रातमें भोजनके बाद घरपर आता है । उसके लिये भी गृहस्थको यथाशक्ति दान करना चाहिये । तृण, भूमि, जल और चौथा मीठा वचन—ये सब वस्तुएँ सत्पुरुषोंके घरमें कभी समाप्त नहीं होतीं । उसे आसन देनेसे ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं, अर्घ्यदान करने (हाथ आदि धुलाने) से शिवजी सन्तुष्ट होते हैं, पाद्य देने (पैर धुलाने) से इन्द्रादि देवता प्रसन्न रहते हैं तथा उसे भोजन देनेसे भगवान् विष्णु सन्तुष्ट होते हैं । अतिथि सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप होता है । अतः सदा उसका पूजन करना और विशेषतः उसे भोजन देना चाहिये ।

गृहस्थियोंके लिये यह बहुत ही उपयोगी है । अतः इसको आदर्श मानकर कल्याणकारी गृहस्थियोंको इसके अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये ।

इस खण्डमें हाटकेश्वरक्षेत्रके अनेक तीर्थोंका वर्णन आया है । फिर आगे जाकर आनर्तनरेश और भर्तृयज्ञ ऋषिके संवादका उल्लेख है, जिसमें श्राद्धका बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है । पाठकोंको चाहिये कि वे इस प्रसङ्गको संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्कके पृ० ९२७ से ९३५ तक देखकर उससे लाभ उठावें ।

प्रभासक्षेत्रकी महिमा

अब प्रभास-खण्डका सार दिखलाया जाता है । इसमें प्रभासक्षेत्रकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवान् शिवजी पार्वतीसे कहते हैं—'देवि ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं । उन सबमें श्रेष्ठ तीर्थ प्रभास है । जो क्रोध, लोभ और इन्द्रियोंको जीत चुके हैं, ऐसे दम्भ और मात्सर्यसे रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हों, यदि सद्भावसे भावित हो उत्तम व्रतका पालन करते हुए तीर्थका सेवन करना चाहते हैं तो उनके हितके लिये मैं त्रिभुवन-विख्यात सर्वोत्तम प्रभास-क्षेत्रका ही नाम लेता हूँ । महादेवि ! उस तीर्थमें मैं निरन्तर स्थित रहता हूँ । प्रभासक्षेत्रमें जो मेरा स्वरूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहा गया है । मैं वहाँ सोमनाथ नामसे प्रसिद्ध हूँ ।

'देवि ! समस्त क्षेत्रोंमें प्रभास मुझे अधिक प्रिय है । प्रभासमें उत्तम सिद्धि और परम गति प्राप्त होती है । उसके पूर्वभागमें अन्धकारका नाश करनेवाले स्वामी सूर्यनारायणजी हैं । पश्चिममें माधवजीका स्थान है । दक्षिणमें समुद्र तथा उत्तरमें भवानी है । इस प्रकारकी सीमासे युक्त वह क्षेत्र बारह योजनका है । इसीका नाम प्रभासक्षेत्र है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है ।

'देवि ! जो निर्भय, निर्मल, नित्य, निर्पेक्ष, निराश्रय, निरञ्जन, निष्प्रपञ्च, निःसङ्ग तथा निरुपद्रव तत्त्व है, जो मोक्षदायक, अज्ञेय, अनुपम, अनामय, नित्य, कारणरूप,

दिव्य, निर्लेप, विश्वतोमुख, शिव, सर्वात्मक, सूक्ष्म, अनादि, दैवतरूप, आत्मस्वरूपसे जानने योग्य, चित्तके चिन्तनसे परे, गमनागमनसे मुक्त, बाहर-भीतर व्याप्त, केवल (अद्वितीय), निष्कल, निर्मल एवं ज्ञानका प्रकाशक है, वही प्रभास तीर्थमें प्रणवमय सोमेश्वर लिङ्गके रूपमें स्थित है—यह जानो ।'

इस प्रकार सोमनाथके दिव्य स्वरूपका दिग्दर्शन कराकर सोमनाथकी महिमा, सोमनाथ-मन्दिरका निर्माण, सोमनाथकी यात्राविधि और दर्शन-पूजनकी महिमा एवं वहाँके तीर्थोंका विस्तृत वर्णन किया गया है ।

नृसिंहावतार एवं प्रह्लादकी कथा

यहाँ कहे हुए प्रह्लादके पवित्र चरित्रसे हमें शिक्षा लेनी चाहिये । भक्त प्रह्लादकी धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, साहस, आस्तिकता, श्रद्धा, भक्ति और दृढ़ भगवद्बुद्धि आदि महान् गुण सभीके लिये अनुकरणीय हैं ।

नारदजीने वामनजीसे कहा—प्रभो ! अब आपके अत्यन्त भयङ्कर नृसिंहावतारकी कथा कहता हूँ । पूर्वकालमें दितिके पुत्र हिरण्यकशिपुके यहाँ भक्त प्रह्लादका जन्म हुआ था । वे सदा भगवान्‌की भक्ति करते थे । प्रह्लादको जब दूसरी बातें पढ़ायी जाती थीं, तब भी वे हरिनामका ही कीर्तन करते थे । प्रह्लादने कहा—'जो चार भुजाओंसे सुशोभित शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले पीताम्बरधारी कौस्तुभमणिसे उद्भासित तथा सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं—जो स्मरण करनेमात्रसे ही मोक्ष देते हैं—उन भगवान् विष्णुका मैं सदा स्मरण करता हूँ ।' यह सुनकर हिरण्यकशिपुने कुपित हो दूसरे दैत्योंसे कहा—'मेरे इस दुष्ट पुत्रको तुमलोग हाथी, सर्प, जल और अग्निद्वारा मार डालो ।' प्रह्लाद बोले—'दैत्यराज ! हाथीमें भी विष्णु हैं, सर्पमें भी विष्णु हैं, जल तथा स्थलमें भी विष्णु हैं, तुममें और मुझमें भी वे ही स्थित हैं । विष्णुके बिना वह दैत्योंका समुदाय भी नहीं है ।' यह सब सुनकर हिरण्यकशिपु सदा प्रह्लादजीको मारनेकी चेष्टा करता था तो भी उनकी मृत्यु नहीं होती थी । यह देख हिरण्यकशिपुकी छाती क्रोधाग्निसे जलती रहती थी । एक दिन गुरुजीने छड़ीसे मारकर प्रह्लादको पुनः पढ़ाना प्रारम्भ किया । प्रह्लाद गुरुजीसे बोले—'जिन सर्वव्यापी हरिने चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको उत्पन्न किया, बढ़ाया और सबका फिर शमन किया है, उन्हींकी मैं स्तुति करता हूँ । वे ही श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों । ब्रह्माजी भी विष्णु हैं; शिवजी भी विष्णु ही हैं, इन्द्र, वायु, यम और अग्नि भी विष्णु हैं । प्रकृति और चौबीस तत्त्व और उनके साक्षी पचीसवें पुरुष भी विष्णु ही हैं । वे ही पिताजीके, गुरुजीके तथा मेरे शरीरमें भी स्थित हैं । यह जाननेपर भी कोई मरणधर्मा प्राणी श्रीहरिके सिवा दूसरे नीच मनुष्योंकी स्तुति कैसे कर सकता है ?' यह सुनकर गुरुजी बोले—'शिष्य ! यह तो बता, मनुष्योंमें नीच कौन है ?' प्रह्लादजीने कहा—'पुत्र-जन्म आदिके समय, मृत्युके समय तथा शुभ अवसरोंमें जिसके मुखसे 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण नहीं होता, वही मनुष्योंमें अधम है । भय, राजकुलसे समागम, युद्ध, व्याधि, स्त्रीसंग, विपत्ति, यात्रा तथा मृत्युके समय जो इस पृथ्वीपर रहते हुए श्रीहरिको भूलकर जगत्‌का स्मरण करता है, वह मूर्ख मानव मनुष्योंमें अधम है । श्रीहरिके बिना मेरे न तो माता है, न पिता है, न स्वजन है, न सेवक है—मेरा कोई नहीं है । आपको जो उचित जान पड़े सो करें । प्रकृति मेरी माता है । बुद्धि मेरी बहिन है । जिसको 'मैं' कहा जाता है, वह अहङ्कार है । पञ्च तन्मात्राओंके समुदाय मेरे सहोदर भाई हैं, जो मेरे साथ ही जाते हैं । इनको उत्पन्न करनेवाला जो पचीसवाँ पुरुष है, वही मेरा पिता है । वे ही परमात्मा श्रीहरि अन्तर्यामी इस शरीरमें स्थित हैं । यदि उनका सम्मान किया जाय तो वे हृदयमें दर्शन देते हैं । आपलोगोंके लिये राज्य ही अभीष्ट वस्तु है, परंतु जहाँ भगवान् विष्णुका पूजन (आदर) नहीं होता, वह राज्य मुझे तिनकेके समान प्रतीत होता है । ब्रह्मा, रुद्र, अनल आदिके रूपमें जिनका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, जो बिना किसी आधारके ही सर्वत्र विचरते हैं, वे ही भगवान् विष्णु हैं । ऐसा विचार करके मुझे अन्य लोगोंसे मृत्युका भय नहीं है ।' प्रह्लादकी यह बात पूरी होते ही उनके पिताने उन्हें लात मारकर कहा—'कहाँ है तेरा हरि ? पहले मैं उसीको मारता हूँ । उसके बाद हरिनामकी रट लगानेवाले तुझ दुष्टका भी वध कर डालूँगा ।'

प्रह्लादने कहा—'पृथ्वी आदि पाँचों भूत भगवान् विष्णुके ही स्वरूप हैं । वे ही स्थल और जलमें हैं । अधिक क्या कहा जाय, यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय ही है । तृण, काष्ठ, गृह, क्षेत्र, द्रव्य और देह सबमें श्रीहरि स्थित हैं । वे ज्ञानयोगसे जाने जाते हैं । इन चर्मचक्षुसे नहीं देखे जाते । भगवान् विष्णु सब सुनते हैं, सब जानते हैं और सब

कुछ करते हैं ।' प्रह्लादके यों कहनेपर हिरण्यकशिपु सहसा सिंहासन छोड़कर खड़ा हो गया । उसने दृढ़तापूर्वक कमर कस ली और म्यानसे चमचमाती हुई तलवार खींचकर प्रह्लादको थप्पड़ मारकर कहा—'अब तू अपने विष्णुका स्मरण कर ले । मैं अभी उज्ज्वल कुण्डलोंसे सुशोभित तेरा मस्तक पृथ्वीपर गिरा दूँगा ।' प्रह्लादजी भय छोड़कर पद्मासन लगा और कंधा नीचे करके साँसको ऊपर रोककर हृदयमें श्रीहरिका ध्यान करते हुए मरनेके लिये तैयार हो गये । प्रभो ! उस समय एक आश्चर्यकी बात हुई । आकाशसे फूलोंकी एक माला नीचे आयी और स्वयं ही प्रह्लादजीके गलेमें पड़ गयी । उसी समय खंभेसे बड़ा भयानक सिंहनाद हुआ । उस शब्दसे मूर्छित होकर सब दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़े । हिरण्यकशिपुके हाथसे तलवार और ढाल भी गिर गयी । वह सोचने लगा यह क्या है । जब सिर ऊँचा करके वह देखने लगा, तब भगवान् विष्णुपर उसकी दृष्टि पड़ी । नीचेसे मनुष्यकी आकृति और ऊपरसे भयङ्कर सिंहका स्वरूप । दाढ़ोंके कारण विकराल मुख था, मानो वे आकाशको निगल जायँगे । शरीर तेजसे प्रज्वलित हो रहा था । मुखसे भयानक कट-कटकी ध्वनि हो रही थी, मानो गरजता हुआ बादल मूर्तिमान् हो गया हो । गर्दनके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए थे । देवता और दैत्य सबके लिये उनकी ओर देखना कठिन था । उन्हें देखकर वह दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़ा । नृसिंहजीने उसके बाल पकड़कर आकाशमें सौ बार उसे घुमाया और पृथ्वीपर पटक दिया; परंतु ब्रह्माजीके वरके प्रभावसे उस दैत्यकी मृत्यु नहीं हुई । तब भगवान्‌ने हिरण्यकशिपुको घुटनोंपर सुलाकर उसकी छाती चीर डाली । उस समय देवता जय-जयकार करने लगे । चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें शान्ति छा गयी ।

द्वारकामाहात्म्य

अब प्रभासखण्डके अन्तर्गत द्वारकामाहात्म्यकी कुछ सार बातें लिखी जाती हैं ।

एक बार कुछ तपस्वी महात्मागण दैत्यराज बलि और प्रह्लादजीके पास गये । उन्होंने उनका यथावत् पूजन किया । तत्पश्चात् कहा—'महात्माओ ! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ।'

महर्षि बोले—भगवान्‌के प्रिय भक्त प्रह्लादजी ! इस युगमें अधर्मने सनातन धर्मपर विजय पायी है । झूठने सत्यको तथा शूद्रोंने ब्राह्मणोंको परास्त किया है । राजाका रूप धारण करके आये हुए म्लेच्छ ब्राह्मणोंको सता रहे हैं । वर्णाश्रमधर्मका ह्रास हो गया है । वेदोंका मार्ग लुप्त होता जा रहा है । ऐसे समयमें भगवान् विष्णु कहाँ हैं । जहाँ ज्ञान, ध्यान और इन्द्रियनिग्रहके बिना भी भगवान्‌की प्राप्ति हो, उस गूढ स्थानका पता हमें बताइये ।

श्रीप्रह्लादजी बोले—महर्षियो ! आप सम्पूर्ण देवताओं, दैत्यों, दानवों तथा राक्षसोंके भी पूजनीय हैं । आप पूजनीय महापुरुषोंकी आज्ञा तथा भगवान् विष्णुके प्रसादसे मैं भगवान्‌के स्थानका परिचय देता हूँ । पश्चिम समुद्रके तटपर जो कुशस्थली पुरी है, जिसका निर्माण पहले राजा कुशके द्वारा हुआ है, जहाँ गोमती नदी बहती है और समुद्रसे मिली है, वही द्वारावतीपुरी कहलाती है । उसे आनर्ता भी कहते हैं । उसीमें सोलह कलाओं तथा बारह मूर्तियोंसे युक्त विश्वात्मा भगवान् विष्णु निवास करते हैं । जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं । वही परम धाम है । वही परम पद है । वह द्वारकापुरी धन्य है, जहाँ शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले चतुर्भुज श्रीकृष्ण विद्यमान हैं । वहाँ जानेसे कलिकालके मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेंगे । जहाँ गोमती नदी बहती है, जहाँ भगवान् विष्णुकी त्रिविक्रम मूर्ति है, उस द्वारकापुरीमें जाकर चक्रतीर्थमें स्नान करनेवाले मनुष्य मोक्ष प्राप्त करेंगे । जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रभासक्षेत्रमें परमधामको पधारे, तब कलासहित उस त्रिविक्रम मूर्तिमें स्थित हुए । यदि आपको श्रीकृष्णसे मिलनेकी इच्छा हो तो शीघ्र वहीं जाइये । जब मनुष्य द्वारका जानेका विचार मनमें लाता है, उसी समय उसके पितर नरकसे मुक्त हो हर्षके गीत गाने लगते हैं । मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णके मार्गमें जितने पग आगे चलता है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है । जो मानव श्रीकृष्णपुरीकी यात्राके लिये दूसरोंको प्रेरणा देता है, वह निःसन्देह विष्णुधाममें जाता है ।

अमित तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णद्वारा भोजराज कंसके मारे जानेपर जब उग्रसेन मथुरापुरीके राजा हुए, उस समय गोकुलप्रिय श्रीकृष्णने अपने सुहृद् गोपों तथा गोपीजनोंका प्रिय करनेके लिये उद्धवको गोकुलमें भेजा । उद्धवजी गोकुलको नमस्कार करके उन्हींके समान वेषभूषा तथा वस्त्रालङ्कार धारण करके नन्दगाँवकी ओर चले । सन्ध्याकालके समय श्रीकृष्णके प्रियसखा उद्धवजीको अपने घर आया

पुत्रवत्सला माता यशोदाने अच्छे-अच्छे वस्त्र और

आभूषण देकर उनका सत्कार किया । जब उद्धवजी भोजन करके विश्राम कर चुके, तब पुत्रस्नेहमयी यशोदा तथा नन्दबाबाने अपनी आँखोंमें आँसू भरकर श्रीकृष्णका कुशल-समाचार पूछा—'उद्धवजी ! बताओ तो सही, हमारे दोनों पुत्र श्रीकृष्ण, बलराम कुशलसे तो हैं न ? क्या श्रीकृष्ण अपने साथी ग्वालबालोंको कभी याद करते हैं ? क्या मथुरानाथ गोविन्द कभी गोकुलमें भी पधारेंगे ? क्या हमारा लाला कन्हैया इस गोकुलका शोक-समुद्रसे उद्धार करेगा ?' ऐसा कहकर पुत्र-स्नेहके वशीभूत यशोदा मैया और नन्दबाबा दोनों दीन भावसे फूट-फूटकर रोने लगे । उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी । उन्हें अति व्याकुल देखकर उद्धवजीने श्रीकृष्णके स्नेहयुक्त मधुर सन्देश सुनाकर उन दोनोंको जीवनदान दिया । उद्धवजी बोले—'श्यामसुन्दर श्रीकृष्णने अपने बड़े भैया बलरामजीके साथ आप दोनोंको नमस्कार कहलाया है, कुशल-मङ्गल पूछा है और वे दोनों भाई भी कुशलसे हैं । जगदीश्वर श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ शीघ्र ही यहाँ आवेंगे और आपलोगोंका हित-साधन करेंगे ।'

श्रीकृष्णकी-सी वेष-भूषा धारण किये कौन आये हैं—इस प्रकार जिज्ञासा करती हुई समस्त व्रजसुन्दरियाँ परस्पर मिलकर एकान्त स्थानमें गयीं और शोकसे दुर्बल हो उद्धवजीको वहीं बुलाकर श्रीकृष्णका सन्देश पूछने लगीं—'तुम कहाँसे और किसलिये यहाँ आये हो ?' इतना कहते-कहते वे शोकसे विह्वल एवं मूर्छित हो गयीं और उद्धवजीकी ओर देखती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ीं । श्रीकृष्ण-प्रेमपरवश गोपीजनोंकी यह अवस्था देखकर उद्धवजीने उन्हें श्रवणसुखद वचनोंद्वारा आश्वासन देते हुए कहा—'गोपियो ! भगवान् श्रीकृष्णकी भी यही दशा है । वे दिन-रात तुम्हारी ही याद करके निरन्तर दुखी रहते हैं ।'

उद्धवजीकी यह बात सुनकर विभिन्न गोपाङ्गनाओंने प्रणयकोपसे विरहभरी बहुत-सी बातें कहीं और फिर वे व्रजयुवतियाँ विलाप करने लगीं । वे श्रीकृष्णकी एक-एक लीलाको याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं । उनका वह रोना सुनकर भक्ति और स्नेहमें डूबे हुए उद्धवजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे उन गोपियोंकी सराहना करने लगे—'अहो ! ब्रह्मा, महादेवजी, देवता तथा महर्षि भी जिस भावतक नहीं पहुँच सकते, वहाँ इन गोपियोंकी पहुँच हो चुकी है । व्रजकी ये समस्त सुन्दरियाँ धन्य हैं । इन सबका जन्म, जीवन तथा यौवन, धन सफल हो गया; क्योंकि भगवान् श्यामसुन्दरमें इनकी भक्ति अविचल है ।' गोपियाँ बोलीं—'उद्धवजी ! आप हमें गोविन्दका दर्शन करा दें । प्यारे श्यामसुन्दरसे मिला दें । जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं हमको भी ले चलें ।' गोपाङ्गनाओंकी यह बात और विलाप सुनकर उद्धवजी स्नेहसे विह्वल हो गये और 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होंने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया । तदनन्तर श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये लालायित रहनेवाली समस्त व्रजाङ्गनाएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ उद्धवजीके पीछे-पीछे चलीं । वे मार्गमें उनकी बाल-लीलाके प्रिय गीत गाती जा रही थीं । द्वारकामें जाने और लक्ष्मीपतिका चिन्तन करनेसे गोपियाँ समस्त पापोंसे मुक्त हो गयीं । उनके सारे बन्धन टूट गये । धीरे-धीरे वे मयसरोवरके तटपर आयीं । वहाँ उद्धवजीने उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'देवियो ! तुमलोग यहीं ठहरो, महाबाहु श्रीकृष्ण यहीं आवेंगे और तुमलोगोंका हित करेंगे ।' गोपियाँ बोलीं—'अच्छा उद्धवजी ! आप शीघ्र जाइये और प्यारे श्यामसुन्दरको बुला लाइये । वे ही हमारे नयनोंमें आनन्दकी सृष्टि करते हैं । उन्हींसे हमारे तीनों तापोंका नाश होता है । अतः शीघ्र उनका दर्शन कराइये ।' यह सुनकर उद्धवजी गये और भगवान् श्रीकृष्णको शीघ्र बुला लाये । गोपियोंने देखा—देवकीनन्दन आ रहे हैं । उनका श्रीअङ्ग वनमालासे विभूषित है । मस्तकपर किरीट-मुकुट जगमगा रहा है । कानोंमें मकराकार कुण्डल चम-चम कर रहे हैं । वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न शोभा पा रहा है । उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं । उन्होंने रेशमी पीताम्बर पहन रक्खा है । तीनों लोकोंमें सबसे अधिक सुन्दर और सबका मन मोह लेनेवाले अपने प्रियतम श्यामसुन्दरको दीर्घकालके बाद देखकर श्रीकृष्णप्रिया गोपियाँ प्रेमावेशसे मूर्छित हो गयीं । कुछ देरके बाद जब वे सचेत हुईं, तब इस प्रकार विलाप करने लगीं—'हा नाथ ! हा प्राणवल्लभ ! हा स्वामिन् ! हा व्रजेश्वर ! हा मनमोहन ! बचपनमें जिन्होंने तुम्हारा लालन-पालन किया, उनको भी तुमने त्याग दिया । बताओ तो सही, हमपर इतने रुष्ट कैसे हो गये ।' गोपियोंका यह विलाप सुनकर सबके आन्तरिक भावोंको जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्णने यह जान लिया कि सब गोपियाँ अनन्य भावसे मेरी शरणमें आयी हैं ।

अतः व्रजेश्वरने उन सबको सान्त्वना देते हुए कहा, 'देवियो! तुमसे मेरा कभी वियोग नहीं है। मैं समस्त प्राणियोंके हृदयमें सदा सामान्य रूपसे निवास करता हूँ। ऐसा जानकर तुम मनमें शोक न करो। सब प्राणियोंके भीतर मुझे सदा ही स्थित जानकर अन्तर्यामीरूपसे मेरा चिन्तन करो। इससे सब प्रकारके पाप-तापसे मुक्त हो जाओगी।' श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर गोपियोंके सब बन्धन कट गये। उनके संशय और क्लेश नष्ट हो गये। वे भगवद्दर्शन-जनित आनन्दमें डूब गयीं। श्रीकृष्णके दर्शनसे उनका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो गया। वे इस प्रकार बोलीं—'गोविन्द! आज हमारा जन्म सफल हो गया। आज हमारे नेत्र सार्थक हो गये; क्योंकि आज दीर्घकालके बाद हमारी आँखें गोविन्दका दर्शन कर रही हैं। पुण्यहीन स्त्रियोंको पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका दर्शन नहीं होता।'

प्रह्लादजी कहते हैं—द्वारकापुरी अपनी प्रभासे बाहरके गाढ़ अन्धकारका नाश कर देती है और भक्तोंको भयनाशक परमानन्दमय पद प्रदान करती है। तदनन्तर पूर्वोक्त तीर्थयात्री महर्षियोंने द्वारकापुरीमें जाकर दूरसे ही चक्रविभूषित श्रीकृष्णमन्दिरका दर्शन करके छाता और खड़ाऊँ त्यागकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वे दण्डकी भाँति पृथ्वीपर लोट गये। उनकी भक्ति बहुत बढ़ गयी और वे बार-बार धरतीपर लोटने लगे। कोई जय-जयकार और कोई नमस्कारके साथ ही गर्जना करने लगे। दूसरे लोग परमानन्दमें मग्न होकर स्तुति सुनाने लगे। सभी महर्षि तथा वहाँ प्रकट हुए सभी तीर्थ आनन्दके आँसू बहाते हुए प्रेम-गद्गद वाणीमें भगवान्की स्तुति करने लगे*। उन सबको देखकर नारदजीने कहा—'तुमने सहस्रों जन्मोंमें सहस्रों पुण्यपुञ्जोंकी राशि सञ्चित कर रक्खी थी, जिससे आज तुम्हें श्रीकृष्णमन्दिरमें भगवान्का दर्शन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन, द्वारका जानेकी बुद्धि और महादेवजीमें दृढ़ भक्ति—ये सब थोड़ी तपस्याके फल नहीं हैं। वे पूर्वज धन्य हैं, जिनके वंशज श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये उत्सवपूर्वक द्वारकाकी यात्रा करते हैं और वहाँ पहुँचकर अपने इष्ट श्रीहरिका दर्शन पाते हैं। सब मुनिलोग देखें, यह द्वारकापुरी तीनों लोकोंमें सुशोभित होती है। श्रीकृष्णप्रिया द्वारका इस पृथ्वीकी कीर्ति है। जहाँ गोमती, रुक्मिणी देवी तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण विराज रहे हैं, वह पवित्र द्वारकापुरी अपने दिव्य तेजसे सुशोभित है।

'ब्रह्मा और शिव आदि भी जिनके चरणारविन्दोंकी वन्दना करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ निवास करते हैं, वह द्वारकापुरी सब कुछ देनेवाली है। द्वारकाके प्रभावसे कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी तथा सर्प आदि योनियोंमें पड़े हुए समस्त पापी भी मुक्त हो जाते हैं†। फिर जो प्रतिदिन द्वारकामें रहते और जितेन्द्रिय होकर भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उत्साहपूर्वक लगे रहते हैं, उन मनुष्योंकी मुक्तिके विषयमें क्या कहना है। जो द्वारकावासी श्रेष्ठ पुरुषोंकी निन्दा करते हैं, वे श्रीकृष्णकी कृपासे वञ्चित हो दुःखके घोर समुद्रमें गिरते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज तथा स्त्री जो भी द्वारकामें भक्तिपूर्वक निवास करते हैं, वे विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं। द्वारकाका माहात्म्य सबसे श्रेष्ठ है। वहाँकी पवित्र धूलि भी पापियोंको मोक्ष देनेवाली है।'

इस प्रकार यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंगोंपर विचार किया गया। स्कन्दपुराणमें ऐसे महत्त्वके स्थल बहुत हैं। पाठकोंको उन्हें वहीं पढ़-सुनकर तथा जीवनमें धारणकर लाभ उठाना चाहिये।

* * *

---

* जयशब्दैर्नमःशब्दैर्गर्जन्तो हरिनामभिः। ततोऽन्ये च स्तुवन्ति स्म परमानन्दसम्प्लुताः॥
आनन्दाश्रु प्रमुञ्चन्तः प्रेम्णा गद्गदया गिरा। स्तुवन्ति ऋषयः सर्वे तीर्थादीनि च सर्वशः॥
(स्क० पु० द्वा० मा० ३१। ११-१२)

† अपि कीटपतङ्गाद्याः पशवोऽथ सरीसृपाः। विमुक्ताः पापिनः सर्वे द्वारकायाः प्रभावतः॥
(स्क० पु० द्वा० मा० ३७। ७)

सब नाम-रूपोंमें एक ही भगवान्

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

भारतीय संस्कृतिमें सबसे मुख्य वेद माने जाते हैं। वे अपौरुषेय हैं, अनादि हैं और सदा रहनेवाले—नित्य हैं। उनमें (कर्म, उपासना और ज्ञान) तीन काण्ड माने जाते हैं । उन्हीं तीनोंका विशद एवं विस्तृत वर्णन पुराण और इतिहास-ग्रन्थोंमें मिलता है, जिनकी रचना सुन्दर-सुन्दर कथाओंके द्वारा सर्वसाधारण जनताको गम्भीर विषय सरलतासे समझानेके लिये श्रीव्यासदेवने कृपापूर्वक की है । ऐसे तो पुराण भी अनादि ही माने जाते हैं, पर इनका समय-समयपर जीर्णोद्धार होता रहा है । पुराणोंमें ही लेख मिलता है कि इनका कलेवर बहुत बड़ा था । उसको अल्पायु कलियुगी जीवोंके लिये संक्षिप्तरूपसे बनाया गया है । इनमें सांसारिक तथा पारमार्थिक सर्वोपयोगी सर्व विषयोंका बड़ा अच्छा वर्णन किया गया है । पढ़नेसे माॡम होता है कि दैवी-सम्पत्ति, आसुरी-सम्पत्ति, तीर्थ, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, तप, संयम, सेवा, आश्रमधर्म, वर्णधर्म, स्त्रीधर्म, सामान्यधर्म, राज्यधर्म, प्रजाधर्म, जाति, देश, काल, समय, सम्बन्ध, परिस्थिति आदिको लेकर अवश्य कर्तव्य-कर्म आदि-आदि विषयोंका गूढ़ आशयसहित विचित्र ढंगसे वर्णन हुआ है । साधारण रीतिसे देखनेपर परस्पर बड़ा विरोध-सा माॡम देता है, जिनका हम-जैसे साधारण मनुष्योंके द्वारा तो समाधान करना भी कठिन हो जाता है; क्योंकि जब जहाँ जिस तीर्थ, व्रत आदिकी महिमा वर्णन करने लगते हैं तो उसीको सर्वोपरि बतला दिया जाता है । जैसे—श्रीगङ्गाजीकी महिमा कही तो कहा—इसके समान न सरयू है, न तो पुष्कर है, न यमुना है, न तीर्थराज प्रयाग ही है; और तीर्थराजका वर्णन करने लगे तो कहा कि इसके समान और कोई तीर्थ है ही नहीं, एक यही सम्पूर्ण तीर्थोंका राजा है । काशी-माहात्म्यमें आया है कि इस मोक्षदायिनी पुरीके समान तीर्थ इस त्रिलोकीमें कोई नहीं है; क्योंकि यह भगवान् शङ्करके त्रिशूलपर बसी हुई है । ऐसे ही कार्तिक-माहात्म्य, वैशाख-माहात्म्य, मार्गशीर्ष-माहात्म्य तथा एकादशी आदि व्रतोंके विषयमें भी कथन है । कहीं-कहीं ऐसा कहा है कि तीर्थयात्राका फल साधारण है, व्रतका विशेष; व्रतसे इन्द्रियसंयमका और इन्द्रियसंयमसे भजन—भगवच्चिन्तनका और अधिक एवं भगवत्प्रेमका उससे भी अत्यधिक है ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

आदि-आदि ।

इसका समाधान मेरी धारणामें यह है कि पूर्वका वर्णन निष्ठाकी दृष्टिसे है और दूसरा वर्णन वस्तु-तत्त्व-दृष्टिसे है । अतः इसमें कोई विरोध नहीं है । निष्ठाका तात्पर्य है—एक मनुष्यविशेषकी किसी इष्टपर हृदयकी दृढ़ धारणा । उस धारणाको अत्यधिक दृढ़ करनेके लिये ही पहला वर्णन है । इससे हृदय-प्रधान साधककी वृत्ति सब ओरसे हटकर एक इष्टमें लग जाती है और उसीमें सर्वोपरि अनन्य भावना हो जाती है; ऐसा होनेसे जब सर्वोपरि परमात्मा प्रकट हो जाते हैं, तब या तो उसे सब यथार्थ तत्त्व भगवान् समझा देते हैं या उसके स्वयं समझमें आ जाता है ।

कहा भी है—

आदि अन्त जन अनन्दके सारे कारज सोय ।
जँहि जिव उर नहचो धरै तँहि ढिग परगट होय ॥

फिर उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता । वह कृतकृत्य हो जाता है । दूसरे प्रकारका वर्णन बुद्धिप्रधान तर्कशील मनुष्योंके लिये है । उसपर विश्वास करके चलनेवाला क्रमशः एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे साधनद्वारा यथार्थ स्थितिमें पहुँच जायगा ।

यदि तारतम्यताके विवेकद्वारा निःसन्दिग्ध होकर तेजीसे चलता रहेगा तो वह क्रमशः श्रेणियोंको पार करता हुआ उस पार पहुँचकर सदाके लिये कृतकृत्य हो जायगा ।

सिद्धान्ततः बात यह है कि श्रीपरमात्मा एक हैं, वे ही अनेक जगह अनेक नामोंसे कहे गये हैं । वे अनेक जगह अनेक रूपोंमें रहते हुए भी हरेक जगह पूर्णरूपसे ही विराजमान हैं । जो उनको जिस भावसे, जिस रूपमें, जिस प्रकार चाहता है, वह वैसे ही उनको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वे भी उसे वैसे ही चाहते हैं । उनकी यह घोषणा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

अतः कोई चाहे किसी भी रीतिसे उनको भजे, यदि आजतक किसीने भी जिस प्रकारसे उपासना न की हो, ऐसे किसी नये ढंगकी उपासना भी कोई करे, तो भी प्रेमकी पूर्णता होनेपर उसे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य होगी; क्योंकि वह एकमात्र अपने प्रियतम परमात्माको चाहता है । उनके लिये जो कनक, कामिनी, आराम, मान, सत्कार, कीर्ति आदि लोक और परलोककी भोग-सामग्रियोंका त्याग करता है, किसी भी नाशवान् पदार्थको नहीं चाहता, सच्ची हार्दिक लगनसे सर्वोत्तम परम पुरुष पुरुषोत्तम भगवान्को चाहता है, ऐसे साधकसे विना मिले वे कैसे रह सकते हैं ।

कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस तत्त्वको मनुष्य सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि, सर्वथा पूर्ण ईमानदारीके साथ मानता है, उसका वह चाहे कैसा भी नाम-रूप क्यों न मानता हो, चाहे किसी भी प्रकार विशेषसे उसकी सेवा, पूजा, उपासना क्यों न करता हो, भगवान् उसको अपनी ही उपासना, सेवा और पूजा मानते हैं; क्योंकि सर्वोपरि तत्त्व एक है और वही भगवान् हैं । साधककी समझमें भूल हो सकती है परंतु भगवान्के यहाँ तो भूल नहीं होती । वे एकमात्र भावको ही देखते हैं । अतः श्रद्धालु साधकोंको चाहिये कि भगवान्के किसी भी रूप और नामपर पूर्ण विश्वास करके अनन्य प्रेमपूर्वक उनका स्मरण करता रहे, किसी भी अवस्थामें उनको भूले नहीं ।

* * *

विकासके पथपर

(लेखक—स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजी)

विचार ही परम शक्ति है । मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही हो जाता है । विचार ही घनीभूत होकर वस्तुका रूप धारण कर लेता है । विचार बीज है तो वस्तु वृक्ष । सचमुच, विचारकी शक्ति अपरिमित है, अजेय है और अव्यर्थ है । उस आदिपुरुषने विश्वका सङ्कल्प किया तो उन्हींकी स्वरूपभूता सङ्कल्पशक्ति घनीभूत होकर विश्वरूपमें प्रकट हो गयी । विश्व उसीके विचारका ही तो परिणाम है । मनुष्य उसी जगत्कर्ता आदिपुरुषका अंश होनेसे स्वयं भी उसी विधाताकी सर्वशक्तिमत्ताका भागीदार है । दीर्घकालकी साधनाके द्वारा अपने वशमें किये हुए विचारसे वह अपनी इच्छित वस्तुको प्राप्त कर लेता है । यदि वह दृढतापूर्वक अपने मनको इस विचारमें ठहरा सके कि मैं सुखी हूँ, तो वह देर-सबेर वैसा ही हो जाता है । दृश्य और अदृश्य प्रकृतिकी सारी शक्तियाँ उसके दृढ सङ्कल्पके अनुसार कार्य करनेको विवश हो जाती हैं । यदि उसके इस तरहके विचारमें दृढ भावना हो जाय कि मैं दुखी हूँ, तो बस, वह वैसा ही होने लगेगा । उसके मूल विचारमें परिवर्तन किये बिना कोई शक्ति उसे सुखी नहीं कर सकती । यदि वह प्रेम, दया आदि दैवी गुणोंका चिन्तन करता रहे तो तद्रूप हो जायगा । वह प्रेमकी प्रतिमा और दयाका स्रोत बन जायगा । इसके विरुद्ध यदि वह घृणा, द्वेष आदि तामसिक विचारोंको अपने मनमें स्थान देगा और उन्हें

वहाँ अङ्कुरित, पल्लवित और पुष्पित होने देगा तो वैसा ही फल भी लगने लगेगा । घृणा और द्वेषसे केवल उसका मन ही कलुषित नहीं हो जायगा—बल्कि उसके शरीरके परमाणु भी तद्रूप हो जायँगे; उसकी अशोभन मुखाकृतिको लोग न देखना ही पसंद करेंगे, यहाँतक कि उसके आस-पासका वातावरण भी द्वेष और घृणासे भर जायगा । जो कोई भी उसके सम्पर्कमें आयेगा, उसका दम घुटने लगेगा, उसकी प्रसन्नतामें कुठार-सा लगने लगेगा । इसी प्रकार जो कोई उस सौन्दर्य-माधुर्य-धाम प्रभुका ही बार-बार चिन्तन करता रहेगा, वह स्वयं उसी सौन्दर्य-माधुर्यधाम प्रभुसे एकीभूत होकर उसीमें लीन हो जायगा । सदा विषय-चिन्तन करनेवालेकी मनोवृत्ति विषयाकार होकर उसे विषय-कीट बना देगी । बस, जैसा सोचोगे, वैसे ही बन जाओगे । इतनी बड़ी शक्तिका सदुपयोग या दुरुपयोग कर अपनेको बनाना या बिगाड़ना तुम्हारे ही अपने हाथोंमें है ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
(गीता ६ । ५)

अब विचारनेकी बात यह है कि इतनी बड़ी शक्तिको हम किस प्रकार एकत्रित करके अपने काबूमें करें और किस प्रकार विपरीत दिशामें उसका दुरुपयोग न कर आत्म-कल्याणके लिये उसे काममें लायें, मानव-जीवनके परम लक्ष्यको प्राप्तकर सब प्रकारके दुःखोंसे छुटकारा पा जायँ । इसका एकमात्र साधन है दैवी सम्पदाका विकास, यम-नियमका पालन । कारण, दैवीसम्पदा ही बहिर्मुख होकर अनेक दिशाओंमें बिखरी हुई हमारी विचार-शक्तिको बटोरकर पुनः हमारा सम्बन्ध उस आदिपुरुषके अनन्त शक्ति-भण्डारसे कर देती है जब कि विपथगामी आसुरीसम्पदा हमारे मनको चञ्चल और विक्षिप्त करके उस शक्तिका ह्रास कर देती है, जिससे उस शक्ति-भण्डारसे हमारा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । दैवीसम्पदाके मूल वही सर्वशक्तिमान् प्रभु हैं । वह सीधे उन्हींसे उतरती है और उन्हींसे पोषण पाती है । थोड़ी-सी भी दैवीसम्पदा अभ्याससे क्रमशः बढ़ती हुई अन्तमें उन्हींकी अनन्त शक्तिमें जाकर अनन्त हो जाती है । दैवीसम्पदासे ही मन स्थिर और समाहित होने लगता है । दैवीसम्पदा मनुष्यको असत्‌से सत्‌की ओर ले जाती है । वह उसके अन्तःकरणको विशुद्ध करती हुई उसके हृदयके दिव्य धामका मार्ग साफ करती जाती है, जिससे उसकी प्रगति प्रकाशकी ओर होने लगती है और वह रहस्यमयी दैवी-शक्तियोंका अनुभव करते हुए उनका सहयोग प्राप्त करने लगता है । क्रमशः स्थिर और गम्भीर होता हुआ मनकी लोकोत्तर शक्तिको अधिगत करके वह एक विलक्षण सुखका अनुभव करने लगता है । जिसके लिये गीतामें कहा गया है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्‌बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
(६ । २१)

इतनी बड़ी शक्तिका स्वामी होते हुए उसके लिये अब असम्भव क्या रह जायगा ?

अवश्य ही इतनी बड़ी शक्तिका विकास करनेके लिये सच्ची लगनके साथ दीर्घकालतक अभ्यास करना पड़ता है । विचार-शक्तिके इस रहस्यको जान लेनेपर भी मन अपनी पुरानी कुचालोंके अभ्यासवश साधकको अनेक बार परास्त-सा कर देता है । बहिर्मुख होता हुआ विषय-लोलुप मन अपने प्रचण्ड वेगसे संयमके बाँधको पुनः-पुनः तोड़कर साधकके आशा-विश्वासको डावाँडोल कर देता है । बहुधा उसके मन और शरीरपर अप्रत्याशित अन्धकारकी शक्तियोंके तीव्र आक्रमण होने लगते हैं । वह अपनी पुरानी स्थितिसे भी गया-गुजरा मालूम पड़ने लगता है । यहाँपर यदि उसके पास सजीव भगवद्‌विश्वासका परम संबल न हो तो उसके पथ-भ्रष्ट होते देर नहीं लगती । महर्षि शाण्डिल्यने करुणाशक्तिको ही श्रीभगवान्‌की विशेष शक्ति कहा

है । अनन्त करुणाके भण्डार प्रभुकी यह करुणाशक्ति ही साधककी मा-बाप बनकर, उसे पथ-भ्रष्ट होनेसे बचा लेती है । यह ठीक है कि उसे नाना प्रकारके शारीरिक-मानसिक कष्टोंका सामना करना पड़े, पर श्रीभगवान्की अहैतुकी कृपासे उसका पतन नहीं हो सकता । इतने विघ्नोंके होनेपर भी वह एक दिन किनारे लग जायगा, और किनारे लग जायगा अपनेको परम शक्ति परम आनन्द-स्वरूप प्रभुसे अभिन्न अनुभव करते हुए ! सच्ची लगनके साथ सुदीर्घकालतक अभ्यास करनेवाले साधककी साधनाका यही सुन्दर अवश्यम्भावी परिणाम होगा ।

पर कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि वर्तमान कालमें हमलोगोंका अनन्त शक्तिदायिनी परम सुखकी जननी इस दैवीसम्पदापर—सत्य, दया, अहिंसा, प्रेम, पर-सेवा आदि दैवी गुणोंपरसे विश्वास ही उठ गया है । यहाँतक पतन हो चुका है कि लोग अनीति-अत्याचारको ही सफलताकी कुंजी समझने लग गये हैं । और जिस धर्मको श्रीभगवान्ने अपना स्वरूप ही बताया है, उसे भी उसके दिव्य धामसे झूठ, कपट आदि असत् वृत्तियोंका पोषण करनेके लिये घसीट लाने लगे हैं ! बहुत-से धर्मात्मा कहलानेवाले लोगोंद्वारा भी इन्हीं आसुरी वृत्तियोंपर धर्मका सुनहला मुलम्मा चढ़ानेकी चेष्टा की जा रही है । हे नाथ ! इसका कितना भयङ्कर परिणाम होगा—सो समझमें नहीं आता । हमें मालूम नहीं कि बड़े वेगसे बहिर्मुख करती हुई ये आसुरी वृत्तियाँ ही हमें घोर अन्धकारकी ओर ले जा रही हैं और हमारी अक्षय बलरूपा विचार-शक्तिको छिन्न-भिन्न कर रही हैं । जिस विचारशक्तिके एकत्रित होकर घनीभूत होनेपर सारी सुख-शान्ति निर्भर करती है, उसके इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े कर देनेपर क्या हम कभी सुखी रह सकते हैं ! हमारी बुद्धिपर न जाने कितना बड़ा पर्दा पड़ गया है कि हम आसुरीसम्पदाको ही—अधर्मको ही धर्म मानने लग गये हैं । यह कितनी बड़ी आत्मवञ्चना है । अधर्मसे न आजतक किसीको सुख मिला है और न आगे मिलनेका है । अधर्म तो नित नये-नये मोहन रूप धारणकर हमारा सर्वनाश करनेवाला सदाका वैरी है । यही तो अनन्त शक्तिके भण्डार हमारे आत्माको विमोहित करके हमें निर्बल, दीन, हीन और कंगाल बना रहा है । हम अमृतके पुत्र (अमृतस्य पुत्राः) होते हुए भी जो मृत्युके कराल गालमें द्रुतगतिसे प्रवेश करते जा रहे हैं, सो इसी अधर्मके कारण । अनन्त करुणाके सागर प्रभो ! हमें पतनकी ओर ले जानेवाले, हमारे हृदयोंको दूषित-कलुषित करनेवाले इस अधर्मपरसे हमारा जड-मूलसे विश्वास उठ जाय । हम पुनः अपने सच्चे बन्धु धर्मकी शरण लें । हमारा प्रत्येक क्रिया-कलाप, हमारी प्रत्येक चेष्टा-प्रवृत्ति केवल सत्स्वरूप धर्मके लिये ही हो । हमारी यह धर्मप्राण भारतभूमि सत्य धर्मके प्रकाशसे ही सदा विश्वको आलोकित करती रहे ।

इच्छा

'प्रभो ! तेरी इच्छा पूर्ण हो । मेरी कोई इच्छा तेरी इच्छाके प्रतिकूल हो ही नहीं, यदि हो तो वह कभी पूरी न हो । तू ही मेरा सवस्व है, तू ही मेरी आत्मा है । मैं तेरा हूँ, तेरा ही हूँ, सदा तेरा ही रहूँगा ।'

सत्सङ्गमाला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गतवर्षके पृष्ठ १५७६ से आगे]

(९९) नित्य गीताका पाठ करो और नियमित पाठ करो। बिना किसी आडम्बरके सीधी और सरल भाषामें जीव परमपदको किस प्रकारसे प्राप्त कर सकता है—इसका सादा और सहज उपाय गीतामें बताया गया है। साधन करते समय क्यों अड़चन आती है, क्या अड़चन आती है, उसको किस प्रकार पार किया जाता है—ये सारी बातें बतायी गयी हैं। पहले क्या करना चाहिये और बादको क्या करना चाहिये—यह सब गीतामें बताया गया है। यदि तुम भक्तिके मार्गमें हो तो बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षणके आठ श्लोक हैं। उनमें बताये हुए लक्षणोंको अपनेमें उतारनेके लिये अभ्यास करो। और जबतक वे लक्षण तुममें न आवें, तबतक मैं भक्त हूँ, पार पा गया हूँ—इस प्रकार अभिमान करके साधनमें ढिलाई न आने दो। यदि तुम ज्ञानके मार्गमें हो तो तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके बीस लक्षण कहे गये हैं, उन्हें अपनेमें उतार लो। और वे जबतक पूरे-पूरे न उतर जायँ, तबतक अपने ज्ञानीपनका झूठा ढोंग न रचाओ। तुम्हें योगमार्गमें जाना हो तो छठे अध्यायमें कहे गये साधनके अनुसार मनको विचारशून्य बनानेका अभ्यास करो। दूसरे अध्यायमें कहे गये स्थितप्रज्ञके लक्षण और चौदहवें अध्यायमें बताये गये गुणातीतके लक्षण—यदि उस साधनपथमें हों तो; अपनेमें उतारो। इन सबका एक ही ध्येय है कि चित्तको जगत्‌से खींचकर भगवान्‌में जोड़ो, उसमें लीन कर दो। जिस प्रकार नदी सागरमें मिलकर सागररूप हो जाती है, उसी प्रकार चित्तको जगत्‌से खींचकर परमात्मामें मिलाकर एक कर देना चाहिये। ऐसा किये बिना छुटकारा नहीं है, आज करो या लाखों वर्षोंमें करो। जबतक यह नहीं होता, तबतक दुःख मिटनेवाला नहीं। भगवान्‌की भक्तिके बिना यह काम बननेवाला नहीं है। भगवान् मूर्तिमें ही हैं, ऐसी बात नहीं। वैकुण्ठमें ही हैं, ऐसा भी नहीं। वह जैसे मूर्तिमें हैं, वैकुण्ठमें हैं, वैसे ही सबके शरीरमें हैं। अतएव किसीका अपमान नहीं करना चाहिये। कड़वी वाणी मत बोलो, किसीको ठगो मत और यथाशक्ति दान-सम्मानसे सबकी पूजा करो। सबमें भगवान् हैं और वह सब भगवान्‌में है—यह सच्ची और अन्तिम साधना है। मूर्तिपूजा तो प्रारम्भिक रीति है। सबमें और सर्वत्र भगवान् हैं, इस प्रकार देखे और समझे बिना, लाखों उपायोंसे भी पूर्ण शान्ति नहीं मिल सकती। तुम जगत्‌की चिन्ता छोड़ दो। जगत्‌को तो भगवान् चलाता है और सब कुछ निश्चित है, हजारों और लाखों वर्षोंका भविष्य निश्चित है। तुम किसलिये चिन्ता, भय, उद्वेग और हाय-हाय कर रहे हो? चित्तको नित्य शान्त रक्खो। चित्तको नित्य प्रसन्न रक्खो। एक ही दृष्टिकोण रक्खो कि तुम्हारा चित्त शान्त और प्रसन्न है। निर्मल चित्तमें, शान्त चित्तमें, प्रसन्न चित्तमें भगवान्‌का दर्शन होता है।

(१००) फलकी इच्छा और कर्मकी आसक्तिका त्याग—इन दोनोंके लिये गीतामें विशेष आग्रह किया गया है। कर्म किये बिना मनुष्य रह नहीं सकता, इसलिये कर्म तो करना ही है। कर्म अर्थात् प्रकृतिके अनुसार नियत किया हुआ कर्म, धर्म-कर्म, परोपकार-कर्म आदि। कर्मफलकी इच्छाका त्याग और आसक्तिरहित होकर किया हुआ कर्म बन्धनकारक नहीं होता। उलटे मोक्षप्रद बनता है। इसलिये जितने बन सकें, उतने जीवनमें इस प्रकारके कर्म किये जाओ। ऐसे कर्ममें बहुत बल है। कर्म करके मान-प्रतिष्ठा और परलोकके सुखकी इच्छा करना अथवा उनकी प्राप्तिसे प्रसन्न होना—यह सब इच्छापूर्वक कर्म करनेके लक्षण हैं। फलकी इच्छाका और आसक्तिका त्याग हो चुका है या नहीं, इसे बहुत सूक्ष्मतासे विचार करके देखना चाहिये और भूल हो तो उसे सुधार लेना चाहिये।

(१०१) तुम्हें भगवान्‌ने धन दिया है? दिया है तो दान-पुण्य करो। लोकहितके काम करो। धनको परोपकारके लिये व्यय करने लगो। धन तो नित्य पूछता है कि 'मैं जाऊँ?' तुमने उसे जकड़ रक्खा है। वह जानेके लिये व्याकुल हो रहा है। तुम खर्च नहीं करोगे तो वह नजर चुराकर बाहर निकल जायगा। वह किसीके यहाँ

स्थिर नहीं रहा, तुम्हारे यहाँ भी रहनेवाला नहीं। तुम न खर्च करोगे तो तुम्हारे वारिस उस धनको शराब, जुआ, सट्टा, दुराचार और ऐशो-आराममें खर्च कर देंगे। इससे तुम्हें क्या फल मिलेगा, यह तुम विचारकर देखो। वैद्य-डाक्टर और वहममें जायगा। चोर-डाकुओं और आगकी भेंट होगा। व्यापार-धंधेमें घाटा लगेगा और चला जायगा। धन तो आता है जानेके लिये। इसलिये तुम अपने हाथोंसे उसे अच्छे कामोंमें खर्च करते रहो। यों करनेसे तुम्हारे पाप दूर होंगे। परिवारके लोगोंमें अच्छे संस्कार पड़ेंगे। तुम्हारे यहाँ सज्जनोंका आना-जाना होगा और परिवारमें अच्छे संस्कार पड़ेंगे। कुछ-न-कुछ निमित्त खड़ा करके धन सत्कर्ममें खर्च करते रहोगे तो तुमको और तुम्हारे परिवारको सुख होगा। धन खर्च करना भगवान्के लिये। कीर्तिके लिये न खर्च करना। कामनाके लिये न खर्च करना। एक ही क्रिया भावनाके भेदसे बिल्कुल दूसरा फल प्रदान करती है। कीर्तिके लिये खर्च किया हुआ धन कीर्ति दे सकता है और न भी दे सकता है। परन्तु वही धन भगवत्-प्रीत्यर्थ शुद्ध-भावसे खर्च किया जाय तो उससे भगवान् अवश्य प्रसन्न होते हैं। धन बरता दिया जाता है तो वह सुख देता है और गाड़कर रक्खा जाता है तो वह दुःख, क्लेश, कलह, अनाचार और मृत्युको उत्पन्न कर अन्तमें स्वयं भी चला जाता है। इसलिये धनका प्रतिदिन किसी-न-किसी रूपसे सदुपयोग करते रहो।

(१०२) कर्ममात्रका कर्ता तो चित्त ही है। उसमें पूर्वजन्मके या इस जन्मके जो संस्कार होते हैं, उन्हींके अनुसार वह कर्म करता है। पड़े हुए संस्कार फलित होते हैं। अच्छे सङ्गसे अच्छा संस्कार पड़ता है। बुरे सङ्गसे बुरा संस्कार पड़ता है। इसलिये सज्जनके सङ्गमें रहना चाहिये। दुर्जनके सङ्गमें कभी नहीं जाना चाहिये। दूसरोंको सुख मिले, जिसका ऐसा आचार-विचार हो, वह सज्जन है। दूसरोंको दुःख मिले, जिसका ऐसा आचार-विचार हो वह दुर्जन है। इस प्रकार समझकर सङ्ग करना चाहिये।

(१०३) तुम्हें सारे जगत्के शास्त्रोंका मूल बतलाता हूँ। आत्मा तो सबका चेतनस्वरूप है, नित्य है। अजर, अमर है। इसमें तो सब एकमत हैं। भेद इस प्रकार है—कोई कहता है कि जितनी देह हैं उतने ही आत्मा हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जितनी देह हैं, उतने चित्त तो हैं, पर आत्मा जो परमात्मा-स्वरूप है, वह तो सबमें एक ही है। यह झगड़ा है नन्हा-सा, पर हो गया है बड़ा। इसमें तुम मत पड़ो। एक-एक कदम चलकर मंजिल काटो। पीछे जो होगा सो देख लिया जायगा। जिसने आँखोंसे नहीं देखा, वह अनुमान करके कटता-मरता है। जिसने नजरसे देखा, उसने पूरा नहीं देखा। इसलिये वह अपने देखे हुएकी बात कहता है। और कहता है कि—दूसरा है ही नहीं। जो विवाद करता है वह अपूर्ण है। परमपदको पानेवाला झगड़ता नहीं, पर झगड़नेवालेको मार्ग दिखलाता है। जो जितना जानता है, उसीके अनुसार करता है, तो समझना चाहिये कि वह रास्ता काट रहा है। हम शरीर नहीं हैं, यह बात तो निश्चित है न? हम बुद्धि नहीं हैं, यह बात भी तो निश्चित है। अब, आत्मा एक है या अनेक—इसे पीछे देखा जायगा। परंतु जब शरीर, मन और बुद्धि हम नहीं हैं, तब उनके पीछे क्यों तने हुए जायँ। चित्त, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरको शान्त रक्खो, इनका निग्रह करो, इससे चित्त शान्त होगा। सारे विकारोंका शमन हो जायगा, सारी इच्छाएँ शान्त हो जायँगी। फिर पीछे जो होगा, अपने आप मालूम हो जायगा। इच्छाओंका शमन होनेसे मन और इन्द्रियाँ भोगकी ओर देखेंगी। मन भोग और वासनाके अधीन हो जायगा तो फिर जानकारीका क्या फल होगा? ऐसे लोगोंके लिये तो आत्मा और परमात्मा एक हैं या भिन्न, आत्मा एक है या अनेक, ये सारी बातें सन्निपातके बकवादके समान हैं।

मनके शान्त और भोग-वासनासे रहित हुए बिना अध्यात्मकी बातें करनेवाला केवल जीभका रस लेता है। जो पहले करना चाहिये उसे नहीं करता है। अपने गाँवसे दो सौ मील दूर दूसरे गाँवमें जानेवाला मनुष्य यदि एक पग भी आगे नहीं रखता, और उस गाँवके वर्णनमें दूसरेके साथ झगड़ता रहता है, तो वह उसगाँवके रास्तेमें गये बिना वहाँ कैसे पहुँचेगा। और जो रास्तेपर चलकर उस गाँवमें पहुँच गया और अपनी आँखों गाँवको देख लिया, उसे फिर गाँवके वर्णनके लिये दूसरेके साथ विवाद ही क्यों करना पड़ेगा। भाई! रास्ता पकड़ो, काममें लग जाओ। क्या करना है, इसे एक वाक्यमें बताता हूँ—ऐसा उपाय करो कि जिससे चित्त सदा शान्त—क्षोभरहित रहे। तुम्हारा, दूसरेका और सबका। तुम दूसरेके प्रति ऐसा कुछ भी न करो, जिससे

उसके चित्तमें क्षोभ हो। इसी प्रकार दूसरे जो कुछ करें, उससे अपने चित्तको क्षुब्ध न होने दो। दूसरोंके द्वारा जो अपने चित्तको क्षुब्ध नहीं होने देता और सदा शान्त चित्तसे प्राप्त कर्मको किये जाता है, वह अजेय योद्धा है। और जिसका चित्त दूसरोंसे क्षोभ पाता है, वह हारा हुआ है। जिसका चित्त दूसरोंसे पराभव पाता है, वह परतन्त्र है। जिसका चित्त दूसरोंसे पराभव नहीं पाता और निर्विकार तथा क्षोभरहित रहता है, वह स्वतन्त्र और सदा मुक्त है। पराभव पाया हुआ चित्त दूसरेके अधीन हो जाता है, उसीका नाम परतन्त्रता है। इसीको कहते हैं—'पराधीन सपने सुख नाहीं'। और अनेक विकारोंके प्राप्त होनेपर भी जिसका चित्त शान्त, समरस, क्षोभरहित, गम्भीर और निर्विकार रहता है, वही स्वतन्त्र है। वही सदा मुक्त है। कर्म, उपासना और ज्ञानका यही फल है। जिसका चित्त सदा निर्विकार और निर्विचार रहता है, वह धन्य है। सारे सद्गुणोंकी व्याख्या इसीमेंसे होती है। इसे सीखो, इसीके लिये प्रयत्न करो। इसकी प्राप्ति ही जीवन्मुक्ति है। वही परम सिद्धि, वही परमपदकी प्राप्ति है। यह कैसे मिलेगी? कर्तव्यके पालनसे, परमात्माकी भक्तिसे, सत्सङ्गसे, सत्य और सदाचारके सेवनसे तथा इच्छामात्रका त्याग करनेसे। धीरे-धीरे जैसे मंजिल कटेगी, वैसे ही शान्ति आती जायगी। जैसे-जैसे रास्ता कटेगा, वैसे-वैसे ध्येय समीप आता जायगा। वह अन्तमें एक दिन ध्येयको पा लेगा। धीरजसे लगे रहना चाहिये।

(१०४) फोटो खिंचवाते समय ठीक स्वस्थ होकर फोटोके काँचके सामने देखना पड़ता है। तभी फोटो ठीक आता है। हिलने-डुलनेसे फोटो ठीक नहीं आता। उसी प्रकार तुम एकाग्र चित्तसे जो कुछ देखोगे, जो सुनोगे, जो जानोगे, जो अनुभव करोगे, उसका संस्कार चित्तमें पड़ेगा। और जैसा संस्कार पड़ेगा, वैसी कामना जाग्रत् होगी। और उस कामनाको पोषण मिलनेपर वह फूले-फलेगी और बड़ी हो जायगी, तब वही मनको सुख-दुःख देनेवाली हो जायगी। इसलिये तुम जो कुछ सुनो, समझो, अनुभव करो, देखो—पहले विचार करके जान लो कि क्या वह तुम्हारे कल्याणके लिये ठीक है। जगत्‌में श्रेय और प्रेय—ये दो प्रकारके पदार्थ हैं। जो मन और इन्द्रियोंको तात्कालिक हर्ष प्रदान करे और परिणाममें दुःखप्रद हो, वह प्रेय कहलाता है। उसके संस्कार चित्तमें मत पड़ने दो। जिससे चित्तमें शान्ति हो, जो आत्माका कल्याण साधनेवाला हो और परिणाममें सुख, शान्ति और आनन्द प्रदान करनेवाला हो, वह श्रेय कहलाता है। उसके संस्कार चित्तपर पड़ने दो।

दूसरी बात यह है कि चित्तमें जिसका संस्कार पड़ेगा, उसकी कामना जाग्रत् होगी। ईश्वरकृत सृष्टि जैसे नदी, सरोवर, जंगल, पहाड़ आदिके दृश्य, आकाश, सागर, पेड़-पौधे आदिको देखनेसे उनके संस्कार मनको शान्त करते हैं और उसे ईश्वरकी ओर ले जाते हैं। इसलिये इनके संसर्गमें रहना चाहिये, और इसीसे साधु-संत इनका आश्रय लेते हैं। यदि चित्तको सांसारिक जीवोंकी सृष्टिके सम्पर्कमें आने दिया जायगा तो उसकी कामना जागेगी और वह दुःखमें ढकेल देगी। कल्याणकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे प्रपञ्चकी सृष्टिको जानी न-जानी, देखी-न देखी, सुनी-न सुनी कर दे। और सत्सङ्ग, हरिकथा एवं भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन रस लेते हुए करे। जैसा सङ्ग करोगे वैसे बनोगे। इसलिये सङ्ग देख-विचारकर करो। इसमें कल्याणकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि स्त्रीका सङ्ग तथा स्त्रीके सङ्गीका सङ्ग न करे। उसमें भी परस्त्रीका सङ्ग तो कभी भी न करे। कभी असावधान नहीं रहे। मनके भरोसेपर कभी नहीं रहे।

कबीरदासजी कहते हैं—

जहाँ जराई सुन्दरी तहँ जिन जाहु कबीर।
उड़ि भभूत अंगन लगे सूना करे सरीर॥

जब जलायी गयी स्त्रीकी राखकी यह दशा है, तब रसपूर्वक स्त्रीसंसर्गमें रहनेवाले मनकी क्या दशा होगी? इसलिये व्यवहारमें कभी परस्त्रीके सम्पर्कमें आना पड़े तो उसे मा, बहिन, लड़की—जैसे-शब्दोंद्वारा पुकारकर यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये।

(१०५) सारे ब्रह्माण्डमें परमात्मा एक ही है। वेष चाहे जो हो, पर अंदर तो एक ही है। स्थूल शरीर और चित्त भले ही जुदे-जुदे हों; परंतु उन सबके आधार तो सबके परमात्मा एक ही हैं। तुम चाहे जिस मूर्तिका पूजन-भजन करो, उसका रूप-शृंगार भले ही दूसरा हो, नाम भले ही दूसरा हो, पर सबमें परमात्मा तो एक ही हैं। और मूर्तिके रूपमें फल प्रदान करनेवाला वही चेतन परमात्मा है। सनातनधर्मका यही बड़ा रहस्य है। हनूमान्, भैरव, देवी, महादेव, विष्णु, रामकृष्ण, गणपति अथवा चाहे जिस नामके देवता हों, उनकी मूर्तियाँ

जुदी-जुदी होते हुए भी सबमें व्याप्त रहनेवाला परमात्मा एक ही है । अब चाहे तुम उस मूर्तिवाले देवताको भजो, चाहे मूर्तिके भीतर विराजमान उस परमात्माको भजो, जो सर्वशक्तिमान्, निरञ्जन, निराकार तथा सर्वव्यापक है। उसको भजोगे तो उसको पाओगे, नहीं तो, मूर्तिके उस देवताको प्राप्त करोगे जो अल्पशक्तिमान् है । जिसको भजोगे, उसीको पाओगे । पोस्ट आफिसमें पोस्टमास्टरको रुपये देकर पोस्ट आफिसकी सही तथा मुहर लगा लोगे तो वे रुपये पोस्ट आफिसमें तुम्हारे जमा होंगे। और पोस्ट आफिस उनकी देनदार होगी। परंतु यदि वही रुपये उसी पोस्टमास्टरको देकर तुम उसीकी व्यक्तिगत सही लोगे तो उन रुपयोंका देनदार वह मनुष्य होगा, जो अन्य है। उपासनामें मेहनत समान होती है परन्तु भावके भेदसे फलमें बड़ा भेद हो जाता है । इसलिये जो ठीक जान पड़े वही करो । विभिन्न देवोंको ग्रन्थोंमें जो भगवान् कहा गया है, उसका आशय यह है कि चेतन-सत्ता तो सबमें एक ही है । सबमें सत्ता तो परमात्माकी ही है। जिस प्रकार राज्यमें सिपाहीसे लेकर मन्त्रीतक सभी परिमित सत्तावाले होते हैं और वह सत्ता भी राजाकी ही सत्तासे होती है और राजा सर्वोपरि सत्तावाला होता है। उसी प्रकार देव, मनुष्य, अनेकों जीव अल्प सत्तावाले हैं और वह भी परम कृपालु परमात्माकी सत्तासे। सत्ता तो एक ही है और वह परमात्माकी सत्ता है । तब दूसरे बखेड़ोंको छोड़कर उसीको भजो न? एक राजाकी सेवा करनेवाला दूसरे राज्याधिकारियोंका तिरस्कार नहीं करता, उनके मानकी रक्षा करते हुए काम लेता है। उसी प्रकार तुम भी परम परमात्माका भजन करते हुए अन्य देवोंका तिरस्कार न करके उनका यथायोग्य सत्कार करो। उनका यथायोग्य पूजन-अर्चन करो, और ऐसा करते हुए यह न भूलो कि उनमें परमात्मा ही विराजता है और उनकी पूजा करते हुए तुम परमात्माकी ही पूजा करते हो, ऐसा मानो, जो सर्वथा सत्य है। सच्ची बात तो यह है कि एक ही परमात्माके अनेक वेष हैं । पर क्या वेष बदलनेसे व्यक्ति थोड़े-ही बदलता है? राजा यदि गरीबका वेष धारण करे तो अनजान आदमी उसके प्रति गरीब-जैसा व्यवहार करेगा, पर जो जानकार होगा वह तो भीतरसे राजाके प्रति जैसा, और बाहरसे गरीबके प्रति जैसा व्यवहार करेगा। क्योंकि यदि जानकार बाहरसे राजा-जैसा व्यवहार करेगा तो वह वेषको लजायेगा और सचमुच गरीबके प्रति जैसा व्यवहार करेगा तो मूर्ख कहलायेगा । वेषीको पहचानकर वेषके अनुसार सभ्य व्यवहार करनेमें जो सदा सावधान हो, उसीका नाम जीवन्मुक्त है । इस प्रकारके व्यवहारका नाम 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। यह कठिन है, पर निष्काम कर्मसे, निष्काम भक्तिसे और सत्सङ्गसे समयपर प्राप्त होता है।

(१०६) तुमने चौपड़ देखी है? चार आदमी खेलनेवाले होते हैं। दाव रखने और पासा पड़नेपर उसीके अनुसार गोटी चलानी पड़ती है । पासा फेंकता है खेलनेवाला; पर कितना पड़ेगा, यह उसके हाथकी बात नहीं । वह जो डालना चाहता है सो नहीं पड़ता और वह नहीं जीतता । चौपड़में चौबीस खाने एक ओर होते हैं । वैसे ही चारों ओर चलकर जीतना पड़ता है। यह सब बहुत कठिन है। खेलाड़ी ऊब जाता है तो भी उसका मन खेलको छोड़ना नहीं चाहता। इस खेलको देखनेवालेका मन इसे खेलनेके लिये ललचाता है, फिर खेलनेवाला इस खेलसे किस प्रकार छूटे? यदि वह छोड़कर खड़ा होता है तो दूसरे तीन बलपूर्वक उसे बैठा लेते हैं, उठने नहीं देते। इसी प्रकार जीवरूपी खिलाड़ी चौबीस तत्त्वके इस संसारमें चार प्रकारके जीवोंकी खानोंमें भ्रमण करता रहता है, छूटता नहीं; जीतता नहीं । छोड़ना चाहता है तो सगे-सम्बन्धी, स्नेहीरूपी दूसरे खिलाड़ी छूटने नहीं देते। सच तो यह है कि उसके पेटमें ही खेलके लिये रस रहता है। खेलमें रस न रहे, खेल दुःखरूप और नीरस लगे, पूरी तौरसे ऊब जाय और उठ खड़ा हो—इसका नाम है—वैराग्य, इसका नाम है—त्याग । जीव अपनी इच्छासे ही इस संसारके खेलको लिये बैठा है और चारों खानोंमें भटका करता है । इच्छाका त्याग किये बिना कोटि उपाय करनेसे मुक्ति नहीं होती । इच्छाका त्याग कब हो? जब वस्तु नीरस लगे । वस्तु नीरस कब लगे? जब वस्तुका सच्चा स्वरूप समझमें आवे, अर्थात् जब ज्ञान हो । ज्ञान कब हो? जब चित्त निर्मल हो। तब वस्तुका सच्चा स्वरूप समझमें आये । चित्त निर्मल कब हो? निष्कामकर्म, निष्काम भक्ति और सत्सङ्गका सेवन हो तब। जप, तप, दान, पुण्य, तीर्थ-सेवन—इनका निष्कामभावसे सेवन करनेपर सबका एक ही फल मिलता है और वह है चित्तशुद्धि । चित्तशुद्धिका फल है-विचार । विचारका फल है—ज्ञान । ज्ञानका फल है—इच्छामात्रका त्याग । भोगकी

इच्छामात्रका त्याग ही मुक्तिका सच्चा साधन है । जबतक जगत्के भोगोंमें रुचि है, तबतक मुक्ति दूर है, तबतक अज्ञान है—ऐसा समझना चाहिये । केवल वाद-विवाद और बातोंसे मोक्ष नहीं मिलता । झूठ, क्रोध और भोगेच्छाका त्याग करनेके लिये धीरजसे अभ्यास करो । रोज लगनसे अभ्यास करो । तुरंत फल नहीं मिलेगा, मेहनत करते-करते फल मिलेगा । सत्य और प्रिय वाणी बोलनेका अभ्यास करो । अनन्यभावसे भगवान्की शरण लो । भगवान्की भक्ति करो । भगवान् कहो, ब्रह्म कहो, परमात्मा कहो—चाहे जो नाम कहो—सत्, चित् और आनन्द स्वरूप एक ही वस्तु है । चित्त जिसको चाहेगा, उसे पायेगा । भोगोंके लिये उत्सुक होगा तो जन्म-मरणके द्वारा भोगोंको पायेगा । भगवान्के लिये उत्सुक होगा तो भगवान्को पायेगा । वस्तु यह है, जो ठीक लगे वह करो । बहुत-से ग्रन्थोंका सार यही है, शास्त्रोंका निचोड़ यही है । साधु-संतोंके अनुभव और उपदेशका सार यही है । करनेके लिये उतर पड़ो और भगवान्की कृपासे पार उतरो ।

(१०७) तुम जगत्की ओर देखो । जिधर देखोगे उधर आकाश दीख पड़ेगा । इसलिये यह जो दृश्य जगत् दिखलायी पड़ता है, वह सब आकाशमें है । क्योंकि जगत्के पदार्थोंके चारों ओर, और भीतर भी आकाश ही है । आकाशसे यह जगत् उत्पन्न होता है, आकाशमें रहता है और आकाशमें लय भी होता है । आकाशसे बाहर कहीं नहीं जाता । आकाशसे बाहर कोई जगह ही नहीं है । जहाँ कुछ दूसरा है वहीं आकाश है । और आकाशमें विभाग नहीं, आकाश अखण्ड है । पर यह आकाश तो जड है । आकाशसे परे परमात्मा है । जिससे परे कोई नहीं, वह परमात्मा है । जो सर्वत्र व्यापक, सबका नियन्ता है, सब कुछ जिसमेंसे उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा और जिसमें सब रहते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं, जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, वह परमात्मा है । उस परमात्मासे ही आकाशके साथ यह सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त होता है और लयको प्राप्त होता है । वह परमात्मा सर्वत्र है, सबमें है । अपने शरीरमें है, सबके शरीरमें है, सबके शरीरके बाहर और अंदर है । सारी विद्या, सारी शक्ति और सारे शास्त्र उसीमें हैं । इन्द्रियोंकी शक्ति, मनकी शक्ति, बुद्धिकी शक्ति, शरीरकी शक्ति, पदार्थ और उनकी विविध शक्तियाँ—ये सब उसीसे हैं । परमात्मासे ये सब किस प्रकारसे हुआ, किस प्रकार होता रहता है और कहाँ जाकर रुकेगा, यह कुछ भी जाना नहीं जा सकता; किसीने जाना नहीं । तुम इसके लिये व्यर्थ प्रयत्न मत करो । तुम इतना निश्चय समझो कि परमात्मा है, सर्वत्र है, तुममें है । उसकी निष्कामभावपूर्वक कर्मसे, उपासनासे और ज्ञानसे सेवा करो । उसके नामका खूब जप करो । निष्काम भावसे जप करते रहनेपर समय आनेपर चित्तका मैल धुल जायगा और चित्तमें परमात्माका ज्ञान होगा । उसी प्रकार, जैसे स्वच्छ दर्पणमें आकार स्पष्ट दीख पड़ता है ।

भगवान्का नाम जपनेवालेको चाहिये कि झूठ, चोरी, दुराचार, आलस्य, अभिमान, व्याकुलता, व्यसन और जुआका त्याग करके सदाचार और शान्तिपूर्वक अपने प्राप्त कर्मोंको निष्काम भावसे करता रहे । और मनको भगवान्में जोड़ दे । मन दूसरी ओर कहीं भी जाय तो वहाँसे पीछे मोड़कर भगवान्के रूपमें या उसके जपमें अथवा उसकी कथा सुननेमें लगावे । यों करते-करते जगत् और उसके भोग नीरस लगेंगे । मन शान्त होता जायगा । मनकी भगवान्में स्वाभाविक प्रीति होती जायगी । ऐसी अवस्थामें भी लगे रहोगे तो मन भगवान्में लीन हो जायगा, और उस समय भगवान्के सिवा तुम्हें दूसरी कोई वस्तु नहीं दीख पड़ेगी । मनका मरण, मनका परमात्मामें लीन होना—इसीका नाम मुक्ति है । मन जबतक जीता रहेगा, तबतक जन्म-मरण नहीं छूटेगा । जबतक मनमें इच्छाएँ रहेंगी, तबतक मन जीता रहेगा । मन इच्छाओंसे जीता है, इच्छाओंसे ही पुष्ट होता है, इच्छाओंके मरे बिना मुक्ति नहीं, सुख नहीं, शान्ति नहीं ।

(१०८) यह एक सौ आठ मणियोंकी सत्सङ्गमाला पूरी हो रही है । इसमें जो लिखा गया है, वह शास्त्रानुसार लिखा गया है । संतोंके उपदेशके अनुसार तथा अनुभवसे पक्का करके लिखा गया है । इसे पढ़ो, विचार करो और आचरणमें उतारो तो जरूर लाभ होगा । जागे बिना स्वप्नका दुःख नहीं मिटता । खाये बिना भूख नहीं मिटती । उसी प्रकार किये बिना कुछ होता नहीं । तुमको ही करना पड़ेगा । सारा संसार मनके अधीन है । किसी शस्त्रसे, बन्दूक या तोपसे, किसी मन्त्र या तन्त्रसे मन नहीं मरता । मन जबतक जीता है, तबतक संसार है । मनका मरना ही मुक्ति है । मनका जीना और मरना उसके अपने अधीन है । मन स्वतन्त्र है, बहुत बलवान् है । वह दूसरे किसीसे मरता नहीं । किसीके शाप या आशीर्वादसे मरता नहीं । देवोंके, सिद्धोंके और संतोंके आशीर्वादसे सम्पत्ति मिलती है, मुक्ति नहीं मिलती । मुक्ति आशीर्वादसे कभी नहीं मिलती । वह तो अपनी ही मेहनतसे मिलती है । दूसरे तो मार्ग बतलाते हैं । मार्गपर स्वयं चलकर लक्ष्यस्थानपर पहुँचना पड़ता है । चले बिना राह

नहीं कटती । मन अपने विचारसे ही शान्त होता है । मनमें विचार पैदा होता है निष्काम भक्तिसे । विचार होनेपर ज्ञान और वैराग्य होता है । जबतक भक्तिसे ज्ञान और वैराग्य न उत्पन्न हो, तबतक जानना चाहिये कि जो भक्ति हो रही है, वह सकाम भक्ति है । सकाम भक्ति या कोई भी सकाम कर्म जगत्की सम्पत्ति और कीर्ति प्रदान करता है । मतलब यह है कि माया प्रदान करता है । निष्काम ही वह विचार पैदा करता है, जो मोक्षका साधन है । मोक्षके लिये किसीकी आशा मत करो । निष्काम भक्ति, निष्काम पुण्य-कर्म, सदाचार, सत्य और मनकी शान्ति—इनका सेवन करते जाओ । इनमें लगे रहो । पहले मार्ग लंबा और कठिन जान पड़ेगा । पर जब तुम उसे आचरणमें लाने लगोगे और उसमें रस मिलेगा, तब वह छोटा और सरल मार्ग जान पड़ेगा । तुममें, मुझमें और सबमें एक ही परमात्मा है । तुम, मैं और सब परमात्मा-स्वरूप ही हैं । अन्तमें तो ऐसा लगेगा कि यह सब परमात्मामें ही भासित हो रहा है । सिनेमाके परदेके ऊपर बोलती-चालती सारी सृष्टि दीख पड़ती है । उसी प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड अस्खलित परमात्मामें भासित हो रहा है । यह मिथ्या है, फिर भी निश्चित है । जिस प्रकार एक फिल्म बार-बार दिखलायी जाती है, उसी प्रकार यह बृहद् ब्रह्माण्ड बार-बार वैसे-का-वैसा दिखलायी देता रहता है । सिनेमा-सृष्टि मिथ्या है । वहाँ परदेके सिवा कुछ नहीं रहता । उसी प्रकार यहाँ परमात्माके सिवा कुछ नहीं दिखलायी देता है; परंतु आत्मदृष्टिसे मिथ्या है । सिनेमावाले फोटो लेकर फिल्म बनाते हैं । भगवान्ने बिना फोटोके ही यह फिल्म बना ली है । यह उनकी विशेषता है । परमात्मा ही सत्यस्वरूप है और तुम्हारा जो असली स्वरूप है, वही परमात्मा है, यह निश्चय है । मतलब यह कि परमात्माके सिवा जो कुछ भासित होता है, वह परमात्माके द्वारा, परमात्मामें और परमात्माकी शक्तिसे दिखलायी देता है और है मिथ्या । मन जैसे-जैसे यह समझता जायगा वैसे-वैसे उसको शान्त मिलती जायगी । लकड़ीका बनावटी रूप-रंगवाला नीरस आम है । उसे जान लेनेके बाद कौन उसको खानेकी इच्छा करेगा ? संसारके पदार्थ बनावटी आमके समान हैं । बनावटी आममें जैसे रस नहीं होता, उसी प्रकार संसारके जो प्राणी-पदार्थ हैं, उनमें आनन्द नहीं । अखण्ड आनन्द, अखण्ड सुख तो परमात्मामें ही है, और वही तुम्हारा सच्चा स्वरूप है ।

नैतिक अर्थशास्त्रकी आवश्यकता *

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

भारतको स्वाधीन हुए तीन वर्ष हो गये, पर कितने आदमियोंको इससे वास्तविक लाभ हुआ है । साधारण व्यक्तिके लिये 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' एक समझमें न आनेवाला वाक्यसमूह है । राष्ट्रपतिके अधिकार क्या हैं, प्रधान मन्त्रीकी सत्ता क्या है और स्वायत्तशासी राज्य क्या होता है—ऐसी बातोंमें

---

* सम्मान्य श्रीकेलाजीने इस लेखमें बहुत ही अच्छी बात कही है । नैतिकताहीन अर्थवादने हमको आज इतना नीचे गिरा दिया है कि हम आज अपने ही हाथों अपना विनाश करनेमें लगे हैं ! यह नैतिकता ही दूसरे शब्दोंमें धार्मिकता है । हमारे यहाँ धर्मसे नीति पृथक् नहीं है । जब मनुष्य बुरे कामको बुरा समझकर उससे घृणा करेगा, एकान्तमें भी जिसे करनेमें डरेगा, जिसका मनमें आना भी उसे पतनका चिह्न मालूम होगा, तभी वह उस बुरे कामसे बचेगा । कानूनसे बुराई सर्वथा दूर नहीं होती । कानून मनवानेवाले और माननेवाले जब मिलकर कानूनविरोधी कार्य करते हैं, तब कानून किताबोंमें रह जाता है । गीतामें भगवान्ने बतलाया है कि जब मनुष्य केवल कामोपभोग-परायण हो जाता है, तब वह असुर बन जाता है; फिर वह बुराईको ही भलाई समझता है और मनमें गौरव मानकर बुराईपर उतर जाता है । इसी बुराईसे बचनेके लिये धर्मकी आवश्यकता है । मानव जब अपने मानव-धर्मको ही छोड़ देता है, तब उसका असुर, पिशाच और क्रूर पशु होना निश्चित है । पशु उतनी बुराई नहीं कर सकता, जितनी बुराई मनुष्यके द्वारा उसका बुद्धिकौशल बुराईके सम्पादनमें लगनेपर होती है । सदियोंसे परतन्त्र भूखे-नंगे भारतके पास आध्यात्मिकताकी—प्रभु-विश्वासकी यह एक ही ऐसी ज्योति थी, जो उसे प्राणिमात्रमें भगवान्के या अपनी आत्माके

उसे कोई रस नहीं होता—जैसे उसे यूनानी, लातीनी या अन्य विदेशी भाषामें होनेवाली बातचीतमें कोई आनन्द नहीं आता । भारतकी अधिकांश जनता किसानों और मजदूरोंकी है और दीन-दुखी तथा दरिद्र लोगोंकी है । उनके लिये स्वराज्यका अर्थ केवल रोटी-कपड़ा है और हमारा शासन उन्हें उनकी यह प्राथमिक आवश्यकताकी वस्तुएँ नहीं देता तो फिर उन्हें कैसे अनुभव हो कि भारतमें स्वाधीनताका नया युग आ गया है ।

यहाँ स्थिति यह है कि अकाल, महँगाई, भूखमरी आदिके मारे आदमी परेशान हैं । समय-समयपर आत्महत्याकी घटनाएँ सामने आती हैं और जो सामने आती हैं, उनसे ही देशकी सब पीड़ा व्यक्त नहीं होती । अनेक व्यक्ति आर्थिक आवश्यकताओंके अभावमें मर रहे हैं, या उससे भी बढ़कर चिन्तनीय अवस्थामें किसी तरह अपना जीवन काट रहे हैं । भारतीय राष्ट्रकी इस दुर्दशाके कुछ कारण तो ऐसे हैं, जो विशेष परिस्थितियोंसे पैदा हो गये हैं, उनपर सहसा काबू पाना हमारे वशकी बात नहीं है । धीरे-धीरे उनका सुधार होगा । परंतु कुछ कारण तो स्पष्टरूपसे ऐसे हैं, जो हमारे आदमियोंने, अपने-आपको भारत-सन्तान कहनेवालोंने पैदा किये हैं । हमें विशेष लज्जा आती है तो इसी बातपर कि हमारे भाई ही मिलावट, चोरबाजारी, मुनाफेखोरी और घूसखोरी करके देशका संकट बढ़ा रहे हैं । जो देश ऊँचे धर्म और संस्कृतिका अभिमान करनेवाला हो, जहाँ विश्व-बन्धुत्व, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या मनुष्यमात्रसे ही भ्रातृभाव नहीं, प्राणिमात्रके हित 'सर्वभूतहिते रतः' की बात कही जाती हो, जहाँकि आदमी पशु-पक्षियोंतकपर दया दिखाते हों, और दान-पुण्य, सदावर्त आदिके लिये इतने प्रसिद्ध हों—उस देशमें आदमी इतना लोभी और स्वार्थी बन जाय कि अपने लाभके लिये अपने भाई-बहनोंकी हत्यासे भी बड़ा कुकृत्य करे !

इसमें कोई रहस्य नहीं है कि जो व्यक्ति खाने-पीनेकी चीजोंमें मिलावट करता है, वह अनेक आदमियोंको रोगी बनाता है; यहाँतक कि कितने ही आदमी तो मिलावटवाले अशुद्ध पदार्थोंके सेवनसे ऐसे बीमार हो जाते हैं कि उन्हें बहुत दिनोंतक घोर कष्ट पाना पड़ता है और वे घुल-घुलकर बुरी तरह मरते हैं । क्या खाद्यपदार्थोंमें मिलावट करनेका यह काम हत्यासे भी अधिक क्रूर नहीं है ? हत्यामें तो आदमी एकदम कष्टसे मुक्त हो जाता है, और इसमें तो धीरे-धीरे तड़प-तड़पकर मरना होता है । इसी प्रकार जो लोग चोरबाजारी या बेढब मुनाफाखोरी करते हैं, वे कितने आदमियोंको भूखा-नंगा रखने और तरह-तरहसे दुखी बनानेके जिम्मेवार हैं । कुछ समय पहले पण्डित जवाहरलाल नेहरूने कहा था कि उनका वश चले तो वे चोरबाजारियोंको खुले-आम फाँसी दे दें । उनकी

दर्शन कराती थी । जिसके कारण वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति करता हुआ, 'सर्वभूतहित'में रत रहता था और स्वाभाविक ही 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ।' 'सब सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सभी कल्याणको देखें—प्राप्त करें और दुःखका हिस्सा किसीको न मिले ।' ऐसी नित्य प्रार्थना भगवान्से करता था । यही एक ऐसी वस्तु थी, जिससे उसका मस्तक ऊँचा था और वह जगत्को कुछ सिखानेका दावा करता था । आज उसी महान् निधिको खोने जाकर वह इतना पतित हो गया है कि किसीके कैसे भी दुःखकी परवा न करके केवल 'अर्थ' और 'अधिकार'के पीछे उन्मत्त है । 'त्याग' और 'कर्तव्य'को मानो भूल ही गया । यह बड़े ही दुःखकी बात है । मैं चाहता हूँ श्रीकेलाजीके इस लेखपर देशके सभी विचारशील पुरुष विचार करें और शीघ्र ही ऐसा उपाय करें जिससे हमारे पतनकी गति रुके और हम प्रभुपरायण होकर पुनः ऊँचे स्तरपर आवें ।

—सम्पादक

सरकारने ऐसा कुछ नहीं किया; शायद वह सोचती रही कि ये लोग अपने-आप ही सुधर जायँगे। पर जिन्हें एक बार चाट पड़ जाती है, वे जल्दी ही अपना रंग-ढंग नहीं सुधारते। धीरे-धीरे करके तीन वर्ष बीत गये। जनताके कष्टोंकी सीमा न रही, वे उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये। आखिर, अब राज्य-सहकारोंका ध्यान इस ओर गये बिना न रहा। बिहार-सरकारने लाखों गज धोती और कपड़ा तलाश किया और सैकड़ों चोर-व्यापारियोंको गिरफ्तार करके न्यायालय भेजा, कई करोड़पति और लखपति दण्ड पा चुके। यही दृश्य अन्नके सम्बन्धमें सामने आ गया। साथ ही यह भी सुना गया है कि बिहारमें जहाँ चोरबाजारी पकड़ी गयी वहाँ अधिकारियोंने भी खूब हाथ रँगे। इसलिये अपराधियोंके साथ निरपराधी भी पीसे गये और अपराधी सस्तेमें छूट गये। आशा है हमारी सरकार अब सावधान होगी तथा इस दिशामें आवश्यक कदम उठावेगी और चोर-व्यापारियोंके साथ अपने लोभी-लालची कर्मचारियों-पर भी कड़ी निगाह रक्खेगी। हमारा दृढ़ विश्वास है कि चोरबाजारीके काममें कुछ सरकारी कर्मचारियोंका किसी-न-किसी प्रकारका सहयोग अवश्य रहता है; यहाँतक कि यह कहा गया है कि चोरबाजारीकी नानी घूसखोरी है, अगर इस नानीको खतम कर दिया जाय तो चोरबाजारी हो ही नहीं सकती।

अस्तु, चोरबाजारी या घूसखोरी आदिको रोकनेके लिये सरकार जो कायदे-कानून बनाये और दण्ड-पद्धति जारी करे, उससे सर्वसाधारणकी सहानुभूति होना स्वाभाविक है; परंतु प्रश्न यह है कि क्या इन उपायोंसे यथेष्ट सफलता मिलेगी ? हमारा स्पष्ट मत है कि दमन और दण्ड-पद्धति तो व्याधिका ऊपरी इलाज है। जैसे फोड़ेका ऑपरेशन या चीरा-फाड़ी और मरहम-पट्टी होती है, इससे व्याधिका अन्त नहीं होता। कुछ फोड़े दूर होते हैं तो दूसरे निकलते रहते हैं; वे कुछ कम भले ही हो जायँ, उनका निकलना बंद नहीं होता। बात यह है कि चोर या 'व्यापारी' बड़ा चतुर होता है, वह आगे-पीछेकी सारी बात सोचकर काम करता है और गिरफ्तारी या दण्डकी आशंकासे सहसा अपना 'पेशा' बंद करनेवाला नहीं होता।

यथेष्ट सुधारके लिये हमें केवल चिकित्साकी ओर ध्यान न देकर रोगको जड़-मूलसे निवारण करनेकी ओर ध्यान देना चाहिये। वर्तमान वातावरणमें आदमी जल्दी-से-जल्दी और अधिक-से-अधिक धनवान् बन जाना चाहता है। हम चाहे जो भी धंधा करते हों, हमारा लक्ष्य यही रहता है। हाँ, कुछ धंधोंमें इसकी गुंजायश कम होती है और कुछमें अधिक। आवश्यकता यह है कि बाल्यावस्थासे ही लोगोंके मनमें अच्छे संस्कार डाले जायँ। आजकल घरोंमें माता-पिता अपनी सन्तानमें ऊँची भावना भरनेकी ओर प्रायः उपेक्षा ही करते हैं, इसलिये शिक्षकों और शिक्षा-संस्थाओंका दायित्व बहुत बढ़ गया है। बालक-बालिकाओंकी शिक्षा कैसी हो, यह बहुत जटिल विषय है। हमें यहाँ एक ही बातका उल्लेख करना है कि नैतिक शिक्षाकी ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाय और पाठ्यक्रममें नैतिक अर्थ-शास्त्रको समुचित स्थान मिले।

भारतमें अर्थशास्त्रका पठन-पाठन बढ़ता जा रहा है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि यह आधुनिक शिक्षाके विषयोंमें सम्मिलित है। पहले बहुत वर्षोंतक यह अंग्रेजीमें पढ़ाया जाता रहा। अब कुछ समयसे हिंदी तथा प्रान्तीय भाषाएँ शिक्षाकी माध्यम हो जानेसे यह विषय इंटरतक इन भाषाओंमें पढ़ाया जाने लगा है। इससे अब इन भाषाओंमें अर्थशास्त्रका साहित्य बढ़ता जा रहा है। आगे यह विषय स्कूलोंके पाठ्य-क्रममें शामिल किया जा रहा है और ऊपर बी० ए०

आदि उच्च कक्षाओंमें भी शिक्षाका माध्यम अंग्रेजी न रहकर भारतीय भाषाएँ होंगी। तब इस विषयका प्रचार और अधिक होना स्वाभाविक ही है। परंतु क्या यह कोई सन्तोष या गर्व करनेकी बात है? क्या इससे जनताका सुख बढ़नेकी आशा है? क्या इससे धोखाधड़ी, मिलावट, रिश्वतखोरी, चोरबाजारी और मुनाफेखोरी कम होंगी?

हमें इस तरहकी कोई आशा नहीं है। हमारा स्पष्ट मत है कि वर्तमान अर्थशास्त्र स्वार्थकी प्रवृत्ति बढ़ानेवाला है। यह पूँजीवादी है। यह सिखाता है कि हमारी आर्थिक क्रियाओंका उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ या मुनाफा है। हम कोई चीज बनावें, पैदा करें, खरीदें, या बेचें तो हमें ऐसे तरीके काममें लाने चाहिये कि हमें अधिक-से-अधिक लाभ हो। समाजके दूसरे आदमियोंको बेकार रहना पड़े, भूखों मरना पड़े या चाहे जो हो, हमें यथासम्भव कानूनसे बचते हुए अपने-आपको अधिक-से-अधिक धनवान् बनाना है। हमें अपने रहन-सहनका दर्जा बढ़ाना है, इसके लिये हमारी आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जायँ तो हमें कोई चिन्ता नहीं, हमें उनका नियन्त्रण करनेकी जरूरत नहीं। ज्यों-ज्यों हमारी आवश्यकताएँ बढ़ेंगी, हम उनकी पूर्तिका प्रयत्न करेंगे। जैसे भी होगा, हम अपनी आमदनी बढ़ायेंगे, हम नीतिका कोई बन्धन स्वीकार नहीं करेंगे। हम ईमानदार उसी सीमातक रहनेका विचार करते हैं, जहाँतक कानूनकी पकड़में नहीं आते। मनुष्यमें ऐसी भावनाएँ कुछ अंशमें स्वाभाविक ही होती हैं, फिर यह पूँजीवादी अर्थशास्त्र तो जलती आगमें घीका काम करता है। ऐसी दशामें मुनाफेखोरी और चोरबाजारी बढ़नेवाली ही ठहरी।

आवश्यकता है कि सरकार इस ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दे। लोकहितके लिये जनतन्त्री सरकारको ऐसा करना ही चाहिये, फिर भारतीय शासन-सूत्रधार तो अपने-आपको राष्ट्रपिता महात्मा गांधीके बताये मार्गपर चलनेका दम भरते हैं। ऐसी दशामें यहाँके प्रत्येक राज्यके शिक्षण-विभागोंका कर्तव्य है कि विद्यार्थियोंकी शिक्षामें नैतिक शिक्षाको यथेष्ट स्थान दें और जिन-जिन कक्षाओंमें अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता है, उनमें पूँजीवादी अर्थ-शास्त्रकी जगह नैतिक अर्थ-शास्त्रको दें, जिसका लक्ष्य स्वार्थवाद न होकर सर्वोदय हो। नैतिक अर्थ-शास्त्र बतायेगा कि हम असहाय, अनसमझ लोगोंका शोषण न करें। हम कोई माल बनावें या चीज पैदा करें तो उसकी आमदनीका बड़ा भाग अपने लिये न रखकर, उसमें लोकहितकी दृष्टिसे दूसरोंको यथेष्ट हिस्सा दें, व्यापारके नामपर हमें अपना जीवन-निर्वाह करनेका अधिकार है न कि धोखाधड़ी, मिलावट और बेहद मुनाफेखोरी या चोरबाजारीका। कानूनी प्रतिबन्ध हो या न हो, हमें कोई काम ऐसा कभी न करना चाहिये, जिसमें दूसरोंको गरीब बनाकर स्वयं धनवान् बननेकी बात हो।

अर्थशास्त्रके लेखकोंको भी चाहिये कि अबसे पूँजीवादी या स्वार्थवादी अर्थ-शास्त्रकी रचनामें न लगकर अपना समय और शक्ति नैतिक अर्थशास्त्रकी रचना और प्रचारमें लगाकर अपना जीवन सफल करें। अवश्य ही यह कार्य कठिन है और कम लाभदायक है, आरम्भमें तो यह घाटेका काम भी हो सकता है। पर आशा है कि भारतमाता सच्ची साहित्यसेवी संतानसे वञ्चित नहीं है और इस विषयमें शीघ्र ही अच्छी प्रगति होती नजर आयेगी।

* * *

भक्त-गाथा

विरक्त रामभक्त श्रीबनादासजी

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी एम्० एल० ए०)

भारतका यह सदा सौभाग्य रहा है कि सङ्कटकालमें उसके हारे हुए मनको प्रोत्साहन देने, प्रेरणा देनेके लिये महापुरुषोंने जन्म लेकर हमारा उपकार किया है। हमारा देश जो सैकड़ों वर्ष गुलाम रहकर भी अपनी भाषा, संस्कृति, भेष आदिकी रक्षा कर सका, इसका कारण इन महापुरुषोंकी तपस्या ही तो है ।

महात्मा श्रीबनादासजी भी एक ऐसे ही महापुरुष थे । इनका जन्म गोंडा जिलेमें लकड़मंडी-गोंडा सड़कपर नबाबगंजके पास ग्राम अशोकपुरमें हुआ था । इनके पिता बड़े सहृदय और भक्त पुरुष थे । एक महात्माने उनकी सेवासे प्रसन्न होकर उनको आशीर्वाद दिया था कि तुम्हारे घरमें महापुरुषका आविर्भाव होगा । श्री-श्रीबनादासजीकी माता भी सरलहृदया, साध्वी स्त्री थीं। इनका विवाह बरहज (देवरिया) के पास मोहरा॰ समोगर ग्रामके एक टोलेमें हुआ था ।

आरम्भमें घरकी गरीबीके कारण बनादासजी विशेष पढ़ न सके । साधारण अक्षर-ज्ञान ही उनको था । युवावस्थामें भिनगा राज्य (बहराइच) की सेनामें उन्होंने सिपाहीकी नौकरी की और तीस वर्षतक वे इस नौकरीमें रहे । इसी समय उनके इकलौते पुत्रका बारह वर्षकी आयुमें स्वर्गवास हो गया । वे मन:सान्त्वनाके लिये शवके साथ श्रीअयोध्याजी चले आये; परंतु बादको हमेशाके लिये विरक्त होकर विक्टोरिया पार्कके पश्चिम एक निश्चित स्थानपर बैठकर उन्होंने चौदह वर्षतक बड़ी कठोर तपस्या की । वे अयोध्याजीमें लगभग चालीस वर्ष रहे । इतने लंबे समयमें धनसंग्रहका तो कोई उपाय किया ही नहीं । कभी भिक्षा भी नहीं माँगी । वे कहते थे—

हे प्रभु ! नर वर जान हरीजे ।
दीन दुखी भूखे अपनहिको का उनकी पति लीजे ॥
सोवत जागत नहिं अघात जे कबहुँ न प्रीति पसीजे ।
पापिनि छुधा न मानिहि कबहूँ जाँचे नहिं जुग जीजे ॥
सरी गरी जुठननकी जूठन सोइ दया करि दीजे ।
जब लौ जियौं नाम रट लावों रहौं प्रेम रँग-भीजे ॥
जौ प्रभु मोहि सरन ते त्यागहु ऐसेहु घरें बगीजे ।
तौ अभागि मेरी बल भारी ता दिन अंत करीजे ॥
गरजो 'बना' करो हरि मरजी यह अरजी उर पीजे ।
असरन सरन परन है जुग जुग जाचक बिमुख न कीजे ॥

रीवाँनरेश महाराज श्रीरघुराजसिंहजी रामभक्त थे। एक बार जब वे श्रीअवध पधारे, तब यह सुनकर कि भवहरन-कुंजमें एक विरक्त महात्मा रहते हैं, वे श्रीबनादासजीके दर्शनके लिये गये । श्रीबनादासजी उस समय अपनी कुटियामें लेटे हुए थे । श्रीरघुराजसिंहजीके आनेकी खबर पाकर भी वह उठे नहीं । लेटे हुए ही करवट बदलकर उन्होंने उनकी ओर पीठ कर दी । इसमें रीवाँनरेशको अपमान माल्डम हुआ और वे चल दिये । रातमें उन्हें स्वप्न हुआ कि तुमने एक महात्माका निरादर किया है । रघुराजसिंहजी तुरंत बारह बजे रातको दर्शनके लिये महात्मा बनादासकी कुटीपर गये । महात्माजी निद्रामें थे । अतएव चार बजे प्रात:तक उन्हें वहाँ बैठना पड़ा। चार बजे नित्यक्रियाके अनन्तर दर्शन हुए । अपनी भूलके लिये रघुराजसिंहजीने क्षमा माँगी और दस हजारकी थैली देना चाहा । बनादासजीने स्वीकार नहीं किया और यह दोहा कहा—

जाँचब, जाब, जमाति, जर, जोरू, जाति, जमीन ।
जतन आठ ये जहर सम, बनादास तजि दीन ॥

अन्तमें श्रीरघुराजसिंहजीने उन रुपयोंसे भवहरन-कुञ्जमें महात्मा बनादासद्वारा दी हुई भूमिपर श्रीराम-मन्दिर बनवाया और पूजा-भोग-रागके लिये बीस रुपये मासिक वृत्ति लगा दी । आगे चलकर महात्माजीकी मृत्युके बाद आश्रमके अधिकारियोंकी असावधानतासे यह वृत्ति बंद हो गयी ।

बनादासजीने आजन्म किसीको सिर झुकाकर प्रणाम

नहीं किया। वे कहा करते थे कि अपना सिर तो मैंने भगवान्‌को अर्पण कर दिया है, दूसरेके सामने उसे झुकानेसे इष्टदेवकी अप्रतिष्ठा होती है।

'सिर दिया सरकारको सो और को कैसे नवै।'

उनको जगन्माता श्रीसीताजीका बड़ा भरोसा था। इसलिये उन्हें अपने खान-पान-आरामके लिये कोई फिक्र नहीं रहती थी। वे कहते थे—

भोजन सियको भेजो पैहौं।
रूखो सूखो खरो नकारो परम प्रेम ते खैहौं॥
जगत आस तजि भयो आपुको अब पर घर नहिं जैहौं।
'बनादास' किमि आस करै पर आपुको दास कहैहौं॥

बीमारीके समय भी औषधि-उपचारके लिये चिकित्सकोंकी शरण न लेकर वे सीता माताकी ही याद किया करते थे—

को तन ताप हरै सीता बिन।
बात सीत ज्वर जुरे जोर करि जानि अबल मोहि अति त्रासा इन।
बहु उपाय करिकै हारयौं हिय आपु सरिस सूझत कोउ नाहिन॥

इसी श्रद्धा-विश्वासका यह फल था कि अपने चालीस वर्षके अयोध्यावासमें इन्हें कभी भिक्षा माँगनेकी जरूरत ही नहीं पड़ी।

ये साधारण साक्षर थे। इस विषयमें स्वयं उनका कहना है—

काव्य-ग्रंथ नहिं कर छुयौं नहिं विद्या-अधिकार।
मति न ऊँचि गति अवरि नहिं उर प्रेरक सरकार॥

इतना होनेपर भी वे बड़े प्रतिभाशाली कवि रहे हैं। इनके चौसठ ग्रन्थोंका पता चला है। इनका एक ग्रन्थ उभय-प्रबोधक रामायण लखनऊके प्रसिद्ध नवलकिशोर प्रेसके संस्थापक श्रीमुंशी नवलकिशोरजीने महात्माजीसे आज्ञा प्राप्तकर अपने प्रेसमें छापा था, जो आज बाजारमें नहीं है। दूसरे सभी ग्रन्थ लिपिबद्ध हैं, मुद्रित नहीं हुए हैं। स्वर्गीय रायबहादुर श्रीहीरालालजीने इनके नामकी चर्चा खोज रिपोर्टमें की है और डाक्टर रामकुमार वर्माजीने भी इनके बारेमें अपने इतिहासमें लिखा है। इसके अतिरिक्त साहित्यके अन्य ग्रन्थोंमें इनकी चर्चा नहीं मिलती।

ये बहुत स्पष्ट वक्ता थे। ऐश-आराम, साधुताके नामपर नाना आडम्बर—इनसे ये दुखी रहा करते थे। इसलिये अपनी रचनाओंमें महात्मा कबीरदासकी तरह इन्होंने कड़े शब्दोंमें इसकी समालोचना की है—

दुनिया अन्न बिना मरि जावै, धनी भये मठधारी।
खायँ पेट भर करैं न कष्टा, सोवैं टाँग पसारी॥

× × × ×

तुलसी औ पजीरी औ फूलके हार दुआर दुआर लिहे जग धावैं।
उज्जर चाम औ चादरि देखिकै नीच तहैं रट पेट खलावैं॥
बेष बनाय महामुनिको सठ जीवत ही नहिं क्यों मरि जावैं।
'दास बना' किन जाय जगत्तमें नाहक साधुको नाम धरावैं॥

× × × ×

सोहदा गुंडा भाँड़ पतुरिया राँड़ साधु धन खाहीं।
हँसी मसखरी संत सभामें भजनकी चरचा नाहीं॥
बिरकत भजनानंद तपस्वी अन्न बिना मरि जाहीं।
'बनादास' यह रीति अवधकी ह्वै गै कलजुग माहीं॥

महात्माजीने आत्मानुभूति, भगवद्भक्ति तथा तद्विषयक संतोंके बारेमें जो अनुभव लिखे हैं, देखिये—वे कितने सही हैं। वे लिखते हैं—

अजब रँग अनुभौ बरसै लाग।
काम क्रोध मद आस बासना अर्क जवासहि झरसै लाग।
लोभ मोह परद्रोह-दोष दुख कलि कुचाल सब तरसै लाग॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीनि गुन विधि निषेध को गरसै लाग।
इन्द्री दमन अमन सब भाँतिहि अरुचि होन अब छरसै लाग॥
मन बुधि चित हंकार धूरि भे जग बेवहार सो जरसै लाग।
धीर विवेक बोध अनुरागहि ज्ञान विरागहि परसै लाग॥
छमा सील संतोष सुराई सांति सहज सुख सरसै लाग।
'दास बना' जपि नाम सो उपजा मुक्त करत नहिं अरसै लाग॥

× × × ×

त्रैलोक्को सुद्ध करि सकै छन एकमें,
रामकी भक्ति उर जाहि आवै।
नित्त निह्कचाम सेवंत राम पद सदा,
अखिल ब्रह्मांड सुख नाहिं भावै॥
रिद्धि औ सिद्धि अणिमादि तृन सम लखै,
सपनहूँ नाहिं कहुँ चित चलावै।
'बनादास' साधन अमित जोग अष्टांग
सब त्यागि यक नामसे लव लगावै॥

× × × ×

रहना एकांत सर्व वासनाको अंत किये,
सांत रस साने औ न खेद उतसाह है ।
धीर कुटी छाये जाल जटाको मुड़ाये,
मोह कोहको नसाये सदा बिना परवाह है ॥
उद्दिमको डारे मन मारे औ विचारे वेद,
हारे हंकसारे औ विचारे गुनगाह है ।
तरक तकरीरी औ जगीरी तीनि लोक,
'बना दास' आस फरक तौ फकीरी वाह वाह है ॥

अपने पूर्वकालके सिपाही-जीवनका प्रभाव उनके साहित्यपर भी पड़ा है । वह अपने-आपको भगवान्‌के भी सिपाही मानते थे । वे कहते थे—

हम तौ हैं रघुवीर सिपाही ।
निसिदिन राम-नाम रटिबेको और हुकुम हमरे सिर नाहीं ।

तपके पश्चात् भवहरन-कुंजमें ही, जहाँ महात्माजीका आश्रम था, बनादासजीने अपने इष्टदेवके साकाररूपका दर्शन तथा निराकाररूपका ज्ञान प्राप्त किया ।

अगुन सगुन दोउ रूपको, बोध किये दुहुँ वर्न ।
अब कछु संसय ना रही, बिन प्रयास भव तर्न ॥

× × × ×

हम तौ आतम राम हैं, सुद्ध सच्चिदानंद ।
सेये सीतारामके, छूटि गयो भव-फंद ॥

जिस अशोक वृक्षके नीचे महात्मा बनादासजीको ज्ञान लाभ हुआ था, वह श्रीअयोध्याजीमें विक्टोरिया पार्कके पश्चिमी किनारेपर आजतक मौजूद है ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय ।

सेवाकी सात आवश्यक बातें

सेवकमें जब ये सात बातें होती हैं, तब सेवा सर्वाङ्गसुन्दर तथा परम कल्याणकारिणी होती है—१. विश्वास, २. पवित्रता, ३. गौरव, ४. संयम, ५. शुश्रूषा, ६. प्रेम और ७. मधुर भाषण ।

इसका भाव यह है कि सेवकको अपने तथा अपने सेवाकार्यमें विश्वास होना चाहिये । विश्वास हुए बिना जो सेवा होगी, वह ऊपर-ऊपरसे होगी—दिखावामात्र होगी । सेवकके हृदयमें विशुद्ध सेवाका पवित्र भाव होना चाहिये, वह किसी बुरी वासना-कामनाको मनमें रखकर सेवा करेगा (जैसे इनको सेवासे सन्तुष्ट करके इनके द्वारा अमुक शत्रुको मरवाना है, आदि) तो सेवा अपवित्र हो जायगी और उसका फल अधःपतन होगा । जिसकी सेवा की जाय, उसमें गौरवबुद्धि—पूज्यबुद्धि होनी चाहिये । अपनेसे नीचा मानकर या केवल दयाका पात्र मानकर अहंकारपूर्ण हृदयसे जो सेवा होगी, उसमें सेव्यका असम्मान, अपमान और तिरस्कार होने लगेगा, जिससे उसके मनमें सेवकके प्रति सद्भाव नहीं रहेगा और ऐसी सेवाको वह अपने लिये दुःखकी वस्तु मानेगा । अतः सेवाका महत्त्व ही नष्ट हो जायगा । इसीलिये कहा गया है कि जिसकी सेवा की जाय, उसे भगवान् मानकर सेवा करे । सेवककी इन्द्रियाँ संयमित होनी चाहिये—मन-इन्द्रियोंका गुलाम सच्ची सेवा कभी नहीं कर सकेगा । जिसके मनमें बार-बार विषय-सेवनकी प्रबल लालसा होगी, वह सेवा क्या करेगा ? सेवकको सेवापरायण होना पड़ेगा । जो मनुष्य किसी सेवाको नीची मानकर उसे करनेमें हिचकेगा, वह सेवा कैसे करेगा । सेवकमें सेव्य तथा सेवाके प्रति प्रेम होना चाहिये । प्रेम होनेपर कोई भी सेवा भारी नहीं लगेगी तथा सेवा करते समय आनन्दकी अनुभूति होगी, जिससे नया-नया उत्साह मिलेगा । और साथ ही सेवकको मीठा बोलनेवाला होना चाहिये । कटुभाषी सेवककी सेवा मर्माहत करती है और मधुरभाषीको बड़ी प्रिय लगती है । मधुर भाषण स्वयं ही एक सेवा है ।

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(सङ्कलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)

१. मनुष्य-जीवनका परम और चरम लक्ष्य—उसका एकमात्र उद्देश्य 'भगवत्प्राप्ति' है। इस भगवत्प्राप्तिको ही मुक्ति, मोक्ष, बोध, निर्वाण, परमकल्याण, निःश्रेयस, अमृतत्व या परमपदकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति आदि कहते हैं।

२. भगवान् एक हैं—ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर, सच्चिदानन्द आदि उन्हींके नाम हैं। वे ही सगुण, निर्गुण, निराकार, साकार, जगद्रूप, जगदतीत, सर्वव्यापक, सबसे परे, सर्वगुणाश्रय, उच्च-नीच समस्त गुणस्वरूप, अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणगणसमुद्र, सर्वहेयगुणरहित, युगपत्सर्वविपरीतगुणाश्रय, भक्तवाञ्छाकल्पतरु, भृत्य-वत्सल, स्व-परविरहित, एक, अद्वितीय, नित्यचिन्मय ज्ञानस्वरूप हैं।

३. उन परमात्माकी या भगवान्की प्राप्ति वैराग्ययुक्त निष्काम भक्ति, वैराग्ययुक्त निष्कामकर्म और वैराग्ययुक्त वेदान्तप्रतिपादित ज्ञानसे होती है—विभिन्न अधिकारियोंको विभिन्न मार्गोंसे। वैराग्यके बिना निष्कामता नहीं आती।

४. वे परमात्मा अप्रमेय हैं—किसी भी साधनसे उनको नापा नहीं जा सकता। बतलाया नहीं जा सकता। तथापि जब सब कुछ उन्हींमें हैं, तब उनका जो कुछ भी स्वरूप बतलाया जाता है, वही यथार्थ है और साधकका उसीसे परम कल्याण हो सकता है। अतः परमात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें जो कुछ कहा जाता है, वह सभी बेठीक होनेपर भी सभी ठीक है।

५. परमात्माकी प्राप्ति 'यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं'—इस निषेधवृत्तिसे भी होती है और 'सब कुछ वही है, सब कुछ वही है'—इस ग्रहणवृत्तिसे भी।

६. सब कुछ परमात्मा हैं, परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, देश-काल-पात्र, भूत-भविष्य-वर्तमान, कर्म-स्वभाव-वस्तु सब वही हैं। जब सब कुछ वे हैं, तब मैं भी परमात्मा ही हूँ।

७. 'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (प्रज्ञान ब्रह्म है), 'अहमेवेदं सर्वम्' (मैं ही यह सब हूँ), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (विज्ञान और आनन्द ब्रह्म है)। यह सब परमात्माके स्वरूपका ही चिन्तन है।

८. परमात्माकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनमें ही साधना करनेपर होती है और यह पता नहीं कि हमारा मनुष्य-शरीर कब नष्ट हो जाय। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ इसका एक-एक क्षण परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप शुभ कर्ममें ही लगाना चाहिये।

९. वस्तुतः मानव वही है, जो अपने परम लक्ष्य परमात्माकी ओर चल पड़ा हो—भगवत्प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ हो गया हो।

१०. जो लोग जीवनका अमूल्य समय व्यर्थ चर्चा, व्यर्थ कार्य और व्यर्थ चिन्तनमें बिताते हैं, वे वस्तुतः बड़े अभागे हैं। मानव-जीवनमें अमूल्य समयके दुरुपयोगके समान कोई भी हानि नहीं है।

११. बुद्धिमान् वह है, जो किसीके द्वारा अपनी बुराई सुनकर उसपर नाराज होनेके बदले गहरी नजरसे अपने दोषोंको खोजने लगता है और मिलनेपर उन्हें दूर करनेमें लग जाता है। परंतु दूसरेकी बुराई देखने, ढूँढ़ने और वर्णन करनेमें कभी प्रवृत्त नहीं होता।

१२. निन्दा या बुराई करनेवालेका उपकार मानना चाहिये; क्योंकि वह तुमको सर्वथा दोषरहित और गुण-समूहसे सुसज्जित देखना चाहता है, इसीसे ढूँढ़-ढूँढ़कर तुम्हारे दोषोंको प्रकट करता है।

१३. किसीकी समालोचना नहीं करनी चाहिये;

परंतु कोई दूसरा तुम्हारी आलोचना करे तो उसका स्वागत करना चाहिये ।

१४. पाँच यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । अर्थात् मन-वाणी-शरीरसे किसीका अहित नहीं करना—किसीको दुःख न पहुँचाना; जैसा देखा-सुना-समझा हो, ठीक वैसा ही समझानेके लिये बोलना; दूसरेकी किसी भी वस्तुको न चुराना, न उसपर मन ही चलाना; आठ प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना और संग्रह न करना—कम-से-कम भोग-बुद्धिसे बिल्कुल नहीं ।

१५. पाँच नियम हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान । शुद्ध रहना, यथालाभमें सन्तुष्ट रहना, तपस्या करना, वेदाध्ययन—शास्त्रानुशीलन या भगवन्नामादिका जप-कीर्तन करना और भगवान्‌के शरण होना ।

१६. इनमें प्रधान यम है; क्योंकि यमके बिना नियमोंका दुरुपयोग भी हो सकता है । मनुष्य शरीरसे नहा-धोकर शुद्ध रहता है पर मनमें हिंसादि दोषोंका पालन-पोषण कर सकता है; सन्तुष्ट रहता है पर असत्यादि दोषोंमें उलझा रह सकता है; तप करता है पर दूसरोंके विनाशकी भावना रख सकता है; स्वाध्याय करता है पर लोभके वशमें रह सकता है; भगवान्‌के शरण होता है पर भोगोंकी प्राप्तिका मनोरथ कर सकता है । लेकिन जहाँ पाँचों 'यम' साथ हैं, वहाँ नियमोंका पालन सर्वथा निर्दोष होता है और उससे बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

१७. मनमें कभी विषाद, क्रूरता, व्यर्थ चिन्तन, उच्छृङ्खलता एवं अपवित्र विचारोंका प्रवाह नहीं आने देकर उसके द्वारा भगवच्चिन्तन करते हुए नित्य प्रसन्न, सौम्य, संयमयुक्त और शुद्ध विचारोंसे सम्पन्न रहना चाहिये ।

१८. वाणीसे घबराहट पैदा करनेवाले, असत्य, अप्रिय, अहितकर और परचर्चाके वचन नहीं बोलकर सदा शान्ति उत्पन्न करनेवाले सत्य, मधुर, हितकर और भगवत्सम्बन्धी वाक्योंका ही उच्चारण करना चाहिये ।

१९. शरीरके द्वारा किसीका अपमान-तिरस्कार, चोरी, जारी, हिंसा एवं अपवित्र आचरण न करके समस्त गुरुजनोंका तथा भगवद्बुद्धिसे प्राणिमात्रका सम्मान-सत्कार, परायी वस्तुका त्याग, ब्रह्मचर्यका सेवन, सबको सुख पहुँचाना तथा पवित्र आचरण करना चाहिये ।

२०. भगवान्‌के पवित्र नामका स्मरण-कीर्तन-जप सदा करते रहना चाहिये ।

२१. भगवन्नाममें अमोघ शक्ति है, उससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है ।

२२. भगवन्नामको कभी किसी भी मूल्यपर बेचना नहीं चाहिये—किसी भी वस्तुके बदलेमें उसे नहीं देना चाहिये ।

२३. भगवान्‌को भूलनेके समान न तो कोई दूसरा पाप है और न उससे बड़ी कोई हानि है । इसी प्रकार भगवान्‌का स्मरण करनेके समान न तो कोई दूसरा पुण्य है और न उससे बड़ा कोई लाभ है ।

२४. मनसे सदा भगवान्‌का ध्यान-चिन्तन और शरीरसे उनके श्रीविग्रहकी तथा उनके विश्वरूपकी सेवा तथा वाणीसे उनके नाम-गुण-लीलाका गान करना चाहिये।

२५. सेवा करके न तो अभिमान करना चाहिये, न अहसान जताना चाहिये, न बदला चाहना चाहिये और न अन्य किसी प्रकारके पुरस्कारकी ही आशा रखनी चाहिये—वरं सेवा करके उसे भूल जाना चाहिये।

२६. सेवा स्वीकार करनेवालेकी अपने ऊपर कृपा माननी चाहिये ।

२७. जिस सेवामें जरा भी स्वार्थकी भावना है, वह सेवा सेवा नहीं है ।

२८. जैसे अपने शरीरकी सेवा स्वाभाविक ही बड़ी तत्परतासे तथा बिना दिखावेके अपने सुखके लिये होती है, वैसे ही जो सेवा 'स्वान्तः सुखाय' होती है, वही यथार्थ, स्वाभाविक और सदा होती है ।

२९. भगवान्‌का नित्य-निरन्तर स्मरण करना चाहिये। स्मरण करते हुए ही सब काम करे। स्मरण मुख्य, अन्य सभी कार्य गौण।

३०. मनसे स्मरण न हो तो, जीभसे तो निरन्तर रटता ही रहे। हरि, राम, कृष्ण, गोविन्द, मुकुन्द, नारायण, शिव, दुर्गा आदि भगवान्‌के किसी भी नामका निरन्तर जीभसे उच्चारण होता रहे—ऐसा अभ्यास डालना चाहिये। इस अभ्यासके सिद्ध हो जानेपर जीभ निरन्तर भगवत्सेवामें लगी रहेगी और रातको जगनेपर या प्रातःकाल उठते ही जीभ नामका उच्चारण करती हुई ही मिलेगी, यह परम लाभ है।

३१. जिससे भी व्यवहार या बातचीत करनी हो—चाहे वह पुत्र हो, स्त्री हो, नौकर हो या भंगी-चमार कोई भी हो, पहले मन-ही-मन भगवान् समझकर उसे प्रणाम करे और इस बातको याद रखते हुए ही उसके तथा अपने वेषके अनुसार उसके साथ सुन्दर बर्ताव करे।

३२. आत्मा या भगवान्‌की दृष्टिसे किसीको अपनेसे छोटा न समझे, न कभी किसीके साथ कभी दुर्व्यवहार करे।

३३. किसी भी परधर्मका अपमान कभी न करे; परंतु अपने धर्मका पालन सदा अत्यन्त दृढ़ताके साथ करता रहे।

३४. धर्मपालनमें, भगवान्‌के नाम-कीर्तनादिमें, सदाचारमें, माता-पिता आदिको प्रणाम करनेमें और सत्यभाषणमें लज्जा करना पापके प्रति आत्मसमर्पण करना है।

३५. परदोषका न श्रवण करे, न कथन करे; परदोषमें प्रीति करे ही नहीं।

३६. सदा महात्मा पुरुषोंका सेवन करे, उनकी आज्ञाका पालन करे, उनकी रुचिका अनुसरण करे और उनकी अनुभूतिका आदर करे। वे यदि स्वीकार करें तो उनकी शरीरादिसे भी सेवा करे।

३७. संत और भगवन्नाम अपनी निज शक्तिसे पापी-तापीको तार देते हैं।

३८. प्रतिहिंसाकी भावनाका कभी पोषण न करे। तुम्हारा जो कुछ अनिष्ट हुआ है वह तुम्हारे अपने कर्मका ही फल है, दूसरा तो निमित्तमात्र है अतः वह दयाका पात्र है।

३९. परंतु यदि कहीं दण्ड देनेमें ही दयाकी सफलता सिद्ध होती हो तो वहाँ द्वेषरहित होकर दण्ड भी दिया जा सकता है। परंतु ऐसा करनेमें प्रायः धोखा ही होता है। द्वेषकी क्रिया ही होती है।

४०. क्षमा वीरोंका धर्म है, कायरोंका नहीं। दण्ड देनेमें समर्थ होकर भी जो दण्ड न दे और उसके अपराधोंका खाता उठाकर अपने शुद्ध भावसे उसका उपकार करे—यह क्षमा है।

४१. अपराध करनेवालेके प्रति मनमें क्रोध न आना—अक्रोध है और भगवान्‌से प्रार्थना करके उसे अपराधके दण्डसे बचा देना क्षमा है।

४२. भक्ति तथा ज्ञानकी दुकान नहीं खुलती। ये तो अमूल्य रत्न हैं, जो अधिकारी ग्राहकोंको ही भगवत्कृपासे मिलते हैं। इसीसे भगवान्‌ने भी तपस्यारहित, भक्तिहीन, सुनना न चाहनेवाले और दोषदर्शी पुरुषोंको परम गोपनीय रहस्य न बतानेकी आज्ञा की है।

४३. भगवान्‌की कृपापर विश्वास करे। यह समझे कि भगवान्‌की मुझपर नित्य अनन्त अहैतुकी कृपा है। मैं उनकी कृपासे सराबोर हूँ सब ओरसे सदा।

४४. भगवान्‌को अपना नित्य अहैतुक मित्र—स्वभावसे ही सुहृद् समझकर सदा सुप्रसन्न होना और शान्ति लाभ करना चाहिये।

४५. भगवान्‌को रिझानेके लिये बाहरी कलाकी जरूरत नहीं है, वहाँ तो केवल सच्चा मन चाहिये, मनकी रिझाऊ वृत्ति चाहिये।

४६. भगवान्के लिये जो कुछ भी किया जाय उसमें ये पाँच बातें अवश्य होनी चाहिये—सरलता, श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और प्रेम ।

४७. घरके सब काम भगवान्की पूजाके लिये ही करने चाहिये । घर भगवान्का, घरके सब लोग भगवान्के विभिन्न स्वरूप, अपना कार्य उन सबकी स्वाँगके अनुसार यथायोग्य सेवा करना । ऐसा करनेपर घर मन्दिर बन जाता है और घरका प्रत्येक कार्य भगवान्की पूजा । भगवत्प्राप्ति तो इसका सहज फल है ही ।

४८. संसारमें जो कुछ है—सब भगवान् है । और जो कुछ हो रहा है—भगवान्की लीला है ।

४९. सावधान ! पापकर्मको भगवान्की लीला बताकर कभी अपनेको धोखा मत देना ।

५०. लीलादृष्टि होनेपर पाप-संकल्पका सर्वनाश हो जाता है ।

५१. नित्य आत्मनिरीक्षण करता रहे, अपने दोषोंको देखता रहे ।

५२. नित्य भगवान्की कृपाका अनुभव करे और निश्चय करे कि उनकी कृपाके सामने मेरे मनमें कभी पाप-ताप जरा-सी देरके लिये भी, छिपकर भी, नहीं आ सकते ।

५३. भगवान्से कभी यह न कहे कि भगवान् मेरी अमुक इच्छा, अमुक समय, अमुक प्रकारसे पूरी करो ।

५४. भगवान्से यही कहे—तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। भगवन् ! मेरे मनमें कोई इच्छा जागे ही नहीं, जागे भी तो वह तुम्हारी इच्छाके अनुकूल हो ।

५५. तुम्हारी इच्छाके विपरीत कोई इच्छा कभी मेरे मनमें जग जाय तो नाथ ! उसे कभी पूरी मत करना । मेरी मूर्खताका स्नेहवश कभी आदर मत करना ।

५६. प्रभो ! तुम जो चाहो सो करो, जैसे चाहो करो, जब चाहो करो । मेरी चाहका आदर करो, अनादर करो, उसे घटा दो, उसे बढ़ा दो, बदल दो, मिटा दो । तुम्हारे मन आवे सो करो ।

५७. सत्सङ्गके समान कोई लोभनीय वस्तु नहीं और कुसङ्गके समान त्याज्य वस्तु नहीं ।

५८. मुक्तिका निरादर करके भी सत्सङ्गका सेवन करना चाहिये और बड़े-से-बड़े लाभके प्रलोभनमें भी कुसङ्गका सेवन कभी नहीं करना चाहिये ।

५९. भगवान्का प्रत्येक विधान मङ्गलमय है, यों समझकर उनके प्रत्येक विधानका स्वागत करो और उसमें प्रसन्नताका अनुभव करो चाहे वह देखनेमें कितना ही प्रतिकूल क्यों न हो ।

६०. विपत्तिमें भगवान्की कृपाका विशेष अनुभव करो—उनका मङ्गलमय स्पर्श पाकर प्रसन्नता और सन्तोषके समुद्रमें डूब जाओ ।

६१. किसी भी प्राणीसे कभी द्वेष नहीं करना चाहिये । सबसे मित्रताका बर्ताव करना चाहिये और दुखियोंपर दया करनी चाहिये । परंतु कहीं ममता या अहङ्कार न आ जाय, इसके लिये सावधान रहना चाहिये ।

६२. दया उस वृत्तिका नाम है, जो दुखी प्राणीको देखकर स्वभावसे ही उत्पन्न होती है । दया न शत्रु देखती है, न मित्र; न अपना देखती है, न पराया; न देशी देखती है, न परदेशी; न हिंदू देखती है, न मुसल्मान; न ब्राह्मण देखती है, न चाण्डाल; न देश देखती है, न परदेश; न दिन देखती है, न रात । वह तो दुखीको देखकर ही, चाहे जब, चाहे जहाँ, जग जाती है और जिसके हृदयमें उत्पन्न होती है, उसे बिना किसी भेदभावसे दुखी प्राणीके दुःख दूर करनेके प्रयत्नमें लगा देती है । दुखीके दुःखको वह उसका अपना दुःख बना देती है और जबतक

वह दुःख दूर नहीं होता, तबतक उसे शान्ति नहीं लेने देती। दया किसीपर न तो अहसान करती है, न बदला चाहती है; वह तो एक ऐसी वृत्ति है, जो स्वभावसे ही होती है और दयाका कार्य सम्पन्न होनेपर वह दयालुको बड़ा सुख देती है।

६३. जहाँ ऐसी विशुद्ध दया नहीं होती, वहीं अहसान किया जाता है और वहीं दयाका बदला चाहा जाता है। विशुद्ध दया न होनेकी हालतमें ही यह भेद होता है कि अमुकपर दया की जाय और अमुकपर नहीं; तथा विशुद्ध दया न होनेकी स्थितिमें ही अपनेमें दयालुताका अहङ्कार एवं घमंड होता है और जिसके प्रति दया की जाती है, उसे दयाका पात्र एवं अपनेसे हीन समझा जाता है!

६४. अपना पेट भरना या अपना दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना तो पशुमें भी पाया जाता है। मनुष्य तो वही है, जो दूसरोंका पेट भरे और दूसरेके दुःखोंको अपना दुःख बना ले और उन्हें दूर करनेमें वैसे ही तन-मनसे लग जाय, जैसे अपने दुःखोंको दूर करनेमें लगता है। यह साधारण मानवताकी निशानी है।

६५. संत तो इससे बहुत आगे बढ़ते हैं। वे अपने दुःखको तो दुःख मानते ही नहीं। नित्य सच्चिदानन्द-स्वरूपमें स्थित होनेसे उनके लिये तो दुःख नामक कोई वस्तु या स्थिति रहती ही नहीं तथापि वे परदुःखसे दुखी होते हैं और सच्चिदानन्द-स्वरूपमें स्थित होते हुए भी उसके दुःखको मिटानेमें अपने भौतिक शरीरको मिटा देते हैं।

६६. श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

६७. विषयी निजदुःखकातर होता है और संत परदुःखकातर।

६८. संतका हृदय अहंताशून्य होता है, इसलिये वही जगत्‌का असली सेवक होता है। 'मैं सेवा करनेवाला हूँ' ऐसा अभिमान सेवाके पवित्र भावको बिगाड़ देता है। सेवक तो वह है, जो सबमें सब जगह सदा अपने भगवान्‌को देखता है और ऊँच-नीचका जरा भी भेद किये बिना अपने प्राप्त साधन और शक्तिसे सदा सेवा करता रहता है। वह किसीको पराया नहीं समझता, इससे सदा निष्कामभावसे सेवा करता है।

६९.

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

७०. ऐसे सेवकको कभी निकम्मा रहनेका अवसर नहीं मिलता। क्योंकि उसका स्वामी भगवान् सर्वत्र और सब समय उसके सामने रहता है। इसलिये वह भी सदा सेवामें संलग्न रहता है।

७१. ऐसा सेवक न अभिमान करता है, न गौरव मानता है, न किसीका अपमान-तिरस्कार करता है, न किसीसे द्वेष-द्रोह करता है, न किसीकी निन्दा-समालोचना करता है और न किसीमें ममता या आसक्ति ही रखता है; उसे तो केवल सेवासे ही काम है।

७२. दोष देखनेवालेको दोष मिलते हैं, गुण देखनेवालेको गुण मिलते हैं। संसार देखनेवालेको संसार मिलता है और भगवान् देखनेवालेको भगवान् मिलते हैं।

७३. सकाम भजनका अर्थ है—सर्वशक्तिमान् अपने परम सुहृद् भगवान्‌को हमारे मनके अनुसार काम करनेवाला सेवक बनाना।

७४. निष्काम भजनका अर्थ है—भगवान्‌को सर्व समर्पण करके—अपनेको सर्वभावसे भगवान्‌का बनाकर उनका प्रेमपूर्वक स्मरण करना।

७५. जीवके दो प्रकारके छः-छः शत्रु हैं, जो उसे परमार्थपथसे गिराते रहते हैं और भगवान्‌में सदा नहीं लगे रहने देते—(१) कामना, क्रोध, लोभ, मोह, मान और मत्सर। तथा (२) निद्रा, आलस्य,

दीर्घसूत्रता, प्रमाद, भय और विषाद । भगवान्की कृपाके बलका आश्रय ग्रहण करके इन शत्रुओंसे सावधानीके साथ सदा बचते रहना चाहिये और इन्हें मारनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

७६. तीव्र इच्छा, श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रिय-संयम होनेपर साधनामें बहुत शीघ्र सफलता मिलती है ।

७७. किसीके द्वारा मान प्राप्त होनेपर फूलो मत और अपमान मिलनेपर अपनेको भूलो मत । हड्डी, मांस तथा मल-मूत्रसे भरे हुए 'शरीर' तथा मिथ्या कल्पित 'नाम'के सम्मानसे तुमको कुछ मिलता नहीं और तुम्हारा जो अपना नित्य शुद्ध-बुद्ध आत्मरूप है, उसका कोई मान-अपमान कर सकता नहीं ।

७८. संसारके भोग मिलते हैं कर्मानुष्ठानसे और भगवान् मिलते हैं अनन्य चाहसे । इसीसे भगवान्का प्राप्त होना सहज है, भोगोंका कठिन ! भोगोंमें क्रिया कारण है और भगवान्में केवल भाव ।

७९. पाप-पुण्य तीन प्रकारसे होते हैं—स्वयं करनेसे, दूसरेके द्वारा करानेसे और करनेवालेका समर्थन करनेसे । तीनों प्रकारके पापोंसे सदा बचो और तीनों प्रकारके पुण्योंमें सदा लगे रहो ।

८०. धनकी सार्थकता उसके सद्व्ययमें ही है । जो धन इकट्ठा होता है, सत्कार्यमें व्यय नहीं होता, वह गंदा होकर भाँति-भाँतिके मानस-रोग पैदा करता है और अनन्त नरकोंमें ले जाता है । ऐसा पुरुष यहाँ तो दुखी रहता ही है ।

८१. धन प्राप्त करनेमें बड़ा परिश्रम होता है—परिश्रम करनेपर भी प्राप्त होना निश्चित नहीं । भजन सहज है और करनेपर अवश्य हो सकता है ।

८२. धनका लोभ न करके मनुष्यको अपने जीवन-निर्वाहके लिये न्यायोचित उद्योग अवश्य करना चाहिये; परंतु उसमें भी भगवत्सेवाकी ही बुद्धि रखनी चाहिये ।

८३. दुर्गुणोंका त्याग और सद्गुणोंका संग्रह करना चाहिये । दैवीसम्पत्ति ही परम धन है और आसुरीसम्पदा ही परम विपत्ति है ।

८४. भगवान्में, उनके भक्तोंमें, भगवान्के भक्तों और महात्माओंके वाक्योंमें तथा शास्त्रोंमें पूर्ण श्रद्धा—प्रत्यक्षवत् सत्य विश्वास होना चाहिये ।

८५. श्रद्धा मनुष्यके भीतरी नेत्रोंको खोलती है । श्रद्धारहित पुरुष परमार्थके मार्गपर सदा अंधेकी-ज्यों टटोला करता है और श्रद्धावान् पुरुष भगवान् अथवा महात्मा पुरुषकी वाणीका परमोज्ज्वल प्रकाश पाकर अनन्त भवसागरको अनायास ही पार कर जाता है और भगवान्की मङ्गलमयी सन्निधिमें पहुँच जाता है ।

८६. भगवान् सबके हैं, सबके लिये हैं । उनके भजनमें सबका अधिकार है । अधिकार-भेद क्रियामें होते हैं, भावमें नहीं ।

८७.

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥

८८. कर्म ऊँचा भी हो और भाव नीचा हो तो वह कर्म नीचा बन जाता है और नरकोंमें ले जाता है—जैसे यज्ञ-दानादि ऊँचे कर्म हैं पर यदि कर्तामें अहङ्कार हो और उसके मनमें यह कामना हो कि इनके द्वारा अमुक शत्रुका नाश हो जाय तो वे उत्तम कर्म तामसिक हो जायँगे और तमोगुणका फल है—अधःपतन ।

८९. कर्म है—झाड़ू लगाना, पर यदि उसमें केवल सेवाका भाव है तो वह सात्त्विक है, उसका फल है अन्तःकरणकी शुद्धि और उसके फलस्वरूप उत्तम गतिकी प्राप्ति एवं यदि उसमें निष्कामभाव है या केवल भगवान्की पूजाका भाव है तो उसका फल है—भगवान्की प्राप्ति ।

९०. संसारके भोगोंमें रागका नाम है आसक्ति और भगवान्में रागका नाम है—प्रेम ।

९१. भोगासक्ति बन्धनका कारण है और भगवत्प्रेम परम मुक्तिका ।

९२. भगवत्प्रेमका दर्जा तो बहुत ऊँचा है। उसके सामने मुक्तिका मिठास भी फीका पड़ जाता है।

९३. भगवान्‌के सामने दीन होकर भगवान्‌को पुकारना चाहिये। वे दैन्यसे प्रेम करते हैं और अभिमानसे द्वेष।

९४. भगवद्भक्तको न भय होता है, न विषाद। वह सदा निर्भय और नित्य प्रसन्न रहता है। प्रसन्नताका अर्थ है—'निर्मल आनन्द' ऐसी प्रसन्नता भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है।

९५. क्रोध करना है तो अपने मनमें आनेवाले क्रोधपर करो। भय करना है तो पापसे भय करो। लोभ करना है तो भगवान्‌के भजनका करो और कामनामें डूबे रहना है तो भगवान्‌के प्रेमकी अनन्य कामनामें डूब जाओ।

९६. यह मत समझो कि तुम भगवान्‌को धोखा दे सकोगे।

९७. भगवान् सब जगह और सब समय वर्तमान हैं। तुम्हारे अंदर भी अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं। उनसे छिपाकर तुम कुछ भी नहीं कर सकते।

९८. भगवान् सर्वत्र हैं ऐसा विश्वास होनेपर तुमसे पापकर्म नहीं बनेगा।

९९. भगवान् सर्वत्र हैं ऐसा विश्वास होनेपर तुम्हें भय नहीं सतावेगा। उनके सामने भय कैसा?

१००. भगवान् सर्वत्र हैं ऐसा विश्वास होनेपर तुम्हें सदा सुख रहेगा। उनकी सन्निधिमें दुःख कहाँ?

१०१. भगवान् सर्वत्र हैं ऐसा विश्वास होनेपर मूढ़ता या अज्ञान कहाँ? क्योंकि भगवान्‌की नित्य सर्वत्र अनुभूति ही तो ज्ञान है।

१०२. संसारमें जीनेकी इसीलिये अभिलाषा करो कि इस शरीरके द्वारा भगवान्‌का भजन करना है।

१०३. इसीलिये कपड़े पहनो कि शरीरकी रक्षा करके उसके द्वारा भजन करना है। शौकीनीके लिये कपड़े मत पहनो।

१०४. इसीलिये भोजन करो कि शरीरकी रक्षा करके उसके द्वारा भजन करना है। जीभके स्वाद या भोगार्थ, भौतिक शक्तिलाभके लिये भोजन न करो।

१०५. इसीलिये कुटुम्ब-परिवारका पालन करो कि यों करके भगवान्‌की सेवा करनी है। कुटुम्ब-परिवारमें आसक्ति मत करो।

१०६. घरको भगवान्‌का मन्दिर, घरके लोगोंको भगवान्‌के प्रतीक और अपनेको उनका सेवक मानो, स्वामी नहीं।

१०७. घरमें आसक्ति मत करो—आसक्ति करो भगवान्‌में और घरके सब काम करो भगवान्‌के लिये।

१०८. एकमात्र भगवान् ही तुम्हारे जीवनके परम ध्येय हैं, इस बातको भूलकर भी मत भूलो।

* * *

भगवान्‌को छोड़कर अपना कौन है ?

हरि बिनु मीत नहीं कोउ तेरे।
सुनि मन, कहौं पुकारि तो सौं हौं, भजि गोपालहि मेरे॥
या संसार विषय-विष-सागर, रहत सदा अब घेरे।
सूर स्याम बिनु अंतकालमैं कोउ न आवत नेरे॥

—सूरदासजी

क्षमा

[कहानी]

(लेखक—श्रीजनार्दन शर्मा 'अवनीन्द्र')

'यह तुम क्या कर रहे हो युवराज !'

'कुछ नहीं महामात्य ! इन पक्षियोंको जल रख रहा हूँ, परिचारक कभी-कभी भूल कर जाते हैं और यह परवश करुणनयनोंसे आकाशकी ओर देखा करते हैं, निष्ठुर नियतिने इनसे बोलनेका अधिकार तो छीन ही रक्खा था, क्रूर मनुष्य जीनेका भी अधिकार धीरे-धीरे छीनता जा रहा है।'

युवराजकी आँखोंमें करुणा थी, उसने पिंजड़ेके सींकचोंसे झाँकते हुए पक्षियोंकी ओर देखा, पक्षी युवराजको पहचान गये थे। जब वह आता, तब वे पिंजड़ेमें चक्कर लगाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते, सच्ची सहानुभूति युवराजको ही थी उनसे।

परिचारक आते और युवराजके भयसे उन्हें दाना-पानी देकर चले जाते, एक ओर करुणा थी, दया थी, प्रेम था, दूसरी ओर थी कार्य-समाप्त करनेकी भावना। कितनी विषमता थी युवराज और परिचारकोंमें। युवराज वास्तविकताको जानता था, वह पिताद्वारा पालित पक्षियोंकी स्वयं सेवा करता था। युवराजको पक्षियोंकी सेवामें तल्लीन देखकर महामात्यने कहा—

'तो फिर यही करते रहोगे तुम जीवनभर ? तुम्हारे कंधोंपर राज्यका भार आनेवाला है, शस्त्र-विद्या सीखनेका समय तो तुम ऐसे ही व्यतीत कर देते हो, कौन सीखेगा फिर उसे ? युद्धकला सीखे बिना युवराज कहलानेके अधिकारी नहीं होओगे तुम।'

पिंजड़ोंको यथास्थान टाँगकर युवराज उन्मन प्रासादकी ओर चल दिया।

× × × ×

तूफान, तूफान ही होते हैं। सागरके तूफानोंकी भयङ्करता किसीसे छिपी नहीं है। पर भावोंके तूफान भी कम भयानक नहीं होते। तटके तिनकोंकी तरह भावोंके तूफान भी मनुष्यको कहीं-से-कहीं ले जाकर छोड़ते हैं। दुर्गपर खड़े महामात्य दस वर्ष पूर्वकी घटनाएँ सोच रहे थे।

महामात्यका विचार संन्यास लेनेका था, जीवनमें उन्होंने बड़े-बड़े संग्राम जीते थे। तीन पुत्र थे, एक कन्या। पुत्र राज्यकी सेनामें उच्च अधिकारी थे। पुत्रीका विवाह हो चुका था। अतः संततिके लिये कुछ करना शेष नहीं था। आठ वर्ष काञ्चीनरेशके महामन्त्री रहे। अब सोचा, संन्यास लेकर तीर्थयात्रा की जाय, तभी सहसा काञ्चीनरेश हृदय-रोगसे पीड़ित हो गये। जीवनकी आशा न रही। उन्होंने महामात्यको बुलाकर कहा था—'मन्त्रिवर ! तुमने सर्वदा काञ्चीराज्यकी सेवा की है। शैलेन्द्र अभी बालक ही है, राज्यकी रक्षाका उत्तरदायित्व तुमपर ही है।' और सिरहाने बैठे हुए अपने पुत्रसे कहा था—'बेटा शैल ! आजसे महामात्य ही तुम्हारे पिता हैं।' शैलकी आँखोंमें आँसू छलक रहे थे। आकाशपर बादल छाये हुए थे, चारों ओर सन्नाटा था। प्रवेश-द्वारपर खड़े हुए प्रहरीने घंटा बजाकर अर्धरात्रि होनेकी सूचना दी। अंधकार हँस उठा और काञ्चीनरेशके प्राण······प्रासादमें हाहाकार मच गया था। कितना उत्तरदायित्व आ गया था उनके सिरपर।

× × ×

महामात्य सीमाप्रान्तकी स्थितिका अध्ययन करने आये हुए थे। उन्होंने दुर्ग देखे, सैन्यव्यवस्था देखी और देखी अधिकारियोंकी शासनप्रणाली। एक सप्ताहका कार्यक्रम था उनका। जिसे समाप्तकर वे लौटनेवाले ही थे, तभी राज्यकी सीमापर हूणोंके आक्रमण प्रारम्भ हो गये। देखते-ही-देखते उन्होंने राज्यके दो दुर्गोंपर अपना झंडा फहरा दिया, शासनव्यवस्था टूटने लगी, भय और आतङ्कका राज्य प्रजापर छाने लगा। उपद्रवी और भी आगे बढ़नेका प्रयत्न कर रहे थे। महामात्यने 'अचलेश्वर-दुर्गपतिको' बुलाकर कहा—देखो वीरभद्र ! तुम किसी प्रकार दो दिन हूणोंको रोके रहना, मैं काञ्चीसे शीघ्र ही प्रधान सेना लेकर आता हूँ। बड़ा भयङ्कर समय है वीरभद्र ! भगवान् रक्षक हैं।'

आवश्यक निर्देश देकर महामात्य काञ्चीकी ओर चल दिये। कल्पनाएँ चल रही थीं—हूण बढ़ते जा रहे हैं, प्रजा

पीड़ित है, शान्तिभङ्ग हो रही है, सभीकी आँखें युवराजकी ओर लगी हुई हैं, और युवराज, एक शान्तिप्रिय व्यक्ति है, वह युद्धको संसारका अभिशाप मानता है । युवराजने यदि शान्ति, धर्म, देश और न्यायकी रक्षाके लिये तलवार उठाना अस्वीकार कर दिया तब क्या होगा ? काञ्चीका विशाल साम्राज्य क्या विनाशके गर्भमें विलीन हो जायगा ? कितना भीषण अन्याय होगा ! कितना पाप लगेगा युवराजको ! भगवन् ! क्या होनेवाला है ? क्या पुण्यभूमिपर अधर्मका ताण्डव नृत्य होगा ?

महामात्यका अश्व वायुगतिसे बढ़ता जा रहा था और महामात्य चिन्तित, खिन्न और उद्विग्न मनसे राजधानीके गगनचुम्बी प्रासादों और मन्दिरोंके स्वर्णकलशोंको देख रहे थे । पथकी दूरी धीरे-धीरे कम हो रही थी, काञ्चीका विशाल साम्राज्य महामात्यकी ही देख-रेखमें उन्नत तथा विस्तृत हुआ था । उसके विनाशकी कल्पनासे उनका रोम-रोम काँप उठा और मस्तकसे पसीनेकी बूँदें गिरने लगीं !

× × ×

दोपहरका समय था । जेठका प्रचण्ड सूर्य आग उगल रहा था । चिलचिलाती हुई तेज धूप वृक्षोंको झुलसाये डाल रही थी, नीडोंमें पक्षी पंख फड़फड़ा रहे थे । सर्वत्र प्यास-प्यासकी पुकार थी, काञ्चीका राज्य-भवन लूकी लपटोंसे धधक रहा था । सिंहद्वारपर खड़ा हुआ सशस्त्र प्रहरी अकुलाकर इधर-उधर घूम रहा था ।

इसी समय एक ओरसे घोड़ेको तीव्रगतिसे दौड़ाता हुआ एक अश्वारोही राजप्रासादकी ओर आता दिखायी दिया । प्रहरी सतर्क होकर आगन्तुककी ओर देखने लगा । प्रहरीकी आँखोंने समीपसे पहचाना—ये तो महामात्य हैं, इस समय कैसे ?

आगन्तुक सिंहद्वारपर आ चुका था, प्रहरीने अभिवादन किया और घोड़ेको एक ओर खड़ा कर दिया । महामात्य व्याकुल-से थे, बोले—'प्रहरी ! युवराज कहाँ हैं ?'

'शयनकक्षमें होंगे महाराज'—प्रहरीने कहा ।

'अच्छा, उन्हें मेरे आनेकी शीघ्र सूचना दो ।'

'जो आज्ञा' कहकर प्रहरीने युवराजको महामात्यके आनेकी सूचना दी । 'यहीं भेज दो उन्हें' विनम्र स्वरमें युवराजने कहा ।

महामात्य भीतर पहुँचे तो युवराजने खड़े होकर ससंभ्रम प्रणाम किया और स्वर्णपीठपर बिठाया उन्हें । महामात्य अपने साथ लाये हुए सीमाप्रान्तके मानचित्रोंको दिखाकर कहने लगे—

'देखो युवराज ! हूण तुम्हारे राज्यमें यहाँतक प्रवेश कर चुके हैं । यदि समय रहते तुमने वहाँ प्रधान सेना न भेजी तो प्रादेशिक टुकड़ियोंसे शत्रुओंको रोकना असम्भव हो जायगा, तुम्हारे एककी उपेक्षावृत्तिसे असंख्य प्रजाके प्राण संकटमें पड़ सकते हैं !'

महामात्य कहते जा रहे थे और युवराज किसी कल्पनामें डूबा जा रहा था । उसने दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा—

'संघर्षको टालनेका प्रयत्न निष्फल जायगा क्या महामात्य ?'

'तुम क्या कह रहे हो युवराज ! संघर्ष ही जीवन है, काञ्चीनरेश जीवनभर संघर्षोंसे टकराते रहे, उनके पुत्रका संघर्षसे दूर भागना कुछ अच्छा प्रतीत नहीं होता मुझे ।'

युवराजने विस्मयसे आँख उठाकर देखा ।

'क्या कहा महामात्य ? संघर्ष ही जीवन है ? सहसा इसपर विश्वास नहीं होता मुझे । विषम और सम कभी साथ-साथ रह सकते हैं क्या ? कालकूट पीकर किसीको जीते नहीं देखा महामात्य ! संघर्षोंमें उलझ जाना जीवन नहीं, मरण है, महामरण !'

'तुम भूल रहे हो युवराज ! जिसे मरण समझते हो तुम, वह जीवन है अमर जीवन । काँटोंपर ही फूल खिलते हैं सर्वदा, तलवारकी धारपर चलना ही जीवन कहलाता है । लक्ष्यहीन, आदर्शहीन, सिद्धान्तहीन जीवनमें क्या नवीनता रहेगी ? दनुजको मनुज बनानेके समय आगत संघर्षका हमें स्वागत करना चाहिये ।'

महामात्यके मस्तककी दृढ़ रेखाओंको पढ़ते हुए युवराजने कहा—

'दनुजको मनुज बनानेके लिये युद्ध ही एक अवलम्ब रह गया है ? क्षमा, दया, करुणा शक्तिहीन हो गयी हैं ? शान्तिकी सरस धारासे सन्तप्त और क्रुद्ध अन्तरोंको शान्त करनेकी शक्ति लुप्त हो गयी है क्या ? द्वेषसे द्वेष दूर कैसे होगा ? आगको बुझानेके लिये आगकी ही व्यवस्था करनी

पड़ेगी ? इसकी तो कल्पनामात्रसे ही मेरा रोम-रोम काँप उठता है, महामात्य ! रक्तसागरमें स्नान करनेसे जीवन मिलेगा या मृत्यु ?'

'जीवन या मृत्यु, जीवनकी परिभाषा जानते हो शैल ? तूफानोंमें चट्टानकी तरह खड़े रहना जीवन है। झोंकोंकी परवा न करके आकाशदीप-सा जलते रहना जीवन है। कण्टक-पथपर निर्भय बढ़ते रहना जीवन है। बाधाओंसे पथपर रुक जाना, झुक जाना पाप है! अधर्म है!! मृत्यु है !!!'

महामात्यकी बातें युवराजके अन्तरमें उतर रही थीं।

वह बोला 'यह तो ठीक है महामात्य ! किंतु, मनुष्यको सृजन करना चाहिये या ध्वंस ? भूलका भूलद्वारा संशोधन उपहास होगा। क्रिया और प्रतिक्रिया कहाँ जाकर रुकेंगी ? विनाशपर निर्माण कैसे होगा ? सृष्टिके लिये ध्वंसका आना कितना भयानक है महामात्य ?'

'सृजन और ध्वंस, निर्माण या विनाश, आकाशसे नहीं बरसते हैं शैल ! मनुजकी कृतियाँ उन्हें निमन्त्रण देती हैं। वह अनुरोधको स्वीकार न करें, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? एक-दोके आह्वानपर नहीं, किंतु जब हम कोटि-कोटि कण्ठोंसे शत बार, सहस्र बार, उनका आराधन करते हैं, तब ध्वंस या विनाश हमारे सम्मुख साकार हो जाते हैं। इसमें अपराधी कौन ? पापी कौन ? आगत या स्वागत।'

महामात्यकी आँखें युवराजसे उत्तर माँग रही थीं और युवराज मौन, पराजय स्वीकार कर रहा था।

× × × ×

रात्रिके दो बजे होंगे। आकाशपर तारे झिलमिला रहे थे। विश्व आँख मूँदकर सो रहा था। कभी-कभी श्रृगालोंके रोनेकी ध्वनि सुनायी दे रही थी। आठ सहस्र अश्वारोही बढ़े जा रहे थे। टापोंका कठोर शब्द रात्रिकी नीरवताको भंग कर रहा था। आगे-आगे युवराज और महामात्य थे। मार्गके नदी, नाले, वन-उपवन, ग्राम-नगर, धीरे-धीरे पीछे छूटते जा रहे थे। सैनिकोंका दल लक्ष्य पा जानेको आतुर हो रहा था। युवराज अब भी न जाने किस उधेड़-बुनमें था। उसे मौन देख महामात्यने कहा—

'युवराज ! क्या चिन्ता है तुम्हें ?'

युवराज जैसे सोते-से जगा हो। उसने प्रकृतिस्थ होकर कहा—'कुछ नहीं महामात्य !'

तीव्र अट्टहास करते हुए महामात्य बोले—जीवनमें प्रथम युद्ध है तुम्हारा, शायद इससे घबरा रहे हो तुम।

'नहीं-नहीं—युवराज घबराना नहीं जानता वह सोच रहा था, मनुष्यमें विवेक है, बुद्धि है, फिर वह क्यों अपने वर्गसे ही टकराता रहता है ?'

'बड़ा गम्भीर विषय है, क्या उत्तर दूँ तुम्हें इसका ? सत्य तो यह है व्यक्तिगत सुखकी इच्छा मनुजवर्गके संघर्षका कारण बनती है सर्वदा। स्व-हितके आगे पर-हितकी पूत भावनाएँ लुप्त हो जाती हैं। स्वार्थके आगे त्याग, सत्य, धर्म सभी आत्मसमर्पण कर देते हैं। फिर संतोष कहाँ ? लोभके बादल शान्ति-गगनपर छा जाते हैं। स्वार्थके बरसते हुए जलसे हृदय-धरापर ईर्ष्या, द्वेष, दम्भके द्रुम लहराने लगते हैं; कुछ दिन पश्चात् झूठ, कपट, छलके फल भी फूलने-फलने लगते हैं, और व्यक्तिका यही विष समष्टिमें फैल जाता है। जिसका परिणाम होता है—कलह, घृणा—संघर्ष··· तभी संसार चिन्ताकी ज्वालामें जलने लगता है।'

'एक व्यक्तिकी भूलका इतना भयानक परिणाम ?' एक विचित्र वेदनाका अनुभव करते हुए युवराजने कहा।

'हाँ युवराज ! विष तो विष ही होता है, वह अपने-परायेमें भेद नहीं रखता। उसे तो नाश करना है, महाविनाश। वह जहाँ भी रहेगा सर्वनाश करेगा···।'

'मनुज, मनोबलकी सहायता क्यों प्राप्त नहीं करता महामात्य ? मनोबलकी सहायतासे वह अनायास ही इन झंझटोंसे मुक्त हो सकता है।'

'ठीक है युवराज ! किंतु जब तन-बल, धन-बल, जन-बल तीनों एकत्रित हो जाते हैं, तब वहाँ अकेला मनोबल भयसे अपना मुख नहीं खोला करता। अशान्तिके आगे शान्ति नहीं ठहर सकती। इसीसे संसारमें हम देखते हैं प्रतिहिंसा ! प्रतिकार !! प्रतिशोध !!!'

'संसारकी शान्तिके लिये ऐसे व्यक्तियोंको सुधारा नहीं जा सकता क्या महामात्य ?' उत्सुकतासे युवराजने पूछा।

'युग बदलते हैं, नीतियाँ बदलती हैं, किंतु प्रकृति

परिवर्तित नहीं हुआ करती युवराज ! ग्रीष्म ऋतुकी सूर्य-किरणें कभी सरल, शीतल बन सकेंगी ? मनुष्योंके हृदयमें क्रोध, ईर्ष्या द्वेष यदि उत्पन्न होते रहेंगे तो संसारमें शान्ति कहाँ ! व्यक्तिमें हो, वर्गमें हो अथवा राष्ट्रोंमें हो, असहिष्णुता जबतक शेष रहेगी, संसारमें युद्ध भी अनिवार्य हैं । यह एक कठोर सत्य है युवराज !'

'प्राणि-समकी भावना कितनी सुन्दर है । मनुष्य इसके महत्त्वको क्यों नहीं स्वीकार करते हैं महामात्य ?'

'यह सत्य है युवराज ! परन्तु पापका रक्त पीकर जिसका पालन-पोषण होता हो, उस भयङ्कर, ईर्ष्या-रोगका युद्धके अतिरिक्त उपचार भी क्या है ?'

यह सुनते ही युवराजके सामने हूणोंके अत्याचारके चित्र घूमने लगे । उसकी आँखें लाल हो गयीं और उसका हाथ सहसा तलवारकी मूठपर जा पहुँचा ।

उसने कड़ककर कहा—'ठीक है महामात्य ! ठीक है । उस भयङ्कर ईर्ष्या-रोगका युद्धके अतिरिक्त उपचार भी क्या है ।'

रात्रिके गर्भसे प्रभात उदित हो रहा था । प्राचीसे बाल-रविकी सरल किरणें धीरे-धीरे भूमिपर उतर रही थीं । विहग नीडोंका मोह छोड़कर आकाशपर उड़ने लगे थे । तभी युवराजने अश्वारोहियोंके साथ अचलेश्वर-दुर्गमें प्रवेश किया । सर्वत्र हर्ष छा गया !

× × × ×

स्नान, सन्ध्या, भोजन आदिसे निवृत्त होकर काञ्चीकी अश्वारोहिणी सेना तनिक विश्राम करके मार्गजन्य श्रान्तिको दूर कर रही थी । युवराज, महामात्य और अचलेश्वर-दुर्गपति वीरभद्र युद्धकी स्थितिपर मन्त्रणा कर रहे थे, तभी हाँफते हुए एक गुप्तचरने हूणसेनाके दुर्गकी ओर आनेकी सूचना दी । परिस्थिति समझकर महामात्यने तुरंत ही तुरही बजाकर सैनिकोंको एकत्र होनेकी आज्ञा दी । देखते-ही-देखते सैनिक, दुर्गके विशाल आँगनमें एकत्र हो गये । महामात्यने सेनाको दो भागोंमें विभाजित करके एकका अधिनायक युवराज वीरभद्रको बनाया और दूसरीके स्वयं रहे । सैनिकोंको सम्बोधित करते हुए महामात्यने कहा—

'युद्धस्थलमें मृत्युके भालपर खड़े होकर अमर जीवन हँसा करता है, देखा है कभी ? कोई सैनिक मृत्युसे नहीं डरेगा और युवराजकी ओर देखकर कहा—मैं दुर्गके उत्तरीय द्वारसे निकलकर शत्रुका सामना करता हूँ, जब उसका ध्यान मेरी ओर केन्द्रित हो जाय, तुम पश्चिमीय द्वारसे निकलकर शत्रु पर प्रहार करना ।' उधर हूणसेना दुर्गके समीप आ पहुँची थी ।

दुर्गका द्वार खोल दिया गया । महामात्यके सैनिक हूणोंसे भिड़ गये, तलवारें ढालोंसे टकराने लगीं, युद्धकी भयङ्करता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी । महामात्यका घोड़ा हवासे बातें कर रहा था और कुछ ही देरमें वह हूणराज तक जा पहुँचा । एक युवा, एक वृद्ध, फिर भी महामात्यने झपटकर हूणराजपर तलवारका वार किया । उधर दुर्गके पश्चिमीय द्वारसे युवराजने निकलकर प्रचण्ड आक्रमण कर दिया । मार-काट मच गयी । रुधिरकी धाराएँ पृथ्वीको लाल करने लगीं, घायलोंकी चीत्कारसे आकाश क्षुब्ध हो उठा !

महामात्यकी तलवार हूणराजको समाप्त करनेवाली ही थी कि उनका घोड़ा एक लोथसे टकराकर गिर गया और हूणराजका भाला महामात्यकी छातीके पार हो गया !

दिनभरके प्रचण्ड युद्धके बाद हूणसेनाने आत्मसमर्पण कर दिया । हूणराज बंदी बना लिया गया । महामात्यकी मृत्युने हर्षमें विषादकी गहरी रेखा खींच दी । 'मृत्युके भालपर खड़े होकर अमर जीवन हँसा करता है, यह देख लिया मैंने' युवराज कह रहा था । तभी वह खिन्न हृदयसे दुर्गकी ओर लौट पड़ा ।

× × × ×

अचलेश्वर-दुर्ग गर्वसे इठला रहा है, आज विजयदिवस है, सर्वत्र चहल-पहल है, जनताकी भीड़ दुर्गकी ओर बढ़ती जा रही है, आज हूणराजको मृत्युदण्ड दिया जानेवाला है, प्रहरी सतर्क हैं, किंतु दर्शकोंके आवागमनपर कोई प्रतिबन्ध नहीं । दुर्गके भीतर एक सिंहासन बनाया गया था । युवराजके स्थानके पास ही सैनिक अधिकारियोंके बैठनेके लिये स्थान थे । निश्चित समयपर हूणराजको युवराजके सम्मुख खड़ा किया गया । उसके हाथोंमें हथकड़ियाँ थीं, बड़े-बड़े बाल उसके कृष्णमुखपर अस्त-व्यस्त बिखरकर उसकी विकरालताको और भी बढ़ा रहे थे, उसकी लाल-लाल आँखोंसे क्रूरता बरस रही थी, बंदी वेषमें देखते हुए भी उससे भय लगता था । उसके आते ही कोलाहल शान्त हो गया । युवराजके समीप ही हूणराजकी छीनी हुई तलवार रक्खी हुई थी । युवराजने हूणराजको घृणाकी दृष्टिसे देखा और कहा—'क्यों हूणराज ! तुमने मेरे राज्यकी सीमापर आक्रमण करनेका साहस कैसे किया ? तुम्हारे देशमें उदर-पूर्तिके साधन शेष नहीं रह गये थे क्या ? अत्याचार करनेकी प्रेरणा तुम्हें कहाँसे मिली ?'

हूणराजके मोटे-मोटे होठ हिले, वह कर्कश स्वरमें बोला—

'हमारे देशमें क्या नहीं है युवराज ? अनायास ही मार्गमें रत्न पड़ा मिल जाय तो किसे बुरा लगता है। मुझे बताया गया था, काञ्चीराजका युवराज संघर्षसे डरता है, युद्ध अच्छा नहीं लगता उसे, साम्राज्यलिप्सा यहाँतक खींच लायी मुझे ।'

'काञ्चीका युवराज संघर्षसे डरता है किंतु वह समयपर तलवार भी उठा सकता है, यह नहीं बताया गया था तुम्हें ?' युवराजने व्यङ्ग किया ।

'नहीं युवराज ! यह नहीं बताया गया था मुझे ।'

युवराजने हूणराजसे छीनी हुई तलवारको कई बार उलट-पुलटकर देखा, फिर उसे हूणराजको दिखाते हुए कहा—

'इस तलवारने असंख्यों निरीह प्राणियोंको मौतके घाट उतारा है, यही तुम्हारे मृत्युदण्डके समय प्रयुक्त की जायगी। पहिचानते हो हूणराज ! इस तलवारको ।'

हूणराजके मस्तकपर बल पड़ गये । वह बोला—

'जानता हूँ युवराज ! पहचानता हूँ युवराज ! जिस तलवारने असंख्यों भूमिखण्ड जीते हों, असंख्योंको तड़पते देखा हो, सहज ही नहीं भुलाया जा सकता उसे ।'

'अच्छा यह तो बताओ हूणराज ! यदि मैं तुम्हारे राज्यपर आक्रमण करता, असंख्योंका संहार करता, दुर्भाग्यसे तुम्हारे हाथों पड़ जाता, तुम क्या करते ? मुझे क्या दण्ड देते ? सत्य कहना । तुम्हें अधिक जीवित नहीं रहना है और पाप कमाकर करोगे ही क्या ?'

हूणराजने भावावेशमें कहा—मुझे पूछते हो, मैं क्या करता ? मैं तुम्हें गली-गली घुमाता और कहता—'यह काञ्चीका युवराज है, जिसने हमारे देशपर आक्रमण किया है और अन्तमें वही मृत्युदण्ड ।'

'ठीक है हूणराज ! सत्य कहा तुमने, तुमसे यही आशा की जा सकती थी, लेकिन यह तो बताओ जब अपराध समान हैं, अपराधी समान हैं, तो दण्ड भी समान ही होना चाहिये, उचित है न ?'

हूणराज भावावेशमें न जाने क्या-क्या कह गया था 'दण्ड समान'की कल्पनाने उसे प्रकृतिस्थ कर दिया, वह काँपने लगा, उसे ध्यान आया कि वह काञ्चीके युवराजके सामने बंदी-वेशमें मृत्युदण्ड पानेके लिये खड़ा है। उसके मस्तकपर मृत्यु नाच रही थी, पास ही नंगी तलवार लिये बधिकको खड़े देखकर उसका साहस हिल गया, उसका रौद्ररूप भी मृत्युभयसे झुक गया था, उसके पैर लड़खड़ाने लगे थे, काँपते हुए उसने कहा—

'क्षमा करो, दया करो—युवराज ! मैं शपथ खाता हूँ मैं अपने पापोंका प्रायश्चित्त करूँगा, शपथ खाता हूँ ।' हूणराज कातरकण्ठसे प्राणोंकी भीख माँग रहा था, दर्शक उसकी चाल समझकर क्रोधसे दाँत पीस रहे थे !

'मृत्युके भयसे तुम शपथ खाकर बच निकलना चाहते हो हूणराज ! शपथ खाने या प्रायश्चित्त करनेसे पशु-प्रवृत्तियोंका अक्षय-भण्डार रिक्त नहीं होता । उसे रिक्त करनेको चाहिये पापोंकी अपुनरावृत्ति, भूलोंकी पुनरावृत्ति न होने देना ही सत्य प्रायश्चित्त है, ऐसा प्रायश्चित्त कर सकोगे तुम ?'

'ऐसा ही करनेका प्रयत्न करूँगा युवराज ।'

'तो क्षमा चाहते हो तुम, दया चाहते हो तुम' ।

'हाँ युवराज'—

युवराजके अधर क्षमादान देनेवाले ही थे, तभी दर्शकोंके सहस्रों कण्ठोंने एक साथ पुकारा—'नहीं-नहीं—कभी नहीं' 'युवराज ! जो दूसरोंको नहीं जीने देता, उसे स्वयं भी जीनेका अधिकार नहीं ।'

युवराजके भावोंको बलात् रोक दिया गया था । उसने एक क्षण दर्शकोंकी ओर देखा और दूसरे ही क्षण तीव्रतासे उठकर हूणराजके समीप पहुँच गया और उसकी हथकड़ियोंको खोलते हुए बोला—

'मुक्त किया तुम्हें, जाओ हूणराज ! क्षमा किया तुम्हें।

हूणराजकी आँखोंमें कृतज्ञता थी, वह किंकर्तव्यविमूढ़ था । उसे अपनी आँखोंपर विश्वास नहीं हो रहा था। उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे !

'तुम्हारी नैतिक विजय हुई है युवराज ! मुझे मृत्युदण्ड देते तो सम्भव था असंख्यों हूणराज उत्पन्न हो जाते, किंतु जीवनदान देकर एक भी हूणराजको जीवित न छोड़ा तुमने। मैं जा रहा हूँ, विश्वके राष्ट्रोंसे कहूँगा—तुम्हें मनुष्योंके तनपर नहीं, मनपर शासन करना सीखना चाहिये । तलवारोंके बलपर कोई कितने दिन जी सकेगा ? मैं तलवार लेकर आया था, प्यार लेकर जा रहा हूँ ।'

सूर्य पश्चिममें डूब रहा था, पक्षी आकाशमार्गसे अपने नीडोंको लौट रहे थे, मृग निर्झरिणीके तटपर जल पीनेको खड़े थे और हूणराजके पैर बढ़े जा रहे थे अनिश्चित दिशाकी ओर । वह क्षमाके अद्भुत प्रभावसे प्रभावित होकर लौट रहा था ।

* * *

कामके पत्र

(१)

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहों

प्रिय महोदय ! आपका पत्र मिला । दोष किसमें नहीं होते । मनुष्यको अपना दोष देखना चाहिये । इसीमें उसका लाभ है । आपने लिखा कि 'मैं बहुत बोलता हूँ—और इसीसे कई बार अवाञ्छनीय घटनाएँ भी हो जाती हैं ।········तथापि मेरा बोलना कम नहीं होता ।' यह आपके अधिक बोलनेके अभ्यासका परिणाम है । पहलेसे वाणीमें संयम रहता तो ऐसा न होता । आपके बोलनेके फलस्वरूप कई बार अवाञ्छनीय घटनाएँ हो जाती हैं, जिनसे बड़ा संताप होता है, तथापि आपका बोलना कम नहीं होता—यह बड़े दुःखकी बात है। इसके लिये आपको दृढ़ताके साथ अभ्यास बदलना होगा । इसके दो उपाय हैं—(१) नित्य कुछ समयके लिये नियमितरूपसे मौनावलम्बन, (२) भगवान्‌के नामका नियमित संख्यामें प्रतिदिन जप । जितनी देर मौन रहेगा और जितना समय भगवान्‌के नाम-जपमें देना पड़ेगा, उतने समय तो आपको बाध्य होकर बोलना बंद करना ही पड़ेगा । मेरी समझसे आप प्रतिदिन प्रातःकाल और रात्रिको घरमें रहनेके समय एक-एक घंटे मौन रहकर उस समय भगवद्गीता और रामायणका पारायण करें और प्रतिदिन जब कभी समय मिले—'हरे राम'के सोलह नामवाले मन्त्रकी चौदह मालाका जप करें । जप करते समय कोई बात नहीं बोलनी चाहिये । यह जप आप चाहे लगातार एक बारमें करें या सुविधानुसार ५,५ और ४ मालाके हिसाबसे तीन बारमें कर लें । परन्तु जप करते समय बोलें नहीं । इससे आपको बहुत लाभ होगा । पहले-पहले तो संभव है—नया अभ्यास होनेसे तथा बोलनेकी बड़ी आदत होनेसे चित्त कुछ ऊबेगा । परन्तु आपने यदि दृढ़ताके साथ छः महीने भी इन दोनों नियमोंका पालन कर लिया तो आप अपनी आदतको बहुत कुछ बदली हुई पायेंगे । साथ ही भगवन्नाम-जपके तथा स्वाध्यायके प्रभावसे आपकी चित्त-वृत्तिमें भी आश्चर्यजनक अनपेक्षित सुधार हो सकता है । आप मन-ही-मन ऐसा निश्चय करते रहिये कि भगवान्‌की कृपासे मेरे अंदर सद्गुणोंका तथा सद्विचारोंका बड़े वेगसे संचार हो रहा है और दुर्गुण-दुर्विचारोंका नाश हो रहा है ।

यों तो सभी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं और सदा मनको खींच-खींचकर विषयोंकी ओर ले जाती हैं । अतएव सभीको वशमें करना चाहिये । परन्तु ज्ञानेन्द्रियोंमें कान और कर्मेन्द्रियोंमें जीभ तो स्वतन्त्र छोड़ देनेपर बहुत ही अनर्थ करती हैं । आँखें उन्हीं विषयोंका रस ले सकती हैं, जिनको वे स्वयं देखती हों; नासिका उन्हीं चीजोंकी सुगन्ध-दुर्गन्ध प्राप्त करती है, जिनका उसके साथ सम्पर्क होता हो; रसना उसी विषयका स्वाद चखती है, जो उसपर आ गया हो और त्वक् उसी मुलायम या कड़े पदार्थको पहचानती है, जिसका उसे स्पर्श प्राप्त हुआ हो; परन्तु ये कान (कर्णेन्द्रिय) ऐसे हैं कि दूसरोंकी देखी, सुनी, सूँघी, स्पर्श की हुई तथा समझी-जानी हुई बातोंको दूसरोंकी जबानसे सुन-सुनकर उनको मनतक पहुँचाते हैं और फलतः मनमें नाना प्रकारके विकार उत्पन्न होनेमें कारण बनते हैं । इसी प्रकार यह जीभ सारी इन्द्रियोंके अनुभवोंको, दूसरोंके प्रवादों-विवादों तथा मिथ्या प्रलापोंको—परनिन्दा, परापवाद, चुगली आदिको अपनाकर कितनी झूठी, कडुवी, तीखी, विषैली, चुभती, सुलगती, जलती, कटती बोलती है कि जिसकी गणना नहीं हो सकती । न मालूम यह कितने रसभरे हृदयोंको सुखा देती है,

कितने प्रशान्त चित्तोंमें अशान्तिकी आग भड़का देती है, कितने सुखियोंको रुला देती है, कितने सदाशयोंमें वैरकी ज्वाला उत्पन्न कर देती है, कितनोंको मर्माहत, शोकसन्तप्त और पीड़ित कर देती है और कितनोंके जीवनको दुःख-क्लेशोंका घर बना देती है ! इसीसे तुलसीदासजी महाराजने प्रतिज्ञा की—

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं ।

कानोंसे भगवच्चर्चाको छोड़कर दूसरी बात सुनूँगा नहीं और जीभसे दूसरी गाथा गाऊँगा नहीं—और कुछ बोलूँगा ही नहीं ।

इसलिये हम सभीको इन दोनों इन्द्रियोंको विशेष सावधानीसे संयमित करना चाहिये । जहाँतक बने—कानोंसे परचर्चा, परनिन्दा, परापवाद, आत्म-प्रशंसा नहीं सुनकर भगवद्गुणानुवाद, भगवान्की लीला-कथा, सत्-चर्चा आदि सुननी चाहिये, और जीभको तो खास तौरपर वशमें करना चाहिये । कानकी अपेक्षा जीभपर अपना अधिकार भी अधिक है । जीभसे व्यर्थकी बात बोलनी ही नहीं चाहिये । या तो आवश्यक कामकी उतनी बात बोलनी चाहिये, जिसके बोले बिना काम न चलता हो, या रामकी बात—भगवच्चर्चा बोलनी चाहिये । निरन्तर भगवान्के नामका जप करनेकी आदत डालनी चाहिये । ऐसी धारणा करनी चाहिये कि जीभके द्वारा भगवान्के नामरूपी धनका संग्रह हो रहा है, जितनी देर दूसरी बात होगी, उतनी देर नाम नहीं लिया जायगा और उतनी देर यह परम धनकी कमाई बंद हो जायगी । जैसे लोभी मनुष्यको पैसेका नुकसान सहन नहीं होता, बड़ा दुःख होता है—वैसे ही नाम-धनका नुकसान सहन नहीं होना चाहिये । विशेष दूसरे पत्रमें—शेष भगवत्कृपा ।

(२)

कुछ कामकी बातें

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार है—

(१) आपने अबतक भगवान् विष्णुको अपना इष्टदेव माना है, तब इस समय इस विषयमें शङ्का क्यों करते हैं ? आप श्रीविष्णुको ही अपना इष्टदेव मानें । भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशंकरजी सब भगवान् श्रीविष्णुसे अभिन्न हैं । विष्णुभगवान्की आराधनासे सबकी आराधना हो जाती है ।

(२) आप भगवान् श्रीविष्णुके चित्रकी जिस प्रकार पूजा करते हैं, वह ठीक है । भगवान्को जड तस्वीर न मानकर चेतन आनन्दमय साक्षात् भगवान् मानना चाहिये और मन-ही-मन उनकी आज्ञा लेकर सारे कर्म करने चाहिये ।

(३) प्रातःकालकी सन्ध्या पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुँह करके करनी चाहिये । सन्ध्या करते समय भगवान्की मूर्तिसे कुछ हटकर बैठ सकते हैं । असलमें भगवान्की ओर पीठ नहीं होनी चाहिये ।

(४) पहले सन्ध्या करके फिर भगवान्की पूजा करनी चाहिये ।

(५) प्रातःकाल सन्ध्या करनेके बाद ही फल-दूध आदि लेने चाहिये । बीमारीकी स्थितिमें पहले भी ले सकते हैं ।

(६) पेट सदा साफ रहेगा तो रोग नहीं होंगे । पेट साफ रखनेके लिये खान-पानमें संयम रखना आवश्यक है । मीठा न खाकर साग-सब्जी अधिक खानी चाहिये । रोटी चोकरमिले आटेकी होनी चाहिये । बीच-बीचमें एनिमासे पेट साफ कर लेना उत्तम है । बार-बार जुलाब लेना ठीक नहीं है ।

(७) प्रतिदिन, घरमें जो बड़े हों, उन सबको प्रणाम करना चाहिये । बड़े-बूढ़ोंको नित्य प्रणाम करनेसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है ।

(८) स्त्रीके साथ मित्रवत् आचरण करना चाहिये । न उसका गुलाम बनना चाहिये और न उसे गुलाम

बनाना चाहिये। उसे अर्धाङ्गिनी मानना चाहिये और आदरके साथ उससे प्रेमका व्यवहार करना चाहिये।

(९) नित्य श्राद्ध न कर सकें तो माता-पिता आदिकी मरणतिथिपर तथा आश्विन कृष्णपक्षमें उनकी मरण-तिथिके दिन श्राद्ध अवश्य करना चाहिये।

(१०) भगवन्नाम-जपमें कोई नियम नहीं है। बस, जप करना ही नियम है। श्रद्धा-प्रेम तथा निष्काम भाव हो तो सर्वोत्तम है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

कल्याण और गीता

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आप 'कल्याण'को बराबर पढ़ते आ रहे हैं—यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। गीताके सम्बन्धमें हमारे निम्न विचार हैं—

'कल्याण' एक धार्मिक पत्र है। सनातनधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक बातका प्रचार 'कल्याण' द्वारा होता है। इसका प्रधान विषय अध्यात्म ही है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, निष्काम कर्मयोग, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सदाचार, सतीधर्म, नारीधर्म आदि सभी विषयोंपर 'कल्याण'द्वारा प्रकाश डाला जाता है। हिंदू-शास्त्रोंमें वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थोंका बहुत उच्च स्थान है। इन्हीं ग्रन्थोंमें हमारी संस्कृतिका परम दिव्य उज्ज्वल स्वरूप चित्रित है; अतः इन्हींके आधारपर 'कल्याण'में अधिकांश विचार प्रकट किये जाते हैं। इन सबमें भी गीताका स्थान महान् है। गीताके अनुसार जीवन बनानेसे मनुष्यका प्रत्येक व्यवहार आध्यात्मिक उन्नतिका—भगवत्-पूजनका साधन बन जाता है। गीताने मुख्यतः दो निष्ठाओंका वर्णन करके उन्हें भक्तिके साथ संयुक्तकर 'मणि-काञ्चन योग' उपस्थित किया है। 'कल्याण' किसी व्यक्तिके मतकी ओर आकृष्ट न होकर अपनी समझके अनुसार भगवान्‌के मतका प्रकाश करता है। 'कल्याण' गीताको कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों निष्ठाओंका प्रतिपादक मानता है। 'कल्याण' ने अबतक इसी नीतिसे गीताको देखने और समझनेका प्रयास किया है। 'कल्याण' किसी व्यक्ति या व्यक्तिगत सिद्धान्तका प्रचारक न होकर निष्पक्ष शास्त्रीय सिद्धान्तका ही प्रचार करना अपना ध्येय मानता है। पर 'कल्याण' किसीपर किसी सिद्धान्तको लादना भी नहीं चाहता। जो अपने शुद्ध दृष्टिकोणसे गीतामें केवल 'संन्यास' का प्रतिपादन मानते हैं, वे वैसा मान सकते हैं और जो केवल 'निष्काम कर्मयोग'को ही गीताका मुख्य सिद्धान्त मानते हैं, वे भी अपने मतके लिये स्वतन्त्र हैं। 'कल्याण' अपनी बात कहता है, किसीका खण्डन नहीं करता। 'कल्याण' यह दावा भी नहीं करता कि गीताके सम्बन्धमें वह जो मानता है, वही ठीक है। गीता श्रीभगवान्‌की वाणी है इसलिये वह सभीके लिये उपयोगी है। जो जैसा अधिकारी है, गीताका उसके लिये वैसा ही उपदेश है। रत्नोंका समुद्र है गीता—जिसकी जैसी डुबकी, उसको वैसा ही फल। शेष भगवत्कृपा।

(४)

मानव-शरीरका लाभ

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला, धन्यवाद। उत्तरमें निवेदन है कि अब तो आपको सब ओरसे मनको हटाकर उसे केवल भगवान्‌में ही लगाना चाहिये। आपकी आयु साठ वर्षसे ऊपर हो चुकी है। आजकलके जमानेमें पचास वर्षसे अधिक जीना तो घलुएका जीना है। भगवान्‌की बड़ी कृपा है जो उन्होंने इस दुर्लभ मानव-शरीरमें इतने दिनोंतक रहनेका सुअवसर दिया। इस अवसरका पूरा लाभ उठाना चाहिये। इतनी बड़ी आयु पाकर भी मनुष्य यदि भगवान्‌के निष्काम और प्रेमयुक्त भजनसे अपने जन्म-जीवनको सार्थक न कर ले तो उससे बढ़कर भाग्यहीन और मूर्ख इस जगत्‌में दूसरा कौन हो सकता है?

यह सत्य है कि मन बहुत चञ्चल है और दुर्धर्ष है; परंतु इस मनको भी वशमें किया जा सकता है। गौ नये खूँटेपर बँधनेमें पहले-पहले घबड़ाती है, पर यदि कोई उसे बाँधे रक्खे और अच्छा खाने-पीनेको दे तो वह शीघ्र ही पुरानी जगहको भूलकर नयी जगहमें वैसे ही रम जाती है, जैसे पुरानी जगहमें रम रही थी। इसी प्रकार मन भी अभ्यास और वैराग्यसे वशमें किया जा सकता है। मन स्वभाववश जहाँ भी जाय, वहींसे हटाकर उसे भगवान्के चिन्तनमें लगानेका बार-बार प्रयत्न करे—यही 'अभ्यास' है। संसारके जितने भी नेह-नाते हैं, सभी क्षणभंगुर हैं, इस शरीरके साथ समाप्त हो जानेवाले हैं। (स्वार्थमें बाधा आनेपर पहले भी टूट जाते हैं।) ये सभी मोहमें डालनेवाले हैं। इसी प्रकार संसारके सभी विषय-भोग क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप हैं। वे जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिके ही बन्धनमें डालते हैं। ऐसा सोचकर उनकी ओरसे मुँह मोड़ लेना ही 'वैराग्य' है। सचमुच भगवान्के बिना जगत् सर्वथा दुःखालय है और भगवान्का नित्य संयोग परम सुखमय है। बार-बार मनको परमानन्दमय प्रभुके मधुर भजनमें लगावे और प्रभुसे रहित विषरूप विषयोंसे हटावे। यदि श्रद्धापूर्वक, बिना उकताये यह अभ्यास वैराग्यका क्रम चलता रहेगा तो मन विषयोंसे हटकर सहज ही भगवान्में लग जायगा। भगवान्के भजनका स्वाद आनेपर तो यह फिर वहाँसे हटाये भी नहीं हटेगा।

ऐसा न हो सके——मन न काबूमें आता हो तो फिर सब साधनोंका आशा-भरोसा छोड़कर एकमात्र कृपासिन्धु भगवान्को आर्त होकर पुकारना चाहिये। भगवान्के चरणोंका आश्रय लेना चाहिये। भगवान् परम दयालु हैं। जीवमात्रके अकारण सुहृद् हैं। उनका नित्य-निर्भय आश्रय सदा सबके लिये खुला है। पापी-तापी—भला-बुरा, कोई भी, जो एकमात्र उनको ही अपना आश्रय मानकर विश्वासपूर्वक उन्हें पुकारता है——अपनी असमर्थताके लिये रो-रोकर उन्हें पुकारता है——भगवान् उसे अपना आश्रय देते हैं। जो उनकी ओर एक पग चलता है, भगवान् उसकी ओर अपनी चालसे चलकर तुरंत पहुँच जाते हैं। आप उनको पुकारिये। यह अमोघ उपाय है। आप भगवान्के——उनके नामके शरण हो जाइये। फिर आप भगवान्की परम सुखद गोदमें होंगे और वे अपना वरद कोमल करकमल आपके मस्तकपर फेरते होंगे। आप निहाल हो जायँगे। शेष भगवत्कृपा।

* * *

मनकी दशा

यह मन नेक न कह्यौ करै।
सीख सिखाय रह्यो अपनी-सी, दुरमतितें न टरै॥
मद-माया-बस भयौ बावरौ, हरि-जस नहिं उचरै।
करि परपंच जगतके डहकै, अपनौ उदर भरै॥
स्वान-पूँछ ज्यों होय न सूधौ, कह्यौ न कान धरै।
कह नानक, भजु रामनाम नित, जातें काज सरै॥

—नानकजी

श्रीहरिः

नयी पुस्तक ! *प्रकाशित हो गयी !!*

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासविरचित

श्रीरामचरितमानस

(आठ रंगीन चित्रोंसहित)

[बड़े अक्षरोंमें केवल मूल पाठ]

आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ५१६, आठ चित्र बहुरंगे, सजिल्द मूल्य ४) डाकखर्च १) ।

बहुत दिनोंसे बड़े अक्षरोंकी मूल रामायणकी माँग थी । इसके पाठके टाइप तथा अन्य बातें हमारी ७॥) वाली रामायणकी तरह ही हैं । केवल टीका नहीं है ।

इसका एक नमूना इसी अङ्कमें टाइपोंकी साइज आदि देखनेके लिये अन्यत्र दिया जा रहा है ।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

श्रीमद्भगवद्गीता

शांकरभाष्य हिन्दी-अनुवादसहित

संस्करण सातवाँ, आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ५२०, चित्र रंगीन तीन, सजिल्द मूल्य २॥) डाकखर्च १-) ।

पिछले ६ सालसे इस पुस्तककी बराबर माँग रहती थी पर मुद्रणसम्बन्धी अनेक कठिनाइयोंके कारण अबतक इसका नया संस्करण प्रकाशित नहीं हो पाया । इसमें पहलेकी तरह ही मूल श्लोक, भाष्य, भाष्यार्थ, टिप्पणी और शब्दानुक्रमणिका दी गयी है ।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

* * *

पत्र-व्यवहार करनेवालोंसे प्रार्थना

मेरे व्यक्तिगत तथा सम्पादकके नामसे इतने अधिक पत्र आते हैं कि उनके पढ़नेमें बहुत समय लगता है और समयपर उन सबका उत्तर भी नहीं जा पाता । मेरे कई साथी पत्र लिखते रहते हैं, मैं भी लिखता हूँ, तो भी पत्र रह ही जाते हैं । बहुत-से लोग तो कौतूहलवश लंबी-लंबी प्रश्नावलियाँ लिख भेजते हैं जिनका उत्तर लिखनेमें समय और शक्ति दोनोंका ही अपव्यय होता है । जो लोग 'कल्याण' के सम्बन्धमें कुछ जानना-जनाना चाहते हैं, किसी व्यक्तिगत या गृहस्थीसम्बन्धी उलझनसे निकलनेके लिये सलाह पूछते हैं और विशुद्ध जिज्ञासु भावसे साधन-सम्बन्धी बातें जानना चाहते हैं, उनको उत्तर तो दिया जाता है परंतु अन्य पत्रोंकी भीड़के कारण उनका उत्तर समयपर नहीं जा पाता । बहुत-से पत्र तो बिना उत्तर दिये ही रह जाते हैं । ऐसी अवस्थामें समस्त सज्जनों और बहिनोंसे मेरी सादर प्रार्थना है कि वे अत्यन्त आवश्यक होनेपर ही मुझे पत्र लिखा करें और उत्तर न मिले तो मेरी परिस्थितिपर विचार करके क्षमा करें ।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार 'कल्याण' सम्पादक

* * *

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥) डाकव्ययसहित । साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य ।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है । इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ; हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदू-धर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्धतत्त्व, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानुष्ठान, पीठ-विज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कगणित, कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौसठ कला, गान्धर्व-विद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्रशस्त्रादि, वैमानिककला, नौनिर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं ।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं ।

लेखकोंमेंसे थोड़े-से नाम ये हैं—

जगद्गुरु अनन्तश्रीशङ्कराचार्य ज्योतिर्मठ, जगद्गुरु अनन्तश्रीशङ्कराचार्य शारदापीठ, स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज, योगिराज श्रीमाधवानन्दजी, स्वामीजी कृष्णानन्दजी, स्वामीजी सत्यदेवजी परिव्राजक, महात्माजीके सच्चे अनुयायी और संत श्रीविनोबा भावे, श्रीदादा धर्माधिकारीजी, योगिराज श्रीअरविन्द, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके सरसंघसंचालक श्रीमाधव सदाशिव गोळवलकर, हिंदू-महासभाके महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी, माननीय प्रान्तपति बंगालके डा० कैलाशनाथ काटजू महोदय, बिहारके श्रीमाधव श्रीहरि अणे महोदय; श्रीश्यामाप्रसाद मुकर्जी भू० उद्योग-मन्त्री केन्द्रिय सरकार, श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर नभोवाणी-मन्त्री, श्रीसम्पूर्णानन्दजी शिक्षामन्त्री उत्तरप्रदेश, सनातनधर्मके प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० सकलनारायणजी शर्मा काव्य-सांख्य-वेदान्त-तीर्थ, पं० दीनानाथजी शास्त्री विद्यावागीश, पं० माधवाचार्यजी शास्त्री, डा० जयेन्द्रराय दूरकाल एम्० ए०, डी-एस्० सी०, विद्यावारिधि, महामहोपाध्याय पं० जौहरीलालजी शर्मा; श्रीजयदयालजी गोयन्दका, वैदिक विद्वान् पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर वेदाचार्य, पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी वेदान्त-शास्त्री, पं० श्रीभगवद्दत्तजी महोदय, श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक; प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् पं० अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०, महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी०-लिट्०, श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०, डा० पी० के० आचार्य एम्० ए० डी० लिट्०, आचार्य क्षितिमोहन सेन; प्रसिद्ध और आदर्श साहित्यिक विद्वान् पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय, पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, श्रीभगवानदासजी केला, और श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्० आदि-आदि ।

थोड़ी-सी प्रतियाँ बची हैं, जिनको आवश्यकता हो, तुरंत ६॥) भेजकर मँगा लें, या वी० पी०से भेजनेका आदेश करें ।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

गुरुकुल-पत्रिका,
गुरुकुल कांगड़ी
पु-
गुरुकुल कांगड़ी.

वर्ष
२५
अङ्क
७

कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २००८, जुलाई सन् १९५१

विषय ... पृष्ठ-संख्या
१–प्रेमविवश राम [कविता] ११४३
२–कल्याण ('शिव') ११४४
३–ईश्वरभक्ति, सदाचार और गीताकी महिमा (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानसे) ... ११४५
४–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन ११५३
५–ब्रह्मचर्य-रक्षाके उपाय और फल (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ११५९
६–व्यापारीकी प्रार्थना ('यूनिटी') ११६७
७–सतत उद्योग और मनोरथका त्याग (स्व० मगनलाल हरिभाई व्यास) ११६८
८–पौराणिक सद्धर्म [कविता] (पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ... ११७१
९–सत्सङ्ग (श्रीशम्भुनाथजी चतुर्वेदी) ११७४
१०–मनुष्य-जीवनके कुछ दोष ११७८
११–भक्तका निश्चय [कविता] (मीराबाई) ११८१
१२–धनकी विपत्ति (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ११८२
१३–धर्मपरायणतासे ही भारतका अभ्युदय (पं० श्रीदुर्गादत्तजी शास्त्री, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-स्मृति-पुराणतीर्थ) ११८५
१४–मानसिक शक्तियोंका उद्दीपन (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०) ११८८
१५–सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन (सङ्कलनकर्ता—एक सत्सङ्गी) ११८९
१६–भक्त-गाथा [भक्त गोविन्दस्वामी] (श्रीनटवरलाल गोस्वामी) ११९२
१७–कामके पत्र ११९५
१८–हृदय-बोध [कविता] [समर्थ स्वामी श्रीरामदासजीके 'मनांचे श्लोक'का अनुवाद] (डा० पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र एम्० ए०) १२००
१९–गोवधका पाप १२०४
२०–संसारकी असारता [कविता] (श्रीजनार्दन झा 'जनसीदन') १२०६

चित्र-सूची

तिरंगा

१–सीताजीके वस्त्रको श्रीराम हृदयसे लगा रहे हैं ११४३

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिङ्ग

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र
भारतमें ।
विदेशमें ॥
(१० पैंस

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए० शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

76150

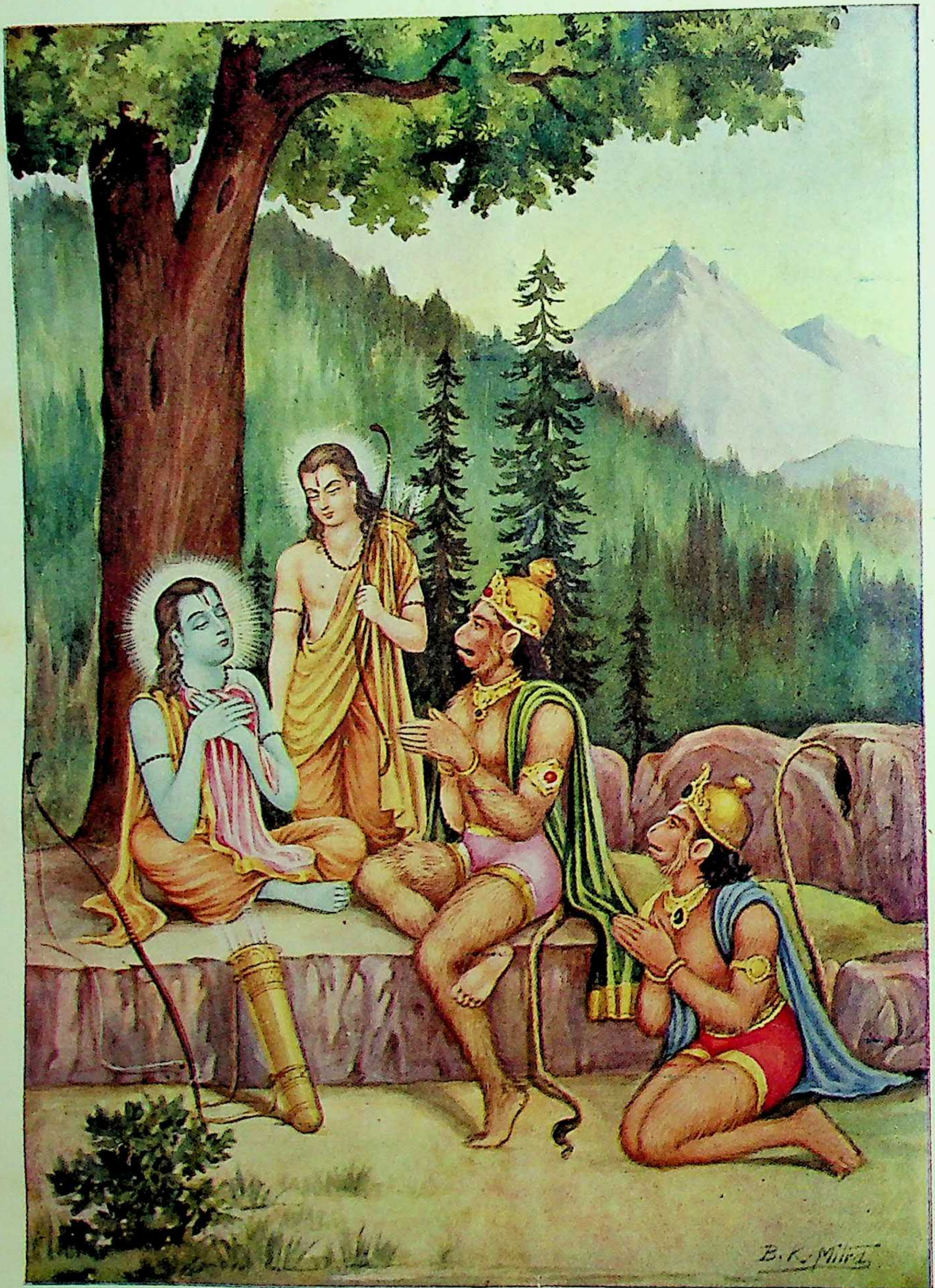

सीताजीके वस्त्रको श्रीराम हृदयसे लगा रहे हैं ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥

वर्ष २५ } गोरखपुर, सौर श्रावण २००८, जुलाई १९५१ { संख्या ७
पूर्ण संख्या २९६

प्रेमविवश राम

रघुपति सीय बसन उर लाए ॥
हिय उमगत, नहिं कहत बनत कछु, सुमिरत सील सनेह सुहाए ।
मन अति प्रेम बिबस, तन पुलकित, कंपित गात, नयन-जल छाए ॥
राम दसा लखि बिकल लषन, कपि, सखा सकल निज ग्यान गँवाए ।
कर जोरें हेरत हरि को मुख, पलकहीन नयनन्हि सकुचाए ॥

याद रक्खो—आसक्ति और कामना ही बन्धन है। आसक्ति एवं कामना न रखकर प्राप्त कर्तव्यके पालनमें कोई बन्धन नहीं है। कर्म करना चाहिये, पर करना चाहिये केवल भगवान्के लिये—भगवान्की प्रीतिके लिये।

याद रक्खो—कर्म किये बिना मनुष्य क्षणभर भी नहीं रह सकता। इसलिये कर्म तो करना ही होगा। पर जो कर्म भगवान्का स्मरण करते हुए भगवान्के लिये होता है, वह बन्धनका नाश करनेवाला होता है।

याद रक्खो—प्रारब्धके अनुसार जो कुछ प्राप्त होना है, वह बिना कामनाके भी प्राप्त हो जायगा। प्रारब्ध न होगा तो हजार कामना तथा हजार प्रयत्नसे भी वह वस्तु नहीं मिलेगी।

याद रक्खो—जिस कर्ममें आसक्ति और कामनाका कलङ्क न लगा होगा, उसका फल अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञानकी प्राप्ति और भगवान्की प्राप्ति होगा। पर जो कर्म सकामभावसे किया जायगा, वह यदि पुण्यकर्म होगा तो उसका फल सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति होगा।

याद रक्खो—निष्काम कर्म मुक्तिमें हेतु है और सकाम कर्म जन्म-मृत्युमें। निष्काम भाव मनुष्यके सारे बन्धनोंको काटता है और सकाम भाव उसे नये-नये बन्धनोंमें जकड़ता है—बन्धनोंके स्वरूपमें अन्तर हो सकता है। बेड़ी सोनेकी हो या लोहेकी, है वह बन्धन ही।

याद रक्खो—सकाम भाव होनेसे ही मनुष्य पाप करता है। पापोंकी जननी कामना ही है। निष्काम भावमें पापके लिये स्थान नहीं है।

याद रक्खो—जब यह स्पष्ट हो गया कि जन्म-मृत्यु तथा शरीर-धारणमें दुःख-ही-दुःख है, तब परलोक या पुनर्जन्मके लिये कर्म करना तो दुःखकी स्थितिको ही निमन्त्रण देना है। अतएव किसी भी परलोककी कामनासे कर्म करना मूर्खता है।

याद रक्खो—भोगमात्र ही दुःख देनेवाले हैं। गीतामें भगवान्ने बताया है 'जितने भी भोग हैं, सब दुःखयोनि हैं।' अतएव इस जन्ममें भी भोग-कामनासे कर्म करना बुद्धिमानी नहीं है। जो कर्मका महान् श्रम उठाकर उसके फलस्वरूप दुःखोंको बुला ले, वह तो मूर्ख ही है।

याद रक्खो—भोग-कामनामात्र ही बन्धनकारक तथा जन्म-मरण देनेवाली है। इसलिये वह त्याज्य है। फिर चाहे वह इस लोकके लिये हो या परलोकके लिये। हाँ, भगवत्प्राप्तिकी, भजनकी, कामनाके नाशकी और वैराग्यकी कामना त्याज्य नहीं है; क्योंकि ऐसी कामना अन्तःकरणकी शुद्धिमें हेतु है और अन्तःकरणकी कुछ शुद्धि होनेपर ही होती है।

याद रक्खो—विराट् भगवान्के स्वरूपभूत इस संसारका प्रवाह तो सदा चलता ही रहता है—सिनेमाके फिल्मकी तरह इसमें नये-नये दृश्य आते ही रहते हैं। जो पुरुष भगवान्के इस खेलको खेल समझकर अपने जिम्मेका काम किये जाता है, उसे तो बड़ा मजा आता है; पर जो इसमें कहीं आसक्ति या कामना कर बैठता है, वह बुरी तरह फँस जाता है। अतएव कर्म करते रहो, पर कहीं फँसो मत।

याद रक्खो—जो कर्म भगवान्के लिये होंगे, वे अपने-आप ही शुभ होंगे—वे सत्कर्म ही होंगे। उनमें न तो कहीं परस्वापहरणकी बात होगी न झूठ, कपट, छल होगा; न किसीका अनिष्ट करनेकी कल्पना होगी और न उनसे कभी किसीका अनिष्ट होगा ही। उनसे स्वाभाविक ही जगत्की सेवा होगी; क्योंकि सर्वान्तर्यामी सर्वरूप भगवान्की सेवा ही जगत्की सेवा है।

'शिव'

* * *

ईश्वरभक्ति, सदाचार और गीताकी महिमा

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानसे)

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

उपदेश और आदेश देनेका न मेरा अधिकार है और न मुझमें योग्यता ही है; किंतु आपलोगोंका कहना है, इसलिये मैं विनयके रूपमें कुछ कह देता हूँ। हमारे परमपूज्य मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी प्रजाके प्रति उपदेश और आदेश देते हुए जो कुछ कहा है, उसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिये।

वे कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी।
कहउँ न कछु ममता उर आनी॥

'हे सकल पुरवासीजनो! मेरी वाणीको सुनो, मैं कुछ ममता (अभिमान) करके नहीं कहता हूँ।'

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई।
सुनहु करहु जो तुम्हहि सुहाई॥

'न तो मैं अनीतिकी बात कहूँगा और न प्रभुताकी। आपलोग सुनें और सुनकर यदि आपको अच्छी लगे तो उसे आप काममें लायें।'

जौं अनीति कछु भाषौं भाई।
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

'हे भाई! यदि मैं कोई अनीतिकी बात कहूँ तो भयका त्याग करके मुझको मना कर देना।'

ध्यान देनेकी बात यह है कि वे साक्षात् भगवान् थे, सम्राट् थे और मर्यादापुरुषोत्तम थे। उपदेश और आदेश देनेका उनका सब प्रकारसे अधिकार था; किंतु कितनी विनय और सरलतासे वे अपने पूज्य जनोंसे कह रहे हैं!

मैं तो जो कुछ भी आपकी सेवामें निवेदन करता हूँ, वह मेरी एक प्रार्थना है। आप यदि उचित समझें तो उसको काममें ला सकते हैं। आप स्वतन्त्र हैं; किंतु जो उसको काममें लायेंगे, मैं अपनेको उनका आभारी मानूँगा।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तो कहते हैं—

सो सेवक प्रियतम मम सोई।
मम अनुसासन मानइ जोई॥

'वही मेरा सेवक है, वही मेरा अतिशय प्यारा है, जो मेरे शासनको मानता है।' मैं इस प्रकार भी नहीं कह सकता। वे तो ईश्वर और सर्वशक्तिमान् थे, शासक थे; वे सब प्रकारसे यों कह सकते हैं। मैं न कोई शक्तिमान् हूँ, न ईश्वर हूँ, न तो कोई शासक ही हूँ। मैं तो प्रार्थना और विनयके रूपमें ही निवेदन कर सकता हूँ।

हमलोगोंको यह विचार करना चाहिये—यह मनुष्य-जीवन हमें किसलिये मिला है? यह आहार, निद्रा और मैथुनके लिये नहीं मिला है। भोजन, मैथुन और शयन तो पशुओंमें भी है, फिर हममें क्या विशेषता हुई? यह मनुष्यका शरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है। यह मिला है—आत्माके कल्याणके लिये! किंतु जो मनुष्य-शरीर पाकर अपने जीवनको भोगोंमें लगाता है, वह अमृतके बदले विषका सेवन करता है—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

इन सब बातोंका विचार करके हमलोगोंको अपना समय बहुत ही उच्च काममें लगाना चाहिये। मनुष्यका जन्म बार-बार मिलनेका नहीं। ईश्वरने हमलोगोंको मौका दिया है, उनकी बड़ी कृपा है। ऐसा सुअवसर पाकर

हमको अपने जीवनका लाभ **उठाना चाहिये** । ऐसा **न हो** कि हमें आगे चलकर पश्चात्ताप करना पड़े । मनुष्य-शरीरको पाकर जो अपनी आत्माका कल्याण नहीं करेंगे, उनको आगे चलकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

'वे आगे जाकर सिर धुन-धुनकर पश्चात्ताप करेंगे । काल, कर्म और ईश्वरको झूठा दोष लगायेंगे ।'

इसलिये हमलोगोंको अपने समयका उपयोग बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये । प्रातःकाल और सायङ्काल, जो कि उपासनाका समय है, नित्य-नियमसे उपासना करनी चाहिये । जिनके यज्ञोपवीत है, उनको सन्ध्या और गायत्री-जप करना चाहिये । जिनके यज्ञोपवीत नहीं है, उनको अपने अधिकारके अनुसार भक्तिका साधन करना चाहिये । नित्यप्रति गीता और रामायणका स्वाध्याय, भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान तो अर्थ और भावसहित सभीको करना चाहिये ।

हमलोग जो भजन-ध्यान और पूजा-पाठ करते हैं, उससे जितना लाभ होना चाहिये, उतना देखनेमें नहीं आता । इसका कारण यही है कि हम भजन-ध्यान और पाठ आदि अर्थ और भावसहित नहीं करते । हमलोगोंका भजन-ध्यान करते समय मन कहीं-का-कहीं चला जाता है, केवल बाहरी भजन-ध्यान होता है । न करनेकी अपेक्षा ऐसा करना भी अच्छा है, पर वास्तवमें वह मूल्यवान् नहीं ।

नामका जप जो वाणीसे किया जाता है, उसकी अपेक्षा, जो श्वाससे किया जाता है, वह श्रेष्ठ है । जो मानसिक किया जाता है, वह उससे भी श्रेष्ठ है । और वही मानसिक जप यदि अर्थ और ध्यानसहित किया जाय तो और भी श्रेष्ठ है ।

जैसे श्रीपतञ्जलिजीने कहा है—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना करना ।' गीतामें बतलाया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(८ । १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ।'

इस प्रकार करना चाहिये । इस प्रकारका जप यदि निष्कामभावसे किया जाय तो वह और भी विशेष मूल्यवान् हो जाता है । ऐसे ही गीताके विषयमें समझना चाहिये । जो मनुष्य प्रतिदिन गीताके १८ अध्यायोंके मूल श्लोकोंका पाठ बिना अर्थ समझे करता है, उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है, जो अर्थ और भावसहित एक अध्यायका पाठ करता है एवं उससे भी वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो एक श्लोकको भी धारण करता है ।

हमलोगोंको अपना समय बहुत सावधानीके साथ बिताना चाहिये । हर समय भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करते हुए ही सब काम करने चाहिये । अर्जुनके लिये भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
(गीता ८ । ७)

'इसलिये अर्जुन ! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर ।'

अर्जुन क्षत्रिय था, उसके लिये भगवान्‌ने युद्ध करनेकी आज्ञा दी है । इसी प्रकार सबको भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार समस्त शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये ।

रात्रिमें शयनके समय मनमें जो संसारके संकल्पोंका प्रवाह बहता रहता है, वही संकल्पोंका प्रवाह स्वप्नके रूपमें स्वप्नका संसार बनकर प्रतीत होने लगता है। इसलिये बिछौनेपर शयन करनेके बाद जबतक हम जागते रहें, भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका स्मरण करते-करते शयन करना चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका स्मरण करते हुए ही शयन करनेसे अर्थात् भगवत्सम्बन्धी संकल्पोंका प्रवाह बहाते हुए ही शयन करनेसे रात्रिमें स्वप्न भी अच्छे ही आयेंगे और स्वाभाविक ही हमारा वह समय साधनके रूपमें ही बीतेगा।

ईश्वरकी हमलोगोंपर बड़ी भारी कृपा है। ईश्वरने हमलोगोंको बड़ा सुन्दर सुअवसर दिया है। खयाल कीजिये, सारे ब्रह्माण्डमें यह मर्त्यलोक—मनुष्यलोक सबसे उत्तम है; इस मनुष्यलोकमें यानी पृथ्वीलोकमें भारतवर्ष सबसे उत्तम है। उस भारतवर्षमें हमलोगोंका जन्म हुआ। यह ईश्वरकी कितनी भारी कृपा है!

इसके अतिरिक्त संसारमें जितने भी प्रचलित धर्म माने जाते हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है, जो वैदिक सनातन धर्मसे पहलेका हो। यह सनातन धर्म सनातन है—अनादि है। अन्यान्य जितने भी संसारमें धर्मके नामसे प्रचलित हुए हैं, वे सब पीछेके हैं। इस बातको सभी स्वीकार करते हैं। इस्लाम-धर्म, जो हजरत महम्मदका चलाया हुआ है और जिसका धर्मग्रन्थ कुरानशरीफ है, करीब १४०० सालसे है; १४०० वर्षके पहले यह मत ही नहीं था। इसी प्रकार आज ईस्वी सन् १९५१ है, अबसे २००० वर्षके पहले ईसाई-मत संसारमें नहीं था। आपको मानना होगा कि यह २००० वर्षके पीछेकी चीज है। बुद्धका जो सिद्धान्त है, जिसको हम बौद्धमत कहते हैं—आज गौतम बुद्धको करीब २५०० वर्ष हुए—२५०० वर्षके पूर्व यह बौद्धमत भी नहीं था।

इन चार मतोंको छोड़कर और जितने छोटे-छोटे मत-मतान्तर हैं, उनकी तो गणना ही क्या करें; क्योंकि उनको माननेवाले अल्पसंख्यक हैं। ऐसा और कोई मत नहीं, जिसको करोड़ों आदमी भी मानते हों। हाँ, धर्म और ईश्वरको न माननेवाले तो आपको बहुसंख्यक आदमी मिल सकते हैं, पर उनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं।

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि यह वैदिक सनातन-धर्म ही अनादि और नित्य है, इसीलिये इसका नाम सनातन है। इस धर्ममें हमलोगोंकी उत्पत्ति हुई। यह ईश्वरकी कितनी बड़ी कृपा है!

इसके सिवा यह कलियुग अवगुणोंकी खान है; किंतु इसमें एक विशेष गुण यह है कि इसमें मनुष्य भगवान्‌की भक्ति करके परम पदको प्राप्त हो जाता है।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

कलियुगके समान कोई युग नहीं है, यदि कोई विश्वास करे। भगवान्‌के गुण गानेसे कलियुगमें बिना ही परिश्रम कल्याण हो जाता है। यह भी ईश्वरकी बड़ी कृपा है, जो उन्होंने ऐसा मौका हमलोगोंको दिया। प्रथम तो मनुष्यका शरीर मिलना भी बहुत कठिन। असंख्य कोटि जीव हैं—चौरासी लाख जिनकी जातियाँ हैं। उनमें मनुष्य भी एक जाति है। मनुष्य-जातिकी संख्या अत्यन्त स्वल्प है। उन मनुष्योंमें ईश्वरने हमलोगोंको शामिल कर दिया। यह ईश्वरकी कितनी बड़ी कृपा है! इसपर समय-समयपर जो सत्सङ्ग मिल जाता है, यह भगवान्‌की और भी विशेष कृपा है। इस प्रकारका संयोग पाकर भी यदि हमारी आत्माका कल्याण न हो तो हमारे लिये लज्जाकी बात है।

जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥

'जो नर इस प्रकारके सङ्गको पाकर संसार-सागरसे

नहीं तरता, वह निन्दाका पात्र है और मूर्ख और आत्माकी हत्या करनेवालेकी जो दुर्गति होती है, वही उसकी होगी।'

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको अपना समय उत्तरोत्तर उच्चकोटिके कार्यमें ही बिताना चाहिये अर्थात् अपनी आत्माकी उत्तरोत्तर उन्नति करनी चाहिये। भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक पाँचमें बतलाया है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

भगवान् कहते हैं कि अपनी आत्माको आत्माके द्वारा उन्नत करना चाहिये। 'न अवसादयेत्'—अपने-आपका अपने द्वारा पतन नहीं करना चाहिये। जिस कार्यको हम उत्तम-से-उत्तम समझते हैं, उसे उत्तरोत्तर बढ़ाना अपनी आत्माके द्वारा आत्माको उन्नत करना है और जिसको हम बुरा समझते हैं, उस कार्यको करना अपने द्वारा अपना पतन करना है।

सबसे उत्तम बात है भगवान्‌का हर समय स्मरण करना अर्थात् भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान हर समय करना—यह सर्वोत्तम है। इसकी पुष्टिके लिये सत्सङ्ग करना, सत्सङ्ग न मिले तो स्वाध्याय करना, किंतु आसुरी सम्पदावालोंका सङ्ग तो कभी नहीं करना चाहिये। आसुरी सम्पदाका वर्णन गीता, अध्याय १६में श्लोक ४से २१ तक किया गया है। उत्तम गुण और उत्तम आचरणका अमृतके समान समझकर अनुष्ठान करना चाहिये। इसका भी वर्णन गीता, अध्याय १६में श्लोक १ से ३ में 'दैवी सम्पदाके नामसे किया गया है।' 'दैवी सम्पदाका अनुष्ठान करना'—यह अपने-आपके द्वारा अपनी आत्माको उन्नत करना है और आसुरी-सम्पदाको धारण करना अपने द्वारा अपनी आत्माका पतन करना है।

अतः दुर्गुण, दुराचार और दुर्व्यसनोंको विषके समान समझकर इनका त्याग कर देना चाहिये। दुर्गुण क्या है? काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, राग, द्वेष आदि जितने भी हृदयके बुरे भाव हैं, सब दुर्गुण हैं। दुराचार क्या हैं?—इन्द्रियोंके आचरणोंमें जो बुरे आचरण हैं, दूषित कर्म हैं, जिन्हें हम पाप कहते हैं—जैसे चोरी करना, व्यभिचार करना, मांस खाना, मदिरा पीना, जूआ खेलना, हिंसा करना, झूठ बोलना इत्यादि—इनका नाम दुराचार है। दुर्व्यसन क्या हैं—बुरी आदत, फालतू बकवाद करना, फालतू चिन्तन करना, फालतू चेष्टा करना; जैसे चौपड़ खेलना, ताश खेलना, सिनेमा देखना, क्लबमें जाना, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा पीना, कोकीन खाना आदि जो मादक वस्तुका सेवन है तथा और भी जो ऐसे व्यर्थके काम हैं, जिनसे न स्वार्थकी सिद्धि होती है और न परमार्थकी—वे सब दुर्व्यसन हैं।

सर्वोत्तम बात तो यही है कि अपना सारा समय परमार्थमें बिताना चाहिये। दूसरी बात यह है कि स्वार्थमें भी समय बिताया जाय तो परमार्थको भी ध्यानमें रखना चाहिये; किंतु झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करके जो रुपये कमाना और उससे भोग और आराम करना है, यह तो बिल्कुल ही मूर्खता है। क्योंकि जो भी कुछ ऐश्वर्य—स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि हैं, सब विनाशशील और क्षणभङ्गुर हैं। कोई भी चीज अपने साथ जानेवाली नहीं; यह शरीर भी अपने साथ जानेवाला नहीं, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है। ऐसे थोड़े-से जीवनके लिये हम अपना जीवन पापमय क्यों बनायें? ध्यान रखना चाहिये कि अन्याय करके हम जो कुछ धन कमायेंगे, उसका बुरा फल हमींको भोगना पड़ेगा और वह धन भी हमारे साथ नहीं जायगा। क्योंकि प्रथम तो सरकार टैक्स (कर) के रूपमें ले लेगी, फिर चन्दे-चिट्ठेवाले ले जायँगे, फिर साझेदार भाई पाँती बँटा लेंगे, फिर अपने स्त्री, पुत्र आदि ले लेंगे; इसके बाद जो हमारे हिस्सेमें

रहेगा, वह भी यहीं रह जायगा, रुपयेमें पाई भर भी हमारे साथ नहीं जायगा। ऐसी परिस्थितिमें झूठ, कपट, बेईमानी करके धन इकट्ठा करना महान् मूर्खता है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर इस थोड़े-से जीवनके लिये हमें क्यों अन्याय करना चाहिये? हमें विश्वास करना चाहिये कि मरनेके बाद भी आत्मा है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य है। भगवान् कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

जब देहपात होनेके बाद भी आपकी आत्मा रहेगी; तब आपको विचार करना चाहिये कि इस थोड़े जीवनके लिये हम अपने जीवनको कलुषित बनाकर यहाँसे क्यों विदा हों? यह मनुष्य-जीवन बहुत ही मूल्यवान् है। ऐसा अवसर आपको बार-बार नहीं मिलेगा। ईश्वरकी कृपासे आपको यह मौका मिल गया है; अतः इसके एक-एक क्षणको मूल्यवान् समझकर जिस कामके लिये आप यहाँ आये हैं, उसे शीघ्र बना लेना चाहिये, जिससे फिर आपको कभी पश्चात्ताप न करना पड़े। अपनी आत्माके कल्याणके लिये ही आपको यह मनुष्यका शरीर दिया गया है, इस बातको समझकर लाख काम छोड़कर सबसे पहले अपना सारा समय अपनी आत्माके कल्याणके काममें ही लगाना चाहिये।

एक परमात्मा और महात्माओंको छोड़कर कोई भी आपका हित करनेवाला साथी नहीं है। श्रीतुलसीकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें श्रीरामचन्द्रजी महाराजने जब प्रजाको उपदेश दिया, तब उसके उत्तरमें प्रजा कहती है—

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

'हे प्रभो! सब कोई स्वार्थके लिये ही मित्र हैं, स्वार्थको छोड़कर परमार्थी मित्र कोई भी नहीं।'

'कोई नहीं है'—इसका यह अर्थ नहीं है कि बिल्कुल नहीं है। दो हैं। कौन?

हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

'हे प्रभो! हे असुरारे! हेतुरहित उपकार करनेवाले या तो आप हैं या आपका भक्त; तीसरा कोई नहीं।'

इस बातको ख्यालमें रखकर भगवान्‌का भजन-ध्यान और सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये, जिससे अपनी आत्माका शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाय।

इससे बढ़कर और सरल उपाय शास्त्रोंमें है ही नहीं। थोड़ा भी समय बाकी रह जायगा, तब भी आपका कल्याण हो सकता है, यदि भगवान्‌को याद करते हुए ही आपके प्राण निकलें। किंतु यदि आपके कल्याणका यह महत्त्वपूर्ण कार्य शेष रह जायगा तो फिर आपका कोई भी उत्तराधिकारी उसकी पूर्ति नहीं कर सकेगा। जो काम आपके बिना दूसरेके द्वारा होना

सम्भव नहीं है, उस कामको सबसे पहले करना चाहिये। सबसे जरूरी काम यह है कि आप जिस कामके लिये आये हैं, उस कामको कर लें। आपको मनुष्यका शरीर आत्माके कल्याणके लिये दिया गया है, न कि भोगके लिये।

एहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

'हे भाई! यह मनुष्यका तन यानी शरीर विषय-भोगोंके लिये नहीं है। तो क्या स्वर्गके लिये है? नहीं, स्वर्गके लिये भी नहीं है। वह भी अन्तमें दुःख ही देनेवाला है—

गीतामें कहा है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥
(९।२१)

'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये सब काम छोड़कर पहले यह काम करना चाहिये, नहीं तो आगे चलकर आपको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। क्योंकि यह मनुष्य-शरीरका समय बहुत ही दुर्लभ है। लाख रुपये खर्च करनेपर भी एक मिनटका समय आपको नहीं मिल सकता। ऐसे मूल्यवान् समयको यदि आप भोग और प्रमादमें बिता देंगे तो मैं कह सकता हूँ कि आपके समान संसारमें कोई मूर्ख नहीं। देवता लोग भी इस मनुष्य-शरीरकी आकाङ्क्षा करते हैं; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें कल्याण हो सकता है, अन्य योनिमें नहीं। यदि किसी दूसरी योनिमें कहीं कल्याणकी बात आती है तो वह अपवाद (छूट) है, एक विशेष बात है, नियम नहीं।

यदि आप अपना समय शरीर-पोषणके लिये लगाते हैं तो यह आपका रास्ता गलत है; क्योंकि शरीरमें यदि पाँच सेर मांस अधिक हो गया तो क्या और कम हो गया तो क्या! आखिर होगा क्या, खाक ही तो होगी। आपको विचार करना चाहिये कि शरीर नाशवान् है। शरीरके साथ आपका सम्बन्ध अज्ञानसे है, वास्तवमें नहीं। नाम और रूप—दोनों ही विनाशशील हैं। कुछ देरके लिये विचार करें—मुझको लोग 'जयदयाल' कहते हैं। जब मैं पैदा हुआ था, उस वक्त मेरा नाम जयदयाल नहीं था, फिर गर्भमें तो यह नाम हो ही कैसे सकता है? गर्भमें तो पता ही नहीं था कि इसमें लड़का है या लड़की। उस समय घरवाले इच्छा करते तो मेरा नाम 'जयदयाल' नहीं रखकर 'महादयाल' रख सकते थे। तब आज मैं अपनेको 'महादयाल' कहता। इससे यह निश्चय हो गया कि मेरा नाम 'जयदयाल' नहीं।

अतः यदि कोई 'जयदयाल'की निन्दा करे और उससे मैं दुःखित होऊँ तथा कोई प्रशंसा करे और मैं उससे सुखी होऊँ तो यह मेरी मूर्खता है। क्योंकि स्तुति और निन्दाको सुनकर सुख-दुःख होता है तो इसमें अज्ञान ही हेतु है। यदि मुझे यथार्थ ज्ञान हो तो मेरी स्तुति और निन्दामें समता हो जानी चाहिये। क्योंकि भक्तिमान् पुरुषोंका लक्षण बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(१२।१९)

'जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

जिसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसके भी निन्दा-स्तुति सम हो जाती है (गीता १४।२४)।

जिस प्रकार यह 'जयदयाल' नाम मेरा नहीं है, उसी प्रकार यह शरीर भी मेरा नहीं है और न शरीर ही मैं हूँ । यदि शरीर मेरा होता तो मरनेके बाद यह मेरे साथ जाता, एवं यदि शरीर मैं होता तो किसी कारण कटे हुए हाथ या पैरमें भी आत्माकी प्रतीति होती; किंतु उस कटे हुए अङ्गको हम अपनेसे पृथक् देखते हैं । जब कटे हुए अङ्गमें हमारी आत्माकी प्रतीति नहीं होती, तब शेष शरीरमें भी अपनी प्रतीति गलत है; क्योंकि कटे हुए अङ्गके सदृश ही तो हमारा शेष शरीर है । अतएव यह शरीर भी मैं नहीं ।

इस प्रकारका जिनको ज्ञान हो जाता है, वे नाम-रूपसे अपनी आत्माको एकदम अलग समझकर परमपदको प्राप्त हो जाते हैं । इसलिये हरेक भाईको यह विचार करना चाहिये कि 'नाम और रूपसे मैं अलग हूँ । यह दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ; यह अनित्य है, मैं नित्य हूँ; यह विनाशशील है, मैं अविनाशी हूँ; यह दु:खरूप है, मैं आनन्दस्वरूप हूँ; यह विकारी है, मैं निर्विकार हूँ; यह व्यक्त है, मैं अव्यक्त हूँ; तथा यह एकदेशीय है, मैं देश-कालसे रहित हूँ ।'

गीतामें इसका आदेश स्थान-स्थानपर दिया है । इसलिये मेरी यह प्रार्थना है कि गीताका अनुशीलन अर्थ और भावसहित करना चाहिये यानी गीतामें प्रवेश करके उसका अध्ययन करना चाहिये । गीताका भाव बड़ा गम्भीर है । जैसे समुद्रकी थाह नहीं, वैसे ही गीताके भावोंका थाह नहीं ।

आपलोग किसी अंशमें यह मानते होंगे कि यह गीताका जाननेवाला है । पर जब मैं ख्याल करता हूँ तो मुझे यही मालूम होता है कि मैं इसका शतांश भी नहीं जानता । एक जन्ममें नहीं, कई जन्मोंतक मैं गीताका ही अध्ययन करता रहूँ तो भी उसके भावोंकी समाप्ति नहीं । मेरी आयु समाप्त हो सकती है, पर गीताके भावोंकी समाप्ति नहीं हो सकती ।

इसलिये प्रत्येक भाईको अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये । उसीका जीवन धन्य है । मनुष्य-जन्म पाकर जिनका जीवन गीतामय है, जिनका सारा जीवन गीतामय होता है, उनके भाषण, दर्शन, स्पर्श और वार्तालापसे दूसरे मनुष्य पवित्र हो जाते हैं ।

गीता बहुत ही उच्चकोटिका ग्रन्थ है । गीताकी संस्कृत बहुत ही सरल, सुन्दर और मधुर है । एक श्लोकको भी आप भावसहित धारण कर लें तो आपकी आत्माका कल्याण हो सकता है । गीतामें ऐसे सैकड़ों श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकके अनुसार जीवन बनानेपर आत्माका उद्धार हो सकता है ।

गीताको हम गङ्गासे बढ़कर कहें तो अनुचित न होगा; क्योंकि गङ्गामें नहानेवाला मनुष्य तो स्वयं ही मुक्त होता है, यह बात शास्त्रोंमें लिखी है; किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, दूसरोंका भी उद्धार कर सकता है ।

गीताका अच्छी प्रकार अध्ययन करनेवालेको अपनी आत्माके कल्याणके लिये अन्य शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मैं अन्य शास्त्रोंकी अवहेलना करता हूँ । गीता एक ऐसा ग्रन्थ है कि उसे हमारे शास्त्रोंमें सबसे बढ़कर भी कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी । क्योंकि श्रीवेदव्यासजीने स्वयं कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

'गीताका गायन अच्छी प्रकार करना चाहिये, गीताका अध्ययन अच्छी प्रकार करना चाहिये, गीताका मनन अच्छी प्रकारसे करना चाहिये; यही है—'गीता सुगीता कर्तव्या ।' फिर अन्य शास्त्रोंके विस्तारकी

कोई आवश्यकता नहीं । क्योंकि यह गीता स्वयं भगवान् कमलनाभके मुखकमलसे निकली है । अन्य जितने भी शास्त्र हैं, वे ऋषियोंके मुखसे निकले हैं; वेद ब्रह्माके मुखसे प्रकट हुए हैं । परंतु गीता तो स्वयं भगवान्के मुखकमलसे प्रकट हुई है ।' इसलिये हम उसको सर्वोपरि कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं ।

गीताको हम गायत्रीसे भी बढ़कर कह सकते हैं । गायत्रीके जपसे जपनेवालेका कल्याण होता है, किंतु गीताका अर्थ और भावसहित अच्छी प्रकार अध्ययन करके धारण कर लेनेपर वह दूसरोंका भी कल्याण कर सकता है । इसलिये हम गीताको गायत्रीसे भी बढ़कर कह सकते हैं ।

यदि मनुष्यका जन्म पाकर किसीने गीताका अभ्यास नहीं किया,गीताका अध्ययन नहीं किया, गीताका मनन नहीं किया, गीताके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाया तो मैं समझता हूँ कि उसका जन्म व्यर्थ है । हमको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि हमारी वाणीमें गीता, हमारे हृदयमें गीता, हमारे कानोंमें गीता, हमारे कण्ठमें गीता, हमारे रोम-रोममें गीता और हमारे जीवनमें गीता भरी हो—वह गीतामय हो । जो ऐसा है, उसीके लिये हम कह सकते हैं कि उसका जीवन धन्य है, उसके माता-पिता धन्य हैं ।

ऐसा पुरुष संसारमें गीताका प्रचार करके अपना ही नहीं, हजारों-लाखों व्यक्तियोंका उद्धार कर सकता है । आज तुलसीदासजी नहीं हैं; किंतु उन्होंने रामायणकी रचना करके संसारका बड़ा भारी उपकार किया है । उससे हजारों-लाखोंका उद्धार हो रहा है और जबतक वह रहेगी, उद्धार होता रहेगा ।

इसी प्रकार जो मनुष्य गीताका अच्छी प्रकार अनुशीलन करके उसके अनुसार अपना जीवन बना लेता है, अपने जीवनको गीताके प्रचारमें लगा देता है, उस पुरुषके द्वारा ही वस्तुतः संसारमें गीताके भावोंका प्रचार होता है । उसके द्वारा भविष्यमें भी कितनोंका उद्धार होता रहेगा, कहा नहीं जा सकता । भगवान्ने गीताके प्रचारकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है । भगवान्ने यहाँतक कह दिया है कि 'जो गीताशास्त्रका मेरे भक्तोंमें प्रचार करता है, इसके अर्थ और भावको धारण कराता है, वह मेरी भक्तिके द्वारा मुझे प्राप्त होता है । उसके समान मेरा प्रिय कार्य करनेवाला न कोई हुआ, न हो सकता है और न होगा ।' यही भाव भगवान्ने गीताके अठारहवें अध्यायके ६८, ६९ वें श्लोकोंमें दिखलाया है ।* इस बातको खयालमें रखकर अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये ।

मैंने जिस दिन यह श्लोक पढ़ा और इसका अर्थ कुछ समझा, तभीसे मेरे हृदयमें यह भाव आया कि अपने जीवनको गीतामें लगाना चाहिये । मैं अभीतक अपने जीवनको गीतामय बना नहीं सका, किंतु इस बातको मैं बहुत ही उत्तम समझता हूँ । इसलिये सबसे प्रार्थना करनेका मेरा अधिकार है कि आपको अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये; फिर अपने घरमें, अपने प्रान्तमें, अपने देशमें, सारी त्रिलोकीमें गीताका खूब जोरोंसे प्रचार करना चाहिये ।

◆

---

*य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः । भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
(गीता १८ । ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है । उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई नहीं है, तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ।'

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४८)

[वर्ष २४, पृष्ठ १५६३ से आगे]

गोप-शिशुओंके प्रेमिल स्तवनका विराम हुआ। मानो गिराधिदेवी सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐश्वर्यसिन्धुमें एवं शिशुओंके कण-कणसे प्रसरित सख्यरसके निराविल चञ्चल प्रवाहमें अवगाहन-कर, अपनी शक्तिभर ऐश्वर्यकण, रस-सीकर उलीचकर परिश्रान्त हो गयीं; सिन्धुको, रसप्रवाहको सर्वथा सब ओरसे अपरिसीम अनुभव कर, इनकी थाह पानेकी आशा छोड़, तटपर उठ आयीं—इस प्रकार बालकोंने अपने कन्हैया भैयाके यशोगानका उपसंहार किया। और अब वहाँ बच रही केवल सख्यभावकी सहज स्निग्ध शान्तधारा, जिसमें श्रीकृष्णचन्द्रके अमित ऐश्वर्यका एक कण भी खप नहीं सकता। इसकी गन्ध भी वहाँ नहीं मिल सकती। इसीलिये बालकोंकी भावभङ्गी, उनकी प्रश्नावली, परस्परका उत्तर-प्रत्युत्तर—ये सब भी बदल गये। एक शिशुने पूछ ही तो लिया—'अरे भैया कन्हैया! हमलोग तो खेलते-खेलते अत्यन्त भीषण विषकी ज्वालामें भस्म हो चुके थे। बता तो सही, तुमने कैसे जिला दिया?' तथा सखा श्रीकृष्णचन्द्रने भी प्रश्नके अनुरूप ही उत्तर दिया। वे आश्चर्यकी मुद्रामें बोले—

स च सचमत्कारं तानगददगददक्षोऽस्मि विषस्य। येनागदेन नागदेन गन्धमात्रादेव गतासवोऽवगतासवोत्सवा इव समुल्लसितजीवना भवन्तीति। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देखो भैयाओ! मैं विषकी ओषधि जाननेमें बड़ा ही निपुण हूँ। मेरे पास ऐसी ओषधि है कि उससे सर्प चूर्ण-विचूर्ण हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है; जो निष्प्राण हो चुके हैं, वे भी उस ओषधिके घ्राणमात्रसे ही मधुपानका सुख अनुभव करनेवाले व्यक्तिकी भाँति परम उल्लासपूर्ण नवजीवन प्राप्त कर लेते हैं।'

श्रीकृष्णचन्द्रके इस उत्तरमें किन-किन निगूढ़ भावोंका समावेश है—इसे, भोले-भाले शिशु क्या जानें? उनके पास क्रान्तदर्शी ऋषियोंका हृदय तो है नहीं कि वे अपने सखाकी प्रत्येक उक्तिका गूढार्थ ढूँढ़ने जायँ। उन्हें कल्पना ही नहीं हो सकती कि अघासुर-जैसे सर्पकी तो बात ही क्या, संसाररूप महासर्पसे डँसे हुए, सर्वथा निश्चेष्ट हुए प्राणियोंके लिये भी उनके इन्हीं कन्हैया भैयाका नाम ही महौषध है, 'कृष्ण' नामकी पीयूषधारा किसी प्रकार कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो जाय, फिर तो संसार-सर्पका विष उतरते देर नहीं लगती; मुग्धता, मोह, मायाजन्य जड़ता नष्ट होकर ही रहेगी; आत्मस्वरूपकी स्मृति हो ही जायगी; अनादि-संसरणसे मुक्ति मिल ही जायगी—

संसारसर्पसन्दष्टनष्टचेष्टैकभेषजम्।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः॥

—वे सरल-मति बालक कभी सोच ही नहीं सकते कि ऐसे सत्य सिद्धान्तोंका सङ्केत भी उनके कन्हैया भैयाके इन्हीं शब्दोंमें भरा है। उनके अन्तस्तलमें तो निरन्तर विशुद्ध सख्य-भावका अनन्त पारावारविहीन सागर हिलोरें ले रहा है। उनकी प्रत्येक चेष्टाकी ओटसे, उनके अणु-अणुसे इस सागरकी लहरें ही निर्झर बनकर झरती रहती हैं, क्षण-क्षणमें एक-से-एक सुन्दर स्रोत बहता रहता है। कदाचित् अवसर-विशेष-पर—जैसे अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व हो चुका है—किसी अचिन्त्य प्रेरणावश उनके मानस-तलमें उनके

सखा श्रीकृष्णचन्द्रके अमित ऐश्वर्यका यत्किञ्चित् स्फुरण हुआ भी, ऐश्वर्य-भावोंकी बूँदें बाहर आयीं भी तो उनके टिकनेका स्थान नहीं । क्योंकि देखते-देखते ही, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर उनकी दृष्टि पड़ते ही एक नवीन झोंका आया, विशुद्ध सख्यकी एक अतिशय प्रबल लहर बाहर आयी और उसने इन विजातीय ऐश्वर्यके भावोंको न जाने कहाँ-से-कहाँ—अत्यन्त दूर फेंक दिया । इसीलिये गोपशिशुओंने तो सचमुच यही समझा कि उनके कन्हैया भैया विषकी अद्भुत महौषधि जानते हैं; उसीके प्रभावसे अघासुरका सिर फट गया । इस भावनाने उनके रोम-रोमको प्रफुल्लित कर दिया । वे सब आनन्दमें भरकर, एक दूसरेको हृदयसे लगाकर कहने लगे—

भो भो भ्रातरस्तदैव दैवज्ञा इव वयमवोचाम वकमिवामुमयं निहनिष्यतीति ।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैयाओ ! हमलोगोंने तो ज्योतिषीकी भाँति तभी पहलेसे ही कह दिया था कि यह इसे वकासुरकी तरह मार डालेगा ।'

अस्तु, अब यहाँसे आगे कलिन्दनन्दिनीका निर्मल प्रवाह दीखने लग जाता है । श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्स एवं सखामण्डलीको साथ लिये पुलिनकी सीमामें आ पहुँचे हैं । आते ही एक अप्रतिम उत्साहकी लहर उनके नित्य-नवसुन्दर मुखचन्द्रको अलङ्कृत करने लगती है और वे सखाओंके सामने अपने अग्रिम कार्यक्रमका प्रस्ताव करने चलते हैं—

सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ।
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ४)

संग सखा बच्छा लिए, पहुँचे जमुना कूल ।
देखत बन सोभा घनी, खेलत तन मन फूल ॥

यमुनापुलिनकी शोभाकी ओर अपने सखाओंका ध्यान आकर्षित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कहने लग जाते हैं—'अहा ! भैयाओ ! देखो तो सही, यह पुलिन कितना मनोरम है, हमलोगोंकी स्वच्छन्द क्रीड़ाके उपयुक्त सभी वस्तुएँ यहाँ प्रस्तुत हैं ! अरे, देखो, मध्यमें तो कर्पूरधवल बालुका-राशिका आस्तरण बिछ रहा है और उधर स्थान-स्थानपर वर्षावारिसे परिपूर्ण जलाशय अपने वक्षःस्थलको प्रस्फुटित पद्मसमूहोंसे आच्छादित कर हँस-से रहे हैं । इतना ही नहीं—देखो, देखो, आनन्दपूरित हृदयसे ये सरोवर मानो सङ्गीतका स्वर अलाप रहे हों । सरोज-कुसुमोंके परिमलसे सुवासित पवनका स्पर्श पाकर राशि-राशि भ्रमरावलियाँ आकृष्ट हो गयी हैं, गुंजार कर रही हैं । यह अलिगुंजन, यह झङ्कृति सरोवरकी स्वरलहरी ही तो है ! जलाशयके सुवाससे खिंचकर आये हुए अगणित विहङ्गमोंका दल कितने मधुर कण्ठसे कूजन कर रहा है, यह भी इनका सङ्गीत ही तो है ! और फिर देखो, पुलिनको आवृत-सा किये नव-पत्र-मण्डित, फल-पुष्पभारसे अवनत हुई सघन तरुश्रेणीकी शोभा ! भ्रमर-झङ्कारसे, पक्षियोंके सुमधुर कलरवसे प्रतिनादित यह श्रेणीबद्ध वृक्षावली मानो हमारा आह्वान कर रही है, नहीं-नहीं, अपने गृहपर आये अतिथियोंका अभिनन्दन कर रही है । भैयाओ ! सचमुच सभी दृष्टियोंसे यह पुलिनभूमि अत्यन्त रमणीय है !

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छबालुकम् ।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक-
ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ५)

अहो सखा यह पुलिन सुहावन । अति रमनीय सुखद अरु पावन॥
स्वच्छ बालुका बिसद तलावा । सुभग बारि मुनि मनहि चोरावा॥
बिकसे कंज पुंज अलि श्रेनी । कूजहिं द्विज सब श्रुति सुख देनी॥
ता करि बसीभूत नभगामी । बोलत प्रतिधुनि रुचि हिय कामी॥
ता धुनि तै तरु सोभित भारी । सीतल छाँह पथिक मन हारी॥

× × ×

कालिन्दी के रही हैं तट छहरि छटा नीर कल्लोल ही की।
फूली-फूली महा है वह पुलिन लसै मालती चारु नीकी॥
दौरैं-दौरैं भ्रमैं औ मधुप मधु रसी गुंज गुंजार साजैं।
सीरी-सीरी चलै है पवन परसती माकरन्दै बिराजै॥
झुमड़े द्रुम अभिरे लतनि, भरे कुसुमके भार।
देखौ सिसु मम मित्र हो, यह बन सुखकौ सार॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रने मध्याह्न-भोजनका प्रस्ताव रखनेकी भूमिका बनायी। राजभोगके सभी उपकरण यहाँ इस सरित्पुलिनपर एक ही साथ प्राप्त जो हो गये! कालिन्दीका, सरोवरका निर्मल, सुरभित, शीतल जल, तीरदेशकी सघन वृक्षच्छाया, भोजनपात्रके लिये सरोवरके असंख्य पद्मपत्र, भोजनकालीन धूपसौरभके स्थानपर सुस्निग्ध पद्मगन्ध, उस समय मनोरञ्जनके लिये आयोजित सङ्गीतके स्थानपर भ्रमरगुञ्जन, विहङ्ग-कूजन, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनका व्यजन (पंखा)—इतनी सामग्री पुलिनने दे दी। और चाहिये ही क्या—

स्फुटत्सरोगन्धेति भोजनापेक्ष्यं धूपवत्सौगन्ध्यम् ××× तथा गीतमिव भ्रमरादिध्वनिविलासो भोजनपात्रं च पद्मपत्रादिकं सुवासितशीतलाच्छजलं च शरत्तापनिवारणार्थघनवृक्षच्छाया चेति सुखभोजनसामग्री दर्शिता××× ।

(श्रीवैष्णवतोषिणी)

अस्तु, व्रजेन्द्रनन्दनने अब बात स्पष्ट कर देनी चाही। प्रत्येक गोपशिशुके नेत्रोंसे उनके नेत्र जा मिले और फिर मधुस्रावी कण्ठसे वे बोले—भैयाओ! अब तो हमलोग यहीं भोजन कर लें; क्योंकि भोजनवेला अतीतप्राय हो चुकी है। इतना अधिक विलम्ब हो चुका है। साथ ही क्षुधासे भी हमलोग पीड़ित हो रहे हैं। यहाँ सब प्रकारकी सुविधा है। सामने रही यमुनाकी जलधारा। यहाँ तो गोवत्स जलपान कर लें। और फिर देखो, अत्यन्त समीपमें ही है यह हरिततृणपूर्ण सुविस्तृत भूमि। अहा, सुकोमल श्यामल तृणोंकी लहर-सी उठ रही है। जल पिलाकर वहीं गोवत्सोंको छोड़ दो। वे इस तृणभूमिपर धीरे-धीरे विचरण करें—

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा रूढं क्षुधार्दिताः।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम्॥

(श्रीमद्भा० १० । १३ । ६)

अहो सखा सब मिलि एहि ठामा। भोजन करहु बैठि सुखधामा॥
भइ बड़ि बेर काल चलि गएऊ। छुधा तृषा बाधित सब भएऊ॥
बछरन प्याइ नीर सुठि नीको। निकट चरहिं तृन भावत जीको॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी इच्छा ही गोपशिशुओंकी इच्छा जो ठहरी। और फिर आज तो अतिकाल हो चुका है। अतः प्रस्तावका परम उल्लासपूर्ण समर्थन हो, इसमें तो कहना ही क्या है। बस, दूसरे ही क्षण 'हीओ-हीओ' नादसे पुलिन मुखरित होने लगता है। असंख्य गोवत्स यमुनाप्रवाहके समीप हाँक दिये जाते हैं। तथा जिस समय पङ्क्तिबद्ध होकर वे जल पीने लगते हैं, उस समयकी शोभा देखने ही योग्य है। मानो मन्दाकिनी रविनन्दिनीसे सङ्गमित हो गयी हों। जो हो, बालक उन्हें जलसे पूर्णतया आप्यायित कर पूर्वनिर्दिष्ट स्थानपर, उसी हरित तृणभूमिपर ले जाते हैं; वहाँ उनकी रक्षाकी ऐसी व्यवस्था कर देते हैं कि वे भाग न सकें। जब इतना हो जाता है, तब सभी शिशु अपने-अपने छीकोंको खोलते हैं तथा अतिशय आनन्दमें भरकर श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भोजन करने चलते हैं—

तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा॥

(श्रीमद्भा० । १० । १३ । ७)

सखन प्याइ बछरन कौ नीरा। हरित सुभग तृन जमुना तीरा॥
तहँ चरन बछरा जब लागे। तब सब मिलि भोजन अनुरागे॥

मानो पद्मका एक प्रफुल्ल बीजकोश हो। इस बीजकोशके चारों ओर मण्डलाकार श्रेणीबद्ध पद्मदल हों। इस प्रकार अपने सखा श्रीकृष्णचन्द्रको वेष्टित कर

गोपशिशुओंने आसन ग्रहण किया । पहले श्रीदाम, सुबल आदि शिशुओंकी एक पङ्क्ति अपने सखाको घेरकर बैठ जाती है । इसके अनन्तर अपेक्षाकृत बृहत् दूसरी पङ्क्ति पहलीको मण्डलाकारमें ही घेर लेती है । तीसरी पङ्क्ति दूसरीकी अपेक्षा भी बृहत्तर होती है और पूर्वकी भाँति वह दूसरीको आवृत कर लेती है । चौथी तीसरे दलसे बड़ी, पाँचवीं चौथेसे अधिक बृहत्— इस क्रमसे असंख्य गोपशिशुओंने असंख्य मण्डलाकार पङ्क्तियोंकी रचना कर, श्रीकृष्णचन्द्रको वेष्टित करते हुए अपने-अपने आसन लगाये । शिशुओंकी वेष-भूषा भी संयोगसे ऐसी है मानो सचमुच विभिन्न वर्णकी पद्मदल-राशि ही एकत्र हो गयी हो । व्रजेन्द्रनन्दनको आवृत करनेवाली प्रथम पङ्क्ति पीत वर्णकी हो गयी । द्वितीयकी आभा रक्तवर्ण-सी हुई । तृतीयने श्यामवर्णकी शोभा धारण की तथा चतुर्थ पङ्क्तिसे हरिद्वर्णकी छटा प्रसरित हो उठी । इस क्रमसे असंख्य पङ्क्तियोंका एक निराला सौन्दर्य वाग्वादिनीके लिये भी अवर्णनीय बन गया । प्रत्येक शिशुका मुख भी अपने प्राणोंके प्राण कन्हैया भैयाकी ओर ही है तथा प्राकृत दृष्टिसे महान् आश्चर्य—किंतु अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें प्रणत, उनकी नखचन्द्रिकासे आलोकित नेत्रोंके लिये सर्वथा संभव—घटना यह है कि व्रजराजनन्दनका मुखपद्म भी प्रत्येक शिशुकी ओर ही है । प्रत्येकको ही यह अभ्रान्त अनुभूति है—'मेरा कन्हैया भैया सर्वथा मेरी ओर ही दृष्टि किये, स्नेह-सौहार्दकी अजस्र धारा बहाते हुए अवस्थित है ।' ऐसी अवस्थामें उनके आनन्दकी थाह कौन पावे ? बस, इतना ही कहना संभव है—उत्फुल्लनेत्र हुए वे असंख्य गोपशिशु अपने कोटिप्राणप्रतिम सखाको निहार रहे हैं एवं उनके सखाकी दृष्टि भी एकमात्र उन्हींकी ओर केन्द्रित हो रही है । जो हो, इस प्रकार असंख्य सखाओंसे परिवेष्टित होकर भोजनके लिये आसन ग्रहण किये हुए श्रीकृष्णचन्द्र यमुनापुलिनके उस वनमें विराजित हो रहे हैं —

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः ।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ८)

बैठे जो बीच कृपाल सुंदर सखा चहु दिसि भ्राज हीं ।
जिमि कमल मध्य सुकर्निका सुभ पत्र चहु दिसि छाजहीं ॥

× × ×

मंडल करि बैठे व्रजबाल, मध्य बने तहँ मोहनलाल ।
सोहत सब तें सन्मुख ऐसें, कमलके बीच करनिका जैसें ॥
चहुँ दिसि बाल मंडली बैसी, नखत बिसाखा होति है जैसी ।
तिनि मधि स्याम सुभग सोहत यों, राकानिसि राकेस लसै ज्यों ॥

× × × ×

जनु चहुँ दिसि मुक्तामनि रचीं, मधि गुपाल मरकत मनि खचीं ।
रबिजा कर मुद्रिका दिखाई, यह ताकौं जगमगत जराई ॥

आज सखाओंके भोजनपात्र भी निराले ही हैं । कतिपय शिशुओंने सुन्दर सौरभशाली कुसुमोंके दल एकत्र किये और उन्हींको एक साथ संघटितकर अपने लिये भोजनपात्रका निर्माण किया है । कुछने पद्मपत्र आदिको लेकर अपने थालकी रचना की है । एक समुदायने वृक्षके सुकोमल पत्रोंको जोड़कर पात्र बनाये हैं । एक वर्गने पल्लवके अग्रभागमें स्थित सुकोमल अङ्कुरोंको एकत्रकर उनसे पात्र प्रस्तुत कर लिये हैं । एक दलने विभिन्न फलोंके द्वारा फलोंको ही परस्पर जोड़कर पात्रका रूप दे दिया है । कुछ शिशुओंने वृक्षोंके मूल अंशोंको लेकर उन्हें सन्नद्ध करते हुए भोजन-थाल बनाये हैं । कितनोंने भोजपत्र आदि वृक्षवल्कलोंको लेकर अपनी थाली बनायी है । एक शिशुसमूहने तो सुचिक्कण विविध वर्णप्रक्षालित प्रस्तरखण्डोंको ही उठाकर अपने सामने पात्रके रूपमें रख लिया है । इस भाँति अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सबने अपने लिये भोजनपात्रकी योजना की है और सखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भोजन करने चले हैं—

केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः ।
शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ९)

कोउक पुष्प कोउ तासु दल कोउक पत्र फल माहिं ।
भाजन करि जेवन लगे अपर उपल चित चाहिं ॥

× × ×

भाजन बिबिध गुवालन बने, फल दल सिल बलकल अति घने ।

अब भोजन-सामग्री वितरण होनेकी क्रिया आरम्भ होने चली । श्रीकृष्णचन्द्रका चिरपरिचित अमृतस्यन्दी स्वर पुनः गूँज उठा—

भो भो भो भो उज्ज्वलनिष्का निष्कासयत भक्ष्यसामग्रीमग्रीयामिति । (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो, समुज्ज्वल पदक धारण करनेवाले मेरे बन्धुगणो ! उत्तमोत्तम खाद्यसामग्री छीकोंसे निकालो तो सही !'

बस, इस सुधापूरित आदेश, नहीं-नहीं याचनाकी ही तो देर थी । सबने अपनी सर्वोत्तम वस्तुएँ अपने कन्हैया भैयाके सामने लाकर रख दीं । और क्षण भी नहीं लगा, कन्हैया भैयाके छीकेकी सर्वश्रेष्ठ खाद्य सामग्री प्रत्येक गोपसखाकी थालीमें आ गयी । प्रत्येकका प्रत्यक्ष अनुभव है—'कन्हैया भैयाके सबसे अधिक निकट मैं बैठा हूँ, बिल्कुल सामने बैठा हूँ, मैंने अपने छीकेकी भेट समर्पित की और कन्हैयाने अपना सर्वोत्तम, सबसे अधिक प्रिय पदार्थ मेरे आगे रख दिया । और यह देखो ! अहा, औरोंने भी वस्तुएँ लाकर कन्हैया भैयाको दीं अवश्य, पर इसने होठोंपर रक्खी सबसे प्रथम मेरी दी हुई वस्तु !'—इस अनिर्वचनीय सुखसिन्धुमें निमग्न होकर ही भोजन प्रारम्भ हुआ । फिर समयोचित लहरें भी उठेंगी ही । सखाओंके साथ श्रीकृष्णचन्द्रका समयोचित मधुरातिमधुर कौतुक भी चल ही पड़ा । कौन-सी वस्तु किसे अच्छी लग रही है, कौन-सा मिष्टान्न अतिशय सुस्वादु है, कौन-सा अच्छा नहीं लगा, इसे अपनी मुखभङ्गिमासे, नेत्र एवं होठोंके सञ्चालनसे परस्पर एक दूसरेको बता देनेका खेल सर्वप्रथम हुआ । इसके अनन्तर आज जिसे जो वस्तु सबसे अधिक प्रिय लग रही है, उसे श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें तथा जो मोदक, पिष्टक, व्यञ्जन, दाल आदि वस्तुएँ नील सुन्दरको रुचिकर—स्वादिष्ट लगीं, उन्हें सखाओंके होठोंपर रख देनेकी दूसरी क्रीड़ा हुई । और फिर विनोद आरम्भ हो गया । किसीने मिष्टान्नके भीतर निम्बपत्रोंका चूर्ण भरकर उसे ऊपरसे ढककर अन्यके मुखमें रख दिया । किसीने अतिशय सुस्वादु व्यञ्जनमें बहुत अधिक नमक मिश्रित कर, उसकी अतिशय प्रशंसा करते हुए उसे एकके मुखमें डाल दिया । और जब निम्बकी तिक्ततासे, अत्यधिक लवणके खारेपनसे वे शिशु मुख बिझुकाने लगे तब सारी मण्डली आनन्दविभोर होकर हँसने लग गयी । श्रीकृष्णचन्द्रकी ओरसे भी एक-से-एक सुन्दर कौशलपूर्ण विनोद हुए तथा उनके प्रिय सखाओंने भी ठीक उतने ही सुन्दर, उसी जातिके विनोदपूर्ण प्रत्युत्तर दे डाले । शिशुसुलभ, अतिशय विशुद्ध, पर अत्यन्त चातुर्यपूर्ण ऐसे-ऐसे आदर्श विनोद हुए कि श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपसखा परस्पर हँसते-हँसाते लोट-पोट होने लग गये । कुछ क्षणके लिये विनोदका विराम हुआ; श्रीकृष्णचन्द्रने, सखाओंने अपने मुखमें एक-दो ग्रास रक्खे । इतनेमें किसी एक शिशुने ऐसी नवीन चेष्टा कर दी कि हँसीका प्रवाह फूट पड़ा; समस्त पुलिन उस उन्मुक्त हँसीसे निनादित होने लग गया । इस प्रकार परस्पर हँसते-हँसाते, सुखपूरमें डूबे हुए वे शिशु भोजन करते रहे । उनके सुखकी सीमा नहीं । भला स्वयं जगन्नियन्ता जगदीश्वर जिनके साथ सखारूपमें नित्य वर्तमान हैं, उनके सुखकी इयत्ता हो ही कैसे सकती है ।

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् ।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । १०)

भोजन करती बार, निज निज ब्यञ्जन प्रेम जुत।
दरसावत रससार, हँसत परसपर नाथ मिलि॥
काहुहि टेरि कहत हरि प्यारे। सखा साक आनहु निज सारे॥
दियो आनि हरि कर सो भाजन। ग्रास एक पारा बिनु काजन॥
अहो अहो यह अतिसै खारो। हँसे आपु कहि दालि बिगारो॥
प्रभु के हँसत हँसे बहु बारा। अहो अहो यह दालि बिगारा॥
एहि बिधि अमित हास्य रसलीला। करत भए प्रभु सब गुन सीला॥

× × ×

भोज्य भक्ष्य तहँ लेह्य कहि, पेय पियत सिसु साथ।
पाहन पत्रन पर धरैं, जैंवत त्रिभुवन नाथ॥

आकाशपथ विमानोंसे पूर्ण हो गया है। इस अभूतपूर्व अप्रतिम-सुन्दर झाँकीके दर्शन फिर हों न हों। देवसमाज अपने स्वाभाविक अपलक नेत्रोंसे ही दर्शन कर रहा है, पर तृप्ति कहाँ! क्षण-क्षणमें प्राणोंकी उत्कण्ठा बढ़ती जा रही है। सर्वयज्ञभोक्ताका यह भोजन—ऐसा वात्सल्यरससम्पुटित स्वच्छन्द भोजनकालीन विहार बार-बार देखनेको मिलता है? साङ्गोपाङ्ग वैदिक विधि-विधानोंसे समर्पित किये यज्ञभागका भी जो कभी भोग नहीं लगाता, ऋषियोंको केवल अलक्षित रूपसे उसकी स्वीकृतिमात्रका भान हो पाता है, वे ही सर्वेश्वर महामहेश्वर यज्ञपुरुष आज प्रत्यक्ष सर्वथा प्राकृत शिशुकी भाँति गोपबालकोंके बीच बैठकर, उनकी पङ्क्तिका ही एक सर्वसाधारण सदस्य बनकर भोजन कर रहे हैं। असंख्य गोपबालक उन्हें वेष्टित किये बैठे हैं, उन सुहृद्वर्गको—प्राणप्रिय बन्धुओंको अपने असाधारण परिहासवाक्योंसे हँसाते हुए वे उनका मनोरञ्जन कर रहे हैं! इतना ही नहीं, उन आभीर-सखाओंके भोजनपात्रसे द्रव्य उठाकर अपने मुखमें रख लेते हैं, वस्तुके स्वादकी प्रशंसा एवं निन्दा भी करते जा रहे हैं; यहाँतक कि सुस्वादके अभावमें वह वस्तु उसी सखाके शरीरपर उँड़ेलकर हँसने लग जाते हैं; इतने बाल्यावेशसे वे अभिभूत हो रहे हैं! महामरकत श्यामल अङ्गोंकी भङ्गिमा भी इस समय अद्भुत ही बन गयी है। उदर एवं परिधेय वस्त्रके मध्यस्थलमें वेणु धारण किये हुए हैं—कछोटीमें वेणुको खोंस लिया है। वाम कक्षमें शृङ्ग एवं वेत्र दबा लिये हैं। वाम करतलमें दधिमिश्रित घृतसिक्त अन्नका एक बृहत् ग्रास शोभित हो रहा है। अङ्गुलि-सन्धियोंमें बिल्व, जम्बीर, आर्द्रक (अदरख), करील आदि फलोंके टुकड़े दबाये हुए हैं! ऐसे अद्भुत साजसे सज्जित हो रहे हैं! उन महामहिमकी ऐसी विचित्र वेशभूषा! और फिर योगीन्द्र-मुनीन्द्रमनोहारिणी ऐसी सुन्दरातिसुन्दर बालकेलि!—इससे अधिक आश्चर्यकी बात और क्या होगी? ऊपर स्पन्दहीन होकर देववृन्द देखते रह जाते हैं, नीचे व्रजेन्द्रकुलचन्द्रकी पुलिन-भोजनलीला चलती ही रहती है—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ११)

अखिल यज्ञ भोगी श्रुति गावै। पुनि परिपूरन नाम बतावै॥
सो हरि बाल संग इमि आजू। जेंवत सुखप्रद संत निवाजू॥
देखि स्वर्गवासी कह बानी। अहो कहा हरि कौतुक ठानी॥
उदर पीत पट सुषमा रासी। ताहि मध्य धरि बेनु बिलासी॥
दोउ भुज मूल सृंग धरि बेंतू। जेंवत जेवन कृपा निकेतू॥
बाम पानि दधि ओदन लीन्हे। बेर आदि फल अँगुरिन दीन्हे॥
एहि बिधि भोजन करत प्रभु मध्य बाल भूपाल।
सब कहुँ सनमुख सुमुख सुठि सुहृद संत गोपाल॥

सुरसमुदाय भ्रान्त होने लगता है—

भोजन करत कुँवर साँवरे, छबि लिखि अमर भए बावरे।

◆

ब्रह्मचर्य-रक्षाके उपाय और फल

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

१. जिस देश, जाति और वंशके लोग चाहते हों कि हमारी सन्तान-परम्परामें ब्रह्मचारी उत्पन्न हों, उन्हें ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारीका विशेष आदर करना चाहिये और स्वयं शास्त्रोक्त आश्रमोचित ब्रह्मचर्यके नियमोंका यथाविधि पालन करना चाहिये । वंशपरम्परा और माता-पिताके भावका ब्रह्मचर्यपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है । अनैतिक रीतिसे उत्पन्न सन्तानसे ब्रह्मचर्यकी आशा रखना उपहासास्पद है । यदि माता-पिताका संयोग केवल उद्दाम भोगलालसाकी तृप्तिके लिये ही होता है तो भावी सन्तान वासनापूर्ति-परायण हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य है ? भावी शिशुके शरीरगत सारे ही उपादान माता-पिताके मन और धातुओंसे ही संघटित होते हैं । यदि मूलमें ही दोष रहा तो कार्य निर्दोष कैसे हो सकता है ? इसलिये माता-पिताको धर्मबुद्धिसे ऋतुकालमें शास्त्रोक्त रीतिसे संयोग करके सन्तानोत्पादन करना चाहिये । माता-पिताके मनमें आदर्श ब्रह्मचारी सन्तान ही उत्पन्न करनेका सङ्कल्प होना चाहिये । जबतक शिशु गर्भमें रहे, माता-पिताको वासनारहित जीवन व्यतीत करना चाहिये । माता-पिताके भाव-बीज ही सन्तानमें अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते हैं ।

२. जबतक शिशु माताका दूध पीता है, तबतक माताके शरीरसे और भावसे कामकी वृत्तिका स्पर्श न होना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि मनमें कामावेश होनेपर शरीरके प्रत्येक अवयव एवं परमाणुमें उसकी व्याप्ति हो जाती है । इससे बच्चोंके मनमें भोगसम्बन्धी संस्कार तो पड़ते ही हैं, स्नायुओंमें उत्तेजना भी होने लगती है । छोटे-छोटे बच्चोंके मस्तिष्क और शरीरके अवयव बहुत ही कोमल एवं स्निग्ध होते हैं । शैशवमें ही उनपर जैसी छाप पड़ जाती है, वही जीवनभर प्रकाशित होती रहती है । जो माता-पिता अपनी सन्तानको ब्रह्मचारी बनाना चाहते हैं, उनके लिये यह आवश्यक है कि जबतक वह दूध पीता रहे, तबतक अपनी वासनाको शान्त रक्खें ।

३. माता-पिताको शिशुके सम्मुख ऐसी कोई चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिये, जिसको देखकर उसके जीवनमें भी बुरी आदतें उतर आवें । खट्टा, चरपरा, चाट, मिठाई न तो स्वयं खाना चाहिये और न बच्चोंको ही खिलाना चाहिये । शरीरकी चरम धातु (वीर्य) रग-रगमें अनुस्यूत रहती है । बचपनमें भी उत्तेजक पदार्थोंके सेवनसे उसका पृथक्करण होने लगता है । इसीसे छोटे-छोटे बच्चोंको भी प्रमेह, धातुक्षय हो जाते हैं । बचपनसे ही आहार-शुद्धि ब्रह्मचर्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है । आहार-शुद्धिके सम्बन्धमें चार बातें ध्यानमें रखनी चाहियेः—

(अ) आहार स्वभावसे ही उत्तेजक न हो । मांस, शराब, प्याज, लहसुन आदि जन्मसे ही उत्तेजक हैं ।

(आ) भोज्य पदार्थमें कोई ऐसी वस्तु न मिली हो, जिससे वह वीर्यक्षरणका हेतु बन जाय—जैसे अमचूर, राई, गरम मसाले, लाल मिर्च इत्यादि । धूम्रपान ब्रह्मचर्यका शत्रु है ।

(इ) भोजनकी वस्तु रजस्वला एवं प्रबल कामवासनावाली स्त्रीके द्वारा छुई या बनायी हुई न हो । कुत्ते और गीध आदिकी दृष्टि भोजनपर नहीं पड़नी चाहिये । भोजनपर भावका बहुत प्रभाव पड़ता है । रोती हुई स्त्रीके हाथका भोजन करनेसे रोना पड़ता है ।

(ई) भोज्य पदार्थपर अपना न्यायसंगत स्वत्व होना भी आवश्यक है । दूसरेका हक मनको बाहर खींचता है । गृहस्थको बिना परिश्रम अथवा बिना मूल्यका भोजन नहीं करना चाहिये । इससे विकारोंकी वृद्धि होकर गृहस्थोचित ब्रह्मचर्यका भङ्ग हो जाता है । ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीका भिक्षापर न्यायोचित स्वत्व है; परंतु यदि वे आश्रमोचित कर्मानुष्ठान न करें, केवल भिक्षाजीवी बन जायँ तो उनका पतन हो जाता है । ब्रह्मचारीके लिये श्रम अपेक्षित है, चाहे वह किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो । श्रमसे ही शुक्रका पाचन होता है ।

४. जब बालक थोड़ा बड़ा हो जाय, तब उसे भोगमय वातावरणसे अलग रखना चाहिये । प्राचीन कालमें इसके लिये गुरुकुल अथवा ऋषिकुलकी प्रणाली थी । इससे अनेक लाभ हैं—

(१) अध्ययनकी निश्चिन्त सुविधा ।

(२) आदर्श आचार्यसे आचरणसम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा ।

(३) आचार्य एवं आश्रमकी सेवासे स्वार्थत्याग एवं सार्वजनिक हितका अभ्यास ।

(४) एक विशेष परिवारमें ही मोह-ममताकी शिथिलता ।

(५) भोगमय जीवनसे पृथक् रहकर अपने लिये प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमार्गमेंसे कोई एक चुननेके लिये सन्तुलित बुद्धिद्वारा विचार ।

(६) संग्रह-परिग्रहके आडम्बरके बिना भी सुखी रहनेकी आदत पड़ जानेसे अर्थासक्ति और भोगलिप्साकी निवृत्ति, जिससे भ्रष्टाचार, अत्याचार, अनाचार और व्यभिचार आदिसे स्वयं घृणा होना ।

(७) शान्तचित्तसे आत्मस्वरूप एवं परमात्मस्वरूपका विवेचन होनेसे तत्त्वसाक्षात्कार होकर परमानन्दस्वरूप ब्रह्ममें स्वाभाविक स्थिति ।

(८) विश्व, राष्ट्र, सम्प्रदाय, समाज, परिवार एवं व्यक्तिकी सेवाकी योग्यता प्राप्त होना ।

५. माता-पिता एक पुत्रसे अधिक उत्पन्न न करें तो सर्वोत्तम है । यदि अधिक पुत्र उत्पन्न करना ही हो तो बालकको ब्रह्मचर्याश्रममें निश्चितरूपसे भेज दें, जिससे बालकके स्वाभाविक ब्रह्मचर्यके भावपर कोई ठेस न पहुँचे और वह आदर्श आचार्यकी शरणमें रहकर सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणोंको सीख सके और ज्ञानोपार्जन कर सके ।

६. आचार्यका आदर्श होना परम आवश्यक है । वह भी ब्रह्मचारी हो तो सर्वोत्तम । यदि गृहस्थ हो तो अपनी स्त्रीको आश्रमसे सर्वथा पृथक् रक्खे । स्वयं सन्ध्या-वन्दन, बलिवैश्वदेव आदि नित्यकर्मका अनुष्ठान करे । सत्य, अहिंसा आदि नियमोंका पालन करे । स्वाध्यायशील और परिश्रमी हो । उद्धत वेष-भूषा धारण न करे । शौकीनी न करे । सादगीसे रहे । ब्रह्मचारियोंको अपने पुत्रके समान समझे । अपने आचरणके द्वारा उनके हृदयपर स्वार्थत्याग, विश्वसेवा, श्रद्धा, अभय आदि दैवीसम्पत्तिके भाव अङ्कित करे । आचार्यके गुण ही ब्रह्मचारीमें उतरते हैं । आचार्यको आलस्य, प्रमाद, परनिन्दा आदि दोष भूलकर भी नहीं अपनाने चाहिये । काशीके एक विद्वान् आचार्य एक बार अपने पुत्रके सामने सन्ध्या-वन्दनमें किञ्चित् प्रमाद कर बैठे थे, जिससे उनके पुत्रने सन्ध्या-वन्दन करना ही छोड़ दिया ।

७. ब्रह्मचारियोंके जीवनकी आधार-शिला श्रद्धा और विश्वास ही है । बाल्यावस्थामें उनके विचार, ज्ञान और अनुभवकी मात्रा अत्यन्त स्वल्प होती है । इसलिये ब्रह्मचर्य-आश्रममें ऐसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे ब्रह्मचारियोंके अन्तःकरणमें शास्त्रके प्रति महत्त्व-बुद्धि, धर्ममें निष्ठा और ईश्वरमें विश्वासकी वृद्धि हो । प्राथमिक शिक्षामें खण्डन-मण्डनके ग्रन्थोंको स्थान नहीं देना चाहिये । एक समाजके प्रति राग और दूसरेके प्रति द्वेष उत्पन्न करनेवाली शिक्षा अनर्थकी जननी है । इसीसे व्यापक वैमनस्य, संघर्ष, कलह एवं गृहयुद्धोंकी उत्पत्ति होती है । शिक्षा सर्वतोमुखी होनी चाहिये । उसमें साधारण उठने-बैठने, खाने-पीने, बोलने आदिकी शिष्ट रीति बतानेके साथ-ही-साथ घरेलू काम-धंधे, चिकित्सा, व्यापार आदिकी बातें भी होनी चाहिये । इतिहास, भूगोल, विज्ञान, शासन-प्रणाली, संविधान, देश-विदेशकी संस्कृति, अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्ध आदिका प्रशिक्षण भी आवश्यक है । पाठनकी रीति ऐसी होनी चाहिये, जिससे केवल किताबी ज्ञान न होकर रचनात्मक और अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त हो । कूपमण्डूकवत् सङ्कीर्ण प्रवृत्तियों और भावनाओंका अन्त कर देना चाहिये । यदि अन्तःकरणमें ईश्वर और धर्मपर विश्वासकी स्थापना नहीं की गयी तो संसारकी कोई भी शिक्षा मनुष्यको ईमानदार, चरित्रवान् बनानेमें सफल नहीं हो सकती । कोई भी शासन, विधान, पुलिस, सेना एवं अस्त्र-शस्त्र मनुष्यके हृदयको नहीं गढ़ सकता । श्रद्धा, भावना, विचार और आचरणके द्वारा ही उसका निर्माण हो सकता है ।

८. ब्रह्मचारियोंको अपने आचार्यके प्रति निश्छल, नम्र एवं अत्यन्त श्रद्धालु होना चाहिये । उनके सामने और परोक्षमें भी बड़ी सभ्यता, समझदारी, विनय और मर्यादासे बर्ताव करना चाहिये । आचार्यसे पीछे सोना और पहले उठना चाहिये । स्नान, सन्ध्या-वन्दन, हवन, व्यायाम और स्वाध्यायसे शरीर एवं बुद्धिका पोषण होता है । उपासनाके बिना चित्तमें एकाग्रता और सूक्ष्मता नहीं आती । आसनके अभ्यासके साथ-साथ थोड़ा प्राणायाम भी लाभकारी है । इससे शास्त्रका तात्पर्य ग्रहण करनेमें बड़ी सहायता मिलती है । ब्रह्मचारीको कब्ज कभी नहीं होने देना चाहिये । कब्जसे ही आलस्य, प्रमाद और आगे चलकर स्वप्नदोषकी सृष्टि होती है । पेटकी खराबीसे

मनमें विकार आने लगते हैं। इसके लिये भोजनपर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। अत्याहार और अनाहार दोनों ही कब्जके कारण बनते हैं। सात्त्विक भोजन भी मात्रासे अधिक लेनेपर विष हो जाता है। इसलिये भोजनमें मात्राका परिमित होना बहुत ही जरूरी है। आजके संसारमें भोजन न मिलनेसे उतने मनुष्य रुग्ण एवं काल-कवलित नहीं होते जितने अधिक भोजनके कारण होते हैं। अपनी उन्नति, अन्तर्मुखता और संयमका लेखा-जोखा चाहिये। जीवनको आत्मबल, उत्साह और आशासे पूर्ण कर देना चाहिये। ब्रह्मचारीका सङ्कल्प दृढ़ एवं अविचल हो।

९. ब्रह्मचर्याश्रमके सञ्चालकोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मचारी भीतर कुछ और और बाहर कुछ और न होने पावे। ब्रह्मचारीके जो दोष-दुर्गुण निवृत्त करने हों, उनके प्रति पहले दोषबुद्धि उदय करानी चाहिये और जो काम कराना हो उसके प्रति महत्त्वबुद्धि, जिससे उनकी वर्द्धिष्णु विचार-शक्तिपर कोई आघात न लगे। विशेष दबाव डालकर जो नियम पालन कराये जाते हैं, उनका प्रभाव प्रतिक्रियात्मक पड़ता है। ब्रह्मचारीकी बुद्धि ज्यों-ज्यों विकसित होती जाय, त्यों-त्यों उनके आचारसम्बन्धी विज्ञानमें भी वृद्धि होनी चाहिये। अन्यथा ब्रह्मचर्याश्रमसे निकलते ही वे एकाएक समस्त नियमोंको तोड़ डालते हैं और जिस जीवन-निर्माणके लिये उनसे तपस्या करायी जाती है, वह नहीं हो पाता। एक बात और भी ध्यानमें रखनेकी है। ब्रह्मचारियोंके द्वारा जो उनकी विद्या-बुद्धिके सार्वजनिक प्रदर्शन कराये जाते हैं, वे सच्चे हों। उनमें दम्भकी मात्रा बिलकुल नहीं होनी चाहिये। ब्रह्मचारी छात्रको जिस विषयका ज्ञान नहीं है, यदि वह दूसरेसे उधार लेकर, रटकर, नकल करके या अन्य किसी अनुचित रीतिसे जनसमाजमें उसका प्रदर्शन करता है तो थोड़ी देरके लिये सञ्चालकों, आचार्यों एवं ब्रह्मचारियोंको तात्कालिक वाहवाही और प्रशंसा प्राप्त हो जाती है। कुछ आर्थिक लाभ होना भी सम्भव है; परंतु इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव प्रतिकूल पड़ता है। झूठे अभिमान और दम्भसे बढ़कर कोई पतन नहीं है। अपनी कमजोरियोंको जानना, अज्ञानको पहचानना, सतत आत्मनिरीक्षण करना सबसे बड़ी शिक्षा है।

१०. अध्ययन-अध्यापनमें एक हदतक भाषा और व्याकरणका ज्ञान आवश्यक है; परंतु वही सब कुछ नहीं है। वस्तुके ठोस ज्ञानपर ही मुख्य दृष्टि रखनी चाहिये। केवल 'गौ' शब्द, उसके धेनु, सुरभि, वृषभ आदि पर्याय एवं उन शब्दोंके भिन्न-भिन्न प्रयोगोंकी रीति जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। कोष, व्याकरण, साहित्य, यमक-अनुप्रास आदिकी जानकारी ठीक होनेपर भी यदि गायसे परिचय नहीं है तो सब व्यर्थ है। इसी प्रकार जिस विषयका अध्ययन हो, उसका क्रियात्मक, रचनात्मक, प्रयोगात्मक, व्यावहारिक अनुभव भी होना चाहिये। किसीको झाड़ुओंके बहुतसे नाम और आकृतियाँ मालूम हों, परंतु झाड़ू लगाना न आता हो तो उस ज्ञानका क्या महत्त्व है? इसी प्रकार धर्म, ब्रह्म, प्रेम आदि पदार्थोंका भी साक्षात्कार होना चाहिये। केवल पदवाक्य और प्रमाणके ज्ञानसे ही अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेना चाहिये। सारे अध्ययन, अध्यापन, संयम, नियम, जप, तप, धारणा, ध्यान आदि साधन सत्य वस्तुके साक्षात्कारके लिये हैं। यदि इसी जीवनमें सत्यका साक्षात्कार नहीं हो गया तो बहुत बड़ी भूल—जीवनका विनाश समझना चाहिये।

११. ब्रह्मचर्य-रक्षाके लिये छान्दोग्योपनिषद्में छः बातोंपर विशेष बल दिया गया है—

(१) इष्ट अर्थात् अग्निहोत्र, शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपस्या, वेदोंका स्वाध्याय, वेदोक्त आचरणका अनुष्ठान, अतिथि-सेवा और बलिवैश्वदेव।

(२) यज्ञ अर्थात् देवाराधन, अपने हककी वस्तुओंको औरोंके प्रति वितरण, पञ्चभूतोंकी शुद्धि, समष्टिकी सेवा।

(३) मौन—मनमें वासनाओंका स्फुरण न होना, मनोराज्य न होना। आवश्यकतासे अधिक भाषण न करना।

(४) अरण्यायन—शान्त, एकान्त, पवित्र, निर्जन वनमें वास करना।

(५) सत्रायण—सत्सङ्गमें निवास करना।

(६) अनाशकायन—भोजनके सम्बन्धमें एक निश्चित शैली रखना।

१२. शतपथ ब्राह्मणमें ब्रह्मचारीकी चार शक्तियोंका उल्लेख प्राप्त होता है—

(१) अग्निके समान तेजस्विता।

(२) मृत्युके समान दोषों—दुर्गुणोंके मारणकी शक्तिका होना।

(३) आचार्यके समान दूसरोंको शिक्षा देनेकी शक्तिका विद्यमान होना ।

(४) संसारके किसी भी स्थान, वस्तु, व्यक्ति आदिकी अपेक्षा रक्खे बिना आत्माराम होकर रहना ।

१३. गोपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों, धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों एवं मन्वादि धर्मसंहिताओंमें सर्वत्र ही ब्रह्मचारियोंके लिये नृत्य, वाद्य, सङ्गीत, नाट्य आदिका निषेध प्राप्त होता है । ललित कलाएँ अन्तस्तलकी सुषुप्त वासनाओंको धीरे-धीरे कुरेदती हैं और उन्हें उकसाती तथा भड़काती हैं । भगवद्विषयक ललित कलाएँ उतनी बाधक नहीं हैं । फिर भी ब्रह्मचारियोंको शृङ्गारसम्बन्धी अभिनय और भावभङ्गिमासे सर्वथा पृथक् रहना चाहिये । रासलीलाके श्रवण-श्रावणके द्वारा कामविजयकी प्रणाली भी शृङ्गार-रसाकृष्ट व्यक्तियोंके लिये ही है । ब्रह्मचारियोंके लिये वह हानिकारक है । ऐसी अवस्थामें नाटक, सिनेमा आदि विकारवर्धक एवं उद्दीपक प्रसङ्गोंसे पृथक् रहनेमें ही ब्रह्मचारियोंका कल्याण है ।

१४. समावर्तन-संस्कारके पूर्व अपने स्वभाव, रुचि, महत्त्वाकांक्षा, योग्यता, स्वहित, परहित आदिका गम्भीर विवेचन कर लेना चाहिये । पूरी सचाईसे इस बातका अनुशीलन कर लेना चाहिये कि हम सांसारिक भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुखी होते हैं, हमें सुन्दर वस्त्र-आभूषण, भोजन, मान-प्रतिष्ठा, बड़ाई और धन आदिकी प्राप्तिसे सुख होता है अथवा इनके त्यागसे । यदि किञ्चित् भी लौकिक वासना अन्तःकरणमें शेष हो तो त्यागमय आजीवन ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा धारण न करके निस्संकोच गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये और तदनुकूल ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये । गृहस्थोचित ब्रह्मचर्यमें निम्नलिखित बातोंका ध्यान रखना चाहिये—

(१) गृहस्थाश्रम भोग भोगनेके लिये नहीं है अपितु भोगवासनाओंको नियन्त्रित करके उनका नाश करनेके लिये है । ब्रह्मचर्यमें जैसा शक्तिसंचय, ज्ञानका प्रकाश, तपस्याकी वृद्धि, लौकिक सुख एवं पारमार्थिक सुखकी प्राप्ति है भोगमें उसका लक्षांश भी नहीं है । जैसे फोड़ा होनेपर उसकी मवाद निकलते समय एक प्रकारका सुख होता है, वैसे ही मनमें विकार या मन्थनकी पीड़ा होनेपर वीर्यपातसे एक प्रकारका हल्कापन अथवा आभासमात्र सुखका अनुभव होता है । जैसे भाँगका नशा उतर जानेपर सुस्ती, कमजोरी और उदासी मालूम पड़ती है, वैसे ही कामावेश शान्त हो जानेपर स्त्री-पुरुषका पारस्परिक सङ्ग कोई सुख, स्वाद, विलास नहीं है । यह एक प्रकारका रोग, विवशता, पराधीनता और दुःखका मूल है । इसका न होना ही अच्छा है । संयमपर दृष्टि रखते हुए ही भोग करना चाहिये ।

(२) एक पुरुषका एक स्त्रीसे और एक स्त्रीका एक ही पुरुषसे संयोग होना चाहिये । मनमें विकार आ जानेसे भी शील, संयम और व्रतका भङ्ग हो जाता है और इस प्रकार मनोवैज्ञानिक पतन हो जानेसे जीवन अनियमित, उच्छृङ्खल एवं अधोगामी हो जाता है ।

(३) स्त्री-पुरुषके संयोगके सम्बन्धमें अवस्था, शक्ति, समय, स्थान आदिका भी ध्यान रखना चाहिये ।

(४) व्यभिचारको प्रोत्साहन देनेवाली गर्भ-निरोधकी प्रणालियोंको कभी काममें नहीं लाना चाहिये । संयम अवश्य रखना चाहिये ।

(५) पति-पत्नीको अलग-अलग शयन करना चाहिये ।

(६) सम्भव हो तो एक पुत्र उत्पन्न होनेपर इस शक्तिक्षयकारिणी क्रियासे विरत हो जाना चाहिये और वैराग्य हो तो वानप्रस्थ अथवा संन्यास-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये अथवा विश्वसेवाके कार्यमें लग जाना चाहिये । यह विश्व ही परमात्माका मूर्तरूप है ।

(७) गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी यथाशक्ति स्वार्थत्याग करके विश्वसेवाके आदर्शको पूर्ण करना चाहिये ।

१५. आजीवन त्यागमय ब्रह्मचारी-जीवन व्यतीत करना अथवा ब्रह्मचर्याश्रमके बाद संन्यासाश्रममें प्रवेश करना आपत्तिकी बात नहीं है; किंतु इसके पूर्व अपने अधिकार (योग्यता और शक्ति) का भलीभाँति विचार कर लेना आवश्यक है । केवल तात्कालिक आकांक्षा, रुचि और आवेशसे प्रेरित होकर ऐसा करना बुद्धिमानीकी बात नहीं है । लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये पूर्ण निश्चय और वज्रकठोर दृढ़ताकी आवश्यकता है । जिसमें इन्द्रियदमन, मनपर विजय, तपस्या एवं द्वन्द्व-तितिक्षा एवं कष्टसहनमें ही सुखका भाव है, वही त्यागमय जीवनका अधिकारी है । बिना वैराग्य एवं त्यागकी तीव्र भावना हुए आजीवन ब्रह्मचर्यका संकल्प

निष्फल ही नहीं है, पतनका हेतु भी है। ईश्वर, आचार्य, शास्त्र एवं आत्मदेवकी कृपाका संबल लेकर ही इस मार्गपर अग्रसर होना चाहिये।

१६. आजीवन ब्रह्मचारीके लिये सबसे पहली बात यह है कि वह अपनी एक निष्ठाका निर्णय, निश्चय कर ले। उसे चार निष्ठाओंमेंसे अपने लिये कोई एक चुन लेना चाहिये—

(१) **कर्म**—यज्ञ-यागादि, वेदोक्त कर्मकाण्ड, अशिक्षा-निवारण, रोग-निवारण, स्वच्छताका प्रचार, लोगोंमें नैतिक जीवनकी ओर रुचि उत्पन्न करना।

(२) **उपासना**—गायत्रीजप, नामजप, देवाराधन, सङ्कीर्तन, कथा-श्रवण, भक्तिके विभिन्न अङ्गोंका अनुष्ठान।

(३) **योग**—आसन, प्राणायाम आदिके द्वारा चित्तवृत्तियोंके निरोधका अभ्यास।

(४) **ज्ञान**—श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न।

इन चारोंमेंसे किसी एकको प्रधान और शेषको गौणरूपसे धारण करना चाहिये। सभी निष्ठाओंमें इन्द्रियसंयम, मनोनिरोध एवं सदाचारयुक्त मृदु व्यवहारकी अपेक्षा है। किसी एक निष्ठाको स्वीकार किये बिना अकर्मण्यता—बेकारी आनेका डर रहता है, जिससे मनमें विकारोंके आ जानेकी सम्भावना रहती है। निकम्मे आदमीका जीवन प्रमादका घर होता है।

१७. ब्रह्मचारीको कामविजयके साथ-ही-साथ अत्यन्त सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टिसे अन्य दोषोंपर भी ध्यान रखना चाहिये। काम बड़ा मायावी है। वह तरह-तरहके रूप धारण करके आक्रमण करता है; जैसे—

(क) **मोह-ममता**—यह मेरा प्रिय व्यक्ति अथवा प्रिय वस्तु है, पहले इस प्रकार सम्बन्ध जोड़कर पीछे भोगबुद्धि उत्पन्न करा देता है।

(ख) **लोभ**—पहले साधनाकी सुविधा और आवश्यक सामग्रीके छलसे द्रव्य इकट्ठा करा लेता है और पीछे वासना-पूर्तिके लिये उसका उपयोग करता है।

(ग) **क्रोध**—पहले अपने आलोचक अथवा निन्दकको अपने मार्गसे हटा देता है और फिर इच्छा-पूर्तिकी छूट दे देता है।

(घ) **मान-प्रतिष्ठा**—पहले लोगोंके चित्तपर अपनी धाक जमाकर फिर मनमानी कराता है।

(ङ) **मिथ्या अभिमान**—अब मेरा चित निर्विकार हो चुका है, मैं योगी हूँ, ज्ञानी हूँ, भक्त हूँ, सिद्ध हूँ—इस प्रकारकी अन्धता उत्पन्न करके फिर भोगके गढ़ेमें डाल देता है, इत्यादि।

कामके इन मायावी रूपोंसे बचनेके लिये सतत सावधानीकी आवश्यकता है। इसके लिये इन उपायोंपर चलना चाहिये—

(१) किसीसे विशेष हेल-मेल न बढ़ाना, सम्बन्धी एवं परिचितोंके देशमें न रहना और न आना-जाना।

(२) पैसे एवं वस्तुओंका संग्रह न करना।

(३) आलोचक एवं निन्दकोंको अपना हितैषी समझना और उनकी आलोचनाका आत्मनिरीक्षणमें सदुपयोग करना। कभी-कभी निन्दकोंके द्वारा अपने ऐसे छिपे दोषोंका पता चल जाता है, जिनका ज्ञान स्वयं साधकको भी नहीं रहता है।

(४) अपने ऊपर लोगोंकी विशेष श्रद्धा कभी न करावे। मान-प्रतिष्ठाका अत्यन्त निषेध भी न करे; क्योंकि वह निषेधसे ही बढ़ती है। जहाँतक हो सके स्वयं उससे बचना चाहिये।

(५) किसी प्रकारका अभिमान धारण न करे। अभिमान ही कामका आश्रय है। अभिमानके सहारे ही वह फलता-फूलता है। परिपूर्णतम परब्रह्म परमात्मामें द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, फिर कौन किसका अभिमान करे।

१८. प्राकृत पदार्थोंके सेवनसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है, विकृत पदार्थोंके सेवनसे नहीं; जैसे पीली एवं सोंधी, ठंडी मिट्टीका शरीरमें लेप करनेसे और गन्ध सूँघनेसे जितना लाभ होता है, तेल-फुलेल-इत्र आदिसे उसका शतांश भी नहीं। पेड़ूपर ठंडी मिट्टीकी पट्टी बाँधनेसे स्वप्नदोष नहीं होता। गङ्गा आदि नदी, समुद्र एवं वर्षाका जल भी पान-स्नानके द्वारा ब्रह्मचर्यके लिये हितकारी है, सोडावाटर, नल इत्यादिका नहीं। अग्नि एवं सूर्यका सेवन—उपस्थान-नमस्कार आदि वीर्यको पचाता है। हवन और सूर्योपस्थानका यह भी एक प्रयोजन है। बिजलीकी रोशनीसे ब्रह्मचर्यमें कोई सहायता नहीं मिलती। खुली हवा एवं अनाहत नाद जितने उपयोगी हैं, उनके सामने पंखेकी हवा और आहत

शब्दकी कोई गिनती ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारीको कृत्रिम पदार्थोंसे दूर ही रहना चाहिये। फल, शाक, दूध, कच्चे और अङ्कुरित अन्न ब्रह्मचर्य-रक्षामें बड़े सहायक हैं। घी, दही लाभकारी नहीं हैं। घीसे मेदोवृद्धि, अपच और पाचनयन्त्रोंपर भारका आधिक्य होता है। दहीकी अम्लता धातुको क्षीण करती है। जहाँतक हो सके स्वाभाविक, स्वच्छ और अन्तर्मुख करनेवाले प्रदेशमें रहना चाहिये और वैसी ही वस्तुओंका सेवन भी करना चाहिये।

१९. रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। रसना जो रस ग्रहण करती है, वही शुद्ध और पक्व होकर वीर्यके रूपमें परिणत होता है। यदि रसपर काबू नहीं है तो वीर्यपर भी नहीं रह सकता। कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियका ही पूरक औजार है। रसना यदि रस ग्रहण करेगी तो ठीक पाचन न होनेपर उसका क्षरण अनिवार्य है। इसलिये रसनाकी रसासक्तिपर कड़ी नजर रखनी चाहिये—

(१) भोजनमें स्वादपर दृष्टि नहीं रखना। केवल जीनेभरके लिये हितकारी वस्तुओंसे उदरपूर्तिमात्र कर लेना। शौकसे खट्टी, मीठी, चरपरी वस्तु नहीं खानी चाहिये। न स्वादके लिये ही खानी चाहिये।

(२) स्वयंपाकी हो तब तो नमक, मीठे, खट्टे, मसालेका प्रयोग ही नहीं करना चाहिये। शुद्ध सात्त्विक एवं परिमित अल्प भोजन समयपर ही करना चाहिये। अनेक बार भोजन नहीं करना चाहिये।

(३) यदि किसी समुदाय या आश्रममें रहना हो तो जो कुछ वहाँ स्वाभाविक एवं अविरुद्ध भोजन बनता हो वही खाना चाहिये। अपनी व्यक्तिगत इच्छा प्रकट नहीं करनी चाहिये। अलगसे माँगकर, खरीदकर जिह्वा-तृप्ति नहीं करनी चाहिये।

(४) यदि भिक्षा करते हों तो जो विरुद्ध वस्तु भिक्षामें आवे उसका त्याग दें; परंतु अनुकूल वस्तु माँगें नहीं। बड़ोंकी अधीनता, श्रद्धा, सेवा, श्रम और व्यर्थ समय न खोना—यह ऐसे उपाय हैं जिनसे हम क्या खायँगे, इसपर ध्यान ही नहीं जाता।

(५) आवश्यक भोजन एक बार ही परोसवा लें, बार-बार न लें। ठंडे-गरमका विचार न करें। दूसरा क्या खा रहा है यह देखे बिना मौन होकर भोजन करें। सम्भव हो तो वस्तुओंकी और ग्रासोंकी गिनती निश्चित कर लें।

(६) भोजनके प्रारम्भमें भगवान्‌को भोग लगाना चाहिये। इससे स्वतःप्राप्त स्वादिष्ट भोजनके प्रति स्वादवासनाका दोष मिट जाता है।

(७) भोजनके पहले पाँच ग्रास प्राणोंको आहुतिके रूपमें देने चाहिये, 'प्राणाय स्वाहा', 'अपानाय स्वाहा' इत्यादि। इससे 'मैं भोक्ता हूँ अथवा स्वाद ले रहा हूँ', यह भ्रान्ति छूट जाती है।

(८) 'मैं नहीं खा रहा हूँ, मेरे नाभिचक्रमें वैश्वानर अग्निके रूपमें बैठे हुए स्वयं भगवान् ही भोजन कर रहे हैं'—इस भावसे भोजन करनेपर स्वादकी वृत्ति चली जाती है।

स्वयंपाकी ब्रह्मचारीको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने लिये ही भोजन न बनाये। और किसीको खिला करके ही खाय "केवलाघो भवति यः केवलादी।"

२०. किसी व्यक्तिका सौन्दर्य अथवा उसके द्वारा निर्मित वस्तुका सौन्दर्य देखनेकी वासना अन्ततोगत्वा भोगमें परिणत हो जाती है। इस नेत्रवासनाने बड़े-बड़ोंको विकारके अग्निकुण्डमें झोंक दिया है। नेत्रवासनाने केवल पतिंगेको ही भस्म नहीं किया, बड़े-बड़े विद्वानों, योगियों और सदाचारियोंको भी पतनके गड्ढेमें ढकेलकर सर्वनाशतक पहुँचा दिया। बिल्वमङ्गलने आँख फोड़कर इससे पिण्ड छुड़ाया। इसपर विजय प्राप्त करनेके लिये बहुत जागरूक रहना चाहिये।

(१) मन-ही-मन चामका पर्दा हटाकर तब व्यक्तियोंको देखना चाहिये।

(२) जगज्जननी जगदम्बाको ही सर्वत्र देखना चाहिये। परमहंस रामकृष्णके सम्बन्धियोंने उन्हें गृहस्थ-जीवनसे उदासीन देखकर एक वेश्याकी ओर आकृष्ट करनेका प्रयत्न किया। जब वेश्या अपने हाव-भाव-कटाक्षसे उन्हें आकृष्ट करनेका प्रयत्न करने लगी, तब परमहंसजी तीन बार 'मा! मा!! मा!!!' कहकर समाधिस्थ हो गये। वे जगज्जननीके उपासक थे।

(३) अपने इष्टदेवकी अनुपम रूप-माधुरीका प्रेमसे चिन्तन करना चाहिये। एक बार श्रीरामानुजाचार्यने श्रीरङ्गक्षेत्रमें वेश्याके रूप-सौन्दर्यपर आसक्त व्यक्तिको देखा। वह वेश्याके सामने उसकी ओर मुँह करके

छाता लगाये हुए था और पीछेकी ओर चलता था। आचार्यचरणने उसके ऊपर कृपा की और अपने निवास-स्थानपर बुलाकर अपने आराध्यदेवके ऐसे अलौकिक सौन्दर्यका दर्शन करा दिया, जिसपर उसने अपना जीवन, अपना सर्वस्व ही न्यौछावर कर दिया और प्रभुके चरणोंका सेवक बन गया।

(४) चलते समय चार हाथसे अधिक न देखना। इधर-उधर न देखना। तिरछी और चुभती हुई नजरसे किसीको न निहारना। दृष्टि पक्की करनेका अभ्यास करना।

(५) रंगोंके उभार और आकृतियोंके आड़े-तिरछेपनमें कभी महत्त्वबुद्धि न करना।

(६) अन्तःसौन्दर्यकी अनुभूति, ईश्वरीय सौन्दर्यका अनुसन्धान और प्राकृत सौन्दर्यके निरीक्षणसे व्यक्तिगत सौन्दर्यका आकर्षण एवं प्रलोभन नहीं रह जाता।

(७) सौन्दर्यका सच्चा स्वरूप निर्विकारता है, यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये।

२१. वैसे तो सभी सांसारिक सुख स्पर्शजन्य ही हैं। कानकी झिल्लियोंसे जो स्पर्श होता है, उसे शब्द कहते हैं और आँखकी किरणें जिससे टकराती हैं, उसको रूप; परंतु इस प्रसंगमें स्पर्शका अभिप्राय त्वचा इन्द्रियके कार्यसे है। दाद खुजलानेसे जैसा सुख होता है, कामसम्बन्धी सुख भी प्रायः वैसा ही है। स्पर्श भोगका अवश्यम्भावी पूर्वरूप है। इसीलिये ब्रह्मचारीको स्पर्शसे बचना चाहिये। यह बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों एवं योगियोंको भी बेसुध करके बन्धन-स्थानपर पहुँचा देता है।

स्पर्शके सम्बन्धमें ये सावधानियाँ रखनी चाहिये—

(१) स्त्री पुरुषका और पुरुष स्त्रीका स्पर्श कभी न करे।

(२) लड़कियों और लड़कोंका स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। एक बड़े अनुभवी, ईमानदार एवं सच्चे बाल-ब्रह्मचारीने मुझे बताया कि वे थोड़ी आयुके बालक और बालिकाओंको अपनी गोदमें बैठाकर प्यारसे उनके कपोल आदिका स्पर्श कर लिया करते थे। उनके मनमें अपनी निर्विकारताका अभिमान था। धीरे-धीरे भक्त शिष्योंकी बालक-बालिकाएँ वयस्क हुईं। स्पर्शकी क्रिया पूर्ववत् चलती रही। अब बुढ़ौतीमें उन युवतियोंके स्पर्शसे मनमें विकार आने लगा है। उन्होंने अब स्पर्श न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, यद्यपि पंद्रह वर्ष पूर्व वे मना करनेवालोंकी खिल्ली उड़ाया करते थे।

(३) कोमल शय्या, वस्त्र, चन्दन, पुष्पमाला आदि भक्तोंके आग्रहपर भी स्वीकार नहीं करने चाहिये।

(४) साबुन, क्रीम आदिके द्वारा अपने शरीरको मुलायम नहीं बनाना चाहिये।

(५) अपने ही शरीरके कपोल, गुह्याङ्ग आदिका बार-बार स्पर्श करना भी ब्रह्मचर्यका घातक है।

(६) गायत्री-जप, शरीरके प्रत्येक अवयवमें न्यास, ध्यान, त्रिकालस्नान, हाथोंमें कुश-मुष्टि, दण्ड आदिका धारण, वल्कल-वसन, भस्मधारण आदिके द्वारा जन-साधारणसे अपनेमें एक प्रकारकी पृथक्ता एवं अपनी पवित्रता तथा दिव्यताकी भावना जाग्रत् कर लेनी चाहिये। इससे दूसरोंके एवं अपने गुह्याङ्गोंके स्पर्शसे रक्षा हो जाती है।

(७) ईश्वर, गुरु एवं अन्तरात्माको साक्षी बनाकर यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि ब्रह्मचर्यव्रतके विपरीत स्पर्श होनेपर मरणान्त प्रायश्चित्त करूँगा। मेरे पास एक एम्० ए०, डी० लिट्० महाशय आया करते थे। उनमें रूपवती युवतियोंकी ओर घूरने तथा चलते-फिरते उन्हें छू देनेका दोष था। उन्होंने मेरे सामने यह प्रतिज्ञा की कि बुरी नीयतसे स्पर्श होनेपर गङ्गाजीमें कूदकर प्राण दे दूँगा। थोड़े ही दिनोंमें उनकी घूरनेकी आदत भी छूट गयी। जिस रास्तेपर जाना ही नहीं है, उसके मीलके पत्थरोंकी गिनती मालूम करनेसे क्या लाभ है?

(८) ऐसे ग्रन्थोंका अनुसन्धान करना चाहिये, जिनमें अस्पर्श व्रतकी महिमाका उल्लेख है; जैसे वाल्मीकिकृत रामायणके सुन्दरकाण्डमें सतीशिरोमणि श्रीजानकीजीकी कथा है। उन्होंने अपने पुत्रवत् परम भक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्रीहनुमान्‌जीको भी स्पर्श करनेसे मना कर दिया था।

एक बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये। रूप, स्पर्श आदिकी वासनाएँ मनकी कमजोरी हैं। दृढ़ प्रतिज्ञा, निश्चय और सावधानीसे ही इनपर विजय प्राप्त की जा सकती है।

२२. यद्यपि शास्त्रोंमें केवल जननेन्द्रियके संयमको ही ब्रह्मचर्य कहते हैं, तथापि समस्त इन्द्रियोंका संयम हुए बिना ब्रह्मचर्यकी रक्षा सम्भव नहीं। जब किसी इन्द्रियके द्वारसे मनको बाहर निकलनेका अवकाश नहीं मिलता, तब उसमें एकाग्रता और निरोध-दशाका उदय होने लगता है। यह बड़े-बड़े खेल खेलता है। विक्षेपप्रिय होनेके कारण एकाग्रता इसे जेलके समान मालूम पड़ती है। निरोध तो मानो कालकोठरी ही हो। एक इन्द्रियका संयम करो तो यह दूसरी इन्द्रियसे भाग निकलनेकी कोशिश करता है। वाणीको बंद करते ही हाथसे लिखनेकी

कलासे मोहित कर लेता है । यदि ब्रह्मचारीने समस्त इन्द्रियोंके निग्रह और संयमका कौशल प्राप्त करनेमें कुछ निपुणता प्राप्त कर ली तो शरीरमें हनुमान्‌का-सा बल, भीष्मकी-सी इच्छामृत्यु, शाण्डिलीके समान गरुड़को गलानेकी शक्ति, सनकादिके समान नित्य शैशव आदि प्राप्त करानेकी लालसाका रूप धारण करके चमत्कारोंके चक्करमें डाल देता है । अथवा प्रचारकी तीव्र वासनाको प्रोत्साहित करता है । परमार्थ-पथके पथिकोंको इनसे परहेज करना चाहिये । उन महापुरुषोंमें वे सिद्धियाँ स्वाभाविक थीं, उन्होंने ब्रह्मचर्यसे उन्हें खरीदा नहीं था । साधारण साधकका मन निरोधके भयसे ही उनकी इच्छा उपस्थित करता है ।

२३. यदि चमत्कारोंके चक्कर और प्रचारकी वासनासे बचकर मन और इन्द्रियगोलकोंका सम्बन्ध रोक दिया गया, इन्द्रियाँ शान्त और स्थिर हो गयीं तो स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि विषय और इन्द्रियोंमें कोई भेद नहीं है । एक ही जड सत्ता दो रूप धारण किये हुए है । वही विषय है और वही इन्द्रिय है । विषयगत रूप और नेत्रगत रूपमें कोई भेद नहीं है । ऐसी अवस्थामें मन स्वतन्त्र विषयोंकी सृष्टि करने लगता है । साधारणतः अनुभूयमान प्रपञ्चसे विलक्षण गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्दकी संवित् होने लगती है । अनेकों प्रकारके दिव्य दृश्य, चित्र-विचित्र अनुभूतियाँ, देवता, दानव, स्वर्ग-ब्रह्मलोक आदिके दर्शन होने लगते हैं । यह सब मनके ही आकार-विशेष हैं । शास्त्र, सम्प्रदाय, मत, पन्थ व्यक्तिगत जानकारी, मान्यता एवं भावनाएँ जो बुद्धिमें संस्काररूपसे निहित रहती हैं, उदय हो-होकर एक जाल-सा बिछा देती हैं और साधकको उन्हींमें नित्यबुद्धि, सत्यबुद्धि उत्पन्न कराकर फँसा देती हैं । इस अवस्थामें साधक ऐसा समझने लगता है कि अब मेरा प्रवेश दिव्य राज्यमें हो गया है और मैं भागवत-सत्ता एवं भगवल्लीलाका अनुभव कर रहा हूँ । यह भी भ्रम है । जहाँतक नाम और आकृतियोंका भेद है, वहाँतक वास्तविक सत्ताका अनुभव नहीं है । इसका भी निरोध आवश्यक है । तत्पश्चात् एक अपूर्व आनन्दका, इस आनन्दका भोग भी ब्रह्मचर्यका विघ्न ही है । जब आनन्दकी वृत्ति भी शान्त हो जाती है, तब अस्मितामात्र शेष रह जाती है । इस अवस्थामें ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि अस्मितासे लेकर विषयपर्यन्त एक ही प्रकृतिका, जड सत्ताका विलास है । मैं तो केवल द्रष्टामात्र हूँ । मैं अकर्ता, अभोक्ता अर्थात् मैं नित्य ब्रह्मचारी हूँ ।

२४. यह अनुभूति भी वास्तविक नहीं है । इसमें भी संस्कारशेष विद्यमान रहते हैं । विषयगत भेदके संस्कार ईश्वरके सम्बन्धमें अन्यत्वकी कल्पना और द्रष्टाके अनेक होनेकी भ्रान्ति इस अवस्थामें भी विद्यमान होते हैं । कोई भी अभ्यासजन्य समाधि, चाहे उसका नाम कुछ भी क्यों न रख लिया जाय, अज्ञानकी निवृत्ति करनेमें समर्थ नहीं है । उनकी निवृत्ति तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिज्ञानसे ही होती है । समाधिके द्वारा अन्तःकरणके समस्त संस्कार अथवा अशुद्धियोंके धुल जानेपर स्वतःसिद्ध निरुपद्रव पूर्णबोधात्मक अखण्ड चिति ही शेष रह जाती है और वही आत्माका, ईश्वरका और जगत्‌का भी सच्चा स्वरूप है । ब्रह्मचर्यका भी वास्तविक स्वरूप वही है । इस पूर्ण ब्रह्मचर्यकी प्राप्ति, समस्त साधन, वेद-शास्त्र आदिका लक्ष्य है । इसीका अनुभव, साक्षात्कार अथवा बोधात्मक उपलब्धि होनेसे मनुष्य-जीवन, जीव-जीवन सफल चरितार्थ होता है ।

२५. पूर्ण ब्रह्मचर्यमें बाधात्मक स्थिति होनेपर ये शुभ सद्गुण जीवनमें स्वाभाविक ही रहने लगते हैं—व्यवहारशुद्धि, अन्तःकरणकी निर्मलता और सहज स्थिति । साधन-कालमें इनके लिये प्रयास करना पड़ता है और सिद्धिकालमें बिना प्रयत्नके स्वतःसिद्ध होते हैं—

(१) व्यवहारशुद्धि—संयम, सरलता, सादगी, समता, सत्यता, सदाचार आदि सद्गुण स्वाभाविक ही जीवनमें उतर आते हैं । बाह्य वस्तुओंमें सुखबुद्धि न रहनेके कारण अन्यायसे संग्रह-परिग्रहका कोई प्रश्न ही नहीं उठता । भोगलिप्सासे उत्पन्न होनेवाली हिंसा स्वतः निवृत्त हो जाती है । किसी वस्तुके नाशका भय नहीं रहता । छोटे-से-छोटे कार्यमें भी दैवी सम्पत्तिके महान् गुणोंका प्राकट्य होने लगता है । जाति, पन्थ और भाषाका दुराग्रह मिट जाता है । वह समाज, जाति, राष्ट्र, मानवता, विश्व एवं विश्वात्माका सच्चा सेवक होता है । उसके शरीरके कण-कण, रोम-रोम, रग-रग विश्वहित, भगवत्प्रेम और आत्मज्ञानसे परिपूर्ण रहते हैं तथा उनकी ऐसी रश्मियाँ एवं धाराएँ बिखरती रहती हैं, जिनसे सम्पूर्ण विश्व प्रेमसे परिप्लुत हो जाय ।

(२) अन्तःकरणकी निर्मलता—अन्तःकरणके अच्युततत्त्वमें स्थित हो जानेसे विषयसम्बन्धी सारे विकार स्वयं ही दूर हो जाते हैं । निर्विकार अन्तःकरणकी जो अपने सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन-आश्रयसे अभिन्न स्थिति है, वही शुद्धि है; क्योंकि उसमें वृत्ति और विषयका मिश्रण नहीं है । मिश्रण ही अशुद्धि है । चित्तमें जितने भी दोष, दुर्गुण, अशुद्धि, विकार होते हैं, उनमें कोई-न-कोई विषय वृत्तिके गर्भमें विद्यमान रहता है; यथा काममें कामिनी, क्रोधमें शत्रु, लोभमें धन इत्यादि । परंतु सत्य, अहिंसा, निष्कामता,

निर्लोभता आदि सद्गुणोंमें अन्तःकरण सर्वथा निर्मल एवं निर्विषय रहता है। उस समय वृत्ति अपने शान्त आश्रयसे भिन्न करके अपनेको नहीं दिखाती। सत्य, अहिंसा, निष्कामता आदि किसके प्रति यह प्रश्न ही नहीं उठता। वृत्तिकी सत्तामात्र स्थिति ही सद्गुण है। इसपर यह प्रश्न होता है कि ऐसी अवस्थामें सद्गुण अनेक क्यों? इसका उत्तर यह है कि एक ही शान्त स्थितिरूप सद्गुणोंको हिंसा, लोभ, काम आदि भिन्न-भिन्न दुर्गुणोंकी निवृत्ति करनेके कारण विभिन्न नामोंसे व्यवहार करते हैं। दुर्गुण अनेक हैं, इसीसे उनकी व्यावर्तक वृत्तिमें भी अनेकताका व्यवहार होता है। जैसे कामका विषय कामिनी है, वैसे ब्रह्मचर्यका कुछ विषय नहीं है। यह तो चित्तकी शान्ति ही है। काम केवल जाग्रत्, स्वप्नमें रह सकता है और समाधिमें नहीं। ब्रह्मचर्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि आदि सभी अवस्थाओंमें एकरस रहता है, इसलिये यह अखण्ड सत्य है। अतएव अखण्ड ब्रह्मचर्यमें स्थिति ही अन्तःकरणकी सच्ची शुद्धि है।

(३) सहजस्थिति—समाधि हो चाहे विशेष ब्रह्मचारीकी सहज स्थिति भंग नहीं होती। उसके लिये प्रवृत्ति और निवृत्ति सम है। उसके अपने स्वरूपसे भिन्न द्रष्टा, दर्शन, दृश्य कुछ भी नहीं है। वह सहज भावसे रहता है। अपने जीवनमें किसी प्रकारकी विशेषताका आरोप नहीं करता। उसका व्यवहार सम है, वृत्ति सम है, स्वरूप सम है और विषमता भी सम है। वह जीवन्मुक्त है, उसकी स्थिति सहज है।

◆

व्यापारीकी प्रार्थना

मेरे नित्य पथ-प्रदर्शक और मेरे व्यापारके हिस्सेदार हे मेरे स्वामी! मेरे मुखसे वही शब्द निकलें, मेरे हृदयमें उन्हीं विषयोंका ध्यान हो और मेरे हाथोंसे वही कर्म हों, जो आपके स्वीकार करने योग्य हों।

प्यारे परमपिता! मैं अपने व्यापारके कार्योंको इस प्रकार व्यवस्थित करूँगा कि वे आपकी दयाभरी व्यापारी-पद्धतिके सर्वथा अनुकूल होंगे।

मैं अपने व्यापारको भगवदीय व्यापारका ही एक महकमा बनाकर उसे सफलताके सुरक्षित पर्वत-शिखरपर स्थापित कर रहा हूँ।

भगवान्‌के व्यापारके सिद्धान्त हैं—प्रेम, समन्वय, शुभ-इच्छा, ईमानदारी, धैर्य, क्षमा, श्रद्धा, साहस, आनन्द और पथ-प्रदर्शन। ये सिद्धान्त मेरे व्यापारमें अदृश्य सहायक हैं। मेरी सफलता और प्रसन्नताकी ये बीमा हैं।

भगवान्‌का व्यापार मेरे जीवनमें सबसे पहली चीज है और मैं जो कुछ करता हूँ, सब अपने साथी मनुष्योंकी सेवाके द्वारा भगवान्‌का यश बढ़ानेके लिये करता हूँ।

अपना यह व्यापार मेरे लिये सन्तोष और सुख देनेवाला है; क्योंकि भगवदीय सिद्धान्तोंके अनुसार मैं इसके द्वारा भगवान्‌की और मानवकी सेवा कर रहा हूँ।

भगवान्‌के (बतलाये हुए) श्रेष्ठ मार्गके अनुसार अपना व्यापार करनेके लिये मेरे अंदरसे भगवान् मुझे पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं।

'यूनिटी'

[हमारा व्यापार लोक-सेवाके द्वारा भगवत्सेवाके लिये होना चाहिये और यह तभी हो सकता है जब हम अपने व्यापारको भगवान्‌का व्यापार समझकर भगवान्‌की मङ्गलमयी पद्धतिके अनुसार उसका सञ्चालन करें। उपर्युक्त प्रार्थनामें इसका बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन है—सम्पादक]

◆

सतत उद्योग और मनोरथका त्याग

(लेखक—स्व० मगनलाल हरिभाई व्यास)

श्रेयकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको न तो निष्क्रिय रहना चाहिये और न कामना ही करनी चाहिये। ईश्वरने जो काम सौंपा हो, अथवा पूर्वकालमें चाहा हुआ जो कुछ अपनेको मिला हो, उसी कामको भलीभाँति करना चाहिये। ऐसा न करके 'मुझे अमुक काम मिल जाय तो अच्छा', इस प्रकारकी इच्छा न करे। इच्छाका ही नाम मनोरथ है। उसका त्याग करना चाहिये। सेनामें सिपाहीकी योग्यताके अनुसार सेनानायक उसे काम सौंपता है। उस कामको एकचित्तसे न करके बड़ी पदवी अथवा दूसरे कामकी इच्छा रखनेवाला जैसे सच्चा सिपाही नहीं है, वैसे ही संसारमें भी जो परिस्थिति और जिस कामके लिये शरीर मिला हो, उस कामको न करनेवाला मनुष्य अपराधी माना जाता है। बहुत-से मुमुक्षु इसी दशामें रहते हैं और जीवनभर कर्तव्य-पालनके बदले मनोरथोंकी सेवा और प्राप्त कार्य एवं साधनकी अवहेलना करते रहते हैं। जो काम, जो संयोग, जो साधन प्राप्त हो और जिस परिस्थितिमें शरीर हो, उसीमें रहकर साधना करनी चाहिये। सत्य और अहिंसा—इन दोको जो नहीं छोड़ता और प्राप्त कार्य किये जाता है, वह यदि उस कामके लिये अयोग्य है तो वह काम अपने-आप छूट जायगा। सत्य और अहिंसा—ये दो ऐसे व्रत हैं, जो साधकको अपायमेंसे—गढ़ेमेंसे निकालकर ऊपर ले जाते हैं। मनुष्यको काम बदलनेकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। झूठ और हिंसाको छोड़नेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। प्राप्त कार्य, प्राप्त सगे-सम्बन्धी, प्राप्त धन, शक्ति या परिस्थिति सब अपने ही पुण्य या पापके फलस्वरूप मिले हैं। बबूल बोनेवालेको जैसे आम नहीं मिल सकता, वैसे ही पूर्वजन्ममें जैसे कर्म किये हुए होते हैं, उन्हींके अनुसार फलस्वरूप हमें सब कुछ मिलता है। उससे घबराना पाप है। जैसे एक पैसा देकर एक रुपयेका माल चाहनेवाला पाप करता है। परमात्मा ऐसा दयालु और न्यायी है कि उससे कभी भूल नहीं होती। इस प्रकार श्रद्धा रखकर कर्मवशात् जो कुछ भी इस जन्ममें मिला हो या मिले, उसीमें आनन्द मानकर उद्यम करते रहना चाहिये। प्रारब्ध अर्थात् पूर्वमें किया हुआ कर्म। पूर्वमें किया हुआ कर्म और वह कर्म जो भोग प्रदान करे, उसका नाम 'प्रारब्ध' है। मन्द, मध्य और तीव्र इस प्रकार प्रारब्ध तीन प्रकारका होता है। मन्दके लिये विशेष पुरुषार्थ करना पड़ता है और मध्यके लिये सामान्य। तीव्रके लिये अत्यन्त अल्प पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है। जीता-जागता प्राणी कभी क्रियाहीन नहीं रह सकता। इसलिये जिज्ञासुको निरन्तर उद्योग करते रहना चाहिये और वह भी प्राप्त परिस्थितिके अनुसार प्रसन्न हृदयसे। मन्द और मध्यम बुरे प्रारब्धसे प्राप्त दुःख भक्ति, परोपकार आदिसे चले जाते हैं। जिज्ञासुको पुरुषार्थमें लगे रहना चाहिये। वह प्रारब्ध या दैवकी बाट न देखे और न दैवको लेकर तर्क-वितर्क करे। निरन्तर पुरुषार्थ करता रहे। पेट भरने और कुटुम्बके पोषण करनेका नाम ही पुरुषार्थ नहीं है। जिसके पास जीवनभरके लिये खाने-पीने और कुटुम्बपोषणके लिये सामग्री हो, उसे भी उद्योगका त्याग नहीं करना चाहिये। शरीर जीवित रहकर खाता है, पीता है, हवा लेता है, अतएव वह इस जगत्का ऋणी है। शरीरसे कर्म करना ही चाहिये। शुभ करनेपर कल्याण होगा और अशुभ कर्मसे दुःखकी प्राप्ति होगी। प्राणीमात्रको परमात्मस्वरूप जानकर उनकी सेवाके लिये किया जानेवाला कर्म शुभ है और इससे विपरीत प्राणियोंको दुःख देनेवाला कर्म अशुभ है।

व्यापार करना, बच्चोंका पालन करना, कुटुम्बकी सेवा करना, खेती, नौकरी, मेहनत-मजदूरी और अन्य इस जगत्में होनेवाले जितने कर्म हैं, उनमें कोई भी कर्म ऊँचा-नीचा नहीं है। अपनी परिस्थितिके अनुसार सत्य और अहिंसाकी रक्षा करते हुए कर्म करते रहना चाहिये। घरमें छोटे बच्चोंको अच्छी शिक्षा देनेवाला और सरकारके सर्वोच्च पदसे जनताके हितका उपदेश करनेवाला—यदि दोनों निष्काम हों तो दोनों समान हैं। सकाम होनेपर भी दोनों समान हैं। सारी सेनाके नायक सेनापति और उसमें लड़नेवाला एक सिपाही निष्कामभावसे स्वधर्मका पालन करते हैं तो दोनों समान हैं। कर्मके छोटे और बड़ेपनसे कर्ताका माप नहीं होता। कर्ताके अंदरकी भावनासे वह नापा जाता है। धर्मयुक्त कर्म सत्य और अहिंसाको साथ लेकर कोई भी करे और वह निष्काम हो अर्थात् इस जन्ममें या अन्य जन्ममें उस कर्मके बदले कुछ

पानेकी या भोगकी इच्छा न हो तो उसका फल चित्तकी शान्ति, ज्ञान और मुक्ति ही है । राजा, पण्डित, कथावाचक, संन्यासी या परमहंसको मुक्ति मिले और साग बेचनेवाले काछीको न मिले, ऐसी बात नहीं है । मुक्तिके लिये भेष बदलने, काम छोड़ने और अमुक प्रकारके साधन-संयोगोंको प्राप्त करनेकी वासना अथवा मनोरथका त्याग कर देना चाहिये । जो मनुष्य प्राप्त साधन और परिस्थितिका सदुपयोग करता है, उसे अपने-आप विशेष अनुकूल साधन और परिस्थिति प्राप्त होती है । बुद्धिमान् सेनापति अपने-आप ही कर्मनिष्ठ स्वामिभक्त सिपाहीकी उसकी योग्यताके अनुसार उन्नति करता रहता है । इसी प्रकार परमात्मा भी साधकको उसके कर्मोंके अनुसार ऊपर उठाता रहता है । अतएव साधकको मनोरथ और कर्मफलकी चिन्तासे मुक्त रहकर आनन्दके साथ साधनमें लगे रहना चाहिये ।

सूर्यनारायण, ग्रह, नक्षत्र, तारा, प्राणिमात्र रात-दिन कर्म करते रहते हैं । जो प्राप्त कर्मसे घबराता है और कर्ममें आलस्य करता है, उसके पीछे जन्म-मरण और कालका धोखा लगा ही रहता है । सूर्य उगते ही जगत्को पुकारकर कहता है—'कर्म करो ।' उस समय जब कर्मके फलमें चित्त नहीं लगा रहता है, तो वह स्वस्थ होता है और स्वस्थ चित्तसे नियमित और अच्छी-से-अच्छी पद्धतिसे कर्म होते हैं । भोगमात्र ही कर्मका फल है । कर्मफलकी लालसा चित्तमेंसे निकल जानेपर कर्म करते हुए भी चित्त शान्तिका अनुभव करता है । कर्मफलकी लालसा, भोगकी लालसा एक मनोरथ है । आवेशपूर्वक जल्दी-जल्दी कर्म करना, कर्म न करना, बैठ रहना, आलस्य और दुष्कर्म करना—ये सभी कर्मफलकी लालसाको लेकर, भोगकी वासनाको लेकर ही होते हैं । जिसका चित्त मनोरथसे दूषित नहीं होता, उस चित्तसे कर्म बहुत अच्छी तरह होते हैं । जैसे नदीका बहता हुआ जल जहाँ-जहाँ नीचाई होती है, वहाँ-वहाँ उस-उस प्रदेशको लाँघता हुआ स्वाभाविक सागरमें जा मिलता है, उसी प्रकार कर्मका फल न चाहकर सतत कर्मरूपी गतिमें संलग्न पुरुष अन्तमें मुक्तिको प्राप्त होता है । कर्म किये बिना तो जीता-जागता कोई प्राणी रह सकता ही नहीं । पर यदि वह मनोरथका, भोगवासनाका त्याग नहीं करता तो उसे अशान्ति, दुःख और क्लेश ही मिलते हैं । इसलिये प्राप्त उद्यमको करते रहना चाहिये, पर उसमें आसक्त नहीं होना चाहिये । शरीरसे परिश्रम करनेका नाम ही उद्यम नहीं है । बोलना, विचारना भी उद्यम है । दूसरा कोई कार्य न हो, तब चित्तको जपमें अथवा अपने स्वरूपके विचारमें लगाना चाहिये । चित्त किसी-न-किसी आलम्बनके बिना रह नहीं सकता । समाधि और सुषुप्तिमें ही चित्त निष्क्रिय होता है । अन्य समय तो उसे कुछ-न-कुछ चाहिये ही । जगत्के कार्योंका अन्त तो आनेका ही नहीं । क्योंकि वे चक्रमें, गोलेमें फिरते हैं । जैसे किसी गोल वस्तुके पीछे फिरनेवाला कितना भी चले पर अन्त नहीं आता, जैसे निरन्तर भरे और खाली किये जानेवाला बर्तन कभी भरता ही नहीं । ग्रह बड़ी तेज चालसे भ्रमण करते हैं, पर अभी उनका भ्रमण करना नहीं मिटा । पेट भरते इतने वर्ष हो गये पर वह भरता ही नहीं । चित्त अनेक भोग भोगता है, पर वह पकड़में आता ही नहीं । सौ कमावे और सौ ही खर्च कर दे तो पूँजी कहाँसे जमा हो ? जगत्के तमाम उद्यम इसी प्रकारके हैं । अतएव बुद्धिमान् पुरुषको जगत्के भोग भोगकर उससे अलग होनेकी वासना छोड़ देनी चाहिये । जगत्में बहुत बड़ा बननेकी, सबको सुखी करनेकी, अमुक वस्तुको प्राप्त करके सुखी होनेकी वासना छोड़ देनी चाहिये । कर्म करके सुख प्राप्त करनेकी वासनासे कभी सुख मिलता ही नहीं । पेट भरकर फिर पेट खाली न हो, ऐसा नहीं होता । मनकी एक इच्छा पूरी होनेपर दूसरी इच्छा नहीं होगी, ऐसी बात नहीं है । मनोरथोंको पूर्ण करते-करते कभी अन्त नहीं आता । दस मनोरथ पूरे होंगे तो सौ नये जन्मेंगे । आखिर तो उनसे पिण्ड ही छुड़ाना पड़ेगा । अतएव अब सावधान होकर मनोरथ पूर्ण करनेका प्रयत्न न करके मनोरथोंको छोड़नेका ही प्रयत्न करना चाहिये । ज्यों ही कोई मनोरथ उत्पन्न हो, त्यों ही उसे दबावे । सच्चे मुमुक्षुका यही उद्यम है और यही सच्चा कर्म है । मायाके मनोरथ बड़े सूक्ष्म होते हैं । मन कहेगा—'परोपकार करो', 'दान करो', 'व्याख्यान दो', 'लेख लिखो' अथवा 'उपदेश करो ।' इन सभीमें मनकी सूक्ष्म वासना या मनोरथ रहता है, बड़ा बननेकी वासना अंदर भरी होती है । बिना वासनाका कर्म स्वाभाविक होता है । वह छलाँग नहीं मारता । नदीका प्रवाह पद-पदपर सागरको प्राप्त करता है, वृक्ष धीरे-धीरे बढ़ता है । जहाँ मनुष्य छलाँग मारना चाहता है, वहाँ मनोरथ है । जहाँ अकुलाहट, तीव्रता या चित्तमें विकार है, वहाँ मनोरथ है । मनोरथके त्यागका सतत उद्योग किये बिना और भगवान्को भजे बिना मुमुक्षु कभी तर नहीं सकता ।

वासना किसी वेशमें, किसी जगहमें या किसी कार्यमें नहीं छूटती । जहाँ मन है, वहीं वासना है । वेश, जगह अथवा काम छोड़नेपर वासना नहीं छूटती । वासना

छोड़नेके लिये तो चित्तकी शुद्धि चाहिये । चित्तको निग्रहीत करना चाहिये । भक्ति, जनसेवा तथा प्राणिसेवा करनी चाहिये । जैसे फल और छायावाले वृक्षको ढूँढ़ते हुए प्राणी आते हैं, वैसे ही जिसका स्वभाव दूसरेको सुख और शान्ति देनेवाला है, उसको ढूँढ़ते हुए प्राणी आते हैं । उसे आश्रय लेनेवाले और लाभ उठानेवाले प्राणी ढूँढ़ने नहीं पड़ते । जहाँ लाभ उठानेवालेको ढूँढ़ना पड़ता है, वहाँ ऐसा समझना चाहिये या तो ढूँढ़नेवालेके पेटमें कोई वासना है अथवा ढूँढ़नेवालेमें जिस गुणकी आवश्यकता है, वह उसमें नहीं है या जगत्‌को अभी उसकी आवश्यकता नहीं है । अतएव बुद्धिमान् पुरुषको तो लगे ही रहना चाहिये । जैसे नदीका प्रवाह आरम्भमें संकीर्ण और पीछे चौड़ा होता जाता है, वैसे ही जिसके हृदयमें शान्ति, प्रेम और परहित-साधनकी उत्कण्ठा है, उसका कार्यक्रम पहले अल्प होता है और धीरे-धीरे बढ़ता है । कार्य करते समय जिसका लक्ष्य फलकी ओर होता है, वह थोड़ा-सा काम करके ही देखता है—'फल आया ? कितना आया ? अभी क्यों नहीं आया ?' यों फलके अनुसन्धानमें वह कर्मको भूल जाता है । पर जिसका लक्ष्य कर्ममें है, वह ऐसा नहीं करता और इससे उसको फल विशेष मिलता है । कार्यमें जितना लक्ष्य कम होता है, उतनी सिद्धि कम मिलती है । अतएव व्यवहारदृष्टिसे देखनेपर भी तथा कार्यको सुगम तथा सफल बनानेकी इच्छा रखनेवालेको भी चाहिये कि वह अपने चित्तको कर्ममें ही लगाये रक्खे, उसके फलमें नहीं । मनुष्यको अपनी शक्ति, साधन, परिस्थिति और धर्म—इन चारके द्वारा अपना कर्तव्य स्थिर करके उसमें लगे रहना और मनोरथका त्याग करना चाहिये । जैसे एक-एक वस्तु सौ बार डालनेसे अपने-आप ही उसका जोड़ सौ हो जाता है, उसी प्रकार साधकको कर्म करते रहना चाहिये, फल अपने आप आयेगा ।

मनोरथ—फलकामनाके त्यागमें एक विशेष और सबल कारण और है । एक मनुष्य थोड़ेसे फल लेकर राजाके पास गया । उसके मनमें फलका मूल्य लेनेकी इच्छा थी । राजाके सामने फल रख दिये । राजाने उनको ले लिया । मान लीजिये—फलवाला उनका मूल्य पाँच रुपये आँकता है अपनी हैसियत और बाजारभावको देखकर । राजा उनका मूल्य अपनी स्थिति और उदारताके अनुसार देना चाहता है । इस स्थितिमें फलवाला राजापर छोड़ देता है तो उसे मूल्य अधिक मिलता है और माँग लेता है तो कम मिलता है । यद्यपि मनमें कामना रखकर न माँगना निष्कामभाव नहीं है; परंतु माँगनेकी अपेक्षा इसमें लाभ अधिक है । अतः मुमुक्षु साधकको चाहिये कि वह प्राप्त कर्म करता जाय, कर्मकी कीमत न आँके । किस कर्मका क्या मूल्य है, इस ओर देखे ही नहीं । इसका निर्णय मालिकपर छोड़ दे । दूसरी बात यह है कि लौकिक फलकी कीमत तो उसका मालिक फलवाला जान सकता है; परंतु माला, पूजा, तप, व्रत, नियम, उपासना आदि क्रियाओंका क्या फल है, इसका पूरा पता करनेवालेको नहीं हो सकता । यदि क्रिया करनेवाला अपने मनसे फल चाहेगा तो वह अल्प ही होगा । सबसे श्रेष्ठ फल है—मुक्ति । अल्प फल जन्म-मरण देनेवाले भोग हैं । साधकको यदि फलकी कामना ही करनी हो तो मुक्तिकी करनी चाहिये, नहीं तो कुछ भी कामना नहीं रखनी चाहिये । जन्म-मरण देनेवाले भोगोंकी तो जप-तपादिके बदलेमें कभी इच्छा करनी ही नहीं चाहिये । परमात्माके सदृश परमात्मा ही हैं—उन परमात्माके निमित्त कर्म करनेवाला पुरुष यदि कुछ भी नहीं माँगता तो उसे बहुत अधिक मिलता है—सर्वश्रेष्ठ फल मुक्ति ही मिलती है । हाँ, किसी साधकको आजीविकाकी चिन्ता हो तो उसके लिये भी यही सूत्र है कि वह उद्यम करता रहे और मनोरथको छोड़ दे । शुभ उद्योग करना चाहिये और वह भी झूठ, कपट, हिंसा और अधर्मको छोड़कर । ऐसा करनेसे आजीविका भी अच्छी मिलेगी ।

किसी भी देवताका दर्शन करने साधक उसके धाममें नहीं जाता, देवता ही साधकके पास आते हैं और वर माँगनेके लिये कहते हैं । सेवक काम करता है तो उसका वेतन मालिक बुलाकर देता है । क्रिया कभी बाँझ नहीं होती । फिर जो कर्म जगन्नियन्ताके लिये किया जायगा, वह फलहीन कैसे होगा ? अतएव कर्मफलकी लालसा छोड़कर कर्ममें लगे रहना चाहिये । सबसे श्रेष्ठ फल है—जन्म-मरण और उससे होनेवाले दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति । कर्मफल-त्यागका अर्थ है—सबसे श्रेष्ठ फलका स्वीकार । कर्मके दो ही फल हैं—भोग व मोक्ष । भोगका अर्थ है—श्रम, चिन्ता, दुःख, भय और क्लेशोंसे मिश्रित अल्प सुख, मोक्षका अर्थ है—केवल अखण्ड पूर्ण सुख । कर्मफलत्याग यानी मोक्षकी प्राप्ति । इससे यह समझमें आ गया होगा कि उल्टा-सीधा कुछ भी विचार न करके चिन्ता, भय, कामना, तर्क आदिको सर्वथा छोड़कर भगवत्प्राप्तिके साधनरूप शुभ कर्म भक्ति आदि परमार्थ साधनोंमें निरन्तर लगे रहना चाहिये ।

पौराणिक सद्धर्म

(रचयिता—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

सदा हो सबके सुखकी चाह।
पौराणिक सद्धर्म यही है, चलें प्रेमकी राह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(१)

निगमागमका ध्येय रहा यह–'हो दुःखोंका अन्त'।
इसीलिये सुख-मार्ग दिखाते सारे संत-महंत॥
करें सर्वाधिक हितका कर्म,
यही है परम-पंथका मर्म।
जहाँ हो सत्य-शान्ति-शिव-शमः
वहीं है सर्वेश्वरका धर्म॥
जीवन-नैयाका अवलम्बन आर्य-धर्म-मल्लाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(२)

सर्वकाल सर्वत्र सभीका शुभ-चिन्तन-सुख ध्येय।
सत्य-असत्य-विवेक सर्वथा सर्वज्ञोंका ज्ञेय॥
यही जीवन्मुक्तोंका ज्ञान,
यही तो परम-तत्त्व भगवान।
यही सब योग-तपस्या-ध्यानः
यही है परा बुद्धि पहिचान॥
अति परोक्ष अपरा लीलाका रहा अगम अवगाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(३)

कुशल-क्षेमके अकुशल साधन सब कुशील व्यवहार।
खल-जीवोंको भी खलता निज-दलपर अत्याचार॥
चोरको निज-चोरी न सुहाय,
बुरोंको अपना बुरा न भाय।
कुत्ससे कुत्सा सही न जायः
सभी निज-हेतु चाहते न्याय॥
सदा सर्वहितमें निज हित है, मिटे लोभ, उर-दाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(४)

विश्व-प्रेमके हित बन्धनमें करें स्वतंत्र विहार।
अपने मतका मोह छोड़कर हो विकसित संसार॥
सभीको मिलें शुद्ध अधिकार,
ज्ञानसे सत्य बने आचार।
यही है आर्य-धर्मका सारः
और सब शास्त्र विभिन्न विचार॥
सबमें खोजें सच्ची शिक्षा—हितकी नेक सलाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(५)

तथ्य तथावत हो कि नहीं हो सत्य कहा हित-कार्य।
जो श्रद्धाका भंजन कर्ता वह अतथ्य परिहार्य॥
आज भी विस्तृत है विज्ञान,
पुरातन-'मोह' बना बेजान।
तथ्यमें परिवर्तन पहचानः
बढ़ाएँ धर्म-देहकी शान॥
जितना तथ्य भरा हो हितमें उतना सत्य सराह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(६)

प्राण बचें पर नीति मरी हो यह न अहिंसा धर्म।
धर्म न्यायके लिये सदा है, करें विश्वहित कर्म॥
सृजन-संहारयुक्त संसार,
कहींपर मार कहींपर प्यार।
रहे जब अन्यायोंकी हारः
अहिंसा तब ही परम उदार॥
करुणामें भी शक्ति भरी हो मरे नहीं उत्साह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(७)

धर्म-परीक्षामें आवश्यक, पक्ष-हीन विज्ञान ।
देश-काल-बल-पात्र-भेदका रखना पूरा ध्यान ॥
हमारी हम कर लें पहचान,
बुद्धि सब सद्भावोंकी खान ।
धर्मके अंश विभिन्न विधान;
हमें करना सबका सम्मान ॥
स्थान-स्थानपर सबकी शोभा सूची हो कि कटाह ।
सदा हो सबके सुखकी चाह ॥

(८)

द्वैताद्वैत सगुण-निर्गुणमय योग समन्वित भोग ।
सभी दृष्टि हैं सत्य जहाँ सबके सुखका संयोग ॥
समूर्त अमूर्त सभी हैं एक,
एकका हो न कहीं अतिरेक ।
ब्रह्मके होते अंश अनेक;
प्रेमकी ही बस रखना टेक ॥
विश्वतत्त्व मीमांसा दर्शन शास्त्र अनंत अथाह ।
सदा हो सबके सुखकी चाह ॥

(९)

हो निवृत्ति दुःस्वार्थभावसे यही कहा संन्यास ।
हो प्रवृत्ति जब प्रेम-पन्थमें हटे विश्वका त्रास ॥
क्रियामें हो विवेकसे शोध,
विकारोंपर ही उपजे क्रोध ।
अंध श्रद्धाका हो अवरोध;
मूर्ति लख करें भक्तिका बोध ॥
मन-मंदिरमें रसरंगोंका बहे अनन्त प्रवाह ।
सदा हो सबके सुखकी चाह ॥

(१०)

सकल रंग रस मिलें किन्तु हो कर्म कलाका त्राण ।
विविध व्यञ्जनोंका संगम हो रहे उचित परिमाण ॥
तभी कहलाया सुन्दर भोग,
भोगसे योग करे संयोग ।
योगका एकांगीपन रोग;
रोग संहारक मोह वियोग ॥
मिला समन्वय राज-पंथ फिर पूरब हो कि पछाह ।
सदा हो सबके सुखकी चाह ॥

(११)

मन्दिर मस्जिद चर्च-चैत्य सब धर्म लाभके स्थान ।
सबका सम उपयोग प्रेमकी पूजाका अरमान ॥
दूर हो पंथ-मोह-अभिमान,
सदा गायें समत्वका गान ।
सर्वव्यापी परतत्त्व महान;
एकतामें रहता भगवान ॥
विधि हरि हर साकार भजें या निराकार, अल्लाह ।
सदा हो सबके सुखकी चाह ॥

(१२)

बुद्ध-जिनेश्वर-ईसा-पैगम्बर-जरथुस्त्र महान ।
समय समयके महापुरुष सब देते सुखका दान ॥
सभी प्रभुकी पवित्र सन्तान,
किया जगका उपकार महान ।
इन्हें आदर्श पुरुष पहिचान;
करें हम सबका सम सम्मान ॥
दौड़ पड़े थे सुनकर सब, दीनोंकी करुण कराह ।
सदा हो सबके सुखकी चाह ॥

(१३)

अपने भी इस लघु जीवनसे हो न किसीको त्रास ।
दंभ और दुःस्वार्थभावका मनमें हो न निवास ॥
यथा संभव सब पाएँ चैन,
सभीका दुःख घटे दिन रैन ।
कहें आपसमें मीठे बैन;
न तोड़ें हम गुरुजनकी ऐन ॥
पर इन ढोंगी दुष्टजनोंका हो शैतान तबाह ।
सदा हो सबके सुखकी चाह ॥

(१४)

काम क्रोध लोभादि शत्रुओंपर ही उपजे रोष ।
ऐसे हों निर्दोषभाव जिनसे फैले सन्तोष ॥
पापके फलपर हो विश्वास,
दुःखमें मानस हो न उदास ।
हो न तम-राजस-भोग-विलास;
हरे वैराग्य न सात्त्विक ह्रास ॥
जिससे सबका मन प्रसन्न हो ऐसी बनें निगाह ।
सदा हो सबके सुखकी चाह ॥

(१५)

अर्थ-धर्म दोनोंसे साधें काम-मोक्ष पुरुषार्थ।
सभी रसोंका सुखद समन्वय जीवनका परमार्थ॥
प्रकृतिका सुख कहलाता काम,
इसीसे बना विश्व अभिराम।
मोक्ष है मनोविजयका नाम;
वहाँ सत्कर्मोंका न विराम॥
जग-सेवामें बने रसीले भर लें दिलमें आह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(१६)

श्रमका उचित मूल्य सब पाएँ बढ़े सदा व्यापार।
सूद-प्रथापर अति अंकुश हो, हो न प्रमाद प्रचार॥
बने ऐसा राजस्व सुधार,
रहे कोई न किसीपर भार।
साम्यका हो संभव संचार;
खुलें सब सहयोगोंके द्वार॥
करें अर्थ-विस्तार नीतिसे हो सबका निर्वाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(१७)

नर हो या नारी आपसमें दोनों ही अर्द्धांग।
इनका मिल जाना मानवका जीवन साङ्गोपाङ्ग॥
बना यह जग दाम्पत्य प्रधान,
रहे सर्वत्र समत्व विधान।
व्यवस्थित दो चक्रोंका स्थान;
किया करता रथको गतिमान॥
भोगोंको सीमित करता है मंगलमूर्ति विवाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(१८)

पति पत्नी स्वामी स्वामिनि हैं रहे साम्य व्यवहार।
न्यायार्जित धन-संरक्षणसे करें धर्म-विस्तार॥
एकपर रहे वृत्तिका भार,
सँभाले एक सकल परिवार।
बाँट लें यथायोग्य अधिकार;
चलायें यों मिलकर संसार॥
जितना प्यार रहे उतना ही सुखद गृहस्थ निवाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(१९)

रो लें हँस लें उछलें कूदें खेलें मिलकर खेल।
अपने अपने काम सँभालें सब चोटोंको झेल॥
बनायें फिर कोई भी वेश,
हमारा रखवाला सर्वेश।
सुनायें यों प्रभुका सन्देश;
प्रेम ही जीवनका उद्देश॥
दिलमें जब ईमान भरा है, तो किसकी पर्वाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(२०)

कितना ही संकट आ जाये क्यों बन जायँ निराश।
प्राण जाय या महिमा जाये, हो न न्यायका नाश॥
भले हों निर्धन या धनवन्त,
बनें या कुटियावाले संत।
रहें हम चाहे भूप महंत;
प्रेमकी इच्छा रहे अनंत॥
द्वेष-प्रलोभन कष्ट उपेक्षा कर न सकें गुमराह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

(२१)

सुख दुख हानि लाभ यश अपयश उन्नति या अपकर्ष।
विजय पराजय आदि अटल है जीवनका संघर्ष॥
डरें क्यों यह अनादि संग्राम,
झगड़ते रहना है अविराम।
कर्म करना बनकर निष्काम;
यही है, जीवन-धर्म ललाम॥
'सत्यप्रेम'में सब मंगल है 'सूरजचंद' गवाह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥
पौराणिक सद्धर्म यही है चलें प्रेमकी राह।
सदा हो सबके सुखकी चाह॥

सत्सङ्ग

(लेखक—श्रीशम्भुनाथजी चतुर्वेदी)

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग ॥

प्रत्येक मनुष्यकी यह आकाङ्क्षा होती है कि वह सदा सुखमें ही रहे । दुःख कभी न हो । यद्यपि सुख और दुःख दिनके बाद रातकी भाँति आते और जाते रहते हैं, परंतु दुःखका नाम सुनते ही प्राणीमात्र काँप उठते हैं । किस प्रकारसे अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त हो, इसी उद्देश्यसे मनुष्य एकके पश्चात् दूसरी ईप्सित वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है और उसके पानेका प्रयत्न करता है । जब ईप्सित वस्तु मिल जाती है, तब उससे भी उसकी सन्तुष्टि नहीं होती । उस समय नये अभाव उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी पूर्ति आवश्यक प्रतीत होने लगती है । इस प्रकार आवश्यकताएँ प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं और वह उन्हींके चक्करमें फँसा रहता है । अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे तो यह बहुत ही अच्छी बात है; क्योंकि जितनी ही मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढ़ेंगी, उतने ही आविष्कार होते जायँगे और देश तथा समाजके उत्थानमें सहायक होंगे; परंतु इस प्रकारका सुख वास्तवमें सुख नहीं है और बारंबार विषय-सुखकी प्राप्ति करनेवाले लोग भी सांसारिक झंझटोंसे ऊबकर वास्तविक सुखकी चाहना करते हैं । यह कैसे प्राप्त हो ? इसका एकमात्र साधन है—'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' । वैराग्यरूपी शस्त्रसे वासनाकी जड़ काट देना । वह एकदम तो सम्भव है ही नहीं, इसके लिये शनैः-शनैः प्रयत्न करना होता है । सत्सङ्गकी इसीलिये आवश्यकता होती है । क्योंकि 'बिनु सत्संग बिबेक न होई' । सत्सङ्ग क्या है और कैसे मिले—यह प्रश्न बड़ी गम्भीरतासे विचारणीय है । 'सत्' शब्दका प्रयोग दो प्रकार होता है—एक तो सद्भावमें और दूसरा साधुभावमें—'सद्भावे साधुभावे च सदित्येत्प्रयुज्यते ।' (गी० १७ । २६)

यहाँ पहले सद्भावको ही लीजिये । सत्सङ्गके अर्थ होता है—आसक्ति यानी सत्में आसक्ति । सत्की व्याख्या गीताके द्वितीय अध्यायके १७ वें श्लोकमें की गयी है—'नाभावो विद्यते सतः' अर्थात् सत्का कभी अभाव नहीं होता । ऐसी अव्यय अविनाशी सत् वस्तु क्या है ? उत्तर—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

अब प्रश्न यह होता है कि वह कौन-सी ऐसी सत्ता है कि जिसके द्वारा यह समस्त संसार व्याप्त है । श्रीभगवान्ने इसका उत्तर दिया है कि—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'—'मैंने ही अव्यक्तरूपसे इस समस्त जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ।' अव्यक्त स्वरूपका वर्णन श्रुतिमें इस प्रकार दिया है—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।' इसके अनुसार जंगम, स्थावर सभी भूतोंमें परमात्मा ही व्याप्त है । कबीर साहबने कैसा सुन्दर कहा है—

साहिब तेरी साहिबी, सब घट रही समाय ।
ज्यों मेंहदी के पात में, लाली लखी न जाय ॥

गीतामें श्रीभगवान्ने नाशरहित कूटस्थसे भी अतीत वस्तुको ब्रह्म कहा है यथा—'अक्षरं परमं ब्रह्म' । यही कूटस्थ अक्षर कहलाता है, जिसका कभी विनाश नहीं होता । इस अक्षरका स्वरूप भी अनिर्देश्य और अव्यक्त है । अव्यक्तके सम्बन्धमें ऊपर लिखा ही गया है । अब अनिर्देश्यके सम्बन्धमें—

नेति नेति जेहि बेद निरूपा । चिदानंद निरुपाधि अनूपा ॥

तथा—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु कर्म करै बिधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥

आकाशवत् सर्वव्यापी, मनके भी अगोचर,कूटस्थ—सबके मूलमें रहनेवाले अचल अक्षरका निर्देश्य कठोपनिषद्में स्पष्ट कर दिया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

(२ । १५)

यहाँ ओंकारको ही नाशरहित कूटस्थसे परे परम वस्तु ब्रह्म ही कह दिया है । पद्मोद्भवसंहितामें ओंकारको विष्णुवाचक, लक्ष्मीवाचक तथा जीववाचक कहा है—

अकारेणोच्यते विष्णुः सर्वलोकैकनायकः ।
उकारेणोच्यते लक्ष्मीर्मकारो जीववाचकः ॥

विष्णुसहस्रनाममें इसीका दिग्दर्शन करातेहुए कहा है–

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥
यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥

ब्रह्मकी व्याख्या श्रीआदिशङ्कराचार्यने इस प्रकार की है—

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम् ।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥
यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा नापुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥
(आत्मबोध ५४ । ५५)

यही ॐ प्रणव मन्त्र और ब्रह्मका प्रधान नाम है। यही सर्वत्र व्याप्त तत्त्व है—कबीरजी कहते हैं।

ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आग ।
तेरा साईं तुझ में, जागि सके तो जाग ॥
सुमिरन सुरत लगाय कर, मुख से कछु ना बोल ।
बाहिर का पट बंद कर, अंदर का पट खोल ॥

इस परम तत्त्वका नित्य सङ्ग अथवा इसकी प्राप्ति करानेवाले साधन या पदार्थका सङ्ग ही सत्सङ्ग है । इस सत्सङ्गकी बड़ी महिमा है ।

यह तो हुआ निर्गुण अथवा निराकार ब्रह्मका निरूपण । इसमें जैसा श्रीभगवान्ने निज मुखसे गीतामें कहा है कि साधारण कोटिके उपासकको अधिक क्लेश है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
(१२ । ५)

सगुणोपासना इससे सरलतर है । इसमें उपासक अपने भावानुसार किसी उपास्य देवताकी उपासना करता है । यदि किसी विशेष उद्देश्यकी पूर्तिके हेतु उपासना की जाती है तो देवता प्रसन्न होकर अभीष्टकी पूर्ति भी कर देता है । सगुणोपासनामें विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य तथा गणेश—इन पञ्चमूर्तियोंको ईश्वर-भावनासे पूजनेकी विधि है । देवता यदि प्रसन्न हो जाय तो अपने अन्तर्गत सब कुछ दे सकता है । इनमें कौन छोटा और कौन बड़ा—यह कहना नहीं बनता । पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि देवताके स्वरूपों में भिन्नता होनेपर भी उपासना वस्तुतः एक ही सर्वशक्तिमान् भगवान्की ही होती है । 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।'

भगवान् कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥
(गीता ९ । २३)

निर्गुण ब्रह्म ही सगुण अथवा साकार रूपमें प्रकट होकर अपने भक्तोंके हितके लिये आवश्यकतानुसार लीला करके पुनः अव्यक्त हो जाते हैं । अवतार भी अनेक हैं—जैसे मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह इत्यादि । परंतु इनमें मुख्य दो ही माने गये हैं, एक तो त्रेतामें श्रीरामावतार और दूसरे द्वापरमें श्रीकृष्णावतार । ये दोनों ही भगवान्के साक्षात् अवतार हैं । अवतारका कारण रामायणमें इस प्रकार बताया गया है—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ॥
(बालकाण्ड)

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥
(१० । १४ । ५५)

'श्रीकृष्ण सबके आत्माओंके आत्मा—परमात्मा हैं । केवल जगत्-कल्याणके लिये योगमायाके आश्रयसे वे रूपधारीकी तरह दीखते हैं।' यह भगवान्का शरीर भगवान्से अभिन्न और भगवत्-स्वरूप है । यही श्रीभगवान्के अवतारकार्यके लिये दिव्य जन्म तथा दिव्य शरीर धारणका रहस्य है ।

निर्गुण ब्रह्म जब सगुण रूपमें व्यक्त हुआ, तब उसका नाम भी चाहिये; क्योंकि बिना नामके तो उसका बोध हो ही नहीं सकता ।

रूप बिसेष नाम बिनु जानें । करतल गत न परहिं पहिचानें ।

यदि किसी व्यक्तिकी चर्चा की जाती है और वह उस

स्थानपर उपस्थित नहीं होता तो नामसे उसका स्वरूप तुरंत सामने आ जाता है—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके नामकरणके अवसरपर उनके कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीने कहा—

इन्हके नाम अनेक अनूपा । मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा ॥
जो आनंद सिंधु सुख रासी । सीकर तें त्रैलोक सुपासी ॥
सो सुख धाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥

नित्यानन्दलक्षणेऽस्मिन् योगिनो रमन्ति इति रामः

'नित्यानन्दस्वरूप चिदात्मामें योगीजन रमण करते हैं, इसलिये वे राम हैं ।' अथवा—

स्वेच्छया रमणीयं वपुर्वहन्वा दाशरथी रामः ।

अर्थात् अपनी ही इच्छासे रमणीय शरीर धारण करनेवाले दशरथनन्दन ही राम हैं ।

अन्य अवतार तो अंशावतार हैं; किंतु वासुदेव तो सोलहों कलाओंसे पूर्ण अवतार हैं ।—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

कृष्णका अर्थ है जो अपनी ओर आकर्षित कर ले अथवा जो अपने भक्तोंके पापोंका कर्षण कर ले—

व्रजे प्रसिद्धं नवनीतचौरं
गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम् ।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं
चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥

इन्हीं सगुणरूप पूर्णकाम सच्चिदानन्दकी उपासना सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञानुष्ठानसे, द्वापरमें पूजनसे होती है और इनसे जो लाभ होता है, वही कलियुगमें श्रीकेशवके नाम-संकीर्तनसे हो जाता है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
(वि० पु० ६ । २ । १७)

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी रामचरितमानसमें कहा है—

ध्यानु प्रथम जुग मखबिधि दूजें । द्वापर परितोषत प्रभु पूजें ॥
कलि केवल मल मूल मलीना । पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥
नाम कामतरु काल कराला । सुमिरत समन सकल जग जाला ॥
…'कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

हरिवंशमें लिखा है कि हे विप्रगण ! आपलोगोंको सर्वदा सत्त्वगुणसम्पन्न होकर एकमात्र श्रीहरिका ही ध्यान करना चाहिये । आप सदा ॐका जप और श्रीकेशवका ध्यान करें ।

हरिरेकः सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वसंस्थितैः ।
ओमित्येवं सदा विप्राः पठत ध्यात केशवम् ॥
(हरि०पु० ३ । ८९ । ९)

जैसे अनिच्छासे स्पर्श करनेपर भी अग्नि जला ही डालती है, वैसे ही श्रीहरिका यदि दुष्ट पुरुषोंसे भी स्मरण किया जाय तो वे उनके समस्त पापोंको हर लेते हैं ।

भाउ कुभाउ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

तुलसीदासजीने कवितावलीमें लिखा है—

रामु बिहाइ 'मरा' जपतें बिगरी सुधरी कबिकोकिलहू की ।
नामहि तें गजकी, गनिकाकी, अजामिलकी चलि गै चलचूकी ॥
नामप्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही पति पांडुबधूकी ।
ताको भलो अजहूँ 'तुलसी' जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दूकी ॥
(उ० का० ८९)

नामकी बड़ाई तो श्रीराम भी स्वयं नहीं कह सकते—

राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥

इसीलिये तो—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥

इस कोटिके भक्तोंमें ही शिवजी तथा उनके अंशावतार श्रीमङ्गलमूर्ति मारुतनन्दनजी, महामुनि नारद तथा उनके शिष्यद्वय ध्रुव तथा प्रह्लाद उल्लेखनीय हैं ।

सीताहरणके पश्चात् जब श्रीराम-लक्ष्मण वनमें सीताजीको खोज रहे थे, शिवजी कुम्भज ऋषिके यहाँसे लौट रहे थे । मार्गमें इष्टदेव श्रीरामके दर्शन हुए । कुसमय जानकर जान-पहचान तो नहीं की, परंतु चुपचाप 'जय सच्चिदानंद जग पावन' कहते हुए प्रणाम कर चले गये । सतीने जब शिवजीसे पूछा कि आप तो स्वयं ही जगद्वन्द्य हैं, आपने किसे प्रणाम किया, तब शिवजीने बताया । सतीजीको सन्तोष नहीं हुआ और वे उनकी परीक्षा लेने चलीं । उन्होंने सीताका कपट वेश बनाया; परंतु सर्वज्ञ भगवान् राम तुरंत पहचान गये और उन्होंने हाथ जोड़कर अपना

नाम बताते हुए प्रणाम किया । इसी अपराधके कारण शिवजीने प्रण कर लिया कि अब इस सतीके शरीरसे प्रेम नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करना भक्तिके पन्थमें अनीति होगी । सतीको जब यह ज्ञात हुआ, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे पिताके यज्ञमें शरीर त्यागकर पुनः पार्वतीरूपमें प्रकट हुईं । तब शिवजीने उन्हें अङ्गीकार किया । इन्हीं भगवान् रामको—

संतत जपत संभु अविनासी । सिव भगवान ग्यान गुन रासी ॥
महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासीं मुकुति हेतु उपदेसू ॥

मङ्गलमूर्ति मारुतनन्दनजी तो शिवजीके अंशावतार ही थे और रामकाजके लिये ही अवतरित हुए थे । विभीषणजीको अपना परिचय देते हुए आप कहते हैं—

कहहु कवन मैं परम कुलीना । कपि चंचल सबहीं बिधि हीना ॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा । तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर ।
कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर ॥
(रामचरित० सु० का०)

सीताजीकी खोजके लिये समुद्र पारकर लंका गये । भगवान् रामकी कुशल उनको सुनायी । तब माता सीताने आशीर्वाद दिया कि अष्टसिद्धि नौ निधि तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ी रहेंगी । लक्ष्मण-शक्तिके समय संजीवन बूटी लाकर उनको जीवनदान दिया । ऐसे जाने कितने उपकार किये । उसके फलस्वरूप श्रीरामको यही कहना पड़ा कि तुम मुझे भरतके समान ही प्रिय हो । बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन—

सुमिरि पवन सुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ॥

महाप्रयाणके समय इन्हीं आञ्जनेयको अपना प्रतिनिधि बनाकर भगवान्ने कहा—तुम गन्धमादनपर अमर होकर रहो और जो कोई आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी अथवा ज्ञानी भक्त आवे, उसकी मनोकामना पूर्ण करते रहो । वे श्रीरामजीके इतने अनन्य भक्त थे कि हरेक वस्तुको, जिसमें राम नहीं; हेय समझते थे । यहाँतक कि अपने कलेजेको चीरकर दिखा दिया कि उसमें भी धनुष-बाणधारी श्रीराम सदा निवास करते हैं ।

नारद जानेउ नाम प्रतापू । जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू ॥

भला, नारदजी नामका प्रभाव न जानेंगे तो और कौन जानेगा । नारदजी तो भगवान्के प्रधान अर्चक हैं ही; और छः महीने जब बदरिकाश्रममें बर्फ जमी रहती है, वहाँ कोई नहीं रहता, तब यही नारदजी भगवान्की सेवा-अर्चा करते हैं । यहाँतक कि यह क्षेत्र 'नारदीयक्षेत्र' कहलाता है । रामावतारमें इन्हींने तो भगवान् श्रीरामसे यह वरदान माँगा था—

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक तें एका ॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥
राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम ॥
एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ ।
तब नारद मन हरष अति प्रभु पद नायउ माथ ॥
(रामा० अरण्यकाण्ड)

इसके अतिरिक्त भगवान्ने स्वयं ही तो नारदजीसे कहा है —

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

इसीलिये तो नारदजी अपनी वीणाके तार झनकारते हुए सदा—

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव'

—की ध्वनि बिखेरते सानन्द विचरते फिरते हैं ।

भगवान्का वचन है कि वेद, तपस्या, दान या यज्ञ किसी उपायसे भी उनका रूप देखा नहीं जा सकता । केवल अनन्यभक्तिके द्वारा ही भक्तगण उन्हें तत्त्वतः जान सकते हैं । भगवान् भुक्ति तथा मुक्ति तो सहजमें दे डालते हैं; लेकिन भक्ति देनेमें कुछ आनाकानी करते हैं । क्योंकि भक्ति देनेसे तो उन्हें भक्तके योगक्षेमका ही निरन्तर प्रबन्ध करना पड़ता है । परन्तु भगवान्के भक्त मुक्तिको ठुकराते हैं । संसारके आवागमनसे मुक्त हो जानेपर भगवान्का नाम-स्मरण एवं यशोगान कैसे हो सकेगा । इसीलिये तो भक्तजनमुकुटमणि प्रह्लादने भगवान्से यही वर माँगा था—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु त्वयि दृढा ॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

भक्तवर भरतजीने भी त्रिवेणीजीसे यही तो वर माँगा था—

अरथ न धरम न कामरुचि गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥

एक अन्य भक्तकी प्रार्थना है —

नाथ ! व्रजके लता पता मोहि कीजै ।
गोपी पद पंकज पावनकी रज जामें सिर भीजै ॥
आवत जात कुंजकी गलियन रूप सुधा नित पीजै ।
श्रीराधे राधे मुख यह बर मुह माँग्यो हरि दीजै ॥

ऐसे ही अनन्य भक्तोंको लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदासजी-ने कह दिया है **"धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ।"** श्रीभगवान्का भी उनके प्रति आश्वासन है—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥
(रामा० अरण्यकाण्ड)

ऐसे परम भागवत जो हर समय खाते-पीते, उठते-बैठते बस—

वंशी विभूषितकरान्नवनीरदाभात्-
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्-
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

—और उन्हींकी रूपमाधुरीका रसास्वादन करते हुए सर्वदा ब्रह्मानन्द-सिन्धुमें निमग्न रहते हैं । ऐसे परमप्रेमी भक्तोंके लवमात्रके सङ्गसे स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं होती । श्रीमद्भागवतमें कहा है —

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

इसीका अनुवाद है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

* * *

मनुष्य-जीवनके कुछ दोष

कुसङ्गति, कुकर्म, बुरे वातावरण, खान-पानके दोष आदि अनेक कारणोंसे मनुष्यमें कई प्रकारके दोष आ जाते हैं, जो देखनेमें छोटे मालूम होते हैं, बल्कि आदत पड़ जानेसे मनुष्य उन्हें दोष ही नहीं मानता, पर वे ऐसे होते हैं, जो जीवनको अशान्त, दुखी बनानेके साथ ही उन्नतिके मार्गको रोक देते हैं और उसे अधःपातकी ओर ले जाते हैं । ऐसे दोषोंमेंसे कुछपर यहाँ विचार करते हैं——

१. मुझे तो अपनेको देखना है—इस विचारवाले मनुष्यका स्वार्थ छोटी-सी सीमामें आकर गंदा हो जाता है । 'किस काममें मुझे लाभ है, मुझे सुविधा है', 'मेरी सम्पत्ति कैसे बढ़े', 'मेरा नाम सबसे ऊँचा कैसे हो,' 'सब लोग मुझे ही नेता मानकर मेरा अनुसरण कैसे करें',——इसी प्रकारके विचारों और कार्योंमें वह लगा रहता है । 'मेरे किस कार्यसे किसकी क्या हानि होगी', 'किसको क्या असुविधा होगी', 'किसका कितना मानभङ्ग होगा', 'किसके हृदयपर कितनी ठेस पहुँचेगी', 'कितने मेरे विरोधी बन जायँगे'——इन सब बातोंपर विचार करनेकी इच्छा गंदे स्वार्थी हृदयमें नहीं होती । वह छोटी-सी सीमामें अपनेको बाँधकर केवल अपनी ओर देखा करता है; फलस्वरूप उसके द्वारा अपमानित, क्षतिग्रस्त, असुविधाप्राप्त लोगोंकी संख्या सहज ही बढ़ती रहती है, जो उसकी यथार्थ उन्नतिमें बड़ी बाधा पहुँचाते हैं ।

२. भगवान् और परलोक किसने देखे हैं ?—भगवान् और परलोकपर विश्वास न करनेवाला मनुष्य यों कहा करता है । ऐसा मनुष्य स्वेच्छाचारी होता है और किसी भी पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है । अमुक बुरे कर्मका फल मुझे परलोकमें——दूसरे जन्ममें भोगना पड़ेगा या अन्तर्यामी सर्वव्यापी भगवान् सब कर्मोंको देखते हैं, उनके सामने मैं क्या उत्तर दूँगा—इस प्रकारके विश्वासवाला मनुष्य सबके सामने तो क्या,

छिपकर भी पाप नहीं कर सकता। पर जिसका ऐसा विश्वास नहीं है, वह केवल कानूनसे बचनेका ही प्रयत्न करता है। उसे न तो बुरे कर्मसे—पापसे घृणा है, न उसे किसी पारलौकिक दण्डका भय है। आजकलकी घूसखोरी और चोरबाजारीका प्रधान कारण यही है। और जबतक यह अविश्वास रहेगा, तबतक कानूनसे ऐसे पाप नहीं रुक सकते। पापोंके रूप बदल सकते हैं पर उनका अस्तित्व नहीं मिटता। और जब मनुष्यका जीवन इस प्रकार पापपङ्कमें स्वेच्छापूर्वक फँस जाता है, तब उसकी उन्नति कैसे हो सकती है? वह तो वस्तुतः अवनतिको ही—अधःपातको ही उन्नति और उत्थान मानता है? ऐसे मनुष्यको इस लोकमें दुःख प्राप्त होता है और भजन-ध्यानकी उससे कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अतः मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे भी वह वञ्चित ही रहता है। उसे भविष्यमें बार-बार आसुरी योनि और अधमगति ही प्राप्त होती है।

भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

३. मेरा कोई क्या कर लेगा?—संसारमें सभी मनुष्य सम्मान चाहते हैं। जो मनुष्य ऐंठमें रहता है, दूसरोंको सम्मान नहीं देता, कहता है, 'मुझे किसीसे क्या लेना है, मैं किसीकी क्यों परवा करूँ, मेरा कोई क्या कर लेगा?' वह इस अभिमानके कारण अकारण ही लोगोंको अपना वैरी बना लेता है, दूसरोंकी तो बात ही क्या, उसके घरके और बन्धु-बान्धव भी उसके पराये हो जाते हैं। वह अभिमानवश स्वयं किसीकी परवा नहीं करता, किसीके सुख-दुःखमें हिस्सा नहीं बँटाता और उनसे अपनेको पुजवाना चाहता है। फलस्वरूप सभी उससे घृणा करने लगते हैं और उसके द्वेषी बन जाते हैं। वह इसे अपना आत्मसम्मान (Dignity) मानता है, पर होती है यह उसकी मूर्खता। इस प्रकारका अभिमान उसे सबसे बहिष्कृत—अकेला असहाय बना देता है और इससे उसकी उन्नति रुक जाती है।

४. क्या करूँ, मैं तो निरुपाय हूँ, मुझसे ऐसा नहीं हो सकता—इस प्रकार आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धासे विहीन मनुष्य निरन्तर निराशा, विषाद, शोकमें निमग्न और अकर्मण्य-सा बना रहता है। 'पाप हैं पर मुझसे वे नहीं छूट सकते', 'मुझमें अमुक दोष है पर मैं उससे लाचार हूँ', 'काम तो बहुत उत्तम है पर मैं उसे कैसे कर सकता हूँ', 'भगवान् हैं, महात्माओंको मिलते होंगे! पर मुझको क्यों मिलने लगे?' 'भजन करना अच्छा है पर मुझसे तो बन ही नहीं सकता',—इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें उत्साहहीन होकर जीवनयापन करनेवाला मनुष्य न तो कभी उत्तम आरम्भ कर सकता है और न जीवनके किसी भी क्षेत्रमें सफलता ही पा सकता है।

५. मेरा कोई नहीं है, सभी मुझसे घृणा करते हैं—अपनेमें हीनताकी भावना करते-करते मनुष्यको ऐसा दीखने लगता है कि मुझसे सभी घृणा करते हैं। यों सोचते-सोचते वह स्वयं भी अपनेसे घृणा करने लगता है। और अपनेको किसी भी योग्य न समझकर मुँह छिपाता फिरता है; 'कोई मुझे देख न ले, देखेगा तो घृणा करेगा।' यों किसीके सामने आकर कुछ भी करनेका साहस उसका नहीं होता। ऐसा मनुष्य प्रायः घुल-घुलकर रोता हुआ मरता है।

६. मैं तो बस, दुःख भोगनेके लिये ही पैदा हुआ हूँ—बात-बातमें चिढ़नेवाले और जरा-जरा-सी प्रतिकूलतापर दुःख माननेवाले पुरुषका सारा पौरुष चिढ़ने, अंदर-ही-अंदर जलने और दुःख भोगनेमें ही समाप्त हो जाता है। उसका दुःखदर्शी चिड़चिड़ा स्वभाव उसे पल-पलमें दुखी करता है। बिना हुए ही

उसे दीखता है कि यह मुझे चिढ़ा रहा है । यह मुझे दुःख देनेके लिये ही हँस रहा है । मुझपर दुःख-ही-दुःख आ रहे हैं । 'मैं सुखी होनेका ही नहीं, मेरे भाग्यमें तो बस दुःख-क्लेश ही बदा है ।' इस प्रकार कल्पित दुःखके घोर जंगलमें वह अपनेको घिरा पाता है । ऐसे मनुष्योंमें कई पागल हो जाते हैं । कुछ आत्महत्यापर उतारू हो जाते हैं । ऐसे मनुष्य गम्भीरतासे किसी विषयपर विचार नहीं कर पाते, दिन-रात दुःखचिन्तनमें और सभीको दुःख देनेवाले मानकर उनसे द्वेष करनेमें लगे रहते हैं । उदासी, निराशा, मुर्दनी, क्रोध, उद्विग्नता, मस्तिष्कविकृति, उन्माद आदि दोष इन लोगोंके नित्य सङ्गी बन जाते हैं ।

७. जगत्में कोई अच्छा है ही नहीं—दोष देखते-देखते मनुष्यकी इस प्रकारकी आँखें बन जाती हैं कि बिना हुए भी उसको सबमें दोष ही दिखायी देते हैं । वैसे ही, जैसे हरा चश्मा लगा लेनेपर सब चीजें हरी दिखायी देती हैं । उसे फिर कोई अच्छा दीखता ही नहीं । महापुरुष और भगवान्में भी उसे दोष ही दीखते हैं । उसका निश्चय हो जाता है कि जगत्में कोई भला है ही नहीं । अतएव वह स्वयं भी भला नहीं रह सकता । दिन-रात दोषदर्शन और दोषचिन्तन करते-करते वह बाहर और भीतरसे दोषोंका भण्डार बन जाता है ।

८. लोग मुझे अच्छा समझें—इस भावनावाले मनुष्यमें दम्भकी प्रधानता होती है । वह अच्छा बनना नहीं चाहता, अपनेको अच्छा दिखलाना चाहता है । यों जगत्को ठगने जाकर वह आप ही ठगा जाता है । उसके जीवनसे सचाई चली जाती है । लोग जिस प्रकारके वेष-भाषासे प्रसन्न होते हैं, वह उसी प्रकारका वेष धारण करके वैसी ही भाषा बोलने लगता है । उसके मनमें न खादीसे प्रेम है, न गेरुआसे और न नाम-जपसे । पर अच्छा कहलानेके लिये वह खादी पहन लेता है, गेरुआ धारण कर लेता है और माला भी जपने लगता है । पर ऐसा करता है दूसरोंके सामने ही, जहाँ उनसे बड़ाई मिलती है । और यदि इनके विरोध करनेपर लोग भला समझेंगे तो वह इन्हींका विरोध भी करने लगेगा । उसका प्रत्येक कार्य दम्भ और छल-कपटसे भरा होगा ।

९. मैं न करूँगा तो सब चौपट हो जायगा—यह भी मनुष्यके अभिमानका ही एक रूप है । वह समझता है कि बस, 'अमुक कार्य तो मेरे किये ही होता है । मैं छोड़ दूँगा तो नष्ट हो जायगा । मेरे मरनेके बाद तो चलेगा ही नहीं ।' ऐसे विचार दूसरोंके प्रति हीनता प्रकट करते हैं और उनके मनमें द्रोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं । संसारमें एक-से-एक बढ़कर प्रतिभाशाली पुरुष पैदा हुए हैं—होते हैं । तुम अपनेको बड़ा मानते हो, पर कौन जानता है कि तुमसे कहीं अधिक प्रभाव तथा गुणसम्पन्न संसारमें कितने हैं, जिनके सामने तुम कुछ भी नहीं हो । किसी पूर्वजन्मके पुण्यसे अथवा भगवत्कृपासे किसी कार्यमें कुछ सफलता मिल जाती है तो मनुष्य समझ बैठता है कि 'यह सफलता मेरे ही पुरुषार्थसे मिली है, मेरे ही द्वारा इसकी रक्षा होगी । मैं न रहूँगा तो पता नहीं, क्या अनर्थ हो जायगा ।' यों कहकर उसका अभिमान नाच उठता है । और जहाँ मनुष्यने अभिमानके नशेमें नाचना आरम्भ किया कि चक्कर खाकर गिरा ।

१०. अपनेको तो आरामसे रहना है—यह इन्द्रियाराम विलासी पुरुषोंका उद्गार है । पैसा पासमें चाहे न हो, चाहे यथेष्ट आय न हो, चाहे कर्जका बोझ सिरपर सवार हो, पर रहना है आरामसे । आजकल चला है उच्चस्तरका जीवन—(High standard of living) इसका अर्थ है—स्वाद-शौकीनी-विलासिता, फिजूल

खर्चीं और झूठी शानकी गुलामी । सादा धोती-कुर्ता पहनिये तो निम्नस्तर है—कोट-पतलून उच्चस्तर है । जूते उतारकर हाथ-पैर धोकर फर्शपर बैठकर हाथसे खाइये तो निम्नस्तर है—टेबलपर कपड़ा बिछाकर बिना हाथ-मुँह धोये, जूते पहने, कुर्सीपर बैठकर सबकी जूठन खाना उच्चस्तर है । कूएँपर या नदीमें नदीकी मिट्टी मलकर नहाना और सादे कपड़े पहनना निम्नस्तर है—पाखानेमें नंगे होकर टबमें बैठकर साबुन-क्रीम आदि लगाकर झरते हुए नलसे नहाना—उच्चस्तर है; अपनी हैसियतके अनुसार साधारण साग-सब्जीके साथ दाल-रोटी खाना निम्नस्तर है और किसी भी प्रकारसे प्राप्त करके चार-पाँच बार चाय-बिस्कुट खाना, अण्डे खाना, शराब पीना और मेवा-मिष्टान्न उड़ाना उच्चस्तर है । घरमें कथा-कीर्तन करना निम्नस्तर है और सिनेमा देखना उच्चस्तर है । सीधे-सादे व्यापार-व्यवहारसे थोड़ी जीविका उपार्जन करना निम्नस्तर है और ऊपरी चमक-दमक तथा छलभरे व्यवहारसे दूसरोंको ठगकर अधिक पैसा कमाना उच्चस्तर है । थोड़े खर्चसे घरका—ब्याह-शादीका काम चलाना निम्नस्तर है और बहुत अधिक खर्च करके आडम्बर करना उच्चस्तर है । ऐसे उच्चस्तरमें सबमें अधिक आवश्यकता होती है—प्रमादकी और धनकी । सो प्रमादमें तो कोई कमी रहती नहीं, पर धनका अभाव रहता है । इस धनाभावकी पूर्तिके लिये चोरी, ठगबाजी, डकैती, घूस-खोरी और बेईमानीके रास्ते पकड़ने पड़ते हैं । भगवान्‌ने कहा है—

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।

(गीता १६ । १२)

‘विषय-भोगोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायसे अर्थ-संग्रहका प्रयत्न करते हैं ।’ हमारे यहाँ उच्चस्तरके जीवनका अर्थ था—सादगी, सदाचार, त्याग, तपस्या, पवित्र आचरण, आदर्श चरित्र, साधुभाव और भगवद्भक्ति । इसके स्थानमें आज झूठ, कपट, छल, विलासिता, उच्छृङ्खलता, दुराचार, यथेच्छाचार, अनाचार और भोगमय जीवनको उच्चस्तरका जीवन माना जाता है । तमसाच्छन्न विपरीत बुद्धिका यही परिणाम है। इस प्रकार प्रमाद और पाप-में लगे रहनेवाले मनुष्योंकी सच्ची उन्नति कैसे हो सकती है ?

इसी प्रकारके और भी बहुत-से दोष हैं, जो आदत या स्वभावसे बने हुए हैं । इन सब दोषोंसे सावधान होकर इनका तुरंत त्याग कर देना चाहिये । लौकिक उन्नति चाहनेवाले और मोक्षकी इच्छावाले—दोनोंके ही लिये ये दोष घातक हैं ।

* * *

भक्तका निश्चय

बरजी मैं काहूकी न रहूँ ।
साधु-सँगति करि हरि सुख लीजै, जग सूँ दूरि रहूँ ॥
सुनौ री सखी तुम चेतन होइ कै, मनकी बात कहूँ ।
तन-धन मेरो सबही जावौ भलि मेरो सीस लहूँ ॥
मन मेरो लागौ सुमिरण सेती सबका मैं बोल सहूँ ।
‘मीराँ’ के प्रभु हरि अबिनासी सतगुर सरण गहूँ ॥

—मीराबाई

धनकी विपत्ति

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

गार्हस्थ्य जीवनमें तथा लोकाचारके लिये निःसन्देह धनकी नितान्त आवश्यकता है, विशेषकर आजके युगमें; पर मानव-जीवनका सबसे बड़ा शत्रु भी धन ही है—यह स्वीकार करना होगा। ईसामसीहने गलत नहीं लिखा है कि 'धनीका स्वर्गमें प्रवेश पाना असम्भव है।' इसका अर्थ केवल यही है कि धन मनुष्यको इतना अन्धा कर देता है कि वह संसारके सभी कर्तव्योंसे गिर जाता है। धनका इसीमें महत्त्व है कि वह लोक-सेवामें व्यय हो। नहीं तो, धनके समान अनर्थकारी और कुछ भी नहीं है। श्रीमद्भागवतमें कहा है--

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
(११। २३। १८-१९)

'(धन)से ही मनुष्योंमें ये पंद्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं—चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब। इसलिये कल्याणकामी पुरुषको 'अर्थ' नामधारी अनर्थको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।'

फारसी कहावत है कि 'संसारमें एक स्त्री बनाकर यानी विवाह कर आदमी संसारभरकी स्त्री बन जाता है अर्थात् गृहस्थजीवनमें उसे सबका आश्रित या पराधीन बनकर चलना पड़ता है। यह भी तो धनकी आवश्यकताकी ही महिमा है। यदि संसारमें धन नामक पदार्थ न होता तो हमारा जीवन कैसा होता? आखिर जीवनका लक्ष्य क्या है? हम सब अपनेको सुखी बनाना चाहते हैं; सुख भोगना चाहते हैं। पर, सुखकी अनेक प्रकारकी व्याख्या हो सकती है। उसके अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। आजकी सभ्यता-की चमक-दमकमें सुखकी बड़ी विचित्र व्याख्याएँ निकलती चली आ रही हैं। पर विलास और भोगकी प्रतिक्रिया भी होती है। आज बड़े-बड़े विचारक यह सोचने लगे हैं कि सुखकी परिभाषा बदलनी चाहिये। उसकी वास्तविकताको समझना चाहिये। बर्ट टेलरने अभी कुछ ही महीने पूर्व, 'सुखका अधिकार' नामक बड़ी रोचक तथा महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। उनका कथन है कि—

'आज संसारमें बहुत ही कम लोग सुखी कहे जा सकते हैं। भूतकालमें हमारा जीवन केवल रोटी कमानेमें बीता। अब हमको समाजमें अपना स्थान कमानेमें बिताना चाहिये। केवल धन और समृद्धि ही जीवनका लक्ष्य नहीं होना चाहिये। लक्ष्य होना चाहिये कभी भी दुखी न रहना। हरेकके जीवनमें सबसे महान् प्रेरणा यह होनी चाहिये कि हमारा जीवन प्रकृतिसे अधिक-से-अधिक निकट हो और तर्क तथा बुद्धिसे दूर न हो। हमको अपने जीवनमें काम करनेका आदर्श समझ लेना चाहिये। यह आदर्श पेटका धंधा नहीं, सेवा होनी चाहिये। सर्वकल्याण, समाजसेवा, सामाजिक जीवन तथा शिक्षा ही हमारा कार्यक्षेत्र हो। हमको ऐसे युगकी कल्पना करनी चाहिये, जब हमारा जीवन केवल जीविका-उपार्जन न रह जाय। जीवन केवल अर्थशास्त्र या प्रतिस्पर्द्धाकी वस्तु न रह जाय। व्यापारके नियम बदल जायँ। एक कामके अनेक करनेवाले हों और अनेक व्यक्ति एक ही कामको अपना सकें। मालिक और नौकर, काम करनेके घंटोंकी झिक-झिक दूर हो। मनुष्य केवल मनुष्य ही नहीं है, उसकी आत्मा भी है, उसका देवता भी है, उसका इहलोक और परलोक भी है।'

धनकी इस दुनियामें, चकाचौंधके इस जमानेमें, जब कि सभ्यताका एकमात्र लक्ष्य केवल पैसा कमाना है, ऐसी आवाज उठाना एक बड़ी भारी बात है और इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अब लोग धनकी मर्यादासे ऊबकर हमारी आर्य-सभ्यताकी प्राचीन तथा सत्ययुगी मर्यादाकी ओर मुड़ रहे हैं। उन्हें ऐसा लगने लगा है कि यह सब आडम्बर मिथ्या है। धन ही विपत्तिकी जड़ है, इसीसे संसारका सब विग्रह प्रारम्भ होता है और वर्गवाद, साम्यवाद या साम्राज्यवादका उपद्रव खड़ा हो जाता है। न धनकी घुड़दौड़ रहे और न यह सब विपत्तियाँ खड़ी हों। न बाँस रहे, न बाँसुरी बजे।

भीतर देखो

बर्ट टेलरने सच लिखा है कि—

'जीवन ही हमारा सबसे बड़ा शिक्षक है। उसका उपदेश ही हमारे सांसारिक जीवनके लिये पर्याप्त होगा। वह हमें ऐसी बातें बतलाता है, जिसे हमारे शिक्षक नहीं जानते। इसलिये सब कुछ छोड़कर जरा अपने जीवनको ही पढ़िये। हमें अपनेको जानना चाहिये। अपने पड़ोसियोंको जानना चाहिये। मानवी प्रतिक्रियाका ज्ञान होना चाहिये··और हमें कुछ जाननेकी आवश्यकता ही क्या है? जरा हमको बहुत बड़े-बड़े लोगोंके दिलके भीतरकी बातें तथा उनका भीतरी जीवन देखने दीजिये; ताकि हम उनको पहचान सकें। तब हम राजनीतिज्ञोंकी कलाबाजियाँ और राजनीतिज्ञोंकी चालबाजियाँ समझ सकेंगे। हमको उनकी धूर्तता; महत्त्वाकाङ्क्षा तथा कामनाकी असलियत समझ लेने दो। बतलाइये तो कि हम किसपर भरोसा करें और कैसे करें। हमें तो यह सिखलाइये कि सचको पहचानें और अपने साथ, अपने कामोंके साथ सचाई बरतने लगें। हमें यह सिखलाइये कि दूसरोंके प्रति दुर्भाव न रक्खें। हमें चिन्ताशीलताके भयङ्कर दुःखसे बचना सिखाइये। रात-दिन ऊहापोह तथा सोच-विचारमें पड़े रहना बंद हो। शायद तभी हम सुखको पहचान सकें; समझ सकें; जान सकें और उसको अपना सकेंगे। जीवन क्षणभङ्गुर है, जवानी कलकी बात मालूम होती है। जवानी सिनेमा-भवन, क्लब तथा खेल-कूदमें बीत गयी; बुढ़ापा सिरपर है। अब उसका दुःख आ पहुँचा। युवकको सदाचारी तथा संयमी होना चाहिये। उसे गुरुजनोंका आदर करना चाहिये।'

यदि हम अपने तथा दूसरोंके हृदयके भीतर पैठकर यह सब समझ जायँ तो हमारा जीवन कितना सुखी हो जायगा। पर; आज हम ऐसा नहीं करते हैं। यह क्यों? इसका कारण धनकी विपत्ति है। धनकी दुनियामें निर्धनका व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। जबतक अपने व्यक्तित्वके विकासका अवसर न मिले, आदमी सुखी नहीं हो सकता। न्यूयार्क नगरके प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्रीहेनरी सी० लिंकने अभी हालमें ही लिखा था कि 'यह सभ्यता व्यक्तित्वके विकासको रोकती है, बिना उसके विकसित हुए सुख नहीं मिल सकता। सुख वह इत्र है, जिसे दूसरोंको लगानेके पहले अपनेको लगाना आवश्यक होता है। यह इत्र तभी बनता है, जब हम अपने हरेक कार्यको दूसरेकी सहायताके भावसे करें। हमें चाहे अपनी इच्छाओंका दमन ही क्यों न करना पड़े, पर हमें दूसरेके सुखका आदर करना पड़ेगा।' हेनरी सी० लिंक आगे चलकर लिखते हैं कि 'सुखका सबसे बड़ा साधन निःस्वार्थ सेवा है।' उन्होंने एक अमेरिकन सिपाहीकी गत महायुद्धकालकी घटना लिखी है। वह सिपाही पेरिस गया था वहाँका सुख भोगनेके लिये। पर उसे सबसे अधिक आनन्द एक वृद्धा स्त्रीका सामान ढोनेमें मिला। लिंककी सलाह है कि 'परिवार तथा समाजको सुखी बनानेके लिये आत्मत्याग तथा आत्मबलि सदैव आवश्यक है। बिना इसके न कोई स्वयं सुखी रह सकता है और न सुखी कर सकता है।'

समयका दुरुपयोग

व्यापक दुःखका एक प्रबल कारण समयका दुरुपयोग है। चौबीस घंटेका दिन-रात कैसे बिताया जाय; यह भी हम भूल गये हैं। कैरिन रून (Karin Roon) नामक विद्वान् प्रोफेसरने छः महीने पूर्व एक लेखमें लिखा था कि 'ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे, जो सचमुचमें आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हों।' या तो हम बीते हुए कलकी अपनी भूलोंपर पश्चात्ताप करते रहते हैं या आनेवाले कलकी समस्याओंकी चिन्तामें रत रहते हैं। वर्तमानमें क्षणिक विश्रामका जो अवसर मिला; उसे हम खो देते हैं। आखिर हरेकके भाग्यमें एक दिनके २४ घंटे ही होते हैं। यदि आप इनका सदुपयोग सीख जायँ तो थकावट तथा शिथिलताके विपरीत उत्साह तथा सुखका जीवन हो सकता है। यदि अपने २४ घंटेका सदुपयोग किया जाय तो हरेक कामके लिये समय निकल सकता है। जो व्यक्ति समयपर काम करता है, उसका काम समयपर होता है। जो कहता है कि 'अमुक कामके लिये समय नहीं मिलता' वह झूठ बोलता है। जो नयी सभ्यताकी प्रसादीस्वरूप हर समय घबड़ाया, हड़बड़ाया तथा भाग-दौड़में रहता है, उसे असली कामकाजी मत समझो। जिस व्यक्तिने रात्रिके समय आनेवाले कलका कार्यक्रम नहीं बना लिया तथा जिसने बिस्तरेसे उठते समय आँखें मूँदकर भगवान्का ध्यान नहीं किया, उसका दिन कभी ठीकसे न बीतेगा। बिस्तरसे जो कूदकर उठता है, वह वैसी ही मूर्खता करता है जैसी कि मोटरगाड़ी चलानेवाला तीसरे गियरमें गाड़ी 'स्टार्ट' करनेमें करता है। झटकेसे गाड़ी खराब हो जाती है। आँख खुलते ही कूद पड़नेवाला व्यक्ति शरीरकी मशीन घिस डालता है।' इस प्रकार श्रीकैरिन रूनने आधुनिक सभ्यताकी जल्दबाजीकी कड़ी भर्त्सना की है।

विपत्तिकी जड़

संसारमें रुपयेके सबसे बड़े उपासक यहूदी समझे जाते हैं। पर यहूदी समाजमें भी अब धनके विरुद्ध जेहाद शुरू हो गया है, 'यरुशलम मित्र संघ' की ओरसे 'चूज़' (Choose) यानी 'पसंद कर लो' शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसका लक्ष्य है—'तुम ईश्वर तथा

शैतान दोनोंकी एक साथ उपासना नहीं कर सकते।'

इसके लेखक श्रीआर्थर ई० जोन्सके सुन्दर विचार मैं पाठकोंकी भेंट कर रहा हूँ। जोन्स साहबका कहना है कि 'न जाने किस कुघड़ीमें रुपया-पैसा संसारमें आया, जिसने आज हमारे ऊपर ऐसा अधिकार कर लिया है कि हम उसके अङ्ग बन गये हैं। शायद इसका जन्म उसी दिन हुआ जब आदम और हौवा अदके उद्यानमें फलकी लालचमें पड़ गये। ईसासे २००० वर्ष पहले बैबीलनमें सम्राट् हम्मुरावीका शासन था। उस समयतक रुपयेका पूरा राज्य स्थापित हो चुका था। पट्टा, बंधक, सूद, कानूनी महत्त्व, कोष, बटोरना, संचय आदि इसके सभी उपयोग सबके ध्यानमें आ गये थे, प्रचलित थे। अब्राहमने रुपया देकर कुछ जमीन खरीदी और उसकी लिखा-पढ़ी ठीक आज-जैसी हुई। रुपया बैबीलनमें ईश्वर बन गया और आजतक वह संसारमें ईश्वर बना हुआ है।' आजकी दुनिया असली ईश्वरको भूल गयी है, वह केवल 'रुपया भगवान्' को जानती है—

१. **यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।**

२. **सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।**

श्रीजोन्स कहते हैं—

'यदि मैं यह कहूँ कि संसारकी समृद्धिमें सबसे बड़ी बाधा धन यानी रुपया है तो पुराने लोग चकपका उठेंगे। किंतु आज संसारमें जो भी कुछ पीड़ा है, वह इसी नीच देवताके कारण है। खाद्य-सामग्रीका संकट, रोग-व्याधि—सबका कारण यही है। चूँकि सभी सुखकी वस्तुएँ इसीसे प्राप्त की जा सकती हैं, इसीलिये संसारमें इतना कष्ट है। जितना समय उपभोगकी सामग्रीके उत्पादनमें लगता है, उससे कई गुना अधिक समय उन वस्तुओंके विक्रयके दाँव-पेंचमें लगता है। व्यापारकी दुनियामें ऐसे करोड़ों नर-नारी व्यस्त हैं, जो उत्पत्तिके नामपर कुछ नहीं करते।

'विपत्ति यह है कि आदमी एक दूसरेको प्यार नहीं करते। यदि अपनानेकी स्वार्थी भावनाके स्थानपर प्रतिदानकी भावना हो जाय तो हरेक वस्तुका आर्थिक महत्त्व समाप्त हो जाय। आज लाखों आदमी हिसाब-किताब, बही-खातेके काममें परेशान हैं और लाखों आदमी फौज, पल्टन या पुलिसमें केवल इसलिये नियुक्त हैं कि बही-खातेवालोंकी तथा उनके कोषकी रक्षा करें। जेल तथा पुलिसकी आवश्यकता रुपयेकी दुनियामें होती है। यदि यही लोग स्वयं उत्पादनके काममें लग जायँ तथा अपनी उत्पत्तिका आर्थिक मूल्य न प्राप्तकर शारीरिक सुख ही प्राप्त कर सकें, तो संसार कितना सुखमय हो जायगा। आज संसारमें अटूट सम्पत्ति उच्च अट्टालिकाओंमें, बैंक तथा बीमाकम्पनियोंके भवनोंमें, सेना, पुलिस, जेल तथा रक्षकोंके दलमें लगी हुई है। यदि इतनी सम्पत्ति और उसका बढ़ता हुआ मायाजाल संसारका पेट भरनेमें खर्च होता तो आजकी दुनिया कैसी होती। अस्पतालोंमें लाखों नर-नारियाँ रुपयेकी मारसे या अभावसे बीमार पड़े हैं तथा लाखों नर-नारी धनके लिये जेल काट रहे हैं। प्रायः हर परिवारमें इसका झगड़ा है। मालिक तथा नौकरमें इसका झगड़ा है। यदि धनकी मर्यादा न होती तो यह संसार कितना मर्यादित हो जाता।'

जोन्स फिर लिखते हैं—

'सर टॉमस ह्वाइटने लिखा था कि 'अमेरिकाको स्वर्णका अपच हो गया है। पैसेके कारण संसारमें वर्गवाद आदिका संकट आ गया है। आज जितनी उत्पत्ति होती है, उसका पैसोंमें मूल्य समाप्त कर दीजिये तो संसारका कायापलट हो जायगा; न कोई भूखा रहेगा न नंगा। आज हरेक काम पैसेसे होता है, कोई किसीके घरका दरवाजा भी बिना पैसे लिये बंद न करेगा। माता-पिता तथा सन्तानके बीच पैसेका सम्बन्ध है। पिता चाहता है कि लड़का कमाये, लड़की बोझ न बने, आज हरेक व्यक्ति सोचता है कि पैसा एक अनिवार्य वस्तु है, इसलिये पैसेकी अंधी दुनिया इसका निरादर नहीं कर सकती। पर कौन नहीं जानता कि जितना पैसा बढ़ता है, उतना ही परिश्रम, पश्चात्ताप तथा परेशानी बढ़ती है। धनसे आत्मा सुखी नहीं हो सकता।'

हमने आर्थर ई० जोन्सके विचारोंका बड़े संक्षेपमें उद्धरण किया है, अधिक लिखकर इस लेखका विस्तार भी नहीं बढ़ाना है। संसारसे पैसा एकदम उठ जाय, ऐसी सम्भावना नहीं प्रतीत होती। पर पैसेका विकास, उसकी महत्ता तथा उसका राज्य रोका अवश्य जा सकता है। इसके लिये हमको अपना मोह तोड़ना होगा, स्वार्थके स्थानपर परार्थ, समृद्धिके झूठे सपनेके स्थानपर त्याग तथा भाग्यके स्थानपर भगवान्‌की शरण लेनी होगी। नहीं तो आजकी हाय-हाय हमारे जीवनका सुख नष्ट कर चुकी है, अब हमारी आत्माको भी नष्ट करनेवाली है। हमें सब कुछ खोकर भी अपनी आत्माको बचाना है।

धर्मपरायणतासे ही भारतका अभ्युदय

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी शास्त्री, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-स्मृति-पुराणतीर्थ)

आज प्रायः पाश्चात्त्य दीक्षाके प्रभावसे भारतीय अधिकांश प्रजा धर्मको ही आजकी भारतीय लौकिक उपभोग्य वस्तुओंकी हीनताका कारण माननेपर तुली हुई है। आज यही एक भारतीयोंके वादका विषय बन गया है। क्या यह आधुनिक पाश्चात्त्य-शिक्षासे प्रभावित नवयुवकोंका मत किसी अंशमें भी सत्य प्रमाणित हो सकता है? आज इसकी वास्तविकताको जाननेके लिये ही राग-द्वेषसे सर्वथा दूर रहते हुए इसकी समीक्षा परमावश्यक हो गयी है। वैसे तो सभी लोग भारतको अति प्राचीन कालसे 'धर्म-प्राण' कहते चले आ रहे हैं, किंतु आज वैज्ञानिक युगमें इसकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये इसकी गम्भीर गवेषणा करनी आवश्यक हो गयी है। मात्र 'धर्म' शब्दसे सहज वैर रखनेवाले कुछको तो इसकी गवेषणा भी उपेक्षणीय हो चली है। वे अपने किसी एकान्त सिद्धान्तपर मृषा विश्वास कर बैठे हैं। इसीसे इसकी गवेषणाको उपेक्षाके अनन्त गर्भमें विलीन करना चाहते हैं; किंतु वे नहीं जानते कि साक्षात् कृतधर्मा महर्षियोंकी एकान्त साधनाओंका एकमात्र फल 'धर्म' उनके अपलापोंसे कभी भी अपनी त्रिकालाबाधित सत्तासे वञ्चित नहीं हो सकता। अनन्त धूलिराशिसे समावृत सूर्य क्या अपनी उष्णता और प्रकाशसे वञ्चित हो जाता है?

क्या सजल जलदोंकी अनन्त परम्परासे सर्वथा समावृत सूर्य अपने अस्तित्वका प्रत्यय नहीं करा देता? दिनमें वारिद-मालाओंसे निविड तम अन्धकार ('जिसको लोग दिनको रात बना देना पुकारते हैं') होनेपर भी सूर्यके अस्तित्वमें किसीका वैमत्य नहीं हो पाता। इसी नियतिसे सबको स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित रखना ही तो धर्मका वास्तविक स्वरूप है। जो वस्तु अपनी नियतिको छोड़ देती है, वह नष्ट हो जाती है। क्या अग्नि अपनी ऊष्माको छोड़कर अपना अस्तित्व रख सकता है? उष्णता और प्रकाशसे रहित होकर क्या सूर्य अपना परिचय दे सकता है? इसी तरह सभी तत्त्व अपने-अपने सहज धर्मको छोड़कर क्या अपनी सत्ता रख सकते हैं? इसीसे धर्मीके द्वारा धारण किया हुआ 'धर्म' उसकी सत्ताका आधायक होता है। इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थसे अपनी-अपनी नियतिमें स्थिर रखनेवाला 'धर्म' कहा गया है। धर्मकी सत्तासे ही धर्मीकी सत्ता है। अपने धर्मको छोड़कर धर्मी अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। इसीसे तो धर्मप्राण भारतका यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त था—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'। भारतीय आर्यजातिके इस सिद्धान्तका कभी भी अपलाप नहीं किया जा सकता।

धर्म ही सबका यथाविधि उसके बाह्य स्वरूपानुरूप सञ्चालन करता है। इसीसे नियन्त्रित होकर सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु आदि संसारके सब पदार्थ अपने-अपने अस्तित्वका अनुभव कर पाते हैं। यही सबका आत्मस्थानीय है। इसीसे श्रौतानुमोदित यह सम्मति-सिद्धान्त 'अयं हि परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' किसी भी विप्रतिपत्तिसे परे है। अपना स्वरूप जान लेना ही धर्मका यथार्थ स्वरूप जान लेना है। प्रत्येक वस्तुसे सम्बद्ध होनेके कारण ही प्रकृतिसिद्ध नित्य वर्ण-व्यवस्थापर प्रतिष्ठित धर्म अपने निर्वचनानुसार वर्ण-धर्म, आश्रमधर्मादि अनेक रूपोंमें व्यवहृत होता है।

उसकी सत्ता अखण्ड है। कोई भी प्राणी धर्मकी सत्तासे ही अपनी सत्ता स्थिर कर पाता है। आज इस रहस्यका यथार्थ ज्ञान न रहनेसे, अथवा यों कहिये कि पल्लवग्राही पाण्डित्यके बलपर कुछ पण्डितम्मन्य धर्मप्रवक्ताओंके धर्म-स्वरूपकी अन्यथा व्याख्या करनेपर जो धर्मविषयक विद्वेष हो गया है, उसके एकमात्र निराकरणका साधन है राग-द्वेष रहित हो उसके यथार्थ स्वरूपकी जिज्ञासा; किंतु विशेष खेदके साथ कहना पड़ रहा है कि आज धर्मप्राण भारतकी अधिकतर जनसंख्या धर्म-शब्दसे ही चिढ़नेवाले, भारतीय संस्कृतिका जरा भी परिचय न रखनेवाले, पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंके परिपोषक एवं अपनेको शिक्षित समझनेवाले व्यक्तियोंके द्वारा 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः' की पद्धतिके अनुसार व्यामोहमें पड़कर सबके प्राणस्वरूप धर्मका अपलाप करनेमें जरा भी संकुचित नहीं होती। इसके फलस्वरूप धर्मविरुद्ध आचरण करनेमें ही अपना अभ्युदय माननेको तैयार हो जाती है। इसके स्वाभाविक फलस्वरूप उत्तरोत्तर शोक-सन्तापादिसे सतत पराभूत होकर भी जनता अपने उपदेष्टाओंके परामर्शसे पुनः उसी अभ्युदय एवं निःश्रेयसकारी धर्मसे सर्वथा विमुख होनेके लिये बाध्य-सी हो जाती है।

कितना भयावह व्यामोह है ! आत्मरक्षाके लिये आत्मविनाशक उपायोंका अवलम्बन करनेमें जनताका जरा भी कुण्ठित न होना हमारा एकान्त दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है । इन अर्ध शिक्षितोंसे व्याक्षिप्तचित्त जनता नहीं समझती और न इनके सिद्धान्तोंसे प्रभावित हो समझनेकी चेष्टा ही करती है कि विश्व-नियन्तात्मक धर्म-तत्त्व ही हम सबका संयमन करता है । यदि कोई सबल मनुष्य अधर्मपथका आश्रय लेता है तो एक निर्बल मनुष्य भी धर्मरत होनेपर उस सबल मनुष्यसे कहीं बलवान् होकर उस अधर्मीपर शासन करने लग जाता है । अत्यन्त बलवान् किंतु चोरी आदि दुष्कर्मोंमें लगे हुए व्यक्तिको अत्यन्त निर्बल भी राजपुरुष दबा पाता है, कारण वह राजधर्ममें निरत है । यदि वह भी रिश्वत आदि लेकर राज-धर्मविमुख हो जाता है तो चोर आदि दुष्कर्मियोंको दबानेका उसमें साहस नहीं रह जाता । आज शासकवर्ग प्रजाको संयमित करनेमें अपनी असमर्थताका अनुभव कर रहा है । इसका कारण केवल शासकोंकी धर्मपराङ्मुखता ही हो सकती है । राग-द्वेषरहित होकर सच्चे हृदयसे यदि शासकवर्ग अपनी त्रुटियोंको जरा भी सोच सके तो उसके सामने हमारा यह कथन सर्वथा सत्य प्रमाणित हो सकेगा । जरा सोचिये, शासकवर्ग एक राजधर्मका परिपालक होनेसे ही शासकताके पदपर प्रतिष्ठित है । यदि वह इसके विपरीत राजधर्मसे विमुख है तो वह उस पदपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकारी नहीं होता । कानूनके सामने सब समान रूपसे दण्ड्य हैं—यहाँतक कि राजा भी यदि विधानके प्रतिकूल व्यवहार करता है तो वह भी सर्वसाधारणके समान दण्ड्य ही होगा । भारतीय दण्डनीतिका यही रहस्य है । उसमें शत्रु-मित्रका जरा भी वैषम्य नहीं है । प्राचीन इतिहासोंमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें राजाओंके उत्पथगामी होनेपर सामान्य दण्ड ही नहीं दिया गया बल्कि शारीरिक दण्डमें भी वधदण्डतक दिया गया है । तब सामान्य प्रजाके अपराधोंपर दण्डार्ह व्यक्तियोंकी दण्ड-व्यवस्थाओंमें राग-द्वेषमूलक किसी प्रकारकी न्यूनाधिकता की जाय, यह कभी भारतकी दण्डनीतिका आदर्श नहीं रहा ।

जैसे अतीन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष करनेवाले दिव्यदृष्टि महर्षियोंने वर्ण-व्यवस्थाको आवश्यक समझ उसके पृथक् धर्मोंकी नियत व्यवस्थाके लिये धर्मशास्त्र प्रणयन किये, वैसे ही उन्हीं दिव्यदृष्टि महर्षियोंने उक्त सब धर्मोंकी व्यवस्था स्थिर रखनेके लिये एवं मानवसमाजकी सुव्यवस्थिति-द्वारा प्रजामें सब प्रकारकी सुख-शान्ति-स्थापनाके लिये दण्डनीति (राजधर्म) के अनेक प्रबन्धग्रन्थ प्रणयन किये, जिनके द्वारा नियन्त्रित प्रजा अपने-अपने वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म आदि सब धर्मोंके पालनमें सर्वथा समर्थ हो सके । इसीलिये सब धर्म और उपधर्मोंका उपजीव्य राजधर्म माना गया ।

समस्त धर्म और उपधर्म राजधर्मद्वारा ही रक्षित हो सकते हैं । सभी धर्म राजधर्मके अन्तर्गत हैं । इसकी सत्तासे सब धर्मोंकी सत्ता स्थिर रह सकती है । इसलिये समस्त जीवलोक राजधर्मके द्वारा ही प्रतिपालित होता है । इसीसे मानव-समाज समाहित होता है । राजधर्मसे वियुक्त होकर कोई भी धर्म नहीं ठहर सकता । सब धर्मोंकी रक्षाके लिये ही राजधर्म अपेक्षित है । आजतक केवल धर्मरक्षाके लिये हमारे समस्त कार्य प्रतिपादित होते रहे हैं । यहाँतक कि धर्मकी रक्षाके विरोधमें देह-रक्षा भी हेय समझी जाती रही है । एकमात्र धर्म-रक्षण ही हमारे सच्चे सुख और शान्तिका साधन रहा है ।

आज जो इसके विपरीत दुर्भ्रान्त धारणा बना बैठे हैं कि धर्मसे राज्य-शासनका या प्रजाकी सुख-शान्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है, यदि वे सुस्थिर चित्तसे पक्षपातरहित होकर सोचें तो उन्हें पता लगेगा कि वास्तविक धर्मरक्षाके लिये ही राजधर्म आवश्यक है । इसीसे राष्ट्र सुख-शान्ति-सम्पन्न एवं धन-धान्यादि राष्ट्र-समृद्धियोंसे सर्वथा परिपूर्ण हो सकता है । जैसा कि हम पहले कह आये हैं—‘धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।’ इसके सम्बन्धमें हम एक राष्ट्र-नीतिके परम रहस्यज्ञ एवं भारतीय दण्डनीतिके अन्तिम कर्णधार भगवान् कौटिल्य ‘चाणक्य’ की सम्मति उपस्थित करते हैं । इन भगवान् कौटिल्यकी राजनीतिज्ञताके सम्बन्धमें भारतीय ही नहीं, अन्य देशवासी भी एकमत हैं । इसका उनकी ऐतिहासिक विश्रुत घटनाओंसे सबको विश्वसनीय प्रमाण मिल ही जाता है । ये राजनीतिके परम रहस्यज्ञ आर्य कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र (कौटिलीय अर्थशास्त्र) के प्रारम्भमें ही कहते हैं—‘सुखस्य मूलं धर्मः ।’ शान्तचित्तसे सोचनेकी बात है कि जिस कौटिल्यने महानन्द पद्म-सरीखे शक्तिशाली सम्राट्को ध्वस्त करके उस पदपर अपने मनोनीत चन्द्रगुप्तको अभिषिक्त कर दिया, उस राजनीतिज्ञकी यह उक्ति क्या महत्त्व रखती है ! आज हम बिना सोचे-समझे सहसा कह बैठते हैं कि ‘राजशासनसे धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं, प्रजाकी सुख-शान्तिमें इसका

कोई उपयोग नहीं । हम धर्म-निरपेक्ष शासन चाहते हैं । धर्मकी अवहेलना किये बिना हमारा राज्य नहीं चल सकता । दूसरे देशोंमें धर्मनिरपेक्ष ही शासन धन-धान्यादि समृद्धिका कारण हो पाया है ।'

आज हमको देखना यही है कि क्या सचमुच ही धर्म-निरपेक्ष शासन समृद्धिका कारण है ? किंतु प्रत्यक्ष-दृष्ट देशकी दुर्दशासे यह किसी तरह भी प्रमाणित नहीं हो पा रहा है । आज हम अन्न-वस्त्र आदि दैनिक सार्वजनीन आवश्यकताओंकी पूर्ति कहीं भी नहीं देख पा रहे हैं । सभी वर्ग दयनीय दशासे संत्रस्त हैं । सुख-शान्ति निकट भविष्यमें कहीं दूरतक नजर नहीं आ रही है । बात-बातमें परतन्त्रता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने शेष जीवनतक सुख-शान्तिकी आशा छोड़े बैठा है । अधिकतम आश्वासन देनेपर भी लोग कहते सुने जाते हैं कि—

फिर मुझे क्या जो मेरी कब्र पर मेले होंगे ।
एक गोशेमें पड़े हम तो अकेले होंगे ॥

बताइये, इससे अधिक सुख-शान्ति एवं राष्ट्र-समृद्धिका निदर्शन क्या होगा ? प्रतिवर्ष देशको आश्वासन मिलता है कि अमुक वर्षमें देश आत्मनिर्भर हो सकेगा । पर वह वर्ष कब दीखेगा, कुछ पता नहीं । आज अपने जीवनका एक दिन भी कोई सुख-शान्तिसे बितानेकी कल्पना नहीं कर पा रहा है । जिन दोषोंके लिये जनता अपने पूर्व शासकोंको कोसती थी, आज वे ही दोष सैकड़ों-हजारों-गुने होकर दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति कर रहे हैं । मध्यम स्थितिके व्यक्तियोंके लिये तो आज जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित है ।

यह हमारे धर्मनिरपेक्ष शासनकी समृद्धि है । धर्म-सापेक्ष राष्ट्रोंकी समृद्धिके उदाहरणकी जरूरत इसलिये नहीं कि उनका विस्तृत वर्णन भारतीयोंको अपने अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थोंसे ज्ञात है । अन्तमें यह कहना है—सम्भव है दूसरे देशोंको आपाततः इनके सोचनेपर धर्मनिरपेक्ष शासन-प्रणाली समृद्धिप्रद हो भी जाय, तो भी कम-से-कम भारतीय कल्याणके लिये तो वह कभी कल्याणकर न होगी । धर्मकी उपेक्षा करके धर्मप्राण भारत कभी सुख-शान्ति नहीं पा सकता । दूसरे देशोंकी भी समृद्धिका कारण धर्म-सम्मान है । उसका स्वरूप है—त्याग । वहाँ प्रत्येक राष्ट्रीय प्रजाजनकी अपनी उन्नति-अवनति समष्टिगत उन्नति-अवनतिपर निर्भर करती है । वहाँकी प्रजा व्यक्तिगत स्वार्थोंके लोभसे समष्टिगत राष्ट्रीय कार्योंकी अवहेलना या उच्छेद करनेकी बात नहीं सोचती । यह धर्मका ही प्रसार है । भारतमें भी जब यह उद्देश्य अपना पूर्ण प्रभाव जमाये हुए था, तब यहाँका एकमात्र सिद्धान्त यही बन गया था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत् ॥

प्रजाको व्यक्तिगत स्वार्थके लिये राष्ट्रके अहितका स्वप्न ही नहीं आता था । सभी राष्ट्रको अपना समझते थे, फिर उसके अहितकी बात मनमें लानेका भी अवसर कहाँ था । आज भारतकी प्राचीन दण्डनीतिका सूर्य अस्ताचलके समीप जा पहुँचा है, जिसका दिग्दर्शन महामहोपाध्याय श्री १०८ आचार्यप्रवर श्रीयोगेन्द्रनाथजीने अभी हालमें ही अपने 'प्राचीन भारतकी दण्डनीति' नामक ग्रन्थमें (निबन्धमें) सयुक्तिक एवं सोदाहरण बङ्गभाषामें सुस्पष्ट विस्तृतरूपसे किया है—जिसका हिन्दी संस्करण भी बहुत शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है । अधिक समयसे भारत परतन्त्रताकी बेड़ीसे जकड़ा रहा है, जिससे उसको अपनी प्राचीन संस्कृतिके जानने एवं अपनानेका सुअवसर ही नहीं मिल पाया । किंतु आज भारत उन सुदृढ़ पाशोंसे उन्मुक्त हो स्वतन्त्रताकी स्वच्छ वायुमें श्वास ले रहा है । यदि आज भी यह अपनी प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यताको न अपना सका तो इसका भविष्य अन्धकारमय हो जायगा । आज जब कि पाश्चात्त्य देशोंमें भारतीय दर्शनशास्त्रोंकी उपादेयता सर्वमान्य प्रमाणित हो रही है, तब क्या प्राचीन भारतकी राजनीति सर्वप्रिय न बन सकेगी ? दूसरे देशोंमें यह तो आज भी आशा की जा रही है कि भारत ही युद्धोद्यत राष्ट्रोंमें शान्ति स्थापन करनेमें समर्थ होगा । वे भारतसे प्राचीन सिद्धान्तोंके आधारपर ही युद्ध-निवृत्तिकी आशा कर रहे हैं । इसलिये भारतका अपनी प्राचीन धर्ममय नीतिको अपनानेमें ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस सम्भावित है । आज जो कुछ लोग सामाजिक अथवा राजनैतिक कर्मोंका धर्मसे क्या सम्बन्ध है, यह अपसिद्धान्त बनाकर धर्मको जो समाज एवं राजनीतिसे अलग रखनेके पक्षपाती हो रहे हैं, वे बड़ी भूल कर रहे हैं । उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि भारतीय आर्य-सभ्यताका प्रत्येक कर्म—यहाँतक कि खाना-पीना, कपड़े पहनना, आना-जाना, हँसना-रोना आदि सामान्य कर्म भी धर्म-नीतिको ही अपनी मूल प्रतिष्ठा बनाये हुए हैं । इसीसे 'तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति'का सिद्धान्त अव्याहत है । उसीके प्रभावसे भारत अपनी सभ्यताका झंडा ऊँचा बनाये हुए था । उसके ह्रास होनेसे ही उसका पतन हुआ । अब उसे पुनः अपनानेसे ही उसका उत्थान हो सकेगा ।

* * *

मानसिक शक्तियोंका उद्दीपन

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

प्रत्येक मनुष्यके अंदर महान् मानसिक शक्तियाँ हैं। इन शक्तियोंका सदुपयोग नहीं होता, इसीलिये मनुष्य दीन और दुखी रहता है। दुर्विचारके कारण इन शक्तियोंका ह्रास होता रहता है। सदुपयोग करनेपर जो शक्ति हमारा तथा दूसरोंका बड़ा भारी काम कर सकती है, वही दुरुपयोगसे अनेकों तरहके कष्टका कारण बन जाती है।

अपनी छिपी शक्तिको आत्मनिर्देशके द्वारा जाग्रत् किया जा सकता है। जिस प्रकार आत्मनिर्देशके द्वारा मनुष्यमें स्वगत लेख लिखनेकी शक्ति आ जाती है, इसी प्रकार उसमें दूसरे व्यक्तिके विचार जाननेकी, अपने विचार दूरतक भेजनेकी, किसी प्रकारकी मानसिक पीड़ा दूर करनेकी, बीमारियोंसे मुक्त होनेकी तथा दूसरोंको बीमारीसे मुक्त करनेकी शक्ति आ जाती है। जिस प्रकारकी शक्तिको कोई मनुष्य प्राप्त करना चाहे, उसका उसे शान्त मनसे ध्यान करना चाहिये। जबतक चित्त इधर-उधर दौड़ता है, तबतक किसी प्रकारकी शक्तिका उदय नहीं होता। शान्त मनसे शक्तिका आवाहन करनेपर शक्ति चली आती है।

मनको शान्त करनेके लिये शैथिलीकरणके अभ्यासकी आवश्यकता है। मन तबतक शान्त नहीं होता, जबतक किसी प्रकारकी दुविधा मनमें रहती है। उदाहरणार्थ—सांसारिक व्यवहारमें सचाई न रखनेके कारण मनुष्य अपनी आन्तरिक शक्तियोंसे सम्पर्क खो देता है। जिस प्रकार उसका बाहरी मन दूसरे लोगोंको धोखा देनेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार वह अपने-आपको भी धोखा देनेकी चेष्टा करता है। दूसरोंको धोखा देनेकी चेष्टामें तो थोड़ी देरके लिये मनुष्य सफल हो जाता है, पर अपने-आपको धोखा देनेमें वह सफल नहीं होता। धोखा देनेवाला व्यक्ति अपने-आपसे अपना सम्पर्क खो देता है। अर्थात् उसे फिर किसी कामके करते समय शुद्धभावयुक्त आन्तरिक प्रोत्साहन नहीं मिलता। इसके बदले उसके मनमें अभद्र और निराशावादी विचार उठने लगते हैं। ये विचार भीतरी मनसे सम्पर्क टूट जानेके प्रतीक होते हैं।

किसी भी कार्यमें सफलता प्राप्त करनेके लिये पहले तो संकल्पोंकी अनेकताको नष्ट करना आवश्यक है। जब किसी मनुष्यके संकल्प अनेक होते हैं, तब वे चित्तकी एकाग्रताके विनाशक हो जाते हैं। एक संकल्पके मनमें आते ही दूसरे संकल्प भी मनमें आने लगते हैं। जब कई संकल्पोंमें मन लग जाता है, तब मानसिक शक्ति व्यर्थमें नष्ट हो जाती है। संकल्पोंमें एकता लानेके लिये एक ओर मानसिक त्यागकी आवश्यकता है, दूसरी ओर चित्तको स्थिर करनेकी। जब कोई मनुष्य एक कामके करनेका विचार करता है, तब दूसरे कामके विचार उसके सामने विक्षेपके रूपमें आने लगते हैं। वह सोचने लगता है कि यदि मैं हाथका काम छोड़कर अमुक दूसरे कामको करने लग जाऊँ तो सम्भवतः अधिक सफलता प्राप्त करूँ। उसको अनेक प्रकारके प्रलोभन हाथका काम पूरा नहीं करने देते। फिर जब मनुष्य हाथका एक काम छोड़कर दूसरा काम करने लगता है; तब पहले कामपर उसका मन दौड़ता है अथवा किसी नये कामपर मन दौड़ता है। इस प्रकार वह अनेकों काम हाथमें ले लेता है। ऐसा करनेसे किसीपर भी अपने चित्तको एकाग्र नहीं कर पाता। परिणामस्वरूप वह निराशा और उत्साहहीनताकी अवस्थामें जा पहुँचता है।

यदि मनसे सभी विचारोंको अलग करके मनुष्य किसी विशेष प्रकारकी भावना करने लग जाय और प्रतिदिन उसी भावनाको दृढ़ करे तो उस भावनाके अनुरूप उसकी मानसिक शक्ति बढ़ जाती है। मान लीजिये, हम बिच्छूका मन्त्र सिद्ध करना चाहते हैं। तो हमें उस मन्त्रको रटते हुए मनमें कल्पना करनी चाहिये कि हम अनेकों बिच्छूसे कटे मनुष्योंका दुःख दूर कर रहे हैं। वास्तवमें इस प्रकारकी भावना ही उस विश्वासको उत्पन्न करती है, जिसके कारण साधुलोग हाथ फेरकर अनेक प्रकारके रोग नष्ट कर डालते हैं।

लेखकके एक शिष्यको साँप काटनेका मन्त्र सिद्ध था। उसने दस-पंद्रह आदमियोंको अच्छा भी किया था। एक दिन उसके शिक्षकने इस मन्त्रके बारेमें पूछा। उसने उसे बता दिया। शिक्षक सन्देहास्पद मनोवृत्तिके थे। उन्होंने कहा कि 'भाई, समझमें नहीं आता कि मन्त्रसे कैसे साँपका विष चला जा सकता है।' इस घटनाके पश्चात् इस विद्यार्थीकी साँपका विष झाड़नेकी शक्ति ही जाती रही। वास्तवमें

अब उक्त शिक्षकका सन्देह विद्यार्थीके मनमें आ गया और वही सन्देह उसके विष झाड़नेके कार्यमें बाधक हो जाता था। वह चित्तकी एकाग्रताको नष्ट कर देता था।

प्रबल आध्यात्मिक शक्तिको रखनेवाले शान्त मनके महात्माका ध्यान करके किसी प्रकारका कार्य करनेसे आश्चर्यजनक शक्ति मनमें उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार एक विद्युत्‌से भरे पदार्थसे दूसरेका सम्पर्क होनेपर दूसरेमें भी वह विद्युत् आ जाती है, इसी प्रकार महात्माओंका ध्यान करनेसे अर्थात् उनके साथ मानसिक सम्पर्क होनेसे उनकी शक्ति हमें मिल जाती है। यह अपने-आपसे सम्पर्क करनेका एक उपाय है। विश्वासकी मनोवृत्ति उसी प्रकार संक्रामक है, जिस प्रकार संशयकी।

* * *

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(सङ्कलनकर्ता——एक सत्सङ्गी)

१. परमात्मा या भगवान् एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अनवच्छिन्न हैं। वे सच्चिदानन्दघन परमतत्त्व हैं। वे न कभी देखे जा सकते हैं न ग्रहण किये जा सकते हैं; वे न भीतर प्रज्ञावाले हैं न बाहर प्रज्ञावाले हैं; न वे पकड़में आते हैं न उनका कोई चिह्न है, न चित्तके द्वारा उनके सम्बन्धमें कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीके द्वारा कुछ कहा जा सकता है। किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करनेयोग्य तथा धारणामें लाने योग्य पदार्थसे उनका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। वे शान्त, शिव, अनन्त, अद्वैत, अपनी महिमामें आप ही स्थित तत्त्व हैं। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्——ये उसी एक परमतत्त्वके नाम हैं।

२. वही भगवान् समस्त देश, समस्त काल, समस्त अवस्था और समस्त परिणामोंमें नित्य प्रच्छन्नरूपसे स्थित हैं। सर्वकाल और सर्वदेशमें नित्य विराजित हैं। वे सर्वगत, सबमें अनुस्यूत, सबके अन्तर्यामी, चराचर भूतमात्रकी योनि और सर्वस्वरूप हैं। अनन्त विचित्र पदार्थोंके एकमात्र वे ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं।

३. भगवान् जगत्‌के केवल निमित्त-कारण ही नहीं हैं, उपादान-कारण भी हैं। निमित्त उसे कहते हैं, जो वस्तुको बनाता है और उपादान उस मसालेको कहते हैं, जिससे वस्तु बनती है। जैसे कुम्हार निमित्त है, मिट्टी उपादान है। मिट्टीके साथ ही दण्ड, चक्र, जल, सूत आदि कई पृथक्-पृथक् स्वभाव और स्वरूपोंवाली दूसरी वस्तुएँ भी होती हैं, जिनके बिना कुम्हार घड़ा आदि नहीं बना सकता। इस प्रकार दो, तीन या इससे अधिक वस्तुओंके मिलनेसे ही कार्य सम्पन्न होता है——यही जगत्‌का नियम है। परंतु भगवान्‌पर यह नियम लागू नहीं होता, भगवान् किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न रखकर स्वयं ही जगत्‌को बना देते हैं। वे सर्वव्यापी हैं, सर्वात्मक हैं, सर्वस्वरूप हैं और सर्वकारण-कारण हैं, उनसे पृथक् कोई वस्तु है ही नहीं। अतएव वे जो कुछ बनाते हैं, उसमें बनानेवाले भी वही हैं; जिन सामग्रियोंसे बनाते हैं, वे सामग्री और मसाला भी वही हैं। जिस प्रकृति आदिकी सहायतासे बनाते हैं, वे प्रकृति आदि भी वही हैं। सब कुछ उन्हींमें है, उन्हींसे है, वही हैं। उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

४. भगवान् जहाँ सबसे सर्वथा परे, जगत्‌से अतीत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अद्वयतत्त्वमात्र हैं, वहीं वही भगवान् जगत्‌के रचयिता, जगत्‌के ज्ञाता और स्वयं जगत्-रूप हैं। वही सर्वातीत हैं और वही सर्वकारण-कारण हैं।

५. भगवान्के सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही उनके सर्वातीत स्वरूपका पता लगता है और भगवान्का सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। वे 'सबसे अतीत' होनेके साथ ही 'सर्वरूप' हैं। वे सर्वथा अक्रिय होकर ही सर्वकर्ता हैं।

६. भगवान्की स्वरूप-स्थिति सदा एकरस है। अवस्थाभेदकी कल्पना तो जड जगतमें । उनमें स्थिति-गति, अव्यक्त-व्यक्त, भूत-भविष्य-वर्तमान, दूर-समीप, निष्क्रियता-सक्रियता, एक-अनेक और साधना-सिद्धिका कोई भी भेद नहीं है।

७. महापुरुषोंको उन नित्य अभेद परिपूर्णतम चैतन्यघन भगवान्में परस्परविरोधी धर्मोंका एक साथ दर्शन होता है।

८. वे भगवान् चलते भी हैं, नहीं भी चलते; दूर भी हैं, समीप भी हैं; सबके भीतर भी हैं, बाहर भी हैं। नित्य सबके अतीत रहते हुए ही अपनी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा आप ही विश्वरूपमें प्रकट होकर अनादि अनन्तकालतक उसका आस्वादन करते हैं और साथ ही अपने सर्वातीत स्वरूपमें विराजित रहते हैं।

९. सम्पूर्ण परिच्छिन्न वस्तुओंमें कारणरूपसे स्थित भगवान् परिच्छिन्न नहीं हैं; क्योंकि वे नित्य, सर्वरूप, सर्वात्मा, सर्वव्यापी और परमार्थ वस्तु हैं।

१०. भगवान्के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ही नहीं है, तब वे किसमें प्रवेश करें और किसके द्वारा उनका आवरण किया जाय। सर्वव्यापी वस्तुका कोई आवरण नहीं हो सकता; जिस वस्तुके द्वारा उनके आवरणकी कल्पना की जाती है, भगवान् उसीमें व्याप्त हो रहे हैं, अतएव उनमें आवरण सम्भव नहीं। व्यापक-व्याप्य-भाव भी उन्हींके द्वारा है। वस्तुतः वे-ही-वे हैं।

११. परमात्मा नित्य सच्चिदानन्दमय हैं और नित्य आस्वादनमय हैं। वे एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। यही उनका परम रहस्यमय स्वरूप है।

१२. भगवान्का न अन्तर है न बाहर है; न पहले है न पीछे है; वे ही जगत्के भीतर और बाहर, पहले और पीछे विराजित हैं; जगत् उन्हींका स्वरूप है।

१३. किसी भी वस्तुके भीतरकी सीमा बनाकर उस सीमाके आगेके भागको 'बाहर' और बीचके भागको 'भीतर' कहते हैं। भगवान् सर्वव्यापी, नित्य स्वप्रकाश, असीम, अनन्त हैं; इसलिये उनमें बाहर-भीतरकी कल्पना नहीं हो सकती।

१४. देशकी दृष्टिसे जैसे भगवान् अनन्त हैं, वैसे ही कालकी दृष्टिसे भी अनन्त हैं। वे कालातीत हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल भगवान्की शक्ति हैं, वे कालके नियन्ता हैं। कालकी स्थिति उन्हींको लेकर है। इसलिये उनमें पहले और पीछेकी कल्पना नहीं हो सकती।

१५. यह सारा जगत् उन्हींसे निकलता है, उन्हींमें रहता है और उन्हींमें लीन हो जाता है। समस्त कार्य-कारणात्मक जगत्के पहले भी वे ही थे, सृष्टिके बाद भी वही हैं, सृष्ट जगत् भी वही हैं और जगत्के अवसानके बाद भी वही रहेंगे।

१६. भगवान् नित्य निर्गुण, नित्य निर्विशेष होते हुए ही नित्य सगुण, नित्य सविशेष हैं।

१७. भगवान् ही ऊपर-नीचे, दायें-बायें, आगे-पीछे, सब ओर और सब कुछ हैं। 'यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं', इस नेति-नेतिके द्वारा जिन भगवान्का बोध होता है, उन्हींका 'यह भी वह है, यह भी वह है', इस ग्रहण-वृत्तिके द्वारा बोध होता है।

१८. भगवान् ही शब्द हैं, वही अर्थ हैं; वाचक भी वही हैं, वाच्य भी वही हैं; वेद भी वही हैं, वेद्य भी वही हैं।

१९. भगवान् ही समस्त प्रमाणोंके मूल हैं, पर वे स्वयं किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखते। वे सर्वप्रमाण-निरपेक्ष स्वतःसिद्ध हैं।

२०. जैसे सोनेके विभिन्न प्रकारके गहनोंमें सब कुछ और सब ओर सोना-ही-सोना है, जैसे मिट्टीके छोटे-बड़े सब प्रकारके बर्तनोंमें सब ओर और सब कुछ मिट्टी है और जैसे चीनीके भिन्न-भिन्न आकृतियोंके खिलौनोंमें सब ओर और सब कुछ चीनी ही है, इसी प्रकार सब ओर और सब कुछ भगवान् ही हैं। समस्त देश-काल उन्हींमें है।

२१. जैसे घड़ेके, मकानके और गाँवके आकाशमें सर्वत्र एक महाकाश परिपूर्ण है, जैसे स्वप्नकी सारी सृष्टि, उसका देखना और देखनेवाला स्वयं वही है, इसी प्रकार एक भगवान् ही सब कुछ हैं, उन्हींसे सब कुछ होता है और वही सब कुछ करते हैं। सब उनमें हैं, वे सबमें हैं, वे ही वे हैं।

२२. अचिन्त्य-अनन्त-शक्तिसमन्वित सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्वज्ञत्व-सर्वकारणकारणत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्वनियन्तृत्व आदि अनन्त ऐश्वर्य, नाम-रूप-गुण-लीलाके द्वारा सर्व-मनोहरत्व—ये तीनों ही भगवान्की भगवत्ताके रूप हैं।

२३. इनमेंसे किसीको केवल स्वरूपका प्रत्यक्ष होता है, किसीको ऐश्वर्यका और किसीको सर्वमनोहरतारूप माधुर्यका। किसी-किसी भाग्यवान्को भगवान् अपने स्वरूप, ऐश्वर्य और माधुर्यके पूर्णनिकेतनरूप समग्र रूपका दर्शन कराते हैं।

२४. वही इन्द्रियातीत, विश्वातीत, सर्वातीत भगवान् प्रेमी भक्तके सम्मुख दिव्य चिन्मयस्वरूपमें प्रकट होते हैं। विरुद्ध धर्मका समावेश और समन्वय ही श्रीभगवान्का असाधारण धर्म है। वे स्थूल नहीं हैं, सूक्ष्म भी नहीं हैं, और स्थूल भी हैं, सूक्ष्म भी हैं। वे सर्वथा वर्णहीन हैं और सर्ववर्णमय हैं, श्यामवर्ण हैं, अरुणनयन हैं; वे आत्मा भी हैं, अनात्मा भी हैं। चेतन आत्मस्वरूप तो हैं ही, अनात्मा जड-पदार्थ-समूह भी उनकी स्वरूपशक्तिका ही ऐश्वर्य-चमत्कार है। इसलिये वह भी वही हैं। वे उग्र भी हैं, सौम्य भी। नृसिंह-स्वरूपमें हिरण्यकशिपु आदि दैत्यों तथा समस्त देवताओं-के लिये उग्र हैं, भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादके लिये सौम्य हैं—शान्त हैं। वे वीर भी हैं, अवीर भी। अघासुरादि राक्षसोंको अपने वीरत्वसे पराजित करके उनका वध करते हैं और श्रीदाम-सुबलादि सखाओंसे हार जाते हैं। वे व्यापक भी हैं, एकदेशीय भी हैं। अव्यक्तरूपसे समस्त विश्वमें व्याप्त हैं और छोटेसे शिशुके रूपमें यशोदा-कौसल्यादिकी गोदमें खेलते हैं।

२५. प्राकृत जगत्में जो वस्तु क्षुद्र है, वह क्षुद्रताकी सीमासे आबद्ध है; और जो बृहत् है, उसकी बृहत्ता सीमाबद्ध है। यहाँ छोटा उसी कालमें बड़ा नहीं है और बड़ा छोटा नहीं है। परंतु भगवान्में क्षुद्रता और बृहत्ता, दोनों एक ही साथ एक ही समयमें रहती हैं। भगवान् गोवर्धन पर्वत उठा लेते हैं और यशोदा मैयाका पीढ़ा उनसे नहीं उठता। इसी प्रकार गुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूप उनके अचिन्त्य विचित्र स्वरूपकी ही नित्य झाँकी हैं।

२६. वस्तुतत्त्व एक होनेपर भी व्यवहारमें भेद रहता है। सभी सोनेके गहने सब अङ्गोंमें नहीं पहने जा सकते; कंठी गलेमें पहनेंगे, बाली कानमें और नथ नाकमें। मिट्टी एक होनेपर भी घड़ेका काम सराईसे नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य-पशु-पक्षी आदि सबमें सजातीय-विजातीय और स्वगत-व्यावहारिक भेद हैं और वे आवश्यक हैं, परंतु इन सब भेदोंमें नित्य अभेदरूप एक परमात्मा सर्वदा परिपूर्ण हैं।

२७. उन परमात्माकी ओर दृष्टि रखते हुए ही

व्यावहारिक भेदकी यथायोग्य रक्षा करते हुए राग-द्वेषरहित होकर व्यवहार करना चाहिये ।

२८. समस्त व्यवहारोंका लक्ष्य एक ही हो—सर्वगत और सर्वरूप समभावमें स्थित भगवान्की पूजा ।

२९. पूजा अपने-अपने कर्मोंके द्वारा होगी; पद्धति भी भिन्न-भिन्न होगी । देश-काल तथा भगवान्के बाहरी नाम एवं स्वरूपमें भी अन्तर होगा, परंतु पूजा होगी एक ही भगवान्की—एक ही परमतत्त्व सत्ता-चेतन और आनन्दरूप परिपूर्ण परमात्माकी ।

३०. तन, मन, वचन तीनोंके द्वारा ही भगवान्का भजन होना चाहिये । हम जब हाथसे भगवान्का कोई कार्य करते हैं अथवा मुखसे भगवान्का नाम लेते हैं, तब हमारा मन विषयोंका चिन्तन करता रहता है । कई बार हम शरीरसे विषयसेवन और वाणीसे जगत्की चर्चा करते हुए ही ऐसा मान बैठते हैं कि 'मन तो भगवान्में लग ही रहा है, शरीर और वाणीसे जगत्का कार्य होता रहे तो क्या हानि है ? कभी-कभी हम स्वच्छन्दतासे वाणीके द्वारा परनिन्दा करते हुए भी पूछनेपर कह देते हैं—'मन भगवान्में लगा है, अंदर-ही-अंदर स्मरण चल रहा है ।' विचार करनेपर पता लगता है कि यह सब धोखा है—आत्मप्रवञ्चना है; तन-मन-वचन तीनोंके द्वारा ही भगवान्का सेवन होना चाहिये । तभी भगवान्का संस्पर्श प्राप्त होता है ।

* * *

भक्त-गाथा

[भक्त गोविन्दस्वामी]

(लेखक—श्रीनटवरलाल गोस्वामी)

बड़े सौभाग्यसे मनुष्यकी भगवान्में रुचि होती है । रुचि होनेपर भी साधन होना सहज नहीं । और प्रेम तो वे दयामय प्रदान करें, तभी कहीं अङ्कुरित होता है । कुछ ऐसे भी महापुरुष होते हैं, जो जन्मसे ही उस घनश्यामके अनुरागी होते हैं । आँतरी ग्राममें ऐसे ही एक परम भगवद्भक्त गोविन्ददासजी निवास करते थे । बाल्यकालसे ही परम सुन्दर श्याम सुन्दरमें इनकी सखाभावसे अत्यन्त प्रीति थी । ये अष्टयाम श्रीकृष्णलीलाओंका चिन्तन एवं उन्हें अपना परम प्रिय सखा मान, उनकी मानसी सेवा किया करते थे । अत्यन्त ही मधुर पदावली रचकर ये भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ गाया करते । भगवान्के बालरूपकी अति सुमधुर झाँकी इनकी कवितामें कितनी सुघड़तासे सँजोई हुई है—

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर सुत कौं उबटि न्हवावै।
करि श्रंगार बसन भूषन सजि, फूलन रुचि रुचि पाग बनावै ॥
छूटे बंद, बागे अति सोभित बिच-बिच चोवा अरगजा लावै।
सूथन लाल फूँदना सोभित, आजु कि छबि कछु कहति न आवै॥
बिबिध कुसुमकी माला उर धरि श्रीकर मुरली बेत गहावै।
लै दरपन देखै श्रीमुखको, 'गोबिंद' प्रभु चरनन सिर नावै॥

गानविद्याकी जानकारी, मधुर कण्ठ और माधुर्याधिपति श्रीकृष्णचन्द्रकी मधुरतम लीलाएँ—तीनोंका एक साथ संयोग होनेसे ये शीघ्र ही आसपासके ग्रामोंमें गोविन्दस्वामीके नामसे प्रसिद्ध हो गये ।

परम ऐकान्तिक श्रीकृष्णप्रेमीको भला यह प्रसिद्धिका पातक कैसे अच्छा लगता । ज्यों-ज्यों प्रसिद्धि बढ़ती गयी, त्यों-ही-त्यों स्वामीजीके सम्मुख अपने प्राणजीवन श्यामसुन्दरके साथ मानसी एकान्त क्रीडाओंमें भी बाधाएँ आने लगीं । श्रीस्वामीजीकी सहनशक्तिकी इति हो गयी । एक रात्रिको अपना ग्राम छोड़ ये व्रजकी ओर चल पड़े ।

महावनमें श्यामसुन्दर गायें चराते अवश्य दर्शन देंगे—इस विश्वाससे वे वहीं रहने लगे। एकटक वन-वीथियोंमें वे अपने प्रियतमकी प्रतीक्षा करते। अवधि लंबी होती गयी। गोविन्दस्वामीके नयन प्रतीक्षामें बिधे-बिधे पथराने लगे—किंतु श्यामसुन्दर न आये। पागल प्रेमीने अपनी विरह-वेदनाको बहुत छिपाना चाहा—परंतु इंतजारीकी घड़ियाँ गिनते-गिनते हृदय धीरज खो बैठा।

कभी वे सोचते श्रीकृष्ण मिलेंगे। उनसे मैं कैसे भेंटूँगा। अहा! मेरे नयन उन श्यामसुन्दरकी रूप-माधुरीको जब देखेंगे, तब छक जायँगे। अपने वक्षःस्थलसे सटाकर जब मैं उनका आलिङ्गन करूँगा—उनके मधुर स्पर्शसे मेरे रोम-रोममें कितने पुलक उठेंगे। हे विधाता! क्यों न तूने मुझे कोटि-कोटि नयन, कोटि-कोटि हाथ, कोटि-कोटि श्रवण दिये ताकि मैं अपने प्राणप्यारेके सुखका रसास्वाद ले सकता।

बिधाता बिधहू न जानी।
सुंदर बदन पान करिबे कूँ रोम रोम प्रति नयन न दीने,
करी यह बात अयानी।
श्रवन सकल बपु होत री
मेरे सुनत पिया मुख मधुरी बानी।
अरी! मेरे भुजा होत कोटिक तौ, हौं भेंटती गोबिंद प्रभु
सों तो उन तपत बुझानी।

श्यामसुन्दरके वदनारविन्द-मकरन्दका प्रत्येक रोम-रोमसे पान करूँ—क्या ही व्याकुल अनुभूतिसे भक्तका अन्तःकरण तरङ्गित हो रहा है। विरहके आँसुओंसे स्निग्ध भक्तकी कोमल पदावली व्रजवीथियोंमें गूँज उठी।

जब कभी वे निराश हो उठते—उनका हृदय अपने प्रियतमको रोक रखनेवालेके प्रति उद्विग्न हो उठता—

आये हो मन भावन कहाँ ते भोरहि भवन हमारे।
तुम कियो रति सुख, हम दियो अति दुख साँचे बोल तिहारे॥
तुम कियो मधुपान, घूमत हमारो मन, कैसें बनै प्राणप्यारे।
अब तौ सिधारौ जहाँ रैन बसे तहाँ गोबिंद प्रभु पिय हमारे॥

नेत्रोंसे निरन्तर अश्रुधारा बहाते वे जिसे देखते उसीके गले लिपटकर कहते—

ले चल सखी री, तेरे पाँय लागौं, जहाँ बसत पिय छैल छबीलो।

कभी कहते—

गोबिंद प्रभु अब मिलिबो कैसो, औरन के पाले जु परे री।

कभी पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिर पड़ते एवं कभी धूलमें लोटने लगते।

भगवद्भक्तोंके भावग्राही या तो स्वयं भगवान् होते हैं या भगवद्भक्त ही। गोकुलमें गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी-के पास इनका वृत्तान्त पहुँचा।

श्रीविट्ठलनाथजीका एक परम प्रेमी वैष्णव इनके पास आया। इस वैष्णवको देखते ही ये स्वभावतया इनसे लिपट गये तथा पूछने लगे—'भाई! तुम बताओगे मुझे प्राणप्रियतम श्रीकृष्णके दर्शन क्यों नहीं होते।'

वैष्णव स्वयं अत्यन्त भावुक था। गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके प्रति उसका अत्यन्त श्रद्धाभाव था। अतः उसने निवेदन किया कि 'भाई! श्रीकृष्ण तुम्हारे प्रेमवश तुम्हारे पास आना तो चाहते हैं; परंतु वे तो आजकल गोकुलमें ही श्रीविट्ठलनाथजीके वशमें हैं। अतः तुम यहाँसे गोकुल चले चलो।'

भक्तके अधीर हृदयको फिर इतना चैन कहाँ जब कि कोई बता दे कि तुम्हारे मनचोर हृदयधन वहाँ मिलेंगे एवं वह रुका रहे। शान्तिकी साँस इन्होंने तभी ली जब कि ये गुसाईंजीके चरणोंमें लिपटकर श्रीकृष्ण-दर्शन-हेतु प्रार्थना करनेका अवसर प्राप्त कर चुके।

कहते हैं, गुसाईंजीकी कृपासे इन्हें भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन एवं भगवल्लीला-सान्निध्य—दोनों ही प्राप्त हुए। ये गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके शिष्य होनेके पश्चात् उनके अष्टछापमें ले लिये गये। इतने सुन्दर गायक थे ये कि तानसेनतक इनका गान सुनने आया करते थे।

प्रभु श्रीनाथजीकी अन्तरङ्ग-लीलामें सम्मिलित होनेके कारण गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी इनसे अत्यन्त प्रेम एवं आदर करते थे। भावावेशमें किये हुए व्यवहारको लोग दम्भ एवं अनाचार समझ इनकी अनेक शिकायतें गोस्वामीजीसे किया करते। कहते हैं, एक बार श्रीनाथजीकी किसी गोपनीय लीलाको इन्होंने गोस्वामीजीसे प्रकट कर दिया। गोस्वामीजी श्रीनाथजीकाशृङ्गार कर रहे थे—इन्होंने पद-कीर्तन करते हुए अपने पदमें वह वस्तु प्रकट कर दी। श्रीनाथजीने इनको मना करनेके लिये इनके सात कंकड़ियाँ मारीं, किंतु ये नहीं माने। आठवीं कंकड़ी जैसे ही श्रीनाथजीने उठायी, इन्होंने भी पास पड़ी कंकड़ीको उठा लिया और दौड़े मन्दिरकी ओर मारने। मन्दिरके लोग बड़े बिगड़े। श्रीविट्ठलनाथजीके पूछनेपर ये बालककी तरह रोने लगे। धैर्य दिलानेपर इन्होंने कहा कि आपके इस ठाकुरने मुझे कीर्तन करते समय आठ कंकड़ियाँ मारी हैं—यदि मैं इसे डाँटता नहीं, तो यह रुकता थोड़े ही, मुझे मारे ही जाता। गोस्वामीजीने इनकी भावुकता जान सबको शान्त कर दिया।

अकबर बादशाहने इनका गाना सुननेके लिये इनसे अत्यन्त विनय की एवं प्रलोभन भी दिया; परंतु इनका ऐसा व्रत था कि सिवा श्रीनाथजीके ये किसीको अपना गाना नहीं सुनायेंगे। जब बादशाह अत्यन्त निराश-सा होने लगा, तब बीरबलने उसे छिपाकर इनका गाना सुनवा दिया। जब इनको इस बातका पता लगा, तबसे इन्होंने उस रागको ही गाना यह कहकर छोड़ दिया कि इसे बादशाहने जूठा कर दिया है इसलिये श्रीनाथजीके कामका यह राग नहीं रहा।

गोकुलमें रहनेपर भी ये यमुनाजीमें स्नान नहीं किया करते थे। श्रीयमुनाजीको साक्षात् स्वामिनीजी मान ये उनका दर्शन करते, दण्डवत् करते, जलपान करते, परंतु उनमें पाँव कभी नहीं धोते। एक बार कई संतोंने इन्हें बलात् यमुनाजीमें नहलाना चाहा। इसपर इन्होंने निवेदन किया कि यह मल-मूत्रभरा शरीर मा यमुनाके योग्य नहीं है। श्रीयमुनाजी साक्षात् स्वामिनीजी हैं। उन्हें उत्तमोत्तम सामग्री ही अर्पण करनी चाहिये।

एक बार श्रीनाथजीके भोगके पहले ही ये कहने लगे 'मुझे खिला दो।' लोगोंने गुसाईंजीको फिर कहा कि 'महाराज ! आपका गोविन्द स्वामी तो ठाकुरजीकी सामग्री भी जूठी कर देता है। भावापवित्र सामग्री अब श्रीनाथजी कैसे आरोगेंगे।'

गोस्वामीजीके पूछनेपर इन्होंने उत्तर दिया कि 'महाराज ! आज चार दिवससे मैं भूखा हूँ। आपका यह लाड़िला (श्रीनाथजी) भोजन करके मेरी प्रतीक्षा तो करता नहीं, खेलने भाग जाता है—इसके भोजन करके जानेपर मैं इसे जंगलोंमें खोजता भटकता फिरता हूँ; परंतु यह मिलता ही नहीं। इसलिये मुझे इसके पीछे भूखे भागना पड़ता है। आज चार दिनोंसे मैंने एक दाना भी मुँहमें नहीं डाला है। आज आप यदि फिर उसे पहले खिला देंगे तो मुझे फिर भूखे ही भागना पड़ेगा।'

तबसे श्रीगुसाईंजीने ऐसी व्यवस्था करवायी कि ये और श्रीनाथजी साथ ही भोजन करते।

गोवर्धन पर्वतपर इस प्रेमी भक्तकी कदमखंडी अबतक है, जिसे 'गोविन्दस्वामीकी कदमखंडी' कहा करते हैं।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

* * *

कामके पत्र

(१)

उपदेशक या गुरु कैसे हों ?

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंके उत्तरमें निम्नलिखित निवेदन है । उपदेशक, गुरु या वक्ता होना बड़े दायित्वका काम है । योग्य अधिकारी ही इन पदोंको सुशोभित कर सकते हैं । अधिकारी वे हैं, जिनमें ये पाँच बातें अवश्य हों—

(१) वे जिस सिद्धान्तका उपदेश करते हैं, वह सिद्धान्त सच्चा हो, शास्त्रानुकूल हो और लोककल्याणकारी हो ।

(२) वे स्वयं उस सिद्धान्तको सिद्धान्तरूपसे मानते हों ।

(३) उक्त सिद्धान्त उनके जीवनमें उतरा हो ।

(४) उपदेश करनेमें केवल सुननेवालोंके कल्याणकी ही भावना हो, उन्हें रिझानेकी न हो ।

(५) उपदेशके बदले पूजा, मान-सम्मान और धनादि भोगोंको प्राप्त करनेकी कामना न हो ।

इनमेंसे एक-एकपर संक्षेपमें विचार कीजिये ।

(१) जैसे भगवत्प्राप्तिके लिये सत्य, अहिंसा, शम, दम, सेवा, भक्ति, सदाचार आदि साधन करना—यह सिद्धान्त सच्चा भी है, शास्त्रीय भी है और प्रत्यक्ष ही लोक-कल्याणकारी भी है । पर जैसे कोई कहे कि लोगोंको लूट-मारकर, उन्हें धोखा देकर, उनका अहित करके जगत्का हित करना है और इस सिद्धान्तको कोई सच्चा शास्त्रीय और लोककल्याणकारी सिद्ध करना चाहे तो, वह ठीक नहीं है । जिससे परिणाममें किसीका अहित होता हो, वह सिद्धान्त न सत्य है, न शास्त्रीय है और न लोककल्याणकारी है । सिद्धान्त वही सच्चा है, जो साधन करनेपर खरा उतरे, जो ऋषि-मुनियोंके द्वारा सेवित हो और जिसके द्वारा होनेवाला लोककल्याण प्रत्यक्ष हो ।

(२) कोई उपदेशक सत्यका, भगवान्का प्रतिपादन करता है पर स्वयं उनको नहीं मानता यह ठीक नहीं है । एक बार एक सज्जन आये, थे वे बड़े विद्वान् । उनके व्याख्यानकी व्यवस्था हुई । व्याख्यान आरम्भ करनेके पहले उन्होंने पूछा—'कहिये क्या कहें—ईश्वरका खण्डन करें या मण्डन ।' उनसे कहा गया, 'जो सच्चा सिद्धान्त हो, उसीका प्रतिपादन कीजिये ।' उन्होंने कहा—'मेरा सिद्धान्त तो यही है, जैसा मंच (प्लेटफार्म), वैसा भाषण । मैं कुछ मानता-वानता नहीं, व्याख्यान आप कहें, उसी विषयपर दे दूँ ।' यह ठीक नहीं है । उपदेशक या वक्ताको वस्तुतः उसी विषयपर बोलना चाहिये, जिसको वे स्वयं सिद्धान्तरूपसे मानते हों ।

(३) सिद्धान्तका मानना ही पर्याप्त नहीं है, उसको जीवनमें उतार लेना आवश्यक है । जो कुछ कहे, वही करे । वैसे उपदेशकको बहुत समझाना नहीं पड़ता । उसका जीवन ही मूर्तिमान् उपदेश होता है । उसको देखकर ही लोग समझ लेते हैं और व्याख्यानकी अपेक्षा बहुत अच्छा समझते हैं । इसके विपरीत एक आदमी, जो सत्यपर बड़े महत्त्वका भाषण देता है, मद्यपानको महान् पाप सिद्ध करता है, पर अलग जाते ही बात-बातमें झूठ बोलता है और शौकसे शराब पीता है, उसके भाषणका कोई भी महत्त्व नहीं, कुछ भी मूल्य नहीं ।

(४) वक्ताका उद्देश्य होना चाहिये लोककल्याण-

कारी सत्य सिद्धान्तके उपदेशद्वारा लोककल्याण करना। वह श्रोताके सामने सिद्धान्तकी महत्ता बतलाता है और साथ ही अपना अनुभव भी उनको प्रकारान्तरसे बतलाता है। जैसे किसी रोगीको, कोई उसी रोगसे छूटा हुआ पुरुष अपनी अनुभूत चिकित्साका उपदेश करे और मैंने उसका कैसे-कैसे उपयोग करके क्या-क्या लाभ उठाये, यह भी बतावे, और यह सब उसके रोगका नाश करनेके लिये ही करे। सच्चा उपदेशक दूकान नहीं खोलता। वह तो सच्चे जिज्ञासुके सामने उसके कल्याणार्थ सरलताके साथ अपनी अनुभूत साधनाका व्याख्यान करता है। उसके मनमें कभी यह कल्पना ही नहीं होती कि मैं अपने भाषणसे किसीको रिझाकर अपनी ओर आकृष्ट करूँ।

(५) ऐसे व्याख्यानदाता, उपदेशक, कथावाचक, गुरु देखे जाते हैं, जो बहुत सुन्दर स्वरोंमें गाते हैं, नाचते हैं, आँसू बहाते हैं, मूर्छित-से होकर गिर पड़ते हैं, बड़ी सुन्दर कथा कहते हैं, जनताको रुला देते हैं, हँसा देते हैं, बड़ी सुन्दर साहित्यिक आलोचना करते हैं, परन्तु इन सबका लक्ष्य रहता है--किसी प्रकार जनताको रिझाना और फिर उससे पूजा, धन, मान आदि प्राप्त करना। कथामें अतिउच्च दिव्य प्रेमका निरूपण करते हैं परन्तु पाये जाते हैं घृणित कामके कीड़े; वैराग्य, त्याग और जगत्‌की असत्ताका निर्वचन करते हैं। कहते हैं—'कभी जगत् बना ही नहीं; बिना ही हुए सीपमें रजतकी भाँति, आकाशमें तिरमिरेकी भाँति भास रहा है। और दूसरे ही क्षण येन-केन प्रकारेण धनादिके सञ्चयमें लग जाते हैं तथा एक-एक पैसेके लिये भाई-भाईसे लड़ने लगते हैं। तुलसीदासजीने ऐसे ही लोगोंके लिये कहा है—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥

गुरु चरित्रवान् हो, विद्वान् हो, अनुभवी हो तभी वह भगवान्‌के मार्गका पथ-प्रदर्शक बन सकता है। नहीं तो अंधेको अंधा ले जाय और गड़हेमें डाल दे, इसी तरह वह भी अपने अनुयायीको गड़हेमें ही डालता है।

संगीत, नृत्य, वक्तृत्व, नाट्य आदि कलाओंसे ही कोई महात्मा नहीं हो जाता। नाटकोंके दुश्चरित्र अभिनेता भी बहुत अच्छे-अच्छे श्रीकृष्ण, शंकराचार्य, बुद्ध, चैतन्य महाप्रभु, मीरा, आदिके पार्ट करते हैं तथा बहुत सुन्दर करते हैं। परंतु इससे उनका अपना कोई लाभ नहीं होता और वे बेचारे इसे स्पष्ट अभिनय कहते हैं। इससे जनताको भी धोखा नहीं होता। पर जो करते तो हैं केवल नाट्य और उसे दिखाते हैं असली रूपमें—ऐसे दम्भपूर्ण वक्ताओं, गुरुओं और उपदेशकोंसे बड़ी हानि होती है। क्योंकि उनसे भोले-भाले लोग ठगे जाते हैं और फलतः सत्य-सिद्धान्तमें अविश्वासी होकर पतनोन्मुख हो जाते हैं।

अतएव वक्ता, उपदेशक और गुरुओंमें उपर्युक्त पाँचों बातें आनी चाहिये, तभी वे उपदेश करनेके अधिकारी होते हैं, तभी उनके उपदेशका प्रभाव पड़ता है और तभी उनके द्वारा लोककल्याण होता है।

आप उपदेशकका कार्य करना चाहते हैं तो पहले अपनेको उसका अधिकारी बना लीजिये। उपदेश करना केवल पेशा नहीं होना चाहिये।

(२)

भगवान् शिव और राम एक हैं

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि रामायणका यह कथन सर्वथा सत्य है कि शिवद्रोही रामभक्त अथवा रामद्रोही शिवभक्त नरकमें पड़ते हैं। साथ ही 'कल्याण' का वह लेख भी ठीक है, जिसमें एक देवताकी ही

अनन्य उपासनापर जोर दिया गया है । इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है । केवल श्रीराम और श्रीशिवके प्रति विरोधका निषेध किया गया है । किसी एक स्वरूपकी उपासनाका यह अर्थ नहीं कि वह दूसरे स्वरूपसे द्रोह करे; क्योंकि दूसरे सभी स्वरूप भी उसी भगवान्‌के हैं, जिसकी वह उपासना करता है । यदि कोई हमारे एक पैरपर फूल चढ़ावे और दूसरेपर बर्छी मारे तो क्या हम उसपर प्रसन्न होंगे ? एक सज्जन सरकारी अफसर भी हैं और ब्राह्मण भी हैं । अब कोई ब्राह्मण-स्वरूपकी पूजा करे और सरकारी अफसर-स्वरूपपर डंडा चलावे तो क्या इससे वह प्रसन्न होंगे ? इसी प्रकार भगवान्‌के एक स्वरूपसे प्रेम और दूसरेसे वैर रखनेवाला वास्तवमें भगवान्‌से प्रेम करता ही नहीं । ऐसे प्रेमीके प्रेमसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते । अतः भगवान् विष्णु या शिवमेंसे किसी एकके प्रति अनन्य भक्ति रखते हुए भी दूसरेकी निन्दा नहीं करनी चाहिये बल्कि यही समझना चाहिये कि वह भी मेरे ही भगवान्‌का रूप है । यही रामायण और 'कल्याण'का अभिप्राय है । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

श्राद्धमें ब्राह्मण-भोजन आवश्यक है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है कि मृत्युके बारहवें दिन शास्त्रानुसार समस्त क्रियाओंके करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाता है । भोजन विशेष हो या साधारण अथवा कितने ब्राह्मणोंको कराया जाय, यह अपनी-अपनी शक्तिपर निर्भर है । पर वह ब्राह्मण-भोजन श्राद्धका एक अति आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग है । इस धार्मिक प्रथाको बंद करनेका प्रयत्न न समाजको करना चाहिये, न सरकारको ही । इस समय अन्नकी कमी है, इसलिये ब्राह्मणोंकी संख्यामें कमी करना तो उचित है, पर श्राद्ध-कर्ममें ब्राह्मण-भोजनको सर्वथा उठा देना अनुचित है । आप ब्राह्मण हैं तो न्यायतः निमन्त्रण मिलनेपर आप श्राद्ध-भोजन स्वीकार कर सकते हैं । श्राद्धकर्म अत्यन्त आवश्यक है । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

वोट किसको दें ?

प्रिय महोदय ! आपका पत्र मिला । आपने लिखा है कि 'देशमें चुनाव शीघ्र होनेवाला है और नियमानुसार हम सभीको उसमें अपना मत देना पड़ेगा । अतएव हमलोग किनको मत दें,—यह बतलाइये ।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि असलमें आजकलका राजनीतिक क्षेत्र अत्यन्त दूषित हो गया है । श्री Show Desmond ने अपनी 'World birth' पुस्तकमें (देखिये पृष्ठ २४८) लिखा है—"Like Horse-racing, there is something in politics which degrades. They turn good men into bad men and bad into worse." 'घुड़दौड़की भाँति राजनीतिमें भी ऐसा कुछ है, जो मनुष्यको नीचेकी ओर ढकेल देती है । वह अच्छे मनुष्योंको बुरे मनुष्य और बुरोंको और भी पतित बना देती है ।'

फिर आजकलकी धर्मशून्य राजनीति तो और भी भयानक है । बुराईमें नाम तो लिया जाता है धर्मका, पर सच पूछा जाय तो सारी बुराई है धर्मसे अनियन्त्रित उच्छृङ्खल राजनीतिमें ही । इसी राजनीतिने दो महायुद्ध करवाये और यही अब तीसरेके 'उद्योगपर्व'में लगी है । सहयोगी 'आर्यमित्र' ने बहुत ठीक लिखा है—'भारतवर्षकी तबाहीका कारण भी यही गंदी और सड़ी राजनीति है । जिस राजनीतिने मानवताका संहार किया, वैर-वृक्षका बीज बोकर छिन्नता-भिन्नता और आपा-धापीका स्वार्थपूर्ण जाल बिछाया, उसे भली कहना सत्यका गला घोंटना और आत्माका हनन करना है ।' हम फिर डंकेकी चोट राजनीतिक अखाड़ेबाजोंसे पूछना चाहते हैं कि वे बतायें और

जरूर बतायें कि धर्मने कब और क्या अनर्थ किया ? यदि नहीं किया तो आज वे 'धर्म' शब्दका उच्चारण करनेमें भी अपनेको क्यों कलङ्कित समझते हैं ?

फिर, आजकी राजनीतिमें जनतन्त्रके नामपर मत (वोट) प्राप्त करनेके लिये जिन साधनोंको काममें लाया जाता है, वे कितने घृणित और दूषित हैं । बिना हुए ही अपने मुँहसे बड़े-बड़े गुणोंका अपनेमें आरोप करना और दूसरेके सच्चे गुणोंको भी छिपाकर उसमें बिना हुए ही बड़े-बड़े दोष बतलाना, अपनेको ईमानदार बतलाना—और यह जानते हुए भी कि प्रतिपक्षी मुझसे अधिक ईमानदार है—उसको बेईमान बताना, मतदाताओंको फुसलाना, रिश्वत देना, डराना, धमकाना, बहकाना और धोखा देना; चाहे जैसी प्रतिज्ञा कर लेना, साथ ही द्वेष, दम्भ, छल, मार-पीट आदि न माॡम ऐसे कितने पाप-प्रपञ्च हैं, जो मत पानेके लिये किये जाते हैं । देशके करोड़ों रुपयोंका नाश होनेके साथ ही इसमें जो भयानक चारित्रिक पतन होता है तथा वैर-विरोधकी परम्परा चलती है, वह बड़ी ही अकल्याणकारिणी है । राजनीतिके साथ यदि धर्म हो, यदि राजनीति सत्य, अहिंसा, अस्तेय, प्रेम, तपस्या, मन-इन्द्रियोंका निग्रह, धैर्य, निःस्वार्थभाव या त्याग और कर्तव्यपरायणता आदि लक्षणोंवाले धर्मसे नियन्त्रित हो, तो ये सब पाप और बेईमानियाँ न हों, चुनाव भी सच्चा हो । न इतनी दलबंदियाँ ही हों । उसमें योग्य पुरुषका ही चुनाव हो । पर ऐसा होना तो इस समय सम्भव नहीं प्रतीत होता । राजनीतिक क्षेत्र बहुत दूषित हो गया है, अधिकार और पदकी लिप्सा बहुत बढ़ गयी है । अतएव किसी भी दबाव, धमकी, लालच, भय आदिके वशमें न होकर अपनी समझसे ऐसे पुरुषको मत देना चाहिये, जो भगवान्‌के विश्वासी हों, सत्यवादी हों, न्यायका पक्ष लेनेवाले हों, त्यागी हों, सदाचारी हों, निःस्वार्थ हों, बुद्धिमान् हों, निर्भीक हों, धैर्यवान् हों, राजनीति-कुशल हों, द्वेषमूलक साम्प्रदायिक भावोंके दोषसे रहित हों और सारी प्रजाका समान भावसे कल्याण चाहनेवाले हों । फिर चाहे वे कांग्रेसी हों, हिंदू-महासभाई हों या अन्य किसी दलके हों अथवा स्वतन्त्र हों । चुनावका लक्ष्य ही होना चाहिये—सुयोग्यतम पुरुषोंका निर्वाचन ।

हाँ, आपने जो सनातनधर्मियोंकी दृष्टिसे पूछा—इस सम्बन्धमें कुछ अवश्य विचार करना है । यद्यपि देशमें सनातनधर्मियोंकी संख्या ही अभीतक अधिक है, परंतु अवहेलना उन्हींकी होती है और आघात भी उन्हींके धर्मपर होता है । इसका कारण है उनकी उदासीनता । सरकार अपनेको धर्मनिरपेक्ष घोषित करती है । विधानमें स्पष्ट आया भी है कि सबको अपने-अपने विश्वासके अनुसार धर्मपालनका अधिकार है । परंतु उसी स्थानपर सुधारके नामपर सनातनधर्मियोंके इस अधिकारपर पानी फेर दिया गया है । 'हिंदू-कोड-बिल' आदि इसीका परिणाम है । महान् तपस्वी स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजके तप, अनुष्ठान, प्रचार और प्रबल विरोधके कारण यह हिंदूकोड कानून नहीं बन सका; नहीं तो, अबतक यह कानून बन गया होता । जैसे ईसाई, पारसी, मुसलमान सबको अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार अपने-अपने धर्मके पालनका अधिकार है, वैसे ही सनातनी हिंदुओंको भी होना चाहिये । थोड़ी देरको यह भी मान लें कि सनातनी हिंदुओंकी संख्या बहुत कम है, तो भी उनको अपने विश्वासके अनुसार धर्मपालनका अधिकार होना चाहिये । कानून बनाकर उन्हें बलात्कारसे अपने विश्वासके विरुद्ध कार्य करनेको बाध्य क्यों करना चाहिये । उनके धर्मका निर्णय कानूनसे नहीं, उस धर्मसे अनजान लोगोंसे नहीं, बल्कि उसके पालन करनेवाले और जाननेवाले आचार्यों तथा विद्वानोंके द्वारा होना चाहिये । यह न्याय होते हुए भी इसका पालन नहीं हो रहा है

और सनातनी हिंदुओंके विश्वासपर कुठाराघात किया जा रहा है। इसीलिये अगले चुनावमें कुछ विद्वान् सनातनी पुरुषोंका भी निर्वाचित होना अत्यन्त आवश्यक है। इस समय देशमें जो दल चुनावमें आनेवाले हैं, उनमें स्वामीजी श्रीकरपात्रीजीकी एक 'रामराज्यपरिषद्' ही ऐसी है, जो शुद्ध सनातनी भावोंका उदारतापूर्वक समर्थन करती है और सबको अपने-अपने विश्वासके अनुसार धर्म-पालनकी छूट देती है। अतएव सनातनधर्मी जनताको (उपर्युक्त गुणोंसे युक्त पुरुष) जो रामराज्यपरिषद्की ओरसे खड़े हों, उन्हें ही अपना मत देना चाहिये। उसके बाद हिंदू-सभा आदि-जैसी संस्थाओंके उपर्युक्त गुणोंसे युक्त पुरुषोंको देना चाहिये। हिंदू-सभा सनातनी भावोंका पूर्णतया समर्थन न करनेवाली होनेपर भी भारतीय संस्कृतिकी रक्षा, गोवधनिवारण, देशकी अखण्डता आदि विषयोंमें बहुत अच्छे विचार रखती है। यों सबसे पहली बात तो है चुनावमें खड़े होनेवाले पुरुषकी योग्यता। वे यदि निष्पक्ष, न्यायप्रिय, धर्मभीरु, ईश्वरको माननेवाले, सत्यवादी, कुशाग्रबुद्धि और स्वार्थहीन पुरुष होंगे तो फिर वे चाहे किसी दलके हों, उनके द्वारा अन्यायकी सम्भावना बहुत कम रहेगी।

मतदाताको असलमें इसी बातका ध्यान रखना है कि सुयोग्यतम पुरुष चुने जायँ। इसके लिये किसी संस्थाका और उसके द्वारा जानेवाले किसी भी पुरुषका विरोध करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं है; परंतु उचित-अनुचितका विचार न करके अमुक संस्थाका—कांग्रेस, हिंदू-महासभा या अन्य किसीका विरोध ही करना है, इस प्रकारकी द्वेषमूलक प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये—जैसे पिछले चुनावमें लोग कहते थे कि 'हमें तो कांग्रेसके कुत्तेको भी वोट देना है, पर कांग्रेससे बाहरी देवताको भी नहीं।' वैसे ही अब यह न कहें कि 'हमें तो कांग्रेसके विरोध करनेवाले कुत्तेको भी वोट देना है, कांग्रेसी देवताको भी नहीं।' राग-द्वेषहीनता, विवेक, न्याय, निष्पक्ष भाव रहना चाहिये; तभी मतदाताका निर्णय यथार्थ और विशुद्ध होगा। नहीं तो जिनसे द्वेष है, उनमें दोष-ही-दोष दिखायी देंगे और जिनसे राग है, उनमें गुण-ही-गुण। यथार्थ निर्णय होगा ही नहीं। और इस दशामें अवाञ्छनीय पुरुष चुने ही जायँगे।

पर जिनको भी मत दें, उनसे कम-से-कम ये चार प्रतिज्ञाएँ अवश्य करा लेनी चाहिये—

१. गोवधको कानूनके द्वारा कतई बंद करायेंगे। २. किसी भी धर्ममें दखल देनेवाला कोई कानून नहीं बनायेंगे। ३. भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करेंगे और ४. अन्न, वस्त्र, न्याय, शिक्षा और चिकित्साको सस्ती-से-सस्ती बनायेंगे।

'कल्याण' का यह क्षेत्र नहीं है। आपने पूछा इसलिये इतनी बातें लिख दी गयी हैं।

(५)

आत्मा अनिर्वचनीय है

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। आपने लिखा कि 'तुम कौन हो, इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर दो।' सो इसका उत्तर यह है कि आप यदि देहदृष्टिसे मेरा परिचय जानना चाहते हैं तो मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, वैश्यजातिमें मेरा जन्म हुआ है और संसारमें अन्य सब लोगोंकी भाँति ही सतत मृत्युकी ओर जा रहा हूँ। और यदि आपका प्रश्न आत्मदृष्टिसे है तो कुछ कहते नहीं बनता। शास्त्रोंने आत्माको 'सत्-चित्' और 'आनन्द' नाम देकर समझानेकी चेष्टा की है। किंतु यह लक्षण भी अधूरा ही है। क्या असत्, जड और आनन्देतर वस्तु आत्मासे भिन्न है? कोई शब्द नहीं, कोई भाषा नहीं जो उसका सम्पूर्णरूपसे निर्वचन कर सके। जहाँतक न पहुँचकर मनसहित वाणी लौट आती है, जहाँ बुद्धिकी गति कुण्ठित हो जाती है, जिस तत्त्वको श्रुतियाँ 'नेति-नेति' कहकर ही चुप हो जाती

हैं, उसके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश नहीं कर सकतीं, उसका वर्णन कौन कर सकता है। वह नेत्रका भी नेत्र, मनका भी मन, बुद्धिकी भी बुद्धि और आत्माका भी आत्मा है। वह सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप होता हुआ भी सबसे विलक्षण है—सर्वातीत है। उसके विषयमें तो इतना ही कहकर सन्तोष करना पड़ता है कि वह अनिर्वचनीय है—अनुभवगम्य है। यह मेरा अनुभव नहीं, शास्त्रोंका सिद्धान्त और महात्माओंका अनुभव है।

भक्त मैं हूँ नहीं, जो कहूँ कि मुझे भगवान्‌का दासत्व प्राप्त है। ऐसा सौभाग्य जिन महानुभावोंका है, मैं तो उनकी चरण-रजका भिखारी हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि श्रीभगवान् अपरिसीम, अनन्त, अविकारी, अनामय एवं अनिर्वचनीय हैं। साथ ही वे सम्पूर्ण भूतोंके सुहृद् तथा परम दयालु हैं। सम्पूर्ण जीवोंके प्रति उनका स्वाभाविक सौहार्द है (‘सुहृदं सर्वभूतानाम्’)। अतः एक प्राणीके नाते उनकी इस सहज कृपाका स्वाभाविक सौहार्दका मैं भी अधिकारी हूँ और समय-समयपर मुझे भी इसका अनुभव होता रहता है।

मेरे इस उत्तरसे पता नहीं आपको सन्तोष होगा या नहीं? शेष भगवत्कृपा।

हृदय-बोध

[समर्थ स्वामी श्रीरामदासजीके ‘मनाँचे श्लोक’का अनुवाद*]

(अनुवादक—डा० पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०)

हृदय ! प्रार्थना तुझसे है एक मेरी
कि लय हो हरीमें, न कर और देरी।
विनयका अनादर कभी भी न कीजै
हृदय ! सर्वदा राममें वास कीजै ॥ ३८ ॥

कहें वेद-शास्त्रादि जिनकी कथा है
तथा जिनसे मिलती समाधि-प्रथा है।
स्व चांचल्य, उन रामको सौंप दीजै
हृदय ! सर्वदा राममें वास कीजै ॥ ३९ ॥

मिले सुख तुझे सब तरहका जहाँपर
वहीं लक्ष्य दे अपना, हे चित्त ! सादर।
विवेकास्त्रसे द्वैतता काट दीजै
हृदय ! सर्वदा राममें वास कीजै ॥ ४० ॥

जो भटका बहुत, वह न सुख पा सका है
वृथा श्रमसे क्या कोई हित हो सका है।
स्व अन्तस्‌में सद्‌बोधको स्थान दीजै
हृदय ! सर्वदा राममें वास कीजै ॥ ४१ ॥

सभी छोड़ यह बात मनमें बसा ले
कि श्रीराम ही को तू अपना बना ले।
हैं दीनोंके वे नाथ, वाना यही है
हृदय ! सर्वदा राममें वास कीजै ॥ ४२ ॥

सुजन मन ! सदा चित्तमें यह धरो तुम
कि परमार्थ अपना जगत्‌में करो तुम।
विना रामके और बोलो न वानी
सदा हो निदिध्यासकी यह कहानी ॥ ४३ ॥

हृदय ! लोकमें मौन रहना भला है
तथा हरि-कथा-सार गहना भला है।
जहाँ हों न श्रीराम, वह धाम छोड़ो
सुखों हेतु काननसे सम्बन्ध जोड़ो ॥ ४४ ॥

हृदय ! संग जो शान्ति तेरी ढहावे,
हृदय ! संग जो, बस, अहंता बढ़ावे,
उसे छोड़; वह संग अच्छा न जीको,
जिसे पा तजे बुद्धि श्रीराम ही को ॥ ४५ ॥

---

* इसके पहलेके अंशका अनुवाद ‘कल्याण’के पिछले वर्षोंमें छप चुका है।—सम्पादक

जो हरि बिन घड़ी एक तूने गँवाई
तो जगमें स्वयं हानि अपनी बुलाई।
बिना रामके व्यर्थ ही श्रम अपार
जो हैं दक्ष वे रखते ऐसा विचार ॥ ४६ ॥
हरीको सदा सब जगह जो विलोके,
है ज्ञानी मगर रहता है भक्त होके,
सगुण साधनोंपर सदा प्रीति ठानी,
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ४७ ॥
सदा देवके कार्यमें देह लग्न
सदा रामके नाममें जीभ मग्न।
सदा जो स्वधर्मस्थ है तत्त्व-ज्ञानी
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ४८ ॥
स्वयं वह करे जो कि मुखसे बखाने,
अनेकोंमें है एक ही प्रभु, ये जाने।
सगुणको भजे, हो न भ्रमकी निशानी,
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ४९ ॥
न हो चित्तमें कामसे जो विकारी
उदासीन जो तापसी ब्रह्मचारी।
असंशय हुआ, जिसने तमराशि मानी
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ५० ॥
न मद है न मत्सर, न है स्वार्थबुद्धि
प्रपंचादि ही हैं, न तो है उपाधि।
विलसती है जिसकी सदा नम्रवाणी
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ५१ ॥
करे हर घड़ी तत्त्व-चिन्तानुवाद
न हो दंभ या व्यर्थ वादाविवाद।
रहे ब्रह्मचिन्तामें तल्लीन बानी
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ५२ ॥
सभी जनसे हो जो सरलताका टेकी
सदा सर्वदा सत्यवादी विवेकी।
न बोले त्रिवाचा कभी झूठ बानी,
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ५३ ॥
जवानी ही में जिसने कानन बसाया
विषय-कल्पनाके न चक्करमें आया।
किया दृढ़ जो निश्चय टिका उसपै ज्ञानी
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ५४ ॥
न हो चित्तमें दुष्ट आशा-दुराशा
बसे सर्वदा प्रेम ही की पिपासा।
ऋणी देव हों, भक्ति हो वह सुहानी,
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ५५ ॥
दयाधाम दीनोंका, मनका मयालु
वो दासोंका है पाल, प्रेमी कृपालु।
रहे चित्तमें क्रोध-सन्ताप-हानी
वही रामका दास है धन्य प्राणी ॥ ५६ ॥
जो होता है जग-धन्य श्रीराम कहकर
क्रिया भक्ति पूजामें हो नित्य तत्पर।
उदासीनता तत्त्वता-सार-धी है
वही सर्वदा मुक्त-वृत्तिस्थ ही है ॥ ५७ ॥
विषय-वासना-वृत्ति है त्याग-योग्य
जगत्-कामना पूर्ण है पाप-भोग्य।
सदा राम-चिन्ता अकामा बढ़ाओ,
हृदय ! कामना-लेशको भी नशाओ ॥ ५८ ॥
वृथा कल्पना-कल्प-कोटि-प्रयास
न तू जायगा इससे श्रीहरिके पास।
रही कामना तो मिलेंगे न राम,
मिलेगी अनन्या न भक्ती ललाम ॥ ५९ ॥
हृदय ! राम हैं कल्पतरु कामधेनु
सुनिधि-सार चिन्तामणि प्रेमवेणु।
हुई जिनके ही योगसे सर्व सत्ता
सदृश कौन है उनके, ऐसी महत्ता ॥ ६० ॥
खड़ा कल्पतरुके तले भी दुखी है,
बिना उनके, ऐसी ही हालत हुई है।
सुजन मन ! वृथा वाद यह तू प्रसारे
वृथा चित्तमें शोकके भार धारे ॥ ६१ ॥
निदिध्यासको तो हृदयसे हटाया
तथा चित्तमें शोक-सन्ताप छाया।
सदानन्द समझो कि उसने डुबाया
तथा खेदसे सर्व निश्चय उड़ाया ॥ ६२ ॥
भवन काम गौ तज, मठा माँगता है
हरी बोध तज क्यों विवादी बना है।
न चिन्तामणी तजके ले काच-खण्ड
तू माँगे तो वह देगा वैभव अखण्ड ॥ ६३ ॥

जो अतिमूढ़, दृढ़बुद्धि होती न उसमें,
जो कामी है, हरिभक्ति रहती न उसमें।
जो लोभी है, क्षोभी रहेगा वो निश्चय:
जो विषयी है, होगा सदा दीनतामय ॥ ६४ ॥

बिना भक्तिके, दीन-जीवन वृथा है
गँवारोंका दुख नित्य दूना हुआ है।
इसीसे हृदय ! नित्य श्रीहरिको चाहो
न धन-घर-विरामादिकी वासना हो ॥ ६५ ॥

न कुछ सार संसारमें, घोर है रे
सदा सत्यकी शोध कर चित्त मेरे।
असम्भव है विष खाके सुख उरमें भर ले
इसीसे सदा रामका ध्यान कर ले ॥ ६६ ॥

घनश्याम हैं राम लावण्यरूपी
महाधीर गंभीर पूर्ण प्रतापी।
कि जिनने हरे जनके संकट घनेरे
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ६७ ॥

प्रबल शूर हैं राम कोदण्डधारी
कुटिल काल भी काँपता जिनसे भारी।
कहाँ ताब नरकी, कि आँखें तरेरे
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ६८ ॥

सुखानन्दकारी सकल भय हरेंगे
जो हम भक्तिसे श्रीहरीको भजेंगे।
विवेकी ! अनाचार-इच्छा हटे रे !
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ६९ ॥

सदा पूर्णकामी जपो रामनाम
नियमसे, तो हो मन न आपत्ति-धाम।
न मद हो, न आलस्यके तुममें घेरे
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ७० ॥

हैं इस नाम-जपसे महादोष जाते
हैं इस नामसे नर सुगति पूर्ण पाते।
हों जिस नामसे पुण्य संचित घनेरे
करो राम की चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ७१ ॥

न कुछ गाँठसे खर्च होता कहीं है
लिया नाम तो मुखको भी दुख नहीं है।
मगर काटता है वह भवरिपुके घेरे
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ७२ ॥

व्रतादिकमें दुख देहका दण्ड ही है,
मगर नाम-जपमें कहाँ दुख कहीं है ?
हैं देवेन्द्र हरि प्रिय सदा शंभु केरे,
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ७३ ॥

बहुत संकटोंसे भरे अन्य साधन
व्रतोद्यापना दानको चाहिये धन।
स्मरण दीनके बन्धुका मन बसेरे
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ७४ ॥

सभी साधनोंमें है जब एक सार
तू सब ग्रंथको सोध करले विचार।
निरर्थक है संशय तजो इसके फेरे
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ७५ ॥

न हों पूर्ण कर्मादि या योग याग
न पूरी तरह भोग होता न त्याग।
रखो जपमें विश्वास हे मित्र ! मेरे
करो रामकी चित्त ! चिन्ता सबेरे ॥ ७६ ॥

करो काम निष्काम श्रीरामजीका
लखो राम-सा रूप सब जीव ही का।
रचो गान ऐसे कटें द्वन्द्वके भ्रम
रखो राम-कीर्तनमें विश्वास हरदम ॥ ७७ ॥

अहो, रामका जिसने विश्वास छोड़ा
उसे जो कहा जाय वह सब है थोड़ा।
महाराज स्वामी हैं कैवल्यदाता
वृथा रे वृथा देह-संसार-चिन्ता ॥ ७८ ॥

हृदय ! पावना भावना रामजीकी
उसे रखके, तज भवकी चिन्ताएँ फीकी।

हुई भूल है मानवोंको जगतकी
जो है ही नहीं, धारणा व्यर्थ उसकी ॥ ७९ ॥

जो हरके हृदयमें हैं श्रीवर, वो वर तू,
अगम भवके सागरको इस भाँति तर तू।
न दिन-रात हो पेट-चिन्ताका चक्कर:
तू मत्सरको हन, क्योंकि वह है बड़ा खर ॥ ८० ॥

तू मत्सरमें पड़कर न हरिनाम छोड़,
तू सादर उन्हींसे निदिध्यास जोड़।
सभी साधनोंमें है हरिनाम सार,
न तुलनामें सम अन्य साधन अपार ॥ ८१ ॥

नहीं राम-सा अन्य है नाम भाता
अभागा मनुज यह समझ है न पाता।
सदाशिवने विषकी दवा इसको जाना
तो औरोंकी क्या बात कहना कहाना ॥ ८२ ॥

जो मन्मथके दाहक हैं वे राम ध्याते
उमानाथ आदरसहित गुणको गाते।
बड़ा ज्ञान-वैराग्य-सामर्थ्य जिनमें
मगर नाम-विश्वास ही श्रेष्ठ उनमें ॥ ८३ ॥

दिया विष्णुने शिवको मस्तकमें धाम
मगर शंभु जपते सदा रामनाम।
किया जिनने संकट-रहित चन्द्रभाल
वही मुक्ति देंगे तुझे अन्तकाल ॥ ८४ ॥

भजो राम योगीन्द्र-विश्राम-धाम
उमा-शंभु भजते जिन्हें अष्टयाम।
हुए जिनसे शीतल सुखी चन्द्रभाल
तुम्हें मुक्ति देंगे वही अन्तकाल ॥ ८५ ॥

बसे मुखमें जो राम, आराम आये
सदानन्द आनन्द तू नित्य पाये।
बिना उसके श्रम सर्वसन्देहकारी
स्वधामद है हरिनाम शोकापहारी ॥ ८६ ॥

जो हो रामका जप, कहाँ काम-बन्धन
जो गुण इष्ट हो तो कहाँ धैर्य-भंजन।
हरीभक्त है कामहन्ता प्रहारी
जगद्वंद्य लख मारुती ब्रह्मचारी ॥ ८७ ॥

भला नाम श्रीरामजीका विमल है
बिना दामका स्वल्प, सुन्दर, सहल है।
जपे नाम, निर्मूल हो भव ये कच्चा
मनुष्योंका यह ही है कैवल्य सच्चा ॥ ८८ ॥

सदा खाते-पीते जपो राम-नाम
सदा उच्च स्वरसे हो जप ये ललाम।
जो भोजनमें तुम हरिका चिन्तन करोगे
तो तुम उन हरीको सहजमें लहोगे ॥ ८९ ॥

बड़ी हानि है जो हो जपहीन वाणी
निरर्थक ही लेता है वह जन्म प्राणी।
हरीनाम आगम निगम सार सा है
यतिश्रेष्ठ श्रीव्यासने यह कहा है ॥ ९० ॥

तिरस्कार करना न श्रीरामजीका
समादरसे लो नाम उन रघुपतीका।
बिना दामके मुफ्त संपत् मिली है
कहो जोरसे, जानकीनाथ की जै ॥ ९१ ॥

करोगे जो आदरसे तुम नाम-घोष
तो जाकर छिपेंगे गुफाओंमें दोष।
जहाँ नाम है, स्थिति वहीं प्रेमघनकी
लगन देख लो इसमें शंकरके मनकी ॥ ९२ ॥

वही, देख लो, देव है अन्नदाता
उसे ही रहे सबके पोषणकी चिन्ता।
जो उन रामका नाम तू मुखसे लेगा
बता रे हृदय! मोल ही क्या लगेगा? ॥ ९३ ॥

त्रिलोकी जला सकनेवाले त्रिपुरहर
हुए नामके जपसे शीतल शुभंकर।
सुनिष्ठासे जपतीं जिसे विश्वमाता
जपो तुम भी वह नाम आनन्ददाता ॥ ९४ ॥

अजामिलने था पुत्र ही को पुकारा
मगर नामने शीघ्र उसको उबारा।
सुएको पढ़ाया "पढ़ो राम राम"
पुराणोंमें वेश्या हुई ख्यातनाम ॥ ९५ ॥

हुए भक्त प्रह्लाद राक्षसके घरमें
मगर नित्य हरिनाम था उनके स्वरमें।
पिता दुष्ट था जिसने सुतको सताया
कहाँ दैत्यको नामपर प्रेम आया? ॥ ९६ ॥

गोवधका पाप

भारतमें अबतक गोवध बंद नहीं हुआ। वर्षोंसे प्रयत्न हो रहा है। पहले तो यह माना जाता था कि अंग्रेजी फौजके लिये गोहत्या होती है। स्वराज्य होते ही गोहत्या बंद हो जायगी। ऐसी घोषणा भी की गयी थी और विश्वास भी दिलाया गया था। भारतके विधानमें भी गोवध बंद करनेकी बात स्पष्ट आ चुकी है। सरकारने एक कमेटी बनायी थी, जिसमें सरकारी और गैरसरकारी सदस्य थे। उस कमेटीने भी गोवध कतई बंद करनेके सिद्धान्तको स्वीकार करके अपनी सम्मति भेज दी थी। लाखों तार-पत्र भी दिये गये थे। यह सब होनेपर भी अभी गोवध बंद नहीं हुआ। बल्कि जिन कुछ प्रान्तीय सरकारोंने विधानकी धाराको मानकर गोवध बंद कर दिया था, उनसे भी पुनः गोवध जारी करनेका केन्द्रिय सरकारने अनुरोध किया है। हमारे प्रधानमन्त्री महोदयने बम्बईमें भाषण देते हुए गोवधका समर्थन किया है। अब जनताकी आवाजको दबानेके लिये एक गोसंवर्धन बिल संसद्में उपस्थित किया गया है। इस बिलसे गोवध तो बंद होगा ही नहीं; गोशाला और पिंजरापोलोंपर नियन्त्रण हो जायगा और जिन दाताओंने बूढ़ी अपाहिज गोमाताकी सेवाके लिये—बूढ़े माता-पिताकी सेवाके लिये जैसे पुत्रके मनमें पवित्र इच्छा होती है—वैसी ही इच्छासे गोशाला-पिंजरापोलोंको दान दिया था, उस दानका भी दुरुपयोग होना सम्भव है। इस बिलके सम्बन्धमें प्रसिद्ध गोसेवक तथा कांग्रेसके पुराने कार्यकर्ता लाला हरदेवसहायजीने एक वक्तव्य प्रकाशनार्थ भेजा है, उसे नीचे प्रकाशित किया जा रहा है। पाठकोंको इससे इस बिलके सम्बन्धमें कुछ जानकारी होगी। भगवान् सबको सुबुद्धि दें, जिससे यह गोवधका महापाप भारतसे शीघ्र दूर हो।

'भारतसरकारने 'गोवधनिषेध' आन्दोलनको ठंडा करनेके लिये संसद्में गोरक्षा तथा संवर्धन नामसे एक विधेयक उपस्थित किया है। इससे न तो गोवध बंद होगा और न तो गोवंशकी उन्नति ही हो सकेगी। गोशालाओंके द्वारा जो गोसेवाका कार्य हो रहा है, उसमें भी अड़चन पड़ेगी। विधेयक 'गोरक्षा तथा उन्नति कमेटी' की सिफारिशोंके आधारपर बनाया गया है। उनका उद्देश्य सम्पूर्ण गोवधबंदी मानते हुए दो सालके अंदर-अंदर अपाहिज पशुओंके लिये गोसदन बनाकर कतई गोवध बंद करनेका था। इन सिफारिशोंको ढाई साल हो चुके। इस विधेयकके तीन भाग हैं—१. उपयोगी पशुओंका वध बंद करना। २.गोशालाओंपर कन्ट्रोल करना और ३. नस्लसुधार। यह विधेयक हिमाचलप्रदेश, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, सौराष्ट्र, कुर्ग इत्यादि छोटे-छोटे राज्योंके लिये है। इन राज्योंमेंसे कई ऐसे हैं, जहाँ आज गोवध पूर्णतया बंद है। इस विधेयकके पास हो जानेपर या बन जानेपर वहाँ भी अनुपयोगीके नामसे गोवंशका वध जारी हो जायगा।

यों जहाँ अबतक एक भी गाय नहीं मारी जाती थी, वहाँ भी गायोंका मारना शुरू हो जायगा। इस विधेयकके बन जानेपर उपयोगी पशुओंकी भी रक्षा नहीं होगी। पिछली लड़ाईके दिनोंमें बढ़े हुए गोवधको दृष्टिमें रखते हुए ११ जुलाई १९४४ को भारत-रक्षा-कानूनके अनुसार उपयोगी पशुओंके वधको रोकनेका नियम बनाया गया था। उस नियममें पशुकी आयु १० सालतककी थी, अब १४ सालतक की गयी है। पर इस नियमसे एक भी उपयोगी पशु कत्ल होनेसे नहीं बचा। बर्माकी सरकारने इस नियमकी व्यर्थताको देखकर १० दिसम्बर १९४७ को पशुवध रोकनेका विशेष कानून बनाया। भारत-सरकारने अब संसद्में यह विधेयक उपस्थित किया है। बंबई और बंगालमें एक सालसे अधिक हुआ, इसी तरहके विधेयकको कानूनी रूप दिया गया था। पिछले अगस्तमें ही मैंने बंबई और कलकत्ताके कसाईखाने देखे। बंबईमें

वहाँके वेटरिनरीकालेजके प्रिंसिपल तथा कलकत्तेमें डायरेक्टर पशुविभाग मेरे साथ थे । कानून बन जानेपर भी इन दोनों स्थानोंपर उपयोगी दुधार गायें तथा भैंसें कत्ल की जा रही थीं और आज भी वही अवस्था है । जबतक सम्पूर्ण गोवधबंदीका कानून नहीं होगा, तबतक उपयोगी पशु भी कत्लसे नहीं बचेंगे । कसाई पशु-निरीक्षकको रिश्वत देकर उपयोगी पशुका ही वध करेंगे या उपयोगी पशुको भूखा रखकर अथवा उसके अङ्ग तोड़कर निरुपयोगी बना लेंगे । यदि सरकार वास्तवमें गोवध बंद कराना चाहती है तो 'गोरक्षा कमेटी'की सम्पूर्ण गोवधबंदीकी सिफारिशोंको स्वीकार करते हुए विधेयक उपस्थित करना चाहिये था । यह विधेयक तो सर्वथा निष्प्राण तथा निष्फल है । यह विधेयक तो केवलमात्र 'गोवधनिषेध' आन्दोलनको ठंडा करने और आनेवाले चुनावमें मत प्राप्त करनेका साधनमात्र है । जैसे सन् १९४७ में जब कि देशमें 'गोवधनिषेध'के लिये प्रबल आन्दोलन था, सरकारने एक कमेटी बनाकर उस आन्दोलनको समाप्त कर दिया था, उसी तरह इस विधेयकके द्वारा गोवधनिषेध-आन्दोलनको दबानेके लिये यह अनुचित कोशिश की गयी है । जनता तथा संसद्के सदस्योंको चाहिये कि वे इस जालमें न फँसें ।

गोशालाओंकी उन्नति और सुधारके लिये १९४४ से कुछ कार्य हो रहा था । गत ४ अप्रैल १९५० को कृषिमन्त्री महोदयकी प्रधानतामें 'केन्द्रिय गोशालाबोर्ड' बनाया गया । इस बोर्डका उद्देश्य केवलमात्र गोशालाओंके भीतरी प्रबन्धमें दखल न देते हुए गोशालाओंका सुधार और उन्नति करना था । पर 'गोसंवर्धन बिल' द्वारा गोशालाओंके भीतरी प्रबन्धमें हस्तक्षेप करना ही नहीं, उनपर बड़े-बड़े वेतनोंका भी बोझ लादना है । इस कानूनके बन जानेपर आज जो रुपया गो-सेवा-कार्यपर खर्च हो रहा है, उसका बड़ा भाग सरकारी अधिकारियोंकी जेबोंमें जाने लगेगा । साथ ही कन्ट्रोलकी सख्तीके कारण कितनी ही गोशालाओंके सञ्चालक गोशाला बंद करनेको बाध्य होंगे । इस विधेयकका देशकी तीन हजार गोशालाओंपर बुरा प्रभाव पड़ेगा । उचित होगा कि देशकी गोशालाओंके सञ्चालक संघटित होकर इस विधेयककी बुराइयोंपर विचार करें ।'

इस विधेयकके अनुसार नस्ल-सुधारके लिये सरकारने अपने पाससे एक बहुत मामूली-सी रकम दी है । अधिकतर रुपया पशुबाजारोंसे लिया जायगा । इन दिनों भी पशुबाजारोंमें बिकनेवाले पशुओंपर महसूल लिया जाता है; जो पशु रखनेवालोंकी उन्नतिपर खर्च किया जाता है । कितने ही डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंकी आमदनीका बड़ा साधन पशुबाजार है । यदि सरकार यथार्थमें पशुओंकी उन्नति करना चाहती है तो इस टेढ़े तरीकेसे की हुई आमदनीसे नहीं बल्कि उसे अधिक खादोत्पादन योजनासे एक विशेष रकम देनी चाहिये । पर जबतक सम्पूर्ण गोवध बंद न होगा, पशुओंकी उन्नति नहीं होगी । जबतक छेदोंवाले बर्तनके छेद बंद न किये जायँगे, तबतक उसमें जल डालनेसे कोई लाभ नहीं । जिस प्रकार हरियानेकी अच्छी-अच्छी गाएँ और भैंसें कलकत्ते तथा बंबई आदि बड़े-बड़े शहरोंमें कत्ल होती हैं उसी तरह नस्लसुधार-योजनासें तैयार किये हुए पशु भी कसाईकी छुरीसे नहीं बच सकेंगे ।

आज देशमें जनताकी सरकार है । अतः सरकारको जनताकी माँग और भावना तथा अपनी बनायी हुई विशेषज्ञ कमेटीकी सिफारिशोंको ध्यानमें रखते हुए सम्पूर्णतया गोवधबंदी तथा नस्लसुधारका काम साथ-साथ करना चाहिये । जनता ऐसे विधेयकके उपस्थित करनेके बहकावेमें कभी न आवे । यह विधेयक गोवंशके लिये लाभदायक नहीं, वरं हानिकारक है । जनताको चाहिये जबतक सम्पूर्ण गोवध बंद न हो, आन्दोलन जारी रक्खे ।

* * *

संसारकी असारता

(रचयिता—श्रीजनार्दन झा 'जनसीदन')

जिसे समझते हो तुम अपना, जिसपर रखते स्नेह विशेष।
होता है आनन्द हृदयमें जिस प्रेमास्पदका मुख देख॥
क्या है वह आत्मीय तुम्हारा सच्चा जीवनका साथी।
या नश्वर कुछ दिनको प्यारा है धन जन वाहन हाथी॥ १॥
माता पिता बन्धु सुत दारा धरणी धाम तुम्हारे हैं।
जिन्हें समझते हो तुम अपने सम्बन्धी अति प्यारे हैं॥
मायाके फंदेमें फँसकर तुम अपनेको घाल रहे।
बाजीगरका खेल समझ लो है न सत्य यह ख्याल रहे॥ २॥
एक एक कर सभी पाससे निकल जायँगे तुमको त्याग।
दो दिनके साथी ये सब हैं करते क्या उनसे अनुराग॥
बाजीगरकी झोलीमें वे क्रम-क्रमसे छिप जायँगे।
हम अज्ञानी मोह विवश हो, बिना उन्हें दुख पायँगे॥ ३॥
पूर्वजन्ममें मेरे कितने भाई-बन्धु रहे होंगे।
मेरे लिये पिता-माताने कितने कष्ट सहे होंगे॥
इस मानव-जीवनमें अब तो वह सब है कुछ याद नहीं।
जन्म लिया अब यहाँ, वहाँका मिलता कुछ संवाद नहीं॥ ४॥
अब तो बन्धु यहाँवाले हैं ये सब हैं मेरे प्यारे।
देहान्तर होनेपर विस्मृत होंगे फिर ये प्रिय सारे॥
यों ही मैं कितने जन्मोंसे पुत्र पिता बनता आया।
सबको अपना मान मोहवश दुख कबसे सहता आया॥ ५॥
यह सब बात समझनेपर भी नहीं ज्ञान थिर रहता है।
प्रकृति-रचित मिथ्या ममतावश जीव वृथा दुख सहता है॥
निज तन धन सुख सम्पति लखकर अहंकारमें फूल रहा।
यह अज्ञानी जीव मोहवश है अपनेको भूल रहा॥ ६॥
कितने आये इस दुनियामें कर्म भोगकर चले गये।
उन्हें जान हम अपना प्यारा व्यर्थ मोहवश छले गये॥
देखो समझो मायाकृत यह नाटक जो होता है नित्य।
है असार संसार जान यह त्याग मोह साधो निज कृत्य॥ ७॥
है न तुम्हारा कोई अपना, तुम न किसीके अपने हो।
मायाके प्रपञ्चमें पड़कर देख रहे सब सपने हो॥
सपनेकी बातें सब झूठी मत उनपर विश्वास करो।
जागो! उठो!! मोह-निद्रा तज भज हरिको भव-सिन्धु तरो॥ ८॥
जिस शरीरको सुख देनेके हेतु यत्न करते दिन-रात।
जिसे सजाते रहते हो तुम नित अनेक विधि साँझ-प्रभात॥
वह भी नहीं साथ जायेगा यहीं पड़ा रह जायेगा।
करो धर्म शुभ कर्म अन्तमें काम एक वह आयेगा॥ ९॥
क्या उलझे हो धन-दौलतमें कुछ भी साथ न जायेगा।
प्रिय परिवार तुम्हें तज देंगे, कोई काम न आयेगा॥
किसके पीछे परेशान हो परमेश्वरसे हेत करो।
'जनसीदन' दुर्लभ तन पाकर अब भी तो कुछ चेत करो॥ १०॥

एक नयी पुस्तिका

श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आकार २०×३० सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या ४८, नवधा भक्तिका तिरंगा चित्र, मूल्य =) मात्र, अनेक प्रेमी सज्जनोंके आग्रहके कारण कल्याण वर्ष २४ सं० ११ में प्रकाशित श्रीगोयन्दकाजी-के 'श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति' नामक लेखको ही पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है ।

एक नयी सूचना

हमारे पास सीतारामभजन—पृष्ठ ६४, मूल्य)॥, हरेरामभजन (दो माला)—पृष्ठ ३२, मूल्य)॥। तथा रामायण सुन्दरकाण्ड—पृष्ठ ६४, मूल्य ‑)—इन तीनों पुस्तकोंकी समय-समयपर इनका वितरण करनेवाले सज्जनोंद्वारा हजारोंकी संख्यामें माँग आती रहती है। एक साथ इतनी बड़ी संख्यामें पुस्तकें देनेमें कठिनाई होनेके कारण अबतक लाचार होकर उनके आर्डरोंको या तो अस्वीकार करना पड़ता था या परिमित संख्यामें पुस्तकें दी जाती थीं । अब कुछ समयके लिये इन पुस्तकोंको पूरी संख्यामें देनेकी व्यवस्था हो सकी है और बड़ी संख्यामें मँगानेवालोंके लिये विशेष रियायतका प्रबन्ध किया गया है । जो इस प्रकार है—

सीतारामभजन — कम-से-कम एक साथ १००० लेनेपर नेट दाम प्रति हजार २६)
हरेरामभजन (दो माला)— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ३९)
रामायण सुन्दरकाण्ड— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ५२)

रेलभाड़ा या डाकखर्च अलग । पुस्तक-विक्रेताओंको इस रियायती मूल्यपर कोई कमीशन नहीं दिया जायगा ।

जिन लोगोंको आजकलके चातुर्मासके पर्वदिनोंमें बाँटने आदिके लिये इन पुस्तकोंकी बड़ी संख्यामें आवश्यकता हो, वे आर्डर देनेकी कृपा करें ।

बहुत दिनोंसे अप्राप्य थी, अब मिलने लगी ।

गीताप्रेस-चित्रावली

[साइज १५×२० नं० १ दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च ॥।) अलग]

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं । टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है । चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१—युगल छबि, २—आनन्दकंद पालनेमें ।

बहुरंगे—१—वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २—श्रीव्रजराज, ३—भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४—श्रीराम-दरबार, ५—भुवनमोहन राम, ६—भगवान् शङ्कर, ७—भगवान् नारायण, ८—श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीहरिः

भारतीय साम्यवादका आदर्श

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥
स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

'दुर्जन सज्जन बन जायँ । सज्जन शान्ति लाभ करें । शान्त पुरुष सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जायँ । मुक्त पुरुष दूसरोंको भी जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ानेमें समर्थ हों । प्रजाजनोंका कल्याण हो । राजालोग न्यायोचित मार्गसे पृथ्वीका शासन करें । गौओं और ब्राह्मणोंका सदा कल्याण हो । सभी लोग सुखी हों । मेघ समयपर वर्षा करें । भूमि सदा हरी-भरी रहे । हमारा यह देश (भारतवर्ष) क्षोभरहित हो जाय । ब्राह्मणोंको किसी प्रकारका भय न रहे । सभी प्राणी सुखी हों । सब नीरोग रहें । सभी अच्छे दिन देखें । जगत्‌में कोई भी दुःखका भागी न हो । सभी लोग सङ्कटोंको——कठिनाइयोंको पार कर जायँ । सब लोग शुभका ही दर्शन करें । सब लोग वाञ्छित भोग प्राप्त करें । सब लोग सर्वत्र प्रसन्न रहें ।'

१.८-५१

कल्याण

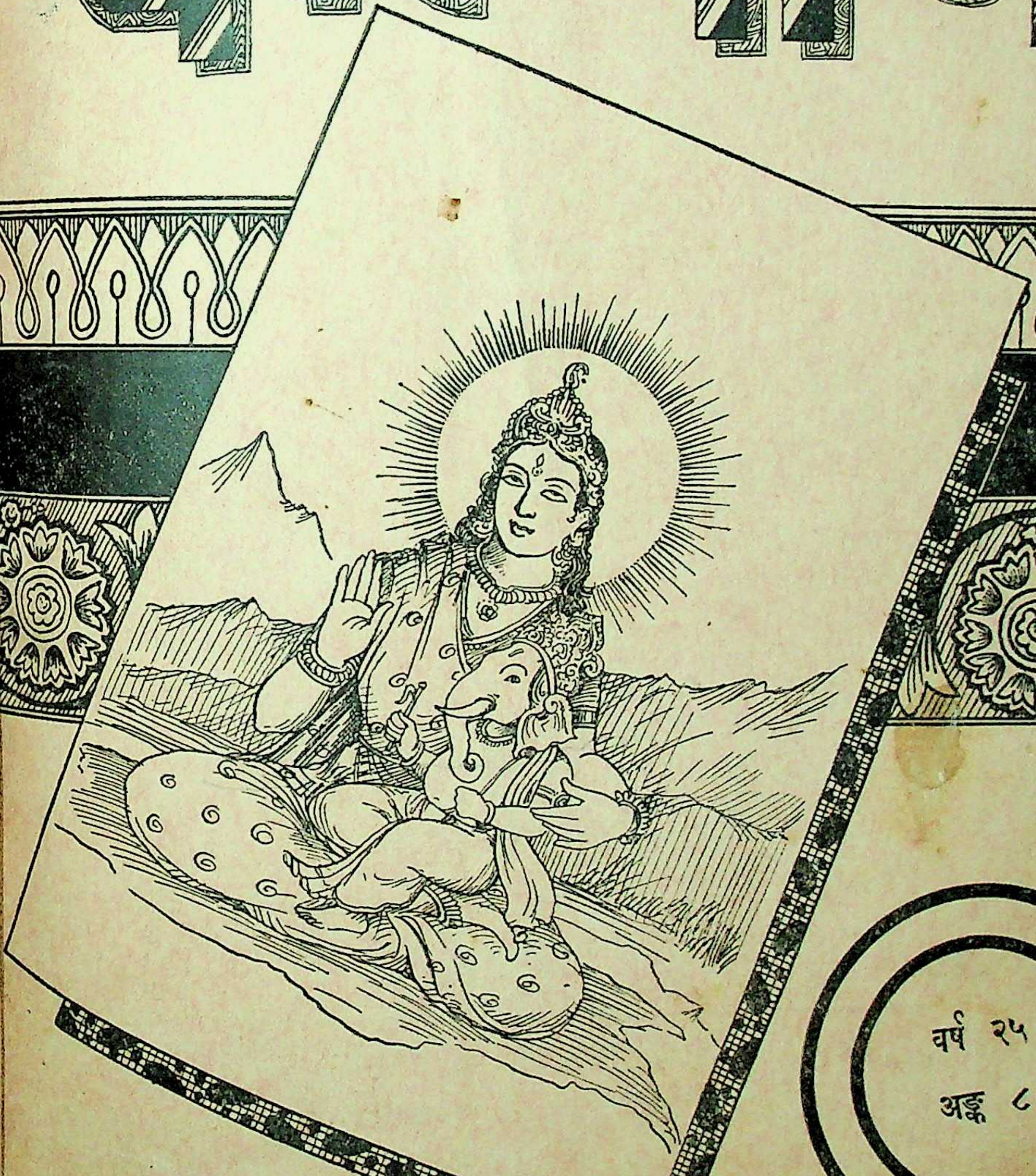

वर्ष २५
अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २००८, अगस्त सन् १९५१

पृष्ठ-संख्या
विषय
१–ज्ञाननौकाके द्वारा उद्धार [कविता] १२०७
२–कल्याण ('शिव') १२०८
३–सत्सङ्गकी कुछ सार बातें (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १२०९
४–वैराग्य (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) १२१५
५–जय जगजननि ! [कविता] (श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी) १२२२
६–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन १२२२
७–कहा कहा वारि डारौं [कविता] (संकलित) १२२९
८–सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन (सङ्कलनकर्ता—एक सत्सङ्गी) १२३०
९–केनोपनिषद्-मनन (श्रीनारायणसिंहजी, राव मसूदा) १२३५
१०–शुभ अभिलाषा (संकलित) १२३९
११–विषय-वासनासे तपस्याकी हानि (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी) १२४०
१२–झूला-गीत [कविता] (श्रीराजारामजी खरे) १२४२
१३–जगत्का स्वभाव (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) १२४३
१४–चन्दन [कहानी] (पं० श्रीशिवनाथजी दूबे, साहित्यरत्न) १२४५
१५–भक्तगाथा [भक्त देवाजी पुजारी] १२४७
१६–हृदय-बोध [कविता] [समर्थ स्वामी श्रीरामदासजीके 'मनांचे श्लोक' का अनुवाद] (डा० पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०) १२४९
१७–नैतिक पतन और उससे बचनेके उपाय १२५३
१८–प्रेम-राज्य (श्री 'दुर्गेश') १२५७
१९–कामके पत्र १२५८
२०–संस्कृतियोंकी जननी (श्रीसुदर्शनसिंहजी) १२६४

चित्र-सूची

तिरंगा

१–ज्ञाननौकाके द्वारा समस्त पापोंसे उद्धार १२०७

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए० शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

११.८.१९५

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥

वर्ष २५ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २००८, अगस्त १९५१ { संख्या ८
पूर्ण संख्या २९७

ज्ञाननौकाके द्वारा उद्धार

यद्यपि तूने किये अनेकों पातक घोर, दुष्ट-आचार ।
है यदि तू पातकी-जगत्‌का सर्वश्रेष्ठ नेता-सरदार ॥
नरक-जन्तु नक्रादि भयानक फल भुगतानेको तैयार ।
तो भी ज्ञान-तरणि चढ़ तू तर जायेगा भव-पारावार ॥

याद रक्खो—भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं और तुम्हारे परम सुहृद् हैं । उनमें विश्वास करो, उनकी कृपा तुम्हें निश्चय ही समस्त बन्धनों, समस्त विपत्तियों और समस्त कठिनाइयोंसे उबार लेगी । उनके इन गीताके वचनोंपर विश्वास करो—'कोई कैसा भी पापी हो, मेरे शरण आनेपर मैं तुरंत उसके पापोंको धोकर उसे साधु और भक्त बना लेता हूँ, फिर उसे सनातन शान्ति मिल जाती है, मेरे उस भक्तका कभी पतन नहीं होता । मुझमें मन लगा दो, फिर मेरी कृपा तुम्हें सारे संकटोंसे अनायास ही तार देगी ।'

याद रक्खो—संकट या विपत्तिका निवारण करनेके लिये बाहरी निर्दोष उपाय करना न तो बुरा है, न पाप है । पर यह निश्चय नहीं है कि उससे तुम्हारी विपत्तिका नाश हो ही जायगा । क्योंकि उसमें अत्यन्त सीमित तथा क्षुद्र शक्ति है । भगवान् महान् शक्तिके अनन्त भण्डार हैं, उनके शरण होकर यदि तुम केवल उन्हींपर पूर्णरूपसे निर्भर करोगे तो भगवान्की वह महान् शक्ति तुम्हारी सहायता करने लगेगी । जब तुम सहज ही अपरिसीम महान् शक्तिकी सहायता प्राप्त कर सकते हो, तब ससीम क्षुद्र शक्तिके पीछे पड़कर क्यों अपना समय नष्ट करते हो ?

याद रक्खो—तुम्हारी विपत्तियाँ चाहे जितनी बड़ी हों, अन्धकार चाहे जितना गहरा हो, दुःख चाहे जितने महान् हों, बन्धन चाहे जितना कठिन हो; भगवान्की कृपाशक्तिका आश्रय—पूर्ण आश्रय लेनेपर तुम अपनेको इन सबसे मुक्त आनन्द-निकेतनमें विश्राम करते पाओगे ।

याद रक्खो—जब कभी परिस्थति प्रतिकूल हो, अनुकूलताके सारे साधन नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हों, चारों ओर केवल निराशा और घोर अन्धकार दिखायी देता हो, अशान्तिकी बड़ी भयानक आँधी आ रही हो,—तुम उस समय तुरंत दयामय प्रभुके दरबारमें पहुँच जाओ, क्षणभरके लिये भी वहाँसे न हटो, न उतरो । केवल भगवान्पर ही दृष्टि लगाये उनका अनन्य चिन्तन करते रहो । ऐसा दृढ़ विश्वास करो कि 'भगवान् असम्भवको सम्भव कर सकते हैं । मेरी प्रतिकूल स्थितिको बदलना उनके लिये कुछ भी कठिन नहीं है । मैं उनकी कृपापर निर्भर हूँ । वे मेरा परम कल्याण निश्चय ही करेंगे ।' तुम थोड़े ही समयमें देखोगे—आकाश स्वच्छ हो गया है । सारी आँधी चली गयी है और अनुकूलताके सारे साधन सुन्दरतासे जुट रहे हैं ।

याद रक्खो—तुम्हारी प्रतिकूलता, विपत्ति और कठिनाईका विनाश करनेमें भगवान्को बड़ा सुख मिलता है । आवश्यकता केवल इतनी ही है कि तुम अपना हृदय खोलकर उनके सामने रख दो । डरो मत, कभी निराशाके विचार मनमें मत लाओ । कभी यह मत सोचो कि 'हमको सदा अन्धकार, प्रतिकूलता और विपत्तिके जंगलोंमें ही भटकना है ।' मंगलमय भगवान्के राज्यमें ऐसा सोचना एक प्रकारका अपराध है ।

याद रक्खो—तुम्हारी जो भी अवस्था हो, तुम जहाँ भी हो, तुम जैसी भी प्रतिकूल परिस्थितिमें पड़े हो, भगवान्के लंबे हाथ तुम्हारी रक्षाके लिये सदा पर्याप्त हैं । भगवान् एक क्षणमें तुमको ही नहीं, अनन्त विश्व ब्रह्माण्डको समस्त दुःख, विपत्ति, बन्धन और अन्धकारसे मुक्त करके अपने दिव्य ज्ञानकी ज्योतिसे प्रफुल्लित और प्रकाशित कर सकते हैं ।

याद रक्खो—भगवान्की अतुल बलवती कृपाशक्तिके सामने तुम्हारे पाप-तापोंमें, तुम्हारी आपद-विपदके आँधी-तूफानमें शक्ति ही कितनी है, जो उसके सामने ठहर सके । इसपर विश्वास करो ।

याद रक्खो—तुम्हारी विश्वासहीनता ही तुम्हारे लिये परम विपत्ति है । भगवान्पर, उनकी कृपापर, उनकी सुहृदतापर और उनकी आत्मीयतापर विश्वास करो । उनकी ओर बढ़ो, उनपर निर्भर हो जाओ । उनकी महान् कृपाशक्तिसे तुम सहज ही समस्त संकट, बन्धन और अज्ञानान्धकारसे मुक्त हो जाओगे !

'शिव'

सत्सङ्गकी कुछ सार बातें

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

१—मनुष्य-जीवनके समयको अमूल्य और क्षणिक समझकर उत्तम-से-उत्तम काममें व्यतीत करना चाहिये। एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

२—यदि किसी कारणवश कभी कोई क्षण भगवत्-चिन्तनके बिना बीत जाय तो उसके लिये पुत्रशोकसे भी बढ़कर घोर पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे फिर कभी ऐसी भूल न हो।

३—जिसका समय व्यर्थ व्यय होता है, उसने समयका मूल्य समझा ही नहीं।

४—मनुष्यको कभी निकम्मा नहीं रहना चाहिये; अपितु सदा-सर्वदा उत्तम-से-उत्तम कार्य करते रहना चाहिये।

५—मनसे भगवान्‌का चिन्तन, वाणीसे भगवान्‌के नामका जप, सबको नारायण समझकर शरीरसे जगज्जनार्दनकी निःस्वार्थ सेवा—यही उत्तम-से-उत्तम कर्म है।

६—बोलनेके समय बहुत विचार कर सत्य, प्रिय, मित और हितके वचन बोलने चाहिये।

७—अपने दोषोंको सुनकर चित्तमें प्रसन्नता होनी चाहिये।

८—यदि कोई हमारा दोष सिद्ध करे तो उसके लिये जहाँतक हो सफाई नहीं देनी चाहिये; क्योंकि सफाई देनेसे दोषोंकी जड़ जमती है तथा दोष बतलानेवालेके चित्तमें भविष्यके लिये रुकावट होती है। इससे हम निर्दोष नहीं हो पाते।

९—यदि हम निर्दोष हैं तो हमें मौन हो जाना चाहिये, इससे हमारी कोई हानि नहीं है। और यदि सदोष हैं तो अपना सुधार करना चाहिये।

१०—दोष बतलानेवालेका गुरुतुल्य आदर करना चाहिये, जिससे भविष्यमें उसे दोष बतलानेमें उत्साह हो।

११—अपने निकट-सम्बन्धीका दोष सहसा नहीं कहना चाहिये। कहनेसे उसको दुःख हो सकता है, जिससे उसका सुधार सम्भव नहीं।

१२—यदि कहीं किन्हींसे काम लेना हो तो उनको अपने पास न बुलाकर उन्हींके पास जाना चाहिये।

१३—सादगीसे रहना चाहिये।

१४—स्वावलम्बी बनना चाहिये।

१५—जीवनको अधिक खर्चीला नहीं बनाना चाहिये, ऋषि-मुनियोंका जीवन खर्चीला नहीं था। अधिक खर्चीला जीवन मनुष्यको रुपयोंका दास बना देता है, जिसके कारण अनेक पाप करने पड़ते हैं।

१६—शरीरनिर्वाहके लिये भी अनासक्त भावसे ही पदार्थोंका उपयोग करना चाहिये।

१७—भोजनके समय स्वादकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये; क्योंकि वह पतनका हेतु है। स्वास्थ्यकी ओर लक्ष्य रखना भी वैराग्यमें कमी ही है।

१८—कल्याणकामी पुरुषको तो वैराग्ययुक्त चित्तसे केवल शरीरनिर्वाहके लिये ही भोजन करना चाहिये।

१९—व्यवहारके समय भजन-ध्यानमें मुख्य वृत्ति और संसारी कामोंमें गौण वृत्ति रखनी चाहिये।

२०—सोते समय भी भगवान्‌का स्मरण विशेषतासे करना चाहिये, जिससे शयनका समय व्यर्थ न जाय।

२१—शयनके समयको साधन बनानेके लिये सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहको भुलाकर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और चरित्रका चिन्तन करते हुए ही सोना चाहिये।

२२—अपने ऊपर भगवान्‌की अहैतुकी दया और प्रेम समझ-समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये।

२३—एकान्तमें मनको सदा यही समझाना चाहिये कि परमात्माके सिवा किसीका भी चिन्तन न करो; क्योंकि व्यर्थ चिन्तनसे बहुत हानि है।

२४–एकान्तके भजनको मूल्यवान् बनानेके लिये उसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

२५–भगवत्प्राप्तिके लिये मनुष्यको पात्र बनना चाहिये । पात्र बननेपर भगवान् स्वयं ही दर्शन दे सकते हैं ।

२६–सुननेवालोंकी इच्छाके बिना वक्ताको सत्सङ्गके रहस्यकी बातें नहीं सुनानी चाहिये ।

२७–जहाँ व्याख्यानदाता बहुत हों, वहाँ जहाँतक हो, व्याख्यान न दे ।

२८–ऊँचे आसन और ऊँचे पदसे सदा ही दूर रहना चाहिये ।

२९–जहाँतक हो, गुरु बननेकी इच्छा कभी न करे ।

३०–किसी सम्बन्धीकी मृत्यु-सूचना मिलनेपर जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ जाना चाहिये; किंतु अपने घरमें किसीके मरनेपर, जहाँतक हो, दूरस्थ कुटुम्बियोंको आनेके लिये सभ्यतापूर्वक मने कर देना चाहिये ।

३१–दहेज और दान देना चाहिये; किंतु जहाँतक हो, लेनेसे बचना चाहिये ।

३२–जहाँतक हो, पञ्च न बनना चाहिये ।

३३–जहाँतक हो, सगाई (वाग्दान)—विवाह आदि सम्बन्ध करानेके कामसे दूर रहना चाहिये ।

३४–ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठना चाहिये। यदि सोते-सोते ही सूर्योदय हो जाय तो दिनभर उपवास और जप करना चाहिये ।

३५–सन्ध्या, गायत्रीजप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना, नमस्कार आदिके अर्थ और भावको समझते हुए ही निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा करना चाहिये ।

३६–भगवत्प्राप्तिके साधनमें पवित्र और एकान्त देशका सेवन, सत्सङ्ग और स्वाध्याय, परमात्माका ध्यान और उसके नामका जप, उपरति और वैराग्य—इनके समान कोई भी सहायक नहीं है ।

३७–द्विजातिमात्रको उचित है कि नित्य सूर्योदय और सूर्यास्तसे पूर्व ही सन्ध्योपासन और गायत्रीजप करे।

३८–भगवान्के नाम-रूपको याद रखते हुए ही सामाजिक, व्यावहारिक, आर्थिक आदि कार्य न्यायपूर्वक निःस्वार्थभावसे करे । क्योंकि अपनी सारी चेष्टा निःस्वार्थभावसे दूसरेके हितके लिये करनेसे ही कल्याण होता है ।

३९–स्नान और नित्यकर्म किये बिना दाँतुन और जलके सिवा कुछ भी मुखमें न ले ।

४०–श्रीभगवान्के भोग लगाकर तथा यथाधिकार बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करे ।

४१–तुलसीदलके सिवा चलते-फिरते या खड़े हुए भी कोई भी चीज कभी न खाय ।

४२–भोजनके आदि और अन्तमें आचमन करे।

४३–एकान्तमें दो आदमी बात करते हों तो उनकी सम्मतिके बिना वहाँ न जाय ।

४४–जीवहिंसाको बचाता हुआ चले ।

४५–घी, शहद, तैल, जल आदि तरल पदार्थ छानकर काममें ले ।

४६–कर्तव्यका पालन न होनेपर तथा अपनेसे बुरा काम बन जानेपर पश्चात्ताप करे; जिससे कि फिर कभी वैसा न हो ।

४७–कर्तव्यकर्मको झंझट मान लेनेपर वह भार रूप हो जाता है, विशेष लाभदायक नहीं होता ।

४८–वही कर्म भगवान्को याद रखते हुए प्रसन्नतापूर्वक मुग्ध होकर किया जाय तो बहुत ऊँचे दर्जेका साधन बन जाता है ।

४९–अकर्मण्यता (कर्तव्यसे जी चुराना) महान् हानिकारक है । पापका प्रायश्चित्त है, किंतु इसका नहीं । अकर्मण्यताका त्याग ही इसका प्रायश्चित्त है।

५०–कर्तव्यपालनरूप परम पुरुषार्थ अर्थात् भगवत्-शरणापन्न होकर प्रयत्न करना ही मुक्तिका मुख्य साधन है।

५१–धनका प्राप्त होना यद्यपि अपने वशकी बात नहीं है, तथापि मनुष्यको शरीर-निर्वाहके लिये कर्तव्य-बुद्धिसे न्याययुक्त परिश्रम करना चाहिये ।

५२–सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर उनको भगवान्‌का मङ्गल-विधान समझकर हर समय परम सन्तुष्ट रहना चाहिये ।

५३–उत्तम कामको शीघ्रातिशीघ्र करनेकी चेष्टा करे; क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है ।

५४–जिससे हिंसा होती हो, ऐसी किसी चीजको व्यवहारमें न लावे ।

५५–रेशम और तूष काममें न ले ।

५६–हिंसायुक्त होनेके कारण शहद, मृगचर्म और कस्तूरी काममें न ले ।

५७–जहाँतक हो, मिलकी बनी चीजें खानेके काममें न ले ।

५८–ईश्वरकी सत्तापर प्रत्यक्षसे बढ़कर विश्वास रक्खे; क्योंकि ईश्वरपर जितना प्रबल विश्वास होगा, साधक उतना ही पापसे बचेगा और उसका साधन तीव्र होगा ।

५९–सदा-सर्वदा ईश्वरपर निर्भर रहना चाहिये । इससे धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता और आत्मबलकी वृद्धि होती है ।

६०–ईश्वर-प्रेम एक बहुत गोपनीय परम रहस्यकी वस्तु है । उससे बढ़कर संसारमें कोई उत्तम वस्तु नहीं ।

६१–ईश्वरके ज्ञानके समान कोई ज्ञान नहीं ।

६२–ईश्वरके प्रभावके समान कोई प्रभाव नहीं ।

६३–ईश्वरके दर्शनके समान कोई दर्शन नहीं ।

६४–महापुरुषोंके आचरणसे बढ़कर कोई अनुकरणीय आचरण नहीं ।

६५–भगवद्भावसे बढ़कर कोई भाव नहीं ।

६६–समतासे बढ़कर कोई न्याय नहीं ।

६७–सत्यके समान कोई तप नहीं ।

६८–परमात्माकी प्राप्तिके समान कोई लाभ नहीं ।

६९–सत्सङ्गके समान कोई मित्र नहीं ।

७०–कुसङ्गके समान कोई शत्रु नहीं ।

७१–दयाके समान कोई धर्म नहीं, हिंसाके समान कोई पाप नहीं, ब्रह्मचर्यके समान कोई व्रत नहीं, ध्यानके समान कोई साधन नहीं, शान्तिके समान कोई सुख नहीं, ऋणके समान कोई दुःख नहीं, ज्ञानके समान कोई पवित्र नहीं, ईश्वरके समान कोई इष्ट नहीं, पापीके समान कोई दुष्ट नहीं—ये एक-एक अपने-अपने स्थानपर अपने-अपने विषयमें सबसे बढ़कर प्रधान हैं ।

७२–कामीके साख नहीं, लोभीके नाक नहीं, क्रोधीके बाप नहीं, अज्ञानीके थाप नहीं, भक्तके शाप नहीं, नास्तिकके जाप नहीं, ज्ञानीके माप नहीं; अर्थात् इन लोगोंपर इन पदार्थोंका असर नहीं पड़ता ।

७३–गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं, गौके समान कोई सेव्य नहीं, गीताके समान कोई शास्त्र नहीं, गायत्रीके समान कोई मन्त्र नहीं एवं गोविन्दके समान कोई देव नहीं ।

७४–गङ्गा-स्नान, गौकी सेवा, भाव और अर्थसहित गीताका अभ्यास, गायत्रीका जप और गोविन्दका ध्यान—इनमेंसे किसी एकका भी निष्काम भाव और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवन करनेसे कल्याण हो सकता है ।

७५–जिसने सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, समता, शान्ति, सन्तोष, तितिक्षा, त्याग आदि शस्त्र धारण कर रक्खे हैं, उसका कोई भी शत्रु किञ्चिन्मात्र भी अनिष्ट नहीं कर सकता ।

७६–आचरणोंके सुधारकी जड़ स्वार्थका त्याग है ।

७७—झूठसे बचनेके लिये जहाँतक हो, भविष्यके निश्चित वचन नहीं कहने चाहिये ।

७८—भगवान्‌की प्राप्तिके सिवा मनमें किसी भी बातकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि कोई भी इच्छा रहेगी तो उसके लिये पुनर्जन्म धारण करना पड़ेगा । इसलिये इच्छा, वासना, कामना, तृष्णा आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

७९—बार-बार मनसे पूछो कि 'बतला, तेरी क्या इच्छा है ।' और मनसे यह उत्तर मिले कि 'कुछ भी इच्छा नहीं है ।' इस प्रकारके अभ्याससे इच्छाका नाश होता है । यह निश्चित बात है ।

८०—महात्माके हृदयमें किसी प्रकारकी भी इच्छा रहती ही नहीं; हमें भी उसी प्रकार बनना चाहिये ।

८१—संसारके किसी भी पदार्थसें प्रीति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि प्रीति होनेसे अन्तकालमें उसका सङ्कल्प हो सकता है । सङ्कल्प होनेपर जन्म लेना पड़ता है ।

८२—सत्ता और आसक्तिको लेकर जो स्फुरणा होती है, उसीका नाम सङ्कल्प है ।

८३—महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि उनके हृदयमें किसी प्रकारका भी किञ्चिन्मात्र सङ्कल्प रहता ही नहीं । प्रारब्धके अनुसार केवल स्फुरणा होती है, जो कि सत्ता और आसक्तिका अभाव होनेके कारण जन्म देनेवाली नहीं है तथा कार्यकी सिद्धि या असिद्धिमें उनके हर्ष-शोकादि कोई भी विकार लेशमात्र भी नहीं होते । यही सङ्कल्प और स्फुरणाका भेद है ।

८४—आसक्तिवाले पुरुषके मनके अनुकूल होनेपर राग और हर्ष तथा प्रतिकूल होनेपर द्वेष और दुःख होता है ।

८५—निन्दा-स्तुति आदि सुनकर जरा भी हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि विकार नहीं होने चाहिये ।

८६—कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि मान और कीर्तिको कलङ्कके समान समझे ।

८७—हर समय संसार और शरीरको कालके मुखमें देखे ।

८८—मरुभूमिमें जल दीखता है, वास्तवमें है नहीं । अतः कोई भी समझदार मनुष्य प्यासा होते हुए भी वहाँ जलके लिये नहीं जाता । इसी प्रकार संसारके विषयोंमें भी सुख प्रतीत होता है, वास्तवमें है नहीं । ऐसा जाननेवाले विरक्त विवेकी पुरुषकी सुखके लिये उनमें प्रवृत्ति नहीं होती ।

८९—जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसार स्वप्नवत् है । इसीलिये वे संसारमें रहकर भी संसारके भोगोंसे लिप्त नहीं होते ।

९०—जीते हुए ही जो शरीरको मुर्देके समान समझता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त है । अर्थात् जैसे प्राणरहित होनेपर शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वहीं जीवन्मुक्त महाविदेही है ।

९१—श्रद्धालु मनुष्यके लिये तो महात्माका प्रभाव माने, जितना ही थोड़ा है; क्योंकि महात्माका प्रभाव अपरिमेय है ।

९२—महापुरुषोंके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति होना—यह तो उनका अलौकिक प्रभाव है । तथा सांसारिक कार्यकी सिद्धि होना——लौकिक प्रभाव है ।

९३—महापुरुषोंकी चेष्टा उनके तथा लोगोंके प्रारब्धसे होती है एवं लोगोंके श्रद्धा-प्रेम तथा ईश्वराज्ञासे होती है ।

९४—सर्वस्व जाय तो भी कभी किसी निमित्तसे कहीं किञ्चिन्मात्र भी पाप न करे, न करवावे और उसमें सहमत ही हो ।

९५—पैसे न्यायसे ही पैदा करे, अन्यायसे कभी नहीं चाहे भूखों ही मरना पड़े ।

९६–ईश्वरकी भक्ति और धर्मको कभी छोड़े ही नहीं, प्राण भले ही चले जायँ ।

९७–धैर्य, क्षमा, मनोनिग्रह, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, सत्यभाषण और क्रोध न करना——ये दस सामान्य धर्मके लक्षण हैं ।

९८–विपत्तिमें भगवान्‌की स्मृति बनी रहे, इसीलिये कुन्तीने भगवान्‌से निरन्तर विपत्तिका वरदान माँगा ।

९९–पाण्डवोंने अपनेसे निम्नश्रेणीके राजा विराटकी नौकरी स्वीकार कर ली, पर धर्मका किञ्चिन्मात्र भी कभी त्याग नहीं किया ।

१००–महाराज युधिष्ठिरने स्वर्गको ठुकरा दिया पर अपने अनुगत कुत्तेका भी त्याग नहीं किया ।

१०१–स्वार्थका त्याग समान-व्यवहारसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये ।

१०२–स्त्रीके लिये पातिव्रत्य-धर्म ही सबसे बढ़कर है। इसलिये भगवान्‌को याद रखते हुए ही पतिकी आज्ञाका पालन विशेषतासे करना चाहिये । तथा पतिके और बड़ोंके चरणोंमें नमस्कार करना और उन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ।

१०३–विधवा स्त्रीके लिये तो विषयभोगोंसे वैराग्य, ईश्वरकी भक्ति, सद्गुण-सदाचारका पालन और निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा ही सर्वोत्तम धर्म है ।

१०४–दूसरोंको दुःख पहुँचानेके समान कोई पाप नहीं है और सुख पहुँचानेके समान कोई धर्म नहीं है। इसलिये हर समय दूसरोंके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ।

१०५–कुटुम्ब, ग्राम, जिला, प्रान्त, देश, द्वीप, पृथ्वी और त्रिलोकीतक उत्तर-उत्तरवालेके हितके लिये पूर्व-पूर्ववालेके हितका त्याग कर देना चाहिये ।

१०६–किसीके भी दुर्गुण-दुराचारका श्रवण, मनन और कथन नहीं करना चाहिये । यदि उसमें किसीका हित हो तो कर सकते हैं । किंतु मन धोखा दे सकता है, अतः खूब सावधानीके साथ विचारपूर्वक करना चाहिये ।

१०७–किसीका उपकार करके उसपर अहसान न करे, न किसीसे कहे और न मनमें अभिमान ही करे; नहीं तो, किया हुआ उपकार क्षीण हो जाता है। ऐसा समझे कि सब कुछ भगवान् ही करवाते हैं, मैं तो निमित्तमात्र हूँ ।

१०८–अनिष्ट करनेवालेके साथ बदलेमें बुराई न करे, उसे क्षमा कर दे; क्योंकि प्रतिहिंसाका भाव रखनेसे मनुष्य दोषका भागी होता है ।

१०९–यदि अनिष्ट करनेवालेको दण्ड देनेसे उसका उपकार होता हो तो ऐसी अवस्थामें उसे दण्ड देनेमें दोष नहीं है ।

११०–अपनेपर किये हुए उपकारको आजीवन कभी न भूले एवं अपना उपकार करनेवालेका बहुत भारी प्रत्युपकार करके भी अपने ऊपर उसका अहसान ही समझे ।

१११–अपनेद्वारा किसीका अनिष्ट हो जाय तो भी सदा उसका हित ही करता रहे, जिससे कि अपने किये हुए अपराधको वह मनसे भूल जाय, यही इसका असली प्रायश्चित्त है ।

११२–मन और इन्द्रियोंको इस प्रकार वशमें रखना चाहिये कि जिससे वे व्यर्थ और पापके काममें न जाकर जहाँ हम लगाना चाहें, उसी कल्याण मार्गपर लगी रहें ।

११३–ब्रह्मचर्यके पालनपर हरेक मनुष्यको विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

११४–कामकी उत्पत्ति संकल्पसे होती है, स्त्री आदिके सङ्गसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है ।

११५–गृहस्थी मनुष्यको महीनेमें एक बारसे अधिक स्त्री-प्रसङ्ग नहीं करना चाहिये । ऋतुकालपर

महीनेमें एक बार स्त्री-प्रसङ्ग करनेवाला गृहस्थी ब्रह्मचारी-के तुल्य है ।

११६–जीते हुए मन-इन्द्रिय मित्रके समान हैं और न जीते हुए विषयासक्त मन-इन्द्रिय शत्रुके समान हैं ।

११७–शरीर और संसारमें जो आसक्ति है, वही सारे अनर्थोंकी मूल है, उसे सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

११८–कोई भी सांसारिक भोग खतरेसे खाली नहीं है, इसलिये उससे दूर रहना चाहिये ।

११९–कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई, ईर्ष्या, आलस्य, प्रमाद, ऐश, आराम, भोग, दुर्गुण और पापको साधनमें महान् विघ्न समझकर इन सबका विषके तुल्य सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

१२०–ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सद्गुण, सदाचार, सेवा और संयमको अमृतके समान समझकर सदा-सर्वदा इनका सेवन करना चाहिये ।

१२१–शौचाचारसे सदाचार बहुत ऊँचा है, उससे भी भगवान्‌की भक्ति और भी ऊँचे दर्जेकी चीज है ।

१२२–भगवान् जाति-पाँति कुछ नहीं देखते, केवल प्रेम ही देखते हैं । अतः मनुष्यको केवल भगवान्‌से ही प्रेम करना चाहिये ।

१२३–ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें विश्वास करनेवाले पुरुषसे कभी पाप नहीं बन सकते । उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, समता और शान्ति आदि गुण अनायास ही आ जाते हैं, जिससे उसके सारे आचरण स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम होने लगते हैं ।

१२४–भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और चरित्रोंको हर समय याद करते हुए मुग्ध रहना चाहिये ।

१२५–भगवान्‌के गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्यकी बातें सुनने, पढ़ने और मनन करनेसे श्रद्धा होती है ।

१२६–एकान्तमें भगवान्‌के आगे स्तुति-प्रार्थना करते हुए रोनेसे भी श्रद्धा बढ़ती है ।

१२७–ऊपर बतलायी हुई बातोंपर विश्वास करके उसके अनुसार अनुष्ठान करनेसे भी श्रद्धा होती है ।

१२८–श्रद्धा होनेपर श्रद्धेय पुरुषकी छोटी-से-छोटी क्रियामें भी बहुत ही विलक्षण भाव प्रतीत होने लगता है ।

१२९–माता, पिता, पति, स्वामी, ज्ञानी, महात्मा और गुरुजनोंकी श्रद्धापूर्वक निःस्वार्थ सेवासे आत्माका शीघ्र कल्याण हो सकता है ।

१३०–निष्कामकर्म और भगवान्‌के नामजपसे, धारणा और ध्यानसे एवं सत्सङ्ग और स्वाध्यायसे मल, विक्षेप और आवरणका सर्वथा नाश होकर भगवत्प्राप्ति शीघ्र हो सकती है ।

१३१–शीघ्र कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परमात्मा-की प्राप्तिके सिवा और किसी भी बातकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि इसके सिवा सब इच्छाएँ जन्म-मृत्युरूप संसारसागरमें भ्रमानेवाली हैं ।

१३२–परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अर्थ और भावके सहित शास्त्रोंका अनुशीलन और एकान्तमें बैठकर जप-ध्यान तथा अध्यात्म-विषयका विचार नियम-पूर्वक नित्य ही करना चाहिये ।

१३३–अनिच्छा या परेच्छासे होनेवाली घटनाको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मान लेनेपर काम, क्रोध आदि शत्रु पास नहीं आ सकते, जैसे सूर्यके सम्मुख अन्धकार नहीं आ सकता ।

१३४–जीव, ब्रह्म और मायाके तत्त्वको समझनेके लिये एकान्तमें बैठकर विवेक और वैराग्ययुक्त चित्तसे नित्यप्रति परमात्माका चिन्तन करते हुए अध्यात्म-विषयका विचार करना चाहिये ।

१३५–जिसने ईश्वरकी दया और प्रेमके तत्त्व-रहस्यको जान लिया है, उसके शान्ति और आनन्दकी सीमा नहीं रहती ।

१३६–जो अपने-आपको ईश्वरके अर्पण कर चुका है और ईश्वरपर ही निर्भर है, उसकी सदा-सर्वदा सब प्रकारसे ईश्वर रक्षा करता है, इससे वह सदाके लिये निर्भयपदको प्राप्त हो जाता है।

१३७–प्रेमपूर्वक जपसहित भगवान्के ध्यानका अभ्यास, श्रद्धापूर्वक सत्पुरुषोंका सङ्ग, विवेकपूर्वक भावसहित सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय; दुखी, अनाथ, पूज्यजन तथा वृद्धोंकी निःस्वार्थभावसे सेवा——इनको यदि कर्तव्यबुद्धिसे किया जाय तो ये एक-एक साधन शीघ्र कल्याण करनेवाले हैं।

१३८–भगवान् बहुत बड़े दयालु और प्रेमी हैं। जो मनुष्य इसका तत्त्व समझ जायगा, वह भगवान्के शरण होकर शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जायगा।

१३९–सर्वत्र भगवद्भावके समान कोई भाव नहीं है और सर्वत्र भगवद्भाव होनेसे दुर्गुण और दुराचारोंका अत्यन्त अभाव होकर सद्गुण और सदाचार अपने-आप ही आ प्राप्त होते हैं।

१४०–वस्तुमात्रको भगवान्का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्की लीला समझनेसे भगवान्का तत्त्व समझमें आ जाता है।

वैराग्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

तपसामपि सर्वेषां वैराग्यं परमं तपः।

यज्ञ, दान, जप, योग, तीर्थ, व्रत, स्वाध्याय आदि पुण्यकर्मरूप सभी प्रकारकी तपस्याओंमें वैराग्य परम तप है; क्योंकि अन्यान्य धार्मिक कार्य (तप) सकामभावसे करनेपर उनके द्वारा स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और निष्कामभावसे करनेपर ही वे परमात्माकी प्राप्तिके प्रापक बनते हैं, परंतु वैराग्य तो निष्कामभावसे ही होता है। सकामभाव और वैराग्य—दोनों एक जगह रह ही कैसे सकते हैं। अतः पारमार्थिक साधकके लिये एक वैराग्य ही बहुत आवश्यक और परम उपयोगी है। जबतक वैराग्य नहीं, तबतक चाहे जितनी डींगें मारें, उनसे कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। दूसरी ओर, यदि हमें बातें करना नहीं आता, ज्ञानयोग तथा हठयोगकी युक्तियाँ भी हम नहीं जानते, तो भी केवल वैराग्य होनेपर ध्यान आदि साधन सरलतासे स्वयमेव होने लगते हैं, ध्यान आदिकी बिना सीखी हुई युक्तियाँ स्वतः स्फुरित होने लगती हैं। जबतक संसारके पदार्थोंमें राग है और प्रभुमें प्रेम नहीं, तबतक चाहे कितनी ही बढ़ा-चढ़ाकर बातें क्यों न बनायी जायँ, पर साधन नहीं बनता। वैराग्य इसीका नाम है कि पदार्थोंमें आन्तरिक राग न रहे। बाहरी स्वाँगका नाम वैराग्य नहीं है। वैराग्य भीतरी त्यागके भावका वाचक है।

वैराग्य कई हेतुओंसे होता है—दुःखसे, भयसे, विचारसे, साधनसे और परमात्मतत्त्वके बोधसे। इन सबमें पूर्व-पूर्व वैराग्यकी अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है।

दुःखसे होनेवाला वैराग्य—घर, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार आदिकी अनुकूलता न होनेपर तथा प्रतिकूलता प्राप्त होनेपर जो मनमें संसारके त्यागकी उकताहटसे भरी भावना होती है, उसे दुःखसे होनेवाला वैराग्य कहते हैं। यह दुःखसे होनेवाला वैराग्य असली नहीं होता। हमें आराम नहीं मिला, दुत्कार मिली, तिरस्कार मिला या मनमानी चीज नहीं मिली तो मनमें भाव आया कि छोड़ो संसारको, यह दुःखसे होनेवाला वैराग्य है। इस प्रकारका वैराग्य तो सभीको है। कुत्ता भी तनी हुई लाठी देखकर भागता है, दुःखोंसे होनेवाला वैराग्य भी इसी तरहका होता है। अतः वह यथार्थ वैराग्य नहीं। इसमें जो उकताहट है और अनुकूलताका अनुसन्धान है, वह वैराग्य नहीं। उसमें तो राग ही कारण है, क्योंकि दुःखके कारण हटनेपर अर्थात् अनुकूलता प्राप्त हो जानेपर वह त्यागका भाव रहना कठिन है। यदि प्रतिकूलता न रहे, सब कुटुम्बीजन मनोनुकूल सेवा करने लगें तो फिर वैराग्य भूल जाता है। उसमें केवल जो पदार्थोंको दुःखका कारण समझनेका भाव है, वही वैराग्यका अंश है। इस प्रकार दुःखके कारण होनेवाला वैराग्य यथार्थ वैराग्य नहीं है। किंतु उस समय यदि सङ्ग

अच्छा मिल जाय तो वही वैराग्य खूब बढ़कर आत्मोद्धारमें कारण बन सकता है । इसलिये उसे भी वैराग्य कह सकते हैं ।

भयसे होनेवाला वैराग्य—दुःखसे होनेवाले वैराग्यकी अपेक्षा भयसे होनेवाला वैराग्य श्रेष्ठ है । स्वास्थ्यका भय, राज्यका भय, समाजका भय, मान-प्रतिष्ठाका भय, जन्म-मरणका भय और नरकोंका भय—इन अनेक प्रकारके भयोंसे होनेवाले वैराग्यको 'भयसे होनेवाला वैराग्य' कहते हैं ।

भोगोंके भोगनेसे शरीर शिथिल होता है, रोग बढ़ते हैं, शक्तिका ह्रास होता है, कार्य करनेका साहस नहीं होता—आदि-आदि क्लेशोंके भयसे जो हरेक चीजोंके खाने-पीने और स्त्रीसङ्ग आदि भोगोंसे मनका हटना है, एवं इसी प्रकार रोगादिके हो जानेपर उनकी वृद्धि न हो जाय, अतः उनमें कुपथ्यरूप भोगोंसे जो मनका हटना है, यह 'स्वास्थ्यनाशके भयके कारण होनेवाला वैराग्य' है ।

जुर्माना, कारागार, फाँसी आदिके भयसे चोरी, व्यभिचार, डकैती, हिंसा आदि अत्याचार-अनाचारसे प्राप्त होनेवाले भोगोंसे जो मनका हट जाना है, वह 'राज्यभयसे होनेवाला वैराग्य' है ।

जाति-बहिष्कार, आर्थिक व्यय, लड़के-लड़कीके विवाहमें कठिनता, समाजमें बदनामी आदिके भयसे जो जातिके नियमोंको भङ्ग करके भोगोंके भोगनेकी इच्छाका त्याग करना है, यह 'समाज-भयसे होनेवाला वैराग्य' है ।

वेश्यागमन, मदिरापान, हिंसा आदिसे कुलपरम्परागत मानका नाश होगा तथा लोग हमें नीची दृष्टिसे देखेंगे—ऐसे विचारसे लौकिक मर्यादाको छोड़कर भोगोपभोगके त्यागका जो भाव है, यह 'मान-प्रतिष्ठाके भयसे होनेवाला वैराग्य' है ।

जन्म-मरणका प्रधान कारण है—पदार्थ, क्रिया, भाव, और व्यक्ति आदिमें आसक्ति रहना । अतः इन पदार्थोंका चिन्तन होगा तो मरनेके समय भी इन्हींका स्मरण होगा और अन्तकालीन स्मरणके अनुसार ही आगे जन्म होगा, इस भयसे पदार्थ, क्रिया आदिमें जो रागका न रहना है, यह 'जन्म-मरणके भयसे होनेवाला वैराग्य' है ।

काम, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियोंके वश होकर शास्त्रके विपरीत पदार्थोंका अन्यायपूर्वक सेवन करनेसे वैतरणी, असिपत्रवन, लालाभक्ष्य, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्ति होगी, वहाँ अनेक भयानक कष्ट भोगने पड़ेंगे; यहाँका विषय-सुख तो क्षणिक होगा परंतु इसके परिणाममें प्राप्त होनेवाली नारकीय पीड़ा अत्यन्त भयानक और बहुत समयतक रहनेवाली होगी—इस भयसे होनेवाले वैराग्यको 'नरकोंके भयसे होनेवाला वैराग्य' कहते हैं ।

इस प्रकार भयसे होनेवाले वैराग्यके कई रूप हैं । इनमें नरकोंके भयसे होनेवाला वैराग्य, अन्य भयोंसे होनेवाले वैराग्यकी अपेक्षा स्थायी और श्रेष्ठ है । पर यह भी असली वैराग्य नहीं है । इसमें भी पदार्थोंसे सूक्ष्म राग नहीं छूटा है । भयके कारण पदार्थोंसे हटते हैं—यह भयसे होनेवाला वैराग्य है; भय न रहे तो इस वैराग्यका रहना भी कठिन है ।

विचारसे होनेवाला वैराग्य—भयसे होनेवालेकी अपेक्षा विचारसे, विवेकसे होनेवाला वैराग्य ऊँचा है । विचारका अर्थ है—सत्-असत्, सार-असार, हेय-उपादेय और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका विचार । इस विचारसे जो असत्, असार, हेय और अकर्तव्यका मनसे परित्याग है अर्थात् इनमें मनके रागका जो अभाव हो जाना है, उसको विचारसे होनेवाला वैराग्य कहते हैं । विषय-सेवन करनेसे परिणाममें विषयोंमें राग—आसक्ति बढ़ती है, जो कि सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है और उनमें वास्तवमें सुख है भी नहीं । केवल आरम्भमें सुख प्रतीत होता है । गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

(५ । २२; १८ । ३८)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ।'

विषयोंमें सुख होता तो बड़े-बड़े धनी, भोगी और पदाधिकारी भी सुखी होते । पर विचारपूर्वक देखनेपर पता चलता है कि वे भी दुखी ही हैं । पदार्थोंमें शान्ति

है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं। विचारशील व्यक्तिको तो पद-पदपर अनुभव भी होता है कि इनमें सुख नहीं है।

चाख चाख रस छाड़िया माया-रस खारा हो।
नाम-सुधारस पीजिये छिन बारंबारा हो॥

जहाँ-जहाँ गये, भोगोंसे धीरज नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग उत्पन्न हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चात्ताप हुआ, बेइज्जती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी एवं दुःख-शोक-उद्वेग आये—ये परिणाम प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं। इससे मालूम होता है विषयोंमें सुख नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नमें जल पीते हैं, पर प्यास नहीं मिटती, उसी प्रकार पदार्थोंसे न तो शान्ति मिलती है और न जलन ही मिटती है। मनुष्य सोचता है कि इतना धन हो जाय, इतना ऐश्वर्य हो जाय तो शान्ति मिलेगी किंतु उतना हो जानेपर भी शान्ति नहीं होती, उल्टे, पदार्थोंके बढ़नेसे उनकी लालसा और बढ़ जाती है 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।' धन-परिवार होनेपर उनके और बढ़नेकी लालसा होती है। राज्य होनेपर राज्य और बढ़ जाय, यह लालसा होती है। इस प्रकार 'और हो जाय', 'और हो जाय'—यह क्रम चलता ही रहता है। किंतु संसारमें जितना धन-धान्य है, जितनी स्त्रियाँ हैं, जितनी सामग्रियाँ हैं, वे सब-की-सब एक साथ किसी एक व्यक्तिको मिल जायँ, तब भी उनसे उसे तृप्ति कभी नहीं हो सकती। शास्त्रमें कहा है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

इसका कारण यह है कि जीव परमात्माका अंश तथा चेतन है और पदार्थ प्राकृत तथा जड हैं। चेतनकी भूख जड पदार्थोंके द्वारा कैसे मिट सकती है? भूख है पेटमें और हलवा बाँधा जाय पीठपर, तो भूख कैसे मिट सकती है? प्यास लगनेपर गरमागरम बढ़िया-से-बढ़िया हलवा खानेसे भी प्यास नहीं मिट सकती। भूखे व्यक्तिकी भूख ठंडा जल पीनेसे कैसे निवृत्त हो सकती है। इसी प्रकार जीवको प्यास तो है परमात्माकी किंतु वह उस प्यासको मिटाना चाहता है जड पदार्थोंके द्वारा! इसमें मुख्य कारण है—अविवेक। उसकी वह प्यास जड पदार्थोंसे कैसे मिटेगी? उसकी प्यास तो परमात्माके मिलनेपर ही शान्त होगी। पदार्थ जीवका अविवेक मिटानेमें सर्वथा असमर्थ हैं, अतः वे शान्ति प्रदान नहीं कर सकते। उल्टी राह चलनेसे गन्तव्य स्थानपर कैसे पहुँचेंगे। चाहे ब्रह्माजीकी आयु भी समाप्त हो जाय पर ऐश्वर्यके संग्रह और भोगोंसे जीवकी भूख कभी भी नहीं मिट सकती, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी जब कामनाका अत्यन्त अभाव होगा।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

'जो भी संसारमें इष्ट पदार्थोंके मिलनेसे सुख होता है तथा जो स्वर्गीय महान् सुख है, वे सब सुख मिलकर भी तृष्णानाशके सुखके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हो सकते।'

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः॥

'एकान्तशील वीतराग मुनिको जो सुख है, वह सुख न तो इन्द्रको है न चक्रवर्ती सम्राट्को ही।' संतोंने क्या ही सुन्दर कहा है—

ना सुख काजी पंडिताँ ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजाँ ही आवसी तृष्णा रोग गयाँ॥

'तृष्णारूपी रोगके चले जानेपर सुख सहज ही आ जायगा।' जबतक पदार्थोंकी लोलुपता है, दासता है, तबतक सुख कहाँ? दासता, लोलुपता, दीनता मिटनेपर ही सुख होगा।

चाह गयी चिंता गयी मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये सो ही शाहन्शाह॥

जबतक चाह है, तबतक चिन्ता नहीं मिटती और जबतक चिन्ता नहीं मिटती, तबतक सुख नहीं हो सकता।

पिंगला नामकी एक वेश्या थी। वह बड़ी प्रसिद्ध थी। वह देखती कि कोई धनी-मानी आयगा, उसे कुछ देगा। पर एक दिन कोई नहीं आया, इससे वह बड़ी उद्विग्न थी। इतनेमें ही उसने देखा कि उधरसे दत्तात्रेयजी अपनी मस्तीमें झूमते हुए चले आ रहे हैं। उनको देखकर वह विचारने लगी कि 'इस जनक राजाकी विदेहनगरीमें मैं ही एक ऐसी मूर्खा हूँ, जो दूसरे पुरुषोंसे सुख चाहती हूँ, तृप्ति चाहती हूँ। वे मुझे क्या सुख देंगे, मेरी क्या तृप्ति करेंगे? यदि उनके पास सुख होता और वे मुझे सुख दे सकते तो मेरे पास उसे लेने क्यों आते? जो स्वयं अपनी प्यास नहीं बुझा सकता, वह दूसरेकी क्या बुझावेगा? जो टुकड़ेके पीछे कुत्तेकी तरह

सुखके लिये दर-दर भटकता है, वह क्या सुख देगा ?' दत्तात्रेयजीकी मस्ती देखकर उसके मनमें ऐसे विचार आये और उसे वैराग्य हो गया। उसने सोचा—'अबतक मैंने बड़ी भूल की, अब मैं अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करूँगी।' उसके विषयमें श्रीशुकदेवजीने कहा है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥
(श्रीमद्भा० ११ । ९ । ४४)

'आशा ही सबसे बड़ा दुःख और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है। पिङ्गला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी तभी वह सुखसे सो सकी।'

सचमुच आशा ही दुःखोंकी जड़, पापोंकी भी जड़ है। गीतामें अर्जुनने भी भगवान्से प्रश्न किया है कि 'मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, फिर भी बलात्कारसे किसकी प्रेरणासे पाप करता है ?' इसपर भगवान्ने उत्तरमें कामनाको ही पापका कारण बतलाया। जितने व्यक्ति जेलमें पड़े हैं, जितने नरकोंकी भीषण यातना सह रहे हैं और जिनके चित्तमें शोक-उद्वेग हो रहे हैं तथा जो न चाहते हुए पापाचारमें प्रवृत्त होते हैं, उन सबमें कारण भीतरकी कामना ही है। संसारमें जितने भी दुखी हैं, उन सबका कारण एक कामना ही है। कामना प्रत्येक अवस्थामें दुःखका अनुभव कराती रहती है। पुत्रके न होनेपर पुत्र होनेकी लालसाका दुःख, जन्मनेपर उसके पालन-पोषण, विद्याध्ययन और विवाहादिका दुःख और मरनेपर अभावका दुःख होता है। कामनाके रहनेपर तो हरेक हालतमें दुःख ही होगा। अतएव जिस प्रकार आशा ही परम दुःख है, इसी प्रकार निराशा ही परम सुख है। स्त्री, पुत्र, परिवार—सब आज्ञाकारी मिल जायँ, तब भी सुख नहीं होगा। सुख तो इनकी कामनाके परित्यागसे ही होगा। पिङ्गला अपनी सारी धन-सम्पत्तिको लुटाकर वैराग्यके नशेमें निकल जाती है और निश्चय करती है कि मैं परमात्माका ही भजन-ध्यान करूँगी और परम सुखी हो जाऊँगी।

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥
तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥
संतुष्टा श्रद्दधत्येतद् यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥
(श्रीमद्भा० ११ । ८ । ३८-४०)

(अवश्य मुझपर आज भगवान् प्रसन्न हुए हैं) अन्यथा मुझ अभागिनीको ऐसे क्लेश ही नहीं उठाने पड़ते, जिनसे 'वैराग्य' होता है। मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही सब बन्धनोंको काटकर शान्ति लाभ करता है। अब मैं भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन परमेश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ। अब मुझे प्रारब्धानुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और सन्तोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी। मैं अब किसी दूसरेकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी।'

सुख यदि पदार्थोंमें होता तो राजा-महाराजा राज्यका, पदार्थोंका त्याग क्यों करते ? राजा भर्तृहरिने कहा है—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलने क्षमः॥

'अकेला, स्पृहारहित, शान्तचित्त, करपात्री और दिगम्बर होकर हे शम्भो ! मैं कब अपने कर्मोंको निर्मूल करनेमें समर्थ होऊँगा।'

भर्तृहरि सब कर्मोंकी निर्मूल अवस्था केवल चाहते ही नहीं, वे उसे प्राप्त करके ही रहे। उनकी व्याकरण-कारिकाएँ आती हैं, उनका बड़ा सुन्दर साहित्य मिलता है। ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् थे। प्रत्येक कामको उन्होंने बड़ी तल्लीनतासे किया। जब राज्यकार्य हाथमें लिया, तब उसे बड़ी तत्परतासे और लगनसे सँभालते रहे। रात्रिमें स्वयं वेष बदलकर घूमते और निरीक्षण करते कि मेरी प्रजाको कोई कष्ट तो नहीं है। इस प्रकार प्रजाका पालन भी किया। सारे काम किये, पर किसी जगह भी टिके नहीं, रुके नहीं। पर जब वैराग्य ले लिया, तब फिर उसे छोड़कर कहीं गये नहीं। ठीक ही है—रहने योग्य, ठहरने योग्य एक निर्भय स्थान तो वैराग्य ही है, अन्य तो सभी भयप्रद हैं। भर्तृहरिजी कहते हैं—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

'भोगोंमें रोगादिका, कुलमें गिरनेका, धनमें राजाका, मानमें दैन्यका, बलमें शत्रुका, रूपमें बुढ़ापेका, शास्त्रमें विवादका, गुणमें दुर्जनका और शरीरमें मृत्युका भय सदा बना रहता है। इस पृथ्वीमें मनुष्योंके लिये सभी वस्तुएँ भयसे युक्त हैं। एक वैराग्य ही ऐसा है जो सर्वथा भयरहित है।'

राजा भर्तृहरिको अपनी पहली अवस्थामें किये हुए कार्योंपर तो पश्चात्ताप ही हुआ, अन्तमें सन्तोष तो वैराग्यसे ही हुआ । वे कहते हैं—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगोंने ही हमें भोग लिया, हमें समाप्त कर दिया । अच्छे कुलमें जन्म होनेपर भी उससे गिरनेका भय रहता है । धनवान्‌को अपने पुत्रसे भी भय लगता है, फिर राजासे भय हो, इसमें तो कहना ही क्या है ! मानमें दीनताका भय बना रहता है तो बलमें रिपुका भय उत्पन्न हो जाता है । बुढ़ापेका भय तो प्रसिद्ध ही है । उस अवस्थामें मनुष्य तीन पगोंसे चलता है—

लकरि पकरि सुखरी करमें पग पंथ परे न भरे डगरी ।
नगरी तनरी सुपुरानि परी अब कूटत है भगरी बगरी ॥
न घरी भर बैठ भज्यो सु हरी कथ कूर करी जगरी सगरी ।
अब री विरधापन बात बुरी सु अरी सम लागत है सुत री ॥

एक संत कहते हैं—

जरा कुती जोबन ससो काल अहेरी लार ।
पाव पलकमें मारसी गरब्यो कहा गँवार ॥

जरा आनेपर वह बल, वह उत्साह, वह साहस कहाँ गया !

शास्त्रमें वाद-विवादका बड़ा भय रहता है । अन्य व्यक्तियोंकी अपेक्षा पण्डितोंको तो ताप भी अधिक होता है । गँवारके केवल आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—ये तीन ताप होते हैं, पर पढ़े-लिखे विद्वान्‌के सात ताप होते हैं—(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक, (३) आध्यात्मिक, (४) अभ्यास (शास्त्रका अभ्यास), (५) भङ्ग (अपमानका भय), (६) विस्मार (भूल न जाऊँ—इसकी चिन्ता) और (७) गर्व (विद्वत्ताका अभिमान) ।

गुणे खलभयम्—जहाँ परीक्षक नहीं, गुणी नहीं, गुणग्राही नहीं, वहाँ मूर्खोंमें हमारा मूल्य ही क्या ? एक गवैये थे । वे बड़ी सुन्दर सितार लेकर राजाके पास गये । पर राजा मूर्ख था, वह संगीतको क्या समझता ! इसपर किसी कविने कहा—

रे गायक ये गायसुत तू जानत परवीन ।
ये गाहक कड़बीनके तैं लीन्ही कर बीन ॥

गुण कितने ही हों, पर गुणग्राहक नहीं तो उन्हें कौन लेगा ? भर्तृहरि कहते हैं—'हमारे पास बहुत विद्या थी, पर किसीने नहीं ली'—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥

इसी प्रकार एक कविने कहा है—

कौन सुनै कासों कहूँ सुनै तो समुझै नाहिं ।
कहना सुनना समझना मन ही का मन माहिं ॥

काये कृतान्ताद्भयम्—शरीरके पीछे तो यमराज सदा ताकमें खड़े ही रहते हैं कि कब कलेवा करें—

इस श्वासको मूढ़ विश्वास कहा पल आवत ही रह जावत है ।
सब पीर पैगम्बर खाक मिले तेरो का अनुमान फुलावत है ॥

बड़े-बड़े राजा-महाराजा हो गये । अब उनके महलोंके टूटे-फूटे खँडहर पड़े हैं । उनको देखनेसे मनमें वैराग्य होता है, जो सर्वथा अभयप्रद है । जिसके हृदयमें वैराग्य है, उसे शरीर जानेका भी भय नहीं । शरीर कल जाता हो तो आज चला जाय । क्योंकि—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

'विषय-पदार्थ चाहे दीर्घ कालतक रहें पर एक दिन अवश्य वे जानेवाले हैं । चाहे हम उनका त्याग करें अथवा वे हमें त्याग दें । उनका विछोह अवश्य होगा । पर संसारी मानव स्वयं उनका त्याग नहीं करते । जब विषय-पदार्थ स्वतन्त्रतासे हमारा त्याग करते हैं, तब हमारे मनको बड़ा सन्ताप होता है; परंतु यदि हम स्वयं उनका त्याग कर दें तो हमें अनन्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है ।'

मनसे छोड़ देनेपर ये ही पदार्थ सुख देनेवाले हो जायँगे । दस रुपये चोरी चले गये तो दुःख होता है, पर अपनी इच्छासे दान दे दिया तो सुख होता है ।

'कहा परदेशीकी प्रीति जावतो बार न लावे ।'

—जानेवाला हो, उसे एक धक्का अपनी तरफसे दे दे तो मौज हो जाय !

एक जाट-दम्पति थे । पति-पत्नी—दोनोंमें खटपट चला करती । जाटनी बार-बार कहा करती कि 'मैं अब तुम्हारे घर नहीं रहूँगी, चली जाऊँगी ।' जाटने सोचा—'नित्य लड़ाई

करती है, अन्तमें यह जायगी ही, इज्जत भी लेती जायगी; इससे तो इसे पहले ही त्याग देना अच्छा है।' एक दिन जब रातमें स्त्रीने स्पष्ट कह दिया कि 'कल सबेरे मैं चली ही जाऊँगी।' तब जाटने रातमें अपने कोठेपर खड़े होकर जोरसे घोषणा कर दी कि 'अब मुझे कोई उलाहना न देना, मैंने आजसे ही अपनी पत्नीका परित्याग कर दिया है। स्त्री चली नहीं गयी, उसे मैंने निकाल दिया है।' ऐसे ही संसारके समस्त पदार्थ जाटनीकी तरह हैं, अतः इन्हें पहलेसे ही त्याग दे। पदार्थोंको स्वयं त्याग देनेपर ये परम शान्ति देनेवाले हो जाते हैं—

> अंतहु तोहि तजेंगे पामर तू न तजे अबहीं ते।

ऐसा विचार करके भर्तृहरि कहते हैं—

> **अजानन् दाहार्त्तिं पतति शलभस्तीव्रदहने**
> **न मीनोऽपि ज्ञात्वा बडिशयुतमश्नाति पिशितम्।**
> **विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्**
> **न मुञ्चामः कामानहह! गहनो मोहमहिमा॥**

'पतिंगा इस बातको नहीं जानता कि जलनेपर कैसी पीड़ा होती है, इसीलिये वह प्रचण्ड अग्निमें कूद पड़ता है। मछलीको भी वंसीमें लगा हुआ मांसका टुकड़ा खाते समय पता नहीं रहता कि उसके भीतर लोहेका काँटा है। परंतु हम तो यह जानते हुए भी कि विषय-भोग विपत्तिके जालमें फँसानेवाले हैं, उन्हें छोड़ नहीं पाते। अहो! हमारा कितना बड़ा और घना अज्ञान है।'

कई बार पदार्थोंको देखा, अनेक बार भोग भोगकर देखे, फिर भी उनके पीछे पड़े हैं। पतिंगे आदि जानवर तो विषयसङ्गसे एक बार ही मरे, पर हमलोग तो भोग भोगकर बार-बार ही मर रहे हैं, पर फिर भी चेत नहीं हो रहा है। बार-बार ठोकर लगनेपर भी सँभलनेका नाम नहीं लेते। आखिर कब अक्ल आयगी? बूढ़े हो गये, जीवनका अमूल्य समय चला गया, फिर भी विषयोंकी ओर लोलुपतासे देख रहे हैं! पौत्रका, परपौत्रका मुँह देखना चाहते हैं। अरे, धनसे सुख मिलता दीखे तो धनीसे पूछो, स्त्रियोंमें सुखका भ्रम हो तो जिसके दो-तीन स्त्रियाँ हों उससे पूछो, सामग्रीमें सुख दीखे तो अधिक सामग्रीवालोंसे मिलो। राज्यमें सुख दीखे तो राजाओंसे मिलकर बात कर लो। सुख तो कहीं नहीं मिलेगा, क्योंकि सुख तो केवल चाहके त्यागमें—वैराग्यमें ही है। कहा है—

> **चाह चूहड़ी रामदास सब नीचोंमें नीच।**
> **तू तो केवल ब्रह्म था चाह न होती बीच॥**
> आदि अविद्या अटपटी घट घट बीच अड़ी।
> **कहो कैसे समझाइये कूएँ भाँग पड़ी॥**

बातें बड़ी-बड़ी बनाते हैं, पर पदार्थोंको, भोगोंको देखकर जीभ लपलपाने लगती है। गीध बड़ा ऊँचा उड़ता है पर उसकी दृष्टि नीचे सड़े मांसपर रहती है! यह तो राग है! जो वैराग्यवान् होता है, उसकी दृष्टि ही निराली हो जाती है। वैराग्यवान् जिधरसे निकल जाता है, उधर ही बड़ी मस्ती लहराने लगती है। वैराग्यवान् पुरुषकी सुखमयी स्थितिका वर्णन करते हुए भर्तृहरिजी कहते हैं—

> **मही रम्या शय्या मसृणमुपधानं भुजलता**
> **वितानश्चाकाशो व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।**
> **स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः**
> **सुखी शान्तः शेते विगतभवभीतिर्नृप इव॥**

'विरतिरूपी कान्ताके प्रसङ्गसे प्रमुदित होकर पृथ्वीकी रमणीय शय्या, अपनी भुजलताका सुन्दर तकिया, आकाशरूपी चँदोवा, पवनरूप अनुकूल पंखा, चन्द्रमारूप सुन्दर दीपक आदि विविध सामग्रियोंसे युक्त भवभयसे विमुक्त पुरुष शान्तचित्त होकर राजाकी भाँति सुखसे सोता है।'

वैराग्यवान् पुरुष शहरकी गंदी गलियोंमें विष्ठाके कीड़ोंकी तरह क्यों घूमेगा? एक साधु कहा करते थे कि 'मैं अपने मनको समझाता हूँ कि तू भोजन-वस्त्रादिकी कोई चाहना मत कर, नहीं तो तुझे शहरकी गंदी गलियाँ सूँघनी पड़ेंगी और बार-बार जन्मना-मरना पड़ेगा।' श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—

> **पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।**

मनुष्य विषयोंकी गंदगीका तनिक-सा विचार कर ले तो उसे उल्टी होने लग जाय।

> गंदगीको कीड़ो मूढ़ मानत अनन्दगी।
> मायाको मजूर बंदो कहा जाने बन्दगी॥

विषय-लोलुप जीव विषयोंमें रचे-पचे रहकर सुख मानते हैं। ऐसे व्यक्तियोंमें और कीड़ोंमें क्या अन्तर है?

> गुरु शोर बबूला आग हवा सब कीचड़ पानी मिट्टी है।
> हम देख चुके इस दुनियाको सब धोखेकी-सी टट्टी है॥

× × × ×

> दूरहि ते पर्बत दिपै वेश्या बदन बिभात।
> रणका वर्णन रम्य त्रय, दूरहि से दरसात॥

पर्वत और वेश्याका मुख दूरसे ही सुन्दर दीखता है तथा दूरसे ही रणका वर्णन रम्य प्रतीत होता है । पर वहाँ पहुँचनेपर अच्छे-अच्छोंके छक्के छूट जाते हैं । हम पदार्थोंमें सुख खोजते हैं, पर पदार्थोंमें सुख कहाँ ? भगवान् तो इस जगत्‌को दुःखालय और अशाश्वत बतलाते हैं । जो सुख हमारे बाप-दादोंको नहीं मिला, वह सुख हमें कैसे मिलेगा । रज्जबजी दूल्हा बने जा रहे थे । रास्तेमें गुरुसे मिलने गये तो गुरुने कहा—

रज्जब ! तैं गज्जब कियो माथे बाँध्यो मौर ।
आयो थो हरिभजनको करी नरक महँ ठौर ॥

रज्जबजीने कहा—'रज्जब गज्जब जब हुतो जातो दुनिया साथ ।' रज्जबजी ऐसे थे, जिन्हें—

दादूसे सतगुरु मिले सिख रज्जबसे जान ।
एक ही शब्द सुलझि गये रही न खैंचातान ॥

एक ही शब्द काम कर गया ! वैराग्यवान् पुरुषोंको देखनेसे ही वैराग्य हो जाता है । वेश्याको दत्तात्रेयजीने कहा कुछ नहीं, उसे उनको देखते ही वैराग्य हो गया ! क्योंकि वराग्यकी मुद्रा ऐसी ही होती है ।

खंडी हंडी हाथमें बंडी-सी कौपीन ।
रंडी दिसि देखे नहीं काया दंडी कीन ॥

वैराग्यकी बातमें भी इतना आनन्द है तो फिर यदि हृदयसे सच्चा वैराग्य हो जाय तब तो आनन्दका कहना ही क्या ! सच्चे वैराग्यवान्‌के सामने कोई बढ़िया वस्त्र पहनकर, इत्रादि लगाकर एवं श्रृङ्गार करके बैठ नहीं सकता । उपर्युक्त प्रकारका वैराग्य विवेक-विचारसे होनेवाला वैराग्य है ।

विचारसे होनेवाले वैराग्यसे श्रेष्ठ—है साधनसे होनेवाला वैराग्य । वाणीसे रामनामका जप प्रारम्भ कर दिया—'राम राम राम राम राम' । शरीर रोमाञ्चित और पुलकित हो रहा है तथा हृदयमें लबालब प्रेम भरा है, भगवान्‌की बात सुनकर ही नाचने लग जाता है । उस हालतमें कभी भूलकर भी पदार्थोंकी ओर मन नहीं जाता, उसे स्वाभाविक ही वैराग्य रहता है । मन तो भगवान्‌की ओर ही प्रतिक्षण बरबस खिंचता रहता है । उसके हृदयमें प्रेमानन्द समाता नहीं । वह तो यही कहता रहता है कि 'गिरधारीलाल चाकर राखो जी' और वह मीराकी तरह प्रेममें मस्त होकर नाचने लगता है ।

पग घुँघुरु बाँध मीरा नाची रे ।

मतवाली मीरा प्रेममें मस्त होकर लगी नाचने । कारण क्या ? भजनका रस मिल गया । सांसारिक दृष्टिसे ज्यादा-से-ज्यादा आकर्षक मान-बड़ाई, यश-कीर्ति है, इनकी तो परवा ही क्या हो, उल्टी बदनामीसे डर न लगकर वह मीठी लगने लगती है । मीरा कहती है—

या बदनामी लागे मीठी । राणाजी म्हाने या बदनामी लागे मीठी ।
थारे शहरको राणा लोक निमाणो बात करे अणदीठी ॥
हरि मंदिरको नेम हमारे दुरजन लोकां म्हाने दीठी ॥ राणाजी० ॥
साँकड़ी सेर्‌यामें म्हारा सतगुरु मिलिया किस बिधि फिरूँ अपूठी ।
थारो साँवरियो राणा घट-घट व्यापक थारे हियाकी कांई फूटी ॥
सासु ननद म्हारी देराणी जेठाणी बल-जलकर हो गई अंगीठी ।
मीराके प्रभु गिरधर नागर चढ़ गयो चोलू मजीठी ॥ राणाजी० ॥

इस प्रकार साधन-भजन करनेपर जो वैराग्य होता है, उससे पदार्थोंसे अपने-आप अनायास राग मिट जाता है । भजनानन्दीको पदार्थोंसे अरुचि करनी नहीं पड़ती । उसका मन तो भगवान्‌में सहज ही संलग्न हो जाता है । हम लोगोंका मन हर जगह जाता है, ठीक है; हर जगह जाता है पर भगवान्‌पर नहीं जाता । और अगर भगवान्‌पर चला जाय तो फिर लौटकर संसारमें आता नहीं । मक्खी सब जगह जाकर बैठती है, पर आगपर नहीं । वह आगपर बैठती ही नहीं, पर यदि आगपर बैठ जाय तो फिर उठती नहीं । इसी प्रकार भगवान्‌में मन लग जानेपर फिर कहीं नहीं जाता, तद्रूप हो जाता है । अतः संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये हमलोगोंको बड़ी तेजीसे भगवान्‌का भजन करना चाहिये—

कहै दास सगराम बड़गड़ै[1] घालो घोड़ा ।
भजन करो भरपूर रया दिन बाकी थोड़ा ॥
थोड़ा दिन बाकी रया कद पहुँचोला ठेट ।
अधबिचमें बासो बसो तो पड़सो किणरे पेट ॥
पड़सो किणरे पेट पड़ैला भारी फोड़ा ।
कहै दास सगराम बड़गड़े घालो घोड़ा ॥

एक भक्तदम्पति थे । पति-पत्नी दोनों ही बड़े भजनानन्दी थे । उनके भजन करनेका तरीका यह था कि वे अपने पासमें कुछ उड़द रख लेते और एक माला फेरनेपर एक उड़द उठाकर रख देते । इस प्रकार सेर-डेढ़ सेर तथा दो-दो तीन-तीन सेरतक उड़द समाप्त हो जाते । पति कहता कि मैं आध सेर भजन करूँगा तो पत्नी कहती, मैं एक सेर करूँगी । परस्पर होड़ लग जाती । हमें भी इसी प्रकार तेजीसे भजन करना

---

[1] बड़गड़ै=तेजीसे ।

चाहिये । भजन करते-करते क्या स्थिति होती है, इसपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

'मेरा नाम-गुण-कीर्तन करते समय जिसका गला भर आता है, हृदय द्रवित हो जाता है, जो बार-बार मेरे प्रेममें आँसू ढालता है, कभी हँसने लगता है, कभी लाज-शर्म छोड़कर उच्च स्वरसे गाने और नाचने लगता है, ऐसा मेरा भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है ।'

इसी प्रकार रामगीतामें भी कहा है—

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम् ।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ॥

'जो मेरे निर्गुण स्वरूपकी मनसे उपासना करता है अथवा कभी-कभी मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुणस्वरूपकी भी सेवा-अर्चा करता है, वह मेरा ही स्वरूप है । वह अपनी चरण-रजके स्पर्शसे सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है ।'

ऐसे भगवान्के प्यारे भक्त भगवान्की स्मृतिमें आनन्दमें मस्त होकर घूमते हैं तो उनके दर्शनसे ही वैराग्य हो जाता है । जिस गलीमें होकर वे निकल जायँ, उधर ही वैराग्यकी गङ्गा बह जाय । सुतीक्ष्ण-जैसे भक्तोंकी स्मृति हो जाय, तो वैराग्य हो जाय । भगवान् भी तरु-ओटसे छिपकर देखते हैं । क्यों, अपने ध्यानमें निमग्न भक्तको देखकर वे भी मस्त हो गये और छिपकर देखने लगे ।

साधन करनेसे अन्तःकरण निर्मल होता है, फिर उससे वैराग्य होता है । इस प्रकारका वैराग्य विचारसे होनेवाले वैराग्यसे भी ऊँचा है । परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर जो वैराग्य होता है, उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता, उसे न तो राग कह सकते हैं न वैराग्य ही । ऐसा विलक्षण वैराग्य परमात्मप्राप्त महापुरुषोंका ही होता है । ब्रह्मलोकतकके कभी कैसे ही कितने ही भोग क्यों न प्राप्त हों, उनके अन्तःकरणमें रागके गन्धकी भी कभी जागृति होनेकी सम्भावना नहीं रहती । क्योंकि जब एक परमात्मतत्त्वके सिवा अन्य सत्ता ही मिट जाती है, तब किसके प्रति राग हो । पदार्थोंमें सत्ता न रहनेके कारण उनको परमात्मतत्त्वके सिवा कहीं रस या सार कुछ भी प्रतीत नहीं होता । उनके अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित संसारका मृगतृष्णाजलकी भाँति तथा नींदसे जगनेपर स्वप्नकी भाँति अत्यन्त अभाव और परमात्मतत्त्वका भान नित्य-निरन्तर दृढ़ताके साथ स्वाभाविक ही बना रहता है । फिर परमात्मतत्त्वके सिवा कुछ रहता ही नहीं ।

उक्त अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त करनेके लिये वैराग्यवान् पुरुषोंका, भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये । उनके शब्दोंसे, उनकी क्रियाओंसे शिक्षा लेकर हमें तेजीसे चलना चाहिये । संसारके पदार्थोंमें कभी किसीको सुख हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं । ऐसा विचारकर भक्तिमार्गीको भगवान्में मन लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा ज्ञानमार्गीको चित्तसे पदार्थोंकी सत्ताको मिटाकर एक सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय निरन्तर रखना चाहिये ।

जय जगजननि !

जय जगजननि अनादिशक्ति अविनाशिनि जनकसुते ।
जय पतिव्रतधुरधरणि रमणिमणि विधिहरिशम्भुनुते ॥
जय अभिराम रामहृदयेश्वरि कोशलराजस्नुषे ।
जय निशिचर-कुल-कमल-विपिन-विध्वंसिनि शीतनिशे ॥
जय जग-संकटहरणि सुमङ्गलकरणि शरण-सुखदे ।
जय गुनखानि रानि भुवनेश्वरि अविरल-भक्तिप्रदे ॥
विजयानन्द सकल सिधिदायिनि वरदायिनि विरजे ।
अह्लादिनि अह्लाद-विवर्धिनि तव पदकमल भजे ॥

—विजयानन्द त्रिपाठी

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४९)

'हैं ! गोवत्स किधर गये ?'—एक चञ्चल शिशुने सबका ध्यान आकर्षित किया। फिर तो हाथके ग्रास हाथमें ही रह गये। सबकी दृष्टि उस ओर केन्द्रित हो गयी, जिधर अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व अदूरवर्ती तृण-श्यामल भूभागपर राशि-राशि गोवत्स स्वच्छन्द विचरण कर रहे थे। पर इस समय वहाँ एक भी न था; सब-के-सब न जाने कहाँ चले गये ! गोपशिशुओंको इस बातका सहसा अनुमान ही न हो सका कि जिस समय पुलिन-भोजनका उद्दाम कौतुक चल रहा था, वे बालक आनन्द-पयस्विनीमें डूबते-उतराते सुध-बुध खोये-से हो चुके थे, उनकी अन्य स्मृतियाँ विलुप्तप्राय हो चुकी थीं, उनके मन-प्राणोंमें केवल अपने प्राण-सखा श्रीकृष्णचन्द्रका, उनके लीलाविहारका अस्तित्वमात्र ही बच रहा था—उसी समय गोवत्सराशि भी क्रमशः आगे बढ़ती जा रही थी; हरित तृणसङ्कुल भूमिका एक-से-एक सुन्दर अंश सामने दीखता था और गोवत्स उससे प्रलोभित हुए उस दिशामें ही अग्रसर हो रहे थे; तथा इस प्रकार धीरे-धीरे ही वे सुदूर वनमें जा पहुँचे थे, इतनी दूर कि अपने पालकवर्गकी दृष्टिसे सर्वथा ओझल हो चुके थे—

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः॥

(श्रीमद्भा० १० । १३ । १२)

अस्तु, कहाँ तो वनस्थली शिशुओंके आनन्द-कोलाहलसे मुखरित हो रही थी, और अब वहीं सहसा एक गम्भीर नीरवता छा गयी। अपने गोवत्सोंको न देखकर एक बार तो सभी बालक अतिशय संत्रस्त हो उठे—

वत्स चरत वन माहि तृन लोभित चलि दूरि गे।
सखन लखा जब नाहि भय तें अति चकित भए॥

किंतु कतिपय वयस्क बालकोंने तुरंत अपनेको सँभाला। उनके ध्यानमें वस्तुस्थिति आने लग गयी और वे बोले—

कृष्ण ! सखे ! सखेदाः स्म। नैकोऽपि दृश्यते वत्सः। मन्ये नवतृणाङ्कुरलालसालसाभावादतिदूरं गतास्तदधुना तदनुसन्धानाय सन्धानायकैर्भवितव्यमस्माभिरिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैया कृष्ण ! देख, हम सभी चिन्तित हो रहे हैं, एक भी गोवत्स नहीं दीख पड़ता। प्रतीत होता है—नवीन तृणाङ्कुरोंकी लालसासे वे सब अभिभूत हो गये हैं। इसीलिये तनिक भी आलस्य न कर—कहीं भी रुके बिना ही वे सब बहुत दूर चले गये हैं। अतएव अब हमलोगोंको भी उनका अनुसंधान पानेके लिये एवं फिर उन्हें हाँककर वनकी सीमापर हम ले आवें, इस उद्देश्यसे उधर ही चलना चाहिये।'

यह बात पूरी भी न हो पायी कि एक छोटेसे गोपशिशुने अपनी विशेषज्ञताकी छाप-सी डालते हुए कहना आरम्भ कर दिया—'ऊँ हूँ, तुम सब कहते क्या हो ? कन्हैया भैयाको छोड़कर आजतक तो एक भी गोवत्स दूर नहीं गया था ? यहाँ तो बात ही दूसरी दीखती है ! उस विशालकाय अजगरको भूल गये क्या ? देखो, कनूँने उसे मार तो दिया, पर हमलोग उसे यों ही छोड़कर चले आये, उसे तो वनकी लकड़ी डालकर जला देना था। नहीं तो, ये सर्प वायु पीकर पुनः जीवित हो उठते हैं। क्या पता, वह पुनः जी उठा हो तो ? उसीने गोवत्सोंको········।'—कहते-कहते शिशुकी वाणी रुद्ध हो गयी।

'कोई अन्य असुर भी तो आ सकता है।'—एक तीसरे दलने भी अपना निर्णय दे डाला। सारांश यह कि गोपबालक भिन्न-भिन्न प्रकारसे सङ्कल्प-विकल्प करते

हुए अपनी बात सामने रखने लगे। पर सभी सहमत हैं कि चलकर गोवत्सोंको ढूँढ़ा जाय। साथ ही सबके मुखपर भयकी अतिशय स्पष्ट रेखा अङ्कित हो चुकी है। हाँ, केवलमात्र उनके प्राणसखा श्रीकृष्णचन्द्र ही ऐसे हैं, जिनके मुखपर कोई विकृति नहीं। भय-उद्विग्नताका लेशमात्र चिह्न भी नहीं। उनके अरुणिम अधरोंपर इस समय भी वही सुन्दर स्मित है, नेत्र-सरोजोंमें वैसी ही उत्फुल्लता है। अपने सखाओंको भयभीत देखकर वे अपने स्थानपर खड़े अवश्य हो गये हैं। बस, इसके अतिरिक्त और कोई परिवर्तन नहीं है।

किंतु अब श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र भी किञ्चित् चञ्चल होने लगते हैं—किसी भयसे नहीं, अपितु अपने सखाओंको भयभीत देखकर उनका भय हर लेनेके उद्देश्यसे। और फिर गूँज उठता है समस्त जगत्के अभयदाताका वह अमृतस्रावी स्वर भी—

तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम्।
(श्रीमद्भा० १०। १३। १३)

अपने सखाओंके मन, प्राण, इन्द्रियोंको शीतल करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कहने लग जाते हैं—

मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। १३)

'अरे भैयाओ! तुम सब भोजन करना मत छोड़ो। देखो, गोवत्सोंको तो मैं अकेला ही ढूँढ़कर यहाँ ले आता हूँ।'

अहो मित्र, तुम भोजन करौ, अपने मन तनकौ जिनि डरौ।
बछरन हम लै ऐहैं अबै, बैठे रहौ लहौ सुख सबै॥

पर कहीं यह बात भी माननेकी हो सकती है? नीलसुन्दर उन्हें छोड़कर चले जायँ और गोपशिशु भोजन करते रहें, यह भी कभी सम्भव है? प्राणोंसे संयुक्त रहनेपर ही तो इन्द्रियोंमें विषयग्रहणकी सामर्थ्य है? प्राणशून्य इन्द्रियोंने कभी किसी रसकी अनुभूति की है क्या?—श्रीकृष्णचन्द्रका यह प्रस्ताव एक स्वरसे अस्वीकृत हो जाता है। भोजनकी बात दूर, कन्हैया भैया एकाकी गोवत्सोंको ढूँढ़ने जाय, यह भी किसे स्वीकार है? श्रीदामने पीताम्बरका छोर पकड़ लिया, सुबलने श्रीकृष्णचन्द्रके दोनों कंधोंपर अपने हाथ रख दिये;—असंख्य सखाओंका प्रतिनिधित्व दोनोंके द्वारा सम्पन्न हो गया। सबके मनोभावकी सूचना इन दोनोंने दे दी। अब परिस्थिति विचित्र-सी है। इधर तो श्रीकृष्णचन्द्र अपने सखाओंके परम सुखमय पुलिन-भोजनमें व्याघात आया देखकर व्यथित हो रहे हैं; चाहते हैं—भोजनका क्रम चलता रहे और वे गोवत्सोंको ढूँढ़ लावें। तथा उधर शिशुओंका प्रेमिल आग्रह है कि वे न जायँ। नीलसुन्दरने उन्हें बहुत समझाया, पर कौन सुनता है। आखिर नन्दनन्दनने अन्तिम युक्तिका आश्रय लिया। वे बोले—'देखो भैयाओ! पता तो है नहीं कि गोवत्स कहाँ किस दिशामें गये? और आगे सघन वन है। मान लो, हमलोग कहीं उन्हें ढूँढ़ने चलें, भिन्न-भिन्न दिशामें उनकी खोज करें और इस प्रयासमें हमलोगोंमेंसे एक भी कोई खो जाय, पथ भूल जाय तो कितना अनर्थ हो जायगा, कितनी कठिनाई होगी? बिना उसे ढूँढ़े तो हमलोग घर जा नहीं सकेंगे? इसीलिये मैं अकेला जाना चाहता हूँ। तुम्हारी दृष्टिसे ओझल थोड़े होऊँगा! बस, वहाँ उस ऊँचे तमालके पास जाकर पुकार लगाऊँगा। तुम सब यहाँ बैठे-बैठे मुझे देखते रहना! प्रतिदिन ही तो तुम देखते हो, मेरे बुलाते ही सभी गोवत्स कूदते हुए मेरे पास आ जाते हैं; मेरे लिये तो उन्हें बुला लेना बड़ा सहज है। बस, आधे क्षणकी तो बात है; मैं जाकर उन्हें ले आऊँ और फिर हम सब आनन्दपूर्वक भोजन करेंगे।'

यह कहते समय श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बविडम्बि-अधरोंपर एक अद्भुत हासकी क्षीण पर अतिशय निर्मल रेखा

सी अङ्कित हो जाती है एवं शिशु इस बार निरुत्तर हो जाते हैं। सरलमति गोपबालक कैसे जानें कि यह उनके कन्हैया भैयाकी स्वाभाविक मुसकान नहीं है, यह तो अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी अग्रिम योजनाको संघटित करनेके लिये व्यक्त हुई अघटघटनापटीयसी योगमायाके अञ्चलकी चमक है। नीलसुन्दरके होठोंके अन्तरालसे वे एक झीनी चादरका आवरण लगा रही हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणसखाओंको मानो आवश्यक वस्त्र धारण कराकर ढँक दे रही हैं; क्योंकि जहाँ गोवत्स गये हैं, वहीं कुछ क्षणोंमें ही शिशुओंको भी जाना जो है; तथा आवृत हुए बिना विश्वमें किसीकी सामर्थ्य नहीं कि इन्हें स्थानान्तरित कर सके; साथ ही स्वेच्छासे ये नीलसुन्दरको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हो जायँ, यह भी सम्भव नहीं। इसीलिये योगमायाका हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। वे आयीं ही और उनके अञ्चलके चाकचिक्यसे शिशु सर्वथा सचैतन्य रहनेपर भी वास्तवमें मुग्ध भी हुए ही। उनके पास कन्हैया भैयाकी उपर्युक्त बातोंके लिये कोई उत्तर नहीं बचा। जो हो, श्रीकृष्णचन्द्रका वह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तथा वे ज्यों-के-त्यों वैसे ही दधिमिश्रित अन्नका ग्रास हाथमें धारण किये हुए गोवत्सोंका अन्वेषण करने चल पड़े!

हरित तृणोंका पुञ्ज लहलह कर रहा है। उनपर चरण रखते हुए श्रीकृष्णचन्द्र उस तमालमूलके समीप जा पहुँचे। खड़े होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, पर किसी ओर भी गोवत्सोंका कोई अनुसन्धान प्राप्त नहीं हुआ। उच्चकण्ठसे वे गोवत्सोंका नाम ले-लेकर पुकारने लगे, फिर भी वनस्थलीकी ओरसे एक भी गोवत्स आज उनकी ओर दौड़कर नहीं आया। वे सोचने लगे—'कदाचित् पार्श्ववर्ती वनके सघन अंशमें वे सब प्रविष्ट हो गये हों, मेरी पुकार उनतक पहुँच न पा रही हो!' इस आशङ्कासे वे तृणक्षेत्रको छोड़कर वनमें प्रवेश कर गये। पर वहाँ वनके प्रत्येक अंशमें जाकर आह्वान करनेपर भी उन्हें कोई सङ्केत न मिला। सघन कुञ्जोंमें, अत्यन्त दुर्गम वनप्रदेशोंमें—सङ्कट-स्थानोंमें भी वे हो आये, पर कहीं एक भी गोवत्सका कोई चिह्न भी न दीखा। कहीं गिरिराजकी हरीतिमासे आकृष्ट होकर वे सब ऊपर न चढ़ गये हों, इस विचारसे श्रीकृष्णचन्द्र पर्वतकी ओर चले। शैलपरिसरका एक-एक सम्भावित स्थल भी देखते गये; और फिर पर्वतपर जा चढ़े। वहाँ ढूँढ़ा, गोवर्द्धनकी गुहाएँ छान डालीं। किंतु वहाँ भी सब प्रयास व्यर्थ हुए। वे उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते न जाने कहाँ-कहाँ हो आये, पर गोवत्स तो नहीं ही मिलते। और जबतक वे मिल नहीं जाते, तबतक नीलसुन्दरको विश्राम भी कहाँ? वे तो मानो उन्हें ढूँढ़ते ही रहेंगे, ढूँढ़ ही रहे हैं। वैसे ही तो उनके कटिदेशमें वेणु सन्धित हैं, कक्षमें शृङ्ग एवं वेत्र दबे हैं, करतल दधिमिश्रित अन्नके ग्राससे परिशोभित है और वे पुनः-पुनः सघन वनमें, कुञ्जोंमें, गह्वरोंमें, शैलभागोंमें, गिरिदरियोंमें गोवत्सोंका अविराम अन्वेषण करते फिर रहे हैं—

इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । १४)

ऐसैं कहि बन गहबर कुंज, तम करि भरी दरी तहँ पुंज।
ढूँढ़त बच्छ बिस्वके नाथ, भोजन कवल लिये ही हाथ॥

कहना कठिन है कि 'सर्वज्ञः सर्ववित्' श्रुतियोंसे निर्दिष्ट होनेवाले अनन्तैश्वर्यनिकेतन परब्रह्म पुरुषोत्तमके इस अभिनव बाल्यावेशके दर्शन आज किन-किनको हुए। अन्तरिक्षवासियोंने मुग्धताके अद्भुत साजसे सुसज्जित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके इस वत्सान्वेषणकी झाँकी पायी कि नहीं, यह कौन बतावे? अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे किनके सामने कौन-सी किस रङ्गकी यवनिका झूल रही है, किनके नेत्रोंपर किस अंशतक कैसा कौन-सा आवरण डाला गया है, श्रीकृष्णचन्द्रकी इस परम मधुर लीलाका कितना-सा

अंश किनके लिये किस रूपमें अनावृत है—इन सब बातोंका यथार्थ ज्ञान किसे है ? किंतु एकको तो दर्शन हुए ही हैं, हो रहे हैं, यह स्पष्ट है । वे हैं स्वयं जगत्स्रष्टा पद्मयोनि ब्रह्मा । इनके उद्देश्यसे ही तो यह लीला हो रही है । पर इनके लिये भी लीलाका समस्त अंश अनावृत है, यह कहना नहीं बनता । जो हो, पद्मयोनिके परम सौभाग्यसे उन्हें कृतार्थ करनेके लिये व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त पारावारविहीन लीलासिन्धुमें यह एक लहर उठी है और देखना है यह कहाँ पर्यवसित होती है !

आजकी ही तो घटना है, अघासुरमोक्षके दर्शनसे स्वर्वासी आनन्दमत्त हो उठे थे । उनके शङ्ख, दुन्दुभि, मृदङ्गनादसे, जय-जयकी तुमुलध्वनिसे, स्तवपाठकी मधुर स्वरलहरीसे दिग्-दिगन्त पूरित हो चुका था । जनलोक, महर्लोक, तपोलोक प्रतिनादित हो रहे थे । सत्यलोक भी प्रतिशब्दित होने लगा था और चतुर्मुख नीचे उतर आये थे तथा सब कुछ देखकर आश्चर्यसे स्तब्ध रह गये थे । फिर उन्होंने दर्शन किये पुलिन-भोजनके, उस समय होनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके उन्मुक्त बाल्यविहारके । स्रष्टाके आठों नेत्र शीतल हो गये । महामहेश्वरका ऐसा बाल्यावेश उन्होंने मानो आज ही प्रथम बार देखा । पर जैसे सन्निपातसे रुग्ण व्यक्तिकी तृषा शान्त नहीं होती, जल पीनेसे उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, वैसे ही श्रीकृष्णलीलारसपानसे स्रष्टाके नेत्र शीतल होकर भी अतृप्त ही रह गये; अपितु उनके रसपानकी लालसा और भी प्रबल-प्रबलतर हो उठी । पद्मयोनिके प्राण आकुल हो उठे—'कदाचित् श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपाका एक कण मुझे पुनः स्पर्श कर ले, उनकी लीलामाधुरीका किञ्चित् और आस्वादन भी इन नेत्रोंको प्राप्त हो जाय ।' कमलयोनिकी यह इच्छा श्रीकृष्णचन्द्रके कृपामय हृद्देशमें ज्यों-की-त्यों स्फुरित हो गयी । फिर वहाँसे आजतक तो किसीको भी निराशा मिली ही नहीं । 'एवमस्तु' ही वहाँ निरन्तर झङ्कृत होता रहता है । चतुर्मुख जान भी नहीं पाये और आदिसे अन्ततकका दृश्य नेपथ्यकी ओटमें सज गया; लीलामहाशक्तिने जगत्स्रष्टाके मनको अपने हाथपर रख लिया और फिर उसमें वे अपनी इच्छानुरूप चित्रोंका सृजन करने लगीं । वास्तवमें तो वे उन आकृतियोंका अङ्कन करती जा रही थीं, पर चतुर्मुखका 'अहङ्कार' उन्हें 'अपनी स्फुरणा' 'अपनी योजना'के रूपमें ग्रहण कर रहा था ।

अस्तु, कमलयोनि सोचने लगे, उपायका निर्द्धारण करने लगे—'कैसे लीलामाधुर्यका आस्वादन हो ! अच्छा, श्रीकृष्णचन्द्र तो बाल्यविहारमें तन्मय हो रहे हैं, शिशु भी आत्मविस्मृत हो रहे हैं, ऐसे अवसरपर यदि मैं गोवत्सोंको मायामुग्ध कर स्थानान्तरित कर दूँ तो कैसा रहे ? देखें, बाल्यलीलारसमत्त स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उस समय क्या दशा होती है ! ये जब उन्हें ढूँढ़ने चलेंगे, उस समय निश्चय ही एक अभूतपूर्व बाल्यावेशका माधुर्य प्रकट होगा, मुग्धतास्फुटित लीलारसकी मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठेगी, मैं उसमें अवगाहनकर कृतार्थ हो जाऊँगा ! बस, ठीक है, यही हो !'

उपर्युक्त निश्चयको लेकर ब्रह्मा सबसे अलक्षित रहकर ही वृन्दाकाननके उस श्यामल तृणक्षेत्रमें अवतरित हो गये । और फिर चले उन गोवत्सोंको मायामुग्ध करने । उन हरित तृणपुञ्जोंके अग्रिम भूभागमें स्रष्टाने उसकी अपेक्षा भी एक अतिशय सुकोमल जातिके तृणकी रचना कर दी; फिर गोवत्सोंकी दृष्टि भी अपने प्रभावसे उस ओर ही फेर दी । तृणोंसे परिलुब्ध होकर गोवत्स वहाँ ही दौड़ चले । इतनेमें ही पुनः उससे अग्रिम वनस्थली और भी सुन्दर तृणोंसे लहलहा उठी, एक-दो ग्रास मुखमें लेते न लेते गोवत्सोंका ध्यान भी उस ओर चला ही गया और वे

क्षणोंमें ही उस क्षेत्रका अतिक्रमणकर वहीं जा पहुँचे। पर इस हरीतिमाकी इति हो तब तो? आगे और भी सुन्दर जातिके सुकोमलतम तृणका मानो अंबार लगा है। जो हो, इस प्रकार आगे-से-आगे सुन्दर सुस्वादु तृणोंका निर्माण करते हुए, उनसे गोवत्सोंको लुब्ध करते हुए विधाताने उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टिसे ओझल कर दिया। गोवत्स अपने नित्य पालककी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे मानो वञ्चित हो गये। दूसरे ही क्षण पद्मयोनिकी दूसरी माया फैली, गोवत्स सुध-बुध खो बैठे एवं उसी दशामें ही व्रजमण्डलके किसी एकान्त गिरिगह्वरमें वे सब-के-सब स्थापित कर दिये गये!

ब्रह्मा इतना करके ही शान्त हो गये हों, यह बात नहीं। सफलता लोभकी जननी होती है। विधाताके अन्तस्तलमें एक और नवीन स्फुरणा जाग्रत् हुई—'इन गोपशिशुओंको भी मायामुग्ध कर वहीं पहुँचा दूँ तो!' उन्होंने देख लिया है श्रीकृष्णचन्द्रको, भोजन स्थगितकर गोवत्सोंका अन्वेषण करने जा रहे हैं। इतना सुन्दर अवसर फिर कब मिलेगा? अतिशय त्वरापूर्वक पद्मयोनि यमुनापुलिनपर चले आये। गोपशिशुओंने कुछ भी नहीं देखा। उनके नेत्रोंमें तो भरे हैं नीलसुन्दर, उनकी दृष्टि केन्द्रित है अपने कन्हैया भैयाकी ओर, उन्हें केवलमात्र दीख रहा है—'वह रहा कन्हैया, उस तमालकी छायामें।' वे भला चतुर्मुखको क्यों देखने लगे? हाँ, चतुर्मुखने उनके दर्शन अत्यन्त निकटसे अवश्य पा लिये। जो हो, विधिकी दृष्टि पड़ते ही शिशु मानो अपनी उस भावसमाधिमें ही लीन हो गये, उनकी बाह्यचेतना विलुप्त हो गयी; तथा पद्मयोनिने इन्हें भी वहीं पहुँचा दिया जहाँ असंख्य गोवत्स अचेतन हुए पड़े हैं।

इस प्रकार गोवत्सोंको, गोपशिशुओंको स्थानान्तरित कर—अपनी मायाका प्रभाव देखकर पद्मयोनि फूले नहीं समाये। बस, यहीं चतुर्वेदवक्ता विरञ्चि पथ भूल गये। कदाचित् वे अपने अमित ज्ञानके आलोकमें वस्तुस्थितिकी समीक्षा करनेका प्रयास करते तो उन्हें स्पष्ट दीख जाता—जिन गोवत्सोंका संलालन श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अपने करकमलोंसे करते हैं, सुकोमल तृण-पत्रोंका आहरणकर अपने श्रीहस्तसे जिन्हें भोजन कराते हैं, क्रोडमें धारणकर प्यारसे जिनका मुखचुम्बन करते हैं, उन गोवत्सोंको तथा श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणसखा गोपशिशुओंको मायामुग्ध करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं। उन जगत्स्रष्टा विरञ्चिकी माया अप्राकृत साम्राज्यके किसी भी प्राणीको मोहित करे, यह तो दूर, वह उनके समक्ष भी नहीं जा सकती। यह तो व्रजेन्द्रनन्दनकी ही अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी प्रेरणा है, उनकी ही योगमाया-शक्तिकी छाया पड़ी है और गोवत्स एवं गोपशिशु मोहित हुए हैं। विरञ्चिकी माया तो उन्हें स्पर्श ही नहीं कर सकती; किंतु स्रष्टाको इस समय अवकाश कहाँ जो इस ओर दृष्टि डाल सकें। वे तो अपनी धुनमें हैं और उन्हें जो करना था सो वे कर चुके। अब तो अग्रिम कार्यक्रमकी बात वे सोच रहे हैं—'यहाँ ठहरूँ कि चला जाऊँ? कदाचित् श्रीकृष्णचन्द्र इन्हें ढूँढ़ते हुए आ पहुँचे और मुझे देख लें! फिर तो लीला-माधुर्यका प्रकाश नहीं ही होगा! मेरी मनोरथपूर्तिकी सम्भावना ही समाप्त हो जायगी!' इस चिन्तामें वे निमग्न हैं। जो हो, पद्मयोनिको हट जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ और वे तत्क्षण अन्तर्हित हो गये; नहीं-नहीं, श्रीकृष्णचन्द्रकी एक परम मनोहर रहस्यमयी लीलाका मङ्गलाचरण करके मानो नेपथ्यमें प्रविष्ट हो गये, अन्य वेष-भूषासे सज्जित होकर पुनः मञ्चपर अभिनयके लिये आनेके उद्देश्यसे—

अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। १५)

इधर अतिशय प्रयास करनेपर भी जब बाल्यलीलाविहारीको गोवत्सोंका कोई अनुसन्धान प्राप्त नहीं हुआ, तब श्रान्त-से हुए वे विचारमें पड़ गये । वे सोचने लगे—'इतने विस्तृत अरण्यमें मैं एकाकी उन्हें ढूँढ़कर पा लूँ, यह सम्भव नहीं दीखता । क्योंकि मैं एक ओर ढूँढ़ने जाता हूँ, तबतक वे सम्भवतः दूसरी ओर चले जाते हैं । अन्यथा वे मिल ही जाते । अतः सखाओंकी सहायता आवश्यक है । अब दल बनाकर हमलोग उन्हें चारों ओरसे ढूँढ़कर देखें !'—यह विचारकर हताश-से हुए श्रीकृष्णचन्द्र पुलिनकी ओर लौट पड़े । जिनके सङ्कल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते और विनष्ट होते हैं, विश्वके समस्त ज्ञानके जो मूल उद्गम हैं, वे अखिल ब्रह्माण्डपति महामहेश्वर सर्वज्ञशिरोमणि आज इतना अथक परिश्रम करके भी गोवत्सोंका कहीं कोई भी सङ्केत न पा सके, उनकी गतिविधिके सम्बन्धमें कुछ भी न जान सके तथा अब हताश होकर गोपशिशुओंकी सहायता पानेकी आशासे लौटे आ रहे हैं । बलिहारी है नाथ, तुम्हारे इस अप्रतिम बाल्यलीलाविहारकी, बालरसावेशकी !

अस्तु, अब पुलिनपर भी विश्वपतिको निराश ही होना है । वे वहाँ आ जाते हैं जहाँ अपने सखाओंको भोजन करते हुए छोड़ गये थे; किन्तु यहाँ तो अब कोई नहीं, कुछ भी नहीं । आश्चर्यमें भरकर श्रीकृष्णचन्द्रने सर्वत्र दृष्टि डाली और फिर एक-एकका नाम लेकर पुकारने लगे । श्रीदाम, सुबल, देवप्रस्थ, वरूथप, किङ्किणी, तोककृष्ण, अंश, भद्रसेन, अर्जुन, वसन्त, उज्ज्वल, कोकिल, मधुमङ्गल, पुष्पाङ्क, भङ्गुर, भृङ्गार, सन्धिक, पल्लव, मङ्गल आदि बालकोंको नीलसुन्दरने अतिशय उच्चकण्ठसे पुकारा । पर उत्तरमें वन्यतरुओंने, गिरिशृङ्गोंने प्रतिध्वनिमात्र लौटा दी । किसी भी सखाने तो कोई उत्तर दिया नहीं । और आश्चर्य यह है कि उनका, उनकी किसी वस्तुका यहाँ कोई चिह्नतक अवशिष्ट नहीं रहा है ! शृङ्ग, वेणु, वेत्र, छीके—ये वस्तुएँ अमुक शिशुने अमुक स्थलपर रक्खी थीं; किंतु रखनेतकका चिह्न भी अब वहाँ नन्दनन्दनको प्राप्त न हो सका। भोजनके समय पद्मपत्र, पद्मदल, वृक्ष, पल्लव आदिसे नानाविध पात्रोंकी रचना शिशुओंने की थी, फल खाते समय उन सबोंने कदली, जंबीर आदि फलोंके छिलके यत्र-तत्र बिखेर दिये थे—वे सब वस्तुएँ तो साथ ले जानेकी थीं नहीं, वे तो यहाँ मिलनी चाहिये थीं। पर किसी भी वस्तुका एक कण भी वहाँ उपलब्ध न हो सका । पुलिनका अंश निश्चितरूपसे वही है। सरोवर, तरुश्रेणी तपन-तनयाकी वह शुभ्र बालुकाराशि ज्यों-की-त्यों वैसी ही दीख रही है । केवलमात्र शिशु नहीं हैं और उनसे सम्बद्ध कोई भी वस्तु नहीं रही है । श्रीकृष्णचन्द्र विचार करने लगे—'सम्भव है मुझसे परिहास करनेके उद्देश्यसे शिशुओंने सभी वस्तुएँ हटा दी हों, सबके चिह्नतक पोंछ डाले हों और यहीं छिपकर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों ?' और यह विचार आते ही नीलसुन्दरने अतिशय विनम्र शब्दोंमें सखाओंको पुकार-पुकारकर प्रार्थना आरम्भ की—'अरे भैयाओ! देखो तो सही, गोवत्सोंको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मैं कितना श्रान्त हो गया हूँ, तुम सबको दया नहीं आती ? अरे विशाल ! मेरे पैरोंमें पीड़ा हो रही है, तू आकर दबा दे भैया ! × × × भैया रे सुबल ! देख, मेरे समस्त अङ्ग प्रस्वेदसे भर गये हैं, तू आकर अपनी चादरसे पोंछ दे ! × × × अरे पयोद ! चन्दन ! कुन्द ! देख, तुम सबोंका विनोद हो रहा है, और मेरा कण्ठ सूख रहा है ! बहुत ही तीव्र प्यास लग रही है, आ जा भैया! मुझे जल पिला दे, अब विलम्ब मत कर × × × भैया रे मधुमङ्गल ! पुष्पाङ्क ! हंस ! तू रूठ गया क्या! नहीं भैया ! अब मैं कभी अपराध नहीं करूँगा । जैसे कहेगा, वैसे ही करूँगा । आ जा ।' इस प्रकार करुणाभरी वाणीसे नन्दनन्दनने न जाने कितनोंको

आह्वान किया। पर सब व्यर्थ। श्रीकृष्णचन्द्रका यह विनम्र निवेदन पुलिनके कण-कणमें गूँज उठता और पुनः नीरवता छा जाती।

'कदाचित् वे सब मुझे ही ढूँढ़नेके उद्देश्यसे वनमें चले गये हों तो क्या पता? क्योंकि मेरे लौटनेमें पर्याप्त विलम्ब जो हो चुका है?'—अब ऐसे विचार श्रीकृष्णचन्द्रके मनमें आने लगे और उन्होंने पुनः स्वयं भी वनमें जाकर उन सबको ढूँढ़नेका निश्चय किया। प्रस्वेदकण भालपर, कपोलोंपर झल-झल करने लगे हैं। झुर-झुर करता हुआ मन्द मन्थर पवन आया है नील-सुन्दरको अपनी सेवा समर्पित करने, प्रस्वेद पोंछ देने। पर वे सेवा स्वीकार कर सकें, इतना समय उनके पास कहाँ? वे तो अब और तनिक भी विलम्ब न कर पगदंडीके पथसे वनमें ही प्रविष्ट हो गये। पहले-की भाँति ही चारों ओर कुञ्जोंमें, गिरिपरिसरमें, गह्वरमें वे अपने सखाओंको, साथ ही गोवत्सोंको—दोनोंको ही पुकार-पुकारकर ढूँढ़ने लग गये।

ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। १६)

पर वे वहाँ हों तब तो मिलें। श्रीकृष्णचन्द्र अरण्य-की परिक्रमा-सी करते हुए पुनः पुलिनपर ही आ पहुँचे। न तो वनमें मिला एक भी गोवत्स और न भेंट हुई किसी एक भी सखासे। और अब अंशुमालीका रथ भी पश्चिम गगनमें अस्ताचलकी ओर मुड़ चुका है!

'क्या हुए मेरे गोवत्स? कहाँ गये मेरे सखा? हाय! मैं इनके विना कैसे घर लौटूँगा?'—श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें जल भर आया। बस, यहीं सीमा आ जाती है। त्रुटिमात्र काल व्यतीत होनेसे पूर्व ही ऐश्वर्यसिन्धु लहराने लग जाता है। सर्वज्ञता ऊपर उठ आती है, बाल्यावेशको आत्म-सात् कर लेती है। और फिर तो नन्दनन्दन श्रीकृष्ण-चन्द्र अपने 'विश्ववित्' स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो ही जाते हैं। अब उनके लिये कौन-सा रहस्य अज्ञात है? जगद्विधाताकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ, उनके सम्पूर्ण मनोभाव, अतीत, अनागत विश्वका सूक्ष्मतम स्पन्दनतक नित्य-वर्तमान बनकर उनके सामने आ जाता है। गोवत्स, गोपशिशु कहाँ हैं, कैसे, क्यों गये—यह सब कुछ अनायास अकस्मात् वे जान लेते हैं—

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित्।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। १७)

अखिल विश्वदृग नाथ जानि गए सब बात प्रभु।
विधिकृत यह सब गाथ तब मन करत विचार कछु॥

× × × ×

मायापति मुसक्याइ मन बिधिमाया पहिचानि।

कहा कहा वारि डारौं

मुकुट के रंगनि पै इन्द्र को धनुष वारौं, अमल कमल वारौं लोचन बिसाल पर।
कुंडल की प्रभा पै कोटिक प्रभाकर वारौं, कोटिक मदन वारौं बदन रसाल पर॥
तन के बरन पै नीरद सजल वारौं, चपला-चमकि मनमोहन की माल पर।
चाल पै मराल वारौं मेरो मन वारौं और, कहा कहा वारि डारौं नंदजू के लाल पर॥
(संकलित)

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(संकलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)

(१) जीवनमें दो बातें होनी चाहिये—१—भगवान्‌की अखण्ड स्मृति और २—विषयोंसे विराग तथा उपरति। ये हो गयीं तो समझ लें—जीवन सफल है।

(२) जो पुरुष सच्चा परमार्थ-साधक है, उसके लिये पहली चीज है—अपनेको देखना। निरन्तर अपनेको देखता रहे, मनकी जरा-सी भूल भी छिपी न रहे और वह सहन न हो। तुलसीदासजी, सूरदासजी आदिकी पापकी परिभाषामें और हमारी पापकी परिभाषामें यही तो अन्तर है कि वे जरा-सी (एक क्षण भरकी) भगवद्विस्मृतिको ही बहुत बड़ा पाप मानते हैं और कहते हैं कि हमारे समान बड़ा पापी और कौन है——

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जो तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥
भरि भरि उदर बिषयको धायो जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँडि हरीबिमुखनकी निसिदिन करत गुलामी॥

इसका क्या अर्थ है ?—यही कि क्षणभरकी भगवद्विस्मृति उनको इतनी खलती है कि वे अपनेको सबसे बड़ा पापी मान लेते हैं। इस प्रकारके निरन्तर आत्म-निरीक्षणसे बुराईकी वृत्ति मर जाती है।

(३) साधकका यह काम होना चाहिये कि वह रातको सोनेसे पूर्व अपने दिनभरके अच्छे-बुरे मानसिक और शारीरिक कार्योंका स्मरण करे। अपने दिन भरके कार्योंका एक तलपट बनावे। बुरे कार्योंके लिये मनको धिक्कारे और आगामी कल बुरे कर्म न करनेका निश्चय करे।

(४) चिन्ता, विषाद, शोक, निराशा आदि जो हमारे जीवनमें आते हैं, सो भगवान्‌पर विश्वास न होनेसे ही। यह भगवद्विश्वासकी कसौटी है। भगवान्‌पर तथा उनकी कृपापर विश्वास होनेसे चिन्ता-विषाद आदिके लिये स्थान ही नहीं रह जाता। प्रत्येक स्थितिमें आनन्द और सन्तोष रहता है।

(५) ध्यान रक्खो—मन चोरी न कर पावे। मन दिनभर जहाँ-तहाँसे शोक, मोह, विषाद, निराशा, चिन्ता, द्वेष, हिंसा आदिको बटोर-बटोरकर लाता रहता है; पर हमें कुछ पता ही नहीं लगता। यह स्थिति अच्छी नहीं है। अतएव निरन्तर हम अपनेको देखते रहें और अपनी जरा-सी भूल भी सहन न करें। छः महीने पूरी सावधानीसे इसे करके देखें——जीवन बदल जायगा। रोज ध्यान रक्खें, क्षण-क्षणमें ध्यान रक्खें कि भूल न हो। 'सर्वत्र एक ही ईश्वर हैं'——'सबमें ईश्वर हैं'-'हम ईश्वरमें हैं'—इनमेंसे किसी एक बातपर ही विश्वास हो जाय तो हमारा उद्धार हो सकता है। साधनाका अर्थ ही है—सावधानी रखना। जितनी विपरीत बातें हैं, उनसे उदासीन रहना। उदासीनता तब होती है, जब मन स्वाभाविक ही उनकी ओर न जाय। जबतक पापमें रति है, तबतक उसके प्रति घृणा करनी चाहिये। बादमें उससे अपने-आप उदासीनता आ जायगी।

(६) धनका मान, पदका मान और यशका मान—इनका कुछ भी मूल्य नहीं। मूल्य है मनुष्यके अंदर जो परम धन भरा हुआ है, उसका। मानवोचित सद्गुणोंको हम अपने अंदर भर लें, फिर चाहे हम मुक्त न हों। यदि हमने यह कमाई कर ली तो कर्म-वश जहाँ भी हम जन्म ग्रहण करेंगे, सद्गुणोंको लेकर ही जन्मेंगे और उनसे जगत्‌का कल्याण करेंगे। पशु-पक्षी भी होंगे तो सद्गुणोंसे सम्पन्न।

(७) असली काम यही है कि इस बातको देखते रहें, विचार करते रहें कि हम क्या कर रहे हैं। हमने इतने दिनों क्या किया है और जो समय शेष है, उसमें क्या करना चाहिये। जितना जीवन शेष है, उसको भी यदि हम भगवान्‌में लगा दें तो हमारा काम बन सकता है।

(८) मनुष्यजीवनका जो असली काम है उसीपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है, दूसरी सब बातें गौण हैं । वह असली काम है—भगवान्‌का भजन । मनुष्य-देहकी यही कमाई है । भजन तबतक ठीक नहीं होता, जबतक मन विषय-विकारोंमें अत्यन्त ग्रस्त है । अतएव पहला काम है—आत्म-निरीक्षण—मनको देखते रहना ।

(९) आत्म-निरीक्षणमें दो बातें हैं—१ अपनी जरा-सी भी भूल अपनेसे छिपी न रहे और २ अपनी जरा-सी भी भूल सहन न हो । जहाँ हमने अपनी भूलोंको देखना आरम्भ किया कि भूल घटने लगती है ।

(१०) ऊपरके साधन—पाठ, पूजा, कीर्तन आदि भी बहुत ही लाभदायक हैं । पर इनके साथ-साथ भीतर देखते रहना भी बड़ा आवश्यक है । पल-पलपर अपनेको देखनेसे मनुष्य अपने-आप पवित्र हो जाता है ।

(११) जो दूसरेकी हानिको सहनकर अपने स्वार्थकी सिद्धि कर सकता है—वह गिर जाता है ।

(१२) दो चीजें बड़ी कामकी हैं—भगवत्स्मृति और परहित । भगवद्विस्मृति और पर-अहित बहुत बुरी चीजें हैं । अपने मनमें यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि जिस कार्यका परिणाम दूसरोंके लिये अहितकर हो, वह अपने लिये कभी भी हितकारक नहीं हो सकता । भलेका परिणाम बुरा नहीं हो सकता और बुरेका परिणाम भला नहीं हो सकता ।

(१३) काम, क्रोध, विषाद आदि सब आते हैं—भगवान्‌पर विश्वासकी कमीसे ही । भगवान्‌में विश्वासका न होना ही सबसे बड़ा पाप है । हम कहते हैं—भगवान् हैं, परम कृपालु हैं आदि-आदि, पर इसपर हमारा विश्वास नहीं है । विश्वास होता तो सारे दुःख-दर्द मिट जाते । ……विश्वासका यह अर्थ नहीं है कि हम चुपचाप बैठ जायँ, वरं उत्साह और विवेकपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करें, अवश्य ही भगवत्पूजाके लिये ही ।

(१४) मनुष्यको अपनी उन्नति करनेवाला बनना है। जो ऐसा है, वही साधक है । सिद्धोंकी इतनी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है साधकोंकी । साधक होंगे तो सिद्ध अपने-आप बनेंगे । पहलेसे ही यदि सिद्ध बनने चलेंगे तो साधन होगा नहीं और पतन हो जायगा । अपनेको देखना है, पग-पगपर अपनी स्थितिको देखना है और उसपर कभी भी सन्तोष नहीं करना चाहिये । जहाँ मनुष्य अपनेको देखना छोड़ देता है, वहीं गिर जाता है । प्रकृति सदा नीचेको ओर ले जाती है । मनुष्य सदा सावधान और प्रयत्नशील रहे तो वह गिरनेसे बच जाता है और बहुत प्रयत्नशील रहनेपर तो भगवान्‌की ओर बढ़ सकता है । पहले गिरनेसे बचना चाहिये—यही आवश्यक है । पतनका सहना बहुत बुरी स्थिति है और पतनमें हर्ष हो जाना, बुराईमें गौरवबुद्धि हो जाना तो बहुत ही बुरा है ।……जगत्‌का उद्धार हम तभी कर सकेंगे जब हम पहले अपना उद्धार कर लेंगे । कूड़ा लेकर चलेंगे तो दूसरोंके घर कूड़ेसे ही भरेंगे । क्षयका रोगी क्षयके कीटाणु ही बिखेरता है । इसी प्रकार स्वयं ठीक हुए बिना हम जगत्‌को ठीक नहीं कर सकते ।

(१५) इसीसे साधनामें प्रधान चीज है—आत्म-निरीक्षण, अपने दोषोंको निरन्तर देखना, दोषोंको ढकना नहीं ।

(१६) अपनी बुराईको कभी छिपावे नहीं; कम-से-कम अपनेसे तो कभी भी न छिपावे । मनुष्य अपनेसे भी बहुत बार अपने दोषोंको छिपाता है । अपनी प्रत्यक्ष बुराईको भी न मानना, न अनुभव करना अपने दोषोंको अपनेसे छिपाना ही तो है । मनुष्यको अपनी बुराई दीखने लगे, यह बड़ी बात है ।

(१७) अपने पापका सहन करना बहुत बड़ा पाप है । तरंगकी भाँति बुराई आती है और यदि उस बुराईको स्वीकार कर लिया, उसे कहीं रहने दिया तो वह समुद्र बन जाती है । जरा-सी आगकी चिनगारी है,

यदि उसे रहने दिया जाय तो वह प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है ।

(१८) पाप छिपानेसे बढ़ता है, प्रकट करनेसे घट जाता है—यह नियम है ।

(१९) मनुष्य जिस विषयका बार-बार चिन्तन करता है, वह उसमें आ जाता है । अच्छी नीयतसे भी बुरी वस्तुका चिन्तन करें तो उससे बुराई पैदा होनेका डर है । जो निर्लिप्त हैं उनकी बात दूसरी है । यदि कोई व्यभिचारियोंके गिरोहमें अच्छेके लिये भी रहे और वह विषयोंसे सर्वथा उपरत न हो तो वहाँके संगसे उसमें धीरे-धीरे दोष आ जाते हैं । मनुष्य सेवा करने जाता है, पर यदि वहाँका संग अच्छा न हो तो उसका पतन हो जाता है—ऐसा बहुत बार देखा है । कारण यही है कि बुरे संगसे, बुरे चिन्तनसे मनुष्य बुरा बनता है । अतएव जहाँतक हो अच्छेके लिये भी बुरी चीजोंका संग या चिन्तन न करे ।

(२०) केमरेके सामने चाहे कोई हँसता हुआ खड़ा हो, या गम्भीर मुखसे खड़ा हो—उसमें उसका चित्र वैसा ही आ जाता है । इसी प्रकार हम कैसी भी नीयतसे बुराईका चिन्तन करें उसका प्रभाव हमारे अन्तःकरणपर अवश्य पड़ेगा ही । अतः मजाकमें भी, पत्रव्यवहारमें भी, बोल-चालमें भी, इशारे-संकेतमें भी बुराई न आवे—इससे मनुष्य निरन्तर बचता रहे । जिस प्रकार साँपसे, विषम विषसे मनुष्य बचता है, वैसे ही पापसे बचना चाहिये ।

(२१) दूसरेको नीचा देखना पड़े, अपदस्थ होना पड़े—ऐसी कोई बात कभी न कहे, न करे । जो-जो बात हमें बुरी लगें, उनको हम दूसरोंके साथ न करें ।

(२२) भगवान्‌का स्मरण निरन्तर बना रहे, इसके लिये हम प्रयत्न करें । भगवत्स्मरण प्रयत्न-साध्य तो नहीं है, वह तो भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्य है, परंतु भगवान्‌की कृपा तो सबपर है ही, अतः हमारी ओरसे उसे अनुभव करनेका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये ।

(२३) प्रतिदिन रातको सोनेसे पहले किसी-न-किसीकी सेवा करके सोवे । सेवा सब कर सकते हैं । सेवा पैसेसे ही होती है—यह बात नहीं है । किसीके प्रति हम अपनी सद्भावना भी कर लें तो हमने उसकी बहुत बड़ी सेवा की । परंतु सेवा करके अभिमान न हो । परोपकार-बुद्धि अच्छी, किंतु उसमें अभिमान न आवे । वस्तुतः सेवा सेव्यकी ही होती है । भगवान्‌की ही सेवा होती है । फिर जिस चीजसे हम सेवा करते हैं वह भी हमारी नहीं है, वह तो भगयान्‌की है । भगवान्‌ने उस चीजके द्वारा हमें सेवामें निमित्त बना दिया, यह हमारा परम सौभाग्य है । इसमें अभिमानकी कौन-सी बात है ।

(२४) भगवान्‌को छोड़कर दैवीसम्पत्ति और सद्गुण नहीं रहते । इनके मूलस्रोत भगवान् हैं । भगवान्‌के बिना यदि कोई अच्छी लहर कभी आ भी गयी तो वह टिक नहीं सकती । अतएव निरन्तर भगवान्‌का स्मरण बना रहे—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ।

(२५) भगवान्‌की शक्ति, भगवान्‌का ज्ञान और भगवान्‌का सौहार्द—ये तीन हमारे विश्वासकी चीजें हैं । जो होगा, जब होगा और जैसे होगा—परम मङ्गलमय होगा । ऐसा निश्चय हो जाय, इसीका नाम विश्वास है ।

(२६) मनुष्य सदा तीन बातें कहता है भगवान्‌से—'भगवन् ! अमुक काम कर दो, अमुक समयपर कर दो और अमुक प्रकारसे कर दो ।' हाँ, यह अवश्य है कि व्यक्तिके अनुरूप कहनेकी भाषा भिन्न हो सकती है पर सब प्रायः कहते हैं यही बात । इन तीनों बातोंमें हम भगवान्‌की बुद्धिको, उनके ज्ञानको अपनी बुद्धि और ज्ञानकी अपेक्षा कम समझते हैं और ऐसा करनेसे हम भगवान्‌की कृपाकी जो धारा हमारी ओर सीधी आ रही है, उसमें बाधक हो जाते हैं । भगवान्‌पर यदि हमारा विश्वास हो तो वे जो करें, जब करें जैसे करें—वही ठीक है । यही निश्चय होना चाहिये । भगवद्विश्वासकी यही कसौटी है ।

(२७) मनुष्यको जहाँ सबसे अधिक सावधान रहना चाहिये, वहीं वह सबसे अधिक भूल करता है। सावधान कहाँ रहना चाहिये ?—हमारे अंदर किसी प्रकारकी गंदगीका प्रवेश न होने पाये, गंदगी न रहने पाये। गंदगी न पनपने पाये। अर्थात् कोई भी बुरा विचार मनमें प्रवेश न करने पाये—यदि पहलेका हो तो वह न रहने पाये और जरा-सा हो तो वह बढ़ने न पाये, पनपने न पाये।

(२८) विजय किया हुआ मन ही अपना मित्र है और न विजय किया हुआ मन ही शत्रु। जिस मनमें बुरे विचार भरे हैं, वही मन हमारा शत्रु है और जिस मनमें अच्छे विचार भरे हैं वह हमारा मित्र।

(२९) मन बहुत बोलता है। जितना वह बोलता है उतना वाणी नहीं बोलती। मौन मनका अर्थ है—मननशील मन, केवल भगवान्के चिन्तनमें लगा हुआ मन। मनका मौन ही सच्चा मौन है।

(३०) निश्चय मानिये—जिस मनमें राग-द्वेष है, जिस मनमें वैर-विरोध है, क्रोध-प्रतिहिंसा है, कामना-वासना है, वह मन कभी प्रसन्न नहीं रह सकता।

(३१) मनमें जबतक दुविधा, दुर्भाव भरे हैं तबतक वह कैसे प्रसन्न रहेगा ?

(३२) मनका मौन क्या है ?—विषय-चिन्तन-शून्यता और भगवच्चिन्तन-परायणता। यह कैसे हो ?—मनको बार-बार भगवान्में लगानेसे। भगवान्के ध्यानमें लगा हुआ मन, भगवत्परायण मन जगच्चिन्तनसे स्वतः हट जाता है।

(३३) मन और इन्द्रियोंके स्वामी बनो, गुलाम नहीं। स्वामी तो हो ही, अपने स्वरूपको पहचानो।

(३४) विषयोंका चिन्तन अधिक होनेसे अशुभका चिन्तन होने लगेगा। वस्तुतः विषय-चिन्तन अशुभ-चिन्तन ही है।

(३५) चिन्तनके दो प्रधान स्वरूप हैं—१—शुभ और २—अशुभ। अशुभका त्याग करके शुभका ग्रहण करे और शुभका शुभत्व भगवान्में जाकर मिल जाय।

(३६) यह निश्चय है—दम्भसे कुछ कालके लिये भले ही कोई अच्छा स्वाँग बना ले, पर अंदरकी वस्तु कभी-न-कभी अवश्य बाहर फूट पड़ती है।

(३७) जब मनुष्यका स्वार्थ इतना प्रबल हो जाता है कि उसके सामने वह कुछ नहीं देखता तो वह अपने ज्ञानको भूल जाता है और क्रूर बन जाता है दूसरोंके प्रति तथा अपने प्रति भी।

(३८) दूषित विचार छूतके रोग हैं। ये बहुत जल्दी अंदर आते हैं तथा फैलते हैं।

(३९) मनका शुद्ध भोजन यही है कि उसे सदा शुभ विचारोंसे भरते रहें। शुभ विचारोंसे मनमें दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि होती है।

(४०) शुभ विचारोंमें प्रधान है—भगवच्चिन्तन, भगवान्के साथ-साथ भगवदीय गुणोंका चिन्तन। जिस पुरुष, स्थान, पुस्तक, वातावरण आदिसे यह प्राप्त हो वहाँसे उसे लेते रहें। सत्संग यही है।

(४१) सिद्धान्तकी बात है—जिसमें अपना सच्चा कल्याण है उससे दूसरोंका अकल्याण नहीं हो सकता और जो कर्म दूसरोंका सच्चा कल्याण करनेवाला है, वह कभी हमारा अकल्याण नहीं कर सकता। अतएव पाप-पुण्यकी परिभाषा यही है कि जिस वस्तुसे परिणाममें हमारा और दूसरोंका कल्याण हो वह पुण्य, जिससे परिणाममें हमारा और दूसरोंका अकल्याण हो वह पाप।

(४२) चित्त जो विषयाकार हो रहा है, उसे भगवदाकार करना है। भगवान्में चित्त लग जाय, जगत्की ओरसे मौन हो जाय, इसके लिये भगवान्की कृपापर विश्वास करके नित्य नियमपूर्वक श्रद्धा एवं तत्परताके साथ साधन करना आवश्यक है। प्रतिदिन थोड़ी देरके लिये मनुष्य अलग बैठकर अपने मनको देखे—मन क्या कर रहा है, मनमें किस-किस प्रकारके विचार

आते हैं, किन-किन विचारोंसे मनको वस्तुतः अशान्ति होती है और किन-किन विचारोंसे सच्चा विश्राम मिलता है । इन बातोंको देखकर मनको शुभ विचारोंकी उपादेयता और अशुभ विचारोंकी भयानकता समझावे—यदि इस प्रकार प्रतिदिन किया जाय तो अवश्य लाभ होता है ।

(४३) जगत्का चिन्तन सर्वथा हट जाना कठिन है । अतएव पहले शुभ-चिन्तन करना पड़ेगा । भगवत्कृपाका भरोसा करके आशा, विश्वास, दृढ़ता आदिके साथ मनको शुभमें लगाना पड़ेगा । बादमें धीरे-धीरे वह शुभ-चिन्तन भी उस परम शुभ—परमात्मामें विलीन हो जायगा ।

(४४) मनुष्यको चाहिये कि अपने मनको साफ करे, अंदरकी गंदगीको साफ करे, धोये । मलको साफ करनेके दो उपाय हैं—भीतरके मलमें आग लगा दे और बाहरके मलको भीतर न जाने दे । भगवद्भजन—भगवान्का नाम आग है । सारे पापोंको नाश करनेकी अग्नि भगवान्का भजन है; इससे जन्म-जन्मान्तरके पाप तथा उनकी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं । दूसरे, इन्द्रियोंको सदा शुभमें लगाये रक्खे । हम कान, आँख, नाक आदि दरवाजोंके द्वारा बाहरकी बुराइयोंको अंदर लाते हैं । अतः सारी इन्द्रियोंको भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें लगा दे ।

(४५) भगवान्की ओर इन्द्रियोंके दरवाजोंको खोल देना और जगत्की ओरसे बंद कर देना—यही भक्ति है, यही करना है । कहीं भी जायँ—मन्दिरमें, सत्सङ्गमें—इन्द्रियाँ निरन्तर भगवान्की सेवामें लगी रहें ।

(४६) कुसंग-सुसंग केवल आदमीका ही नहीं, इन्द्रियोंके प्रत्येक विषयका हो सकता है । जो विषय इन्द्रियोंके द्वारा भीतर जाकर भोगोंकी आसक्ति उत्पन्न करे वह कुसंग और जो विषय इन्द्रियोंके द्वारा भीतर जाकर भगवद्भावको उत्पन्न करे—वह सत्संग । ×××× संसारसे वैराग्य और भगवान्में प्रेम उत्पन्न करे—वह सत्संग ।

(४७) कष्ट, पीड़ा, दुःख आदि जो आते हैं, हमारे कर्मोंका क्षय कर रहे हैं, पापोंका भुगतानकर कर्मोंको कम कर रहे हैं । पर जो बुरा सङ्ग है, वह नये-नये पा करवाकर न जाने कितनी नरकयन्त्रणाओंका निर्माण करता है । अतएव बुरी बातको जरा-सी भी देरके लिये न देखे, न सुने, न करे ।

(४८) जहाँतक, बने आँखसे बुरी चीज कभी देखे नहीं । आँख कहीं बुरी जगह चली जाय तो वहाँसे उसे हटा ले और पश्चात्ताप करे । कहीं कानमें बुरी आवाज आ जाय तो कानको बंद कर ले और बुरी आवाज न सुने । ऐसे ही दूसरी इन्द्रियोंको भी बुरे विषयोंकी ओरसे समेट ले ।

(४९) सावधान रहे, बुरी चीजसे वैसे ही परहेज रक्खे—जैसे साँपसे, आगसे, जहरसे परहेज रखते हैं ।

(५०) हमारा मन संग्रहालय है । इसमें पूर्वजन्मोंके और इस जन्मके लाखों-करोड़ों संस्कार भरे हैं । जैसे फिल्मपर चित्र अङ्कित रहते हैं, वैसे ही हजारों भले-बुरे चित्र मनपर अंकित हैं ।

(५१) बुरे स्थानका, संगका साइनबोर्ड नहीं होता। जिससे हमारे मनमें बुराई पैदा होती है, वही बुरा है।

(५२) शुद्ध आचरण उसका नाम है जो स्वयं अशुद्ध हो नहीं और दूसरेको शुद्ध बना दे ।…… किसीको बुराईसे डिगाना धर्म है और अच्छाईसे डिगाना पाप है। झूठ बोलनेवालेको झूठ बोलनेसे डिगा दो, पाप करनेवालेको पापसे डिगा दो—इसमें पुण्य ही होगा, पाप नहीं।

(५३) मनुष्य संसारमें नीचा, घृणित, अपदस्थ, अपमानित होकर रहे, पर धर्म और भगवान्को न छोड़े।

(५४) भगवान्का रस ऐसा रस है कि उसके सामने विषयोंका रस कुछ है ही नहीं, भगवत्-रस जरा-सा प्राप्त होनेपर विषय-रस जहर मालूम देने लगता है।

नहीं सुहावे जगकी चर्चा,
दिलवरकी चर्चा सहती ।

* * *

केनोपनिषद्-मनन

(लेखक—श्रीनारायणसिंहजी, राव मसूदा)

'ब्रह्म' को जाननेकी इच्छा प्रत्येक जिज्ञासुकी होती है। बल्कि निरे अज्ञानी अथवा नास्तिकके मनमें भी जीवनमें एक बार तो यह प्रश्न तरङ्ग मार ही जाता है कि 'आखिर यह सब क्या है ? क्यों ऐसा होता है ? इसका कारण क्या है ?' मानो छिपा हुआ 'ब्रह्म' उसे बाहरी परिस्थितिमें इतना घिरा हुआ होनेपर भी उसके और सबके आदिकारणकी ओर प्रेरित करता है और जिसे हमारे शास्त्रकार अकारण होते हुए भी अखिल कारणोंका भी कारण कहकर नमस्कार करते हैं—'अकारणायाऽखिलकारणाय नमो महाकारणकारणाय ।' क्योंकि जैसे हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य अपने ही स्वभावसिद्ध कारणसे स्वतन्त्रतया करती हुई भी उन सबके भी महाकारण 'प्राण' अथवा 'जीव' से ही प्रेरित हैं (जो स्वयं पृथक्-पृथक् स्वभावोंसे परे होनेके नाते अकारण है) वैसे ही ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्माका भी सूक्ष्मतर तत्त्व होनेके नाते अकारण होते हुए भी सबका कारण माना गया है और जिसे शास्त्र कहते हैं कि आत्मा भी नहीं जानता—

'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम् ।

तथा—

अन्तःप्रविष्ट शास्ता जनानां सर्वात्मा……' ।

पाण्डित्याभिमानी लोग अहङ्कारवश उस ब्रह्मको समझाने—उस ब्रह्मकी परिभाषा करने भी बैठ जाते हैं और शब्द-जाल रचते हैं। उनके वाक्-लालित्यका शौक तो इससे अवश्य पूरा होता होगा परंतु बेचारे जिज्ञासुको तो वे एक चक्करमें ही डाल देते हैं। ऐसे चक्करमें पड़कर या तो वह अधिक भ्रमित हो जाता या यदि कोई अविश्वासी हुआ तो—"कौन खपावे अपना सिर ऐसी बातोंमें, जबतक जिन्दगी है तबतक तो 'सैर कर दुनियाकी गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ' इत्यादि" कहकर सब कुछ ताकमें ही रख देता है। कठोपनिषद्में ऐसे शब्दज्ञानी पण्डितों अथवा भौतिकवादसे भ्रमित मनुष्यों एवं उनके अनुयायियोंके बारेमें कहा भी है—

'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

और,

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

(कठ० २ । ५-६)

अर्थात् 'अविद्यामें स्थित होकर अपने-आपको बुद्धिमान् पण्डित माननेवाले मूढ़ नाना योनियोंमें चारों ओर भटकते हुए ठीक वैसे ही ठोकरें खाते-फिरते हैं, जैसे अन्धेके द्वारा पथप्रदर्शित किये जानेवाले अन्धे ।' 'इस तरह सम्पत्तिके मोहसे मोहित निरन्तर प्रमाद करनेवाले अज्ञानीको इस प्रत्यक्ष स्थूल लोकके अतिरिक्त भी कोई सूक्ष्म तथ्य है, ऐसा नहीं दीखता और वह बार-बार मेरे (यमराज—मौतके) वशमें आता है।'

कहनेका तात्पर्य यही है कि ब्रह्म-जैसा गूढ तत्त्व मानव-शब्दावलीमें नहीं बँध सकता। अंग्रेजी कवि एडविन आर्नल्ड (Edwin Arnold) अपनी लाइट ऑफ एशिया (Light of Asia) में भगवान् बुद्धके ही भावको चरितार्थ करते हुए ब्रह्मकी अनिर्वचनीयताकी ओर सङ्केत करते हैं—

"Om, Amitaya, measure not with words
The Immeasurable; nor sink the string of thought
Into the Fathomless. Who asks doth err,
Who answers errs. Say nought."

जिसका एक आधुनिक हिंदी कविकी एक ही लाइनमें सारांश आ टपकता है—'नश्वर स्वरसे कैसे कहूँ एक अनश्वर बात ।'

अस्तु, इस उपनिषद्में ब्रह्मके इसी सूक्ष्मतम भावका सङ्केत करते हुए उसकी अनिर्वचनीयताको जिज्ञासुके लिये 'केन' अथवा 'यह सब फिर किससे प्रेरित है' इस भावसे हल किया है। भौतिक बुद्धिसे उसका थाह नहीं लगाया जा सकता। वह सबका सारतत्त्व होनेके नाते सबके अंदर है। इसलिये सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी और सबका आदिकारण उद्गम-रूप है। सब कुछ इसीमें सन्निहित है, यानी यह अनन्त आकाशतत्त्व भी उसीमें है। जब हम आकाशकी ही थाह इन चर्म-चक्षुओंसे अथवा हमारी इस भौतिक बुद्धिसे नहीं पा

सकते तो फिर उसकी तो थाह कैसे पा सकते हैं। उसकी यह अनन्तता देखकर हमारे अनुमानकी ऊँची-से-ऊँची उड़ान भी थककर निराश हो जाती है। फिर जब वह बुद्धिसे भी परे है तब शब्दजालमें कैसे पकड़ा जा सकता है। हमारा समग्र शब्द-कोष ही अभी इतना अधूरा है कि सृष्टिकी सब वस्तुओंको वह अबतक अपने दायरेमें नहीं ले सका, फिर ब्रह्मकी तो बात ही क्या ! वह तत्त्व तो केवल साङ्केतिक भाषामें ही कहा जा सकता है, 'केन' उपायसे ही समझा जा सकता है और अनुभवसे ही जाना जा सकता है। तर्कका वह विषय नहीं! कहाँ जायगा हमारा यह भौतिक तर्क बेचारा, जहाँ बुद्धि और मनका भी पता नहीं चलता।

फिर भी जिज्ञासु शिष्यके लिये गुरुने कुछ साङ्केतिक शब्दोंमें उसको अधिक-से-अधिक हृदयङ्गम करानेका प्रयत्न किया है। कहा है कि 'वह ब्रह्म जड-चेतन दोनोंसे भिन्न है।' वाणी अथवा शब्दोंसे जो कुछ अतीतकालसे आजतक जहाँ-तहाँ भी कहा गया है या प्रकट किया गया है, वह भी ब्रह्म नहीं है बल्कि वाणी अथवा शब्द स्वयं जिससे प्रेरित है, वह ब्रह्म है। मन अथवा बुद्धिके भी जितने विषय इस संसारमें थे, अथवा हैं या होंगे, वे सब भी मिलकर ब्रह्म नहीं, अपितु मन और बुद्धिकी जो प्रेरक शक्ति है वह ब्रह्म है। कान और आँखसे जो कुछ सुना अथवा देखा जाता है, कालान्तरमें अथवा कहीं भी, वह भी ब्रह्म नहीं, वरं जिसकी शक्तिसे कान सुनता है या आँख देखती है, वह ब्रह्म है। अन्तमें यहाँतक कह दिया गया है कि स्वयं प्राणशक्तिसे चैतन्य तथा चेष्टित समग्र कर्म-संग्रह भी ब्रह्म नहीं, जो प्राणका भी प्राण है वह ब्रह्म है। गीतामें जैसे एक ही श्लोकमें और उसपर भी एक ही पंक्तिमें कह दिया है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

और—

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।'

अर्थात् 'जो कुछ भी विभूतिमान्, लक्ष्मीवान् या प्रभावशाली है, उसे मेरे तेजके अंशसे ही हुआ समझो' और 'अपने एक अंशमात्रसे सारे जगत्‌को धारण करके मैं स्थित हूँ।'

ऐसे सर्वशक्तिमान् व्यापक परमेश्वरको यहाँ गुरुने एक बड़े ही सुन्दर उपाख्यानके द्वारा समझा दिया है, जो मेरे हृदयपर एकदम अंकित हो गया है। कथानकके रूपमें मानवी हृदयके लिये सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व भी ग्राह्य हो जाता है और यही हमारे शास्त्रोंकी महत्ता है। काव्य एवं साहित्य स्थूल-तत्त्वको सूक्ष्मभावमें चित्रित कर बताता है। शास्त्र सूक्ष्म तथ्यको स्थूल रूप देकर समझाता है। वस्तुतः शास्त्र क्या और कैसे करता है इसपर कुछ कहना तो अनधिकार चेष्टा है। शास्त्रके रचना-तथ्यको तो शास्त्रकार ही जानते हैं। हमें तो शास्त्रके उपासक बनकर पढ़नेमें ही लाभ है। तभी हम उसका मूल-तत्त्व, उसका यथार्थ उपदेश समझ सकेंगे। तर्कसे न भगवान् जाना जा सकता है, न शास्त्र ही। विद्यार्थी अपने अल्प ज्ञानयुक्त तर्कसे शुरूमें ही गुरुसे 'क' 'क' क्यों है और 'ख' 'ख' क्यों पूछने लगे तो हो चुका उसे स्वर-व्यञ्जनका ज्ञान और पढ़ चुका वह सारी पढ़ाई। उसे तो श्रद्धा और विश्वाससे गुरुके पास बैठना होगा। हमें भी मिथ्या दम्भ करनेकी जरूरत नहीं कि हम सब जानते हैं। इन सूक्ष्म तथ्योंके विषयमें तो हम भी वैसे ही निरे बालक विद्यार्थी हैं। और बालक होना तो और भी अच्छा है, क्योंकि वही एक अवस्था है जब कि हमारा दिमाग ताजा और सब कुछ जाननेके लिये तत्पर एवं खुला रहता है। हरेक बातमें रहस्य दीखता है और दिलचस्पी होती है। जितने ध्यानसे बालक अपने चारों ओरकी चीजोंको देखेगा और जाननेकी कोशिश करेगा, उतना हम कभी नहीं करेंगे। ज्यों-ज्यों हमारी बुद्धि छिछले परिस्थिति-ज्ञानसे रँगती जायगी, त्यों-ही-त्यों वह अनुदार और संकीर्ण होती जायगी। जानी हुई वस्तुके आवश्यकतानुकूल, ऊपरी ज्ञानके अतिरिक्त अंदरकी तहमें घुसनेका प्रयत्न वह अधिकांशतः नहीं करेगी। और अत्यन्त नवीन रहस्यमय तथ्यको तो शायद वह सुनकर 'ऐसा हो ही नहीं सकता' यों कहकर ही अपने ज्ञान-मन्दिरका कपाट बंद कर लेगी। स्थूल (Tangible matter) एवं दृश्यमानको ही सत्य माननेवाले आजके भौतिकवादीका यही दृष्टिकोण है। कुछ ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया है और उसके आगे है पटाक्षेप। जो उनके क्षुद्र भौतिक तर्कके दायरेमें न आ सके, वह उनके लिये जैसे है ही नहीं।

अस्तु, मैंने तो उपर्युक्त कथानकको उसी बालककी सरल भावना एवं विश्वाससे पढ़ा है। अच्छा तो गुरु कहने लगे—एक बार सब देवताओंको असुरोंपर विजय प्राप्तकर अपने बल और पराक्रमका अभिमान हो गया। सफलताने

एकबारगी उन्हें इस ज्ञानसे अन्धा बना दिया कि वह बल किसका बल था। सफलता सदा ऐसा ही खेल खेलती है। सफलता देकर ही भगवान् भक्तकी परीक्षा किया करते हैं। आजके मानव-विकासमें वैज्ञानिक सफलता भी मुझे मानव-जातिकी परीक्षा-सी मालूम पड़ती है और डर यही है कि कहीं 'विज्ञान-मोहनी'को पाकर मानव अपना पौराणिक भस्मासुरवाला हाल न कर बैठे। अस्तु, यहाँ तो देवताओंकी परीक्षाका प्रश्न था, जो भगवान्के अधिक समीप थे। उच्च श्रेणीके भक्त ही तो समझ लें उनको, और भक्तोंकी भगवान्को सदा चिन्ता रहती है। भगवान् तो मा-बापकी तरह हैं। आज्ञाकारी बालकको मा बाप बात-बातमें टोकते हैं। दुष्ट बालकको ऐसा लगता होगा मानो उसके साथीपर कितना बड़ा अत्याचार हो रहा है। भक्त भी तो कष्ट पाते ही रहते हैं और तब हमें भी तो ऐसा ही उनके प्रति लगता है। हम सोचते हैं हम आनन्दमें रहे जो बिना भगवान्के झमेलेके ही मौजमें हैं। परंतु हम तो वे दुष्ट बालक हैं, जिन्हें मा-बापने कहना ही छोड़ दिया है या अपने घरसे ही अलग निकाल दिया है! आज्ञाकारी बालक 'सिगरेट न पीओ' कहा जानेपर नहीं पियेगा। कुछ-कुछ बिगड़ा हुआ फिर भी ढीठता करेगा तो मा-बाप कह देंगे 'पी देखो।' वह शायद पहले धुँएसे ही खाँस-खूसकर सबक ले लेगा। किंतु जो और भी आगे बढ़ेगा, वह एक दिन अपने फेफड़े भी खराब कर बैठेगा। फिर भी मा-बापका प्रेम तो वैसा ही रहता है, किंतु वह उसके प्रति दया, क्षोभ एवं तटस्थताका रूप ले लेता है। ऐसी ही कुछ बात हमारे प्रति भगवान्की है।

यहाँ देवगण ऐसे हठी बालक तो थे नहीं। देवलोक आत्मोत्कर्षकी एक अवस्था ही तो है, जो उपनिषदोंमें अन्य स्थानपर वर्णित है। उन भूलते हुए भक्तोंको भगवान्ने सबक देना चाहा। भगवान् अत्यन्त तेजस्वी यक्षका रूप धारण कर देवताओंके सामने आकाशमें आ खड़े हुए। यह देख देवताओंने सोचा यह दिव्य पुरुष कौन है। पहले अग्निदेवको ही जाकर पूछनेके लिये कहा गया। अग्निके यक्षके पास जाते ही पहले यक्ष ही अग्निसे प्रश्न कर बैठे 'आप कौन हैं, आपकी क्या शक्ति है?' अग्निको बड़ा गुस्सा आया। सोचा—कैसा मूर्ख है जो मुझ-जैसे शक्तिशाली देवको भी नहीं पहचान सकता। दम्भसे जवाब दिया—'मैं जातवेदा (यानी सब कुछ जाननेवाला) अग्निदेव हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको एक क्षणमें जला दूँ।'

यक्ष बोले—'तब तो आप बड़े शक्तिशाली हैं; अच्छा तो यह तिनका ही जला दीजिये' और यों कहकर एक तिनका सामने रख दिया। अग्निदेव पूर्ण वेगसे उसपर टूट पड़े पर उसका कुछ भी न बिगड़ा। तब घबराकर कि यह ऐसा कौन व्यक्ति है जिसका तिनका भी मुझसे नहीं जला; अग्नि उलटे पैर देवोंके पास लौट आये।

फिर वायुदेवको भेजा गया और वही प्रश्न जाते ही यक्षने उनसे पूछ लिया। वैसे ही दम्भसे वायुने जवाब दिया—'मैं मातरिश्वा (बिना आधार गगनमें विचरण करनेवाला) वायुदेव हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको एक फूँकमें उड़ा दूँ।' यक्षने वही तिनका उन्हें भी पकड़ा दिया कि आप इसीको उड़ा दें।' अग्निवाली गति बेचारे वायुदेवकी भी हुई और वे भी उसी भाँति सरपट पाँव दबाकर देवसमूहमें वापस भाग आये।

तब देवराज इन्द्र स्वयं अहंकारस्कर यक्षके पास गये। उनका अतिशय अहंकार देख यक्षने उन्हें बात करनेका भी अवसर नहीं दिया और वे अन्तर्धान हो गये। किंतु देवराज, देवराज ही ठहरे। विश्वासके पक्के थे। वहीं डटे रहे। तब वही यक्ष उमा (पार्वती) के रूपमें प्रकट हुए। देवराजने उमादेवी की स्तुति की औरं उनसे उन छद्मवेशी यक्षका तथ्य पूछा। उमाने कहा—'जिसके बलसे तुमने राक्षसोंको जीतकर मिथ्या अभिमान किया था, उसीका सबक पढ़ाने स्वयं आदि-ब्रह्म यक्षका रूप धारण करके आये थे। तब इन्द्रने उस आदिदेवको जाना जिसके पराक्रमसे इन्द्र; इन्द्र हैं, अग्नि अग्नि हैं और वायु, वायु हैं। और तभी यह बात अन्य देवताओंको भी प्रकट की गयी। किंतु यह तथ्य इन्द्रने पहले जाना, इस बातपर गुरुने इस उपनिषद्में जोर दिया है।

यह पढ़ते-पढ़ते तथा आगेका यह मन्त्र—

'तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा इतीन्न्यमीमिषदा इत्यधिदेवतम्'

अर्थात्, 'उस ब्रह्मका यह सांकेतिक उपदेश बिजलीका चमकना-सा या नेत्रोंका झपकना-सा आधिदैविक उपदेश है।' यही खयाल ला खड़ा करता है कि दृढसंकल्प भक्तकी भगवदीय चेष्टाओंमें भी इस दिव्य अनुभूतिका (प्राणशक्तिके प्रधान बलसे सब शक्तियोंको उसी ओर घुमा देनेपर) प्रारम्भिक स्थितिमें ऐसा ही क्षणिक आभास मात्र होता होगा, जो तब तक मनकी पूर्ण स्थिरता न होनेके कारण फिर गायब हो जाता होगा। उस समष्टिमय भगवान्के साथ तो पूर्ण संयोग

होनेपर ही भक्तकी उस आदिरूपसे व्यष्टिमय विभिन्नता दूर हो सकती है । और तभी हृदयङ्गम भगवान्‌की उसे अनुभूति होती है जो उसके हृदयाकाशमें आत्माके साथ सदा उपद्रष्टारूपसे बैठा रहता है । इसका मुण्डकोपनिषद्‌में एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

अर्थात्—इस देहरूप पिप्पल-वृक्षमें दो पक्षी (आत्मा व परमात्मा) सखारूपसे बैठे हैं, उनमें एक तो फलोंका स्वाद लेकर उपभोग कर रहा है और दूसरा केवल देख रहा है । भावार्थ यही कि परमात्मा प्रत्येक आत्माके इतना समीप होते हुए भी आत्मा तो अपने सखाको भूल फलास्वादनमें ही मस्त है । जब इसका तथ्य आत्मा समझ लेती है तो फिर उसका मित्र उसके पास ही है और उसके लिये 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' सा हो जाता है ।

इस कथानकमें भी यदि हम इसे पूर्व प्रकरणके साथ पढ़ें तो ऐसा मालूम पड़ता है जैसे इसमें तीन बातें बतलायी गयी हैं (१)—समष्टिरूप परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान कैसे सबका आदिकारण है; (२) व्यष्टिरूप सृष्टि-तारतम्यमें महाभूतके अन्तर्निहित उस परमात्माकी पृथक्-पृथक् दैवी शक्तियाँ कैसे अपना-अपना काम सर्वव्यापक होकर करती हैं, जिन्हें शास्त्रोंमें देवता कहकर बतलाया गया है; और (३) कैसे उन्हीं शक्तियोंद्वारा मानव अन्तमें परमात्मतत्त्वकी जानकारी कर सकता है ।

इसको समझनेके लिये यदि प्रश्नोपनिषद्‌के प्राणकी उत्पत्ति एवं क्रिया आदिका विवेचन किया जाय तो पहले-पहल प्राणके लिये कहा गया है—'आत्मन एष प्राणो जायते' ''आत्मासे प्राणकी उत्पत्ति है । और आत्माका उद्गम परमात्मा ही है । इसके बाद अपान, समान, व्यान एवं उदान नामक चार और शरीरस्थ वायुओंका वर्णन है और फिर उनका शरीरस्थ कार्य एवं बाह्य जगत्‌में रूप बताया गया है । इस प्रकार प्राण आदि पाँचों वायुओंके कार्यक्रममें प्राण तो सबमें प्रधान है । जिससे आत्माका घनिष्ट सम्बन्ध है और जिसपर अन्य सब वायु निर्धारित हैं । उसका काम तो सारे शरीरमें जीवन-संचार है, और स्थिति खासकर मुख-नासिकाके श्वासोच्छ्वासमें तथा नाक और कानकी शक्तियोंमें मानी गयी है । वही मुखकी कान्ति है तथा आँखोंकी ज्योति, इत्यादि । गुदा और उपस्थमें अपान-वायु स्थित है, जो वहाँकी सब क्रियाओंका सञ्चालक है । नाभिमें समान-वायुका स्थान माना गया है जो पेटमें डाले हुए अन्नको पचाता है, समान रूपसे रस बनाकर सब अवयवोंमें पहुँचाता है और इस प्रकार सब अवयवोंका पोषण करता है । व्यान-वायुका संचार हृदयरूपी नाडी-केन्द्रसे लेकर सब नाडियोंमें है, जिससे सर्वाङ्गीण चेष्टा उत्पन्न होती है, तथा त्वचा आदि इन्द्रियोंसे स्पर्शादिका ज्ञान पैदा होता है । अतः 'सुषुम्णा-नाडी' जो रीढ़में स्थित बतलायी गयी है, उसके जरिये जो ऊपरकी ओर विचरता है वह वायु उदान-वायु है जो शरीरमें उष्णता रखता है और जिसके चले जानेसे प्राण भी शरीर परित्याग कर देता है ।

अब इनका स्वरूप बाह्य जगत्‌में क्रमशः इस प्रकार है—प्राणरूप सूर्य है । अपानरूप अनेक ओषधियोंको धारण करनेवाली स्थूल तत्त्व-रूपा पृथ्वी है । समान, पृथ्वी और स्वर्गके बीचका (या यों कहिये स्थूल और सूक्ष्म लोकके मध्यस्थ) आकाश-तत्त्व है । और उस आकाशमें विचरनेवाला वायु व्यान है तथा ब्रह्माण्डव्याप्त तेज ही उदान है ।

मुझे उपर्युक्त आख्यायिकामें प्राण ही प्रकट छद्म-वेशी यक्ष मालूम देता है । हमारे शरीरस्थ पोषक समान वायु ही इन्द्र, उदान ही अग्निदेव और व्यान ही वायुदेव हैं । और जब शरीरधारी मानव अपने परमात्मतत्त्वको पहुँचना चाहता है—जो है 'दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्'—तो इन्हींकी प्रक्रियासे प्रयत्न करता है । ऐसा समझिये, मानो छद्मवेषी 'प्राण' प्रत्यक्ष यक्षरूप ब्रह्म खड़ा है और साधक ऊर्ध्वगामी 'समान-वायु' (यहाँ जात वेदा अग्नि) द्वारा भौतिक बुद्धिबल प्राप्तकर मानो पहला प्रश्न प्राणसे ही पूछता है—'तू कौन है ?' तब प्राण उससे बीचमेंही पूछ बैठता है—'तेरी बुद्धि कैसे चलायमान है ?' फिर व्यानरूप चेष्टा (यहाँ मातरिश्वा वायु) चेष्टित होकर उसका थाह लगाने आगे बढ़ती है और ध्यान करती है, सोचती है, उस तथ्यकी जानकारीके लिये वेगसे स्फुरित होती है । तब मानो सारे शरीरकी चेष्टा ही उधर घूम जाती है और तथ्य हृदयङ्गम होने लगता है । तब 'समान वायु' से साधककी वह उत्कट चेष्टा रसरूप ही बनकर मानो सारे शरीरमें व्याप्त हो जाती है । योगीका बाहरी 'ॐकार' आभ्यन्तरिक गूँज हो उठता है । ॐशब्द ही सारे शरीरसे गूँजता है, ॐ ही दीखता है, ॐ ही सुना जाता है, सब कुछ 'ॐकारमय' ही बन

जाता है । तब 'उमा'रूप 'ब्रह्म विद्या' अथवा परम ज्ञान उदय होता है, और वह छद्मवेशी यक्ष-रूप प्राण मानो उस दिव्य ज्ञानके दिव्यानन्दमें ही सराबोर होकर अन्तर्धान हो जाता है । और तभी वह 'बिजलीका चमकना-सा' या 'आँखका झपकना-सा' ब्रह्मका समय-समयपर आलोकित क्षणिक आभास ठोस रूप धारण कर एक दिन साक्षात् साधकके सम्मुख प्रतिभासित हो जाता है । किंतु यह क्रिया बैठे-बैठे ख्यालसे नहीं, अपितु प्रत्यक्ष जगत्में मन, वचन और कर्मकी शुद्धिसे, अनासक्तिसे, शुद्ध सेवा-भावसे ही हो सकती है । 'तस्य तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्'—अर्थात्; उस विद्याके तप, दम, कर्म ही आधार है; वेद उस विद्याके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, और सत्यरूप वह सबका स्वामी उसका आयतन या लक्ष्य ।

उपर्युक्त विधिसे हम समझें तो जो अणुमें है, वही विश्वमें है । क्योंकि जो शरीरमें देखा, वही ब्रह्माण्डमें भी है । सब चीजोंके तत्त्व-स्वरूप उसके अंशभूत देवगण उसीकी तरह बाहर भी हैं और अंदर भी । तथापि वह उन सबका भी परम तत्त्व उनसे भी अधिक सूक्ष्म रूपसे सबमें विराजमान है । आम ही का दृष्टान्त लीजिये । दृश्यमान तत्व सब मानो आम है । उसमें निहित रस उनमें अधिष्ठित प्रत्येककी निराली-निराली देवशक्तियाँ हैं, और उस रसका भी स्वाद वह परम देव परमेश्वर है । जो रसका स्वाद समझ लेगा, उसके लिये आम क्या आमका रस भी गौण हो जायगा । उस परम सार-भूत उस विश्वके स्वादतक पहुँचनेके लिये क्रिया जरूरी है और वह क्रिया जिस परिस्थितिमें हम उत्पन्न हुए उसीमें करनी होगी ! उस क्रियाके तीन भाग—तप, दम, कर्म ऊपर कर ही दिये गये हैं । तप है—जैसी परिस्थितिमें हम हों, वैसी ही परिस्थितिसे सामञ्जस्य बिठाकर चलना । यदि विपरीत परिस्थिति है तो उसके लिये सिर ठोकनेसे उसकी विपरीतता नहीं हटेगी । दम है—अपनी स्वयं बाहरकी और अंदरकी शुद्धि कर विकारी भावनाओंका दमन करना । इन्द्रियोंकी माँगें स्वभावतः हम रोक नहीं सकते किंतु उनमें अनासक्ति और संयम ला सकते हैं । जैसे 'भोजनं प्राणरक्षणाय''—भोजन प्राणरक्षार्थ किया जाय । 'स्वादाय' स्वादके लिये किया तो पेट बिगड़ जानेकी आशंका है । आसक्ति भी उत्पन्न होगी और शायद कभी भिन्न-भिन्न स्वाद न मिलनेसे क्रोध भी । यही अन्यान्य इन्द्रियोंकी गति है । और कर्म है—अनासक्त होकर गीताके उपदेशानुकूल फलकी इच्छाके बिना 'कर्तव्य-कर्म' ऐसा मानकर कर्म करना—सेवाभावसे कर्म करना, जिससे न अपना न दूसरेका अनिष्ट हो । जब जन्म लिया है तब रहना हमें अवश्य है ही, पर दूसरेके रहनेमें जानते हुए बाधक होकर कभी नहीं । अपने रहनेका दायरा दूसरेके साधनोंका अतिक्रमण न करे । यही गीतामें 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् 'योगका नाम कर्ममें कुशलताका संचार' ऐसा कहकर जतलाया है । यह कर्म-कुशलता उपर्युक्त दो विधियोंसे अपने-आप आ जाती है । वेदोंने भी यही बात अनेक प्रकारसे, अनेक दृष्टान्त देकर समझायी है । ऐसे रहन-सहनका शास्त्र ही वेद है और तभी हमारे अंदर छिपा हुआ वह सत्यस्वरूप प्रतिभासित हो सकेगा । तभी मुक्तिका मार्ग हमारे सामने खुल सकेगा ।

* * *

शुभ अभिलाषा

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्टे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
सदा पुण्येऽरण्ये शिवशिवशिवेति प्रजपतः ॥

सर्प और हार, बलवान् शत्रु और मित्र, मणि और मिट्टीके ढेले, पुष्पशय्या और पाषाण तथा तृण और स्त्रीजनमें समान भावसे देखते हुए मेरे जीवनके शेष दिन किसी पवित्र वनस्थलीमें सदा 'शिव, शिव, शिव'का निरन्तर जप करते हुए ही व्यतीत हों ।

* * *

विषय-वासनासे तपस्याकी हानि

[सौभरि मुनिकी आदर्श कथा]

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

सत्ययुगकी बात है । अयोध्या-नरेश महाराज मान्धाता सूर्यवंशके भूषण थे । सत्ययुग (कृतयुग)में मान्धाताके समान प्रतापी, धार्मिक और यशस्वी राजा कोई नहीं हुआ । इन्हीं महाराज मान्धाताके शासन-कालमें सौभरि नामके मुनि नदीजलमें बारह वर्षसे तपस्या कर रहे थे । उस नदीमें एक विशालकाया मछली रहती थी । उसके कितने ही बच्चे और नाती-पोते भी थे । मछली अपने सारे परिवारको सिरपर, पीठपर और बगलमें लेकर जलमें आनन्दसे खेला करती थी । इस कुसङ्गका दुष्परिणाम हुआ—उसका ऐसा विहार-विलास देख-देखकर मुनिके मनमें भी यह कमनीय कामना उठने लगी कि 'यदि मेरे भी पुत्र, पौत्र होते तो मैं भी उन्हें अगल-बगलमें लिये आनन्दकी अठखेलियाँ खेलता रहता । बार-बारकी इस कोमल कल्पनाने मुनिके मनमें प्रलोभन-का जाल फैला दिया । अब कहाँका जप-तप और कहाँका वैराग्य-योग ! विधिका विधान बड़ा विचित्र होता है और मायाका जटिल जाल भी अकाट्य-सा होता है । जो कठोर तप करते-करते वर्षों बिता चुका है और अपने सिरके सारे बाल सफेद करके हड्डी, मांस और चमड़े तकको सुखा चुका है, वह भी विधि-विधान और मायाजालमें पड़कर खुशी-खुशी संसारकी विकट चक्कीमें पिसनेके लिये चला जाता है !

नदी-तटसे चलकर सौभरि महाराज मान्धाताकी सभा-में पहुँचे । महाराजने मुनिको देखते ही सिंहासनसे उतरकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया । पश्चात् उनका यथाविधि पूजन करके महाराजने उन्हें एक दिव्य आसनपर बैठाया । कुशल-समाचार पूछनेके अनन्तर महाराजने मुनिसे निवेदन किया—'महात्मन् ! यदि दासके लिये कोई आज्ञा हो तो कृपा करके उसे प्रकट कीजिये । मैं सहर्ष उसका पालन करके अपनेको धन्य मानूँगा ।' मुनिने मान्धाताको मछलीवाली कथा और अपनी अभिलाषा सुनाकर कहा—'राजन् ! मैं तो अब अपने जीवनका ऐसा ही निश्चय कर चुका हूँ । मैंने सुना है कि आप बड़े धर्मपरायण हैं । मैंने यह भी सुना है कि आपकी अनेक कन्याएँ हैं, जो बड़ी सुशीला और गुणवती हैं । उनमेंसे एकका मुझे दान दे दीजिये । मैं विवाह करके अपनी लालसा करूँगा । इसी कार्यसे मैं आपके पास आया हूँ । आपको कार्यको पूरा करना होगा ।'

'एं ! यह कैसा विचित्र प्रस्ताव !' मान्धाता तो प्र सुनते ही स्तब्ध हो गये । उनका सिर चकराने लगा । मुँहपर काली स्याही-सी फिर गयी । 'चलते समय जिसके सीधे नहीं पड़ते, बोलनेमें जिसकी जीभ लड़खड़ाती है वस्त्राभूषणके स्थानपर जिसके शरीरपर केवल बित्ते भ लँगोटी है, उस जरा-जर्जरको लक्ष्मी-से लावण्य, सरस्व गुण और रति-से सौन्दर्यवाली राजकुमारी कैसे दानमें दी सकती है ? कोई कन्या मुनिके साथ विवाह करना भी पसंद करेगी ?' मान्धाता इस उधेड़-बुनमें लगे थे कि सौभरिने फिर कहा—'राजेन्द्र ! आप इतनी गहरी चिन् क्यों पड़ गये ? आपको तो इस सुअवसरसे लाभ उ चाहिये । आपके पास शीघ्र ब्याहने योग्य सयानी कन्या है और मुझ-सा सुयोग्य वर भी स्वयं द्वारपर आ गया है । इतनी देरतक किस मीन-मेषके विचारमें पड़े हैं ? तुरंत क दान कर अपने सिरका बोझ हल्का कीजिये और मेरा मनो भी पूरा कीजिये ।'

धर्म-प्राण मान्धाता ऋषिकी आज्ञाकी अवहेलना कर सकते थे । धैर्य धरकर और साहस बाँधकर उन्हों कहा—'प्रभो ! मैं किसी दूसरी चिन्तामें नहीं पड़ा, क्यों यह तो कन्याका बड़ा भारी सौभाग्य होगा कि वह अ जैसा वर पायगी । परंतु मुझे एक अड़चन दिखायी दे है । वह ऐसी कि मेरे कुलकी यह रीति-सी है कि कन्या स्व अपने लिये पतिका वरण करती है । मुझे केवल यही चि है कि इस रीतिका उल्लङ्घनकर मैं कैसे आपको अपनी क सौंप दूँ ।'

सौभरिने कहा—'इसके लिये कोई चिन्ता नहीं है आप अपने राज-प्रासादके भीतर ले चलिये । यदि कोई क मुझे पसंद करेगी, तभी मैं विवाह करूँगा । अन्यथा समझ जाऊँगा कि अब मुझे इस जीवनमें विवाहकी अ नहीं करनी चाहिये ।'

मान्धाताने मनमें विचार किया—'ठीक है । इस तरह मैं मुनिके शापसे भी बच जाऊँगा और किसी कन्याकी इच्छाके विपरीत विवाह भी नहीं होगा ।' मान्धाताने नौकरको बुलाकर कहा—'पूजनीय मुनिजीको राजमहलमें ले जाओ । राजकुमारियोंसे कहना कि 'जो कोई कन्या अपनी इच्छासे इन महात्माजीका वरण करेगी, उसका विवाह मैं इनके साथ कर दूँगा ।'

आगे-आगे नौकर चला, पीछे-पीछे सौभरि चले । सौभरि मुनि ऋषि ही ठहरे । राज-भवनमें पैर रखते ही उन्होंने तपस्याके बलसे एक नवयुवकका-सा तगड़ा और सौन्दर्यमयरूप बना लिया । तपस्या-सिद्धिका दुरुपयोग आरम्भ हो गया । विषय-वासनाका यही परिणाम होता है । नौकरने राजकुमारियोंके पास जाकर उनसे राजाकी आज्ञा और मुनिके आगमनका कारण कह सुनाया ।

मुनिका अत्यन्त मंजुल और मोहक रूप देखकर प्रत्येक राजकुमारी मनमें कहने लगी—'यदि इस परम सुन्दर युवकसे मेरा विवाह हो जाता तो मैं अपना जन्म सफल समझती ।' होते-होते सबने मुनिको एक साथ घेरकर कहना प्रारम्भ किया—'मैं इनका वरण करती हूँ,' 'पहले मैंने ही वरण किया है,' 'ये मेरे ही योग्य हैं ।'

यह समाचार तुरंत राजदरबारमें पहुँच गया । महाराज तो आश्चर्य-सागरमें डूबने लगे । उन्होंने उसी क्षण महलमें जाकर देखा—सौभरि नवेले नागर बने बैठे हैं । यह विलक्षणता देखकर मान्धाता बड़े विस्मित हुए । अन्तको सभी कन्याओंको अत्यन्त उत्सुक देखकर महाराजने उन सभीका विवाह मुनिके साथ, बड़ी धूम-धामके साथ कर दिया ।

मुनि सौभरि आनन्द-लहरीमें डूबते-उतराते पचास राजकुमारियोंके साथ अपने आश्रमपर पहुँचे । पहुँचते ही उन्होंने विश्वकर्माको बुलवाया । मुनिने विश्वकर्माको आज्ञा दी—'शीघ्र ही मेरे लिये तुम कई महल तैयार करो ।' आज्ञा पाते ही विश्वकर्माने शीघ्र ही आकाशचुम्बिनी अट्टालिकाएँ तैयार कर दीं । साथ ही प्रत्येक महलमें जल-क्रीड़ाके लिये प्रस्फुटित पद्मवाले सुन्दर सरोवर, उन सरोवरोंके तटोंपर हरे-भरे उपवन, उनके बीच-बीचमें विश्राम-स्थान, उनमें हृदयहारिणी शय्याएँ, उनपर स्फटिकके समान चमकते हुए बिछौने और चादरें तथा विविध मणि-माणिक्य-जटित एवं चन्द्रमाकी-सी निर्मल चाँदनी छिटकानेवाले रत्नखचित फाटक आदि बनाकर विश्वकर्माने अलबेले महल तैयार कर दिये । देखते-ही-देखते महलोंमें पपीहों और कोयलोंकी सुरीली तानें सुनायी पड़ने लगीं । इन्हीं महलोंमें सौभरि आनन्द-विहारमें अपने दिन बिताने लगे । परंतु इस स्वर्ग-से सुख-भोगकी बात अभीतक महाराज मान्धाताको नहीं ज्ञात हो सकी थी ।

एक दिन मान्धाताने विचार किया—'कहीं मुनिके पास जाकर मेरी कन्याएँ दुःख तो नहीं उठा रही हैं ! पता नहीं, उन्हें सुन्दर वस्त्र-भोजन मिलते हैं या नहीं । एक बार स्वयं चलकर कन्याओंको देख आना चाहिये ।' इसी विचारके अनुसार महाराज मान्धाता सौभरि ऋषिके आश्रमपर पहुँचे ।

वहाँ पहुँचते ही चारों ओर इन्द्रपुरीकी-सी मनोहारिणी महल-अटारियाँ देखकर महाराज बड़े विस्मित हुए । उन्होंने सोचा—'ये स्फटिक पत्थरके बने हुए प्रकाण्ड राज-प्रासाद, यह ऐश्वर्य-आडम्बर और यह आमोद-प्रमोद तो हमलोगोंके लिये भी दुर्लभ हैं ।' कुछ देरतक आँखें फाड़-फाड़कर चारों ओर देखनेके पश्चात् महाराजने महलमें अपने आनेका सन्देश भिजवाया । देखते ही बड़ी कन्यासे महाराजने कुशल-समाचार पूछा । उत्तर मिला—'पिताजी ! सब कुछ ठीक है । मुझे कोई कष्ट नहीं है । सुख-भोगके सभी सामान यहाँ हैं । हाँ, एक बात है । मुनि मुझे ही सबसे अधिक मानते हैं । यह देखकर कदाचित् मेरी बहनोंको कष्ट होता होगा !' महाराजने सभी कन्याओंसे एक ही प्रश्न पूछा और सबने एक ही उत्तर देकर अन्तमें कहा—'मुनि मुझे ही सबसे अधिक मानते हैं ।'

यह सब विचित्र परिस्थिति देख-सुनकर महाराजकी आँखें खुल गयीं । वे मुनिकी तपस्याके प्रचण्ड प्रभावका अनुमान करके मन-ही-मन आनन्द और विस्मयमें डूबने-उतराने लगे । बड़े आदर-संभारसे मान्धाताने सौभरिकी पूजा की । सौभरिने भी महाराजका विधिवत् आतिथ्य-सत्कार किया । कई दिनोंके पश्चात् मान्धाता अपनी राजधानी अयोध्या लौट आये ।

कुछ वर्षोंके अनन्तर राजकुमारियोंसे अनेकानेक पुत्र हुए । उन्हें देख-देखकर ऋषि सौभरिकी ममता-वल्ली बढ़ने लगी । शिशुओंकी तोतली बोलियाँ सुन-सुनकर सौभरि आनन्दके मारे फूले न समाते और आप-ही-आप कह उठते—'अहा ! ये प्रेमके पुतले अब अपने ही पैरोंपर खड़े होकर मचलते हुए चलने लगे । इनकी लटपटी चाल

और अटपटी बोली कैसी प्यारी मालूम होती है। यदि ये खेलने-कूदने लगते तो और भी आनन्द आता !' कुछ समय बीतनेपर लड़के खेलने-कूदने भी लगे। अब ऋषि सोचने लगे—'यदि ये शीघ्र ही हृष्ट-पुष्ट, युवा हो जाते, तो मैं इनका विवाह भी कर देता।' क्रमशः लड़के युवा हो गये और सौभरिने बड़ी धूम-धामसे उनका विवाह भी कर दिया।

अब मुनिको यह लालसा होने लगी—'यदि मैं जीते-जी इनके बाल-बच्चे देख लेता, तो बड़ा आनन्द आता।' काल पाकर यह लालसा भी पूरी हुई। अब मुनिको पौत्रोंके विवाह कर देनेकी कामना हुई। इस प्रकार मुनिकी सारी लालसाएँ पूरी होती चली गयीं तो भी ऋषिका लालसा-जाल और चिन्ता-वितान फैलता ही गया। इस तरहकी अतृप्त-जिह्वा वासनामें पड़ जानेके कारण सौभरिकी शक्ति अधिकाधिक क्षीण होने लगी।

अन्तको सौभरिने होश सँभाला। वे सोचने लगे—'मेरे पुत्र हुए, तो भी मुझे शान्ति नहीं मिली; वे युवा हुए, तो भी मुझे तृप्ति नहीं हुई; उनका विवाह हुआ, तो भी शान्ति नहीं मिली; उनके भी पुत्र हुए, तो भी मेरी लालसाओंका उपशम नहीं हुआ। अब लालसा होती है कि उनके भी पुत्रोंको देखूँ! इसलिये शास्त्रोंका कहना ठीक है कि 'विषयी पुरुषोंकी वासनाओंका कभी अन्त नहीं होता, तृष्णाएँ कभी दूर नहीं होतीं। इसीसे न तो कभी चिरस्थायी सुख मिलता है और न कभी शान्ति ही प्राप्त होती है। दो-चार-दस वर्षोंकी तो बात ही क्या, असं वर्षोंतक भोग करते रहनेपर भी गृहस्थाश्रममें सदा अशां और दुःख ही बने रहते हैं। शान्तिके दर्शन नहीं होते सङ्गदोषसे मेरी तपस्या नष्ट हुई। तपस्याका जो सा फल मिलता, वह तो गया ही, मेरा जीवन भी बरबाद गया। हाय! मेरे समान संसारमें कौन मूर्ख होगा, जिस अपने सारे किये-करायेपर पानी फेर दिया! 'भगवन् कृपासिन्धो! मैं पुनः तुम्हारी शरणमें आता हूँ। दयानि मुझे इस भयङ्कर भवसागरसे उबारो। इस बार या आपके दर्शन करके मानव-जीवन सार्थक ही करूँगा काम-क्रोधमय इस शरीरको ही समाप्त कर दूँगा।'

इस प्रकार बार-बार पश्चात्ताप करते हुए अपने अन ऐश्वर्यपर लात मारकर सौभरि पुनः तपस्या करने च गये। साथमें अपनी स्त्रियोंको भी लेते गये। कुछ दि तक वानप्रस्थाश्रममें रहकर मुनिने कठिन तप किय अनन्तर संन्यास लेकर उन्होंने विकट साधना की। अन्त सौभरि ईश्वरमें विलीन हो गये।

पाठक! क्या ही उत्तम होता, यदि हमलोग सौभरि मुनिकी तरह पश्चात्ताप करते हुए विषयवासन जटिल जालसे निकल पड़ते और करुणामय प्रभुका भ करते हुए उनके आनन्द-धाममें पहुँच जाते। तथास्तु।*

झूला-गीत

झूलो नन्द-दुलारे, झूलो हे वृषभानु-दुलारी,
झूलो हे अलबेली राधा, बाँके विपिन-विहारी।

नन्हे-से इस उर-मधुवनमें प्रेम-कदमकी छैयाँ,
झूला बाँध झुला लूँ जीभर, लूँ जीभरी बलैयाँ।

देव छबीले, देवि छबीली, मानो विनय हमारी;
आओ हे गोकुलके प्यारे, बरसानेकी प्यारी।

—राजाराम खरे

---

* सौभरि मुनिकी यह उपदेशमयी कथा अनेक पुराणोंमें है; परन्तु विष्णुपुराणमें कुछ विस्तृत है। यहाँ इस कथाका विव विष्णुपुराण चतुर्थ अंश, प्रथम परिच्छेदके आधारपर ही लिखा गया है। लेखक—

जगत्का स्वभाव

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

जगत्में दो चीजें हैं—१. जड और २. चेतन । जड पदार्थोंके स्वभाव अलग-अलग हैं । हमें जिससे काम होता है, उसे लेते हैं और उससे अपनी सुख-सुविधा प्राप्त करते हैं । हमें जडकी ओरसे कोई उद्वेग नहीं है । जड-जगत्से हम दुखी नहीं हैं । कभी दुखी होते हैं तो भी हम उसमें उस पदार्थका दोष नहीं बताते; क्योंकि वह तो जड है । अपना ही दोष बतलाते हैं—जान-बूझकर क्यों भूल गये ? आगसे जलते हैं तो इसमें आगका क्या दोष । दोष हमारा कि हमने सावधानी नहीं रक्खी । जड पदार्थका अपने और दूसरोंके सुखके लिये उपयोग करना बुद्धिमानी है । दूसरोंके नाशके लिये प्रयोग करना अज्ञान है । मनुष्यको जब मनके भोग पूर्ण करनेकी इच्छा होती है, तब वह कालरूप बन जाता है और चाहे जिसका नाश करके भी भोग प्राप्त करना चाहता है । उस कालरूपी क्रियासे प्राणि-पदार्थका नाश होता है । इससे परमात्मा नाराज होते हैं । मनकी भोग-लालसाका भण्डार तो कभी भरनेवाला है ही नहीं । जो सुखपूर्वक जीना चाहता है, उसे तो मनके विलासोंका त्याग ही करना पड़ेगा । इस जगत्के जड-चेतन सभी पदार्थ एक मनको प्राप्त हो जायँ, तो भी वह पूर्ण सन्तुष्ट तो हो ही नहीं सकता !

अब रही चेतन-सृष्टि । ईश्वरने जड और चेतन सभीको परस्पर सुख पहुँचानेके लिये रचा है; परंतु प्राणिमात्र दूसरे प्राणीसे सुख ही नहीं पाते, सुखके साथ दुःख भी पाते हैं । इसका कारण है—सबके पृथक्-पृथक् और विचित्र स्वभाव । दूसरेका स्वभाव हम नहीं बदल सकते । सबको अपना स्वभाव अच्छा लगता है और दूसरेका बुरा लगता है । जबतक प्राणी अपने स्वभावको बुरा नहीं समझता, तबतक उसे बदलनेकी उसकी इच्छा ही नहीं होती, फिर प्रयत्न तो कहाँसे होगा । जिसको जबतक अपने स्वभावका दोष सूझता ही नहीं, तबतक उसमें सुधार नहीं होता । उपदेशका पात्र, परमार्थ-पथका पथिक होनेके योग्य वह है, जिसको अपने स्वभावका दोष दीखता है और जो उसे सुधारनेके लिये उत्कण्ठित है । सच्ची बात तो यह है कि जबतक मनुष्य साधकदशामें होता है, तबतक किसीका भी स्वभाव पूर्णरूपसे तो अच्छा होता ही नहीं ।

मनुष्यको जब अपना स्वभाव बदलनेकी भूख जग जाती है और जब वह उसके लिये प्रयत्न करने लगता है, तब यदि बीचमें कोई बाधा न आवे तो पूर्णताकी प्राप्तितक वह कहीं अटकता नहीं । अपने स्वभावको गलाकर पूर्णता प्राप्त करनेकी मनोकामना होनेपर ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है । मुक्तिका अर्थ है—जीव-स्वभावका नाश । अर्थात् परमपदकी प्राप्ति । जीवका स्वभाव है 'पर'से—दूसरेसे सुख प्राप्त करना । परमात्माका स्वभाव है 'स्व'से —अपनेसे ही सुख प्राप्त करना । इस जगत्में सम्बन्धी, मित्र तथा दूसरे लोग—हमें उनका स्वभाव अच्छा नहीं लगता, अतः हमारे सुखके लिये वे अपने स्वभावको सुधारें, ऐसी आशा ही नहीं रखनी चाहिये । प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति अपने सुखके लिये है । जो परमार्थका साधन करता है, वह भी, वैसा करनेपर उसे सुख होता है, इसीलिये करता है । अतएव कोई भी मनुष्य, जबतक वह यह नहीं जान लेता कि उसका स्वभाव बदलनेसे उसे सुख होगा, तबतक अपना स्वभाव कभी नहीं बदलेगा ।

हमको दूसरेका स्वभाव अच्छा नहीं लगता, इसका अर्थ यह कि हमारे स्वभावका उसके स्वभावके साथ मेल नहीं बैठता । अब यदि मेल बैठाना हो तो दोमेंसे एक बात होनी चाहिये—या तो हमारा स्वभाव बदले या उसका बदले । हम एक हैं; किंतु हमको 'पर'—दूसरा कहनेवाले जगत्में बहुत हैं । हमारे एकके लिये 'पर' कहलानेवाले दूसरे अनेकों अपना स्वभाव बदलें, यह कैसे हो सकता है ? और यों बदला-बदली की जाय तो फिर स्वभावमात्र ही अस्थिर हो जायगा । एक व्यक्ति है, हमको उसका स्वभाव अच्छा नहीं लगता । अतः वह हमारे संसर्गमें हमारे अनुकूल स्वभाववाला बन जाय——इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमारे सिवा सभी परतन्त्र हों और हमारे अधीन होकर रहें और हम स्वतन्त्र हों, तथा किसीके अधीन होकर न रहें । हमारी यह मनोकामना कैसे सफल हो सकती है ? हमारा ऐसा कौन-सा तप, कौन-सा पुरुषार्थ, कौन-सी साधना या कौन-सा योग है, जिससे इस प्रकार सब लोग हमारे अधीन हो जायँ । अतएव साधकको चाहिये कि वह इस मनोरथका त्याग कर दे । जगत्का यह स्वभाव है कि हमारा चाहे जैसा स्वभाव हो, उसका सामना करनेवाला जगत्में कोई हो और वह यदि उसमें अटल रहे तो युद्ध आरम्भ हो जायगा । जीतेगा तो जगत् उसके अनुकूल हो जायगा । हारेगा तो उस व्यक्तिको जीतनेवाला अपने वशमें कर लेगा । इसीका नाम है—स्वभाव-युद्ध । ऐसे युद्ध जगत्में असंख्य और अखण्ड होते ही रहते हैं । जगत्का अर्थ ही है—'चित्तके स्वभावकी युद्धभूमि ।'

शरीर और पदार्थ पासे हैं और चित्त पासा डालकर खेलनेवाला है । इसमें जो सामना करता है, वह कभी सुख-शान्ति नहीं पाता ।

यह जगत् थकानेके लिये है, चिढ़ानेके लिये है । एक खँखारा करता है, दूसरा चिढ़ता है । कोई कुछ बोलता है तो कोई चिढ़ता है । कोई व्यक्ति अमुक बातसे चिढ़ता है, यह जहाँ निश्चित हुआ कि चिढ़ानेवाले बढ़ते ही जाते हैं । चिढ़नेवाला ज्यों-ज्यों चिढ़ानेवालोंका सामना करता है—त्यों-त्यों चिढ़ानेवालोंकी संख्या और बल बढ़ते जाते हैं । सभी चिढ़ानेवाले चिढ़ाना छोड़ देंगे, तब चिढ़नेवाला चिढ़ना छोड़ेगा—ऐसा कभी नहीं होगा । सबसे सीधा और सहज उपाय यह है कि चिढ़नेवाला ही चिढ़ना छोड़ दे । वह छोड़ देगा तो फिर कोई चिढ़ानेवाला रहेगा ही नहीं । जब कोई चिढ़ेगा नहीं तब उसे कौन चिढ़ावेगा । जगत् उसीको चिढ़ाता है, जो चिढ़ता है । जगत् उसीको उद्विग्न करता है जो उद्विग्न होता है । उद्विग्न होना छोड़नेके और उद्विग्न करनेका अपना स्वभाव छोड़नेके बीचमें समय लगता है । उस बीचके समयमें उद्विग्नताके बहुत-से प्रसङ्ग आवेंगे, इसपर भी वह यदि उद्विग्न नहीं होगा तो जगत् उद्विग्न करना छोड़ देगा । जगत् उद्विग्न करना चाहे और हम न उद्विग्न हों, जगत् हमें उद्विग्न करनेके लिये अपने सभी प्रयत्न करे, परंतु हमारा मन उसको सहन करके उद्विग्न हो ही नहीं, तो जगत् हमारे अधीन हो जायगा । जगत्-स्वभाव और व्यक्ति-स्वभावके बीच सतत युद्ध चलता है । जो उद्विग्न होता है, उसे दूसरेका दास बनना पड़ता है । जो उद्विग्न नहीं होता, उसका दास उद्विग्न करनेवाला जगत् बन जाता है । युद्धमें जो विजय प्राप्त करता है, वही गद्दीपर बैठता है । शान्तिकी—मुक्तिकी गद्दीपर वही बैठता है जो सबको जीत लेता है । सबको जीतनेका एक ही रास्ता है—उद्विग्न न हो—अकुलावे नहीं । जड-पदार्थ उद्विग्न नहीं होता; परंतु क्रियाहीन होनेके कारण पराधीन रहता है, इससे वह मुक्तिके योग्य नहीं है । चेतन व्यक्ति उद्विग्न न हो और पराधीन रहे तो उसे सबका दास बनना पड़ता है । उसे मुक्ति कभी नहीं मिलती । स्वतन्त्र रहनेपर भी जो उद्विग्न नहीं होता, वही तरता है । नदीमें तरंगें उठा ही करती हैं, तरंगोंके अधीन नहीं होना चाहिये । जो तरंगोंसे हार नहीं मानती, उद्विग्न नहीं होती और अपना मार्ग नहीं छोड़ती, वही नाव इच्छित स्थानपर पहुँचती है । नाव इधर-उधर हो परंतु ध्येयको न भूले, तभी वह अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचती है । जगत्रूपी सागर है, इसमें विभिन्न स्वभावके व्यक्ति हैं, वही इसकी नित्य उठनेवाली तरंगें हैं । इनसे हार मानकर, उद्विग्न होकर, अपना ध्येय छोड़कर, इनके अधीन होकर जो इधर-उधर भटकता है, वह लक्ष्यसे च्युत हो जाता है—ध्येयको नहीं प्राप्त करता । हमें दूसरेका स्वभाव नहीं अच्छा लगता । ऐसा जरा-सा भी भाव होगा तो निश्चय ही उद्विग्नता होगी । जगत्में पृथक्-पृथक् स्वभाव हैं, इसीसे जगत् जीवित है । सबका स्वभाव एक-सा हो जानेपर तो उसी क्षण जगत्का नाश हो जायगा । पृथक्-पृथक् स्वभावका नाम सृष्टि है और स्वभावके नाशका नाम ही मुक्ति है । अतएव भिन्न स्वभावसे भेंट होनेपर जानना चाहिये कि जगत्को उसकी जरूरत है । हम अफीम नहीं खाते, पर डाक्टरको उसकी जरूरत हो सकती है । हमें जो न अच्छा लगे या जिसकी न आवश्यकता हो, वह पदार्थ जगत्में रहना ही नहीं चाहिये, ऐसी इच्छा तो मूर्खता है ।

हमें अच्छा न लगनेवाले स्वभावके मनुष्यकी भी जगत्को जरूरत है । इसीसे वह जीता है । हमें उसके उपयोगकी जरूरत हो तो उपयोग करें, नहीं तो, वह अपने घर रहे । ईश्वरके मार्गमें जैसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये, वैसे ही जगत्-स्वभावके अधीन होकर ईश्वरके मार्गको छोड़ना भी नहीं चाहिये ।

ऐसा क्योंकर हो ? शान्ति रखनेसे । चित्तमें उद्वेग न हो और कर्म करता जाय । रास्ता काटता जाय । ईश्वरके मार्गमें जो कुछ बाधक हो, उससे दूर रहकर अपना रास्ता काटता ही जाय ।

जगत्में राह चलते मनुष्य आपसमें भिड़ नहीं जाते, एक दूसरेको मार्ग देकर अपना रास्ता पकड़ते हैं । कोई मनुष्य अपने सामने आनेवाले प्रत्येक मनुष्यसे लड़कर उसे हटाकर राह चलना चाहेगा तो वह अपने ध्येयतक कब पहुँचेगा ? उसका समय तो लड़ाई और उसका दुष्परिणाम भोगनेमें ही चला जायगा । जगत्के स्वभावको एक दूसरेसे टकराने नहीं देना चाहिये । शान्तिके साथ इधर-उधर होकर अपने मार्गपर चलते रहना चाहिये । अपने चित्तको उद्विग्न किये बिना ही, जिससे काम पड़े उसके साथ निर्दोष बर्तते हुए ध्येयसे कभी च्युत न होकर जो नित्य आनन्दमें स्थित रह सकता है, उसीका नाम जीवन्मुक्त है ।

शान्ति रक्खे, उद्विग्न न हो, चिढ़े नहीं, मार्ग काटता जाय, ध्येय न चूके, जगत्के स्वभावके वश न हो और अपना मार्ग न छोड़े तो उसे अवश्य मुक्ति मिलेगी । निर्दोष रहना और सबके साथ आनन्दसे रहना—यह कला सर्वश्रेष्ठ कला है, मुक्तिकी सच्ची कुञ्जी है ।

चन्दन

[लघु कथा]

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दूबे, साहित्यरत्न)

चन्दनका वृक्ष काँप गया । उसकी डालियोंमें लिपटे हुए काले भुजंग अपने प्राणोंके भयसे वृक्ष छोड़ झाड़ियोंकी ओर भागे । तीक्ष्ण धारवाली कुल्हाड़ीके प्रथम प्रहारका ही यह परिणाम था ।

'आह !' धीरेसे चन्दनके मुखसे निकल गया, 'भगवान्‌के राज्यमें अनीति और अन्याय उत्तम नहीं ।'

कुल्हाड़ी प्रहार-पर-प्रहार करती जा रही थी । करुणा और प्रेम नामकी कोई वस्तु नहीं थी उसमें । कोमल मलयजकी सरस कायामें वह धँसती, निकलती और पुनः सवेग आघात करती । धार्मिक मलयजके न्याययुक्त वचनकी ओर उसने ध्यानतक नहीं दिया ।

'आह !' अबकी बार चन्दन चीख उठा । उसकी कायाका एक प्रिय अंग कटकर उससे दूर पृथ्वीपर गिर पड़ा था । फिर भी उसने विनीत स्वरमें कहा, 'मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है बहिन ?'

'बहिन !' वाणीमें इतनी आत्मीयता और मधुरता होती है, कुल्हाड़ीने कभी कल्पना भी नहीं की थी । वह रुक गयी 'विषधर भुजंग तुम्हारी कायामें लिपटे रहते हैं' उसके मुँहसे निकल गया, पर उसकी आत्मा स्वीकार कर रही थी कि वह सत्य नहीं बोल रही है । अपने दोषोंको अविलम्ब स्वीकार कर लेना सामान्य बात नहीं ।

'परंतु इन कराल व्यालोंके विषका मुझपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता बहिन !' श्रीखण्डने उत्तरमें सनम्र कहा—'मेरे अंकमें लिपटकर उन्हें सुख मिलता है, शान्ति प्राप्त होती है, वे शीतलताका अनुभव करते हैं । मैं उनकी सेवाका निमित्त बन जाता हूँ, इस कारण मन-ही-मन मुदित भी होता हूँ ।'

'इस गिरिपर तुम्हारी शोभा नहीं ।' कुल्हाड़ीने सयुक्ति कहा, 'तुम्हें देवताओंके मस्तकपर रखनेका उपक्रम कर रही हूँ मैं । तुम जगत्‌में समादरित हो सकोगे । यहाँ तो देखो न भीलनियाँ तुम्हें आगमें झोंककर अपनी रोटी बनाया करती हैं । मेरी भावना अत्यल्प उपकारपूरित नहीं ।'

'क्षमा करना बहिन !' गन्धसारने मस्तक झुकाये विनम्रतासे कहा—'देवताके सिरपर चढ़ने और जगत्‌के द्वारा सम्मानित होनेकी मुझमें किंचित् कामना नहीं । यह मेरा स्वदेश है और यहाँसे अपने बन्धुओंके साथ मैं पवनको शीतल और सुगन्धित बनाकर जगत्‌को सुख, स्वास्थ्य प्रदान करता रहता हूँ । विषधरतक मुझसे लाभ उठाते हैं और ये भोली भीलनियाँ तो मेरी जीर्ण-शीर्ण शुष्क काया अग्निदेवको समर्पित करती हैं, किन्तु तुम्हारा कठोर प्रहार और मेरे जीवित कटते-गिरते ये अंक……।' श्रीखण्ड आगे नहीं बोल सका ।

'समादरणीय बन्धु माङ्गल्य ! पोरपकार-रत आत्माका आदर्श अनुपम होता है । संतका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । कुल्हाड़ी अधिक दुराव नहीं कर सकी । बड़ी दीनतासे वह बोली, 'मैं पापिनी हूँ । मैं अपने दोषोंको शब्दोंके वाक्‌जालमें आच्छन्न करना चाहती थी, पर तुम्हारे सङ्गसे मुझमें सत्य बोलनेका साहस उदित हो रहा है ।…मैं अधम हूँ । अभी कुछ ही घंटे पूर्व मेरा मुँह अग्निमें जलाकर हथौड़ेसे पीटा गया है, मुझे असह्य यातना मिली है, फिर भी मैं परपीड़नमें

रत होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पा रही हूँ ।' कुल्हाड़ीने अनुभव किया—उसका मुँह श्रीखण्डके स्पर्शसे शीतल और सुगन्धित हो गया है ।

'तुम विवश हो बहिन !' अपने दुःखोंकी चिन्ता किये बिना कुल्हाड़ीके परितोषार्थ गन्धसारने कहा—'जीवमात्र कर्मपाशमें आबद्ध है । तुम्हें जीवन ही ऐसा मिला है, जिससे अंगच्छेदनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता । यह कृष्णकाय पुरुष विवश करता है तुम्हें इस कार्यके लिये ।'

'मेरी जीविकाका प्रश्न है ।' पुरुषने दोनोंकी बातें सुन ली थीं। उसने तुरंत उत्तर दिया—'जीवननिर्वाहके लिये मेरे पास अन्य कोई साधन नहीं ।'

वाक्य पूरा होते-होते पुरुषने कुल्हाड़ी पूरी शक्तिसे चला दी । 'झन्न !' कुल्हाड़ी चन्दनकी डालमें नहीं लग सकी, दूर जा गिरी । तनिक-सा बच गया, नहीं तो पुरुषका पाँव कट गया होता ।

'अब तुम परोपकार-रत संत महार्हकी काया मुझसे नहीं काट सकते ।' कुल्हाड़ीने सरोष उत्तर दिया 'यह भगवान्का अपराध होगा ।'

'आप चिन्ता न करें ।' रौहिणपर जैसे रोषका कोई प्रभाव ही नहीं था । उसने प्रेमपूर्वक कहा—'जीवन-निर्वाहके लिये आप मेरी काया भले ही काट लें, पर मैं आपका कोई अपकार नहीं कर सकूँगा, किन्तु दबी जबानसे इतना निवेदन कर सकता हूँ कि जीवित वृक्षोंपर आघात करनेसे वृक्षोंको पीड़ा होती है । जगत्का यह विषाक्त स्वरूप देखकर उन्हें मन-ही-मन घृणा होती है । आप चाहें तो उन्हें यह कष्ट दिये बिना भी अपनी जीविका चला सकते हैं । उनकी सद्भावना भी आपके साथ रहेगी ।'

'यह किस प्रकार सम्भव है ?' पुरुषके मुँहसे निकल गया । वह सोच रहा था ।

'भगवान्ने आपको बुद्धि दी है' चन्दनने उत्तर दिया। 'प्राणियोंमें पुरुष सर्वश्रेष्ठ इसी कारण कहा जाता है कि वह विवेकशील होता है । आप जीविकाके लिये और बहुत कुछ कर सकते हैं; किन्तु यदि चन्दन-विक्रय ही आपको सुगम प्रतीत होता हो तो प्रतिवर्षके आँधी-तूफान ही आपको दो-चार हरित वृक्ष प्रदान कर सकते हैं । एक-एक वृक्षसे आपका परिवार वर्षभर अपना सात्त्विक जीवन व्यतीत कर सकता है; किन्तु सम्पत्ति जोड़नेकी कामना तो वृक्ष-जातिका अंगच्छेद ही नहीं और भी अनेक अवाञ्छित क्रिया करनेसे भी नहीं पूरी हो सकेगी ।'

'तुम सचमुच संत हो चन्दन !' पुरुषने सहर्ष कहा। 'इसी कारण तुम भगवान्के मस्तकपर स्थान पाते हो। अब मैं कभी किसी भी हरित वृक्षपर हाथ नहीं उठाऊँगा ।'

'हमारी शुभकामना सदा आपके साथ रहेगी' चन्दनने समोद कहा । उसकी डालियाँ हर्षातिरेकसे झूम उठीं।

पुरुषका मन शान्त था । वह सुखका अनुभव करते हुए घर लौट रहा था और कुल्हाड़ी उसके कन्धेपर मौन थी ।

* * *

संत और असंत

संत और असंतोंकी करनी ऐसी है, जैसे कुल्हाड़ी और चन्दनका आचरण । भाई ! सुनो, कुल्हाड़ी चन्दनको काटती है (क्योंकि उसका स्वभाव ही वृक्षोंको काटना है), किंतु चन्दन (अपने स्वभाववश) अपना गुण देकर उस काटनेवाली कुल्हाड़ीको सुगन्धसे सुवासित कर देता है । इसीसे चन्दन देवताओंके सिरोंपर चढ़ता है और जगत्का प्रिय हो रहा है और कुल्हाड़ीके मुखको यह दण्ड मिलता है कि उसको आगमें जलाकर फिर घनसे पीटा जाता है ।

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

भक्त-गाथा

भक्त देवाजी पुजारी

उदयपुरके समीप श्रीरूपचतुर्भुज स्वामीका मन्दिर है । देवाजी पण्डा उसमें पुजारी थे । वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे; परंतु भगवान्‌की पूजा-अर्चना बड़ी श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक करते थे । भगवान्‌में उनका विश्वास था, जो भक्तिके लिये परमावश्यक साधन है । भगवान्‌की सेवासे उनका अज्ञान-अन्धकार नष्टप्राय हो चुका था ।

एक दिनकी बात है—उदयपुरनरेश एक पहर रात बीतनेके बाद मन्दिरमें आये । शयनकी आरती हो चुकी थी । भगवान् पौढ़ चुके थे । भगवान्‌को शयन कराकर देवाजीने भगवान्‌के गलेका पुष्पहार उतारकर अपने सिरपर रख लिया था और अन्तर्गृहके पट बंद करके वे मन्दिरसे बाहर आ रहे थे—इसी समय महाराणा वहाँ पहुँचे । दरवाजेपर अकस्मात् महाराणाको देखकर देवाजी घबराकर मन्दिरमें घुस गये और उन्हें पहनानेके लिये भगवान्‌की माला ढूँढ़ने लगे । उस दिन दूसरी माला थी नहीं, अतएव महाराणा नाराज न हों, इसलिये देवाजीने मस्तकपर धारण किया हुआ पुष्पहार उतार लिया और बाहर निकलकर महाराणाके गलेमें पहना दिया । सोचने-विचारनेके लिये तो समय ही कहाँ था ? देवाजीके सिरके सारे बाल सफेद हो गये थे और बाल थे लंबे-लंबे । दो एक सफेद केश मालामें लगे महाराणाके गलेमें आ गये । राणाने बालोंको देखकर व्यङ्गसे कहा—'पुजारीजी ! मालूम होता है भगवान्‌के सारे केश सफेद हो गये हैं ।' देवाजीको इसका उत्तर देनेके लिये और कुछ भी नहीं सूझा, उन्होंने जल्दी-जल्दीमें डरते हुए कह दिया—'हाँ सरकार ! ठाकुरजीके सारे बाल सफेद हो गये हैं ।' राणाको पुजारीके इस उत्तरपर हँसी आ गयी । साथ ही पुजारीके प्रति मनमें रोष भी आया । उन्होंने गम्भीर होकर कहा—'मैं कल सबेरे स्वयं आकर देखूँगा ।' यों कहकर वे लौट गये ।

देवाजीने उतावलीमें राणासे कह तो दिया, पर अब उनको बड़ी चिन्ता हो गयी । प्रातःकाल राणा आवेंगे और भगवान्‌के सफेद बाल न पाकर न जाने क्या करेंगे ! देवाजीके मनमें आया—'भगवान् तो नित्य नव सुकुमार—नित्य तरुण हैं, उनकी गहरी घुँघराली काली अलकावली निरन्तर उनके मुनि-मन-मोहन श्रीअङ्गकी शोभा बढ़ाती रहती है, जिनकी तनिक-सी सुललित मधुरातिमधुर मुसकानसे जगत् प्रकाशित होता है, जिनके सुन्दरताकी सीमारूप नित्य किशोर श्याम वदनको देखकर समस्त जगत् मोहित हो जाता है, सुन्दरताकी अधिष्ठातृ देवता साक्षात् श्री नित्य-निरन्तर जिनकी पूजा-अर्चनामें लगी रहती है, उन नित्य दिव्य यौवन-सुषमासे सुशोभित भगवान्‌में वृद्धावस्था कहाँसे आवेगी । उनके केश सफेद कहाँसे होंगे ?' यों सोचते-सोचते भगवान्‌के पुराने पुजारी भक्त देवाजी बड़े व्याकुल हो गये !

देवाजीकी आँखोंसे नींद उड़ गयी, खाया तो कुछ था ही नहीं । आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली । देवाजीने कहा—"मेरे स्वामी ! मेरे मुँहसे सहसा ऐसी बात निकल गयी । तुम तो नित्य नव किशोर हो । तुम्हारे सफेद केश कैसे ? पर सबेरे महाराणा आकर जब तुम्हारे काले बाल देखेंगे तो तुम्हारे इस सेवककी क्या स्थिति होगी । राणाकी आँखोंमें यह सर्वथा मिथ्यावादी सिद्ध हो जायगा । मुझमें न भक्ति है, न श्रद्धा है । मैं तो केवल तुम्हें तुलसी-चन्दन चढ़ाकर अपना पापी पेट भरता हूँ। तुम्हारी नहीं, मैं तो पेटकी

ही पूजा करता हूँ; परन्तु लोग मुझे तुम्हारी पूजा करनेवाला बतलाते हैं ! सबेरे जब महाराणा मेरी बातको झूठ पाकर सबके सामने मेरी भर्त्सना करेंगे, तब लोग यही कहेंगे कि कितना बड़ा मूर्ख है यह । कहीं भगवान्‌के—फिर एक मूर्तिके भी श्वेत केश होते हैं ? कुछ लोग मुझे अत्यन्त डरपोक बतावेंगे और कुछ यह कहेंगे कि 'अजी, भगवान् यदि आज भी सच्चे होते या भक्तवत्सल होते तो क्या बेचारे गरीब पुजारीकी बात न रखते ? कहते हैं, प्रह्लादकी बात सच करनेके लिये वे खंभेको चीरकर निकले थे । द्रौपदीकी लाज बचानेके लिये राजसभामें उसकी अन्तहीन साड़ी बन गये थे । राधारानीके कलङ्क-भञ्जनके लिये सहस्र छिद्रोंके घड़ेमें उनके द्वारा जल मँगवा दिया था । फिर अपने केशोंको सफेद करना उनके लिये कौन बड़ी बात थी ?' जितने मुँह, उतनी बातें । नाथ ! यह आपका अपराधी, दंभी पुजारी उस समय कैसे मुख दिखलावेगा ? और किसको क्या उत्तर देगा ? पर प्रभो ! मैं कैसे कहूँ कि तुम मेरी बात रखनेके लिये बुढ़ापा स्वीकार कर सफेद बालोंवाले बाबाजी बन जाओ । तुम्हें जो ठीक लगे, वही करो ।''

यों कहकर देवाजी फुफकार मारकर रो पड़े ! इसी प्रकार भगवान्‌को पुकारते और रोते-कलपते रात बीती । सारा जगत् सोता था । देवाकी करुण पुकार किसीने नहीं सुनी । जागते थे देवा और देवाके हृदय-देवता,—जो सदा ही जागते हैं और सबकी गुप्त-से-गुप्त बातोंको सुनते हैं । भृत्यवत्सल, शरणागत-रक्षक भगवान्‌ने अपने पुजारी देवाजीकी करुण पुकार सुनी । कैसे न सुनते ? वे अनाथके नाथ, आर्त्तके आधार, विपन्नके बन्धु, दीनके आश्रय, कंगालके धन और अशरणके एकमात्र शरण जो ठहरे ! भक्तकी बात रखनेके लिये भगवान्‌ने लीला की । चतुर्भुज भगवान्‌के सारे बाल सफेद हो गये ! धन्य !

देवाजीने नहा-धोकर काँपते-काँपते अन्तर्गृहके किंवाड़ खोले, उनका हृदय भयके मारे धक्-धक् कर रहा था । किंवाड़ खोलते ही देखा—कल्याणमय कृपा-कल्पतरु श्रीविग्रहके समस्त केश शुभ्र हो गये हैं । देवाके हृदयकी विचित्र दशा है—यह स्वप्न है कि साक्षात् ! करुणा-वरुणालयकी इस अतुलनीय कृपा और दीन-वत्सलताको देखकर प्रेमविह्वल और आनन्दोन्मत्त देवा-की बाह्य चेतना जाती रही । वे बेसुध होकर जमीन-पर गिर पड़े । पहुँच गये दिव्य देशमें और मुग्ध होकर पान करने लगे—प्रभुके उन्मादकारी पाद-पद्म-मकरन्द-सुधा-रसका । बहुत देरतक उनकी यही दशा रही । पता नहीं, इस बाहरकी बेसुध अवस्थामें उन्होंने और किस जगदतीत विलक्षण सुखका कैसा और कितना अनुभव किया !

बहुत देरके बाद देवाकी समाधि टूटी । उनके दोनों नेत्रोंसे आनन्द और प्रेमके शीतल आँसुओंकी वर्षा हो रही थी । इसी समय महाराणा परीक्षाके लिये पधारे ! देवाजीको विकलतासे रोते देखकर उन्होंने समझा कि 'रात्रिको मुझसे कह तो दिया पर अब भयके मारे रो रहा है ।' इतनेमें ही उनकी दृष्टि भगवान्‌के श्रीविग्रहकी ओर गयी, देखते ही राणा आश्चर्य-सागरमें डूब गये—श्यामसुन्दरके समस्त केश सफेद चाँदी-से चमक रहे हैं । महाराणाको विश्वास नहीं हुआ । उन्होंने समझा—'पुजारीने अपनी बात रखनेके लिये कहींसे सफेद बाल लाकर चिपका दिये हैं ।' राणाके मनमें परीक्षा करनेकी आयी और उन्होंने अपने हाथसे चट भगवान्‌के सिरका एक बाल बलपूर्वक उखाड़ लिया । राणाने देखा—बाल उखाड़ते समय श्रीविग्रहको मानो दर्द हुआ और उनकी नाक सिकुड़न आ गयी । इतना ही नहीं, बाल उखड़ते ही सिरसे रक्तकी बूंद निकली और वह राणाके अंगरखे पर आ पड़ी । राणा यह देखते ही मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़े ।

पूरा एक पहर बीतनेपर महाराणाको चेत हुआ। उन्होंने देवाजीके चरण पकड़कर कहा—'प्रभो ! मैं अत्यन्त मूढ़, अविश्वासी और नीचबुद्धि हूँ । मैंने बड़ा अपराध किया है । भक्त क्षमाशील होते हैं—ऐसा मैंने सुना है । आप मेरा अपराध क्षमा कीजिये—मेरी रक्षा कीजिये ।' यों कहते-कहते महाराणा अपने आँसुओंसे देवाजीके चरण धोने लगे । देवाजीने महाराणाको उठाकर हृदयसे लगा लिया—गद्गदवाणीसे कहा—'यह सब मेरे प्रभुकी महिमा है—मैं अशिक्षित गँवार केवल पेटकी गुलामीमें लगा था । भगवान्की पूजाका तो नाम था । पर मेरे नाथ कितने दयालु हैं, जो मेरी मिथ्या पूजापर इतने प्रसन्न हो गये और मुझ नालायककी बात रखनेके लिये उन्होंने अपने नित्यकिशोर सुकुमार विग्रहपर श्वेत केशोंकी विचित्र रचना कर ली । मैं क्या क्षमा करूँ—मैं तो स्वयं अपराधी हूँ । राजन् ! मैंने तो झूठ बोलकर आपका तथा भगवान्का भी अपराध किया था । पर वे ऐसे दीनवत्सल हैं कि अपराधीके अपराधपर ध्यान न देकर उसकी दीनतापर ही रीझ जाते हैं ।' राणा तथा देवा दोनों ही भगवान्की कृपालुताका स्मरण करते हुए रो रहे थे !

इस घटनाके बाद ही यह आज्ञा हो गयी कि आगेसे राणावंशमें राजगद्दीपर बैठनेके बाद कोई भी मन्दिरमें नहीं आ सकेंगे । जबतक कुमार रहेंगे, तभीतक आ सकेंगे ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय ।

हृदय-बोध

[समर्थ स्वामी श्रीरामदासजीके 'मनांचे श्लोक'का अनुवाद]

(अनुवादक—डा० पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०)

(गताङ्कसे आगे)

न हो नामजप तो कहाँ मुक्ति आवे ?
अहंता बढ़ी, यातना मुफ्त पावे ।
मिलेगा तथा दैन्यसे पूर्ण अन्त
भजो राम देवेन्द्र जो हैं अनन्त ॥ ९७ ॥
हरी नामने जब कि पाषाण तारे,
बिना श्रम ही मानव अनेकों उबारे;
जो रखता है संशय, न श्रद्धा कहीं है,
वो पापी ही हरिनाम जपता नहीं है ॥ ९८ ॥
जगद्वंद्य वाराणसी पुण्यरासी—
गये तुम, कि पूर्वज भी बनते सुपासी ।
वहाँ राम नामावली नित्य काल
मनुज हित सुनाते सदा चन्द्रभाल ॥ ९९ ॥
करो कर्म कितना भी, रहता अधूरा;
करो धर्म पर पुण्य मिलता न पूरा ।
कहाँ वह दया जिससे सब शान्ति पाते,
बिना खर्चका जप है, फिर क्यों भुलाते ? ॥१००॥
जिसे रामकी रुचि न, वह यमका चेरा
जो संशय कुतर्की है, दे नर्क-फेरा ।
इसीसे करो नाम का जाप सादर
जो मुख 'हरि' कहे, दोष भागेंगे बाहर ॥१०१॥
सहज भावसे नम्रता यों दृढ़ाओ
कि सन्तोष उत्तम जनोंका सदा हो ।
स्वदेहाभिमानी अहंता तजो तुम
सगुण राम साकार सादर भजो तुम ॥१०२॥
सदा राम-कीर्तनमें अनुराग होवे
स्वदेहात्मधीका तुरत त्याग होवे ।
पराया कनक या कि कान्ता पराई
न हो ध्यान उनका, इसीमें भलाई ॥१०३॥
कहे जिस तरह कर सके पर न वैसा
लजाये न फिर भी महामूर्ख ऐसा ।
सभी ओर मन-कल्पनाको भ्रमावे
कभी भी न वह श्रीरघूत्तमको पावे ॥१०४॥

विवेकी बनो, कुक्रिया लौट दो तुम
जो है शुद्ध सन्मार्ग, सादर गहो तुम ।
जो कहते हो वह आप करके दिखाओ
है संसार-दा कल्पना; तुम हटाओ ॥१०५॥

करे स्नान संध्या सदा एक निष्ठ
विवेकी बने चित्त जो था भ्रमिष्ठ
रखे जो सभी से दयाभाव भारी
उसीपर सदा प्रेम करते मुरारी ॥१०६॥

कभी भी न हे चित्त ! तू कोप करना
सदा साधुके संगमें बुद्धि धरना ।
हृदय ! दुष्ट चाण्डालका संग त्यागः
हृदय ! भोग तू मोक्ष-संपद्-विभाग ॥१०७॥

जो होगा सदा सज्जनोंका सुयोग
क्रिया शुद्ध होगी, मिले भक्ति भोग ।
क्रियाहीन वाचालता त्याग सारी
मिटें वाद, संवाद वह लाभकारी ॥१०८॥

वृथावादकी बुद्धिको दूर कीजै
सुसंवादमें सुख-सहित चित्त दीजै ।
असद्वादमें शोक सन्ताप भारी
मिटें वाद, संवाद वह लाभकारी ॥१०९॥

हटा वाद दे उसको संवाद कहिये ।
विवेकी ! अहंभावको जीत रहिये
अहंता रही, वाद होंगे विकारी
मिटें वाद, संवाद वह लाभकारी ॥११०॥

स्वहितके लिये सत्यवाणी गहो रे
स्वहितके लिये चित्तकी शुद्धि हो रे ।
स्वहित हेतु तज बुद्धि-पाखण्ड भारी
मिटें वाद, संवाद वह लाभकारी ॥१११॥

सुवक्ता मिटे और श्रोता सिधारे
मगर वाद फिर भी न आया किनारे ।
कुशंका मिलें, वाद वह दंभधारी
मिटें वाद, संवाद वह लाभकारी ॥११२॥

स्वहित छोड़ पण्डित कहाँको सिधाये
अहंता भरे ब्रह्मराक्षस कहाये ।
अहंता बिना कौन पण्डित कहाता ?
अहंता से हे चित्त ! तू तोड़ नाता ॥११३॥

हरीनाममें खर्च ही क्या लगा है
इधर गर्व दिन-दिन बढ़ा जा रहा है ?
क्रिया बिन कथाकी चपलता वृथा है
हृदय ! सोच ले सत्यतः काम्य क्या है ॥११४॥

हटे वाद, संवाद ऐसा गहो रे
विवेकी ! अहंभाव कुछ भी न हो रे ।
कहे बुद्धि जो, यदि वही आचरेगी
क्रिया शुद्ध होगी, सु-भक्ती मिलेगी ॥११५॥

जो शापित हुए अम्बरीष नृपेश
तो आये स्वयं चक्रधारी रमेश ।
हुई क्षीरनिधि पाके उपमन्यु-मनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥११६

सुनी बाल ध्रुवकी सरल दीन वाणी
कृपापूर्ण उसपर हुए चक्रपाणी ।
प्रतिष्ठा अचल उसको दे दी गगनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥११७॥

हुआ ग्राहसे त्रस्त मातंगराज
तो धाये हरी उसकी रक्षाके काज ।
बचाया तुरत, गति रखी उसके तनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥११८

अजामिलने जब दुखसे सुतको पुकारा
तो निज नामके बलसे हरिने उबारा ।
अनाथोंके आधार हैं, लाज पनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥११९॥

हुए मीन वे, विधिका संकट हटाया,
तथा कूर्म होकर धराको बचाया ।
स्वजन हित हुई ख्याति वाराह-तनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥१२०

हुआ भक्त प्रह्लादको कष्ट भारी
तो नरसिंह वे ही बने श्रीमुरारी।
हुई उग्रतम मूर्ति आनन्दघनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥१२१॥
थके इन्द्र, श्रीहरिको जब उनने ध्याया
तो वामन हुए वे, सकल दुख हटाया।
परशुधर हुए, लाज रख द्विजसदनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥१२२॥
अहल्या सती हेतु आरण्यचारी
हुए देवता वंद्य वे श्रीमुरारी।
प्रतिष्ठा परम पूत है उनके पनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥१२३॥
द्रुपदकी सुतापर घना कष्ट छाया
तो झट हरिने अवतीर्ण हो दुख हटाया।
कला उनने कलिमें रखी बौद्धतनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥१२४॥
शठोंका हनन, दीन दुखियोंका रक्षण
इसी हेतु वे कल्कि होंगे कृपाघन।
न श्रुति पा सकी शक्ति भी गुण-कथनकी
उपेक्षा न करते प्रभू भक्त-जनकी ॥१२५॥
सज्जन हेतु हैं देव लीलावतारी
हुए मुक्तिदायक विविध वेषधारी।
जो ऐसे प्रभूका न सेवा-कलापी
दुरात्मा है वह नष्ट चाण्डाल पापी ॥१२६॥
जो हरि नाम कहता है वह धन्य है नर
जो हरिनाम सुनता है तल्लीन होकर।
वो है धन्य देहात्मधी जिसकी क्षीण
हुई ज्ञानसे राम ही में विलीन ॥१२७॥
हृदय ! वासना-वास हों वासुदेव
हृदय ! कामनासे न तू काम सेव।
हृदय ! व्यर्थकी कल्पना दूर धर तू
हृदय ! सज्जनोंमें सदा वास कर तू ॥१२८॥
जो मिलती कभी सज्जनोंकी है संगति
पलटती है तो दुर्जनोंकी भी दुर्मति।
है रतिपति महानष्ट, ऐसा विचार
हृदय ! तू बना रह सदा निर्विकार ॥१२९॥
हृदय ! अल्प संकल्प तक तू नसा दे
हृदय ! सत्य संकल्प मनमें बसा दे।
हृदय ! जल्पना कल्पनाको हटा तू
रमाकान्त एकान्त पर चित्त ला तू ॥१३०॥
कहाँ दूसरा, भज हृदय ! राम एक;
है शर एक ही; शब्द भी मुखमें एक।
जनोद्धार-हित गर्जती जिसकी टेक
हृदय ! उन रमानाथका कर विवेक ॥१३१॥
कहे सोचकर औ चले लख-परखकर
मिटें ताप ऐसोंकी संगतिको पाकर।
न हो शोध बिन, व्यर्थ वाणीके फेरे
सदा शुद्ध पथपर चलो चित्त मेरे ॥१३२॥
विरागी जो हरिभक्त विज्ञान-धन हैं,
भरे पूर्ण निश्चयसे जिनके सु-मन हैं।
सुदर्शन है उनका सुपुण्य प्रकाशक
तथा उनका भाषण है संदेह-नाशक ॥१३३॥
न हो गर्व तनमें, सदा वीतरागी
क्षमा शान्तिभोगी, दया दक्ष योगी।
न हो लोभ न क्षोभ, ना दीन वाणी
उसे जानिये योगिराज प्रमाणी ॥१३४॥
हृदय ! कर सदा सज्जनोंकी सुसंगति
कि हटती है दुर्जनकी भी जिससे दुर्मति।
तभी होगी सद्बुद्धि सन्मार्ग-लग्न
तथा काल विकराल भी होगा भग्न ॥१३५॥
भरा है सदा भयसे ब्रह्माण्ड सारा
भयातीत है अन्त ही का सहारा।
उन्हें देखकर द्वैत दिखता नहीं है
तथा भय नहीं जान पड़ता कहीं है ॥१३६॥

दिया बोध नरको, गये श्रेष्ठ लोग
रहा ज्यों का त्यों जीव-अज्ञान-भोग।
हुई देह-धी, क्यों कटें कर्म-खाते
अहंतासे निज निधि न नर देख पाते ॥१३७॥
हुआ भ्रमसे, सद्वित्त वह गुप्त सारा,
जनन-मृत्यु दारिद्र्यने जोर मारा।
स्वदेहात्मधीको नहीं जो हटाते
अहंतासे निज निधि न नर देख पाते ॥१३८॥
वो आँखोंके आगे है छाया परात्पर
अभागी समझता है मणिको भी पत्थर।
नहीं अज्ञ हैं पुण्यकी रेख पाते
अहंतासे निज निधि न नर देख पाते ॥१३९॥
निजाज्ञानसे निजकी वस्तू न पाया
गुणोंमें फँसे और वहु दुख उठाया।
गुणातीत निजको न जबतक बनाते
अहंतासे निज निधि न नर देख पाते ॥१४०॥
कहे दास, सेवा उन्हींकी करो तुम
चरण ब्रह्मवेत्ताके धोओ धरो तुम।
जो गुरु-पाद-रजका न अंजन बनाते
अहंतासे निज निधि न नर देख पाते ॥१४१॥
न वे देख पाते, न वे देख पाते
न संशय नशाते, न संशय नशाते।
अहंता न ढाते, न ढाते न ढाते
तो हठसे न वे तत्व पाते न पाते ॥१४२॥
अविद्यावशी मूढ़ होता है जो नर
मिलेगी उसे भ्रममें हित वस्तु क्योंकर?
परीक्षा-विना जो लिये द्रव्य-दाने
खरे हैं कि खोटे, कहो कौन जाने ॥१४३॥
जगत्में कहाँ कौन है सत्य सार,
हृदय! कर तू सादर इसीका विचार।
विचारोंसे तुझको मिलेंगे मुरारी
मिटे जिनसे भ्रम भ्रान्ति अज्ञान भारी ॥१४४॥
विषय-चिन्तनामें गये जन्म हार
अहंभाव अज्ञान पाया अपार।
विवेकी बनो, रूप-चिन्ता करो रे
गहो मूल जिससे न फिर जन्म हो रे ॥१४५॥
जो लोचनका गोचर है वह नष्ट होगा
जो जन्मा है वह मृत्युसे भ्रष्ट होगा।
सभी जायगा, कुछ रहेगा न शेष;
हृदय! खोज सच्चित् अनामय अशेष ॥१४६॥
न फूटे न टूटे न चलता न हिलता
सदा सर्वमय देह-धीसे न मिलता।
वो अद्वय है उसमें कहाँ द्वैत-लेश,
हृदय! खोज सच्चित् अनामय अशेष ॥१४७॥
निराकार आधार ब्रह्मादिका है
निगम भी जिसे कहते-कहते थका है।
विवेकी! तदाकार हो रह विशेष
हृदय! खोज सच्चित् अनामय अशेष ॥१४८॥
जिसे चर्मके चक्षु हैं लख न पाते
जिसे ज्ञानके चक्षु ही देख पाते।
जिसे देख लय होते दर्शन-निमेष
हृदय! खोज सच्चित् अनामय अशेष ॥१४९॥
न है पीत या श्वेत या श्याम राम
न है व्यक्त अव्यक्त या नील धाम।
कहे दास, विश्वास मुक्ति-प्रवेश
हृदय! खोज सच्चित् अनामय अशेष ॥१५०॥
खरी वस्तु तू शोधते शोधते जा,
हृदय! बोधते बोधते बोधते जा।
तुझे सिद्धि सद्ज्ञान सत्संग देगा
तथा प्रीतिमें पूर्ण निश्चय मिलेगा ॥१५१॥
वृथा है बहिर्ज्ञानकी तर्कमाला
अमित ज्ञान अन्तरका है कुछ निराला।
हृदय! है अलग ही सुसत् तत्वसार
सभीमें समाया है वह एकतार ॥१५२॥

* * *

नैतिक पतन और उससे बचनेके उपाय

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिके स्वरूप, लक्षण तथा परिणामका विशद वर्णन करते हुए अन्तमें कहा—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(१६ । २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका नाश करनेवाले हैं । इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये ।'

पर हमारा बड़ा दुर्भाग्य है कि यही तीनों आज हमारे जीवनके अवलम्बन-से हो रहे हैं । कोई भी क्षेत्र इनके बुरे प्रभावसे अछूता नहीं बचा है । इन्हींके कारण आज सारा समाज बड़ी तेजीसे पतनकी ओर जा रहा है । इसीलिये इतनी अशान्ति, कलह, दुःख और पीड़ा है ।

प्रथम तो वर्तमान सरकारने प्रजापर इतने अधिक कर लगा दिये हैं कि उनके बोझसे सब दब गये हैं और किसी भी उपायसे उस कर-भारसे बचना चाहते हैं । कुछ वर्षों पहलेकी बात है—एक बड़े व्यापारी सज्जनने कहा था कि "हम लोग शौकसे झूठ-कपट नहीं कर रहे हैं । इतना भारी कर लगा है कि उसे यदि पूरा चुकाने जायँ तो खर्च जोड़कर अमुक प्रतिशत उलटा घाटा रहता है । यह तो वैसी ही बात है जैसे कोई डाकू घरबार लूटनेके लिये सदल-बल घरमें आ घुसा हो और उसका सामना करके बचनेकी आशा न हो; तब जैसे उससे बचानेके लिये घरका धन, जेवर-जवाहरात आदि छिपा लिया जाता है और उससे विनयपूर्वक असत्य कहा जाता है कि 'हमारे घरमें तो कुछ है ही नहीं, देख लो ।' ठीक वैसे ही इस अन्यायपूर्ण करसे बचनेके लिये हम लोगोंको मिथ्याका आश्रय लेना पड़ता है ।" यद्यपि उनकी इस उक्तिका पूर्ण समर्थन नहीं किया जा सकता । किसी भी स्थितिमें छल, कपट और चोरीका समर्थन आस्तिक तथा धर्मभीरु पुरुषके लिये इष्ट नहीं है । इधर तो आय-करमें कुछ कमी भी हुई है । तथापि यह बात ऐसी नहीं है जो बिल्कुल उड़ा दी जाय । आजकल जिस प्रकारसे नये-नये कर लगाये जा रहे हैं, हर एक बातमें प्रजाको पराधीन बनाया जा रहा है, खुला व्यापार मानो रहा ही नहीं । ऐसी अवस्थामें छिपाकर धन कमाने और रखनेकी प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । सचमुच आजके नैतिक पतनमें यह भयानक कर-भार भी एक प्रधान कारण है ।

दूसरा कारण है—नियन्त्रण या कंट्रोल । महात्मा गाँधीजीने इसकी बुराइयोंको समझा था और वे रहते तो अबतक यह नियन्त्रणकी विशाल माया-नगरी कभीकी उजड़ गयी होती । नियन्त्रणकी बुराइयोंको अधिकारी लोगोंमेंसे अधिकांश जानते हैं; परंतु नियन्त्रण बने रहनेमें ही सबका स्वार्थ है, इसलिये विविध युक्तियोंसे नियन्त्रणकी आवश्यकता बतलायी जाती है । यद्यपि हम उन बातोंको प्रमाणित नहीं कर सकते पर हमें अच्छी तरह ज्ञात है कि नियन्त्रणके कारणही चोर-बाजारी अधिक होती है । इस विभागके बहुतसे उच्च अफसर तथा इन्सपेक्टर आदि अपनेको प्रलोभनसे नहीं बचा सकते और वे उचित-अनुचित सभी तरीकोंसे व्यापारियोंसे रुपये लेते हैं । फलतः व्यापारियोंको चोरबाजारी करनेमें उत्साह और सुविधा मिल जाती है और कहीं-कहीं तो उन्हें (उनके कथनानुसार) आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है; क्योंकि ऐसा किये बिना वे उन अधिकारियोंकी माँग पूरी नहीं कर पाते । कई जगह तो व्यापारियोंसे इन लोगोंकी नियत मासिक रकम बँधी होती है । कई जगह अमुक

प्रतिशत देना पड़ता है । इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों प्रकारसे व्यापारी और अधिकारी मिलकर यह पाप करते हैं ! अब तो इन्हें इसका ऐसा चसका लग गया है जो किसी भी कानूनसे रुकना बड़ा कठिन है !

मनुष्य जबतक पापको पाप समझता है, तबतक वह पापसे डरता है । कभी परिस्थिति या किसी लोभ-विशेषके कारण वह पाप कर भी लेता है तो पीछे पश्चात्ताप करता है । पर जब पापसे घृणा हट जाती है और उसमें बुद्धिमानी तथा गौरवका बोध होने लगता है—पापमें पुण्यबुद्धि हो जाती है, तब पापसे बचना बहुत ही कठिन हो जाता है । फिर तो पापके नित्य नये-नये तरीके निकलते रहते हैं । इस प्रकार पापको पुण्य, अधर्मको धर्म या अन्यायको न्याय मानते-मानते बुद्धि इतनी तमसाच्छन्न हो जाती है कि फिर सभी चीजें उसे उलटी दीखने लगती हैं—'सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी' (गीता १८ । ३२)। ऐसा कामोपभोगपरायण लोभग्रस्त तामस मनुष्य या समाज क्रमशः मानवताको खोकर दानव या असुर बन जाता है, फिर ऐसा कोई भी जघन्य कार्य नहीं जो वह नहीं कर सकता । और समाजमें जब प्रमुख माने जानेवाले लोग इस प्रकारके बन जाते हैं, तब दूसरे लोग भी उन्हींका अनुसरण करने लगते हैं और समाजमें उनको कोई बुरा नहीं कहता । खुले चोर और डाकुओंको समाज बुरा बतलाता है और उनसे घृणा करता है, जो उचित ही है । पर ये छिपे चोर और डाकू,—जो खुले चोर-डाकुओंसे कहीं भयानक और समाजका अधःपात करनेवाले हैं—क्योंकि वे चोर-डाकू तो कभी-कभी चोरी-डकैती करते हैं पर ये तो दिन-रात व्यापार और अधिकारकी आड़में भयानक-से-भयानक दुष्कर्म करते रहते हैं और समाजमें श्रेष्ठ होनेके कारण दूसरे लोगोंमें भी वैसे ही करनेकी प्रवृत्ति पैदा करते हैं—समाजमें प्रतिष्ठा और उच्च पद प्रा करते हैं !

आज हमारी प्रायः ऐसी ही दशा हो रही है। समाजमें आज उसीका मान और आदर है जो धन कमा लेता है, फिर वह चाहे किसी भी बुरे-से-बुरे साधनसे कमाता हो । एक ऊँचे अफसरने एक बार कहा था कि 'मैं रिश्वत नहीं लेता, इससे मेरे ऊपर तथा नीचेके अधिकारी मुझको मूर्ख तो मानते ही हैं, अपने मार्गका काँटा समझते हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि मैं किसी प्रकार दोषी साबित होकर यहाँसे निकाल दिया जाऊँ ।' एकाधिक ऐसे अफसरोंको हम जानते हैं, जो रिश्वत न खानेके कारण अपने ऊपरके अफसरोंको खुश नहीं रख सके और इसी कारण उनपर कई प्रकारकी विपत्तियाँ आयीं । उनकी उन्नति रुक गयी, उन्हें मुअत्तिल किया गया, उनको अपने स्तरसे नीचे गिराया गया तथा उनपर कई तरहके अपराध लगाये गये और हजार प्रयत्न करनेपर भी उनका कष्ट दूर नहीं हुआ। वे मूर्ख और विक्षिप्त तो कहलाये ही, शरारती भी कहलाये ।

इसी प्रकार व्यापारी जगत्में भी जो सचाईसे काम करता है, छल-कौशलसे अनाप-शनाप पैसा नहीं कमा सकता, उसे बन्धु-बान्धव तथा आसपासके लोग मूर्ख बतलाते हैं और विद्वान्-बुद्धिमान् होनेपर भी उस बेचारेको अपनी निन्दा सुननी पड़ती है तथा पाँच आदमियोंमें झेंपना पड़ता है ! यह दोष यहाँतक गहरा चला गया है कि जो लोग गीता-रामायण पढ़ते हैं, अपनेको ज्ञानी या भक्त मानते हैं, जो धर्मात्मा, उदार और दानशील माने जाते हैं तथा जो प्रसिद्ध देश-भक्त, समाज-सेवक और नेता समझे जाते हैं, वे लोग भी इस महान् दोषको दोष नहीं मानते और जीवन-यापनके लिये मानो आवश्यक मानकर इसे खुशीसे अपनाते हैं !

ईश्वर, परलोक तथा पापका डर तो शास्त्रोंमें अश्रद्धा

होनेसे चला गया। समाजका डर भी जाता रहा, क्योंकि प्राय: समाजभरमें यह पाप फैल गया, अत: कौन किसको बुरा कहे। बचा कानून, सो उसका डर भी अब प्राय: नहीं रहा; क्योंकि मेल-मिलापसे वह भी दूर हो जाता है। क्या कहा जाय। दिनोंदिन बुराइयाँ बढ़ती जा रही हैं और इस ओर प्राय: बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है। तथा जिनका ध्यान है वे कुछ कर नहीं सकते या करनेमें प्रमाद करते हैं। इस प्रकार पापमें गौरवबुद्धि हो जानेके कारण क्या-क्या होने लगा है, इसपर जरा विचार कीजिये—

(१) रिश्वतखोरी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है, अवश्य ही उसके रूप और ढंग बदलते रहते हैं।

(२) डरा-धमकाकर, पकड़नेकी धमकी देकर या पकड़कर भी रुपये वसूल किये जाते हैं। पकड़ा-धकड़ी जितनी अपराध मिटानेके लिये नहीं होती, उतनी अपने स्वार्थसाधनके लिये होती है। यथार्थ तथा बड़े अपराधी कम पकड़े जाते हैं। बड़े अपराधियोंपर आतङ्क जमानेके लिये छोटे ही अधिक शिकार होते हैं।

(३) व्यापारी लोग करसे बचने तथा भाँति-भाँतिकी अनीतिको छिपानेके लिये रिश्वत देते तथा झूठे बहीखाते बनाते हैं।

(४) भारतके बाहरसे आनेवाली और बाहर भेजी जानेवाली चीजोंपर जो समय-समयपर प्रतिबन्ध लगाये तथा उठाये जाते हैं, उसमें कई बार तो ऐसे छिपे कारण होते हैं जो सर्वथा अनीतिपूर्ण हैं। कुछ बड़े व्यापारियोंको सप्ताहों पहले इसका पता लग जाता है कि अमुक तारीखको अमुक वस्तुपर प्रतिबन्ध लगेगा या उठेगा। वरं यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि कभी-कभी तो किसी एक या अधिक व्यापारियोंके लिये ही प्रतिबन्ध लगता या उठता है। और वे प्रतिबन्ध लगने या उठनेकी नियत तारीखसे पहले-पहले ही उक्त चीज प्रचुर मात्रामें खरीद या बेच लेते हैं। फिर अकस्मात् घोषणा हो जाती है, जिससे बाजारमें उथल-पुथल मच जाती है। फलत: वे व्यापारी लाखों-करोड़ोंका अनुचित लाभ उठाते हैं और बेचारे अनजान हजारों छोटे व्यापारी मारे जाते हैं! इस चीजको हम प्रमाणित नहीं कर सकते पर वे अधिकारी और व्यापारी अपनी-अपनी छातीपर हाथ रखकर इसकी सचाईको जान सकते हैं। भगवान् तो जानते ही हैं।

(५) नीच स्वार्थ और लोभके वश होकर लोग, जहाँ सम्भव होता है, बिना किसी हिचकके असली चीजोंके साथ नकली चीजें मिला देते हैं, यहाँतक कि नकली चीजोंको ही असली बताकर बेचते हैं। आटेमें इमलीके बीजोंका चूर्ण बहुत मिलाया जाता है। घीमें तो जमाया हुआ (वनस्पति) तेल मिलाया ही जाता है। कहीं-कहीं लोग चर्बीतक मिलाते हैं। पिछले दिनों सरसोंके साथ भटकटैयाके बीज मिलाकर तेल पेरा गया था, जिससे हजारों आदमी बेरी-बेरी रोगसे पीड़ित हो गये थे। इसी प्रकार चावल, दाल, चीनी आदिमें भी मिलावट होती है। पथ्यके लिये रोगियोंको शुद्ध सागूदाना तक नहीं मिलता। शीशियोंपर झूठे लेबल चिपकाकर नकली दवाइयाँ बेची जाती हैं। ऐसे खाद्यपदार्थ और ओषधियोंका सेवन करके चाहे कितने ही लोग मर जायँ, कमानेवालोंको इसकी परवा नहीं है, वे तो इसको व्यापारका एक अङ्ग मानते हैं!

(६) अच्छा नमूना दिखलाकर घटिया माल देना, तौलमें कम देना या अधिक ले लेना, रुई या पाटको जलसे भिगोकर उनका वजन बढ़ा देना, बाजार तेज हो जानेपर बेचे हुए मालको देनेसे इनकार कर जाना और मन्दा होनेपर खरीदा हुआ माल न लेना— आदि बातें तो आज व्यापारकी चतुराई समझी जाने लगी हैं। उच्च सम्मानप्राप्त बड़े-बड़े उद्योगपति तथा व्यापारी इनको गौरवके साथ करते हैं!

(७) धर्म और ईश्वरके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको ठगने और उनका धन, शील आदि अपहरण

करनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। कई लोग तो अपनेको भगवान् कहकर पुजवाते हैं !

(८) शिक्षाविभाग और डाक-तार विभाग तकमें रिश्वत चलने लगी है और न देनेपर काम बिगड़ जाता है। कोर्ट और रेलवे आदिमें तो माँग-माँगकर ली-दी जाती है।

(९) राजनीतिक क्षेत्रमें बढ़ती हुई दलबंदियाँ, एक दूसरेको नीचा दिखानेका प्रयत्न, दूसरेको गिराकर अपनेको ऊपर उठानेकी कोशिश; परनिन्दामें, दूसरेकी अवनतिमें और दुःखमें सुखका अनुभव, लूट-मार, दूसरोंको व्यर्थ हानि पहुँचानेकी इच्छा, हिंसा तथा क्रोधमें गौरव-बुद्धि, दलोंका बाहुल्य, धार्मिक क्षेत्रका पारस्परिक विद्वेष और स्वेच्छाचार आदि अनर्थ दिनोंदिन बढ़ते ही जा रहे हैं !

(१०) सीनेमा, रेडियो तथा गंदे साहित्यके द्वारा जनतामें कामवासनाकी वृद्धि हो रही है और फलतः उच्छृङ्खलता तथा चारित्रिक पतन बढ़ रहा है। भले-भले घरोंके पुरुष और स्त्रियोंमें बड़ी तेजीसे चरित्रका नाश हो रहा है और इस चरित्रनाशमें कहीं-कहीं तो गौरवका अनुभव किया जा रहा है !

(११) विद्यार्थी-जगत्‌में उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। शिक्षकों और विद्यार्थियोंके सम्बन्ध अत्यन्त अवाञ्छनीय हो रहे हैं। गुरु-शिष्यकी पवित्र मर्यादा प्रायः नष्ट हो गयी है और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता तथा द्वेषके भाव बढ़ रहे हैं। चरित्र-नाश भी बड़ी तेजीसे हो रहा है !

(१२) तरुणी कुमारियों और नवयुवकोंकी सह-शिक्षासे भी चरित्रकी पवित्रताका बड़ा ह्रास और नाश हुआ है तथा उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। कहाँ तो जगज्जननी सीताजीने पुत्रके समान सेवक ब्रह्मचारी हनुमान्‌जीका स्पर्श करना अस्वीकार कर दिया था और कहाँ आज अबाध संसर्गको प्रोत्साहन दिया जा रहा है, सो भी शिक्षाके पवित्र नामपर !

(१३) खान-पानमें हर किसीका जूँठा खानेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है और इससे सुधार बताया जा रहा है! रेलोंमें, होटलोंमें और घरोंमें भी काँच तथा चीनी मिट्टीके वर्तनोंका प्रचार, जूते पहने हुए ही भोजन करना, किसी भी जातिके और कैसे भी गंदे रहनेवाले आदमीके हाथोंसे खाना, जूठे हाथों जूठी चम्मचसे खानेकी सामग्री लेना, एक ही बर्तनमें रक्खे हुए फल-मेवा-पान आदि पदार्थोंको बहुतसे लोगोंका मुँहमें हाथ या अँगुली देकर खाना, एक ही थाली या पत्तलमें बहुतोंका साथ खाना, जूठे बर्तनोंमें ही चाय, सोडा, जल आदि पीना, बर्तनोंको केवल धो भर लेना, मांस-मदिरासे भी परहेज न करना, अण्डोंका भोजनके रूपमें प्रयोग करना, खाकर हाथ मुँह न धोना कुल्ले न करना, और चलते-चलते खाना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे पवित्रताका नाश तो होता ही है, तरह-तरहकी बीमारियाँ भी फैलती हैं !

भ्रष्टाचार और अनाचारके ये थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं। न मालूम ऐसे कितने शारीरिक, वाचनिक और मानसिक दोष हमारे अंदर आज आ गये हैं। इन सबका कारण है—घोर विषयासक्ति और तज्जनित काम, क्रोध तथा लोभका आश्रय। भगवान् और धर्मको भूल जानेपर मनुष्य असंयमी तथा यथेच्छाचारी होकर पतित हो जाता है और भ्रमवश उस पतनको ही उत्थान मानने लगता है ! आज हमारे समाजकी यही दशा हो रही है। इस पतनके प्रबल प्रवाहको शीघ्र ही न रोका गया तो पता नहीं यह हमें कहाँ ले जायगा!

इसको रोकनेके उपाय हैं—धर्म तथा भगवान्‌में श्रद्धा उत्पन्न करना, भगवान्‌से प्रार्थना करना, परलोक और पुनर्जन्ममें विश्वास बढ़ाना, सद्ग्रन्थोंका प्रचार करना, त्याग तथा प्रेमकी पवित्र भावनाएँ फैलाना, संयमका महत्त्व समझना, अहिंसा और सत्यका क्रियात्मक प्रसार करना, स्वार्थबुद्धिका नाश हो ऐसी शिक्षा देना, स्वयं निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करके आदर्श उपस्थित करना, स्कूल-कालेजोंमें धार्मिक शिक्षाको अनिवार्य करना, तथा वैराग्य और भक्तिकी सच्ची

भावनासे विषयासक्तिका नाश करना । इनमेंसे जिनसे, जिस क्षेत्रमें, जितना कुछ हो सके, वही सचाईके साथ भगवान्‌पर विश्वास रखकर करना चाहिये ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रेम-राज्य

(लेखक—श्री 'दुर्गेश')

मेरे सुख-शान्तिकी सीमा नहीं, जबसे मैं आपके प्रेम-राज्यमें आयी । मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि यहाँ दुःख, कलह, ईर्ष्या या मान नहीं है । यहाँ भी इन सबके दर्शन होते हैं; किन्तु यहाँ उनका दूसरा ही रूप है । यहाँके रोनेमें भी हँसना है, उसमें भी सुख है । यहाँकी एक-एक वस्तु आनन्दके सारसे ही बनी है । कोई विरहिणी अपनी विरह-व्यथासे तड़प रही है—रो रही है; परंतु इस तड़पन और रुदनमें भी कितना आनन्द है, इसको दूसरा कोई कैसे जान सकता है । विरहिणी गोपियाँ रो-रोकर अचेत हो रही हैं, उन्मादिनी हो रही हैं, भूख-प्यास खो चुकी हैं; किंतु इस विरह-सुखके लिये देवता भी तरसते हैं । शत-सहस्र इन्द्र-सुख न्योछावर होते हैं इसपर । ये प्रेमास्पदके साथ एकीभूत हो रही हैं—समुद्रमें तरङ्गोंकी तरह ।

तन-मन-जीवन जारि कै भस्म किया सब देह ।
विरहयोगमें सिद्ध हो घट-भीतर पिय नेह ॥

मेरे कहनेका मतलब यह कि प्रेमी-प्रेमास्पद एकहृदय होनेके कारण इस विरह-दुःखमें भी अतुलनीय सुख है । योजनों दूर रहते हुए ही दोनों सदा अतिनिकट हैं ।

अपना सर्बस दे तुझे बदलेमें याद ली तेरी ।
इस यादके सहारे जिंदगी सुनहरी है मेरी ॥

इसके ईर्ष्या, मान, झगड़ेमें भी अनूठा रस है । श्रीराधा-रानी जानती हैं—मेरी ये सब सखियाँ—और भी न जानें कितनी ही मेरी ही तरह इस मुखचन्द्रकी चकोर हो रही हैं; किंतु मान-रसका आस्वादन करनेके लिये वे मान कर बैठती हैं । रसिकेश्वर ! आप भी लालायित हो रहे हैं, मान मनानेकी लीला करनेके लिये । इस सुखकी तुलना कहाँ है—जिसमें भुवनेश्वर अपनेको भूल रहे हैं—स्वयं सरकार अपने ही श्रीमुखसे कहने लग जाते हैं—

एतो श्रम कबहूँ नाहिं भयो ।
का जाने कहा है या सुखमें सहजहि होत नयो ॥

अब प्रणय-कलहका सुख लेनेके लिये सखाओंको चिढ़ा बैठते हैं । सखा अपनी क्रीडामण्डलीसे आपको निकाल देते हैं । बस, आपकी इच्छा पूर्ण हो जाती है और आप लगते हैं पैरों पड़-पड़कर सखाओंको मनाने !

देव ! मैं तो इस प्रेम-राज्यमें कोई भी मर्यादा या भेद-भाव नहीं देख पा रही हूँ । सखामण्डलीमें बैठे आपको सबके साथ भोजन करते देखती हूँ । शायद इस भोजनमें आप इनके प्रेम-रसका आस्वादन कर रहे हैं । गोपिकाओंके घरोंमें छिप-छिपकर गोरस गटकते देखती हूँ । क्या आप गोरसके भूखे हैं ? नहीं । इनके प्रेममें बँधे इनकी इच्छानुसार नाचते हैं ! होलीमें मैंने व्रज-वनिताओंको आपके श्यामारुण कपोलोंपर अबीर मल-मलकर गलगुच्चे देते देखा ! यह कैसा राज्य है—जिसे आपने एक रंगमें रँग रक्खा है, जिसके अणु-अणुमें अनूठे रसकी तरङ्गें उछल रही हैं । क्या यह सुख विषय-वासना, भोग-विलास या जागतिक स्वार्थमें कहीं मिल सकता है ? कदापि नहीं ।

'प्रेमराज्यके ते अधिकारी ।
जिनको मन मरि गयो मिट गयी वासना सारी ।'

कामके पत्र

(१)

वर्ण जन्म-कर्म दोनोंसे है

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपा-पत्र मिला । 'गीतातत्त्वविवेचनीके' 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' इस श्लोकके अर्थके सम्बन्धमें आपने शङ्का की उसके सम्बन्धमें निम्नलिखित निवेदन है । गीतातत्त्वविवेचनीमें श्लोकका यह अर्थ किया हुआ है—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है । इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कार्यका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ।'

अब इस श्लोकका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा गया है—'अनादिकालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फल भोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उन्हें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है । भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मण आदि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं । अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है, उन्हें ब्राह्मण बनाते हैं; जिनमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी अधिकता होती है, उन्हें क्षत्रिय; जिनमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, उन्हें वैश्य और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान होते हैं, उन्हें शूद्र बनाते हैं । इस प्रकार रचे हुए वर्णोंके लिये उनके स्वभावके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान भी भगवान् स्वयं ही कर देते हैं । अर्थात् ब्राह्मण शम-दम आदि कर्मोंमें रत रहें, क्षत्रियमें शौर्य-तेज आदि हों, वैश्य कृषि-गोरक्षामें लगें और शूद्र सेवापरायण हों—ऐसा कहा गया है (१८ । ४१—४४) । इस प्रकार गुणकर्मविभागपूर्वक भगवान्के द्वारा चतुर्वर्णकी रचना होती है । यही व्यवस्था जगत्में बराबर चलती है ।'

कर्मसे जाति माननेवालोंको इन पंक्तियोंपर विचार करना चाहिये । गीता-तत्त्वविवेचनीमें भी कर्मसे जाति मानी गयी है परंतु किस प्रकार ? पूर्वजन्ममें जो कुछ कर्म होता है, उसीके अनुसार अगले जन्ममें जाति प्राप्त होगी । इस प्रकार जातिमें जन्मकी ही प्रधानता सिद्ध होती है । कर्म तो भावी जन्ममें कारणमात्र है । यही बात उपनिषदोंमें कही गयी है । छान्दोग्योपनिषद्में जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन करते हुए स्पष्ट बतलाया गया है कि—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।' (५ । १० । ७)

अर्थात् 'उन जीवोंमेंसे जो इस लोकमें रमणीय आचरण (पुण्यकर्म करने) वाले होते हैं, वे निश्चय ही उत्तम योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरण करनेवाले होते हैं, वे अधमयोनि—कुत्ते, सूअर अथवा चाण्डालकी योनिको प्राप्त होते हैं ।'

स्मरण रहे, यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चाण्डाल आदि सबको 'योनि' कहा गया है । इस जन्मके कर्मके अनुसार जाति माननेपर ब्राह्मण आदि कोई नियत योनि ही नहीं रह सकती । प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न कर्मोंका आचरणकर प्रतिदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता रहेगा !

इसीलिये ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—

'यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अङ्ग होनेके

कारण वर्णकी पूर्णता दोनोंसे ही होती है, परन्तु प्रधानता जन्मकी ही है। इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी ही है। यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें सङ्करता न आवे तो सहज हो कर्ममें भी प्रायः सङ्करता नहीं आती। परंतु सङ्गदोष, आहार-दोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है। तथापि कर्मशुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है। कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है। अतः जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये। क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं, तो उसका कल्याण नहीं हो सकता, तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका साधन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है।'

'यदि मनुष्यके आचरण और कर्म देखकर उसके अनुसार उसकी जाति मान ली जाय तो क्या हानि है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें लिखा गया है—

'जीवोंको कर्मफल भुगतानेके लिये ईश्वर ही उनके पूर्वकर्मानुसार उन्हें विभिन्न वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। ईश्वरके विधानको बदलनेमें मनुष्यका अधिकार नहीं है। आचरण देखकर वर्णकी कल्पना करना भी असम्भव ही है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न बालकोंके आचरणोंमें बड़ी विभिन्नता देखी जाती है। एक ही मनुष्य दिनभरमें कभी ब्राह्मणका-सा तो कभी शूद्रका-सा कर्म करता है, ऐसी अवस्थामें वर्णका निश्चय कैसे होगा? (दिनभरमें कितनी बार वर्ण बदलेंगे!) फिर, ऐसा होनेपर नीचा कौन बनना चाहेगा? खान-पान और विवाहादिमें भी अड़चनें पैदा होंगी। फलतः वर्ण-विप्लव हो जायगा और वर्णव्यवस्थाकी स्थितिमें बड़ी भारी बाधा उपस्थित हो जायगी। अतएव केवल कर्मसे वर्ण नहीं मानना चाहिये।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि वर्णका मूल है जन्म; कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है और वह अत्यावश्यक है। वर्तमान वर्णकी प्राप्तिमें पूर्वजन्मका कर्म कारण बनता है। इस प्रकार वर्ण और जातिमें जन्म और कर्म दोनों ही आवश्यक हैं परन्तु प्रधानता जन्मकी है।

शेष भगवत्कृपा!

(२)

दुष्कर्मसे दुर्गति

मान्य बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके बहनोई कल्याणके ग्राहक हैं, रामायण-भगवद्गीता पढ़ते हैं, घूँसखोरीसे सदा दूर रहते हैं और अच्छे स्वभावके हैं परंतु उनके चरित्रमें दोष हैं; दोष बतलानेपर वे उल्टा डाँटते हैं तथा उसका औचित्य सिद्ध करते हैं। इससे आपकी बहिनको बहुत दुःख है और वह कभी-कभी शरीर-त्यागतककी बात सोचती है। इसके उत्तरमें निवेदन यह है कि आप अपनी बहिनको समझा दें कि वे आत्महत्याकी बात कभी न सोचें। आत्महत्या महापाप है। इससे दुःखोंका नाश नहीं होता, वरं दुःख और भी बढ़ जाते हैं। वे अपने पतिदेवकी बुद्धि सुधरनेके लिये भगवान्से कातर प्रार्थना करें। उनकी प्रार्थना जितनी ही विश्वासपूर्ण होगी, उतना ही उसका अच्छा फल देखनेमें आवेगा। मनुष्य जब कामादि विकारोंके वश हो जाता है, तब उसका ज्ञान ढक जाता है, बुद्धि विपरीत निर्णय देने लगती है। वह पापको पुण्य बताती है और पुण्यको पाप। यही हाल आपके बहनोईजीका है। वे यह जो कुछ कर रहे हैं सो निःसन्देह

प्रत्यक्ष पाप है। इसका परिणाम उनके लिये बहुत ही दुःखदायी हो सकता है। यदि वे मेरी बात मानें तो मैं उनसे यही कहूँगा कि वे शीघ्र-से-शीघ्र इस दुष्कर्मको छोड़ दें और अपनी साध्वी पत्नीको घोर मानसिक पीड़ासे बचा लें। इसीमें उनका कल्याण है। गीता-रामायणका उनको यही संदेश है और मैं भी उनसे बलपूर्वक यही अनुरोध करता हूँ। वे इस प्रकारका कुकार्य करके गीता-रामायणको भी कलङ्क लगा रहे हैं, जो वास्तवमें गीता-रामायणको नहीं लगकर उन्हींको लगेगा और उनकी महान् दुर्गतिका कारण होगा। जो भोली बहिन इनके जालमें फँसी है, उसको भी सावधान होना चाहिये। इस प्रकारका आचरण महान् पाप तो है ही, यह नारी-जातिके लिये बड़ा कलङ्क है। एक बहिन घरमें बैठी रोती-कलपती रहे और दूसरी वहीं उसके पतिको दुराचारका आश्रय देनेवाली बने! पुरुष-जाति तो गिर ही गयी है, पर भारतकी नारियोंका भी इस प्रकार पतन हो रहा है। बड़े ही दुःखकी बात है।

(३)

भगवान् कहाँ हैं ?

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपके कृपापत्र मिले। सबके उत्तर इसी पत्रमें समझें।

(१) पहले पत्रमें आपने पूज्य महात्माजीकी हत्या और देशमें अन्यत्र होनेवाली दुर्घटनाओंका उल्लेख करते हुए यह प्रश्न किया है कि 'भगवान् कहाँ हैं और वे क्यों नहीं अवतार लेकर यह सब दूर करते? आपने यह भी लिखा है कि मिलानेपर महाभारत और रामायणसे इस समयकी घटनाएँ अधिक भयङ्कर हैं। प्रभुके प्रति कुछ आपको अविश्वास-सा भी हो चला है उन घटनाओंको देखकर।

पहली बात यह है कि विश्ववन्द्य महात्माजीने जीवनभर जिनके नामोंका कीर्तन, गुणोंका गान तथा स्तुति-प्रार्थना की, उन प्रभुके प्रति कभी उनका विश्वास दुर्बल नहीं हुआ। उनके जीवनमें बड़े-बड़े संकट आये, बड़ी-बड़ी निराशाएँ आयीं, किंतु कभी उनका ईश्वर-विश्वास शिथिल नहीं हुआ। मरते समय भी उनके मुखसे 'राम-नाम' ही निकला। आपने शायद कभी भक्तप्रवर सुधन्वा और अर्जुनके युद्धका प्रसङ्ग नहीं पढ़ा। वे दोनों भगवान्के भक्त थे, दोनों भगवान्की दया और शक्तिका भरोसा करके ही एक दूसरेको यमलोक भेजनेकी चेष्टा करते थे। भक्तवत्सल भगवान्को दोनों भक्त प्रिय थे। फिर भी प्रभुने एकको जीवित रखना और दूसरेको अपने परमधाममें भेजना आवश्यक समझा और वैसा ही हुआ। अभिमन्यु और भीष्म क्या भगवान्के कम प्रिय थे, फिर भी समय आनेपर दोनों मारे गये। भगवान् चाहते तो बचा लेते। पर ऐसा नहीं किया। जगत्में कब क्या हो रहा है, किसकी रक्षाके लिये कब क्या करना है? इसमें भगवान् सदैव सावधान हैं। अश्वत्थामाके आक्रमणसे द्रौपदीके पाँच पुत्र मारे गये। भगवान्ने उन्हें मरने दिया और पाँचों पाण्डवोंको बचा लिया। क्यों? इसका यथार्थ उत्तर तो भगवान्के ही पास है। शास्त्रानुसार यह कहना पड़ता है कि प्रभु जानते हैं, कौन कितनी आयु लेकर आया है? सबको अपने पूर्वकर्मोंके अनुसार शरीर, धन, सुख-दुःख, आयु तथा अन्यान्य साधन प्राप्त होते हैं। इसका ज्ञान सर्वज्ञ सर्वसाक्षी भगवान्को अवश्य रहता है। गत वर्षोंमें जिनपर जो कुछ बीता, वह उनके ही कर्मोंका फल था। उसका उपभोग हो जानेसे उन सबकी आत्मशुद्धि ही हुई है। महात्माजीकी भी आयु पूरी हो चुकी थी। उनको जाना ही था, परंतु इस प्रकार जानेसे वे अमर हो गये। जन-जनके हृदयमें, प्राणमें वे एक बार जी उठे। एकसे अनेक हो गये। यह सौभाग्य भगवान्के कृपापात्रको ही

सुलभ है । उनकी-जैसी मृत्यु ईर्ष्याकी वस्तु है । वे संतोंकी भाँति जीवित रहे और वीरकी मौत मरे । वे धन्य हो गये !

आजकी घटनाएँ आपको अधिक भयङ्कर इसलिये लगी हैं कि आपने बहुत-सी बातें प्रत्यक्ष देखी हैं । जो लोग यह सब पुस्तकोंमें पढ़ेंगे, उनको इसकी भीषणताका उतना अनुभव नहीं होगा । रामायण और महाभारतकालमें असुरोंके अत्याचारका वर्णन असम्भव है । उस समयके नर-नारी उसके उपभोगकी वस्तु तो थे ही, कलेवा और भोजनकी भी वस्तु थे । सूखी हड्डीवाले ऋषियोंतकको राक्षस लोग चबा डालते थे । यत्र-तत्र हड्डियोंके पहाड़ लग गये थे । श्रीरामने वनवासके समय देखा, दुःख प्रकट किया और राक्षसोंके विनाशकी प्रतिज्ञा की । क्या आपने कभी सोचा है, भगवान् रामने ऋषियोंकी हत्या क्यों होने दी ? जब भगवान्के उपासक तपस्वी ऋषि-मुनि मारे जा रहे थे, तब वे क्यों और कहाँ चुप बैठे थे ? हड्डियोंका पहाड़ लग जानेके बाद क्यों आये ? इन सबका एक ही उत्तर है; उन सबकी आयु पूरी हो चुकी थी । जिनकी आयु अभी शेष है, उनके जीवनपर जब संकटके बादल मँडराने लगे, तब प्रभुको भी उनकी रक्षाके लिये आना पड़ा । फिर भी अभी राक्षसोंकी आयु शेष थी, अतः उन्हें चौदह वर्षोंतक प्रतीक्षा करनी पड़ी । ईश्वरीय व्यवस्था अपने ढंगसे चलती है । मनुष्य घबराहटमें आकर कुछ-का-कुछ सोचने लगता है । सो ठीक नहीं । भगवान्का आना-न-आना सब जीव-जगत्की भलाईके लिये ही है । भगवान् सदा जीवोंके मङ्गलका, कल्याणका ही आयोजन करते हैं । बाहरसे कहीं किसी व्यवहारमें कठोरता दिखायी दे सकती है; किंतु वह माता-पिताद्वारा की हुई बालककी ताड़नाके समान सदा दयासे भरी रहती है । अतः दयामय सर्वसुहृद् प्रभुपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है ।

(२) आपने कल्याणके किसी लेखके आधारपर यह प्रश्न उठाया है कि 'जब पूर्ण अहिंसक जीवके ऊपर हिंसक जीव भी आक्रमण नहीं करते, तब बापूके ऊपर हिंसाका प्रयोग क्यों संभव हुआ । बापू तो बड़े अहिंसक थे ।' आपकी शङ्का ठीक है । बापूने अपने जीवनमें अहिंसाकी साधना की थी; इसलिये उनके मनमें किसीके प्रति वैरभाव नहीं रह गया था । तथापि जो अहिंसा जंगलके हिंसक पशुओंकी भी मनोवृत्ति बदल देती है, वे भी जहाँ अहिंसक बन जाते हैं, वैसी अहिंसा सिद्ध महापुरुषोंमें ही प्रतिष्ठित है, ऐसा सुना जाता है । महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।' अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेपर उसके पास सभी जीव अपना वैर त्याग देते हैं । इससे अनुमान होता है कि बापू अहिंसाके ऊँचे साधक थे, परन्तु सिद्धकी स्थितिमें नहीं पहुँचे थे । वे अपने लिये अहिंसक थे; परंतु अहिंसाकी इतनी प्रतिष्ठा वे अपने जीवनमें नहीं कर सके थे, जो पास रहनेवालोंकी—विशेषतः हिंसकोंकी भी मनोवृत्तिको बदल देती है ।

(३) आपने अपनी घरेलू परिस्थिति बताते हुए लिखा है कि मेरे चचेरे भाईकी औरतोंने अपने पति और सासके कान भरकर आजसे दस-ग्यारह साल पहले हम लोगोंको अलग कर दिया और स्वयं वे लोग सुखी रहनेके लिये हमसे पृथक् हो गये । किंतु पासा उलट पड़ा, हमलोगोंकी गिरी दशा सुधर गयी और वे लोग दुखी एवं ऋणग्रस्त हैं । बचपनमें उनके द्वारा आपका भी पालन हुआ है; उसे यादकर आप उनके प्रति अपना कर्तव्य पूछते हैं ! यह आपकी सज्जनता है । भगवान्की यही दया है; वे निरपराध और असहायको सहारा देते हैं और अभिमानीका दर्प दलन करते हैं । अब आप प्रभुकी दयासे संतोषजनक अवस्थामें हैं; वे दुखी हैं, अतः प्रभुके स्वभावको देखते हुए आपको उचित है, आप जितना संभव हो,

उनकी कुछ सेवा-सहायता अवश्य करते रहें । पर इसके लिये उनपर अहसान नहीं करें । उनके दुःख दूर करनेमें जितना आपसे बन पड़े, आपको सच्चेपनसे नम्रतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये । इससे भगवान्‌की प्रसन्नता बढ़ेगी । आप सदा फलते-फूलते रह सकेंगे । पहलेका वैमनस्य भुलाकर उन लोगोंके प्रति सहानुभूति दिखाना ही आपका धर्म है । गाड़ीके पहियेकी नेमिकी तरह मनुष्यकी दशा कभी उन्नत और कभी अवनत होती रहती है । सदा एक-सी स्थिति नहीं रहती; अतः स्वयं समर्थ होनेपर निरभिमान होकर सदा दूसरोंको सहारा देना अपना परम धर्म मानना चाहिये । भगवान् किसीको धन, शक्ति, साधन और सुविधा इसीलिये देते हैं कि यह हमारे सृष्टि-संरक्षणके कार्यमें योग देगा । यदि हम किसी भी जीवकी थोड़ी-बहुत सेवा कर सकें तो भगवान्‌की आज्ञा पालन करके हम लोग अक्षय पुण्य एवं भगवत्कृपाके अधिकारी हो सकते हैं । शेष भगवत्कृपा !

(४)

घर छोड़ना हानिकारक है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने अपनी शारीरिक दुर्बलताका उल्लेख करते हुए घर छोड़नेके लिये सलाह पूछी, इसके उत्तरमें निवेदन है कि घर छोड़ना आपके लिये न तो उचित है, न लाभदायक ही । भगवान् बुद्ध तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी नकल हर आदमी नहीं कर सकता । उनमें जैसा महान् मनोबल था, वह हमलोगोंमें कहाँ है ? मनुष्यको अपने अधिकारके अनुसार ही व्यवहार करना चाहिये तभी वह सुखी रहता है; नहीं तो, आगे चलकर उसे बहुत पश्चात्ताप करना पड़ता है । जो लोकोत्तर महापुरुष हुए हैं, उनके पवित्र उपदेश ही हमारे लिये परिस्थिति और अधिकारके अनुरूप आचरण करने योग्य हैं । उनके आचरणोंका अनुकरण तो यथार्थरूपमें किया ही नहीं जा सकता ।

भगवान् बुद्ध तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका बचपन कितना पवित्र तथा संयमपूर्ण था । उसके सामने आप अपने बालकपनको देखिये । बचपनकी बुराइयाँ पूर्वजन्मके दुर्बल मनकी ही सूचक हैं । आपकी इस समय जो मानसिक स्थिति है, यह भी, जहाँतक मैं समझ पाया हूँ, यथार्थ वैराग्य नहीं है । यह प्रतिकूलतासे उत्पन्न भावना है, लज्जा और ग्लानिका परिणाम है । ऐसी अवस्थामें घर छोड़कर और कहीं चले जानेसे ही भजन बनने लगेगा, ऐसा नहीं सोचना चाहिये । फिर, आजकल तो भजनके अनुकूल स्थानका मिलना भी बहुत कठिन है ।

आपके मनमें भगवान्‌के दर्शनकी चाह है, यह बड़ी उत्तम चाह है । भगवान्‌के दर्शन उनकी कृपासे हो सकते हैं । इस युगमें उनके दर्शनका श्रेष्ठ साधन है—उनकी अहैतुकी असीम कृपापर परम विश्वास करके उनके नामका नित्य स्मरण करना । इसको आप बाहरकी अपेक्षा घरपर अधिक सुगमतासे कर सकते हैं । सब समय भगवन्नामका अखण्ड स्मरण करते हुए ही घरके आवश्यक सारे काम करें । भगवान्‌ने गीतामें कहा है——

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८ । ७)

‘इसलिये हे अर्जुन ! सब समय मेरा स्मरण करो और (समयपर) युद्ध करो । यों मन-बुद्धिको मुझमें अर्पण करनेपर तुम मुझको प्राप्त होओगे, इसमें सन्देह नहीं है ।’

इसके सिवा, अग्निकी साक्षी देकर जिस पत्नीका आपने पाणिग्रहण किया और जिसको साथ रखनेकी प्रतिज्ञा की, उसके सुख-दुःखका भी आपपर निश्चित उत्तरदायित्व है । आपके इस प्रकार गृह-त्यागसे यदि कोई बुराई आ गयी तो पत्नीके पाप-पुण्यका आपको भागीदार होना पड़ेगा । इस दृष्टिसे भी घर छोड़ना कदापि उचित नहीं है ।

अतएव मेरी सलाह तो यह है कि आप घर छोड़नेका विचार त्याग दीजिये । चिकित्साका प्रयत्न करते रहिये । श्रद्धापूर्वक भगवन्नामका जप तथा भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे भी आपके रोगका नाश हो सकता है । विश्वास हो तो, राम-नाम सब रोगोंकी एक रामबाण दवा है—'सर्वतापशमनैकभेषजम् ।' शेष भगवत्कृपा !

(५)

पवित्र प्रेमका जीवन त्याग है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने एक विधवा बहिनके प्रति अपने शुद्ध प्रेमका उल्लेख करते हुए बताया कि आपके आचरण पवित्र हैं और प्रेममें कोई अपवित्रता नहीं है सो बड़ी अच्छी बात है । यदि ऐसा है तो बहुत श्रेष्ठ है परंतु आपको अपना अन्तस्तल फिर गहरी नजरसे देखना चाहिये । प्रेमके नामपर कहीं मोह तो नहीं है । ऐसे अवसरोंपर प्रायः मोह ही प्रेमका चोगा पहनकर आया करता है और उसके परिणामस्वरूप मनुष्यका पतन हो जाता है ।

याद रखना चाहिये—प्रेम शरीरसे नहीं होता, और प्रेममें अपना तनिक-सा भी स्वार्थ नहीं रहता । प्रेमी चाहता है प्रेमास्पदका एकान्त कल्याण—उसको परमानन्दमें देखना । प्रेमास्पदको इस प्रकार सुख पहुँचानेमें यदि प्रेमीको भयानक यन्त्रणाका भोग करना पड़ता है तो वह उसे बड़े चावसे भोगता है । जो मनुष्य प्रेमके नामपर आत्मतृप्ति यानी अपने मन-इन्द्रियोंका सुख चाहता है, वह प्रेमी नहीं है, कामी है क्योंकि उसका लक्ष्य प्रेम नहीं है, उसका लक्ष्य है लौकिक सुखादि भोग ।

आप अपनेको देखिये, यदि जरा भी मोह हो तो तुरंत उसको त्याग दीजिये । कई बार ऐसा होता है कि मनमें कोई स्पष्ट वासना नहीं दीखती, न काम ही प्रतीत होता है पर जिस प्रेममें शारीरिक आसक्ति होती है—उससे मिलने-देखनेको जी छटपटाता है, वहाँ छिपी कामना रहती ही है । ऐसे प्रेमका त्याग करनेमें ही दोनोंका कल्याण है । शारीरिक सुख या मानसिक आमोद-प्रमोदकी इच्छा निश्चय ही मोहकी प्रेरणासे होती है । वह देवी विधवा है, युवती है, उसका कल्याण है श्रीहरिके चिन्तनमें या परमात्मस्वरूप पतिके चिन्तनमें, तथा संयम, त्याग, तितिक्षासे युक्त पूर्णरूपेण सादा जीवन बिताते हुए भगवान्‌का भजन करनेमें । किसी भी अन्य पुरुषके प्रति (विशुद्ध दीखनेवाला) आकर्षण भी उसके लिये भयकी वस्तु है । शरीरको सुखकी प्राप्ति हो, आमोद-प्रमोदसे उसका मन मुदित रहे—इस प्रकारकी चाह तो उसके और आपके दोनोंके ही लिये पतनकी ओर ले जानेवाली है । वह जब अनन्य भावसे अपने पतिका ही चिन्तन करेगी । पतिके वियोगमें व्रतपरायण, वैराग्यकी मूर्तिमान् प्रतिमा और तपस्यामें रत होकर रहेगी। तभी यथार्थ प्रेमदेवता परितुष्ट होंगे । वह आपके आकर्षणमें रहे और आप इसको सहन ही नहीं करें, प्रत्युत प्रोत्साहन देते रहें, इससे तो यही सिद्ध होता है आपके मनमें यथार्थ प्रेमदेवताके स्थानपर चुपके-से कोई काम-पिशाच आ बैठा है ! सच्चा प्रेमी—किसी पतिपरायणा स्त्रीका उसके अपने पतिके अतिरिक्त अन्य पुरुषके प्रति होनेवाला आकर्षण सहन ही कैसे कर सकता है ? यह तो उसका पतन है और उस पतनको आप प्रेमी बनकर भी देख रहे हैं और उसे विशुद्ध प्रेम मान रहे हैं ! पवित्र प्रेमका जीवन है त्याग । आप जिससे प्रेम करते हैं; उसके लिये आपको त्याग करना होगा । आसक्तिको विशुद्ध प्रेममें कहाँ स्थान है । आपके द्वारा आसक्तिका व्यवहार न पाकर वह बहिन यदि निराश होकर भगवान्‌के भजनमें लग जाती है तो यह उसके लिये परमकल्याणकी बात है । आप उसके साथ पवित्र प्रेम कीजिये उसे परम शान्तिमय पवित्र भगवद्धाममें पहुँचानेके लिये—

जगत्‌के पदार्थोंसे प्राप्त होनेवाले क्षुद्र क्षणिक दुःखमूल शारीरिक और मानसिक सुखके लिये नहीं। इसके लिये यदि आपको उससे सर्वथा अलग होना पड़े तो वह भी आपके सच्चे प्रेमका एक अङ्ग होगा। छिपी वासना बड़े सुन्दर-सुन्दर स्वाँग लाया करती है, उससे सदैव सावधान रहना चाहिये।

जगत्‌के लोग जो बदनामी करते हैं, उसमें भी कुछ सत्यता है, वे आपके मनको ही नहीं, बाहरी व्यवहारको भी पवित्र और परम आदर्श देखना चाहते हैं। आप जब उस बहिनसे शारीरिक आसक्तिके व्यवहारसे अलग हो जायँगे तो यह बदनामी अपने-आप दूर हो जायगी और तब आपका विशुद्ध प्रेम—यथार्थ विशुद्ध हो जायगा, जो आपके और उसके दोनोंके लिये कल्याणकारी होगा।

संस्कृतियोंकी जननी

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

विश्वकी प्राचीनतम संस्कृति कौन-सी है? आदिसंस्कृति अब विश्वमें कहीं विद्यमान भी है या नहीं? एक ही संस्कृतिसे विश्वकी समस्त संस्कृतियोंका जन्म हुआ या उनका स्वतन्त्ररूपसे निर्माण हुआ है? इन सब प्रश्नोंके मूलमें एक ही प्रश्न है कि पृथ्वीपर मनुष्य-जातिकी सृष्टि कहीं एक ही स्थानपर हुई और वहींसे उसकी सन्तति विश्वमें फैली या अनेक स्थानोंपर मनुष्यकी सृष्टि हुई? यदि एक ही स्थानपर हुई तो वह स्थान कौन-सा है? मूल मानवकी संस्कृति कहीं अपनी सुरक्षित परम्परा भी रखती है या सब कहीं वह विकृत हो गयी?

वर्तमान समयमें मनुष्योंकी विश्वमें चार मुख्य जातियाँ मानी जाती हैं—१–श्वेत, इन्हें काकेशस कहते हैं। ये लंबे आकारके होते हैं। २–पीले, मंगोलियन जातिके। लंबी आकृति, चपटी नाक इनका चिह्न है। ३–काले, काला रंग, मोटी आकृतिके नीग्रो। ४–लाल, यह जाति अमेरिकामें ही मिलती है। इनकी आकृति पतली होती है। ये रेड-इंडियन कहलाते हैं।

इन चारों रंगोंके अतिरिक्त एक पाँचवीं जाति है, जो भारतीयोंकी है। इस जातिमें उपर्युक्त चारों रंगोंके मिश्रण हैं। भारतके एक ही प्रान्तमें उपर्युक्त चारों रंगोंसे कुछ-न-कुछ मिलते-जुलते आकारके लोग पाये जा सकते हैं। ऐसी कोई सम्भावना किसी आधारपर प्राप्त नहीं है, जिससे कहा जा सके कि भारतीय मानव-जाति उपर्युक्त चारों जातियोंकी संकरतासे उत्पन्न हुई। जान यही पड़ता है कि यही जाति विश्वमें फैली और दीर्घकालमें विभिन्न देशोंकी जल-वायु आदिके भेदसे चार मुख्य रूपोंमें हो गयी।

विकासवादी मानते हैं कि मनुष्य जाति बंदरसे विकसित होकर बनी है। मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति जावाद्वीपके 'कलेंग' नामक मनुष्योंसे हुई। यह जाति नीग्रो जातिकी है। लेकिन काला रंग सम्पूर्ण रंगोंके अभावका द्योतक है। उससे श्वेत, पीत एवं लाल रंग उत्पन्न नहीं हो सकते।

अमेरिकाके लाल रंगवालोंका मिलान मिस्रके प्राचीन निवासियोंसे है। सम्भवतः यह जाति मिस्रमें लाल समुद्रके किनारेसे वहाँ गयी है। मिस्रकी भाँति अमेरिकामें भी पिरामिड और सूर्यमन्दिर पाये गये हैं। विद्वानोंने पता लगाया है कि चारों मनुष्य-जातियोंमें काकेसिक विभाग ही मुख्य है। इसी जातिके लोग कालक्रमसे भूरे और काले हो गये। मिस्रमें यही हेमेटिक शाखाके मनुष्य रहते हैं। यही जाति नीग्रो हुई है। इसके बाल सीधे और घुँघराले भी होते हैं। श्वेत रंगके यूरोपवाले भी अपनेको काकेसिक शाखाका ही बतलाते हैं। काकेसिक विभागकी दूसरी शाखा सेमेटिक है। इसमें अरब, बेबिलिन, सीरिया आदिके लोग हैं। मेसोपोटामियामें पुरातत्त्वके विद्वानोंको ३४०० वर्ष पूर्वकी ईंटें मिली हैं। इनमें सुलहनामा है। उससे ज्ञात होता है कि यहाँ जो सेमिटिक शाखाकी हिदोहिट जाति रहती थी, उसीका एक दल भारतमें रहता था और द्रविड़ कहलाता था। भारतीय द्रविड़ोंका रूप, रंग, भाषा, शरीरगठन यह सब नीग्रो तथा मंगोलियन विभागको एक करता है। आस्ट्रेलियानिवासी शुद्ध नीग्रो जातिके हैं, और यह सिद्ध हो गया है कि द्रविड़ जाति ही आस्ट्रेलियातक विस्तृत थी। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि समस्त मानव-जाति काकेसिक विभागसे ही निकली है। यह पाश्चात्त्य शोध है।

मुझे कहना हो तो मैं कहूँगा कि मानव-जातिका मूल भारतीय मानव-जाति है । काकेसिक विभागके लोग मंगोलियन, रेड इंडियन और नीग्रो हुए, इस टेढ़ी कल्पनाके बदले यह सरल है कि भारतीय जाति एक साथ पृथ्वीके अनेक देशोंमें फैली और उनके जल-वायुके अनुरूप हो गयी। ऐसा माननेके कारण हैं—

१–भारतीय जातिमें चारों रंगोंके लोगोंका पाया जाना ।

२–भारतीय लोगोंमें चारों जातियोंकी शारीरिक गठनका मिलना। जैसे ऊँची, दबी, गोल, लंबी मस्तकाकृति । उठी या चपटी नाक। लंबी, टिगनी, पतली, मोटी शरीराकृति तथा एकहरी या दुहरी अस्थिगठनकी आकृतियाँ ।

३–भारतीय लोगोंमें काले सीधे, काले घुँघराले, सुनहरे, भूरे केशोंका पाया जाना ।

हेमेटिक और सेमेटिक जातियोंका मूल ढूँढ़ना भी कठिन नहीं है। पाश्चात्त्य विद्वान् अपनी खोज अपने धार्मिक आग्रहसे पृथक् करके कर नहीं पाते । यहूदियोंके धर्मग्रन्थमें एक जल-प्रलयका वर्णन है । हजरत नूह उसमें बच गये थे और उन्हींके दो पुत्र थे—हेम और सेम । इन्हीं दोनों पुत्रोंसे मानव-सृष्टिका विस्तार हुआ । इन्हींकी सन्तानें हैमेटिक और सेमेटिक कहलाती हैं। यही कथा बाइबिलमें आयी और फिर इस्लाममें भी । नूहकी कथा तो वैवस्वत मनुकी कथाका अनुवाद है । यह बात इससे भी सिद्ध है कि मनुके वंशज होनेसे जैसे भारतीय अपनेको मनुष्य कहते हैं; वैसे ही जर्मन अपना मूल पुरुष 'मनस' को मानते हैं । जर्मन भाषामें मनुष्यको 'मेनस' कहते हैं और अंग्रेजीका 'मैन' इसीका अपभ्रंश है ।

हजरत नूह कौन थे ? मिस्रकी भाषामें 'नून' शब्दका अर्थ मछली होता है । यह अक्षर अंग्रेजी, अरबी आदिमें अब भी मछलीके समान है । वैवस्वत मनुको जल-प्रलयके समय भगवान्ने मत्स्यरूप धारण करके बचाया था, यह तो पुराण स्पष्ट कहते हैं । वही मत्स्य भगवान् वहाँ 'नूह' कहे गये । 'हेम' तो स्पष्ट ही हिरण्यगर्भ (सूर्य) का अपभ्रंश है और 'सेम' 'सोम' का । सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी क्षत्रिय ही भारतसे बाहर गये । उपर्युक्त कथाका सीधा तात्पर्य है कि सूर्य और चन्द्र भगवान् मत्स्यके पुत्र हैं, उन्हींसे सृष्टि-विस्तार हुआ है । अवश्य ही पुराणकी यह कथा जब करोड़ों वर्षके पश्चात् वहाँ सङ्कलित हुई तो उसका रूप अस्पष्ट हो गया ।

विद्वानोंने भौगोलिक स्थितिका अध्ययन करके पता लगाया है कि पूर्वकालमें अमेरिका तथा यूरोपकी ऐसी भौगोलिक स्थिति नहीं थी कि वहाँ मनुष्य उत्पन्न हो सकते। डाक्टर ऐन्सनका कहना है—'मनुष्यके चमड़ेपर ध्रुवप्रदेशके पशुओंके समान लंबे बाल नहीं हैं । इसके चमड़ेपर पसीना निकलनेके लिये रोम हैं । इसलिये यह अति शीत प्रदेशमें बसनेवाला प्राणी नहीं है ।' लोकमान्य तिलकने 'ओरायन' में सिद्ध किया है कि मनुष्यकी उत्पत्ति ध्रुवदेशमें हुई । लेकिन ध्रुवदेशमें पृथ्वीकी प्रत्येक केन्द्रच्युतिके समय हिमपात होता है । गणितसे सिद्ध हुआ है कि साढ़े दस सहस्र वर्षमें पृथ्वीकी एक बार केन्द्रच्युति होती है । ध्रुव देशमें मनुष्योंके जो चिह्न पाये गये हैं, वे हिमपातके पीछेके हैं । अतएव या तो यह मानना होगा कि मनुष्य दूसरे स्थानसे पीछे वहाँ गये, या यह मानना होगा कि मनुष्यके उत्पन्न हुए दस हजार वर्ष भी नहीं हुए । नेवादामें मनुष्यके जूतेका जो तला मिला है, वह ५० लाख वर्ष पुराना बताया जा रहा है । अतः यही मानना होगा कि मनुष्य ध्रुव प्रदेशमें पीछे गया ।

मैक्समूलरने अनुमानके आधारपर पहले मध्य एशियामें मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति बतलायी और पीछे उन्होंने मध्य एशियाका आग्रह छोड़कर 'कहीं एशियामें' कहना प्रारम्भ किया; क्योंकि मध्य एशियाके लिये कोई प्रमाण प्राप्त नहीं था । विकासवादी जावाके समीप मानते हैं; परंतु अब सिद्ध हो चुका है कि जावा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण भारत, अफ्रिका, अमेरिकामें बसनेवाले सब नीग्रो एक ही जातिके हैं और वे काकेसिक शाखाके हेमेटिक भागसे हैं । धीरे-धीरे उनकी काली जाति बन गयी है । कुछ विद्वानोंने पहले रूस और जर्मनीके मध्यमें मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति हुई, ऐसा माना था, पर अब वहाँ खोदनेपर ऐसे प्रमाण मिले हैं कि कोई भारतीय जाति ही जाकर बसी थी । मंगोलियामें मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति माननेवाले लोग भी हैं; परंतु मंगोलियाके प्राप्त प्रमाण भी यही बतलाते हैं कि वहाँ भी भारतीय जाति ही जाकर बसी थी ।

मनुष्यकी सभ्यताका ह्रास ही हुआ है, आदिमानव पूर्ण सभ्य एवं विद्वान् था । यदि सभ्यता पहले पूर्ण विकसित थी तो उसके लिये उपयुक्त स्थान भी चाहिये । वह स्थान ऐसा चाहिये, जहाँ प्रत्येक ऋतुएँ होती हों । क्योंकि जो मानव-जाति सब प्रकारके देशोंमें जाकर रह सकी, वह सब प्रकारके वातावरणकी

पहलेसे अभ्यस्त होनी चाहिये । मनुष्यके शरीरपर जो रोमकूप हैं, वे स्पष्ट बतलाते हैं कि मनुष्य ऐसे स्थानपर उत्पन्न हुआ, जहाँ स्वेद आता है । वहाँ मनुष्यकी प्रारम्भिक भोज्य सामग्री—फल सरलतासे प्राप्त हों ।

भारतीय अन्वेषकोंके अतिरिक्त टेलर साहब कहते हैं—'मनुष्यकी जन्मभूमि स्वर्गतुल्य काश्मीर ही है । विश्वमें ईरानकी पारसी जाति और भारतीय हिंदू—यही प्राचीनतम संस्कृतियोंके उपासक विद्यमान हैं । दोनों अपना मूल निवास हिमालयको मानते हैं । पारसियों, यहूदियों और क्रिश्चियनोंके धर्मग्रन्थोंके अनुसार आदिसृष्टि ऐसे स्थानपर हुई, जहाँ दस महीने सर्दी और दो महीने गरमी पड़ती है । कहना न होगा कि यह स्थान मानसरोवरसे काश्मीरतक है । पारसियोंके धर्मग्रन्थोंसे भी हिंदूकुश पर्वतके पास मूल सृष्टि हुई । इसे वहाँ 'ईरानवेज' कहा गया है ।

अथ गच्छत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥

(महाभारत)

इस श्लोकके अनुसार सप्तचरुतीर्थके पास वितस्ता नदीकी शाखा देविका नदीके तटपर मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति हुई । प्रमाणोंसे भी यही सिद्ध होता है कि आदिसृष्टि भारतके उत्तराखण्ड अर्थात् ब्रह्मावर्तमें ही हुई ।

आदिसंस्कृति

मनुष्य आदिमें 'पूर्ण संयमी, पूर्ण सभ्य, पूर्ण सशक्त था'—यह बात कही जा चुकी है । जब मनुष्य-सृष्टि एक ही स्थानपर हुई तो उसके ज्ञान, भाषा तथा संस्कृतिका मूल भी एक ही होगा । देखना यह है कि जो संस्कृतियाँ वर्तमान हैं, उनमें कोई उस मूल संस्कृतिकी अविकृत परम्परा भी रखती है या नहीं और वह कौन-सी संस्कृति है ?

यूरोपीय विद्वानोंकी मान्यता थी कि मिस्रकी सभ्यता भारतीय सभ्यतासे प्राचीन है । लेकिन श्रीहार्म्सवर्थने अपने 'विश्वके इतिहास' में लिखा है—'मिस्रकी भूमि प्रति सौ वर्षमें ५ इंचके हिसाबसे नील नदीद्वारा मिट्टी एकत्र करती है । इस मिट्टीका बड़े-से-बड़ा स्तर २६ फीटसे ६२ फीटतक है । औसतके हिसाबसे ६००० वर्षोंमें यह इतना मोटा हो सका होगा । दस सहस्र वर्ष भी मान लें तो उससे पूर्व वहाँ मैदान ही था । जंगली मनुष्य रहते थे ।······मिस्रका लिखित इतिहास वहाँके प्रथम राजवंशसे प्रारम्भ होता है जो ईसासे ५५०० वर्ष पूर्वतक जाता है । इसके विपरीत चन्द्रगुप्तके समयमें उसके दरबारमें जो यूनानी राजदूत मेगस्थनीज रहता था, उसने अपने ग्रन्थमें राजपुस्तकालयसे प्राप्त एक वंशावली उद्धृत की है । इसमें १५४ राजाओंकी गणना है । उनका राज्य-काल ६४५१ वर्ष तीन मास है । चन्द्रगुप्तको हुए २२५० वर्ष हो चुके । अतएव ८७०१ वर्षका तो गुप्तवंशका राज्य-विवरण ही प्राप्त है, जो मिस्रके प्रथम राजाके कालसे १२७२ वर्ष प्राचीन है । काश्मीरमें जो 'दबिस्तान' नामक लेख मिले हैं, वे सिकन्दरतकके हैं जो ५६०० वर्ष प्राचीन हैं । मेगस्थनीजकी वंशावलीमें महीनेतक दिये हैं । मिस्रके पिरामिडोंमें जो मुर्दे मिले हैं, उनमें नीलका रंग लगा है और इमलीकी लकड़ी उनके गाड़नेके काम आयी है । नील और इमली भारतको छोड़ और कहीं नहीं होती । अतः वह मिस्रमें भारतसे ही गयी होगी ।

धार्मिक सम्प्रदायोंमें इस समय हिंदू, पारसी, यहूदी, बौद्ध, ईसाई और मुसल्मान ही मुख्य हैं । शेष सब इन्हींकी शाखाएँ हैं । इनमें भी पारसी धर्मसे ही क्रमशः यहूदी, ईसाई और मुसल्मान धर्म हुए हैं । बौद्ध-धर्म हिंदू-धर्मकी ही एक शाखा है और जैन-धर्मकी भाँति हिंदू-धर्मसे ही वह उत्पन्न हुआ है । प्राचीन धर्मोंमें हिंदू और पारसी यही दो धर्म बच रहते हैं । पारसीधर्म वैदिक धर्मसे ही निकला है, इसमें किसी अन्वेषकको आपत्ति नहीं है । पारसियोंके धर्मग्रन्थोंमें पूर्वी हिंदू तथा पश्चिमी हिंदू नामसे भारतीय एवं पारसीक जातियोंका बार-बार वर्णन है । दोनों जातियोंको हिंदू ही कहा गया है ।

१२००० दिव्य वर्षोंका दैवी समय पारसियोंके यहाँ भी माना जाता है । यह हिंदुओंकी एक चतुर्युगीका समय है । यहूदी, ईसाई और मुसल्मानोंके अनुसार उनके प्रथम पैगम्बर इब्राहीम हैं । इनका अधिक-से-अधिक समय ७१९० वर्ष माना जाता है । इन धर्मोंकी परम्परा इससे अधिक नहीं है । इन धर्मोंके अनुसार पृथ्वीकी यही आयु है । विज्ञानके अनुसार पृथ्वीकी आयु भिन्न-भिन्न बतायी गयी है । कुछ मुख्य परिणाम निम्न हैं—

१. सूर्यतापके अनुसार २०,००,००,००० वर्ष,
२. भूतापके अनुसार ६०,००,००,००० वर्ष,
३. समुद्रजलके अनुसार १००,००,००,००० वर्ष,
४. रेडियम किरणोंके अनुसार ३७०,००,००,००० वर्ष ।

वैज्ञानिकोंके ये परिणाम बतलाते हैं कि अभी वे एकमत

नहीं हो सके हैं। उनके अनुमान भ्रान्तिहीन नहीं हैं। विश्वकी सभी मुख्य जातियोंमें उनका संवत प्रचलित है। ये संवत जातिकी उत्पत्तिसे भले न हों; फिर भी उनकी प्राचीनताकी सूचना देते हैं। इनसे इतना पता लगता है कि कौन-सी जाति कबसे इतनी उन्नत हुई कि जो अपना संवत रखती है। इन संवतोंमें संस्कृतियोंके इतिहासका एक क्रम है। मुख्य संवतोंको देखकर यह समझा जा सकेगा।

१. भारतीय सृष्टि-संवत—१,९७,२९,४०,०५२
२. चीनके प्रथम राजासे चीनी संवत—९,६०,०२,४५१
३. खताके प्रथम पुरुषसे खताई संवत—८,८८,४०,३२३
४. चाल्डियन संवत—२,१५,००,०२२
५. ईरानके प्रथम राजासे ईरानी संवत—१,८९,९३०
६. फिनिशियन संवत—३०,०२२
७. मिस्रका संवत—२८,७०४
८. भारतीय कलि-संवत—५,०५२
भारतीय विक्रम संवत—२००८
९. मूसाके धर्म-प्रचारसे मूसाई संवत—३,५१८
१०. ईसाके जन्म-दिनसे ईसाई संवत—१,९५१
११. मुहम्मदके समयसे हिजरी संवत—१,३७०

आर्योंकी जन्मभूमि भारत

आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है। वही प्राचीनतम संस्कृति है। आर्य-जातिसे ही समस्त मानव-जातिका विस्तार हुआ है। मूल आर्य-जातिका उत्पत्तिस्थान भारतसे बाहर और कहीं नहीं है। यह सब बातें ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट हो गयी हैं। इतनेपर भी पाश्चात्त्य विद्वानोंने जो यह भ्रम फैला रक्खा है कि आर्य भारतमें बाहरसे आये, उनके मतकी आलोचना कर लेनी चाहिये।

सबसे पहली बात यह कि यदि कोई जाति किसी एक देशसे दूसरे देशको जाय तो भी वह अपने मूल देशका स्मरण रखती है। उसका आदर करती है। उसे भूल भी जाय, तो कम-से-कम इतना तो स्मरण ही रहता है कि हम कहीं बाहरसे आये हैं। जो जाति जहाँसे आती है, वहाँ मूलदेशमें उसके कुछ चिह्न मिलते हैं। उस जातिमें उस देशके रहन-सहन, वेश-भूषा-भाषाका कुछ अंश होता है। समस्त यूरोपीय जातियोंके पुराने साहित्यमें यह वर्णन है कि वे पूर्वसे आये। उनकी भाषामें संस्कृतके शब्द हैं। उनके संस्कारोंका पूर्वरूप पूर्वकी दिशाकी ओर संकेत करता है। भारतीय हिंदू-जातिके किसी ग्रन्थमें ऐसा एक भी वर्णन नहीं कि आर्य यहाँ बाहरसे आये। इस भारतभूमिके प्रति शास्त्रोंमें जो पूज्यभाव है, वह विदेशके प्रति हो नहीं सकता। प्राचीन भारतीय शब्दशास्त्र तथा आचारमें कहीं किसी दूसरे देशकी गन्धतक नहीं। भारतसे बाहर जहाँ भी आर्योंके चिह्न मिले हैं, वे यही सूचित करते हैं कि वे वहाँ भारतसे पहुँचे हैं। भारतसे बाहर कहीं ऐसा कोई चिह्न नहीं मिला, जिससे ज्ञात हो कि वह भूमि आर्योंकी मूलभूमि है।

वेदोंके 'सप्तसिंधु' शब्दको लेकर पाश्चात्त्य विद्वानोंने खूब उछल-कूद की है। भारतकी विख्यात सात नदियोंका वर्णन अनेक बार आया है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि नदियोंके नाम सदा गङ्गासे यमुना, सरस्वती, शतद्रू आदि या फिर गङ्गासे पूर्वकी ओरके क्रमसे आये हैं। यदि कोई जाति बाहरसे आती तो वह जिधरसे आयी होती, उधरसे नदियोंका नाम देती। यहाँ तो नदियोंके नाम प्रत्येक स्थानपर गङ्गासे प्रारम्भ होते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि हिंदू-जाति गङ्गा-यमुनाके मध्यभागसे ही पश्चिम और पूर्व दोनों ओर विस्तृत हुई।

लोकमान्य तिलकने शास्त्रोंमें देवताओंके छः महीनेका दिन और छः महीनेकी रात्रिका वर्णन पाकर उत्तरध्रुवमें आर्योंका मूल-निवास मान लिया। देवताओंके रात्रि-दिन उत्तरायण तथा दक्षिणायन हैं, यह बात उनको स्मरण होकर भी भूल गयी। वाल्मीकीय रामायणमें आज्ञा है कि 'उत्तर-ध्रुव अन्धकार पूर्ण है, वहाँ कोई न जाय।' दूसरे उत्तरध्रुव क्या ऐसा है कि वहाँ कोई बस सके? वहाँ प्रति साढ़े दस सहस्र वर्षपर हिमपात होता है। ऐसा स्थान मूल-निवास कैसे हो सकता है। सबसे मुख्य बात यह है कि वैदिक समयसे यज्ञमें सोमलताके व्यवहारका वर्णन है। सोम केवल हिमालयपर ही प्राप्य है। यहाँतक कि पारसियोंके धर्म-ग्रन्थ बतलाते हैं कि उन्हें पारस्य देशमें सोम न मिलनेसे उसका प्रतिनिधि लेना पड़ा। सोम न उत्तरध्रुवमें मिलता, न मध्य एशियामें, न मंगोलियामें और न रूस या जर्मनीमें। वर्तमान समयमें कर्मकाण्डी विद्वान् जिस क्षुपको सोमका प्रतिनिधि मानकर काम लेते हैं, वह एक पत्रहीन हरी टहनियोंका क्षुप है। वह भी मैसूर, मध्यभारत, लोकपाल (हिमालय) के पर्वतीय प्रान्तोंमें ही मिलता है। बहुत थोड़ा है और दुर्गम स्थलोंमें है।

हिंदू-शास्त्रोंके प्राचीनतम ग्रन्थोंमें षड् ऋतुओंका वर्णन है। ये ऋतुएँ भारतसे बाहर एक साथ कहीं प्राप्य नहीं हैं। जहाँ भी इतिहास-भूगोलकी चर्चा है, वहाँ शास्त्रोंमें और किसी देशका वर्णवृत्त विस्तृत नहीं है। केवल भारतका विस्तृत वर्णन है। मोहन-जो-दड़ो और हरप्पामें जो खोदनेसे प्रमाण मिले हैं, उनमें भारतीय सभ्यताकी प्राचीनता तथा भारत ही आर्योंकी मूलभूमि है, यह सिद्ध हो गया है। यहाँकी वस्तुएँ यह भी प्रमाणित करती हैं कि आर्य-जाति भारतसे ही मध्य एशियामें जाकर बसी थी।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने 'दस्यु' शब्दको लेकर बड़ी खींच-तान की है। स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक समय प्रत्येक देश एवं जातिमें दो प्रकारके लोग होते हैं—सज्जन तथा दुर्जन। वैदिक साहित्यमें आर्य और दस्यु इसी प्रकार व्यवहृत हुए हैं। ऐतरेय ब्राह्मणमें अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, दस्यु—ये विश्वामित्रकी सन्ततियाँ बतायी गयी हैं, जो उन्हींके शापसे धर्मभ्रष्ट हो गये थे। महाभारतमें एक कुलीन ब्राह्मणके दस्यु-संसर्गसे दस्यु हो जानेका वर्णन है। इसका यही तात्पर्य है कि दस्यु उस समय वर्णाश्रमधर्मसे च्युत लोगोंको कहा जाता था। शिवालिक पर्वतोंमें जो खोदनेसे प्राचीन अस्थिपञ्जर मिले हैं, वे भी मानव-सृष्टिकी आदिभूमि भारतको ही सिद्ध करते हैं।

विदेशियोंने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये यह प्रचार किया कि आर्य भी भारतमें बाहरसे आये हैं। इसमें उनका एक हेतु तो यह था कि उच्चवर्णके हिंदू अपनेको विदेशी मानने लगें और भारतके प्रति उनकी गौरव-बुद्धि नष्ट हो जाय। दूसरे वे निम्न जातियोंको 'आदिवासी' बताकर उन्हें उच्च वर्गके विरुद्ध उभाड़ना चाहते थे। एक सीमातक वे सफल हुए। भारतमें निम्न कोल-भील आदि जातियोंने अपनेको आदिवासी कहकर एक पृथक् संगठन बना लिया। राजनैतिक उद्देश्यसे ही यह मिथ्या प्रचार किया गया था। आर्योंको विदेशी सिद्ध करनेमें मि० मूर कुख्यात हैं। बहुत श्रमके पश्चात् हताश होकर उन्हें लिखना पड़ा—'जहाँतक मुझे ज्ञात है, संस्कृतकी किसी पुस्तकसे अथवा किसी प्राचीन पुस्तकके हवालेसे यह बात सिद्ध नहीं होती कि भारतवासी किसी अन्य देशसे आये।'*

जिन कोल, द्रविड़, सन्थाल जातियोंको यहाँका मू निवासी कहा जाता है, उनकी भाषामें इस देशका को नाम ही नहीं है। वे भी इसे भारतवर्ष या आर्यावर्त कहते हैं। यदि वे मूलनिवासी हैं तो देशका नाम तो उनके पास चाहिये था। अब द्रविड़-विद्वानोंने खोज की है और वे कहते हैं, 'द्रवि इस्वी सन्से ५०० वर्ष पूर्व पश्चिमी एशियाके समुद्रपारसे य आये।' यह एक रही। जिसे मूलजाति कहा जाता है, व विदेशसे आयी सिद्ध हो रही है। भूगोलके विद्वानोंने प लगाया है कि किसी समय आस्ट्रेलिया, जावा, सीलोन अफ्रिका——ये सब एकमें मिले प्रदेश थे। यहाँ एक ही नीग्र जातिके लोग बसते थे। आज भी यह जाति आकृति, भा शरीरगठनकी दृष्टिसे एक ही है।

जबसे यह सिद्ध हुआ है कि द्रविड़ जाति भारत बाहरसे आयी है और उसका आगमनकाल बहुत न्यू है, तबसे पाश्चात्त्य विद्वान् कहने लगे हैं कि भारतके आदि वासी कोलरियन विभागके लोग हैं। द्रविड़ जातिको पृथक् गिनने लगे हैं। द्रविड़ तथा कोल जातिके सम्बन्ध क्लाडवेल साहबने बहुत खोज की है। उनके मतसे तूदा कोटा, गोंड, क् आदि भाषाएँ तामिल, कनांडी, तेलगू समान ही द्रवीड़ियन हैं और उन्हींके समान राजमहाल तथा उरा भाषाएँ भी हैं। उरावँ भाषा द्रविड़ तथा कोल भाषाके मध्य कड़ी कही जाती हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंके लिये यह प्र जटिल है कि द्रविड़जाति जब बाहरसे आयी तो कोलजा उसीका भाग क्यों ज्ञात होती है। वस्तुतः तो द्रविड़ त कोल जातियाँ आर्य-जातिसे ही उत्पन्न हुई हैं। इनकी ए शाखा जो बाहर गयी थी, फिर भारत आयी। ये आर्यों भिन्न जातियाँ नहीं हैं।

'भारतीयोंमें आर्यविजेता और मूलनिवासी-जैसे कोई विभाग नहीं हैं। ये विभाग सर्वथा आधुनिक हैं। यहाँ त समस्त भारतीय जातियोंमें अत्यंन्त एकता है। ब्राह्मणों लेकर सड़क झाड़नेवाले भंगियोंतककी आकृति और र समान ही हैं*।' यह मत है भारतीय जातियोंके विशेष नैसफिल्ड साहबका।

---

* That so far as I know none of the Sanskrit, not even the most ancient contains any distinct reference or allusion to the foreign origin of the Indians. (Mur's Sanskrit Text Book, Vol. II, P. 323.)

† There is no division of the people as Arya conquerors of India and the aborigins of th country; that division is modern and that the is essential unity of the Indian races. The gre majority of Brahmins are not of light complexion or of finer or better red features tha any other caste, or distinct in race and bloo from the scavengers who swept the road.

(*Brief View of the Caste System of th North-West Provinces and Oudh*, p. 27.)

शतपथ ब्राह्मणके १, ४, ३, १४ मन्त्रसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मूल आर्यजातिने उत्तराखण्डसे नीचेकी भूमिमें वनको काटकर, जलाकर रहने योग्य बनाया। वहाँ नगर बसाये। उससे पूर्व वहाँ कोई रहता नहीं था। जैसे एक अंग्रेज डाकू अंग्रेजको 'ब्लैकगार्ड' कहता है, वैसे ही दुष्ट-कर्मा पुरुष प्राचीन कालमें 'कृष्णपुरुष' काले वर्णका कहा जाता था। विदेशी विद्वानोंने तो कल्पना यहाँतक दौड़ायी है कि मूलनिवासी अधिक सभ्य थे। उनके नगरोंको आर्योंने ध्वस्त किया। लेकिन यदि मूलनिवासी अधिक सभ्य थे तो आर्योंको जंगल जलाकर बस्ती ही क्यों बनानी पड़ी ?

सच्ची बात तो यह है कि मूलनिवासी-जैसी कोई जाति तभी सम्भव है, जब मनुष्यकी उत्पत्ति दो स्थानोंपर हो। आदिमानव-सृष्टि ही उत्तराखण्ड हिमालय प्रान्तमें हुई। वहींसे मनुष्य-जातिका विश्वमें विस्तार हुआ। आदिमानव-समाज हिंदू-समाज ही था। विश्वमें मानव-सभ्यताके प्रसार-क्रमसे यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

संस्कृतियोंका प्रसार

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥
(मनु० १० । ४३-४४)

'ब्राह्मणोंके न मिलनेके कारण क्रियाके लोप होनेसे पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीना, किरात, दरद, खश—ये क्षत्रिय-जातियाँ धीरे-धीरे शूद्रत्वको प्राप्त हो गयीं।'

हम पहले कह आये हैं कि यहूदियों और ईसाइयोंकी हजरत नूहकी कथा 'मनुके जलप्लावन'की ही कथाका रूपान्तर है। ये सब पाश्चात्त्य जातियाँ अपनेको हेम तथा सेमकी सन्तति बतलाती हैं, जो हिरण्यगर्भ (सूर्य) तथा सोम (चन्द्र) के अपभ्रंश हैं। ये सब सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी सन्तानें हैं। सदासे क्षत्रियके लिये देशविजय करके राज्यस्थापन भारतमें आदर्श कार्य रहा है। क्षत्रियकुमार ससैन्य भारतसे बाहर गये, अनेक बार वे यहाँसे किसी-न-किसी अपराधमें शापित या दण्डित होकर निकाले गये। जब वे दण्डित होकर निकाले गये तो उन्होंने भारतसे बाहर जो प्रदेश अनुकूल पड़ा, वहीं निवास बना लिया। उनकी सन्ततिसे धीरे-धीरे वह देश जनाकीर्ण हो गया।

महाभारतके अनुसार महाराज सगरने अपने पिताके शत्रु, अन्यायी क्षत्रियनरेश शक, यवन, काम्बोज, पारद, पह्लव, कौलि, नाग, महिष, दार्व, चोल और केरलको पराजित करके समूल नष्ट करना चाहा; किंतु गुरु वशिष्ठकी आज्ञासे उन्हें धर्मच्युत करके देशसे निकाल दिया। महाराज ययातिने जब अपने पुत्रोंसे उनकी युवावस्था माँगी और उनमेंसे केवल सबसे छोटे पुत्र पुरुने ही देना स्वीकार किया तब पिताकी अवज्ञा करनेवाले ज्येष्ठ पुत्रोंको म्लेच्छ होनेका शाप देकर उन्होंने देशसे बाहर निकाल दिया। इसी प्रकार विश्वामित्रजीने अपने पुत्रोंसे कहा कि वे शुनःशेपको ज्येष्ठ भ्राता मान लें। जब उन्होंने अस्वीकार किया तो उनको म्लेच्छ होनेका शाप दे दिया। विश्वामित्रजीके वे पचास पुत्र म्लेच्छ हो गये। 'तुर्वसोर्यवना जाताः' ययातिके पुत्र तुर्वसुसे यवन उत्पन्न हुए। 'नरिष्यन्तस्य शकाः पुत्राः' शक लोग नरिष्यन्तकी सन्तति हैं। इस प्रकार पुराणोंमें इन सब जातियोंका वर्णन है।

इस प्रकार जो लोग यहाँसे शापित होकर निर्वासित हुए, उनके साथ कोई कुलपुरोहित ब्राह्मण नहीं गया। धर्मच्युत लोगोंका पौरोहित्य कौन स्वीकार करता। फलतः उनके संस्कार लुप्त होने लगे। भारतमें तो ऋषियोंको वेदोंका सहारा था। वेदभाष्यरूप शास्त्र-विस्तार स्मरण रह सके, ऐसा सम्भव नहीं था। एक ही मन्त्रके दो या तीन ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हुए हैं। जब भी शास्त्रका कोई अंश लुप्त हुआ, ऋषियोंने वेदमन्त्रमें मन एकाग्र करके अर्थ-दर्शन किया और शास्त्रका पुनरुद्धार किया। पुराणोंका आदिकालीन रूप लुप्त ही हो गया था। भगवान् व्यासने द्वापरके अन्तमें उनका पुनः संकलन किया। भारतीय संस्कृति ब्राह्मणोंकी पावन तपस्यासे अविकृत रही। वेदोंकी घन-जटादि पाठपद्धतियोंने ईश्वरीय ज्ञानके मूलसूत्ररूप उन मन्त्रोंको न तो विस्मृत होने दिया और न विकृत। पर जो लोग देशसे बाहर चले गये, उनके साथ ब्राह्मण नहीं थे। वे शास्त्रोंको कबतक और कैसे स्मरण रखते ? वे क्षत्रिय थे, उनका स्वभाव अध्ययन-अध्यापन नहीं था। यज्ञादि कर्म ब्राह्मणोंके बिना हो नहीं सकते थे। धीरे-धीरे शास्त्रोंका विस्मरण होने लगा। आचारके सम्बन्धमें भी शङ्का होनेपर वहाँ कोई शास्त्रीय आचार बतलानेवाला था नहीं। जिसे जो उचित लगा, वही नियम,

वही आचार बन गया। देश, काल, परिस्थितिके अनुसार आचार बदलता गया। धर्माचार लुप्त हो गया। इस प्रकार देशसे बाहर गयी ये क्षत्रिय जातियाँ आचारहीन म्लेच्छ हो गयीं।

देशसे निकाले जानेपर ये जातियाँ पहले देशके बाहर सीमान्त प्रदेशोंपर ही बसीं। वहीं इन्होंने उन्नति की, राज्य स्थापन किये। भारतीय नरेश बार-बार राजसूय, अश्वमेधके लिये दिग्विजय करने निकलते थे। बार-बार इन जातियोंको पराजित होना पड़ता था। अनेक बार शक्तिशाली होकर ये भारतपर आक्रमण करते थे। भारतीय नरेश जब इनके उत्पातसे उद्विग्न होकर इनपर भयङ्कर आक्रमण करते तो इन्हें कई बार अपना वह देश छोड़कर भागना पड़ता या विजयी भारतीय नृपति वहाँसे भी इन्हें निकाल देता। परस्परके युद्धमें भी इन्हें भागनेके अवसर आते। इस प्रकार अनेक कारणोंसे ये और दूरके देशोंमें जानेको विवश होते। पृथ्वी इसी क्रमसे भारतसे निर्वासित क्षत्रियकुमारोंकी सन्ततिसे जनपूर्ण हुई है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु०)

भारतसे बाहर जाकर भी इन जातियोंमें अपने धर्म, आचारके प्रति अनुराग तो था ही। जहाँतक सम्भव हो सकता था, उन्होंने अपने आचारकी रक्षा की। वे बहुत कालमें धीरे-धीरे म्लेच्छ हुए। प्रायः उन्होंने अपना सम्बन्ध भारतसे बनाये रक्खा। वे यहाँ आकर, अपनेमेंसे योग्य पुरुषको भेजकर ब्राह्मणोंसे आचारकी शिक्षा ग्रहण करते रहे। महाभारत-कालतक भारतीय नरेशोंसे उनके वैवाहिक सम्बन्ध भी हुए हैं। अवश्य ही उनकी कन्याएँ ही भारतमें आयी हैं। इस प्रकार विश्वके समस्त मानव कुल पाँच सहस्र वर्ष पूर्वतक भारतीय संस्कृतिके ही अनुयायी थे। वे यहींसे अपने आचारकी प्रेरणा प्राप्त करते थे। अवश्य ही भारतीय दृष्टिसे वे संस्कारच्युत थे, पर वे सदा प्रयत्नशील रहते थे कि अधिकसे-अधिक भारतीय आचारधारामें रहें।

भारतसे पश्चिमोत्तर वर्तमान अफगानिस्तानका कन्धार नगर पुराना गान्धार है। यहाँतक भारतीय साम्राज्यका विस्तार चन्द्रगुप्तसे पीछेतक रहा है, अतएव ऐतिहासिकोंको इस सम्बन्धमें कोई आपत्ति नहीं है। महाराज धृतराष्ट्रकी पत्नी गान्धारी यहींकी कन्या थीं। इसके पास ही राजा गजसिंहका बसाया गजनी नगर है। काबुल तथा सीमाप्रान्तकी पठान-जाति पुरानी क्षत्रिय-जाति ही है, यह भी निर्विवाद है। यह पठान-जाति प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी सन्तति हैं। प्रतिष्ठानपुर (झूसी) महाराज पुरूरवाकी राजधानी रह चुका है। जैसे आज भी मालवीय, कान्यकुब्ज, आदि जातियोंके नाम स्थानके अनुसार हैं, वैसे ही प्रतिष्ठानका अपभ्रंश 'पठान' नाम भी स्थानके अनुसार है। उस समय (महाभारतकालमें) इस पठानक्षेत्रमें प्रजासत्तात्मक गणराज्य थे, यह खोजसे ज्ञात हुआ है। पाण्डवोंने सात गणोंको यहाँ जीता था, ऐसा वर्णन महाभारतमें है। इन गणोंने आगे जाकर जो राज्य स्थापित किया, वह उपगण कहलाया। यह उपगण या अपगण नाम 'अफगानिस्तान' का पूर्वरूप है। 'अपगणस्थान' का यह अपभ्रंश होना कठिन नहीं है।

मनुस्मृतिके अनुसार पतित क्षत्रियजातियोंमें किरात हैं। इनमें कुछकी सन्तति तो भारतीय वन्यप्रान्तमें अबतक है। वे अब पाश्चात्त्य भ्रान्त प्रचारसे अपनेको 'आदिवासी' कहने लगे हैं। किरात अब भी बड़े बलवान् हैं। ये जहाँ बसे वह नगर 'केरात' कहा गया। संस्कृतमें 'र' का उच्चारण 'ल' भी होता है। 'केलात' नामसे वह नगर अब भी है। बलवान् होनेसे किरात 'बलोच' कहलाये और पीछे यह शब्द 'बलोच' बलूची आदि हो गया। 'बलोच स्थान' हो गया 'बलोचिस्तान'। आज भी केलात नगर वहीं है।

भारतमें बसनेवाली पारसी जाति पारस्य देशसे आयी है। यह जाति भारतसे वहाँ गयी थी, इसका प्रमाण तो यही है कि इस जातिने भारतीय नाम ही, वहाँ नदियों, नगरों तथा देशका रक्खा। 'सरस्वती' के स्थानमें 'हरहवती', 'सरयू' के स्थानमें 'हरयू', 'भरत' का 'फरत' करके 'यूफरत' 'भूपालन्' का 'बेबलिन', 'काशी' का 'कास्सी' और आर्यन्‌का ईरान कर लिया। फारसीमें 'स' का उच्चारण 'ह' होता है, यह प्रसिद्ध बात है। पहले ही उद्धृत कर चुके हैं कि पारसीके धर्मग्रन्थोंमें उन्होंने अपनेको स्पष्ट पश्चिमी हिंदू तथा भारतीयोंको पूर्वी हिंदू लिखा है।

'अर्वन्' घोड़ेका संस्कृत नाम है। संस्कृतमें 'आरव्य' नाम घोड़ोंके देशके अर्थमें आया है। इसमें तो कोई विवाद ही नहीं कि अरबके घोड़े श्रेष्ठ होते हैं और भारत सदासे घोड़े वहींके क्रय करता रहा है।

(शेष आगे)

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

भक्त बालक—बारहवाँ संस्करण, पृष्ठ ७२, एक सुन्दर चित्र, ७३००० छप चुकी है; इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त नारी—बारहवाँ संस्करण, पृष्ठ ६८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र, ८०००० छप चुकी है; इसमें शबरी, मीराबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रबियाकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त-पञ्चरत्न—ग्यारहवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र, ६१२५० छप चुकी है; इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

आदर्श भक्त—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ९६, एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र, ५१२५० छप चुकी है; इसमें शिबि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त-चन्द्रिका—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, ४९२५० छप चुकी है; इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त-सप्तरत्न—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८६, एक तिरंगा चित्र, ५३२५० छप चुकी है; इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं। ।-)

भक्त-कुसुम—सातवाँ संस्करण, पृष्ठ ८४, एक तिरंगा चित्र, ४५२५० छप चुकी है; इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

प्रेमी भक्त—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, ४९२५० छप चुकी है; इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

प्राचीन भक्त—चौथा संस्करण, पृष्ठ १५२, चार बहुरंगे चित्र, ३८२५० छप चुकी है; इसमें मार्कण्डेय, महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख, कण्डु, उतङ्क, आरण्यक, पुण्डरीक, चोलराज और विष्णुदास, देवमाली, भद्रतनु, रत्नग्रीव, राजा सुरथ, दो मित्र भक्त, चित्रकेतु, वृत्रासुर एवं तुलाधार शूद्रकी कथाएँ हैं। मूल्य ॥)

भक्त-सौरभ—पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ११०, एक तिरंगा चित्र, ३८२५० छप चुकी है; इसमें श्रीव्यासदासजी, मामा श्रीप्रयागदासजी, शङ्कर पण्डित, प्रतापराय और गिरधरकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त-सरोज—पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ, १०४, एक तिरंगा चित्र, ४३२५० छप चुकी है; इसमें गङ्गाधरदास, श्रीनिवास आचार्य, श्रीधर, गदाधर भट्ट, लोकनाथ, लोचनदास, मुरारिदास, हरिदास, भुवनसिंह चौहान और अङ्गदसिंहकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।=)

भक्त-सुमन—चौथा संस्करण, पृष्ठ ११२, दो तिरंगे तथा दो सादे चित्र, ३८२५० छप चुकी है; इसमें विष्णुचित्त, विसोबा सराफ, नामदेव, राँका-बाँका, धनुर्दास, पुरन्दरदास, गणेशनाथ, जोग परमानन्द, मनकोजी बोधला और सदन कसाईकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।=)

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष—सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखनेयोग्य है।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० ए० १७

'कल्याण'का हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), सा अङ्क २-३ बिना मूल्य, ५ प्रतियाँ एक साथ लेनेसे १५) प्रतिशत कमीशन ।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनि महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ; हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हि धर्म, वर्णाश्रम, दर्शन, परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्धतत्त्व, हिंदू-संस्कृ त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानुष्ठान, विज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कग कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दि मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौसठकला, गान्धर्व-विद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्रशस्त्रा वैमानिककला, नौनिर्माणकला, कालविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञा रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श-ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भ राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र

लेखकोंमेंसे थोड़े-से नाम ये हैं—

जगद्गुरु अनन्तश्रीशङ्कराचार्य ज्योतिर्मठ, जगद्गुरु अनन्तश्रीशङ्कराचार्य शारदा स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज, योगिराज श्रीमाधवानन्दजी, स्वामीजी कृष्णानन्द स्वामीजी सत्यदेवजी परिव्राजक, महात्माजीके सच्चे अनुयायी और संत श्रीविनोबा भावे, श्री धर्माधिकारीजी, योगिराज श्रीअरविन्द, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके सरसंघसंचालक श्रीमाधव सदा गोलवलकर, हिंदू-महासभाके महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी माननीय प्रान्तपति बंगालके डा० कैला नाथ काटजू महोदय, बिहारके श्रीमाधव श्रीहरि अणे महोदय; श्रीश्यामाप्रसाद मुकर्जी भू० उद्यो मन्त्री केन्द्रिय सरकार, श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर नभोवाणी-मन्त्री, श्रीसम्पूर्णानन्दजी शिक्षाम उत्तरप्रदेश, सनातनधर्मके प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० सकलनारायणजी शर्मा काव्य-सांख्य-वेदा तीर्थ, पं० दीनानाथजी शास्त्री विद्यावागीश, पं० माधवाचार्यजी शास्त्री, डा० जयेन्द्रराय दूरकाल ए ए०, डी-एस्० सी०, विद्यावारिधि, महामहोपाध्याय पं० जौहरीलालजी शर्मा; श्रीजयदयालजी गोयन्द वैदिक विद्वान् पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर वेदाचार्य, पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी वेदा शास्त्री, पं० श्रीभगवद्दत्तजी महोदय, श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक; प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् पं० अ कुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०, महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लि श्रीक्षेत्रलाल साहा० एम्० ए०, डा० पी० के० आचार्य एम्० ए० डी० लिट्, आचार्य क्षितिमोहन प्रसिद्ध और आदर्श साहित्यिक विद्वान् पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, श्रीहरिभाऊजी उपाध्या पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे एम्० ए०, एल्-एल् बी०, श्रीभगवान्‌दासजी केला और श्रीवासुदेवशर अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्० आदि-आदि ।

थोड़ी-सी प्रतियाँ बची हैं, जिनको आवश्यकता हो, तुरंत ६॥) भेजकर मँगा लें, या पी० से भेजनेका आदेश करें ।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस, गोर

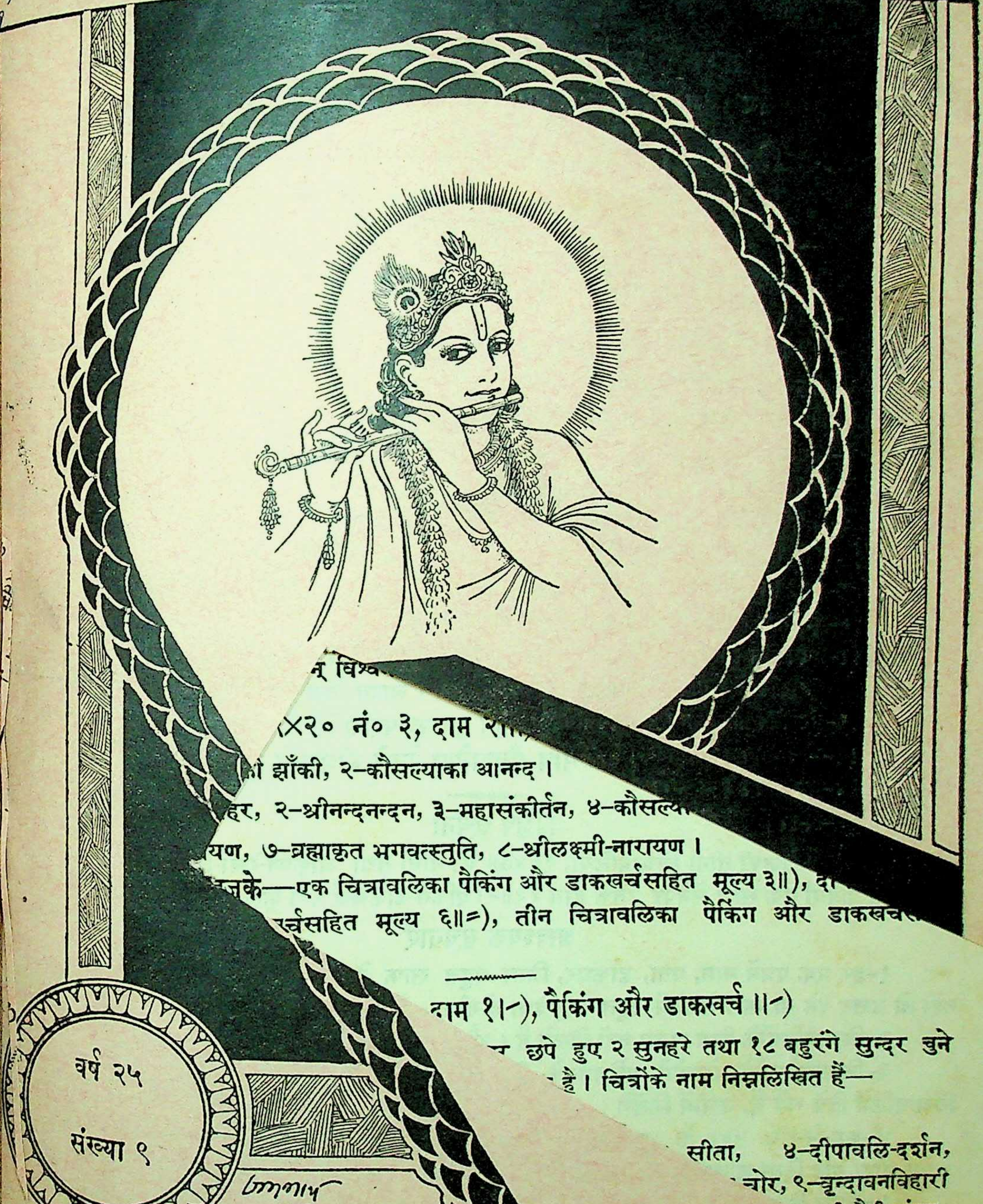

वर्ष २५

संख्या ९

न् विश्व

×२० नं० ३, दाम २॥

ो झाँकी, २–कौसल्याका आनन्द ।

हर, २–श्रीनन्दनन्दन, ३–महासंकीर्तन, ४–कौसल्या

यण, ७–ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८–श्रीलक्ष्मी-नारायण ।

जके—एक चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३॥), दो

र्चसहित मूल्य ६॥=), तीन चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्च

दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ॥-)

छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने

है । चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सीता, ४–दीपावलि-दर्शन,

चोर, ९–वृन्दावनविहारी

–श्रीगौरी-शंकर,

कीर्तन,

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २००८, सितम्बर सन् १९५१ की

विषय — पृष्ठ-संख्या
१–दैवी प्रकृतिका आश्रय [कविता] (अकिञ्चन) … … १२७१
२–कल्याण ('शिव') … … १२७२
३–त्रिविध कर्म (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … १२७३
४–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन … … १२७७
५–श्रीभगवान्‌के दिव्यादेश (श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०) … … १२८४
६–मैं सदैव उठ खड़ा हुआ हूँ [कविता] (श्रीबालकृष्ण बलदुआ) … … १२९०
७–चित्तका श्रम (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) … … १२९१
८–विशिष्टाद्वैत वेदान्तके कुछ सिद्धान्त (श्रीजयनारायणजी मल्लिक एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार) … … १२९३
९–प्रभुसे ! [कविता] (अकिञ्चन) … … १२९६
१०–दुःखनाशके अमोघ उपाय (हनुमानप्रसाद पोद्दार) … … १२९७
११–हृदय-बोध [कविता] [समर्थ स्वामी श्रीरामदासजीके 'मनाँचे श्लोक'का अनुवाद] (डा० पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र एम्० ए०) … … १३००
१२–संस्कृतियोंकी जननी (श्रीसुदर्शनसिंहजी) … … १३०४
१३–भोले भगवान् [कहानी] (श्री … … १३१०
१४–धन साधन है या साध्य … १३१६
१५–विनय [कवित … १३१९
१६–परमा … १३२०
… १३२४
… … १३२५
… … १३२९

सूची

तिरंगा

… … १२७१

अ
सेवक संघके स
जयनाथजी माननीय प्रान
माधव श्रीहरि अणे महोदय; श्रीश्यामा
रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर नभोवाणी-मन्त्री, श्री
नधर्मके प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० सकलनारायणजी श
दीनानाथजी शास्त्री विद्यावागीश, पं० माधवाचार्यजी शास्त्री, डा०
ए०, डी-एस्० सी०, विद्यावारिधि, महामहोपाध्याय पं० जौहरीलालजी
वैदिक विद्वान् पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर वेदाचार्य,
शास्त्री, पं० श्रीभगवद्दत्तजी महोदय, श्रीयुधिष्ठिरजी मी
कुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०, महामहोपाध्याय
श्रीक्षेत्रलाल साहा० एम्० ए०, डा० पी०
प्रसिद्ध और आदर्श साहित्यिक
पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे एम्
अग्रवाल एम्० ए०,

रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

थो
पी० १०)
(१५ शिलिङ्ग)

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए० शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, श्रीविष्णु, भगवती श्रीलक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन !

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

ऐसी चित्रावलियाँ लगभग दो साल पहले प्रकाशित हुई थीं, जो बहुत शीघ्र बिक गयीं। तबसे इनकी बराबर माँग आती रहती थी, पर अवकाशाभावसे इनमेंकी कुछ फुटकर-फुटकर प्रतियाँ बीच-बीचमें छप सकीं। अब पूरा सेट छप गया है। विवरण इस प्रकार है—

साइज १५×२० नं० १, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च ।।।)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छवि, २-आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे—१-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २-श्रीव्रजराज, ३-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४-श्रीराम-दरबार, ५-भुवनमोहन राम, ६-भगवान् शंकर, ७-भगवान् नारायण, ८-श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

साइज १५×२० नं० २, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च ।।।)

सुनहरी—१-भगवान् श्रीराम, २-आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१-विश्वविमोहन श्रीकृष्ण, २-श्रीराधेश्याम, ३-श्याममयी संसार, ४-श्रीरामचतुष्टय, ५-महावीर, ६-भगवान् विश्वनाथ, ७-भगवान् विष्णु, ८-भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च ।।।)

सुनहरी—१-रामदरबारकी झाँकी, २-कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१-मुरलीमनोहर, २-श्रीनन्दनन्दन, ३-महासंकीर्तन, ४-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५-दूल्हा राम, ६-ध्रुवनारायण, ७-ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८-श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२० साइजके—एक चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३॥), दो चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६॥=), तीन चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०) लगता है।

साइज १०×७॥ नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ॥-)

इसमें १०×७॥ साइजके बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छवि, २-साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१-श्रीगणपति, २-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३-ध्यानमग्ना सीता, ४-दीपावलि-दर्शन, ५-श्रीरघुनाथजी, ६-प्यारका वन्दी, ७-दधि-माखनके भूखे, ८-भक्त-मन-चोर, ९-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०-श्रीबाँकेविहारी, ११-श्रीराधाकृष्ण, १२-द्रौपदीको आश्वासन, १३-श्रीगौरी-शंकर, १४-भगवान् श्रीशंकर, १५-भगवान् श्रीविष्णु, १६-श्रीलक्ष्मीजी, १७-महावीरका महान् कीर्तन, १८-भारतमाता।

साइज १०×७॥ नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।-)

सुनहरी—१-श्रीभगवान्, २-भगवान् श्रीराम।

बहुरंगे—१-वनवासी राम, २-तपोवनके दिव्य पथिक, ३-पुष्पक विमानपर, ४-भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५-श्रीरामदरबार, ६-मथुरासे गोकुल, ७-श्रीकृष्ण-यशोदा, ८-व्रज-सर्वस्व, ९-मुरलीका असर, १०-श्याममयी संसार, ११-व्रजराज, १२-विहारीलाल, १३-श्रीराधेश्याम, १४-योगीश्वर श्रीशिव, १५-शिव-परिवार, १६-पर्वताकार हनुमानजी, १७-लक्ष्मी-नारायण, १८-श्रीदुर्गा।

* * *

साइज१०×७॥ नं० ३, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।-)

सुनहरी—१-श्रीसीतारामकी झाँकी, २-श्रीश्यामा-श्यामकी झाँकी।

बहुरंगे—१-माँका प्यार, २-श्रीरघुनाथजीकी रूप-माधुरी, ३-त्रिभुवन-मोहन राम, ४-दूल्हा राम, ५-सीताकी खोजमें, ६-शबरीके अतिथि, ७-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अभ्यर्थना, ८-श्रीरामचतुष्टय, ९-भगवान् बाल-कृष्ण, १०-तुलसीपूजन, ११-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, १२-योद्धा श्रीकृष्ण, १३-तपस्यामें लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शिवके दर्शन, १४-शिव-पार्वती, १५-भगवान् हरि-हर, १६-शुक्लाम्बरधर शशिवर्ण भगवान् विष्णु, १७-देवर्षि नारदजीको गरुड़वाहन श्रीहरिके दर्शन, १८-भगवान् शक्तिरूपमें।

उपर्युक्त १०×७॥ साइजके-एक चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १।।।=), दो चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित ३।-) एवं तीन चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित ४॥।) है।

श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (भाग १)

साइज ५×७॥, पृष्ठ ६४, मूल्य ।=), पैकिंग-डाकखर्च ।≡)

इसमें श्रीश्यामसुन्दरकी बाल-लीलाके ६० रेखा-चित्र (लाइन चित्र) दो रंगे छापे गये हैं। प्रत्येक पृष्ठमें चित्रका परिचय तथा उसके अनुरूप सुन्दर चुने हुए पद-पदांश भी दिये गये हैं।

नोट—अधिक चित्रावलियाँ एक साथ मँगवानेपर रेलवे स्टेशनका नाम अवश्य लिखें।

* * *

विशेष सूचना

१५×२० साइजकी तीनों चित्रावलियाँ, १०×७॥ की तीनों तथा श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (भाग १) कुल सातों प्रतियाँ एक साथ लेनेपर उनके दाम १२॥-) पैकिंग-डाकखर्च २-) कुल १४॥=) भेजने चाहिये।

आवश्यक सूचनाएँ

१-हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी या अंगरेजी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो उत्तर देने या माल भेजनेमें बहुत असुविधा होगी।

२-चित्रावलियोंके चित्र अलग नहीं मिलते हैं। और भी किसी तरहके फुटकर चित्र नहीं मिलते हैं।

३-चित्रावलियोंके चित्रोंमें परिवर्तनके लिये नहीं लिखना चाहिये। जो चित्र जिस नंबरकी चित्रावलिमें दिये गये हैं, उसीमें मिलेंगे।

४-कम-से-कम ५०) के आर्डरपर मालगाड़ीसे फ्री डिलेवरी दी जाती है। पार्सलसे मँगानेपर आधा भाड़ा बाद दिया जाता है।

५-केवल विक्रेताओंको ही कमीशन दिया जाता है। अन्य सज्जन कमीशनके लिये पत्र-व्यवहार न करें।

६-आर्डरके साथ पेशगी अवश्य भेजनी चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस (चित्रावलि-विक्रय-विभाग) पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

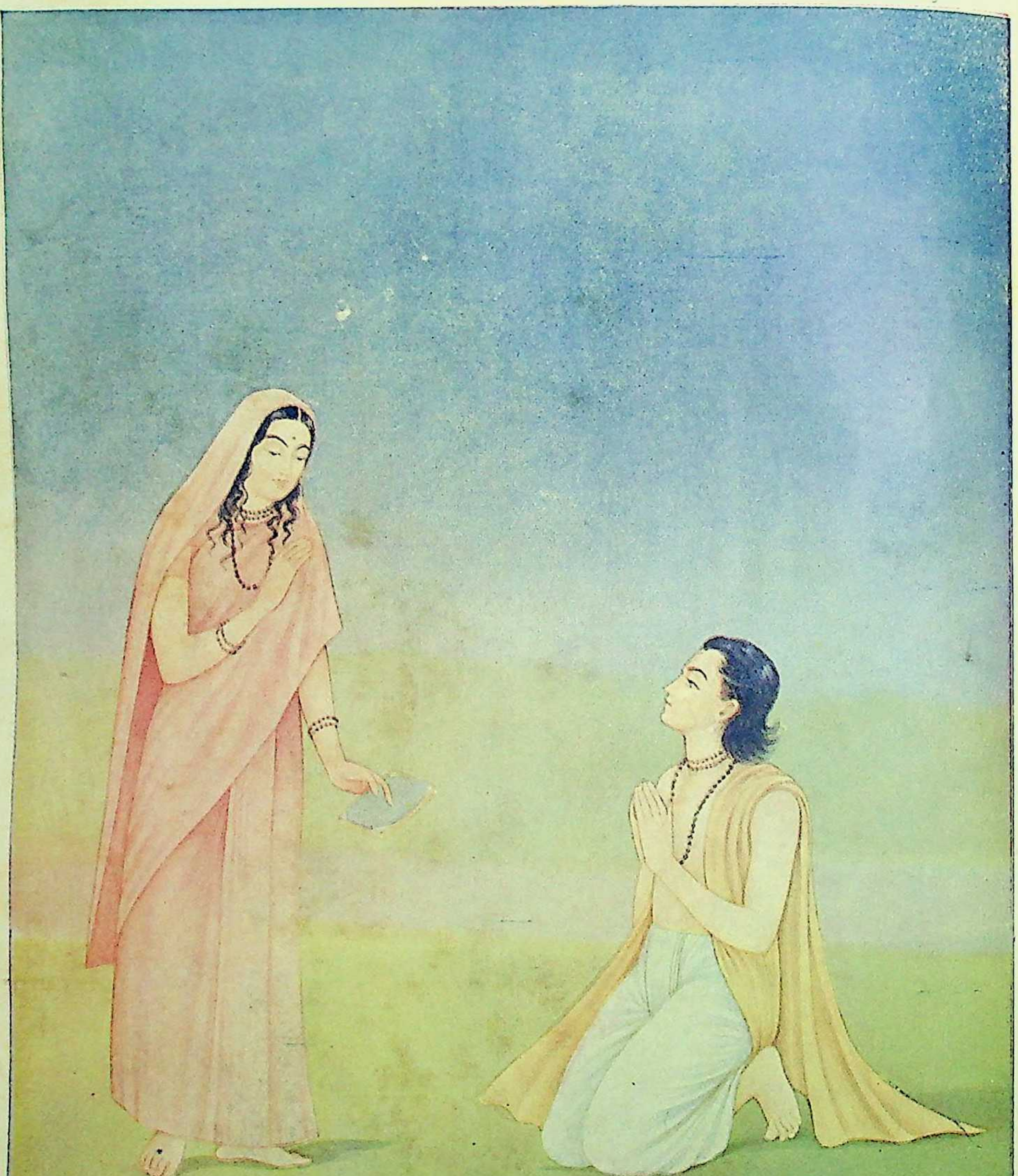

दैवी प्रकृतिका आश्रय

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥

वर्ष २५ | गोरखपुर, सौर आश्विन २००८, सितम्बर १९५१ | संख्या ९
पूर्ण संख्या २९८

दैवी प्रकृतिका आश्रय

कर दैवी प्रकृतिका आश्रय जो जन मुझको लेते जान,
सबके आदि सनातन कारण अक्षरको लेते पहचान ।
वे महान् आत्मा मुझको ही नित्य-निरन्तर भजते पार्थ !
अनन्य मनसे शुद्ध सरल शुचि निश्छल हो करके निःस्वार्थ ॥

(अकिञ्चन)

कल्याण

याद रक्खो—जबतक तुम्हारा मन विषयोंमें आसक्त है, जबतक तुम विषय-मोहकी—शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मकान, जमीन, मान, यश आदिको अपना मानकर उनकी रक्षा करना चाहते हो और जबतक भोगोंके लिये तुम्हारे मनमें उद्वेग, चिन्ता, विषाद और शोक है, तबतक तुम भगवान्‌के मार्गपर नहीं आये हो।

याद रक्खो—विषय-मोहको तोड़े बिना तुम भगवान्‌की ओर मुँह नहीं मोड़ सकते। जो पूर्वकी ओर चलना चाहता है उसको पश्चिमकी ओर पीठ करनी ही होगी। इसी प्रकार विषय-भोगोंको पीठ दिये बिना, उनके लिये निःस्पृह हुए बिना भगवान्‌की ओर चलना सम्भव नहीं है।

याद रक्खो—जो लोग संसारके धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्र, मान-यश और पद-अधिकार आदिकी प्राप्ति होनेपर भगवान्‌की कृपा मानते हैं, वे कृपाका रहस्य नहीं समझते। इन सबकी प्राप्ति होनेपर इनमें मोह बढ़ता है, दिन-रात इन्हींका चिन्तन होता है। विषयचिन्तनसे क्रमशः आसक्ति, कामना, क्रोध या लोभ, सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश होकर अन्तमें सर्वनाश—आत्माका पतन हो जाता है। अतः जो वस्तुएँ भगवान्‌को भुलाकर आत्माके पतनमें कारण हों, उनकी प्राप्तिमें भगवत्कृपा कैसी? यह तो कृपाका विस्मरण है। कृपा तो तब है, जब चित्त भगवच्चिन्तनपरायण हो जाय।

याद रक्खो—भगवत्कृपाका अर्थ है—भगवान्‌का अखण्ड और अनन्य चिन्तन होना। भगवान्‌का चिन्तन, भगवान्‌की स्मृति ही यथार्थ सम्पत्ति है और भगवान्‌की विस्मृति ही बड़ी विपत्ति है—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'सांसारिक (धन-जन, मान, यशके नाशरूप) विपत्ति विपत्ति नहीं है और (इनकी प्राप्तिरूप) सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान् विष्णुका विस्मरण ही विपत्ति है और नारायणका स्मरण ही सम्पत्ति है।'

क्योंकि भगवत्स्मरणसे परमानन्दरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है और भगवद्विस्मरणपूर्वक विषयचिन्तनसे नरकोंकी प्राप्ति होती है।

याद रक्खो—तुम यदि भगवान्‌के मार्गपर चलना चाहते हो तो तुम्हें विषयका मोह छोड़ना ही पड़ेगा। फिर यदि भोग-पदार्थ रहेंगे तो वे भगवान्‌की पूजाके उपकरणरूपमें रहेंगे और तुम उनके द्वारा जो स्वकर्मका आचरण करोगे उससे, भगवान्‌की पूजा होगी। जबतक तुम विषय-पूजनमें लगे हो, तबतक भगवान्‌के मार्गसे दूर हो।

याद रक्खो—विषयोंकी गंदगीमें भगवान् नहीं आते। आकर भी छिप जाते हैं। अपने हृदयको साफ करो तब उसमें भगवान्‌की दिव्य झाँकी होगी।

याद रक्खो—किसी बाहरी दिखावेसे भगवान् नहीं मिलते। कपड़े बदल लिये, स्थान बदल लिया, आसन लगा लिया, ऊपरके और भी परिवर्तन कर लिये। साधनकी शुद्ध भावनासे करनेपर ये बाह्य साधन भी अच्छी चीज हैं; परंतु ये वास्तविक साधन नहीं हैं। तुम यदि इन बाह्य साधनोंको ही सब कुछ मानकर अपनेको साधक या साधु मान बैठोगे तो धोखा खाओगे और नुकसान उठाओगे।

याद रक्खो—जबतक तुम्हारा मन, तुम्हारी बुद्धि भगवान्‌का चिन्तन नहीं करते, जबतक तुम्हारा चित्त निरन्तर भगवच्चिन्तनमें ही नहीं लग जाता, तबतक बाहरी साधनोंसे कुछ नहीं हो सकता।

याद रक्खो—तुम्हारा जीवन यदि भगवान्‌के अखण्ड स्मरण-सुधा-रसको चक्खे बिना ही चला जायगा तो इससे बड़ी और कोई हानि नहीं हो सकती। जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌के मधुर मङ्गलमय चिन्तनमें ही लगे, तभी जीवनकी सार्थकता और जीवनका परम लाभ है।

'शिव'

त्रिविध कर्म

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण । किये हुए शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्मोंमेंसे फल देनेके लिये प्रस्तुत कर्मोंका नाम 'प्रारब्ध' है, जो कि सुख-दु:खके* निमित्तभूत जाति, आयु और भोग दिया करते हैं । 'सञ्चित' उन कर्मोंका नाम है, जो अनेक जन्मोंमें और इस जन्ममें किये हुए कर्म हैं और जो भोग देनेके लिये सम्मुख नहीं हुए हैं, पर कर्माशयमें इकट्ठे पड़े हैं । 'क्रियमाण' उन कर्मोंको कहते हैं, जो वर्तमानमें शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्म फल, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानपूर्वक किये जाते हैं । इन कर्मोंको 'पुरुषार्थ' भी कहते हैं; किंतु जो कर्म फलासक्ति और कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर किया जाता है, वह कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं है । (गीता ४ । २०; १८ । १७)

इन तीनोंमें 'सञ्चित' के द्वारा विभिन्न प्रकारकी शुभाशुभ स्फुरणाएँ होती हैं, पर उनके अनुसार कर्म करना न करना हमारे अधिकारमें है । शुभ स्फुरणा होनेपर भी पुरुषार्थके अभावसे कर्म न होनेके कारण वह सफल नहीं होती । प्रारब्धसे भी स्फुरणा होती है और उसके अनुसार कर्म होते हैं । पर यहाँ भी कर्म करनेको मनुष्य बाध्य नहीं है । हाँ, प्रारब्धानुसार फल भोग अवश्य होता है । शुभ प्रारब्ध होगा तो बिना पुरुषार्थके ही अनिच्छा या परेच्छासे शुभ फल मिल जायगा । इसी प्रकार अशुभ भी मिल जायगा । क्रियमाण (पुरुषार्थ) तो नया फल पैदा करता ही है। अवश्य ही यह नियम नहीं है कि वह अभी तुरंत ही फल दे दे । प्रबल कर्म होनेपर फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें ही वह प्रारब्ध बनकर अपना फल दे देता है । जैसे किसीके प्रारब्धमें पुत्रका योग नहीं है; परंतु पुत्रेष्टि-यज्ञ सविधि सम्पन्न होनेपर नवीन प्रारब्ध बनकर पुत्रोत्पादनमें कारण बन जाता है । जैसे सावित्रीने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे यमराजको प्रसन्न करके उनसे वरदानके रूपमें अपने पतिके लिये दीर्घायु प्राप्त कर ली थी । यह भी नवीन प्रारब्ध था, जो प्रबल पुरुषार्थ (क्रियमाण) का फल था । परंतु लौकिक फलोंमें प्रधानता पूर्वकृत कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धकी ही है । सञ्चितसे स्फुरणा होती है, प्रारब्धसे सुख-दु:खके निमित्तभूत जाति, आयु और भोगोंकी प्राप्ति होती है और पुरुषार्थसे नये कर्म बनते हैं । यहाँ एक दृष्टान्तके द्वारा इन तीनों प्रकारके कर्मोंके सम्बन्धमें यह दिखलाया जाता है कि किस कर्मकी प्रबलतासे कैसे क्या कार्य होता है ।

एक जगह तीन मित्र बैठे थे । उनसे किसीने आकर कहा कि अमुक स्थानपर एक बड़े महात्मा आये हुए हैं । इसपर इनमेंसे एकने कहा कि 'चलो भाई ! हम भी दर्शन कर आवें ।' दूसरेने कहा—'मैं तो नहीं जाऊँगा । तुमलोग भले हो आओ ।' तीसरेने

---

* वस्तुतः यह सुख-दु:खका भोग जीवको अज्ञानस्थितिमें होता है । सुख-दु:ख किसी घटना, वस्तु या स्थितिमें नहीं है, वह तो प्रतिकूल या अनुकूल भावनामें ही है और प्रतिकूल-अनुकूल भावना अज्ञानजनित है, इसलिये ये जितने भी जाति, आयु और भोग हैं, सब अज्ञानियोंके लिये ही सुख-दु:खजनक हैं । ज्ञानीके लिये स्वरूपभूत विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार भक्तकी दृष्टि भी जगत्में सब कुछ भगवान् और भगवान्‌की लीला है । लीला तथा लीलामयमें अभेद है । अतएव वह भी प्रतिकूल-अनुकूल न देखकर सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करता है अतएव उसे भी सुख-दु:ख नहीं होते । वह अपने प्रभुके स्वरूपाभिन्न विचित्र लीलाविलासको देख-देखकर मुग्ध होता रहता है ।

जाना स्वीकार किया और वे दोनों महात्माके स्थानपर जा पहुँचे। वहाँ जानेपर पता लगा कि 'महात्मा अभी थोड़ी ही देर हुई शहरमें गये हैं, कुछ देरमें आवेंगे।' इसपर तीसरा जो गया था, वह तो वहाँ जमकर बैठ गया। उसने कहा कि 'कितनी ही देरमें आवें, मैं तो दर्शन करके ही जाऊँगा।' पहलेने कहा—'भाई! इतनी देर कौन बैठे, मैं तो वापस जा रहा हूँ।' अतएव तीसरा वहीं बैठ रहा और पहला लौट गया। इधर महात्मा शहरमें घूमते-घामते उसी स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ दूसरा बैठा था, जो महात्माके दर्शनार्थ जानेसे इन्कार करके डेरेपर ही रह गया था। उसको वहीं महात्माके दर्शन हो गये। कहीं जाना नहीं पड़ा। महात्मा वहाँसे लौटकर अपने स्थानपर गये और वहाँ उस तीसरेको भी दर्शन हो गये, जो वहाँ जमकर बैठ गया था। दूसरा जो वहाँसे लौट आया था, वह दूसरे रास्तेसे लौटा। अतः उसको महात्माके दर्शन हुए ही नहीं। इन तीनोंमें पहलेका तो शुभ सञ्चित प्रबल था, जिसने महात्माके पास जानेकी इच्छा प्रकट की, परंतु पुरुषार्थकी कमीसे वहाँ जाकर भी वह बैठा नहीं, लौट आया। दूसरेका शुभ प्रारब्ध प्रबल था, जिसने घर बैठे महात्माके दर्शन करा दिये। और तीसरेका शुभ पुरुषार्थ प्रबल था, जिसके कारण वह दृढ़तर होकर वहाँ बैठ गया और दर्शन करके ही लौटा। इस दृष्टान्तसे भी पुरुषार्थकी ही प्रधानता सिद्ध होती है।

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म और मोक्षकी सिद्धिमें तो पुरुषार्थ प्रधान है तथा अर्थ और कामकी सिद्धिमें प्रारब्ध प्रधान है। अज्ञानीलोग धर्म और मोक्षको प्रारब्धपर छोड़ देते हैं, वे धर्म और मोक्षसे वञ्चित रह जाते हैं; क्योंकि धर्मका पालन और मुक्तिका साधन नवीन कर्म है, पूर्वकृत कर्मोंका फल नहीं है। मनुष्यका उत्तम स्वभाव और उत्तम सञ्चित कर्म प्रेरक होनेसे सहायक हैं। प्रारब्ध कर्म बीमारी आदि अप्रियके संयोग और प्रियके वियोगको निमित्त बनाकर कमजोर आदमीके लिये धर्म और मोक्षके साधनमें बाधक हो जाया करते हैं एवं कहीं सत्सङ्ग आदिके संयोगसे सहायक भी हो जाया करते हैं। किंतु धर्मके पालन और मोक्षके साधनमें मुख्य हेतु प्रयत्न (पुरुषार्थ) ही है; क्योंकि धर्मका पालन और मुक्तिका साधन अपने-आप होना सम्भव नहीं है। इसलिये मनुष्यको धर्मके पालन और मुक्तिके साधनके लिये महत्कृपाका आश्रय लेकर कटिबद्ध होकर तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये।

प्रारब्ध

मूर्ख मनुष्य अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि नाना प्रकारके पाप करते हैं; किंतु उससे मिलता कुछ नहीं; मिलता उतना ही है जो कि उसके पूर्वके प्रारब्धमें लिखा है और वह बिना पाप किये भी अवश्य मिलेगा ही। मनुष्य प्रयत्नपूर्वक पाप करता है पर उसका फल जो दुःख है, उसे भोगना नहीं चाहता। किंतु अनेक प्रतीकार करते हुए भी उसे पापका फल दुःख भोगना ही पड़ता है। जिस प्रकार पापका फल दुःख अनेक प्रतीकार करनेपर भी नहीं रुकता, उसी प्रकार पुण्यका फल अर्थ और कामरूप सुख भी बिना प्रयत्न किये ही प्राप्त होगा। प्रयत्न तो केवल निमित्तमात्र हैं; क्योंकि अर्थ और कामकी सिद्धिमें मुख्य हेतु प्रारब्ध ही है। जो कुछ प्राप्त होना है, उससे अधिक तो होगा नहीं और जो होना है, वह प्रतीकार करनेपर भी रुक नहीं सकता, अतएव अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये पाप करना निरी मूर्खता है।

मनुष्य अज्ञानवश अर्थ और कामको पुरुषार्थके अधीन मानकर उनकी सिद्धिके लिये अपना जीवन लगा देते हैं तथा नाना प्रकारके पाप करके आसुरी योनियों और नरकोंमें गिरते हैं! किंतु यदि अर्थ और

कामकी सिद्धि पुरुषार्थसे होती तो सभी आदमी धनी बन जाते एवं सभीकी कामना भी पूर्ण हो जाती; क्योंकि सभी धनी बनना चाहते हैं तथा सभीको अपनी कामनाओंकी पूर्तिकी भी इच्छा है। पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। कहीं-कहीं पूर्वके प्रबल प्रारब्धसे काम और अर्थकी सिद्धि हो जाती है तो मूर्ख मनुष्य उसे अपने पुरुषार्थसे हुई मान बैठते हैं; परंतु यह बात गलत है। इसलिये मनुष्यको अर्थ और कामके परायण होकर अपने मनुष्य-जीवनको नष्ट करना उचित नहीं है।

प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छासे, परेच्छासे और स्वेच्छासे।

मनुष्य न तो मरना ही चाहता है और न दुःख ही भोगना चाहता है। पर पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप वज्रपात, महामारी, अकाल, अग्नि और बाढ़ आदिकी पीड़ासे मनुष्य दुःखित हो जाता है और कोई-कोई मर भी जाता है तथा इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्यके प्रभावसे किसीको अकस्मात् कहीं गड़े हुए धनकी प्राप्ति हो जाती है और किसीकी पैतृक सम्पत्तिका मूल्य बढ़ जाता है, जो कि सुखका हेतु है। यह सब अनिच्छा प्रारब्धका भोग है।

पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप दुःखके हेतुभूत चोर, डाकू, सिंह, व्याघ्र आदिके द्वारा धन, जन और शरीरकी हानि हो जाती है और इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे उसे कोई दत्तक पुत्र बना लेता है या कोई राजा राज्य सौंप देता है, जो कि सुखका हेतु है। यह सब परेच्छा प्रारब्धका भोग है।

उपर्युक्त अनिच्छा और परेच्छा प्रारब्धसे प्राप्त सुख-दुःख-भोगके विषयमें भोक्ता मनुष्य बिल्कुल परतन्त्र है। पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप दुःखके हेतुभूत कृषि और व्यापार आदिमें नुकसान लग जाना तथा अपने और अपने कुटुम्बीजनोंके रोगादिकी निवृत्तिके लिये किये जानेवाले औषधादि उपचारोंका विपरीत परिणाम होना और इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे सुखके हेतुभूत स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदिकी प्राप्तिके लिये इच्छापूर्वक किये हुए प्रयत्नकी सफलताका होना—यह सब स्वेच्छा प्रारब्ध-भोग है।

उपर्युक्त प्रकारसे इस जन्ममें जो प्रारब्धका भोग होता है, वह अधिकांशमें तो पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंका ही फल होता है; किंतु कोई-कोई इस जन्ममें किया हुआ बलवान् क्रियमाण कर्म भी तुरंत प्रारब्ध बनकर इसी जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है; जैसे कोई पुरुष परस्त्रीगमन आदि पाप-कर्म करता है तो उसके फलस्वरूप उसे उपदंश, सूजाक, धातुक्षय आदि बीमारियाँ हो जाती हैं तथा इसी प्रकार कोई स्त्री, पुत्र, धनकी प्राप्ति और रोगकी निवृत्तिकी कामनासे यज्ञ, दान, तपरूप पुण्यकर्म विधि और श्रद्धापूर्वक करता है तो उसके फलस्वरूप उसे उपर्युक्त इष्टकी प्राप्ति हो जाती है। परंतु जो मनुष्य आत्मोद्धारके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और निष्कामकर्म आदि साधनोंका तत्परतासे अनुष्ठान करता है, उसे तो उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें शीघ्र ही मोक्ष (भगवत्प्राप्ति) प्रत्यक्ष ही हो जाता है।

सञ्चित

मनुष्य इस जन्ममें जो कुछ क्रियमाण कर्म करता है, उसमेंसे जिस अंशका प्रारब्ध बनकर मनुष्यको भोग देनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है, वह तो फल भुगताकर क्षय हो जाता है और उसके सिवा इस जन्मके बचे हुए क्रियमाण कर्म पूर्वजन्मोंके 'सञ्चित' कर्मोंमें सम्मिलित हो जाते हैं। इन सञ्चित कर्मोंके समूहका भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म आदि साधनोंसे क्षय होकर विनाश हो सकता है। जबतक इस सञ्चित कर्मसमूहका विनाश नहीं हो जाता, तबतक वे भावी जन्मको देते रहते हैं।

मनुष्य जो भी कुछ पुण्य, पाप और मिश्रित कर्म करता है, उसके दो प्रकारके संस्कार उसके हृदयमें जमते हैं—(१) सुख-दु:खादि, जो जाति, आयु, भोगको देनेवाले हैं और (२) सात्त्विक, राजस, तामस-वृत्तिरूप संस्कार, जो कि स्वभावको बनानेवाले हैं । इनमें पहले प्रकारके संस्कार तो फल भुगताकर शान्त हो जाते हैं; किंतु सात्त्विक, राजस, तामस-वृत्तिरूप संस्कार स्वभावके रूपमें रहते हैं और वे भविष्यमें नवीन पुण्य-पाप आदि कर्मोंके प्रेरक होते हैं । अतएव मनुष्यको अपने स्वभावके सुधारके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक भक्ति, ज्ञान और निष्कामकर्मके द्वारा राजसी, तामसी वृत्तियोंका शमन करके केवल सात्त्विक वृत्तियोंका प्रवाह बहाना चाहिये । इस प्रकार साधन करनेसे सञ्चित कर्म और राजसी-तामसी वृत्तियाँ—दोनोंका क्षय होकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिके लिये समर्थ हो जाता है ।

क्रियमाण

राग, द्वेष, कामना, ममता, अहंकारपूर्वक मन, वाणी, शरीरसे जो पुण्य, पाप और मिश्रित कर्म किये जाते हैं, वे क्रियमाण कर्म हैं तथा स्वेच्छा प्रारब्धभोगके निमित्त भी जो कर्म होते हैं, वे भी क्रियमाणके ही अन्तर्गत हैं; क्योंकि उनमें कर्तव्यबुद्धिके सिवा जो शास्त्रके अनुकूल और शास्त्रके प्रतिकूल क्रिया होती है, वह पुण्य और पापरूप होनेके कारण क्रियमाणमें ही शामिल है ।

जिनको ईश्वर और प्रारब्धपर विश्वास नहीं है, वे अज्ञानी मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदिके द्वारा अर्थ और कामकी सिद्धि प्रारब्धसे अतिरिक्त पुरुषार्थसे करना चाहते हैं, उनकी वह सिद्धि प्रारब्धसे अतिरिक्त तो हो ही नहीं सकती । जो कुछ प्राप्त होता है, प्रारब्धके अनुसार ही होता है परंतु वे मूर्ख शास्त्रविरुद्ध क्रिया करके व्यर्थ ही पापके भागी होते हैं । किंतु जिनको ईश्वर और प्रारब्धपर विश्वास है, वे कोई भी पापक्रिया न करके शास्त्रानुकूल कर्म करते हुए सत्य और न्यायपूर्वक ही अर्थ और कामकी सिद्धि चाहते हैं, वे भारी आपत्ति पड़नेपर भी सत्य, न्याय और धर्मसे विचलित नहीं होते। अत: प्रारब्धके अनुसार उनका कार्य तो सिद्ध होता ही है, वे पुण्यके भागी भी होते हैं ।

जो कर्म राग, द्वेष, कामना, ममता, अहंकारसे रहित होकर किये जाते हैं अथवा भगवदर्थ या भगवदर्पणबुद्धिसे किये जाते हैं, वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं, इसलिये वे भी क्रियमाणमें शामिल नहीं होते। तथा स्वप्नमें होनेवाली मानसिक क्रियाएँ भी क्रियमाणमें शामिल नहीं हैं, क्योंकि वे समझ-बूझकर की हुई नहीं हैं, उनमें कर्ता निद्राके वशीभूत होनेके कारण परतन्त्र है; इसलिये वे अनिच्छा और स्वेच्छासंयुक्त प्रारब्धभोगमें ही शामिल हैं ।

प्रारब्धकर्म तो मनुष्यको भोगने ही पड़ते हैं, अतः वे भोग भुगताकर क्षय हो जाते हैं तथा जो बच रहते हैं, वे परमात्माकी प्राप्तिमें रुकावट नहीं डालते । भगवत्प्राप्तिके बाद भी वे प्रारब्धसे होनेवाले सुख-दु:खादिके निमित्त शरीरमें होते रहेंगे; अत: उनके रहनेसे हमें कोई हानि नहीं है । विवेक और वैराग्यपूर्वक भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म आदि साधनोंद्वारा प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण—तीनोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । परमात्मप्राप्त पुरुषमें सञ्चित कर्मोंका तो अत्यन्त अभाव है ही और क्रियमाण कर्म उनके लागू नहीं पड़ते; क्योंकि उनसे होनेवाली क्रियाओंमें राग, द्वेष, कामना, ममता, अहंकार आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनके कर्म कर्म ही नहीं हैं। इसके सिवा, उनके द्वारा जो प्रारब्धसे होनेवाली घटनाएँ हैं, उनमें राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण कोई भी सुख-दु:खका भोक्ता नहीं रहता, अतः उनके प्रारब्ध कर्म रहते हुए भी न रहनेके ही समान हैं, केवल सुख-

दु:खोंकी निमित्तमात्र घटनाएँ उनमें प्रतीत होती हैं परंतु जो मनुष्य सुख-दु:ख और हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित है, उसका प्रारब्धानुसार सुख-दु:खादिके निमित्त होनेवाली घटनाओंसे वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः उसके प्रारब्धभोगरूप कर्म भी एक प्रकारसे क्षय ही माने गये हैं।

श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
(मु० उ० २।२।८)

'उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर इस पुरुषकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाणरूप समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।'

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५०)

पद्मयोनि तो निमित्तमात्र हुए और असंख्य व्रजगोपियोंके, गायोंके परम सुदुर्लभ सौभाग्यका द्वार खुल गया। स्रष्टाके मनोरथ तो पूर्ण होंगे ही, उन्हें व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके अमित माधुर्यका, अनन्त वैभवका आस्वादन प्राप्त होगा ही; साथ ही व्रजपुरकी समस्त वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंको एवं ब्रह्माके द्वारा अपहृत राशि-राशि गोवत्सोंकी जननी उन बड़भागिनी गायोंको अपना चिरवाञ्छित पदार्थ मिल जायगा, व्रजराजमहिषी श्रीयशोदाकी भाँति ही वे गोपियाँपरब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रको अपना गर्भजात शिशु मानकर, अनुभवकर अपने मनोरथ पूर्ण करेंगी तथा गायें उन्हें अपने उदरजात गोशिशुके रूपमें पाकर कृतार्थ होंगी।

श्रीकृष्णचन्द्र अग्रिम व्यवस्थाकी बात सोच रहे हैं और उनकी सर्वज्ञताशक्ति मानो अगणित गोपसुन्दरियोंके, गायोंके मनोभावका चित्र अङ्कित करके उनके समक्ष रखती जा रही है। श्रीकृष्णचन्द्रको स्मरण हो आया है—उनके आविर्भावसे लेकर अबतक किस प्रकार गोपसुन्दरियोंके मन-प्राणोंकी उत्कण्ठा बढ़ती रही है। उन्हें अपने वक्षःस्थलपर धारण करनेकी, व्रजरानीकी भाँति ही अपना स्तनदुग्ध पिलाकर कृतार्थ होनेकी कितनी तीव्र लालसा उनके अन्तस्तलमें लहराती रहती है—इसे नीलसुन्दर इस समय प्रत्यक्ष देख रहे हैं। न जाने प्रतिदिन कितनी बार असंख्य व्रजसुन्दरियाँ नन्दप्राङ्गणमें आयी हैं और नीलमणिको अपनी गोदमें देनेके लिये नन्दगेहिनीकी एवं परस्पर एक दूसरेकी मनुहार कर चुकी हैं—

नैकु गोपालहिं मोकौं दै री।
देखौं बदनकमल नीकैं करि, ता पाछैं तू कनियाँ लै री॥
अति कोमल कर-चरन-सरोरुह, अधर-दसन-नासा सोहै री।
लटकन सीस, कंठ मनि भ्राजत, मनमथ कोटि वारनैं गै री॥
बासर-निसा बिचारति हौं सखि, यह सुख कबहुँ न पायौ मैं री।
निगमनि-धन, सनकादिक-सरबस, बड़े भाग्य पायौ है तैं री॥
जाकौ रूप जगत के लोचन, कोटि चन्द्र-रवि लाजत भै री।
सूरदास बलि जाइ जसोदा, गोपिनि-प्रान, पूतना-बैरी॥

तथा गोदमें धारणकर तृप्त होनेके बदले वे और भी उत्कण्ठित हो गयी हैं—

ललना लै-लै उछंग अधिक लोभ लागैं।
निरखति निंदति निमेष करत ओट आगैं॥

और जब उस दिनकी सन्ध्या हो गयी है, अपने जीवनसर्वस्व नीलमणिको कण्ठसे लगाये जननी यशोदा शयनमन्दिरमें चली गयी हैं, तब गोपियाँ भी अपने घर लौटी हैं, पर लौटी हैं अपने मन-प्राणको यशोदानन्दनके पास रखकर ही। शरीरके साथ आयी है मन-प्राण-

की छायामात्र, जिससे अभ्यासवश उनके गृहकार्यका निर्वाह होता रहा है। साथ ही जब-जब वे प्रकृतिस्थ हुई हैं, उस समय भी प्राणोंकी आर्तिसे सनी यह प्रार्थना ही उनके अन्तर्देशको पूर्ण किये रहती है—'हे विधाता ! मेरे अनादि-सञ्चित सुकृतोंका एक फल यदि तू दे सके तो दे दे—कदाचित् यशोदानन्दनको मैं भी पुत्ररूपमें पाकर हृदयपर धारण कर सकूँ, व्रजेश-महिषीकी भाँति ही संलालन कर, उन्हें अपनी गोदमें लेकर रात्रिके समय सुखसमाधिमें लीन हो जाऊँ, मेरा भी नीलमणिपर एक छत्र अधिकार हो जाय !' तथा जबसे श्रीकृष्णचन्द्र वत्सचारण करने वनमें जाने लगे हैं, तबसे उन वात्सल्यवती गोपियोंकी आकुलता और भी बढ़ गयी है; क्योंकि दिनमें तो यशोदानन्दन व्रजमें रहते नहीं और रात्रिके समय रहते हैं व्रजरानीके शयनागारमें। केवल सायं-प्रातःकी कुछ घड़ियोंमें ही वे उनके मुखचन्द्रका दर्शन कर पाती हैं। इसीलिये उनके मनोरथका सिन्धु उद्वेलित हो उठा है। क्षण-क्षणमें शत-सहस्र ऊर्मियाँ उठने लगी हैं तथा गोपियाँ उनके प्रवाहमें न जाने कहाँ-से-कहाँ बहती जा रही हैं !

यह अवस्था है इनकी। किंतु मूक पशुओंकी, उन राशि-राशि गायोंकी दशा किसे ज्ञात है ? श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे जो वात्सल्य उनमें उमड़ता है, उसे व्यक्त करनेके साधन उनके पास कहाँ ? नीलसुन्दरको देखते ही एक विचित्र उल्लासपूर्ण हाम्बारव, स्तनोंसे स्वतः दुग्धक्षरण एवं अपने गोवत्सोंका भी तिरस्कारकर यशोदानन्दनके समीप दौड़े आकर ग्रीवा प्रसारित कर देनेकी क्रिया—इतने ही उपाय हैं जिनसे वे अपना वात्सल्य समर्पित कर पाती हैं। कदाचित् अपनी जीभ निकालकर किञ्चिन्मात्र वे नन्दनन्दनका उससे स्पर्श कर लेती हैं तो उस समय निश्चय ही उन्हें भी मानो यह भान हो जाता है—'ओह ! व्रजराजदुलारेके सुकोमलतम श्रीअङ्गोंको क्षत लग जायगा।' और वे तुरंत अपनी जिह्वा समेट लेती हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंके घ्राणमात्र लेकर शान्त हो जाती हैं। एक अन्तर्यामी ही जान पाते हैं कि जैसे वे अपने गोवत्सोंका लेहन कर—चाट-पोंछकर उन्हें समुज्ज्वल बना देती हैं, वैसे ही नन्दनन्दनके धूलि-धूसरित अङ्गोंको लेहन करनेकी वासना भी उनमें उदय अवश्य होती है, पर पूर्ण नहीं हो पाती। उनकी प्रत्येक जातिगत चेष्टासे यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोदानन्दनको अपने पार्श्वदेशमें अधिक-से-अधिक समयतक रखनेके लिये वे सतत व्याकुल रहती हैं। पर मूक अस्वतन्त्र पशु जो वे ठहरीं ! उनके मनकी लहर मनमें ही विलीन हो जाती है ! उनके रक्षकवर्ग गोपगण इसे अनुभव भी करते हैं, वे इनके भावसे स्वयं भावितक हो उठते हैं। किंतु उनकी शक्ति भी सीमित है, नैसर्गिक नियमोंका उल्लङ्घन सम्भव जो नहीं ! वे बेचारे कितनी देर उन गायोंको श्रीकृष्णचन्द्रके समीप रख सकेंगे ?

किंतु आज सबका भाग्य जाग उठा। अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरियोंके, गायोंके, अतीत-अनागत समस्त भावोंको इस समय प्रत्यक्ष देख जो रहे हैं। अन्तर्यामीरूपसे तो सदा ही देखते रहे हैं पर आजका देखना कुछ और ही है। आज तो इन समस्त भावोंका पूरा-पूरा मूल्य देनेके लिये वे प्रस्तुत हो गये हैं। उनकी कृपाशक्तिने इन समस्त भावोंपर अपनी स्वीकृतिकी छाप लगा दी है, कृपा-परवश हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन आज सबके मनोरथ पूर्ण करने जा रहे हैं !

क्या, कब, कैसे करना है—यह वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रको सोचना नहीं पड़ता, उसके लिये रञ्चकमात्र भी प्रयास नहीं करना पड़ता, उनका सङ्कल्प तो उदय होनेसे पूर्व ही मानो मूर्त हुआ रहता है। पर वे बाल्यलीला-विहारी जो ठहरे। रसकी लहरें ऐश्वर्यकी प्रत्येक ऊर्मिको सम्पुटित किये बिना रह नहीं

सकतीं । इसीलिये व्रजेन्द्रनन्दन अपने स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही, अपनी अनन्त सामर्थ्यको भूले-से होकर विशुद्ध सख्यकी भावनासे पुनः अभिभूत हो जाते हैं । सोचने लग जाते हैं—‘आह ! उन सखाओंके बिना मैं कैसे रह पाऊँगा ? क्या उपाय करूँ ?’ इन शिशुओंकी माताओंका, गोवत्सोंकी जननी उन गायोंका आनन्दवर्द्धन हो, इसके साथ ही मानो उन्हें अपनी चिन्ता भी लग गयी । किंतु अब पट-परिवर्तनका समय उपस्थित हो चुका है । भुवन-भास्कर पश्चिम क्षितिजको छूने जा रहे हैं । इसलिये इस अभिनयको यहीं विराम देकर श्रीकृष्णचन्द्र आगेके दृश्यका उद्घाटन करते हैं । यह दृश्य सर्वथा अनोखा है; क्योंकि विश्वस्रष्टाओंके भी ईश्वर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही एकमात्र, एकाकी इसके अभिनेता जो हैं । उनके अनुरूप ही यह खेल आरम्भ भी होता है । बस, क्षण भी नहीं लगता, नहीं-नहीं, लवमात्र काल भी पूर्ण न हो पाया होगा कि एक अभूतपूर्व चमत्कार मूर्त हो गया । अभी-अभी जहाँ केवल श्रीकृष्णचन्द्र थे, वहीं कलिन्द-कन्याके उसी शुभ्र पुलिनपर वैसे-के-वैसे सम्पूर्ण सखा, गोवत्स—समस्त लीलापरिकर प्रकट हो गये । ब्रह्माके द्वारा अपहृत गोपशिशु, गोवत्स आ गये हों, यह बात नहीं । स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने ही अपने आपको दो रूपोंमें प्रकट कर दिया । गोपसुन्दरियोंके, गौओंके एवं साथ ही पद्मयोनिके भी मनोरथ पूर्ण हों, सब-के-सब अपना चिर-अभिलषित पाकर आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो जायँ, इस उद्देश्यसे वे असंख्य गोपशिशु एवं राशि-राशि गोवत्सोंके रूपमें स्वयं ही प्रकट हो गये—

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च ।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । १८)

महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके इस आत्मप्रकाशका चमत्कार देखने ही योग्य है ! विधाताके द्वारा अपहृत मायामुग्ध गोपशिशुओंकी, गोवत्सोंकी जितनी संख्या थी, ठीक उतनी ही संख्यामें ये गोपशिशु, गोवत्स भी हैं । उन शिशुओंके बाल्योचित शरीरका परिमाण जितने हाथ, जितनी अंगुलियोंका था, गोवत्स जितने ऊँचे एवं लंबे थे, इस नवीन प्रकाशमें भी शिशुओंके कलेवरका परिमाण ठीक उतना ही है, गोवत्स भी उतने ही ऊँचे-लंबे हैं । उनके कर-चरण आदि जैसे, जितने परिमित थे, इनके भी वैसे ही उतने ही परिमित हैं । उनके वत्सचारणके उपयोगमें आनेवाली छड़ीकी, वेत्रयष्टिकी जैसी आकृति थी, वह जितनी बड़ी थी, वैसी ही उतनी बड़ी छड़ी ही इनके पास भी हैं । उनके शृंग, वेणु एवं छींकें जैसे जितने बड़े थे, वैसे-के-वैसे उतने परिमाणके ही सब कुछ इनके पास भी हैं । उनके जिन-जिन अङ्गोंमें जैसे जो-जो किसलय-कुसुम आदिके आभूषण थे, इनके अङ्गोंमें भी वे वैसे ही आभूषण परिशोभित हो रहे हैं । उनके जो जैसे परिधान-वस्त्र थे, इनके भी वे ही, वैसे ही हैं । केवल इतना ही नहीं, स्वभावसे वे जैसे धीर या चञ्चल थे, वैसे ही इनके स्वभावमें भी ठीक वैसा ही धैर्य अथवा चञ्चलता भरी है । जो गुण उनमें थे, वे-के-वे इनमें हैं । उनके जो नाम थे, वे ही इनके हैं । उनकी जैसी आकृति थी, ठीक वैसी-की-वैसी आकृति ही इन सबकी भी है । जो जितनी आयुका बालक था, ठीक उतनी आयुके ही ये सब भी हैं । चलनेकी भङ्गिमा, अन्य चेष्टाएँ, कण्ठस्वर, परस्परके सख्य व्यवहार आदि भी जैसे उनके थे, वैसे इनके हैं । सारांश यह कि स्वरूप, रंग, आकृति, चिह्न, स्वभाव, स्वर, वस्त्र, आभूषण, चाल, दोष, गुण, रुचि, अरुचि सभी वैसे-के-वैसे ही हैं । उनमें किसी भी प्रकारका तनिक भी अन्तर नहीं । मानो सचमुच ही श्रीकृष्णचन्द्र आज अपने इस आत्मप्रकाशकी पाठशालामें ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’—यह सब कुछ निश्चय ही ब्रह्म है, ‘सर्वं विष्णुमयं

जगत्'—यह समस्त जगत् विष्णुमय है—इन श्रुति-पुराणवाक्योंका वास्तविक अर्थ प्रकाशित करने चले हों, इनके अर्थके सम्बन्धमें किसीको तनिक भी भ्रम, संशय न रह जाय, इस उद्देश्यसे अर्थको मूर्तिमान् कर दे रहे हों ! सर्वात्मक होकर—इन समस्त गोपशिशु, गोवत्स एवं उनकी समस्त वस्तुओंके रूपमें स्वयं ही परिणत होकर मानो इसीलिये वे अभिव्यक्त हुए हों—

यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । १९)

उभय रूप हरि आपुहि भयऊ । बछरा वत्सपाल जस चहेऊ ॥
जैसें चरन करन मुख जासू । सील सुभाव बोल जस हासू ॥
चलन चातुरी छरी विभूषन । नाम दाम तनिया कछु दूषन ॥
असन वसन मुसुकनि जसि जासू । जस विषान वय वेनु विलासू ॥
जस विहार जसि रुचि गुण ग्रामा । सकल भये हरि सुखमय धामा ॥
सर्वं विष्णुमयं इमि वानी । कहत वेद इमि सदा बखानी ॥
सत्य करी करुनानिधि ताही । भये सकलमय निज चित चाही ॥

× × ×

जितक हुते बछ-बाछी-बाल, आपु ही भये कुँवर नँदलाल ।
वैसैंई कंबर, अंबर, हार, वैसैंई सहज अहार बिहार ॥
वैसैंई नाम, दाम गुन नीके, वैसैंई श्रृंग, बेनु, दल छीके ।
वैसियै हसनि,चहनि पुनि बोलनि, वैसियै लटकनि,मटकनि,डोलनि
नूपुर, कंकन, किंकिनि माल, सबै भये ईस्वर नँदलाल ।
बेद जु बिदित बिस्व यह जिते, सबै बिस्नुमय भासत तिते ॥
जो यह बानी निगमन गाई, सो प्रभु मूर्तिवंत दिखराई ।

कहीं किसी भी अंशमें कोई त्रुटि नहीं रही है । रहेगी ही क्यों ? यह तो मानो व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके चिर-अभ्यासकी वस्तु है । प्रलयके अनन्तर जब सृजन होने लगता है, उस समय विश्वस्रष्टा पूर्वसृष्टिके सर्वथा अनुरूप ही वस्तुओंका निर्माण करते हैं । वैसे ही गगन-पवन निर्मित होते हैं, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, अशेष तारकपङ्क्तिकी रचना भी वैसी ही होती है; समुद्र, धरा, गिरिश्रेणी, वृक्ष, गुल्म, लता—वैसी-की-वैसी बनती हैं । अनन्त जीव-समुदायका प्रत्येक प्राणी गतसृष्टिमें जिस कर्मफलका जो अंश जिस भावसे भोग कर रहा था, सर्वथा सर्वांशमें ठीक उसी कर्मफलके उसी भागका भोग साथ लिये, उसी प्रक्रियाका अनुसरण करते हुए व्यक्त हो जाता है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

विश्वस्रष्टाके इन समस्त कर्मोंमें तिलमात्र भी कहीं भूल नहीं हो पाती । अनादिसृष्टिके प्रवाहमें स्रष्ट एक बार भी, कभी कहीं भी नहीं चूकते । फिर ऐसे अनन्त विश्वस्रष्टाओंके नियन्ता नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रसे भूल कैसे होगी ? वे जब स्वयं ही शिशु, गोवत्स, के विषाण, वेणु, छींका, कंकण, किङ्किणी, नूपु गोवत्सकण्ठकी घण्टिका आदि सब कुछ बन गये हैं, त भी त्रुटि रहेगी ? नहीं-नहीं, इसमें कहीं भ्रम-प्रमादके लिये अवकाश नहीं । और सच तो यह है कि 'सृजन' 'सृष्टि' आदि शब्दोंमें यह सामर्थ्य ही नहीं कि श्रीकृष्णचन्द्रके इस आत्मप्रकाशकी रूप-रेखाको रञ्चकम भी वे किसीको हृदयङ्गम करा सकें । यह प्रापञ्चि सृष्टि जैसी कोई वस्तु नहीं जो नियमोंकी परिधिमें स सके । यह मायिक सृष्टि होती तब कुछ कहना-सुन बनता । मायिक सृष्टिके द्वारा नित्यलीलाविहा श्रीकृष्णचन्द्रके नित्यलीलापरिकरोंका प्रतिनिधित्व स जो नहीं । इसीलिये यह श्रीकृष्णचन्द्रके अपने-आ द्वारा सम्पादित है । तथा इससे आगे इस सम्ब सङ्केतके रूपमें इतना ही कहा जा सकता है कि आनन्दात्मक है, चिदात्मक है, यह समस्त परि सर्वथा विशुद्ध है, अपने कारणसे सर्वथा अभिन्न है तथापि यह लीलाकी संघटनाके उद्देश्यसे हैं, इस उन लीलापरिकरोंके स्वभावका इसमें उन्मेष हो गया और इस कारणसे यह विभिन्न रूपोंमें प्रतिभासित रही है । वाणी इसकी रूप-रेखाका निर्देश कर ही सकती, यह अनिर्वचनीय है । बस, यह अद्भुत है

और यदि इसे सृष्टि कहें तो यह सृजनका उत्कृष्टतम रूप है, सबसे विलक्षण ही यह बना है—

आनन्दात्मचिदात्मकं च तदिदं स्वेनैव सम्पादितं
शुद्धं यद्यपि कार्यजातमखिलं नो कारणाद्भिद्यते ।
लीलोपाधि तथापि भिन्नमभवत्तेषां स्वभावोदयात्
सोऽनिर्वाच्यतयाद्भुतः परमभूतसर्गोनिसर्गोत्तमः ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इस अभिव्यक्तिके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्रका पुनः आत्मविहार आरम्भ हो जाता है । स्वयं तो वे मूलस्वरूपमें अवस्थित हैं ही और फिर स्वयं अपने ही गोपशिशु बने हुए रूपोंके द्वारा स्वस्वरूप गोवत्सोंका आह्वान करने लगते हैं, उन्हें वनसे लौटाने लगते हैं । 'श्रीदाम रे ! भैया रे सुबल ! देख कितना विलम्ब हो चुका ! सूर्य तो आज यहीं वनमें ही अस्तप्राय हो चुके । अतिशय शीघ्रता कर, अन्यथा मैया चिन्तित हो जायँगी ।'—यह आदेश लीलाविहारी अपने निजरूप सखाओंको दे डालते हैं । सखासमुदाय भी पुलिनको 'है ओ है ओ, अरे रे रे' की ध्वनिसे निनादित कर राशि-राशि गोवत्सरूपोंमें अवस्थित श्रीकृष्णचन्द्रको ही हाँक ले चलते हैं । साथ ही वेणुनाद, शृङ्गनाद, परस्परकी क्रीड़ा, नृत्य-गीत आदिका क्रम भी चल ही पड़ता है । इस आनन्दप्रवाहमें ही चलते-चलते वनकी सीमा समाप्त हो जाती है तथा सर्वात्मा स्वयं ही शिशु एवं गोवत्सस्वरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें प्रवेश करते हैं—

स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः ।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १३ । २०)

अखिल लोकपति मुकुटमनि ह्वैं सरूप धरि भूप ।
चरत चरावत आपु ही बछरा ग्वाल अनूप ॥
फेरत घेरत आपु खेलत ब्याज अनेक बिधि ।
करत जु विविध प्रलाप गए अमित ह्वै अमित गृह ॥

व्रजमें आकर भी सदाकी भाँति ही समस्त नियमोंका पालन होता है । 'यहाँ इस चतुष्पथ—चौराहेसे श्रीरामके गोवत्स अलग हो जाते हैं ।' आज भी अलग हो गये और अपने गोष्ठकी ओर चल पड़े । जहाँ जिस शिशुका नियत स्थल है, वहीं आज भी उसके गोवत्स पृथक् होते हैं और वह उनका अनुगमन करता है । गोवत्सोंको गोष्ठमें—उनके सदाके निर्दिष्ट वासस्थानमें ले जाकर शिशु उनकी ग्रीवामें बन्धनरज्जु भी वैसे ही डालते हैं, वत्ससमूह भी अपने पालककी इच्छाको स्वीकार करता हुआ सदाकी भाँति स्वभावगत अपनी चञ्चल या धीर मुद्रा धारण कर लेता है । यह कार्य सम्पन्न करनेके अनन्तर वे बालक अपने-अपने सदनमें प्रवेश करते हैं । वास्तवमें आज न तो कोई गोपशिशु है, न कोई गोवत्स । स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ही उन-उन सखाओंके रूपमें निर्दिष्ट स्थल आनेपर पृथक् हुए हैं तथा नियत मार्गसे गोवत्सोंको—अपने आपको ही गोष्ठकी ओर हाँक ले चले हैं । उन्होंने स्वयं ही तो शिशुरूपमें रज्जुबन्धन डाला है और स्वयं ही गोवत्सरूपमें उस बन्धनको स्वीकार किया है । और यह सब करके स्वयं एकाकी वे ही पृथक्-पृथक् रूपसे अनन्त गृहोंमें प्रविष्ट हो गये हैं ।

तत्तद्वत्सान् पृथङ्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः ।
तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १३ । २१)

आजका व्रजप्रवेश, गृहप्रवेश भी और दिनोंकी अपेक्षा कुछ विचित्र ही हुआ है । इधर सन्ध्याने श्याम-अञ्चलका विस्तार किया और उधर नीलसुन्दरका वेणुनाद व्रजपुरके कण-कणमें झङ्कृत हो उठा । गोपसुन्दरियाँ आकुल नेत्रोंसे प्रतीक्षा कर रही थीं; अन्य दिनोंकी अपेक्षा आज पर्याप्त विलम्ब भी हो चुका था । कतिपय अतिशय कोमलहृदया वात्सल्यवती देवियाँ तो कुछ अन्य आशङ्काएँ करने लग गयी थीं, व्रजरानीका तो कहना ही क्या है । इतनेमें ही वेणुका स्वर सुन पड़ा । प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये सब-की-सब अपने-अपने

द्वारदेशपर तोरणके समीप आ गयीं । कुछ तो विह्वल होकर और भी आगे चली गयीं । क्रमशः श्रीकृष्णचन्द्र निकट-निकटतर होते गये और व्रजपुरन्ध्रियोंके नेत्र शीतल होने लगे । पर आज उनकी दृष्टि चटपट बरबस चली गयी अपने गर्भजात शिशुओंकी ओर । वे भी श्रीकृष्णचन्द्रको आवृत किये झूमते आ रहे थे । और दिन यह होता था——गोपसुन्दरियोंकी आँखें अपने पुत्रोंका सचमुच तिरस्कार कर देती थीं, उनके नेत्रोंमें समा जाते थे एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र, अन्य समस्त दृश्य उनके सामनेसे मानो विलुप्त हो जाते थे । तथा फिर अपने द्वारतक श्रीकृष्णचन्द्र पहुँचे, यह धैर्य भी कहाँ रहे ? वे दौड़ पड़तीं और नीलमणिको अपने अङ्कमें भर लेतीं । सन्ध्याके एक दण्डमात्र समयमें असंख्य व्रजदेवियोंका यह दैनिक क्रम कैसे पूरा होता था——इसका समाधान मानवी, प्राकृत बुद्धिसे होनेका ही नहीं । पर यह ध्रुव सत्य है कि ऐसा प्रतिदिन ही हो जाता था और वे गोपसुन्दरियाँ सुखसागरमें निमग्न हो जाती थीं । इस प्रकार सबके प्रीति-उपहारका सुख लेते श्रीकृष्णचन्द्र अन्तमें अपनी जननीके अङ्कमें आते थे; किंतु आजका क्रम मानो सर्वथा बदल गया । सबकी दृष्टि एक बार तो श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर गयी अवश्य, पर तुरंत लौटी; और ऐसी लौटी कि मानो नीलसुन्दरको सर्वथा भूलकर अपने पुत्रोंमें ही समा गयी । आज श्रीकृष्णचन्द्रको क्रोडमें धारण करनेकी उत्कण्ठा न जाने क्यों——जागी ही नहीं; अपितु उसके स्थानपर अपने पुत्रोंका ममत्व ही लहरा उठा, प्राण अपने पुत्रोंका ही स्पर्श पानेके लिये नाच उठे । दौड़ीं तो सब-की-सब ही, पर उन्होंने गोदमें उठाया आज अपने-अपने पुत्रोंको ही और स्नेहातिरेकसे उन्हें वक्षःस्थलपर धारणकर उन्मादिनी-सी हो उठीं । निमेष बीतते-न-बीतते वात्सल्यका आवेग और भी द्रुत हो गया, इस कारण स्वयमेव उनके स्तनोंसे दुग्ध क्षरित होने लगा, अमृतधाराके समान स्वादु, आसवकी भाँति मादक इस दुग्धको अपने पुत्रोंके मुखमें दिये बिना वे रह नहीं सकीं । शिशुके कपोलोंपर हृदयस्पर्शी स्नेहसा चुम्बन अङ्कित कर वे उनका चूर्णकुन्तल सहलाने लगती हैं, धूलिकण झाड़ने लगती हैं; साथ ही अपना स्तनाग्र उनके मुखमें देकर स्तनपीयूष पिलाने लग जाती हैं । वे नहीं जानतीं, पर आज उन्हें वास्तवमें चिरवाञ्छित परम फल मिल गया है । उनके मनोरथ पूर्ण हो रहे हैं । अपने पुत्ररूपमें पाकर, मानकर, अनुभव कर वे वात्सल्यवती गोपसुन्दरियाँ परब्रह्म पुरुषोत्तमको ही वक्षःस्थलपर धारणकर स्तनपान करा रही हैं, उन्हें वात्सल्यरसका उपहार समर्पित कर रही हैं ।

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता
उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम् ।
स्नेहस्नुतस्तनपयःसुधासवं
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । २२)

वेनु की धुनि सुनि गोपी धाई । अपने कंठनि लै लपटाई ॥
धूरि झारि पुनि पुनि मुख चूमनि । नहिं कहि परै प्रेमकी घूमनि ॥

× × ×

सुभग उरोज स्रवत पय धाई । सुत उठाइ उर लै लपटाई ॥
सुअन जानि परब्रह्म उठाई । अंक राखि निज हृदय लगाई ॥
सुधा सरिस पय पानि कराई । जानहु परम भाग्य नरराई ॥

अस्तु, जब भावावेग किञ्चित् शान्त होता है तब माताओंका ध्यान अन्य कृत्योंकी ओर जाता है । प्रति दिनका ही तो नियम है, श्रीकृष्णचन्द्र सायंकाल वत्स चारण करके लौटते हैं, उनके सखा भी उनके साथ ही आते हैं । आज भी वैसे ही नीलसुन्दर वनसे लौटे हैं शिशु भी साथ ही आये हैं तथा माताएँ अब उनका संलालन करने जा रही हैं । वे नहीं जान पातीं कि आज इन असंख्य गोपशिशुओंके रूपमें स्वयं नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं । जानें भी कैसे ? कोई अन्तर हो तब तो ? जिस बालककी जो जैसी चेष्टा सदा घर

हुआ करती, सर्वथा वैसी ही तो आज भी है। जो शिशु जिस कमनीय भङ्गिमासे अपनी जननीका आनन्दवर्द्धन करता, वह आज भी वैसी ही मनोहर बाल्यचेष्टाओंसे अपनी माताके हृत्तलको आनन्दपूरित किये दे रहा है! माताएँ भी इन पुत्ररूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रके संलालनमें व्यस्त हैं। सन्ध्या तो हो ही चुकी है, रजनीकी छाया भी आ गयी है और उन्हें अभी बहुत-से कार्य करने हैं। पर आज उनका उल्लास अपने आप शत-सहस्रगुणित हो चुका है। अतः कहीं उद्विग्नता नहीं है। परम स्नेहपूरित तत्परतासे वे अपने कार्यमें लगी हैं। सदाकी भाँति ही वे अपने पुत्रोंके——वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रके——अङ्गोंमें उबटन लगाती हैं, सुगन्धित तैलका अभ्यञ्जन करती हैं, यह हो जानेपर उन्हें स्नान कराती हैं। फिर चन्दन आदिसे निर्मित सुन्दर अंगराग लगाती हैं; वसन-भूषणसे शृंगार धारण कराती हैं; और तब रक्षा-तिलक करती हैं, केशव आदि नामोंसे उनके ललाट आदि द्वादश अङ्गोंमें रक्षातिलक लगा देती हैं। यह सब करनेके उपरान्त विविध व्यञ्जनोंके सहित मोदक, पूप आदि अनेक सुन्दर सुभोज्य पदार्थोंसे भोजन कराती हैं। शिशुरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रसे आजकी वनचर्याका विवरण सुनती हैं। वर्णन करते-करते उनके नेत्रसरोजोंमें आलस्य भरने लगता है। माताएँ सुखद सुरम्य शय्यापर उन्हें शयन करा देती हैं। इस प्रकार असंख्य गोपबालकरूपधारी बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र अगणित गृहोंमें अनन्त माताओंके द्वारा समादृत होकर परम आनन्दका अनुभव करते हैं——

ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपना-
लङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्
सायं गतो यामयमेन माधवः॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । २३)

उबटन उबटि सलिल अन्हवाये, मनभाये भोजन करवाये।

× × ×

चंदन चर्चि सुभग तन देखी। होत हृदय आनंद बिसेखी।
रक्षातिलक असन भलि रीती। सुतन्ह लडावहि निति नव प्रीती।
इमि क्रीडा निरखत सुत केरे। संध्या भई सनेह घनेरे।

उधर उन गोवत्सजननी गायोंकी दशा भी विचित्र ही है, मुनीन्द्रोंका मन मोहित कर देनेवाली है——

अब सुनि लै गाइन कौ पेम,
बिसरत जिहिं दिखि मुनि-मन-नेम।

अभी-अभी तो वे भी वनसे लौटी हैं, वयस्क गोपगण इन्हें वनमें तृण चराकर लौटा लाये हैं। किंतु जैसे ही इस धेनुसमूहने गोशालामें प्रवेश किया, उनकी दृष्टि गोवत्सोंपर पड़ी कि फिर तो कहना ही क्या है! सम्पूर्ण गोष्ठमें सब ओर उनके हुङ्कारघोषसे, मृदु गम्भीर हाम्बारवसे मानो वात्सल्यका स्रोत उमड़ चलता है। उनके रक्षकवर्ग गोपगण मूक धेनुओंकी यह आजकी अभूतपूर्व स्नेहविह्वलता देख स्वयं भावद्रवित हो उठते हैं। तथा फिर, ओह! गोशावकरूपधारी नन्दनन्दनकी त्वरा, जननीके हाम्बारवका आवाहन सुनकर शीघ्रातिशीघ्र मिलनका वह अद्भुत प्रयास एवं क्षणमात्रमें ही संमिलन——इस प्रेमिल दृश्यका वर्णन कौन करे? इन गायोंके इनसे अपेक्षाकृत छोटे स्तनपायी गोवत्स हैं, वहीं उस गोष्ठमें ही उपस्थित भी हैं, पर उनकी ओर तो इनका जैसे तनिक भी ध्यान नहीं; और इन मुक्तस्तन्य, वत्सतरोंके प्रति अपना सर्वस्व न्यौछावर किये दे रही हैं; इन्हें देखकर, अपने पार्श्वमें पाकर प्रेममत्त हो गयी हैं। इन वत्सतरोंको भी प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं, अपने-आप उन गायोंके थनसे दूधका निर्झर झरने लगता है। ये गोशावक दुग्धपान करने लगते हैं तथा अप्रतिम उल्लासमें डूबी हुई-सी गायें बार-बार उनके अङ्गोंका लेहन करने लगती हैं——

गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं
हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान्।

स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन्
मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । २४)

खरिक निकट जब बछरा बोलै, सुनतहि गोधनबृंद कलोलै ।
हूँकि हूँकि आतुर गति आवनि, इत तैं इन बछरन की धावनि ।
चुसनि, चुसावनि, चाटनि, चूँबनि, बार बार हितकी वह हूँसनि।

× × ×

मनहु लीलि जैहै अति प्रेमा, लहै न योगी करि बहु नेमा ।

अस्तु, यह है व्रजेन्द्रनन्दनके आत्मविहारका प्रथम दिवस । और अभी तो शरद् है । फिर हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, पावस ऋतुएँ आयेंगी । पुनः शारदीय श्रीवृन्दाकाननको, व्रजपुरके आकाशको अलङ्कृत करेगी । तबतक व्रजराजकुमार एकाकी ही वनमें, पुरवीथियोंमें विहरण करते रहेंगे—

आपुहि बछरा, आपुहि बाल, बिहरत ब्रज बन मोहनलाल।

श्रीभगवान्के दिव्यादेश

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनके प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रोज्ज्वल वाक्य-रत्न सर्वतोमुखी शिक्षाकी दीप्त वाणी हैं । उन वाक्योंमें विरले ही कोई ऐसे शब्द हैं जो भगवत्तत्त्वसे रिक्त हों । इन तत्त्वोंको समझाते हुए **प्रथमतः**—भगवान्ने अर्जुनको कुछ विषयोंका केवल निर्देशमात्र दिया है । यथा—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
(१३ । ४)

'पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और मूलप्रकृति भी, तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय ।' यहाँपर भगवान् सविकार 'क्षेत्र' समझानेके लिये सांख्य-दर्शनमें वर्णित चौबीस तत्त्वोंका उल्लेख कर रहे हैं । अर्जुनकी अवगतिके लिये विषयका निर्देशमात्र है ।

तथाहि—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(११ । ५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरे ही लिये कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है, सब भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह मुझको प्राप्त होता है ।'

यह पुरुषोत्तमका एक महावाक्य है । अपने शिष्यसे एक बड़े महत्त्वकी बात वे कह रहे हैं—कि जो लोग उनके भक्त हैं, उन्हींके परायण हैं, आसक्तिरहित होकर केवल उन्हींका काम करते हैं और जगत्में किसीसे भी वैर नहीं करते, उन्हें भगवत्प्राप्ति होती है । ऐसी एक गहन बात कहते हुए भी, भगवान् यह आज्ञा नहीं देते हैं कि तुम इस प्रकार आचरण करो । उन्होंने तो गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम रहस्योंको उद्घाटित करते हुए अर्जुनसे कहा—

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।

द्वितीयतः—दूसरे कुछ तत्त्वोंके विषयमें भगवान्ने अर्जुनके सम्मुख अमूल्य उपदेशोंके सहित ज्ञान-भण्डार उन्मुक्त कर दिया है । उपदेश सर्वदा तीन भावोंसे दिया जाता है—(१) कान्ता या प्रियाभाव; (२) सखा या मित्र-भाव; (३) प्रभुभाव ।

(१) कान्ताभावका उपदेश वैसा ही होता है जैसे प्रियाकी मोहित करनेवाली मधुर वाणी । प्रेमी ऐसे उपदेशोंको विचारशून्य होकर ग्रहण कर लेता है । श्रीकृष्ण तथा अर्जुनका परस्पर कान्ता-कान्त सम्बन्ध भी था, जो निम्नलिखित श्लोकसे स्पष्ट है—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥
(११ । ४४)

श्रीरामानुजने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'इस स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिये मैं शरीरको आपके चरणोंमें रखकर प्रणाम करता हूँ ।

प्रकार अपराधी पुत्र और सखाके प्रणामपूर्वक प्रार्थना करनेसे पिता या सखा प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही आप परम दयालु प्रियतमको भी मुझ प्रेमीके लिये सब कुछ सहन करना उचित है।' निःसन्देह अर्जुनने श्रीकृष्णचन्द्रके वाङ्मय उपदेशोंको विमुग्ध होकर श्रवण करते हुए शिरोधार्य किया।

(२) सखाभावका उपदेश ऊहापोहका विषय और विचाराधीन होता है। ऐसा उपदेश प्रायः परामर्शके रूपमें होता है, जिसमें हिताहित वाक्योंकी परीक्षाके उपरान्त उनका यथोचित अनुगमन किया जाता है। यद्यपि अर्जुन श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमा न जानकर उनको सखा कहते थे, परंतु यादवेश्वर उनको अपना सखा मानकर ही बन्धु-प्रीतिसे बर्तते थे। यों तो भगवान्‌के वाक्योंका अक्षरशः पालन करना ही उचित है, उनपर विचार करना धृष्टता और मूढता है; परंतु उन्होंने अर्जुनको अधिकांश उपदेश ऐसे सखाभावसे ही दिये हैं कि उनका अनुगामी होनेके लिये वह बाध्य न हो। यथा—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(३। २५)

अर्थात् 'अज्ञानीजन आसक्त होकर, फलाकाङ्क्षी होकर जिस चाहसे और दृढ़तासे स्वार्थके लिये कर्म करते हैं, वैसे ही लोकशिक्षाके लिये, समाजकी सेवाके लिये विद्वानोंको अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये।' यह भगवान्‌का परामर्श है; इसपर आचरण करना या न करना अर्जुनकी विचार-बुद्धिपर निर्भर करता है।

(३) प्रभुभावसे जो उपदेश दिया जाता है वह होता है—प्रभुका 'आदेश'। वह उनकी अपरिहार्य आज्ञा है, उनका अवश्यपालनीय अनुशासन है। यहाँपर विचार या आलोचनाको अवकाश नहीं है। हार्दिक श्रद्धा और भक्तिके सहित विनम्र भावसे उनको ग्रहण कर उनपर आचरण करनेमें ही सब ओरसे कल्याण है, इसमें कोई शङ्का या सन्देह नहीं है, न होना ही चाहिये।

श्रीगीताके द्वितीयसे अष्टादशपर्यन्त प्रायः सभी अध्यायोंमें ऐसे प्रभुभावके आदेश 'सूत्रे मणिगणा इव' गुँथे हुए हैं। द्वितीयमें जितने उपदेश या आदेश हैं, अगले अध्यायोंमें उन्हींका विस्तार है। वास्तवमें गीताशास्त्रमें जितने विषयोंका प्रतिपादन किया गया है, सूत्राकारमें वे सब द्वितीय अध्यायमें सन्निवेशित हैं। इस बातकी एक झाँकी निम्नलिखित चित्रसे मिल सकती है [यह चित्र श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत गीताकी टीकाके अनुसार अङ्कित है]।

अध्याय २का श्लोक-संकेत	श्लोकका विषय	श्लोकका विस्तार
४८.योगस्थः कुरु कर्माणि	सत्त्वशुद्धिसाधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठा	अध्याय ३ में साधारण भावसे और अध्याय ४ में विस्तृत भावसे
७१.विहाय कामान्यः	शुद्धान्तःकरणस्य सर्व-कर्मसंन्यासनिष्ठा	अध्याय ५ में संक्षेप और अध्याय ६ में विस्तार
६१.युक्त आसीत मत्परः	अनेकप्रकारा भगवद्-निष्ठा	अध्याय ७ से १२ पर्यन्त विस्तृत व्याख्या
२१.वेदा-विनाशिनंनित्यं	तत्त्वज्ञाननिष्ठा	अध्याय १३ में प्रकृति-पुरुषविवेक-ज्ञानद्वारा व्याख्या
४५.त्रैगुण्य-विषया वेदाः	त्रैगुण्यनिवृत्तिरूपज्ञान-निष्ठाश्च फलम्	अध्याय १४ में त्रैगुण्य-निवृत्ति, जीवन्मुक्ति-का स्वरूप
५२.तदा गन्तासि निर्वेदम्	परवैराग्यनिष्ठा	अध्याय १५ में संसार-वृक्षछेदनद्वारा व्याख्या
५६.दुःखेष्व-नुद्विग्नमनाः ४२.यामिमां पुष्पितां	परवैराग्योपकारिणी दैवी सम्पदा देया तद्विरोधिन्यासुरी-सम्पच्च हेया	अध्याय १६ में विस्तृत वर्णन
४५.निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो	दैवीसम्पद्येऽसाधारणं कारणं च सात्त्विकी श्रद्धा	अध्याय १७ में श्रद्धात्रय

अष्टादशेन पूर्वोक्त सर्वोपसंहार

[१]

इसी प्रकार द्वितीय अध्यायमें श्रीभगवान्‌के आदेशोंका भी उपक्रम है। गीतामें सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णकी महान् वाणी, जो हम प्रारम्भमें सुनते हैं—वह अर्जुनके प्रति यह आज्ञा है—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥
(२।३)

'हे पार्थ ! कायरताको प्राप्त न हो; यह तुम्हारे लिये योग्य नहीं है । हे परंतप ! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर खड़े हो जाओ ।'

युद्धक्षेत्रमें शोकाकुल अर्जुनको जो आज्ञा भगवान् सबसे पहले देते हैं, वही आज्ञा संसार-क्षेत्रमें मनुष्यमात्रके लिये पालनीय है । वही बात सब देश और सब कालमें लोकसंग्रहके लिये शिक्षा और धर्मके द्वारा घोषित की जाती है; वही बात जीवन-युद्धमें एकमात्र अवलम्बन है । इस लोकमें या परलोकमें कल्याण चाहनेवालेके लिये यही अमोघ मन्त्र है—'कायरताका त्याग करो, चित्तकी दुर्बलताका त्याग करो, युद्धके लिये कटिबद्ध होकर खड़े हो जाओ ।'

मानो इसी बातकी पुष्टिके लिये भगवान् पुनः यह आज्ञा देते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
(२।१४)

'हे कौन्तेय ! सर्दी-गरमी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रियों और विषयोंका संयोग क्षणभङ्गुर और अनित्य है; हे भारत ! उनको तुम सहन करो ।'

पहले बल चाहिये—शारीरिक और मानसिक शक्ति—तब चाहिये सहन-शीलता । एकादश इन्द्रियोंके सेवनसे केवल दुःख-ही-दुःख मिलता है । धैर्यधारणपूर्वक बिना कुछ कहे उनको सहन कर लेना ही मनुष्यके लिये लाभदायक है; क्योंकि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५।२२)

'बाहरी विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख मिलते हैं, वे दुःखके ही कारण हैं, वे आदि-अन्तवाले—अनित्य हैं; हे कौन्तेय ! उन सुखोंसे ज्ञानी पुरुष तृप्त नहीं होते ।'

इन बातोंको ध्यानमें रखते हुए मनुष्यको भगवदाज्ञानुसार सहनशीलतासे काम लेना चाहिये । पहले तितिक्षा, तदनन्तर यह अवस्था प्राप्त होती है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
(५।२१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित चित्तवाला पुरुष आत्मामें जो आनन्द है, उसको प्राप्त होता है और वह परमात्मामें युक्त रहकर अक्षय आनन्द उपभोग करता है ।'

विषय-भोगमें जो मिथ्या सुख है, उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है और उसमें आसक्ति नहीं रहती; क्योंकि ऐसा पुरुष आत्मानन्द या ब्रह्मानन्दमें मग्न रहता है । 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'—जिस आत्मानन्दको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ (आनन्द) नहीं मानता ।

विषय-भोगोंको दूर रखनेमें और एक सुखभोग होता है, जिसका वर्णन भगवान् आगे करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
(५।२७)

'बाहरके विषयभोगोंको बाहर ही त्यागकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके, नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपान वायुको सम करे ।'

विषय-भोगोंकी चिन्ता यदि मनमें प्रवेश न करे, तो इस श्लोकमें वर्णित तथ्यका एक अद्भुत अनुभव होता है । श्वास-प्रश्वासकी गति तथा मनकी गतिका बहुत ही घनिष्ठ गूढ़ सम्बन्ध है । यह बात तब स्पष्ट होती है, जब अभ्यास करते-करते प्राण और अपान वायु नासाभ्यन्तरचारी हो जाता है । उसी समय प्राण और अपानकी गति भी समान हो जाती है और मनकी गति शान्त हो जाती है । यह स्वभावतः चञ्चल मन स्थिर हो जाता है और मन्त्र-जप, धारणा-ध्यानादिमें स्वतः मग्न हो जाता है । अनुभवी पुरुष जानते हैं । उस समय मन एकाग्रभूमिको प्राप्त होता है, जहाँसे निरोध अवस्थाकी प्राप्ति सुगम होती है ।

कहाँकी बात कहाँ आ गयी । परंतु इन सब बातोंकी आलोचनासे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि भगवान्‌की केवल एक आज्ञाके यथारीति पालनसे परम ऐश्वर्य लाभ होता है । अब फिर उसी विषयका अनुसरण करें, जिससे यह निबन्ध प्रारम्भ किया गया था ।

द्वितीय अध्यायमें भगवान् अर्जुनको युद्धके लिये प्रोत्साहन दे रहे हैं और युक्तियुक्त तर्कोंसे उसका भ्रम दूर कर

रहे हैं। पहली बात जो इस परम्परामें कहते हैं—वह यह आज्ञा है—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥
(२।१८)

'शरीरधारी नित्य आत्माके ये शरीर अन्तवाले हैं और आत्मा अप्रमेय है—अर्थात् वह किसी माप-तौल या गणनासे परिमाणमें नहीं आनेवाला है—अतः अविनाशी है, इसलिये हे भारत! तू (शोकत्याग करता हुआ) युद्ध कर।' प्रभुकी दूसरी आज्ञा है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय
युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(२।३७)

'हे कौन्तेय! यदि तू युद्धमें मारा गया तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा, नहीं तो, शत्रुओंको जीतकर तू पृथ्वीको भोगेगा। अतः युद्धका निश्चय करके, उसके लिये उठ खड़ा हो जा।' और तीसरी आज्ञा यह है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(२।३८)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय सबको समान मानकर, उसके बाद तू युद्ध आरम्भ कर। इस प्रकार करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं करेगा।'

इसके अनन्तर प्रभुकी जो आज्ञा है उसका सम्बन्ध है सत्त्व, रज और तम गुणोंसे, जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन अध्याय १४ में दिया गया है और जिनका प्रभाव श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप और दानपर सत्रहवें अध्यायमें दिखाया गया है, और ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखपर अठारहवें अध्यायमें दिखाया गया है। श्रीभगवान् कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
(२।४५)

'हे अर्जुन! सब वेद (सत्, रज और तम—इन) तीनों गुणोंसे युक्त सांसारिक विषयोंसे सम्बन्ध रखते हैं, तू इन तीनों गुणोंसे रहित, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे अतीत सदा सत्त्वगुणमें स्थित हो और वस्तुओंकी प्राप्ति और उनकी रक्षाको न चाहनेवाला बनकर आत्मपरायण हो।' यद्यपि प्रभुकी आज्ञा 'शुद्ध' सत्त्वमें स्थिति लाभ करनेकी है, तथापि मनुष्यको अन्तमें होना है गुणातीत। इसीमें सुख है, इसीमें समता है, इसीमें शान्ति है, इसीमें ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता है।

इसके उपरान्त प्रभुकी जो आज्ञा है, उसका चार श्लोकोंमें वर्णन है। उनको गीताका मूल-मन्त्र कह सकते हैं। प्रायः सभी अध्यायोंमें इस तत्त्वका न्यूनाधिक उल्लेख है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(२।४७—५०)

'तेरा कर्ममें ही अधिकार है, उनके फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु मत हो, अर्थात् वासना न कर। तथा कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति न हो। हे धनञ्जय! योगमें स्थित हुआ तू आसक्तित्यागपूर्वक कर्मोंको कर तथा सिद्धि और असिद्धिको समान दृष्टिसे देख। इस समताका ही नाम है—योग। क्योंकि हे धनञ्जय! समत्वबुद्धिकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त तुच्छ है, अतः तू बुद्धि (ज्ञान) के ही आश्रयकी इच्छा कर। फलासक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले दीन होते हैं। समत्वबुद्धियुक्त ज्ञानयोगी इस जन्ममें ही पुण्य और पाप दोनोंका परित्याग कर देता है। इसलिये तू निष्काम कर्मयोगमें युक्त हो, निष्काम कर्ममें कुशलता (कर्म बन्धनके कारण होते हुए भी निष्कामभाव एवं ईश्वराराधनासे उस कर्मको मुक्तिका साधन बनानेकी कुशलता) कर्मयोग है।

कदाचित् दर्शनके इतिहासमें कर्म-तत्त्व (Doctrine of Action) की संज्ञा प्रथम बार इन श्लोकोंमें दी गयी है।

इस अध्यायके अन्तमें प्रभुकी जो आज्ञा है, उसमें मनुष्य जीवनके एक दूसरे आदर्शका दिग्दर्शन है। इस विषयमें ध्यान लगाकर प्रभुके आज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(२।६१)

चौवनवें श्लोकमें अर्जुनने प्रश्न किया कि 'स्थितप्रज्ञ' पुरुषका लक्षण और आचरण कैसा होता है । इस श्लोकमें उसका आंशिक उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि 'सब इन्द्रियोंको संयमित कर मेरे परायण हुआ मुझमें चित्त लगाकर स्थित होना चाहिये, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ होता है ।'

पहले कहा गया है कि मनुष्यको 'गुणातीत' होना है; वैसे ही यहाँ संयमी भगवत्-परायण होकर 'स्थितप्रज्ञ' होनेका उपदेश है । यह दो उच्चकोटिके आदर्श हैं; मन-बुद्धिसे इनका अनुभव और कर्म-वाणीसे इनका अभिव्यञ्जन मनुष्य-जीवनकी परम तपस्या है ।

[२]

श्रीकृष्णने द्वितीय अध्यायमें नाना विषयोंपर नाना प्रकारके उपदेश दिये हैं । परंतु तृतीय अध्यायमें विषय-वस्तु एक ही है—कर्मयोग । और इसकी विस्तारित व्याख्या-सहित कर्मभूमिमें पालनीय विधि-निषेधकी वाणी है । प्रारम्भमें ही प्रभुकी आज्ञा कर्म-साधनकी है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
(३।८)

'तू शास्त्रविधिसे नियत किये स्वधर्मरूप कर्मको कर । क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ।'

परंतु कर्मका उद्देश्य और कर्मके प्रति मनोभावका ध्यान रखना चाहिये, इसलिये प्रभुका आदेश है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
(३–९)

'यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्मके सिवा अन्य कर्म करनेपर मनुष्य कर्मबन्धनसे बँध जाता है । अतएव हे अर्जुन ! तू आसक्तिरहित होकर यज्ञके लिये कर्मका भली-भाँति आचरण कर ।'

पुनश्च—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(३।१९)

'(क्योंकि आत्मसाक्षात्कारके लिये भी कर्मयोग ही सब प्रकारसे श्रेष्ठ है) इसलिये तू आसक्तिरहित होकर निरन्तर कर्तव्य-कर्म करता रह; क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ ही परम (आत्मा) को प्राप्त हो जाता है ।'

पूर्वोक्त दो श्लोकोंमें यह द्रष्टव्य है कि पहले 'मुक्तसङ्गः' और फिर 'असक्तः' कहकर भगवान् एक बात बहुत दृढ़तासे समझा रहे हैं—वह है 'अनासक्ति' 'फलाकाङ्क्षाराहित्य' या 'फल-त्याग'; क्योंकि गीता-श्रुति कहती है कि विचक्षण लोग सर्वकर्म-फलत्यागको ही यथार्थ त्याग मानते हैं, अपिच, 'त्याग' ही श्रीरामकृष्णपरमहंसके मतानुसार 'गीता' की परिभाषा है ।

परंतु फलाशा या आसक्ति न होनेके कारण कर्तव्य-कर्ममें अवहेलना नहीं होनी चाहिये । वैसे ही उत्साहके साथ अपना सब काम करना चाहिये, जैसे कि ज्ञानहीन व्यक्ति आसक्ति लिये हुए करता है । प्रभुकी आज्ञा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
(३।२५)

'हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानी लोग जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानीको भी अनासक्त होकर केवल लोक-संग्रह (लोगोंकी भलाई) चाहते हुए कर्म करना चाहिये । तात्पर्य यह कि कर्ममें अपना स्वार्थ नहीं, दूसरेके कल्याणकी एकमात्र प्रेरणा होनी चाहिये ।

परंतु इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञानहीन मनुष्य यदि केवल फलके निमित्त कर्मासक्त है, तो उसे ऐसा पाठ न पढ़ाया जाय कि कर्म करनेमें ही उसकी वितृष्णा हो जाय । भगवान् कहते हैं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥
(३।२६)

अर्थात् ज्ञानी पुरुष कर्मोंमें आसक्त अज्ञानियोंकी (आसक्ति छुड़ानेके लिये) बुद्धिमें भेद अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा न उत्पन्न करे, किंतु स्वयं योगयुक्त(निष्काम)होकर कर्म

करता हुआ उनसे भी वैसे ही करावे । ज्ञानी पुरुष उपदेश (Precept)से नहीं, वरं आचरण (Example) से उसे सन्मार्गका पता बतावें । यह एक विशेष तथ्य है, इसलिये भगवान् दूसरे दृष्टिकोणसे इसकी पुनरुक्ति करते हुए आज्ञा देते हैं—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
(३ । २९)

अर्थात् 'प्रकृतिके गुणोंसे मोहित पुरुष गुण-कर्मोंमें आसक्त होते हैं; उन अल्पज्ञ मन्दबुद्धि मनुष्योंको पूर्ण ज्ञानी पुरुष (आसक्तिसे) विचलित न करें ।' प्रकृतिकी गति निराली है । उसके प्रतिकूलाचरणसे क्षति होती है । मनुष्यके स्वभावका परिवर्तन बहुत कठिन है । भगवान्‌का मत है कि मन्दबुद्धिवालोंको एकाएक सुधारनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये । संसारके घात-प्रतिघातसे समयपर एक दिन उनको भी दिव्य-दृष्टि प्राप्त होगी, क्योंकि मनुष्यमात्रकी यही परम गति है ।

इन सब बातोंका जैसे उपसंहार करते हुए प्रभु यह विशिष्टादेश देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
(३ । ३०)

'तुम विवेकबुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको परमेश्वरमें समर्पण करके—अर्थात् ईश्वर ही सब विषयोंके कर्ता हैं, मैं केवल भृत्यवत् उनका आदेश पालन कर रहा हूँ, सुतरां फलाफल-दाता वही हैं—ऐसा विचारकर और आशा, ममता और सन्तापरहित होकर, युद्धादि समस्त विहित कर्मोंको करो ।'

यज्ञार्थ कर्म करना (३ । ९) और भगवदर्थ कर्म करना एक ही बात है । यही कर्मका प्रकृष्ट उद्देश्य है और कर्म करनेपर फलाशा न करना प्रकृष्ट त्याग है । स्टोयिक (Stoic) दार्शनिकोंमें यह कहावत प्रसिद्ध है—'Blessed are they that do not expect, for they shall not be disappointed'—अर्थात् वे ही सुखी हैं, जो आशा नहीं करते; क्योंकि निराश होनेका दुःख वे नहीं भोगते ।

अबतक भगवान् कर्म, कर्मसाधनकी प्रणाली, कर्मका उद्देश्य इत्यादि विषयोंपर आज्ञा देते आये हैं । अब उस मार्गमें जो-जो रुकावटें हैं, उनको बता रहे हैं और उनसे बचनेका उपाय समझा रहे हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
(३ । ३४)

'प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें जो राग-द्वेष स्थित हैं, उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों साधकके मार्गमें महती बाधाएँ हैं ।' इस श्लोकके दो अभिप्राय हैं—एक यह कि 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि···'(३ । ३३) सुनकर लोग हाथ-पर-हाथ धरे बैठ न जायँ; कहीं यह मनोभाव उत्पन्न न हो कि हम तो कुछ करनेके लिये स्वाधीन हैं ही नहीं । दूसरा यह कि मनुष्य अपने पुरुषकारके बलपर राग-द्वेषको, जिनको श्रीरामानुज दुर्जय शत्रु कहते हैं, अपने वशमें कर सकता है । राजसिक और तामसिक गुणोंको दमन कर सात्त्विक गुण सम्पन्न होनेपर इन शत्रुओंके हाथसे निष्कृति प्राप्त कर सकता है और फिर विषय भोगनेपर भी दुःख नहीं भोगना पड़ता, जैसा कि भगवान् अध्याय २ श्लोक ६४ में कह आये हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

'मनको वशमें रखनेवाला पुरुष राग-द्वेषरहित और वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ भी अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है ।'

इसके उपरान्त अर्जुनके एक प्रश्नके उत्तरमें भगवान् और दो महाशत्रुओंका वर्णन करते हैं—वे हैं काम और क्रोध । जैसे राग-द्वेष ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके भोग्य-विषयोंमें स्थित हैं, वैसे ही काम और क्रोध इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें अधिष्ठित हैं । इसलिये प्रभुका आदेश है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
(३ । ४२)

'इसलिये हे भरतश्रेष्ठ ! तू पहले इन्द्रियोंको संयमित कर, ज्ञान-विज्ञानके नाश करनेवाले इस पापी (काम) को निश्चय मार ।'

इन्द्रियोंके संयमके साथ-ही-साथ मन और बुद्धिको भी नियन्त्रित करनेकी विशेष आवश्यकता है । तब कहीं काम-क्रोध मारे जा सकते हैं । हमारी बुद्धि उस एक भ्रान्त पथिक-सी है, जो अपने आप कदाचित् ही सन्मार्गपर चलना चाहता

है। उसको किसी साधनसे 'व्यवसायात्मिका' बनाना है। हमारे प्रयत्नसे और पूर्वजन्मार्जित पुण्यसे कहीं ऐसा हो जाय तो फिर इस अध्यायमें प्रभुकी शेषाज्ञाका पालन करना हमारे लिये बहुत कठिन न हो—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥
(३ । ४३)

अर्थात् 'इस प्रकार बुद्धिसे अपने आत्माको श्रेष्ठ जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, हे महाबाहो ! इस दुर्जय काम-रूप शत्रुको मार ।'

[३]

चतुर्थ अध्यायमें ज्ञान, कर्म और संन्यासके विषयमें श्रीकृष्णचन्द्रके जो प्रवचन हैं, उनमें प्रभुकी आज्ञा अत्यल्प है। जो कुछ है वह तृतीय अध्यायके 'कर्म' से ही अधिक सम्बन्ध रखता है। इसमें उसी विषयपर कुछ अतिरिक्त श्लोक हैं। उनमेंसे एक यह है—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥
(४ । १५)

'उपर्युक्त प्रकारसे मुझको जानकर (अर्थात् न तो मुझे कर्म लिपायमान करते हैं और न मुझे कर्मफलमें स्पृहा है) अतीतमें हुए मुमुक्षुओंद्वारा कर्म किये गये हैं। इसलिये (भगवान् भक्तसे कहते हैं) तुम भी उपर्युक्त प्रकारसे मेरे स्वरूप-ज्ञानयुक्त होकर पूर्वजोंके द्वारा प्राचीन पद्धतिके अनुसार किये हुए कर्मोंको ही करो ।'

ज्ञानके विषयमें भगवान्का आदेश है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४ । ३४)

इस श्लोकमें प्रभुकी आज्ञा है, उसे ध्यानसे समझना चाहिये। क्योंकि इसमें ज्ञानसम्बन्धी जो अनेक तत्त्व एकत्रित हैं। सर्वप्रकार कर्मका फलस्वरूप जो ज्ञान है, उसको जाननेके लिये आचार्यके पास जाना चाहिये। वह आचार्य तत्त्वज्ञानी और तत्त्वदर्शी हो। केवल अध्ययनसे जिनको अध्यात्मतत्त्वका ज्ञान हुआ है, वे तत्त्वज्ञानी हैं और जिन्होंने उन अध्यात्मतत्त्वोंका प्रत्यक्ष अनुभव किया है, वे तत्त्वदर्शी हैं। जो तत्त्वदर्शी नहीं हैं, केवल तत्त्वज्ञानी हैं, वे ज्ञानोपदेशमें समर्थ नहीं हो सकते। जो तत्त्वदर्शी हैं उन्हींके निकट ज्ञानार्जनके निमित्त जाना चाहिये। ऐसे आचार्यके पास जाकर शिष्य सभक्ति नमस्कार करे, श्रद्धापूर्वक विनयसे विषय-विषयपर प्रश्न करे और उनकी निष्कपट सेवा करे। तब आचार्य प्रसन्न होकर जो ज्ञान प्रदान करते हैं, उसका विषय होता है परमात्मतत्त्व और वही यथार्थ ज्ञान है।

इस अध्यायके शेष श्लोकमें भगवान्का आदेश है—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
(४ । ४२)

पहले एक श्लोक (४०) में मधुसूदन कह आये हैं कि जो मनुष्य मनमें किसी प्रकारका संशय या सन्देह पोषण करता है, उसके लिये न तो यह लोक है, न परलोक। इस श्लोकमें प्रभुकी आज्ञा है कि हृदयस्थित सब अनर्थोंका मूल जो संशय है, उसको आत्मस्वरूप ज्ञानास्त्रके द्वारा विनष्ट कर डालना चाहिये।

* * *

मैं सदैव उठ खड़ा हुआ हूँ

मैंने की भूलें अनेक, आदर्श भ्रष्ट पर मैं न हुआ हूँ।
अँधियारेमें गिर-गिरकर भी मैं सदैव उठ खड़ा हुआ हूँ ॥

—बालकृष्ण बलदुआ

चित्तका श्रम

(लेखक— स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

किसी भी कर्मके करनेमें हमें श्रम होता है और उस श्रमको मिटानेके लिये हम आराम चाहते हैं। जैसे रोग पैदा हो, ऐसा काम करके फिर रोग-निवारणका उपाय ढूँढ़ना भूल है; वैसे ही श्रम हो ऐसा कर्म करके फिर श्रमनिवारणके लिये आराम खोजना भी भूल है। कर्म दो प्रकारके होते हैं—१–सहजसाध्य और २–कष्टसाध्य। अधिकांशमें जो कर्म अत्यन्त कष्टसाध्य होते हैं, उन्हींको शास्त्रने पाप बतलाया है। शरीरसे, मनसे और वाणीसे जो कर्म सहज ही बनते हों, उनसे श्रम नहीं पहुँचता और मन प्रफुल्लित रहता है। ऐसे कर्मोंसे थकावट तो होती ही नहीं। जो कर्म कष्टसाध्य होते हैं, उनसे शरीर, मन और इन्द्रियाँ थक जाती हैं और उस थकावटको दूर करनेके लिये आरामकी इच्छा होती है। अच्छे-से-अच्छा रास्ता तो यही है कि जिसमें श्रम होता हो ऐसा काम ही न करे। शरीरकी, समस्त इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिका आखिरी धक्का चित्तको लगता है। चित्त ही शरीरसे कर्म करवाता है और चित्त ही कर्मका परिणाम भोगता है। जहाँतक चित्तको श्रम नहीं पहुँचता, वहाँतक शान्ति और आनन्द रहता है। जिसमें चित्तको बहुत विचारना पड़ता है, चिन्तायुक्त होना पड़ता है, उससे चित्तको श्रम होता है। शरीरका श्रम आरामसे तथा भोजनसे मिट जाता है; पर चित्तकी थकावट उससे नहीं मिटती।

जो सत्य नहीं है, वह बोलना और जो अपने हकका नहीं है उसे लेना—इन दोसे ही चित्तको श्रम होता है। 'सच बोलना और हकका लेना'—इन दो व्रतोंका यदि पालन होने लगे तो फिर जगत्‌मेंसे बुरी प्रवृत्तियोंकी जड़ ही कट जाय। जगत्‌का चाहे जो हो, पर जो मनुष्य इन दो नियमोंका पालन करेगा, उसको तो दूसरा आराम खोजनेकी जरूरत पड़ेगी ही नहीं। सर्वत्र सत्य और अपने हकका पालन होनेपर कोर्ट, वकील, पुलिस, फौज, बारूद, गोले, लड़ाईके विमान, तोप, मशीनगन, अणुबम तथा अन्यान्य दुनियाका नाश करनेवाले सभी साधन व्यर्थ हो जायँगे। ये सब 'असत्य' और 'बे-हक,के कारण ही चलते हैं।

चोरी, व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार, जुल्म, अन्याय, छल, कपट और ऐसे ही अन्य सब प्रकारके पाप—केवल हकसे अधिक या हकसे विरुद्ध लेनेकी इच्छासे ही पैदा होते हैं।

झूठ बोलनेके तथा बे-हकका लेनेके श्रमको—मोटर-विमानकी मुसाफिरी, शराब आदिका व्यसन, जुआड़खाना, पार्टी, नाचरंग, सिनेमा, नाटक, मौज-शौक, ऐश-आराम, दान-पुण्य, यज्ञ-याग और जप-तप आदि—कोई भी नहीं मिटा सकता। हम झूठ बोलते हैं, हमारा चित्त उसके लिये रास्ता ढूँढ़ता है और उस विषयका प्रसङ्ग आते ही चिन्ता, भय और दुःखमें डूब जाता है।

झूठ और बे-हकीका प्रत्येक कार्य चित्तके भीतर सूक्ष्म काँटे डालता जाता है, जो चित्तमें चुभते ही रहते हैं। जिस समय चित्त मोहसे मूढ़ हो जाता है, उस समय वह इस डंकको नहीं जानता, परन्तु अंदर तो वे चुभते ही रहते हैं।

झूठसे और दूसरेका हक लेकर जो दान-पुण्य किया जाता है, वह सब धोखा ही है। जैसे तेलमें चाहे जितना जल मिलाया जाय, वह सर्वथा जलमय नहीं हो सकता, वैसे ही असत्य और बे-हकीरूपी पाप करते हुए कितना ही पुण्य किया जाय, वे पाप गलकर पुण्यमें नहीं मिल सकेंगे। पुण्यशाली शरीर मिलनेपर भी उसमें जो दुःख देखे जाते हैं, वे इसीलिये हैं। सत्य और हक—इन दोका त्याग कर देनेपर अनेकों कुकर्म करनेकी बुद्धि आ जाती है।

सत्य और हकमें भी हक प्रधान है। मनुष्य असत्य बोलता है—बे-हकका लेनेके लिये ही। इसलिये हमें एक ही बातकी सावधानी रखनी है कि 'क्या हक है और क्या बे-हक है।' जगत्‌को आज तपस्वी, जापक, दानी, वक्ता, लेखक, पण्डित, शोधक, कलाकार, शिल्पी, नाट्यकार और अपनी शक्तिसे जगत्‌को रंजन करनेवालोंकी उतनी जरूरत नहीं है। जगत् इन बे-हकी लोगोंसे बेतरह डर गया है। जगत्‌को आज जरूरत है—हककी रोटी खानेवालोंकी। आज जगत्‌के मनुष्योंमें परस्पर विश्वास उठ गया है; सब एक दूसरेसे डरते हैं, एक दूसरेको मारकर उनकी सम्पत्ति हड़पनेके उपायमें लगे हैं। आज जगत्‌की समस्त शक्तियाँ दूसरेकी आबादीको कैसे नष्ट करें, दूसरेका सर्वस्व किस प्रकार हरण करें और अपना सब कुछ कैसे आबाद रक्खें, इसीमें लगी हैं। इससे

किसीको भी सुख या आराम नहीं है। बगीचोंमें सैर करते रहें, होटलोंमें विहार करते रहें, खेल-कूद करनेमें लगे रहें—मनको रिझानेके लिये कैसा भी प्रयत्न क्यों न करें, यह मन-देवता प्रसन्न होता ही नहीं है! हो कैसे? इसको बे-हकरूपी भूत जो लगा है। जबतक यह भूत नहीं भाग जाता, तबतक सुख नहीं मिल सकता।

'मुझे किसीका लेना नहीं है' यह सज्जनता है। 'मुझे किसीका लेना नहीं है और मेरा कोई ले तो उसे देना है' यह साधुता है।

बे-हकका सूत्र बड़ा गहन है। हकका सिद्धान्त ज्यों-ज्यों आचरणमें उतरता जाता है, त्यों-ही-त्यों आशामात्रका नाश होता जाता है और इस आशाका पूर्ण त्याग ही मुक्ति है, उसीका नाम परमानन्द है।

सच बोल और शान्ति रख।
हक़का खा और ईश्वर भज॥

ये दो पंक्तियाँ किसी सच्चे हृदयसे ही निकली हुई हैं।

बे-हकके आचरणकी इच्छाके पीछे जन्म-जन्मान्तरके दुःख हैं। बे-हक न लेनेका व्रत जगत्का अमृत है।

दिल्लीके सिंहासनपर बैठे हुए एक सम्राट् अपनी आजीविकाके लिये टोपी बनाकर बेचा करते थे। एक दूसरे बादशाह पुस्तकें लिखकर अपनी आजीविका चलाते थे। हकका खानेवालेका चित्त शुद्ध होता है और शुद्ध चित्तमें प्रभु निवास करते हैं।

हकका खानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यसे कोई दुखी नहीं होता, प्राणिमात्र उसके मित्र होते हैं। हकसे अधिक कुछ भी न लेनेका व्रत ही सर्वोत्तम व्रत है। यज्ञ, तप, दान, पुण्य, जप और दूसरे व्रत इस व्रतके सामने फीके पड़ जाते हैं।

जहाँ हमारी दृष्टि जाय वहीं पूछकर देखना चाहिये कि 'यह हमारा हक है?'। हम परायी स्त्रीपर दृष्टि डालेंगे तो आत्मा कहेगी यह बेहक है। दूसरेकी चीजपर दृष्टि ही नहीं पड़नी चाहिये। दूसरेकी वस्तु कभी ले ही नहीं, क्योंकि वह बेहक है।

आजकल दुनियामें बनावटी चीजें बहुत चलती हैं। मिलावट बहुत की जाती है। चोरियाँ होती हैं—ये सब पाप बे-हकका खानेकी वासनाके कारण ही होते हैं।

हम चाहे जितना भोजन करें, पर शरीरकी घसाईको मिटानेके लिये जितना आवश्यक होगा, उतना ही शरीरमें रहेगा। शेष सब विष्ठाके रूपमें निकल जायगा। उसी प्रकार मनुष्य चाहे जितना ले, पर जितना हकका लेता है, उतना ही उसको सुख देता है। बाकी सारा दुःख देकर चला जाता है।

जब-जब हमारा चित्त चिन्ता और दुःखसे घिरा हुआ हो, तब-तब हमें समझना चाहिये कि बेहकका कुछ भीतर चला गया है। बे-हकका जबतक भीतर रहेगा, तबतक वह सुख नहीं होने देगा।

जैसे घरमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिपर घरका मालिक ध्यान रखता है कि वह कौन है; मित्र है या शत्रु है, सज्जन है या चोर है; वैसे ही साधकको प्रत्येक कर्म करते समय हक-बेहकका विचार करके ही कर्म करना चाहिये।

साग खरीदकर सागवालेसे एक मिर्च माँगकर लेते हैं—यह बेहक है। झुकता पलड़ा चाहते हैं—यह बेहक है। व्यापारी हैं तो कम न दें, एकके बदले दूसरा माल न दें, अनजान विश्वासी हो या होशियार हो—किसीसे भी हकसे अधिक मुनाफा कभी न लें, मालमें मिलावट न करें, बढ़िया मालके दाम लेकर घटिया माल न दें, नौकर अपने मालिककी चीज अपने काममें न लें, स्त्री पतिसे और पति स्त्रीसे भोग या सेवाकी इच्छा न रक्खे, पिता पुत्रसे धन या सेवाकी इच्छा न करे। पुत्र पिताकी सेवा करे—यह उसकी महत्ता है, धर्म है। हकका मन्त्र बहुत सूक्ष्म है।

एक बादशाहसे किसीने कहा कि 'आप किसी दिन शुद्ध हककी रोटी खायँ।' उस नगरमें एक स्त्री चरखा कातकर अपनी आजीविका चलाती थी। वह हकका खानेवालीके नामसे प्रसिद्ध थी। बादशाह वेष बदलकर उसके यहाँ रोटी माँगने गये। उसने एक रोटी दी। बादशाहने उससे पूछा 'यह रोटी हककी है या बे-हककी?' वह स्त्री विचारमें पड़ गयी। कुछ सोचकर उसने कहा—'आधी रोटी हककी है और आधी बेहककी है। एक दिन नगरसेठके लड़केकी बारात जा रही थी, उसमें मशालें जल रही थीं। मैंने उन मशालोंके प्रकाशमें एक पूनी सूत काता था, वह बे-हकका था, इसलिये आधी रोटी ही हककी है।' हक-बेहकका प्रश्न इतना सूक्ष्म है। नौकर नौकरी करनेमें दिलकी चोरी कभी न करे। व्यापारी हकसे अधिक मुनाफा न ले। जैसे नौकर मालिकका सेवक है, वैसे ही व्यापारी ग्राहकका सेवक है। व्यापारीको इसी नीतिसे

अनुसार मर्यादाका पालन करते हुए ग्राहकके साथ बर्ताव करना चाहिये । राजा भी प्रजाका सेवक है, उसे भी बेहकके कर नहीं लगाने चाहिये और मर्यादासे प्रजाके साथ बर्ताव करना चाहिये । सबको स्वकर्म करते तथा दूसरोंकी सेवा करते हुए, उसमेंसे अपने सच्चे हकका जो कुछ मिले, उतना ही लेना चाहिये । इसीका नाम यज्ञामृत है—यही यज्ञशेष है । अपने साधनोंको तथा शक्तिको, चाहे जिस कार्यको करते हुए, दूसरेकी सेवामें लगाना 'यज्ञ' है और इस यज्ञके करनेपर हमें जो सच्चा हक मिले, उसे लेना यज्ञशेष है—अमृत है । इस प्रकारके अमृतका पान करनेवाला मनुष्य जीता हुआ भी अमर है और शरीर छूट जानेपर भी अमर है ।

बे-हकमें ही चित्तका श्रम है और हकमें ही चित्तको सदा आराम है । चित्तके अखण्ड आराम, चित्तकी अखण्ड शान्तिका नाम ही मुक्ति है ।

मुक्ति चाहनेवालोंको इस एक ही कसौटीपर सारे कर्मोंका निर्णय करना है—'यह हक है या बेहक है ।' इस प्रकार अभ्यास करनेवालेको उसकी अन्तरात्मा जैसा सच्चा निर्णय देती है, वैसा किसीको नहीं दे सकती ।

जिससे चित्तमें चिन्ता, भय, उद्वेग, दुःख, क्लेश और विकलता उत्पन्न हों, उसे 'बेहक' समझना चाहिये । जिससे चित्तमें निर्भयता, शान्ति, आनन्द, प्रफुल्लता और तीनों कालोंमें सुख प्राप्त होता रहे, उसको 'हक' समझना चाहिये ।

परमात्मा सबको हकका खानेकी बुद्धि प्रदान करें ।

* * *

विशिष्टाद्वैत वेदान्तके कुछ सिद्धान्त

(लेखक—श्रीजयनारायणजी मल्लिक एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

१–चित्, अचित् और ईश्वर—ये तीन मूल तत्त्व हैं ।

२–'चित्' जीवको कहते हैं । 'अचित्' प्रकृतिका नाम है ।

३–ये तीनों तत्त्व सत्य और नित्य हैं ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार सभी पदार्थोंमें परब्रह्मकी सत्ता वर्तमान है । वह परब्रह्म चित् और अचित् दोनोंसे विशिष्ट हैं ।

४–सर्वजगत्के जन्म-स्थिति-संहार आदिका कारण परब्रह्म है ।

५–ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण और निमित्त कारण है । सभी कार्योंके दो कारण होते हैं—(१) उपादान कारण और (२) निमित्त कारण । मिट्टीके घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार ।

६–जीव, प्राकृत पञ्चभूतादिरूपी पदार्थ और ब्रह्म—इन तीनों पदार्थोंके समुदायको ही जगत् कहते हैं । प्रकृति और पुरुष, जड एवं चेतनसे बना संसार परमात्माका शरीरमात्र है । पर यह प्राकृतिक संसार—यह अनन्त असंख्य ब्रह्माण्डोंका माया-मण्डल ब्रह्मके केवल एक चरणमें स्थित है । परब्रह्मकी त्रिपाद्विभूति तो दिव्य-धाम ही है ।

७–परब्रह्ममें कोई भी दुष्ट गुण (हेय गुण) नहीं हैं और वह सर्व कल्याण (शुभ) गुणोंसे परिपूर्ण है ।

८–परब्रह्म ज्ञानानन्दस्वरूप है । वह ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज आदि अनन्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त है । वह सर्वज्ञ है, सर्व-शक्ति है और सर्वव्यापी है ।

९–जीव ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, ज्ञान-गुणवान् हैं, अनन्त हैं । उनका परिमाण 'अणु' है ।

१०–जीव अनादि अविद्या (अज्ञान) करके सञ्चित, जो पुण्य-पापरूप कर्म हैं, उन कर्मोंके कारण प्रकृति-सम्बन्ध (शरीरादि सम्बन्ध)–रूप संसारको प्राप्त होते हैं । उनका स्वाभाविक स्वरूप छिप (आच्छादित हो) जाता है ।

जीव अनादि अविद्यासे ढका हुआ है, जिससे उसका कर्म-संस्कार नष्ट नहीं होता और बिना कर्म-संस्कार नष्ट हुए उसका वास्तविक रूप प्रकट नहीं होता ।

११–प्रकृति सत्त्व-रजस्तमोगुणमयी त्रिगुणात्मिका है । वह सर्वदा परिणामको पहुँचती हुई रहती है । नाना विकारोंको वह उत्पन्न करती है । मूल प्रकृति एक और नित्य है ।

१२–असत् (अविद्यमान) पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती । एक प्रकारकी अवस्थासे युक्त एक पदार्थका अन्य प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त होना ही उत्पत्ति कही जाती है । उसको छोड़कर अवस्थान्तरको प्राप्त होना उसका नाश है ।

मृत्तिकारूप एक वस्तु प्रथम पिण्डत्वावस्थायुक्त रहती है। उस समयमें वह पिण्ड कही जाती है। वही विद्यमान मृत्तिका भारी उदरवाला आदिसे युक्त घटत्वावस्थाको प्राप्त होती है, तब वही मृत्तिका घड़ा कही जाती है। वही मृत्तिका पुनः उस घड़ेके फूट जानेपर घटत्वावस्थाका त्याग कर चूर्णत्वावस्थाको प्राप्त होती है। यहाँ एक ही मृत्तिका नाना अवस्थाओंको प्राप्त होती दिखायी देती है। घड़ेकी उत्पत्ति मृत्तिकामें अवस्थान्तरकी प्राप्ति है, अर्थात् वही अवस्था उसकी उत्पत्ति है। उस घड़ेका नाश चूर्णत्वावस्थाको प्राप्त होना, अर्थात् चूर्णावस्था ही है, ऐसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिये।

१३–सृष्टिके पूर्व प्रलयदशामें चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) दोनों ही सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त रहती हैं। जैसा कि सृष्टि होनेपर प्रकृतिके पृथ्वी, जल आदि नाना नाम और रूप होते हैं, वैसे प्रलयदशामें नहीं रहते। जीवोंकी स्थिति भी ऐसी ही समझना चाहिये। वही सूक्ष्मावस्था कारणावस्था कही जाती है। सृष्टिसमयमें इन दोनोंको स्थूल अवस्थाकी प्राप्ति होती है और नाना प्रकारके नाम होते हैं। इस प्रकार स्थूल अवस्थाको कार्यावस्था भी कहते हैं। कार्यावस्थामें स्थूलरूपके कारण चित् और अचित्का भेद प्रकट रहता है। पर प्रलयकी दशामें यह भेद इतना सूक्ष्म रहता है कि परमात्माके अतिरिक्त अन्य पदार्थकी सत्ता मालूम नहीं पड़ती।

१४–परिणामशीला प्रकृतिका सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाको प्राप्त होना मृत्तिकाका पिण्डत्वावस्था और घटत्वावस्थाको प्राप्त होनेके तुल्य है। सूक्ष्मावस्थायुक्त प्रकृति स्थूलरूपमें परिणत होती है। जीव स्वरूप-परिणाम-रहित है। अतएव उसकी स्थूलावस्था और सूक्ष्मावस्था परिणामके कारण नहीं होती। किंतु प्रलयदशामें जीव शरीरादि-शून्य होनेके कारण उसका ज्ञान संकुचित रहता है। सृष्टिकालमें स्थूल शरीर प्राप्त होनेके कारण ज्ञानका विकास होता है। बस, यही ज्ञानका सङ्कोच और विकास जीवके सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाके कारण हैं। अर्थात् संकुचित ज्ञानवान् होना सूक्ष्मावस्था और विकसित ज्ञानवान् होना स्थूलावस्था है। इन्हीं दो अवस्थाओंके कारण जीवोंमें उत्पत्ति और विनाशका व्यवहार होता है। जीव स्वरूपतः नित्य निर्विकार है।

जीव-स्वरूप तीन शरीरों और पाँच कोशोंसे ढका रहता है—कारण-शरीर, सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर और स्थूल-शरीर तथा अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, आनन्दमयकोश। मृत्यु होनेपर केवल स्थूल शरीर और अन्नमयकोश नष्ट होता है। प्रलयकी दशामें केवल कारणशरीर और आनन्दमय कोश रहता है।

१५–चिदचिदात्मक समस्त प्रपञ्च परब्रह्मके शरीरभूत हैं। जैसा कि पाञ्चभौतिक हस्त-पदादियुक्त पिण्ड जीवका शरीर है, वैसे ही चेतन और अचेतन परब्रह्मके शरीर हैं। शरीरके भीतर जीवकी सत्तासे जैसे शरीरका धारण होता है, वैसे ही चेतन और अचेतन पदार्थोंमें परमात्माकी सत्तासे उनका धारण होता है। परब्रह्म सब पदार्थोंमें अन्तर्गत रहकर उनका नियमन, धारण आदि करता है। सृष्टि तथा प्रलय, दोनों अवस्थाओंमें चित् और अचित् परमात्माका शरीर है और परब्रह्म सदैव अन्तर्यामीरूपसे इसमें वर्तमान रहते हैं। जीवोंके कर्मानुसार उनका नियमन करते हैं। सम्पूर्ण संसार जड और चेतनसे विशिष्ट ब्रह्म ही है। परमात्मा विश्वरूप हैं।

१६–उत्पत्ति और नाश अवस्थाविशेषको प्राप्त होना ही है। परब्रह्ममें भी सृष्टि और प्रलय दशाओंमें भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। प्रलय दशामें परब्रह्म सूक्ष्म अवस्थासे युक्त प्रकृति और जीवोंमें अन्तर्यामी रहता है, सृष्टि दशामें स्थूल अवस्थासे युक्त प्रकृति और जीवोंमें अन्तर्यामी रहता है। सूक्ष्मावस्थायुक्त जीव और प्रकृति (चित्-अचित्)के आत्मा होना एक अवस्था है और स्थूलावस्थायुक्त जीव और प्रकृतिके आत्मा होना एक अन्य अवस्था है। इनमें पहली कारणावस्था और दूसरी कार्यावस्था है। जैसा कि एक ही मृत्तिका पिण्डावस्थासे युक्त रहती हुई कारण और घटत्वावस्थासे युक्त होकर कार्य कहलाती है। वैसे ही परब्रह्म भी ऊपर कही हुई अवस्थासे युक्त रहनेपर कारण और दूसरी अवस्थासे युक्त होकर कार्य होता है। अतएव ब्रह्म ही जगत्का कारण है और ब्रह्म ही जगत् है।

आत्मा और ब्रह्म निर्विकार हैं। विकार केवल जड जगत्में होता है। प्रत्येक क्षण प्रकृति बदलती रहती है। पिछली अवस्था पहली अवस्थाका परिणाममात्र है। अविद्यासे ढके रहनेके कारण प्रारब्ध या कर्म-संस्कारके अनुसार जीवात्माके कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंमें परिवर्तन होता रहता है।

१७–स्थूल अवस्थासे युक्त चित् (जीव) और अचित् (जड पदार्थ-प्रकृति) ये दोनों परब्रह्मके शरीर हैं। इस प्रकार शरीर होनेसे ये परब्रह्मके विशेषण हैं, अर्थात् यहाँपर

इन दोनों पदार्थोंका परब्रह्मके प्रति शरीर होना ही विशेषणत्व है। इन दोनों पदार्थोंका परब्रह्म आत्मा है। अतएव इन दोनों विशेषणों (जीव और प्रकृति) से वह युक्त है, इस प्रकार विशेषणोंसे युक्त होना 'विशिष्टता' भी कही जाती है। इस कारणसे परब्रह्मको 'चिदचिद्विशिष्ट' कहा जाता है। इसका तात्पर्य चित् और अचित्से युक्त होकर रहना ही है, अर्थात् चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) के साथ अन्तरात्मा होकर सम्बद्ध रहना ही परब्रह्ममें चिदचिद्वैशिष्ट्य है। चित् और अचित्की दो अवस्थाएँ अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल-का वर्णन ऊपर हो चुका है। इन दोनों अवस्थाओंमें वे दोनों पदार्थ परब्रह्मके शरीर हैं। अतएव परब्रह्म सृष्टि-दशामें स्थूलावस्थायुक्त चिदचिद्विशिष्ट और प्रलय-दशामें सूक्ष्मावस्था-युक्त चिदचिद्विशिष्ट है। परब्रह्म एक हैं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि स्थूलावस्थायुक्त चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म और सूक्ष्मावस्था-युक्त चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म, दोनोंमें अद्वैत-अभेद है। यही 'विशिष्टाद्वैत' शब्दका अर्थ है।

१८–देव, मनुष्य आदि नाना शरीरोंमें रहनेपर भी जैसे जीवोंपर शरीरगत दोषोंका सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही चिदचिदात्मक (जीव और प्रकृति) समस्त प्रपञ्चोंमें परब्रह्म अन्तर्यामी रूपसे रहनेपर भी उनके (जीव और जड) दोषोंसे परब्रह्मका सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् परब्रह्ममें उनके दुर्गुणों और विकारोंका असर नहीं पहुँचता।

१९–जीवोंका अनादि अविद्यासे सञ्चित कर्मके सम्बन्धसे स्वाभाविक स्वरूप तिरोहित और आच्छादित है। कर्म-सम्बन्धसे छुटकारा पानेपर स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भाव होता है। ऐसा होना प्रकृति-मण्डलसे बाहर जानेपर है। प्रकृति-मण्डलसे पार जाकर अप्राकृत परम पदमें पहुँचनेसे ही स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भाव होगा। तभी परब्रह्मका अनुभव होता है। इस प्रकार प्रकृति-मण्डलके पार जाकर, अप्राकृत लोकमें पहुँचकर स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भाव होना और परब्रह्मका अनुभव प्राप्त करना ही 'मोक्ष' है।

२०–मोक्षकी प्राप्तिका उपाय भक्ति है। भक्तिके दो रूप हैं—'उपासना' और 'कैङ्कर्य'। तेलकी धाराके समान अविच्छिन्न परब्रह्मका ध्यान किया जाय और वह ध्यान अनवरत भावनाके कारण प्रत्यक्षके समान हो जाय तथा परब्रह्ममें अत्यन्त प्रीति होनेके कारण भगवान् प्रियतमके समान हो जायँ, तो वह 'उपासना' कही जाती है। भगवान्, भागवत और आचार्यकी सेवा करना कैङ्कर्य है। भागवतोंके कैङ्कर्यका बड़ा महत्त्व है। भागवत भगवान्की सजीव मूर्त्तियाँ हैं। भगवान्का कैङ्कर्य प्रेमसे और लगनके साथ करना चाहिये—भार समझकर नहीं। भगवान्का सर्वश्रेष्ठ रूप मायातीत परब्रह्म परमात्मा वैकुण्ठपति श्रीमन्नारायण भगवान् हैं। भगवान् किसी भी अवस्थामें श्रीदेवीका त्याग नहीं करते। वह परब्रह्म हमारी इन्द्रियोंके परे हैं; अतः उनका कैङ्कर्य इन्द्रियोंसे और शरीरसे नहीं हो सकता। सदैव परमात्माका चिन्तन, स्मरण, उनके रूप और गुणोंका अनुसन्धान अपने मन-मन्दिरसे वासनाकी गन्दगीको दूरकर उसमें जगन्माता श्रीदेवीके साथ भगवान्की मूर्त्ति स्थापित करना ही उसका कैङ्कर्य है। शरीरसे संसारके सभी कर्म करते हुए मनमें भगवान्का चिन्तन और ध्यान करते रहना, भगवान्के चरणोंमें अपने आपको सौंप देना, कर्तव्य-बुद्धिसे भगवान्के अनुकूल संकल्प और कर्म करना तथा भगवान्के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करना, ये परब्रह्मके कैङ्कर्य हैं। भगवान्का अन्तर्यामीरूप सर्वत्र सभी प्राणियोंमें वर्तमान है। ये असंख्य अनन्त ब्रह्माण्ड भगवान्के एक चरणमें स्थित हैं, अतः भगवान् विराट्रूप और विश्वरूप हैं। इससे विश्वकी सेवा, दीन-दुखियोंका उपकार, मानव-मात्रका कल्याण, प्राणी-मात्रकी मङ्गल-कामना अन्तर्यामी भगवान्का कैङ्कर्य है। प्रत्येक नर-नारीका शरीर परमात्माका मन्दिर है, अतः किसीके साथ ईर्ष्या-द्वेष, किसीकी निन्दा, किसीकी बुराई सोचना, किसीके जीवनको अपने स्वार्थ और सुख-भोगके लिये पीड़ित और कलुषित बनाना, एकान्त स्थलोंमें छिपकर पाप करना—ये सभी कार्य अन्तर्यामी भगवान्की अवहेलना मात्र हैं। पीडितों-की पीड़ा दूर करना, दूसरोंके जीवनको सुखी, समुन्नत और पवित्र बनाना, मार्गभ्रष्टोंको पथ-प्रदर्शन—ये अन्तर्यामी भगवान्के कैङ्कर्य हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तियोगके सहायक हैं। शरणागति और आत्म-समर्पण भक्तियोगके पूरक हैं। अपनी शक्ति, समय और धनका अपव्यय एवं दुरुपयोग भक्ति-मार्गका बाधक है। प्रतिदिन फलकी कामना और कर्तृत्वाभिमानका त्याग कर वर्णाश्रमोचित नित्य नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे भक्तिकी सिद्धि होती है। उस भक्तिसे परब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति होती है।

२१–समस्त पदार्थोंके दो भेद हैं—द्रव्य तथा अद्रव्य। द्रव्यके दो भेद हैं—जड तथा अजड। जड वह है जो स्वयं प्रकाशित न होकर दूसरेसे प्रकाशित होता है। अजड स्वयं प्रकाशित है। जडके दो भेद हैं—प्रकृति तथा काल। कालके तीन भेद हैं—भूत, भविष्य, वर्तमान। प्रकृतिके चौबीस भेद हैं—अव्यक्त, महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व), अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ और पाँच स्थूल भूत। अजडके दो भेद हैं—प्रत्यक् और पराक्। पराक् दो प्रकारका है—ज्ञान और नित्य विभूति। प्रत्यक्के दो भेद हैं—जीव और ईश्वर।

प्रभुसे !

हो परम बन्धु तुम पतितोंके तुम दीनोंके रखवाले हो ।
जिसका अपना कोई न रहा तुम उसके निज घरवाले हो ॥

जो होकर सब जगसे निराश जो सबसे दुत्कारा जाकर ।
आता जो शरण तुम्हारी है जो कहीं नहीं आश्रय पाकर ॥

तुम उसको, पाप-ताप हरकर हर्षित हो गले लगा लेते ।
तुम उसको अभय दान देकर अति पावन कर अपना लेते ॥

तुम सबके सुहृद अहैतुक हो तुम सबके अन्तर्यामी हो ।
तुम सबके नित्य आत्मा हो तुम सबके सच्चे स्वामी हो ॥

जो तुमपर है निर्भर करता जो तुमपर न्योछावर होता ।
वह छूट सभी जंजालोंसे है सुखकी नींद सदा सोता ॥

हम दीन तुम्हारे द्वार खड़े हम पतित तुम्हारे पाँव पड़े ।
हम घृणित तुम्हारे साथ लड़े हम पापी अपनी आन अड़े ॥

हम कहाँ जायँ ? है कौन यहाँ ? जो हमको अपना आश्रय दे ।
है कौन ? कलमुँहों हमको रख कलंकका टीका सिरपर ले ? ॥

ऐसे तो एक तुम्हीं दीखे जो सबसे हृदय मिलाते हो ।
बीती बातोंको याद न कर जो सबको गोद खिलाते हो ॥

करके विश्वास विरदपर जो आज्ञा करके आ जाता है ।
वह चाहे महापातकी हो वह गोद तुम्हारी पाता है ॥

तुम नहीं उसे लौटाते हो फिर दुःखालय भवसागरमें ।
वह शान्ति सनातन पाता है मिल करके तुम नटनागरसे ॥

हम भी करके विश्वास इसी आशापर चरण-शरण आये ।
हम निश्चय तुमको पायेंगे चाहे जो कुछ भी हो जाये ॥

‘अकिञ्चन’

दुःखनाशके अमोघ उपाय

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और वह भी अखण्ड, पूर्ण और नित्य सुख चाहते हैं । परंतु मोहवश उसकी खोज करते हैं संसारके पदार्थोंमें, जो स्वयं अपूर्ण, खण्ड और अनित्य हैं । भगवान्ने उनको सुखरहित और अनित्य अथवा दुःखालय और अशाश्वत बतलाया है । सो सत्य ही है । जो वस्तु अपूर्ण, खण्ड और अनित्य होती है, वह कभी सुख नहीं दे सकती । फिर जगत्में जो हम सुख देखते हैं, वह क्या है ? वह है भ्रान्ति । असलमें तो 'विषयोंमें सुख है,' ऐसी कल्पना ही भ्रम है । भगवान्ने भोगोंको दुःखयोनि बतलाया है । भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

'अर्जुन ! ये जो इन्द्रियोंके स्पर्शसे उत्पन्न भोग हैं, सब दुःखकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि-अन्तवाले हैं । बुद्धिमान् पुरुष उन भोगोंमें कभी प्रीति नहीं करता ।'

वस्तुतः जगत्के सुख-दुःख सब केवल अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर ही हैं । जहाँ अनुकूलताका बोध है, वहाँ सुख है और जहाँ प्रतिकूलताका बोध है, वहीं दुःख है । किसी स्थिति, घटना या वस्तुमें सुख-दुःख नहीं हैं । एक आदमीकी मृत्यु होती है । उसमें जिनका ममत्व है, वे प्रतिकूलताका अनुभव करके रोते हैं और जिनकी शत्रुता है, वे अनुकूलताके बोधसे हँसते हैं और आनन्द मनाते हैं । नारदजीके पूर्वजन्ममें जब वे दासीपुत्र थे और बहुत छोटी उम्रके—केवल पाँच वर्षके—थे, तब उनकी आश्रयभूता एकमात्र माताको साँपने डस लिया । माता मर गयी, इसपर नारदजीको दुःख नहीं हुआ । उन्होंने सोचा कि 'माता मेरे भजनमें एक प्रतिबन्धक थी । भगवान्ने बड़ा अनुग्रह किया जो माताका देहान्त हो गया ।' वे माताके इकलौते पुत्र थे । परन्तु अनुकूलताकी भावनासे वे दुखी नहीं हुए । नरसी भक्तके इकलौते और अत्यन्त प्यारे जवान पुत्रकी मृत्यु हो गयी । नरसीजीने उसमें अनुकूलताका अनुभव किया और दुखी न होकर वे गाने लगे—

'भलुं थयुं भाँगी जँजाळ । सुखे भजीशुँ श्रीगोपाळ ।'

'अच्छा हुआ जंजाल टूट गया, अब सुखसे श्रीगोपालजीका भजन करूँगा ।' लगभग चालीस वर्ष पहलेकी बात है । कलकत्तेके 'अलीपुर बम केस'में जिसमें श्रीअरविन्द तथा उनके भाई श्रीवारीन्द्रकुमार घोष आदि अभियुक्त थे । नरेन्द्र गोस्वामी नामक एक युवक सरकारी गवाह बन गया था । उसको जेलमें ही एक दूसरे अभियुक्त श्रीकन्हाईलाल दत्तने मार डाला । कन्हाईलालको फाँसीकी सजा हुई । पर उसको अपने इस कार्यपर इतना अधिक सन्तोष और आनन्द था कि फाँसीकी सजा सुनायी जाने और फाँसी होनेके बीचके दो-तीन सप्ताहके समयमें ही उसका लगभग अठारह पौंड वजन बढ़ गया । कहाँ तो मौतके नामसे खून सूख जाता है, कहाँ मृत्युकी तिथि निश्चित हो जानेपर भी खून बढ़ गया । गोस्वामीको मारना पाप था या पुण्य, यह पृथक् प्रश्न है । पर कन्हाईलालने अपनी इस मृत्युमें इतनी अधिक विलक्षण अनुकूलताका बोध किया और इतना अधिक सुखका अनुभव किया कि जिसने उसका इतना खून बढ़ा दिया । अतएव किसी घटनामें सुख-दुःख नहीं है । वह तो अनुकूलता और प्रतिकूलताके भावमें ही है ।

एक ध्यानका अभ्यास करनेवाला साधक कोठरी बंद करके बैठता है और कहता है कि 'बाहरसे ताला लगा दिया जाय । तीन घंटे कोई खोले नहीं ।' वह

अंदर बैठकर मनको रोकने और इष्टका ध्यान करनेकी कोशिश करता है। यद्यपि नया साधक होनेसे उसका मन टिकता नहीं, पर वह इसमें सुखका अनुभव करता है। और उसी कोठरीकी बगलके दूसरी कोठरीमें एक आदमीको उसकी इच्छाके विरुद्ध बंद कर दिया जाता है। वह बड़ा दुखी होता है और कहता है कि 'तुरंत मुझे बाहर निकाल दिया जाय।' बंद करनेवालोंको वह दुर्वचन कहता है, शाप देता है। दोनोंकी बाहरी स्थिति बिल्कुल एक-सी है। दोनों ही एक-सी जगह बंद हैं। दोनोंके ही मन चञ्चल हैं। पर एक अनुकूलताका बोध करता है, दूसरा प्रतिकूलताका। इसीके अनुसार वे दोनों सुख-दुःखका भी पृथक्-पृथक् अनुभव करते हैं।

एक आदमी अपने विपुल धनैश्वर्यका स्वेच्छापूर्वक त्याग करके संन्यास ग्रहण करता है और दूसरेका धन छीनकर उसे वैरी लोग घरसे निकाल देते हैं। दोनों समान धनहीन हैं। पर पहला प्रसन्न है, दूसरा दुखी है। इसका कारण वही अनुकूलता-प्रतिकूलताका बोध है। इससे सिद्ध है कि यहाँके सुख-दुःख अनुकूल-प्रतिकूलभावमें ही हैं। एक भूखा आदमी है, बढ़िया-बढ़िया भोजन-पदार्थ बने हैं, वह खानेको लालायित है। खाने बैठता है, बड़ा स्वाद, बड़ा सुख मिलता है। भर पेट खा लिया, खूब अघा गया। अब वही पदार्थ यदि कोई उसे जबर्दस्ती खिलाना चाहता है तो उसे गुस्सा आ जाता है। वह उद्विग्न हो जाता है। पहले अनुकूलभाव था, तब सुख मिला। प्रतिकूल होते ही दुःख हो गया। अतः सुख-दुःख वस्तुमें नहीं हैं।

यह भी निश्चित है कि यहाँकी प्रत्येक अनुकूलता अनेकों प्रकारकी प्रतिकूलताओंको साथ लेकर आती है। एक अभावकी पूर्ति दसों नये अभावोंकी उत्पत्ति करनेवाली होती है। यहाँकी वस्तुमात्र ही—स्थितिमात्र ही अपूर्ण, अनित्य, क्षणभङ्गुर, वियोगशील और किसी अन्य वस्तु या स्थितिसे निम्न स्तरकी है। जहाँ यह परिस्थिति है वहाँ प्रतिकूलता रहेगी ही; और प्रतिकूलता रहेगी तो दुःख भी रहेगा ही। अतः कोई यह चाहे कि मैं जगत्में सारी परिस्थितियोंको सदा अपने अनुकूल बना लूँगा और परम सुखी हो जाऊँगा तो यह सर्वथा असम्भव है। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। विचारके द्वारा प्रत्येक प्रतिकूलताको उपर्युक्त नारदजी और नरसीजीकी भाँति अनुकूलतामें परिणत कर लेना पड़ेगा, तभी सुख होगा। और ऐसा करना मनुष्यके अपने हाथकी बात है। स्वरूपतः बाह्य परिस्थितिको बदल देना तो बहुत ही कठिन है, निश्चित प्रारब्ध होनेपर तो असम्भव-सा ही है; परंतु विचारके द्वारा दुःखको सुखरूपमें परिणत करके सुखी हो जाना सहज है और अपने अधिकारमें है। इसके कई तरीके हैं, जो सभी सत्यके स्वरूप हैं।

१. वेदान्तकी दृष्टिसे जगत् स्वप्नवत् है। मायासे ही यह सत्य भास रहा है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
(१५।३)

'इसका स्वरूप जैसा दीखता है वैसा मिलता नहीं और इसका न आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी तरहसे स्थिति ही है।' सिनेमा देख रहे हैं। नाना प्रकारके दृश्य दिखलायी दे रहे हैं। आवाज सुनायी पड़ रही है। परंतु कोई चाहे कि इन देखी हुई वस्तुओंको पर्देके पास जाकर मैं ले लूँ तो उसे सर्वथा निराश होना पड़ता है। वहाँ सिवा सादे पर्देके और कुछ है ही नहीं। अथवा जैसे स्वप्नकी सृष्टिके पदार्थ और वहाँकी घटनाएँ जागनेपर नहीं मिलतीं, पर जबतक स्वप्न है, तबतक यह पता नहीं लगता कि यह

स्वप्नकी सृष्टि कबसे बनी है और यह कबतक रहेगी। वहाँ तो यह नित्य ही मालूम होती है। पर सचमुच उसकी वहाँ कुछ भी प्रतिष्ठा—स्थिति नहीं है। स्वप्न टूटा कि कुछ नहीं। अतएव जगत्‌के समस्त सुख-दुःख स्वप्नकी सृष्टिके सुख-दुःखोंकी भाँति असत् हैं, जागनेपर जैसे स्वप्नके देखे हुए पदार्थोंकी सत्ता नहीं रहती, वैसे ही इनकी भी सत्ता नहीं है, इसलिये इन घटनाओंको लेकर सुखी-दुखी होना मूर्खता है। एक ही अखण्ड परिपूर्ण परमात्मसत्ता है, वह नित्य सत्य सच्चिदानन्दघन है। उसमें न जन्म है न मृत्यु, न सुख है न दुःख, न लाभ है न हानि। वह सदा सम, एकरस और कूटस्थ है। इस प्रकारके विचारसे दुःखका नाश हो जाता है। संसारकी स्थिति कुछ भी हो इस प्रकारके निश्चयवाले पुरुषको सुख-दुःख कभी नहीं होता। श्रीगीतामें कहा है——

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६। २२)

'जिस लाभको प्राप्त करके उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित होकर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता।'

वह निरतिशय आत्यन्तिक आनन्दका अनुभव करता है। आनन्दरूप ही हो जाता है। फिर उसके लिये दुःख रहता ही नहीं।

ऐसी स्थिति न हो, तबतक विचारपूर्वक ऐसी धारणा करे। इस धारणासे ही दुःखका नाश हो जाता है।

२. जगत्‌में जीवोंके लिये फलरूपसे जो कुछ भी प्राप्त होता है, सब सर्वशक्तिमान् परमसुहृद् भगवान्‌के नियन्त्रणमें और उनके विधानसे होता है। मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलमय है। देखनेमें चाहे कितना ही भयङ्कर हो, पर वास्तवमें वह कल्याणमय ही है। निपुण डाक्टर जहरीले फोड़ेका ऑपरेशन करते हैं। छुरियोंसे अङ्गको काटते हैं। दर्द भी होता है। पर डाक्टर यह क्रूर कार्य करते हैं रोगीके मङ्गलके लिये। तथा रोगी यदि विश्वासी और समझदार है तो वह इस निष्ठुर पीड़ादायक कर्ममें भी डाक्टरकी दया मानकर प्रसन्न होता है और उसका कृतज्ञ होता है। इसी प्रकार हमारे परमसुहृद् मङ्गलमय भगवान् भी कभी-कभी हमारे मङ्गलके लिये ऑपरेशन किया करते हैं। इस बातपर हमें विश्वास हो जाय तो फिर दुःख रहेगा ही नहीं। छोटे बच्चेको मा रगड़-रगड़कर नहलाती है, बच्चा रोता है, पर मा उसके शरीरका मैल उतारकर उसे स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बनाकर नया कपड़े पहनाने और सजानेके लिये ही यह आयोजन करती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमें निर्मल और पवित्र बनानेके लिये पापोंका फल—कष्ट भुगताया करते हैं। इसमें भी उनका वात्सल्य और कारुण्य भरा रहता है। इस दृष्टिसे यदि हम विश्वासपूर्वक विचार करें तो फिर दुःख नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती और हम हर-हालतमें भगवान्‌के मङ्गलविधानका दर्शन करके भगवान्‌के मङ्गलमय करकमलका स्पर्श पाकर आनन्दमुग्ध रह सकते हैं।

३. जगत्‌में वास्तवमें दो ही तत्त्व हैं—भगवान् और भगवान्‌की लीला। 'जो कुछ है, सब भगवान् हैं,' और 'जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌की लीला हो रही है।' एवं लीलामय और लीलामें वैसे ही अभेद है जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिमें। अथवा सूर्य और सूर्यके प्रकाशमें। अतः हमारे साथ जो कुछ हो रहा है, सब हमारे प्रियतम भगवान्‌की लीला ही हो रही है। इस लीलाका संस्पर्श वस्तुतः लीलामय भगवान्‌का ही संस्पर्श है। विश्वासपूर्वक इस

प्रकारका भाव हो जानेपर दु:खका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षण-क्षणमें प्रत्येक सुख-दु:खसंज्ञक भोगोंमें लीलाविहारी भगवान्‌का मङ्गलमय स्पर्श प्राप्त होता रहता है, जिससे नित्य नव-नव आनन्दरसकी धारा बहती रहती है।

ये तीनों ही बातें सिद्धान्ततः सत्य हैं। जगत् स्वप्नवत् है—केवल ब्रह्म ही व्याप्त है। जगत्‌में सब कुछ मङ्गलमय भगवान्‌के मङ्गल विधानसे मङ्गल ही हो रहा है और जगत्‌में भगवान् ही अपने आपसे आप ही खेल रहे हैं। तीनोंका ही तात्त्विक स्वरूप एक ही है। यह वस्तुतः सत्यको सत्यमें देखना है, जो मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इसीका फल भगवत्प्राप्ति या पूर्ण सुखस्वरूप मोक्ष है।

इस प्रकार अशेष दु:खोंसे छूटकर मनुष्य भगवत्कृपासे अपनी इसी आयुमें अखण्ड और पूर्ण सुखकी प्राप्ति कर सकता है। इच्छा, विश्वास और तत्परता होनी चाहिये।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * *

हृदय-बोध

[समर्थ स्वामी श्रीरामदासजीके 'मनाँचे श्लोक'का अनुवाद]

(अनुवादक—डा० पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०)

(गताङ्कसे आगे)

न पर्याप्त है देह या तत्त्वज्ञान
न पर्याप्त है नाद-संगीत-मान।
न मख योग तप त्याग पर्याप्त होगा
पराशान्ति सत्संग ही दे सकेगा ॥१५३॥

महावाक्य या पञ्चतत्वादिमान
बताते हैं सज्जन कि हो आत्म-ज्ञान।
बताये हुए वृक्षमें क्या धरा है
परम लक्ष्य तो दूजका चन्द्रमा है ॥१५४॥

जो जगमें न दिखता उसे शोध देखो
वहीं वह दिखेगा जहाँ बोध देखो।
पकड़ने गये पर नहीं हाथ आया
मगर सब कहीं है वही तो समाया ॥१५५॥

कहे 'मैंने जाना' न वह जान पाया
अतर्की पै चलती कहाँ तर्क-माया?
अहम्मन्य लख कर भी हैं लख न पाते
जो लखते हैं उसको अलग रख न पाते ॥१५६॥

विपुल शास्त्र-विस्तार सीमा नहीं है
नहीं एक निश्चय किसीका कहीं है।
पड़े शास्त्रमें तो है मति भ्रान्त होती
मगर ज्ञान होते ही गति शान्त होती ॥१५७॥

श्रुति न्याय मीमांसका तर्कशास्त्र
स्मृती वेद वेदान्त आदिक विचित्र।
हुए मौन, कर नेति नेतीति गान
अतः चित्त! तू छोड़ ज्ञानाभिमान ॥१५८॥

अहंताकी मक्खीको जिसने है खाया
उसे भोजनोंपर कहाँ चाव आया?
अहंभावको जो न मनसे तजेगा
उसे ज्ञानका अन्न कैसे पचेगा? ॥१५९॥

न तू वाद कर, वह बड़ा खेदकारी
न तू भेदमें जा, कि वह है विकारी।
वृथा रे हृदय! सीख तू दे रहा है
अहंभाव यदि पूर्ण तुझमें भरा है ॥१६०॥

अहंता रही तो सदा दुख-ही-दुख है
अहंतासे सद्ज्ञान होता विमुख है।
अहंता गई तो तुझे सुख-ही-सुख है
स्वयं देख, कैसा अहंताका रुख है ॥१६१॥

विवेकी अहंतामें तजता है नीति
बना श्रेष्ठ जगमें दिखाकर अनीति।
स्व-पाखण्डका किन्तु रहता है ज्ञान
प्रमाणोंको लख, त्याग देहाभिमान ॥१६२॥

स्व-देहात्मधी पर जिसे ध्यान होगा
अतीतात्मका क्या उसे ज्ञान होगा।
जो है देहधी आत्मधी उसको कीजै
सदा संत सत्संगमें चित्त दीजै ॥१६३॥

हृदय! सर्व कल्पित विषय त्याग दो तुम
जो है देव निर्गुण उसे जान लो तुम।
जो कल्पित है वह कल्पना दूर कीजै
सदा संत सत्संगमें चित्त दीजै ॥१६४॥

स्वदेह-प्रपञ्चादि-चिन्ता करोगे
तो लोभी रहोगे, जिओगे, मरोगे।
हरी भजके क्यों मुक्ति-कान्ता न लीजै
सदा संत सत्संगमें चित्त दीजै ॥१६५॥

अहंकार-विस्तारसे देह-दारा
तथा पुत्र मित्रादिमें स्नेह सारा।
अतः भ्रान्त चिन्ता सकल दूर कीजै
सदा संत सत्संगमें चित्त दीजै ॥१६६॥

जो शाश्वत है उसपर ही निश्चय जमाओ
कहे दास, सन्देह अपना हटाओ।
हृदय! हर घड़ी अपनी सार्थक ही कीजै
सदा संत सत्संगमें चित्त दीजै ॥१६७॥

वही संत है संतकी वृत्ति जिसमें
दुराशा भरी दीनता है न जिसमें।
उपाधि स्वदेहात्मधी है बढ़ाती
न सज्जनको वह किन्तु है बाँध पाती ॥१६८॥

अनन्त प्रभू, संतसे जान लीजै
अहंकार-विस्तारको दूर कीजै।
जो निर्गुण है, गुण बिन उसे खूब ध्याओ
न देहात्मधी पर कभी ध्यान लाओ ॥१६९॥

तजो देहकी बुद्धि सद्ज्ञानसे तुम
विवेकी! लो सद्वस्तु सम्मानसे तुम।
चिदाकारता न स्वतः ही उदित है
अतः उसके हित यत्न करना उचित है ॥१७०॥

असल सार जो तत्त्व, वह गुप्त-सा है
दृगोंसे तो, बस, दृश्य ही भासता है।
निराभास निर्गुण गहा है न जाता
अहंताके गुणसे न वह दीख पाता ॥१७१॥

विषयमें स्फुरे कल्पना, वह अविद्या;
स्फुरण ब्रह्ममें हो, सो माया सुविद्या।
उभय रूप यों कल्पना है कहाती
हुआ ज्ञान तो आपमें वह समाती ॥१७२॥

चिदाकाश पर ग्रह अहंकार-राहु
सभी ढाँक कर बन रहा ऊर्ध्वबाहु।
जिधर देखो अज्ञानका अन्धकार
तू होगा विवेकी तो होगा उबार ॥१७३॥

न वह चक्षुसे लक्ष्य है पूर्ण लक्ष्य
न वह भवसे भक्षित न रक्षितसे रक्ष्य।
क्षयातीत अक्षय्य मोक्ष-प्रदाता
दयादक्ष साक्षी स्वजन-पक्षपाता ॥१७४॥

लिखी विधिने है भाग्य-लिपि सबके सिरपर
लिखे किन्तु विधि-भालपर किसने अक्षर?
प्रलयमें जगत्को तो हरने जलाया
मगर किसने उनको जलाकर उड़ाया? ॥१७५॥

हुए सूर्य बारह, हुए रुद्र ग्यारह;
हुए इन्द्र कितने, कोई क्या सका कह?
मगर ढूँढ़ना देवगणमें वृथा है
परम ईशका क्या वहाँ कुछ पता है? ॥१७६॥

न वह टूटता है न वह फूटता है
न चल ढलकी उसमें कभी दीनता है।
पकड़में न आया न आँखों दिखाया
वो सब है न फिर भी अहंताने पाया ॥१७७॥

जिसे मान लो देव वह पूज्य होता
मगर किसने सच्चे प्रभूको विलोका?
असंख्यात ही देव हैं विद्यमान
जहाँ जिसकी भक्ती वही श्रेष्ठ जान ॥१७८॥

त्रिलोकी त्रिदेवोंको जिसने रचा है
न उस परपिताको कोई पूछता है।
यहाँ श्रेष्ठ होकर यहीं वह छिपा है
गुरूके बिना क्या कभी वह दिखा है? ॥१७९॥

गुरूनामधारी करोड़ों यहाँ हैं
लिये मंत्र तंत्रावली शक्तियाँ हैं।
चपल चित्त वाचाल चेटक-विधाता
सदा व्यर्थ हैं रे! न वे मुक्तिदाता ॥१८०॥

न ठग हो, न हो चेटकी चित्त-चालक
न निन्दक हो, या मत्सरी भक्ति-घालक।
न उन्मत्त हो, या व्यसनपूर्ण कच्चा
जो है पूर्ण ज्ञानी वही साधु सच्चा ॥१८१॥

कहै जीभ 'नाहीं' हृदय किन्तु चाहे
क्रियाहीन वह व्यर्थ वाचालता है।
कहे मुखसे जो वह ही करके दिखाता
समझ लो कि ऐसा ही सद्गुरु कहाता ॥१८२॥

मिले भक्त ज्ञानी, विवेकी, विरागी
कृपालु, मनस्वी, क्षमावन्त, योगी।
प्रभू, दक्ष, व्युत्पन्न, चातुर्यवान
तभी तू हृदयका समाधान जान ॥१८३॥

न कुछ था, हुआ वह; न था, आ गया वह;
सुजन संगसे प्रेष्ठ-सा भा गया वह।
अनिर्वाच्य जो, वाच्य-सा है गया बन
उसी प्रभु अनन्तेशको तुम भजो मन! ॥१८४॥

स-आदर रहो राम-छविमें निमग्न
भयातीत निश्चित स्वरूपाभिलग्न।
जगत्में नहीं दीख पड़ता कहीं है
मगर ऐक्य हो तो अलग वह नहीं है ॥१८५॥

सदा राम तो पास ही हैं तुम्हारे
करो सत्यका शोध यदि चित्त प्यारे!
अखंडित है रघुराजका तुझसे योग
हृदय! हो सका यदि अहंता-वियोग ॥१८६॥

यथा पिण्ड, ब्रह्माण्डमें भी तथा है;
स्वरूपस्थको, पर, न भूत-व्यथा है।
जो चाहो तो आभास तुम देख लोगे
असंगी रहो तो सुखी सत्य होगे ॥१८७॥

अहंपाशको ज्ञान-कैंचीसे काट
विदेही! गहो मुक्तिकी मंजु बाट।
विरत होके यदि निंद्यको त्याग दोगे
असंगी रहो तो सुखी सत्य होगे ॥१८८॥

उसे देख, जो सृष्टिका है विधाता
जिसे जीव लख मुक्ति तत्काल पाता।
अगुणके लिये यदि गुणोंको गहोगे
असंगी रहो तो सुखी सत्य होगे ॥१८९॥

न वह कार्यकर्ता न वह सृष्टि-भर्ता
परात्पर विवर्तोंसे निर्लिप्त रहता।
अकल्पितकी जो कल्पनाएँ गहोगे
असंगी रहो तो सुखी सत्य होगे ॥१९०॥

स्वदेहात्मधीको नहीं जो हटाता
न कल्पान्तमें भी है वह ज्ञान पाता।
अहंतासे परब्रह्म कैसे मिलेगा
रहे शून्य अज्ञान तो क्यों हटेगा ॥१९१॥

न मनमें समाता, न चंचल कहाता
है अद्वय, सदा ध्यान उस परपिताका।
नहीं और दृष्टान्त वैसा कहीं है
वहाँ संग निःसंग दोनों नहीं हैं ॥१९२॥

नहीं ज्ञान अज्ञान उस देवतामें
सकीं कह न आगम निगमकी किताबें।
कहो दृश्यादृश्योंका साक्षी ही उसको
कहा नेति नेतीति वेदोंने जिसको ॥१९३॥

'बसा जो हृदयमें, वो है देव कैसा ?'
सुआदरसे साधकने पूछा जो ऐसा।
'छुटी देह तो देव रहता कहाँ है ?
पुनर्वास अपना वो गहता कहाँ है' ॥१९४॥

कहा गुरुने 'हृदयस्थ वह देव ऐसा
परात्पर ये आकाश व्यापक है जैसा।
सदा स्थिर है वह देव, आता न जाता
न उसके बिना, स्थल कहीं लक्ष्य आता' ॥१९५॥

परम रेणुके अणु जो भ्रमते कहीं हैं
बिना रामके, स्पष्ट वे भी नहीं हैं।
उसे लख सभी हैं वही रूप पाते
वहाँ लक्ष्य दुर्लक्ष्य सब हैं समाते ॥१९६॥

गगन तुल्य है रूप राघवका भाया
धरो ध्यान तो टूट जायेगी माया।
जिसे देख देहात्मधी फिर न आती
सुछबि-लालसा है न उरमें समाती ॥१९७॥

'सभी सृष्टिमें नभ सदृश व्याप्त हैं वे'
न श्रीरामके हेतु उपमा ये सोहे।
विदित है कि अव्यय है जिसका स्वभाव
वहाँ व्याप्य व्यापकका फिर क्या सुझाव ॥१९८॥

पुरातन सुविस्तीर्ण जो हैं अनूप
वहाँ तर्क-सम्पर्कका कौन रूप।
यदपि गूढ़ हैं पर सुलभ, होके आये
वो अद्वय, गुरूकी कृपाने लखाये ॥१९९॥

हुआ ज्ञान तो छवि पड़ी वह दिखाई
जहाँ सर्व साक्षी अवस्था समाई।
हुआ मन भी उन्मन, हुई कुण्ठ वाणी
वही राम सर्वग हैं रे चित्त ध्यानी ॥२००॥

हुआ ज्ञान तो कौन दूजा दिखेगा
हृदयमें कहाँ द्वैत फिर आ बसेगा ?
बहुत दिनमें निजसे हुई भेंट ज्यों ही
विदेहीके टूटे सकल बन्ध त्यों ही ॥२०१॥

हृदय ! तुझको वह गोप्य यदि मिल भी जाये
प्रयत्नोंमें अन्तर न कुछ होने पाये।
न खो वेद वाक्योंमें विश्वास को तू
सदा संत-सत्संग कर, धन्य हो तू ॥२०२॥

हृदय ! जगके संसर्गको छोड़ दे रे
सुआदरसे सज्जनका सत्संग ले रे।
तभी होगा तू कर महादुःख भग्न
बिना साधनोंके भी, सन्मार्ग लग्न ॥२०३॥

यही संग है जो जगत् संग तोड़े
यही संग है मोक्ष तत्काल जोड़े।
यही संग साधकका है सिद्धिदाता
इसी संगसे द्वैत रहने न पाता ॥२०४॥

मनश्लोक सुननेसे हैं दोष जाते
हैं मतिमंद भी साधना-योग्य होते।
बनेंगे विरति-ज्ञान-सामर्थ्य-योगी
कहे दास, विश्वाससे मुक्ति-भोगी ॥२०५॥

मनश्लोक जो रच गये श्री समर्थ
किया मिश्रने तुल्य छन्दोंमें अर्थ।
स्व-अनुवाद-संशुद्धि ही के बहाने
दिया जोर नारायण-प्रेरणाने ॥

(सम्पूर्ण)

५—

संस्कृतियोंकी जननी

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणसे उत्पन्न प्रतिलोम व्रात्य (म्लेच्छ) जातियोंका वर्णन करते हुए कहा गया है—

व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च॥

यह 'शैख' या 'शेख' जाति अब भी अरब देशमें ब्राह्मणोंके समान ही सम्मान पाती है। अरबमें अब भी एक हिंदू-जाति रहती है। इन लोगोंमें अबतक बहुत-से आचार हिंदुओं-जैसे हैं। इनके स्थानको 'काफिरस्तान' कहा जाता है। बगदाद, बसरा, मेसोपोटामियामें हिंदुओंके प्राचीन चिह्न अब भी पाये जाते हैं। कुरानको देखनेसे पता लगता है कि हजरत मुहम्मद साहबके पूर्व वहाँ मूर्तिपूजाका खूब प्रचार था। काबाशरीफका आकार ठीक-ठीक शिवलिङ्गका है। 'शुबरात' के सम्बन्धकी मुसल्मानोंकी धारणा बतलाती है कि वह शिवरात्रिका ही एक रूप है। ईदके चन्द्रमाका जो इस्लाममें महत्त्व है, वह हिंदुओंके शुक्लपक्षकी द्वितीयाके चन्द्रमाकी महत्ताका रूपान्तरमात्र है। रोजापर ध्यान दें तो पता लगेगा कि यह चान्द्रायण-व्रतका सरल संस्करण है।

अथर्ववेदकी पैप्पलाद शाखा ही पारसीधर्मकी मूल है, यह वैदिक साहित्यके अन्वेषक मानते हैं। गोपथब्राह्मणके १। १९ मन्त्रके अनुसार 'शन्नो देवी···' इस मन्त्रसे अथर्ववेद पढ़ना चाहिये। यही बात पारसीक धर्मग्रन्थ 'होमयस्त' के १। २४ में कही गयी है। इसी पारसीधर्मकी परम्परामें यहूदी, ईसाई और इस्लाम-धर्म है। अतएव सांस्कृतिक चिह्न किसी-न-किसी रूपमें इन धर्मोंमें आये ही हैं।

भारतमें मद्रासमें पाण्ड्य तथा चोल प्रदेश हैं। इन प्रदेशोंमें पहले भारतीय व्यापारी रहते थे और समुद्रमार्गसे दूर-दूरतक व्यापार करते थे। इन वैश्योंमें लोग बहुत लोभी थे, वे जब लोभके कारण जातिबहिष्कृत हुए, तब उन्होंने भूमध्यसागरके किनारे जाकर अपने देश बसा लिये। पाण्ड्यके वणिक् या पणिक् लोगोंका देश फिनिशिया कहलाया और चोलवालोंका चाल्डिया। बेबिलोनियावालोंके वायुदेवताका नाम आज भी 'मर्तु' है और यह 'मरुत्' का ही अपभ्रंश है। संस्कृतका वजनके अर्थमें 'मना' शब्द फिनीशियामें 'मनह' कहलाता है। इसी प्रकार संस्कृतका 'क्रमेलक' (ऊँट) भी अंग्रेजीमें 'केमल' और फारसीमें 'जिमल' हो गया। ऊँट अरबका प्राणी है या अफ्रिकाका, परंतु उसका आदिनाम भारतीय होना यही सूचित करता है कि इस प्राणीको जिन मनुष्योंने पहले पाया, वे भारतीय ही थे। भाषाकी दृष्टिसे संस्कृत और चाल्डियनके बहुत शब्द मिलते हैं, पर यह भाषा-विवेचनका विषय होगा।

यहूदियोंका मूल देश जुडिया है। बाइबिलमें लिखा है कि पश्चिममें आनेवालोंकी भाषा एक ही थी और वे सब पूर्वसे आये थे। पोकाकसाहब अपने 'इंडिया इन ग्रीस' में कहते हैं, 'युडा जाति भारतकी यदुवंशी क्षत्रिय जाति ही है।'* यहूदियोंका 'यहोवा' शब्द संस्कृतके 'यह्व' शब्दसे ही बना है। मेदिनीकोषके अनुसार 'जु' शब्दका एक अर्थ यवन है। यहूदी अपनेको 'जू' ही कहते हैं। महाराज सगरकी आज्ञासे यवनोंने जो पल्ली (नगर) बसाया, वही पल्लीस्थान कालान्तरमें पेलेस्टाइन—फिलस्तीन कहलाने लगा। ए० बेरीडेल कीथ साहबका कहना है—'विशेष ध्यान देने योग्य शब्द 'सूरिआस' है। यह सूर्यके अर्थमें बोला जाता है।'† 'सूर्याः' का विसर्ग 'स' होकर इस रूपमें आया है। बेबिलोनियाके पुराने शब्दकोषमें 'सिंधु' नामक पतले मलमलका नाम है। इस देशकी भाषामें 'सिंधु' शब्दका कोई अर्थ नहीं होता। यही 'सिंधु' बाइबिलमें 'सेडिन' ग्रीकमें 'सिंडम' और अंग्रेजीमें 'साटिन्' हो गया है।

असीरियाके प्राचीन राजाओंके नाम सुवरदत्त, जशदत्त, सुवन्धि आदि बतलाते हैं कि उनका सम्बन्ध भारतसे था। भारतीय इन्हें असुर कहते थे और ये भी अपने नामके साथ 'असुर' लगाते थे। मेसोपोटामियामें एक प्राचीन राजाका नाम 'दसरथ' था। उसकी बहिन मिस्रमें ब्याही गयी थी। मितानियोंके दूसरे राजाका नाम 'हरि' था। मेसोपोटामियामें

---

* The tribe of Yudah is, in fact, the very Yadu of which considerable notice has been taken in my previous remarks. (*India in Greece*, p. 22.)

† More noteworthy is Surias, since it is explained as meaning the Sun. (Dr. Bhandarkar Commemoration Essays, (*The Early History of Indo-Iranians* by A.Berriedale Keith.)

जो प्राचीन खँडहरोंसे खोदनेपर ईंटे निकली हैं, इन ईंटोंमें 'मिताई' तथा 'हिदाई' राजाओंका सन्धिपत्र है। उसमें मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि देवताओंके नाम हैं। इस प्रकार एशिया माइनरके सभी देश प्राचीन निर्वासित हिंदुओंकी ही बस्तियाँ हैं। यूरोपवासी मानते हैं कि वे इन्हीं देशोंसे गये हैं, अतः उनके सम्बन्धमें विस्तार करना आवश्यक नहीं है।

यूरोपके लोगोंने इधर प्रबल प्रचार किया है कि वे आर्य हैं। इसी धारणापर आर्योंकी उत्पत्ति रूस तथा जर्मनीके मध्यभागमें बतानेका साहस भी कर लिया गया। क्योंकि एक ही मानव-जाति समस्त विश्वमें फैली, अतः सभी आर्य हैं, इसमें तो कोई बाधा नहीं, परंतु जब आर्य-अनार्य जातिका भेद किया जाता है, तब आर्य-जातिका अर्थ होता है सीधे मूल आर्यजातिकी परम्परामें। और अनार्य जातिका अर्थ होता है आर्यजातिकी दो या अधिक शाखाओंके मेलसे उत्पन्न संकर जाति। यूरोपके लोग इस परिभाषाके अनुसार 'आर्य' सिद्ध नहीं होते। वहाँ जो प्राचीन मानव-अस्थि-पंजर मिले हैं वे स्पष्ट ही वर्तमान निवासियोंसे भिन्न हैं। यूरोपके विद्वान् मानते हैं कि यूरोपमें पहले जो जाति आयी, वह जंगलीप्राय थी। उसके सिर बहुत बड़े थे। उन दीर्घाकार लोगोंको पीछे आये कुछ नाटे और छोटे कदके लोगोंने पराजित कर दिया। इन विजेताओं और पराजितोंके मिश्रणसे ही वहाँकी वर्तमान जातियाँ बनी हैं।

एशिया माइनरके लोग आगे जाकर यूरोपमें बस गये। हम पहले बता आये हैं कि एशिया माइनरमें भारतीय ही बसे थे। यूरोपमें मंगोलियासे दूसरी जाति पीछे आयी। उनके द्वारा पहले लोग पराजित हुए। क्योंकि चीन बहुत दिनों-तक भारतके सम्पर्कमें था, अतः एशिया माइनरवालोंकी अपेक्षा यह मंगोल जाति अधिक सभ्य थी। इसी मंगोलजातिने यूरोपके पहले निवासियोंको पराजित किया। हार्म्सवर्थने अपने विश्वके इतिहासमें स्वीकार किया है कि स्वेजके पास पहले मंगोलियन जाति भी रहती थी। यही जाति यूरोपकी केल्ट जातिकी जन्मदात्री है। अफ्रिकाकी जूलू जाति एशिया माइनर-में पहुँची। मंगोल जाति पीली थी और जूलू काले। इन्हींके मेलसे यूरोपकी वर्तमान श्वेत जातियाँ उत्पन्न हुई हैं। इनका प्रारम्भिक निवास आर्मेनिया (आर्यमणि) था, जहाँसे ये यूरोपमें फैले। जिस शुद्ध आर्यजातिसे यूरोपके लोगोंने 'शतम्' भाषा सीखी। वह अब भी यूरोपमें है। यह वहाँ पीछे गयी। रूसी और जर्मन भाषाएँ उस जातिकी भाषासे बनी हैं। यूरोपमें वह जाति 'जिप्सी' कहलाती है और वर्तमान हिंदीसे मिलती हुई भाषा बोलती है। यूरोपके विद्वानोंने पहले सिद्ध करना चाहा था कि यह जाति भारतसे ईसाके बाद वहाँ गयी; परंतु अब सिद्ध हो गया है कि ये लोग ईसासे बहुत पूर्वसे वहाँ रहते हैं। ये भारतीय ज्योतिषियोंके समान फलित बतलाते हैं और घूमते रहते हैं। इसी जातिने यूरोपमें लोहेको ढालनेकी विद्या फैलायी।

उत्तरी देशोंको देखें तो नैपालमें जितने ब्राह्मण बसते हैं, सब प्रायः कान्यकुब्ज हैं और जितने क्षत्रिय हैं, सब सूर्य-वंशी हैं। यहाँ एक तीसरी शाखा मंगोलियन है। खोजसे ज्ञात हुआ है कि नैपालके उत्तर-पश्चिम किरातलोग बसते थे। ये किरात बलोचिस्तानके किरात तथा वर्तमान भारतीय किरातोंकी शाखामेंसे ही थे। धर्मच्युत क्षत्रिय जातियोंमें जैसे किरात हैं, वैसे ही चीना भी। मनुस्मृतिमें दोनोंके नाम हैं। इन्हीं दोनोंके मेलसे मंगोलियन जाति उत्पन्न हुई। रूसी तुर्किस्तानमें अलताई पर्वतपर आर्यसंस्कृतिके भग्नावशेष मिले हैं। सीथिया देश भारतसे निर्वासित शकोंने बसाया था। यह कहा जा चुका है कि शक राजा नरिष्यन्तके पुत्र थे। महाराज सगरने इनको अर्धमुण्डित, तीन शिखाओंवाला बना दिया। चीनमें तीन चोटियाँ रखनेकी प्रथा अबतक है।

चीनदेशके सम्बन्धमें टॉड साहबने अपने इतिहासमें लिखा है—'मोगल, तातार और चीनीलोग अपनेको चन्द्र-वंशी बतलाते हैं। इनमें तातारलोग अपनेको 'अय' का वंशज कहते हैं। 'अय' पुरूरवाके पुत्र हैं। इन्हींके वंशमें यदुके पौत्र 'हय' हुए। चीनीलोग इन्हींको 'ह्यू' कहते हैं और अपना पूर्वज मानते हैं। चीनी विद्वान् यांगतसाईके एक ग्रन्थका पादरी क्लर्कने अनुवाद किया है। उसमें लिखा है अत्यन्त प्राचीन कालमें भारतके मो० लो० ची० राज्यका आह० यू० नामक राजकुमार यून्नन प्रान्तमें आया। इसके पुत्रका नाम ती० मोगंगे था। इसके नौ पुत्र हुए। इन्हींकी सन्तानोंसे चीनी वंशकी वृद्धि हुई। चीनवाले अपने मूल पुरुष 'ह्यू' की उत्पत्तिके सम्बन्धमें कहते हैं कि ह्यूकी माताका सम्बन्ध एक तारेसे हो गया, इसीसे ह्यूकी उत्पत्ति हुई। यह कथा बुध तथा इलाकी कथाका रूपान्तरमात्र है।

जापानमें जो जाति है, वह चीनसे वहाँ जाकर बसी है। जैसे चीनमें पैतीसी और ओव नदियोंके किनारेकी जातियाँ भारतीय संस्कृत भाषासे मिलती-जुलती भाषा बोलती हैं, वैसे ही जापानमें भी 'एन्यू' जाति है, जो मूल जातिका अवशेष

है। कुछ लोग जापानी जातिको काकेशस विभागमें रखते हैं। दोनों दशामें यह जाति आर्य-जाति है। बर्मा, मलाया, हिंद-चीन, स्याम (थाईलैंड) और पूर्वी द्वीपसमूहके सम्बन्धमें विस्तार करना व्यर्थ है। वहाँ तो नदियों, नगरों, व्यक्तियोंके नाम संस्कृतके ही हैं। बालि-द्वीपमें तो हिंदू-धर्म अपने एक रूपमें अबतक विद्यमान है।

दक्षिणी भारतकी द्रविड़ और कोल जातियोंके सम्बन्धमें लिखा जा चुका है। उन्हें आदिवासी सिद्ध करनेका प्रयत्न व्यर्थ है। उनकी भाषामें इस देशका कोई नाम नहीं। चन्दन और कपूर ये दोनों दक्षिणमें ही होते हैं; पर दक्षिणी जातियों-में इनके नाम भी यही हैं। यदि ये जातियाँ आर्योंसे भिन्न होतीं और यहाँकी आदिवासी होतीं तो इनके यहाँकी इन वस्तुओंके इनकी भाषामें कुछ नाम होते। कम-से-कम ये तो अपने पदार्थके लिये संस्कृतके नाम न अपनाते। पहले जिन धर्मच्युत जातियोंका मनुस्मृति तथा महाभारतके अनुसार वर्णन कर आये हैं, उन्हींमें आन्ध्र तथा द्रविड़ हैं। इन्हीं जातियोंके लोग दक्षिणमें रहते हैं। क्षत्रियोंमें अब भी एक 'सिंहला' जाति है। इसीके निवाससे 'सिंहल' द्वीपका नाम-करण हुआ, जो अब सीलोन कहलाने लगा है।

यूरोप और एशियाके पश्चात् अफ्रिकाका क्रम आता है। यहाँ मिस्रदेश अत्यन्त प्राचीन है। यहाँ सूर्य-मन्दिर मिले हैं और पिरामिडोंमें जो लाशें मिली हैं, उनमें नील लगी है और इमलीकी लकड़ी काममें आयी है। ये दोनों वस्तुएँ भारतमें ही होती हैं। 'हिस्टारिकल हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड' में लिखा है, 'इजिप्टवासी पणिकोंकी शाखा हैं। ये लोग परसियन गल्फ होते लाल समुद्रके दक्षिणमें पान्त नामक देशसे गये*। यह 'पान्त' देश 'पाण्ड्य' है। प्राचीन खोपड़ियोंके मिलानसे भी मिस्रवासी भारतीय ही ज्ञात होते हैं, ऐसा वैज्ञानिकोंका मत है। मिस्रदेशके वहाँकी भाषामें तीन नाम हैं—कमित्, हपि, मिस्र। इनमें कमित्, कुभृत् (काली मिट्टी) का अपभ्रंश है। यहाँके वजनसम्बन्धी नाम भारतीय हैं। स्थानोंके नाम शिव और मेरु हैं। पोकाक साहबका कहना है—'मिस्रनिवासी अपनेको सूर्यवंशी कहते हैं। सूर्यकी पूजा करते हैं और मनुको अपना मूल पुरुष मानते हैं।'* उनके पुराने ग्रन्थोंसे पता लगता है कि वे पुनर्जन्म-सिद्धान्त मानते थे।

पद्मपुराणमें महर्षि अत्रिके पुत्ररूपमें दत्तात्रेयके जन्मकी कथा है। मिस्रके दैवी इतिहासमें यह कथा ज्यों-की-त्यों है। मिस्र देशमें 'टाय' की उत्पत्ति ठीक दत्तात्रेयकी उत्पत्ति-कथा है। मिस्रके पेकिन नगरमें 'महाकालम्यौ' नामक एक मन्दिर है। वहाँ महाकालकी मूर्ति है। मन्दिरके एक भागमें मच्छोदरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) की एक मूर्ति है। दूसरे भागमें दत्तात्रेयका पादचिह्न है।

व्रात्य क्षत्रियोंकी एक जाति झल्ल शास्त्रोंमें वर्णित है। यही जाति अफ्रिकामें जाकर 'जुलू' हो गयी। ऐतरेय ब्राह्मणमें राजा भरतने मष्णार देशमें बड़े-बड़े हाथी दान किये, ऐसा वर्णन है। उसमें बहुतसे सुवर्ण दानका भी वर्णन है। अफ्रिका-के दक्षिणी रोडेशियामें 'मष्णा' एक स्थान है। यह नाम वहाँकी भाषाका निश्चय नहीं है। वहाँ पहले बहुत सोना होता था। हाथियोंकी बहुलता थी। वहाँके खण्डहर बतलाते हैं कि वहाँ एक प्राचीन सभ्य जाति रह चुकी है। अवश्य ही इस प्राचीन जातिके पश्चात् ही वहाँ 'झल्ल' पहुँचे। आज इनकी ही 'जुलू' जाति अफ्रिकामें है।

'आस्ट्रेलिया' यह नाम आन्ध्रालयका अपभ्रंशमात्र है। आस्ट्रेलियाके मूलवासियोंकी भाषा भारतीय द्रविड़ों तथा कोलोंसे मिलती है। इन लोगोंमें हिंदुओंकी भाँति जातिभेद है। ये दूसरी जातिके हाथका छुआ नहीं खाते। ये लोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं। इसके अतिरिक्त जातियोंके अन्वेषकोंने सभी देशोंके मूलपुरुषोंके जो कल्पना-चित्र खोजके आधारपर प्रस्तुत किये हैं, उनमें सबके पास धनुष-बाण हैं। यह भारतीय शस्त्र विश्वकी प्रत्येक मूल जातिके पास मिलता है।

कहा जाता है कि कोलम्बसने अमेरिकाका पता लगाया और वहाँका नाम पहले 'इंडिया' रख दिया। अंग्रेजीमें नीलको इंडिगो कहते हैं। नील केवल भारतमें होता है। यहींसे सर्वत्र जाता था। अतएव लोग इसे 'इंडिया' (नीलका

---

* It seems probable that they came up from the land of Pant, at the south of red sea, and they may have been branch of the Punic race in its migrations from the Persian Gulf round by sea to the Mediterranean. (*Historical History of the world*, Vol, p. 89).

*The reader will not readily forget the renowned City of the Sun, Helispolis, nor 'Menes the first Egyptian King of the race of the Sun, the Manu Vaivaswata or patriarch of the Solar race, nor his statue that of the great Menoo, whose voice was said to salute the rising sun. (*India in Greece*, p. 178)

देश) कहने लगे। कोलम्बस निकला था भारतकी खोज करने। अवश्य ही उसने भारतके लोगोंके आचार-विचार, आकृति आदिके सम्बन्धमें यात्रा करनेसे पूर्व कुछ जाननेका प्रयत्न किया होगा। वह जो कुछ भारतके सम्बन्धमें जानता था, अमेरिकामें उसका सादृश्य पाकर ही उसे भ्रम हुआ। अकारण वह अमेरिकाका नाम 'इंडिया' रख कैसे सकता था।

कहा जाता है कि प्राचीन अमेरिकावासी 'नागपूजक' थे। उनके यहाँ पंखधारी सर्पकी मूर्तियाँ अबतक हैं। अमेरिकामें इन्द्र और गणेशजीकी पूजा भी होती है। गणेशजीकी आकृति वे भारतकी भाँति सिर हाथीका और धड़ मनुष्यका बनाते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि अमेरिकामें हाथी नहीं होते। वहाँके मूल निवासी यदि बाहरसे न गये हों तो हाथीकी कल्पना उनके लिये शक्य नहीं। उनका रूप-रंग नैपालके लोगोंसे मिलता कुछ लाल वर्णके मंगोलियनों-जैसा है। वहाँ मिस्रकी भाँति पिरामिड और सूर्यमन्दिर मिले हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि अमेरिका और मिस्रकी सूर्यमूर्तियाँ भारतकी एलोरा गुफाकी सूर्यमूर्तिके समान ही हैं। अमेरिकाके मूल निवासी भी सूर्यपूजा करते हैं और एक उत्सव मनाते हैं, जिसका नाम 'राम-सीतव' है। यहाँ भी वैवस्वतमनुके जल-प्लावनकी कथा प्रचलित है और ये लोग भी अपनेको सूर्यवंशी मानते हैं। भारतमें नागपूजा, बंगालियोंमें 'नाग' उपाधि और आसामकी नागा जाति, इनकी नागपूजाका मूल भी बतलाती है।

संस्कृति-भेदके कारण

एक ही मानव-जातिसे विश्वकी समस्त जातियोंका विस्तार हुआ। एक ही हिंदू-संस्कृतिसे समस्त संस्कृतियोंकी उत्पत्ति हुई। इतनेपर भी मनुष्योंमें बहुत अन्तर है। संस्कृतियोंमें बहुत अन्तर है। यह अन्तर देश, काल तथा आचारभेदसे हुआ है। ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि आन्ध्रदेशकी एक जाति मिस्र गयी और दूसरी आस्ट्रेलिया। इनमें मिस्रकी जाति गोरी है और आस्ट्रेलियाकी काली। इसी प्रकार किरात जाति बलोचिस्तान, भारतके जंगलों और चीनकी ओर गयी। क्रमसे गोरी, काली और पीली जातिके रूपमें यह उपलब्ध है। रंगोंका यह अन्तर देशकी जल-वायुके कारण हुआ है। एक पंजाबी तथा एक बंगाली ब्राह्मणको सम्मुख रखकर देखिये। दोनोंके आकार, आचार, भाषा, वेश, खान-पान सबका अन्तर स्पष्ट हो जायगा। यद्यपि दोनों गौड़ ब्राह्मण होंगे। दोनोंकी एक जाति, एक मूलपुरुष और एक ही धर्म-ग्रन्थ हैं। अमेरिकामें गयी अंग्रेज जाति ही है। कुल ४०० वर्ष ही उसे वहाँ गये हुए हैं। पर इतने अल्पकालमें ही अमेरिकनोंकी आकृति अंग्रेजोंकी अपेक्षा रेड-इंडियनोंसे अधिक मिलती हो गयी है।

भारतसे बाहर प्रायः क्षत्रिय जातियाँ ही गयीं। थोड़ी-सी वैश्य जातियाँ गयीं। ये दोनों जातियाँ स्वभावसे उद्योगी थीं। क्षत्रिय जातियोंने ही यहाँसे निर्वासित होनेपर जंगल काटे और बाहर बस गयीं। वणिक् जाति वहीं बसी, जहाँ उसे समुद्रीय रत्नों या खनिज द्रव्योंका प्रलोभन ले गया। ब्राह्मण भारतसे बाहर बसने नहीं गये। अवश्य ही क्षत्रियों और वैश्योंके साथ उनके सेवक शूद्र भी गये होंगे। नवीन देशमें नवीन परिस्थितिमें ऐसी जातियोंको बहुत कुछ आचार-परिवर्तन आवश्यकतावश करना पड़ा। समाजसे पृथक् होनेपर समाज-बन्धन न होनेसे कुछ प्रमाद आचार बन गये। ब्राह्मणोंके न होनेसे क्रियाका—संस्कारका लोप हो गया। प्रकृतिने आकारमें परिवर्तन किया और इन बातोंने आचारमें। इस प्रकार ये जातियाँ भारतसे सर्वथा भिन्न हो गयीं। उनकी विकृतियोंने स्वतन्त्र संस्कृतियोंका रूप धारण कर लिया।

संस्कृतियोंके भेदके सम्बन्धमें केवल एक ही बात विचारणीय है। मिस्र, अमेरिका, आस्ट्रेलियाके मूल निवासियोंको छोड़ दें तो प्रायः विश्वकी दूसरी सब जातियाँ पुनर्जन्ममें विश्वास नहीं करतीं। वे अपने मुर्दोंको जलातीं नहीं। उनमें यह विश्वास है कि जीवात्मा प्रलयतक कब्रमें रहता है। इन विश्वासोंका हिंदू-संस्कृतिसे कोई मेल नहीं है। ऐसा क्यों?

हम अभी बता आये हैं कि आर्यजाति कई विदेशी जातियोंको 'असुर' कहते थे और असीरियाके प्राचीन राजाओंके नामोंके साथ असुर उपाधि लगी मिलती है। सभी पाश्चात्य धर्म पारसीधर्मकी परम्परामें हैं और पारसीधर्ममें असुर शब्द श्रेष्ठतासूचक है। वेदोंमें देव तथा असुर दोनों नाम परमात्माके लिये आये हैं। पुराने समयमें भारतमें दो वर्ग थे—एक तो देवताओंके उपासक, देवताओंकी सन्ततिपरम्परामें। और दूसरे उसी सन्ततिपरम्परामें होकर भी असुरोंको आदर्श माननेवाले। देव और असुर दोनों महर्षि कश्यपके पुत्र हैं। एक उनकी पत्नी अदितिके और दूसरी दितिके। जब असुरोंको आदर्श माननेवाले लोग धर्मच्युत होकर भारतसे निर्वासित हुए, तब उन्होंने 'देव' शब्दको तिरस्कृत किया। अरबी, फारसी, अंग्रेजीमें सब कहीं 'राक्षस'के अर्थमें ही

'देव'का वर्णन होता है। इसी प्रकार भारतमें 'असुर' तिरस्कृत शब्द हो गया।

छान्दोग्य उपनिषद्‌में आया है कि 'असुरोंका यही धर्म है। वे अपने शवको अलंकारोंसे सजाते हैं। वे समझते हैं, ऐसा करनेसे परलोक मिल जायगा।' उपनिषदोंमें इन्द्र तथा विरोचनकी कथा है। दोनों ज्ञानप्राप्तिके लिये स्रष्टाके पास गये। ब्रह्माजीने दोनोंको अलंकृत होकर अपना प्रतिविम्ब जलमें देखनेको कहा और बताया कि जो जलमें दीखता है, वही आत्मा है। विरोचन इससे सन्तुष्ट होकर लौट आया। इन्द्रने बार-बार मनन किया और बार-बार लौटकर प्रश्न किया। अन्तमें उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। विरोचनने लौटकर असुरोंमें देहात्मवादका प्रचार किया। शरीर ही आत्मा है। उसकी सेवा, उसे सजाना ही धर्म है। मरनेपर शरीरको सुरक्षित, सुसज्जित रखना चाहिये। आत्मा उसीमें प्रलयतक रहता है। प्रलयके समय उसे सृष्टिकर्ता उठायेंगे। तभी उसके कर्मोंका निर्णय होगा। इन्हीं सिद्धान्तोंको लेकर मिस्रमें पिरामिड बने और शरीर सुरक्षित किये गये। भारतसे जो लोग बाहर गये, वे स्वेच्छासे नहीं गये। उन्हें जाना पड़ा और इसका कारण उनका धर्मके प्रति प्रमाद था। धर्मके प्रति प्रमाद शरीरके प्रति आकर्षणसे होता है। वे देहात्मवादके संस्कार यहाँसे लेकर गये। जो भी हो, भारतमें ही पहले असुर देहात्मवादी थे और शरीरनिष्ठा भी भारतसे ही बाहर गयी, यह तो इससे सिद्ध ही है।

यह बात सत्य नहीं है कि विश्वमें आदिकालसे शवको गाड़नेकी प्रथा है। इस प्रथाका प्रसार पारसीधर्म तथा इसकी शाखा यहूदी, ईसाई धर्मोंके कारण हुआ है। 'बोगेज कुई' के शिलालेखोंसे पता लगता है कि रोमनलोग अग्निहोत्र करते थे। वे भोजनके पूर्व अग्निमें अन्न डालकर यज्ञवेदीको प्रणाम करते थे। वहाँ शव-दाह तथा श्राद्ध भी होता था।

विदेशियोंका भारतीय जातियोंमें मिश्रण

आज कहा जाता है कि भारतमें शक, हूण प्रभृति जातियाँ बाहरसे आयीं और यहींके लोगोंमें मिल गयीं। यह बात इतिहाससिद्ध है। महाराज पाण्डुकी छोटी रानीका नाम माद्री था। ये मद्रदेशकी थीं। मद्रराज शल्यसे उनके देशके आचारकी जो निन्दा कर्णने की। वह देखनेसे पता लगता है कि यह जाति भारतीय आर्यपरम्परासे दूर हो चुकी थी। इसी प्रकारकी मग जाति है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी हैं। वर्तमान अयोध्यानरेश शाकद्वीपी थे। वे अपनेको मग कहते हैं। नवीन इतिहासकार इन्हींको सीथियन कहते हैं। हूण तो तातारी हैं ही। रीवाँ राज्यमें एक ताम्रपत्र मिला, जिससे पता लगा कि कलचुरी राजा कर्णने हूणोंको परास्त करके उनकी कन्यासे विवाह किया। खत्रियोंमें अब भी 'हूण' उपाधि है। चन्द्रगुप्तने सिल्यूकसकी लड़कीसे और उदयपुरके राजा गौहका विवाह प्रसिद्ध ईरानीनरेश नौशेरवाँकी पौत्रीसे हुआ था। भविष्यपुराणके अनुसार कण्व ऋषि मिस्र गये थे और वहाँसे दश सहस्र निवासी यहाँ ले आये। वे सब शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय बनाये गये।

इस प्रकारके और भी प्रमाण पाये जा सकते हैं; परंतु जो लोग इन प्रमाणोंके अनुसार आर्योंद्वारा विजातीयकी शुद्धि सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, वे भ्रममें पड़ते हैं। उस समय विश्वमें कोई दूसरा धर्म था ही नहीं। इसलिये विधर्मीको शुद्ध करनेका प्रश्न ही नहीं था। शक, हूण, मिस्री, यवन आदि सब हिंदू ही थे। वे जातिच्युत तथा संस्कारहीन हो गये थे। जैसे आज सिन्धी और पंजाबी हिंदू भारतके दूसरे प्रान्तोंमें आये हैं। वे हैं हिंदू ही, यद्यपि उनके आचारमें बहुत अन्तर हो गया है। काल पाकर वे जिन प्रान्तोंमें हैं, उनके समाजमें मिल जायँगे। ऐसे ही विदेशी हिंदू-जातियाँ सदा हिंदू-आचारके ग्रहणका प्रयत्न करती रही थीं। वे जब भारतमें आयीं, तब यहाँके आचार सरलतासे उन्होंने ग्रहण कर लिये। यहाँ ब्राह्मणोंके मिलनेसे वे पुनः स्वधर्ममें प्रतिष्ठित हो गयीं। इस प्रकार पुरानी शुद्धिके उदाहरण जातिच्युतको जातिमें स्वीकार करनेमात्रतक सीमित हैं।

हिंदू-संस्कृतिपर आघात

हम बता आये हैं कि ऋषियोंने वेदोंकी अनेक पाठ-पद्धतियोंके द्वारा उन्हें अविकृत रूपमें स्थिर रक्खा। वेदार्थरूप शास्त्रोंका बार-बार पुनरुद्धार हुआ और मन्त्रदर्शनकी परम्परा भी चलती रही। इस प्रकार हिंदू-संस्कृति अबतक अविकृत मूल संस्कृतिके रूपमें विद्यमान है। यही समस्त संस्कृतियोंकी जननी है।

अबतक हिंदू-संस्कृतिपर अनेक आघात हुए हैं। ये आघात दो प्रकारके थे। एक बलप्रयोग और दूसरा चतुरतापूर्वक मिलकर हिंदुओंको भ्रममें डालनेके प्रयत्न। दोनों प्रकारके आघात आदिकालसे अबतक होते रहे हैं। असुरोंने अनेक बार भारतपर आक्रमण किया और उस समय आसुर मतके लोगोंद्वारा चार्वाक-दर्शन-जैसे मतोंका प्रसार करनेका प्रयत्न किया गया, यह प्रारम्भिक आघात थे। मुसल्मानोंके समयमें साहित्यका प्रचुर विनाश हुआ। काश्मीरमें ग्रन्थोंसे नदी पाटकर पुल बनाया गया, नालन्दाका पुस्तकालय एक महीनेतक जलता रहा, अनेक स्थानोंपर ग्रन्थोंसे स्नानके लिये

पानी गरम किया जाता रहा। ग्रन्थ-नाशके साथ अनेक प्रकारके जो अत्याचार मुसल्मानोंने किये, वे इतिहासमें वर्णित हैं। तलवारके बलपर हिंदुओंको मुसल्मान बनाया गया। दूसरी ओर सूफियोंने अपने चमत्कारसे लोगोंको प्रभावित करना प्रारम्भ किया। इनके प्रयत्नसे हिंदूघरोंमें पाँचों पीर पूजे जाने लगे। महिलाएँ ताजिया और कब्रें पूजने लगीं।

मुसल्मानोंके पश्चात् अंग्रेज आये। आरम्भमें ईसाई बनानेके लिये बलप्रयोग भरपूर काममें लिया गया। गोआमें पुर्तगालियोंके अत्याचारकी कहानियाँ अबतक प्रख्यात हैं। ईसाइयोंने बलप्रयोगका मार्ग शीघ्र छोड़ दिया और उन्होंने दूसरा मार्ग लिया। सरकारने ईसाइयोंके रेलवे आदि भागोंमें विशेष सुविधा देना प्रारम्भ किया। आर्थिक प्रलोभन उपस्थित किया गया। चिकित्सा और शिक्षाके नामपर पिछड़ी जातियोंको बराबर ईसाई बनाया जा रहा है। यह प्रयत्न अबतक चल रहा है। सबसे घातक आक्रमण था अंग्रेजोंका हमारी शिक्षापद्धति बदल देना। हमें ऐसी शिक्षा दी गयी, जिसमें हमें अपनी संस्कृतिसे घृणा हो जाय! इतिहास भ्रष्ट कर दिया गया। इसका कुपरिणाम हमारे सम्मुख है।

हिंदू-संस्कृतिपर पाश्चात्त्य शिक्षासे शिक्षित हिंदुओंका आघात उपेक्षा, नये-नये कानून आदिके द्वारा चल ही रहा है। ईसाई मत भी अपने कौशलमें संलग्न है। एक कूट प्रयत्न एनी बेसेंटका थियासोफी मत भी था। उसमें हिंदू-धर्मके सिद्धान्तोंको माननेका बहाना करके बताया गया था कि वर्तमान समयके पथ-प्रदर्शक ईसामसीह हैं। इसी प्रकारका एक कूट प्रयत्न आगाखानी मत है। यह इस्लामका कूट प्रयत्न है। यह मत इस्माइली मतकी शाखामें है। इस्माइल जिनके नामपर इस्माइली मत चला, हजरत अलीके वंशजोंमें हैं। मिस्रमें इस्माइली मतके प्रचारके लिये एक विद्यालय था, जिसमें शिक्षाकी नौ श्रेणियाँ थीं। इनमें पढ़ाया जाता था कि प्रचारकको किस प्रकार पहले दूसरेके धर्म तथा मतको ठीक बताकर उसमें रहस्य-भावना उत्पन्न करनी चाहिये तथा पीछे उसी रहस्यके आधारपर उसे अपने धर्ममें लाना चाहिये। भारतमें कोटड़ा ग्राममें पीर सरदीनने आकर इस मतका प्रचार किया। इसीकी गद्दीपर आजकल हिज हाइनेस सर आगा खां हैं। यह मत अपने रहस्य छिपाता है। बम्बई हाइकोर्टके जजोंने सन् १८६६ में इस मतकी चालोंके सम्बन्धमें जो फैसला दिया है, वह वहीं देखने योग्य है। प्रत्येक प्रकारसे व्यक्तिका विश्वास प्राप्त करना और फिर उसे किसी रहस्यपर आकर्षित करके अपने मतमें लाना, इस मतकी पद्धति है। बहुत-से हिंदू इस मतमें सम्मिलित हो चुके हैं।

इस प्रकारके अनेकों प्रयत्न चल रहे हैं। ईसाई प्रचारक भी अब गेरुआ पहनते हैं। नवीन ईसाइयोंके भारतीय नाम नहीं बदलते। चोटी भी नहीं काटते। इसी प्रकारके दूसरे प्रयत्न हैं—शास्त्रीय ग्रन्थोंमें मिलावट करनेके। शास्त्रोंके नामपर नये-नये ग्रन्थ रचने तथा शास्त्रोंकी विचित्र व्याख्या करनेके। ये प्रयत्न भी बहुत पुराने समयसे हो रहे हैं और अबतक चलते हैं। रावर्ट नोविली नामक एक पादरीने एक पुस्तक लिखवायी। उसमें बाइबिलके सिद्धान्त थे। उसने इसका नाम यजुर्वेद रक्खा। फ्रेंचमें उसका अनुवाद भी हुआ; परंतु मैक्समूलरने उसे लड़कोंका खेल बता दिया। भंडाफूट जानेसे वह ग्रन्थ चल न सका। यह एक उदाहरणमात्र है। ऐसे प्रयत्न असंख्य हुए हैं। यह कहना कठिन है कि उनमें कितने सफल हुए हैं।

संस्कृतिकी रक्षा

जो सबसे प्रथमकी, सब संस्कृतियोंकी जननी आदि-संस्कृति है, जो अबतक अविकृत परम्परामें है, जिसके आचारोंकी विकृतियोंसे ही दूसरी संस्कृतियोंका उद्भार हुआ है, जो समस्त मानव-ज्ञानका कोषागार है और जिसमें मानवकी समस्त आवश्यकताओं एवं कठिनाइयोंका समाधान है, उसकी रक्षा कितनी आवश्यक है—यह समझा जा सकता है।

हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाके लिये शिक्षाका सुधार, उसके सांस्कृतिक रूपका प्रचार तथा उसपर होनेवाले वर्तमान कानूनी आघातोंका रोका जाना सर्वप्रथम आवश्यक है। इसके पश्चात् इस संस्कृतिके साहित्यका उद्धार होना चाहिये। तातारमें, चीनमें, तिब्बतमें, अरबों संस्कृतकी प्राचीन पुस्तकें वहाँके पुस्तकालयोंमें हैं। इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका आदिके पुस्तकालयोंमें भारत तथा चीनसे गयी करोड़ों संस्कृतकी पुस्तकें हैं। देशमें असंख्य ग्रन्थ ग्रामोंमें पड़े हैं। इन सब साहित्यका अन्वेषण तथा संकलन करनेका उद्योग करना चाहिये।

सांस्कृतिक स्थानोंका जीर्णोद्धार, उनकी रक्षा, ऐसे पर्वोंका प्रचारादि भी संस्कृतिकी रक्षाका एक अङ्ग है। सबसे मुख्य बात है रुचिकी। देशमें अपनी संस्कृतिके प्रति अभिरुचि उत्पन्न होनी चाहिये। पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षाका विष दूर हुए बिना हिंदू-संस्कृति पुनः सशक्त नहीं हो सकेगी।[*]

---

[*] इस लेखमें बहुत-सी बातें पं० श्रीरघुनन्दनजी शर्मा, साहित्यभूषणद्वारा लिखित 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थसे ली गयी हैं; इसलिये हम उनके आभारी हैं।—लेखक

भोले भगवान्

[कहानी]

[लेखक—श्री'चक्र']

हरीश आज इस ज्येष्ठकी दोपहरीमें बहुत भटका, बहुत-से दफ्तरोंके द्वार खटखटाये उसने, अनेक समाचार-पत्रों और दूसरे कार्यालयोंमें पहुँचा; कितने दिनोंसे चल रहा है यह क्रम; कौन गिनने बैठा है इसे। विश्व-विद्यालयसे एम्० ए० करके अपने साथ अनेक प्रशंसा-पत्र लिये भटक रहा है हरीश। 'काम नहीं है।' उसके लिये! एक एम्० ए० के लिये क्या विश्वमें कहीं काम नहीं है? वह अकेला है, घरपर और कोई नहीं; घर ही नहीं उसके तो; पर पेट है न! अकेले-को भी तो भूख लगा करती है। दो-तीन दिन पहले एक कबाड़ीके हाथ वह अपना फाउंटेन पेन मिट्टीके मोल बेच चुका और अब तो आज मुट्ठीभर चने लेने-में ही उसकी अन्तिम पूँजी भी समाप्त हो गयी। 'काम नहीं'। लगभग सात-आठ महीने हो चुके, उसकी सभी प्रार्थनाओंका जो उसने इधर-उधर भेजीं, एक ही उत्तर। वह जहाँ जाता है, उसे द्वारपर दिखा दिया जाता है—'काम नहीं'। इतने बड़े संसारमें उसके लिये कहीं काम नहीं और अब कलके लिये कौड़ी भी पास नहीं है। 'काम नहीं'। इस ग्रीष्ममें, इस तवे-से तपते पथपर वह भटकता रहा और अब उसे लगता है कि सचमुच संसारमें उसका अब कोई काम नहीं है।

रूखे बिखरे बाल, तमतमाया फीका मुख, पसीनेसे लथपथ देह और भालपर चिपकी कुछ अलकें—शरीर कहाँतक साथ दे किसीका। अब चक्कर आने लगा। पार्क दूर है और कुछ देर विश्राम चाहिये। इधर-उधर देखकर मन्दिरमें घुस गया हरीश। शीतल छाया, सुगन्धित वायु, जैसे प्राणोंको अद्भुत तृप्ति मिली हो, जगमोहनके सम्मुख धम्से एक खंभेके पास बैठ गया। मन्दिरकी चिकनी शीतल संगमर्मरकी भूमि बड़ी सुखद लगी। वह खंभेके सहारे हो गया।

'कोई थका हुआ दीखता है!' पुजारीजीने केवल एक दृष्टि डाली और विश्राम करने चले गये। भगवान्का मध्याह्न-विश्राम हो रहा है। मन्दिरके गर्भगृह-के पट बंद हो चुके। जगमोहनमें आजकल ग्रीष्ममें कुछ श्रद्धालु दोपहरीमें यदा-कदा आ जाते हैं। भगवान्का भवन सभीका गृह है न। दर्शनार्थी तो कबके जा चुके, पुजारीजी भी दो घंटे तो विश्राम करेंगे ही।

हरीश—आज जगमोहनमें एकाकी, थका, खिन्न, हरीश है। उसे क्या काम मन्दिरसे और क्या मूर्तिसे। वह तो थका है। बड़ी शीतलता, बड़ी सुगन्धि, बड़ी शान्ति मिल रही है उसे यहाँ। वह विश्राम कर रहा है। प्यास लगी है; कोई बात नहीं, अभी तो उठा नहीं जा सकता, मन्दिरके बाहर प्याऊ तो वह देख ही आया है।

पिता अच्छे वकील थे। परिमार्जित सुधारक विचार थे उनके। वकालत चलती थी। लेकिन मित्रोंका संग-कुछ रंगीन स्वभाव हो गया आगे चलकर। अल्हड़ साथी हों और बोतलकी रंगमयीसे अनुराग हो जाय तो फिर रुपये क्या कभी जेबमें टिका करते हैं? पैतृक सम्पत्ति तो वैसे ही नहीं थी। कहीं दूर ग्राममें घर है। पर हरीशने सुना ही है, देखा नहीं उसे। उसके पिता-माता नगरमें रहते थे। वहीं उसने जन्म लिया एक सुन्दर बँगलेमें, बड़े स्नेहसे पालन हुआ उसका और बड़े उत्साहसे शिक्षा प्रारम्भ हुई। अन्ततः माता-पिताकी एक ही तो सन्तान था वह!

कालेज और विश्वविद्यालयका वह जीवन——जेबमें कभी अभाव नहीं, प्रतिभा भी सम्पत्तिके समान प्रचुर प्राप्त हुई और तब स्वस्थ, सबल हरीश सहपाठियोंमें सदा अग्रणी तो रहेगा ही। 'धर्मकी मूर्खतापूर्ण धारणा और ईश्वरकी भूल-भुलैया'से तो उसके पिताजीने ही पिण्ड छुड़ा लिया था। माताजीमें कुछ बातें थीं, पर ऐसा कुछ नहीं। स्त्रियाँ कुछ भावुक होती ही हैं। हरीश तो छात्रोंमें अग्रणी रहा है। नियम, संयम, धर्म, ईश्वर——इन सबका उपहास करके इनकी दासतासे मुक्ति पा जाना ही तो गौरव है मनुष्यके लिये। हरीश अग्रणी ही रहा है इसमें और बूढ़े खूसट दकियानूस प्रोफेसरोंको चिढ़ानेमें कितना आनन्द आता था उसे।

सहसा पिताजीका हार्ट फेल हो गया। इतने बड़े वकील, पर पसलियोंके नीचे धुकपुक करता जो छोटा-सा हृदय है, वह तो किसीकी अपेक्षा नहीं करता। न्यायालयमें खड़े थे और वहीं·······। हाँ, तो उसके पश्चात् समवेदना, शोकप्रकाश, समाचारपत्रोंमें संवाद—यह बड़ा दम्भी समाज है। सबने इतना तो ढोंग रचा और जब सहायताकी बात आयी, किसीकी जेब ऐसी नहीं, जो खाली न हो। कुछने तो रूखा उत्तर दे दिया। अब तो ये सब पहचानते तक नहीं।

किसे पता था कि पिताजी इतना कर्ज कर गये हैं। वह सामान फर्नीचरतकका नीलाम, वह बँगलेसे निर्वासन! माता मर गयी इन सब आघातोंसे और हरीश——बेचारा हरीश बच रहा है। बच ही तो रहा है यह सब भोगने। कहाँ एम्० ए० पास करनेके पश्चात्की वे पार्टियाँ, वे उत्साह और कहाँ·······। पिताजी योजना बनाते ही रहे अपने होनहार पुत्रके सम्बन्धमें और उसी समय जाना था उन्हें।

पता नहीं कितनी बातें स्मरण आयीं। एकाकी रोने और हिचकनेका यह पहला ही दिन तो नहीं है। शरीर-परके वस्त्रतक बिक चुके। जो लोग बड़े आदरसे मिलते थे, वे अब पहचानते तक नहीं। आज सबसे प्रिय एकमात्र सम्पत्ति फाउन्टेनपेनको बेचे भी दो दिन हो चुके। उसका मूल्य भी अब तो उदरमें पहुँच चुका। फुटपाथपर या पार्कके कोनेमें सो लिया जा सकता है और यह तो अभ्यस्त बात हो गयी, पर भूख——पेट तो नहीं मानता। 'काम नहीं!' सब एक ही बात कहते हैं, सब कहीं एक ही उत्तर मिलता है और तब सचमुच संसारमें क्या काम है उसका।

'भगवान्' छिः! यह तो मूर्खोंकी कल्पना है। एम्० ए० हरीश इसे मानने चले? पर पता नहीं क्यों यह 'भगवान्!' आज विचित्र अद्भुतरूपसे मनमें उठ रहा है। जैसे प्राण पुकारते हों 'भगवान्!' तभी लगा कि कण्ठ सूख रहा है। देरसे प्यास लगी है। दोनों हाथ भूमिपर लगाकर वृद्धकी भाँति थका-सा उठा युवा हरीश। वह बाहर प्याऊपर आ गया!

× × × ×

'भगवान्, मेरे इस सौदेमें लाभ होना ही चाहिये। मैं भलीभाँति पूजा करूँगा आपकी।' इन सेठजीको तो हरीश पहचानता है। ये तो व्यापारियोंमें अच्छे प्रतिष्ठित हैं। ये क्यों इस पत्थरकी मूर्तिके सामने इस प्रकार हाथ जोड़ रहे हैं?

'प्रभो! मेरा बच्चा आज दस दिनसे चारपाईपर है। एक ही लड़का है मेरे। उसे अच्छा कर दो। अच्छा कर दो उसे नाथ और मैं आपकी पूजा करूँगा।' ये वकील साहब——ये पढ़े-लिखे सुसभ्य! क्या करें, एक ही लड़का और वह भी बीमार——बेचारेकी बुद्धि व्यवस्थित नहीं है इस समय। हरीश प्याऊसे जल पीकर फिर मन्दिरमें आ गया था। आज पहली बार वह एक मन्दिरमें आया था। पट खुल गये थे, लोग दर्शनोंको आ रहे थे। थका, क्लान्त हरीश——वह जल पीकर फिर भीतर लौट आया। कहीं जानेका उत्साह नहीं था उसमें। इतने लोग आ गये हैं, इतने

लोग खड़े हैं, अब एक ओर बैठनेका अवकाश तो है नहीं, वह भी पीछे एक ओर खड़ा हो गया। कौतूहलपूर्वक देखने लगा। उसे दर्शन करने और प्रणामसे क्या काम; वह तो देख रहा था यहाँका कौतुक।

'भगवान्! इस मुकदमेंमें मेरी लज्जा रख दो। मैं पाँच सेर लड्डू चढ़ाऊँगा।' मूर्ख कहींका—हरीशने मन-ही-मन उन बाबू साहबपर रुष्ट होते हुए कहा। लोगोंमें तो बड़ी बुद्धिमानी बघारते हैं और यहाँ इस पत्थरके सामने आये हैं गिड़गिड़ाने। वहाँ वकीलकी फीस जितनी दे डालते हैं, उतना भी यहाँ नहीं लगाना चाहते और पूरा मुकदमा जीत लेना चाहते हैं। पाँच सेर लड्डू—बस, इतनी घूस पर्याप्त मान ली है इन्होंने।

'भगवान्! मैं ऐसी भूल फिर कभी नहीं करूँगा। अब सावधान रहूँगा। मेरी जान बचा दो इस बार।' ये दारोगाजी हैं। कहीं किसी घातमें पकड़े गये जान पड़ते हैं। अब सावधान रहेंगे ये। दूसरोंका गला दबानेमें थोड़ी भूल हुई—अब सावधानीसे दबायेंगे, अब कोई जान नहीं सकेगा—यही तो? इस बार बच जाना चाहिये और तब ये माला चढ़ा देंगे—सवा रुपयेका गजरा! बड़ा बुरा लगा, बड़ा क्रोध आया हरीशको, पर वह चुप रहा।

'मेरा यह काम कर दो। मैं तुम्हें लड्डू दूँगा, माला दूँगा, पूजा करूँगा' और कुछ तो यह भी नहीं करना चाहते। वे तो केवल कहते हैं—मेरा अमुक काम कर दो। सब आज्ञा देने आते हैं। सब ठगने आते हैं। उस सेठको सौदेमें लाभ हो या न हो, पर दलालको पूरी दलाली देगा वह। लाभका कोई पूरा भरोसा दे तो सौ-दो-सौ देनेको भी उद्यत हो जायगा, पर यहाँ वह पूजा कर देगा और सो भी पूरा लाभ पहले हो तब! पूजा—दस पाँच रुपये लगा देगा पूजामें।' हरीश सोचता जा रहा था।

'वकील साहबने बच्चेकी ओषधियों और डाक्टरोंकी फीसमें कितना व्यय किया, कौन जाने। अभी कोई लड़केको अच्छा करनेके विश्वासपर देन-लेनकी बात करे तो हजार-पाँच सौ बड़ी बात नहीं और यहाँ वे कहते हैं—बच्चा अच्छा हो जाय तो पूजा करूँगा। पूजा—पथ्यका व्यय भी नहीं। वह भी अच्छा होनेपर। और डाक्टरसे इन्होंने कहातक न होगा कि फीस कल ले लीजियेगा।' हरीशके मनमें लोगोंकी स्वार्थपरताके प्रति विद्रोह जगने लगा और तब पता नहीं कहाँसे उसे उस पत्थरकी मूर्तिके प्रति मनमें सहानुभूति आ गयी। 'लोग इस भोले भगवान्को किस प्रकार ठगना चाहते हैं।'

हरीश सुनता रहा—सुनता रहा—'लोग केवल आज्ञा देने आते हैं। सब धूर्त हैं, सब स्वार्थी हैं, सब ठगने आते हैं इस भगवान्को। 'मेरा यह काम कर दो।' मनमें आता है कि एक थप्पड़ मार दें, लात मारकर निकाल दें, मन्दिरसे बाहर! 'यह काम कर दो। पूजा करूँगा। माला चढ़ाऊँगा।' धूर्त कहींके, सबसे निराश होकर, सारे उपाय करके तब आते हैं और सबसे सस्तेमें टरकाना चाहते हैं।' वह क्यों उत्तेजित हो रहा है, क्यों क्षुब्ध है, क्या अपनत्व है उसका इस मन्दिर और भगवान्से—कुछ सोचता नहीं वह। सम्भवत: भूखे, सब कहींसे 'काम नहीं'का उत्तर पाये हरीशकी समाजके लोगोंके प्रति जो घृणा, जो उपेक्षा है, वही इस रूपमें जाग्रत् हो गयी है।

'भगवान्, मेरे पास कुछ नहीं है! मैं यदि चार आना भी पा सकता तो दो आने तुमको दे देता। तुम मेरा कोई काम मत करना—मैं और प्रयत्न करूँगा। मैं अवश्य और प्रयत्न करूँगा और तुम्हें दो आने दूँगा। तुम मत करो इन धूर्तोंका काम।' हरीश स्वयं नहीं समझ सका कि इस पत्थरकी मूर्तिके प्रति कैसे वह इतनी बातें कह सका। भूखा हरीश—उसकी क्षुधा, उसका समाजके प्रति रोष—वह

उत्तेजनामें था। उसने अनुभव किया कि अब और यहाँ ठहरनेपर वह अपनेको रोके नहीं रह सकता। आगे बढ़कर लोगोंके बीचसे वह मूर्तिके सामने आया, जो मुखमें आया, कहकर वैसे ही लोगोंको ठेलते निकल गया मन्दिरसे बाहर।

'बदमाश है!' लोगोंमें एक हल्की-सी उत्तेजना आयी, हरीश जब ठेलकर आगे बढ़ा और ठेलकर ही निकल गया। कुछ लोग रुष्ट हुए मन्दिरमें यह धृष्टता देखकर।

'कोई पागल है!' दो क्षणमें ही लोग भूल गये। सब दर्शन करने और क्रमशः जाने लगे। भला कोई बिना मतलब कहाँतक दूसरोंको स्मरण रख सकता है। मन्दिरमें हरीश भी आया था, उस मन्दिरके पीठपर अधिष्ठित देवताको छोड़कर कौन इसे स्मरण रक्खे और क्या प्रयोजन इसका।

× × ×

'बाबूजी! तनिक यह तार पढ़ देंगे!' हरीशने घूमकर देखा। यही सेठजी तो हैं जो मन्दिरमें सौदेमें लाभका सौदा कर रहे थे भगवान्से। हाथमें कोई कागज लिये पुकार रहे हैं ये—'आपको कष्ट तो होगा।' सेठजीने बड़ी नम्रतासे कहा।

'मैं बेगार नहीं किया करता!' हरीशको बहुत रोष है सेठजीपर। ये स्वयं तो इतने बड़े सौदेमें भगवान्को भी पूजापर टरकाना चाहते हैं और हरीश तार पढ़ दे—क्यों पढ़ दे? हरीश इतना अनुदार तो नहीं है, वह तो दूसरोंकी सेवा, उनके कामके लिये सदा प्रस्तुत रहा है; लेकिन आज वह रोषमें है, इन सेठजीपर तो बहुत रुष्ट है वह। 'आपको मुझसे तार पढ़ाना हो, तो चवन्नी निकालिये।'

'जरा-सा तार पढ़ना और चार आने!' सेठजीने युवककी ओर ध्यानसे घूरते हुए देखा। 'यह तमकता चेहरा ये रूखे केश।' मुखसे कुछ न निकला सेठजीके। दूसरा समय होता तो वे कह देते—'आप कष्ट न करें। मैं और किसीसे पढ़वा लूँगा।' लेकिन भावकी सूचनाका समय है, क्या पता भगवान्ने सुन लिया हो। इधर-उधर कोई दीखता भी नहीं। बाजार जानेमें देर होगी। पता नहीं क्यों घरसे नौकर मार्गमें ही दे गया है तार उन्हें। जेबमें हाथ डाला उन्होंने—'आप रुष्ट न हों, यह रही चवन्नी।'

आश्चर्यसे हरीशने देखा सेठजीकी ओर। उसे इसकी आशा तो थी ही नहीं, पर उसका रोष शिथिल ही हुआ है तनिक, गया नहीं है। उसने चवन्नी निःसंकोचभावसे लेकर कमीजकी जेबमें डाल दी और तार सेठजीके हाथसे लेकर खंभेपरकी बिजलीके प्रकाशकी ओर झुक गया। तार पढ़कर उसने कागज लौटा दिया और इस प्रकार चल पड़ा, जैसे सेठजीसे उसे कोई मतलब न हो। सेठजीको तो बाजार पहुँचनेकी शीघ्रता है। तारमें अनुकूल भाव आये हैं। इस समय चवन्नी तो क्या रुपयेकी भी चिन्ता न होती उन्हें।

× × ×

'चवन्नी—इतनी शीघ्र, इतनी सरलतासे यह चवन्नी मिली है।' चवन्नीका मूल्य आज हरीशकी दृष्टिमें जो है, वह दूसरा कैसे समझ सकता है। 'दो आने मन्दिरके उस भगवान्को देने हैं। कितना भोला है वह भगवान् भी। सब उसे ठगनेको ही पहुँचते हैं।' हरीश चाहे जितना कंगाल हो गया हो, उसका हृदय कभी विश्वासघाती नहीं होगा। वह बेईमानी नहीं करेगा। दो आने भगवान्को देगा। उसके लिये तो दो आने आज पेटकी भूख मिटा देने भरको हैं ही। मन्दिरकी ओर मुड़ा वह।

'मन्दिर बंद हो गया! पुजारीने द्वार बंद कर दिये मन्दिरके?' हरीशने बंद द्वारके सम्मुख खड़े होकर भी अपने-आपसे ही पूछा। 'अब तो यह कल खुलेगा! क्या चिन्ता, कल सही। मैं कल दो आने

यहाँके भगवान्को दे जाऊँगा । अभी तो भूख लगी है ।'

'इसमें दो आने दूसरेके हैं, मैं उसका भाग दिये बिना अपना भाग ले लूँ—बेईमानी तो न होगी ? मैं अपना ही भाग तो ले रहा हूँ । बँटवारा तो हुआ नहीं; अपना भाग कहाँसे आया ?' दो आनेके चने ही तो लिये जा सकते हैं । बेचारा हरीश चनेकी दूकानके सम्मुख खड़ा भी हुआ और लौट आया। मन्दिरके बाहर ही जल-पीकर भूखा ही लेट गया वह भूमिपर । 'आज न सही, कल तो चने मिल ही जायँगे । चवन्नी अपने पास है ही ।'

'मन्दिरमें वह पत्थरकी मूर्ति, क्या उपयोग उसके लियें पैसेका ? उसे ये लोग 'भगवान्' कहते हैं—माला, चन्दन, वस्त्र, पक्वान्न—पदार्थोंका कितना दुरुपयोग है । कहाँ तो झोपड़ियोंमें, सड़कोंपर गरीब दाने-दानेको तरसते हैं और कहाँ एक पत्थरके पीछे यह पदार्थोंको—धनको नष्ट किया जाता है । पत्थरकी मूर्ति—उसे चन्दन लगाया तो, न लगाया तो; किंतु इन पंडे-पुजारियोंकी तोंद कैसे भरे ।' हरीशकी भावुकता चली गयी थी । उसकी बुद्धि जाग गयी थी । उसे लोगोंकी मूर्खता और पुजारी-पंडोंके दम्भपर क्रोध आ रहा था ।

'मैं भी कितना मूर्ख हूँ । चवन्नी मुझे मिली है, मेरी है । उस मूर्तिको क्या करना है पैसेका । पुजारीको मैं और दो आने देने चला हूँ ।' वह सोचने लगा कि क्यों न उठें, दो आनेसे अपनी भूख शान्त कर लें और शेष दो आने कलके लिये बचा लें; पर शरीर बहुत थक गया है । मन क्लान्त हो गया है । उठनेकी बात सोचकर भी उठा नहीं जाता ।

'मैंने दो आना देनेको कहा है । वह मूर्ति सही, पर मैंने उसीको तो देनेको कहा है । दो आनेके लिये बेईमानी करूँ मैं, छिः ! उसका उपयोग हो या न हो; मैंने कहा है न !' हरीशने सोच लिया कि वह दो आने तो मूर्तिको—उस भगवान्को देगा ही । पुजारीको नहीं देगा; किसी प्रकार नहीं देगा पुजारीको । दो आनेके फूलोंकी माला लेगा और उससे मूर्ति और सुन्दर दीखेगी ।

कब पलकें बंद हुईं, कब सो गया हरीश, यह जब उसीको पता न लगा, तब मुझे क्या पता हो ।

× × ×

'भगवान्, आपने मेरी विनयपर ध्यान नहीं दिया। आप तो दयामय हैं । प्रभो ! आजका सौदा·······।' सेठजी मन्दिरमें दोनों समय आते हैं । द्वारपर हरीशको देखते ही पहचान लिया उन्होंने ! हरीशने भी आज नम्रतासे उनके 'जय रामजी'का उत्तर दिया और पूछ लिया । सेठजीको पर्याप्त लाभ हुआ है, ऐसे सौदोंमें लाभ हुआ है, जिनमें लाभकी आशा छोड़ चुके थे वे; पर उस सौदेमें कहाँ लाभ हुआ, जिसके लिये कल प्रार्थना कर गये थे वे भगवान्से । उस सौदेमें तो उन्हें कुछ थोड़ी हानि ही रही है । तभी तो वे यह दो पैसे-वाली माला लिये आये हैं मन्दिरमें । दूसरे सौदोंमें लाभ हुआ—यह तो कोई बात नहीं, वह तो हो गया! भगवान्ने उनके बताये सौदेमें क्यों लाभ नहीं कराया! कैसे पूजा करें वे ?

'भगवान् ! मेरा बच्चा रातको कुछ ठीक रहा है। आप दया करें उस बालकपर । आज मैंने बड़े वैद्यजीको बुलाया है, बस, उनकी ओषधिसे जरूर लाभ हो जाय।' लाभ होना चाहिये और वह भी अब बड़े वैद्यजीकी ओषधिसे । पूजा—पूजा तो लड़का पूरी तरह अच्छा हो जायगा तब न ? अभी तो वह कुछ ठीक रहा है।

'भगवान्,·······!'हरीश देखता रहा चुपचाप। बाबू साहब, दारोगाजी, कलके अनेक लोग आये और चले गये । किसीको थोड़ा लाभ हुआ, किसीको बताये स्थानमें लाभ नहीं हुआ, किसी और स्थानमें हुआ तो उसे वह क्यों गिने । कोई आया है स्मरण कराने कि उसका काम भूल न जाय और कुछ लोग दोनोंमें पूजा

लाये हैं । 'भगवान्, इस बार हाथ संकटमें हैं ।' काम हो जानेपर वे अब आर्थिक कष्टका अनुभव करने लगे हैं । आगे कभी दूसरा काम पड़ेगा तब यह कमी पूरी कर देना चाहते हैं वे ।

'आपने इतना प्रसाद तो रख लिया । ऐसा तो और किसी मन्दिरमें नहीं होता ।' ये सज्जन झगड़ रहे हैं पुजारीसे । पुजारीका कहना है कि आधा प्रसाद रख लेनेका अधिकार है उसे । यह समझौता कैसे हुआ; हरीशको इसे देखनेका अवकाश नहीं । वह अपनी भावनाओंमें मग्न है ।

'भगवान् मेरा काम कर दो !' इतने लोग आते हैं, इनका काम होता है—मूर्ख तो नहीं हैं ये सब । अभी चार आने तो जेबमें हैं उसीकी । कितनी अकल्पित रीतिसे मिले ये चार आने । तब यह भगवान् हैं, कुछ करते तो हैं । हरीशने मूर्तिकी ओर देखा, एकटक देखता रहा ।

'बड़े भोले हैं ये भगवान् ! लोग ठगते ही रहते हैं इन्हें । सब आते हैं—आज्ञा देते हैं और चाहते हैं कि उनका बताया कार्य, उन्हींकी बतायी रीतिसे और उन्हींके बताये समयपर पूरा हो जाय । इतनेपर भी कम-से-कम पारिश्रमिक देना चाहते हैं । काम हो जानेपर बहानेबाजी और यह प्रसादका झगड़ा········।' हरीशको बहुत बुरा लग रहा था यह दम्भ लोगोंका ।

'क्यों करते हो तुम यह सब ?' जैसे वह भगवान्से ही पूछ रहा हो ? 'अच्छे वस्त्र, सुन्दर मालाएँ, चन्दन, धूप, आरती—यह सब कहाँसे आवे ? अपनी आदत बिगड़ गयी । इस सबके बिना रहा नहीं जाता और स्वयं कहीं जा नहीं पाते । दूसरोंके द्वारा ही तो यह सब मिलता है ।' हरीशने अपने-आप ही सब सोच लिया और तब उसे भगवान्की विवशतापर बहुत दया आयी । हरीशको कौन बतलाता वहाँ कि मन्दिरके ये भोले दयामय देवता अपने सम्मुख आये आर्तजनोंके भाव ही देखते हैं । पदार्थोंका इनकी दृष्टिमें क्या मूल्य । इन पूर्णकामको प्रयोजन क्या लोगोंके पदार्थोंका । ये भावमय हैं—लेकिन हरीश कहाँ धर्मशास्त्री है कि यह सब सोचे—

'मैं करूँगा ! मैं दूँगा तुम्हें यह सब । मत करो तुम इन धूर्तोंका कोई काम ! मेरा कोई काम नहीं । कोई काम मत करना तुम मेरा । मैं तुम्हें दूँगा यह सब !' हरीश अपने आवेशमें भूल ही गया कि वह कैसे देगा यह सब । उसे अपना ही पेट भरनेको कुछ नहीं मिल रहा है । वह तो बाहर गया और पूरी चवन्नीका गजरा ले आया । भूल गया वह कि उसमें एक दुअन्नी उसकी है और वह कलसे भूखा है । जब पुजारीने उसकी वह सुन्दर माला भगवान्के कण्ठमें उठाकर डाल दी, जैसे मूर्ति मुसकरा उठी हो । हरीशको लगा, भगवान्—भोले भगवान् प्रसन्नतासे खिल उठे हैं और उनकी शोभा बढ़ गयी है ।

'बाबू, प्रसाद लेते जाइये !' जिसने इतना सुन्दर हार चढ़ाया भगवान्को, उसे पुजारीजी मन्दिरसे जाते समय प्रसाद तो देंगे ही । लेकिन आश्चर्यसे देखते ही रह गये वे—'कैसा है यह युवक ? न भगवान्को प्रणाम, न आदरका कोई भाव और कहता है कि मुझे कुछ लेना नहीं है ।' पुजारीजी देखते रहे और हरीश बाहर निकल गया मन्दिरके । उसने देखा ही नहीं मुड़कर पुजारीजीकी ओर ।

× × ×

भगवान्की कृपासे नगरके सरकारी कालेजमें हरीशको प्रोफेसरी मिल गयी । लोग कहते हैं कि हरीशचन्द्र एम्० ए०-जैसा सुयोग्य प्रोफेसर यहाँके कालेजको सौभाग्यसे ही मिला है । उनके समान श्रमशीलता, वैसी प्रतिभा कठिनतासे ही मिलती है; किंतु है बड़ा लोभी और मक्खीचूस आदमी । रात-राततक ट्यूशन करता फिरता है और शरीरपर देखो तो वही फटी

क़मीज और फटी धोती। कालेजमें लड़कोंके चिढ़ाने और अधिकारियोंके हँसी करनेका भी कोई प्रभाव नहीं उसपर। दिन-रात रुपया-रुपया, कोई है भी तो नहीं। क्या करेगा इन रुपयोंका। लेकिन मन्दिरके पुजारीजीको आश्चर्य है कि ये बाबू साहब इतनी मूल्यवान् सामग्रियाँ नित्य कहाँसे जुटा पाते हैं और इतनी श्रद्धा होनेपर भी ये प्रसाद क्यों नहीं लेते? कौन समाधान करे इसका। मन्दिरके वे भोले भगवान् कब किसका चित्त धीरेसे कैसे चुरा लेते हैं—कौन कह सकता है।

* * *

धन साधन है या साध्य ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

बृहस्पतिस्मृतिमें एक श्लोक है—

आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया।
तथा चेद्विश्वकर्तारं को न मुच्येत बन्धनात्॥

'धनकी इच्छासे मनुष्य जैसे आदर और विवेकसे धनवान्‌की सेवा-स्तुति करता है, वैसे ही ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छासे विश्वरचयिता भगवान्‌की सेवा करे तो जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट जाय।' श्रीभर्तृहरिने एक प्रसङ्गमें कहा है—

'न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि।'

अर्थात् 'जगत्‌में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो स्वभावसे ही अच्छी या बुरी हो।' अच्छी-बुरी वस्तु बनती है उसके उपयोगके अनुसार। अणुशक्तिसे लोक-सुखके कार्य भी हो सकते हैं और अणुबमसे निरीह लाखों प्राणी मारे भी जाते हैं। साँप दूध पीता है तो उससे जहर पैदा होता है और वह मनुष्योंके प्राण हरता है। वही दूध एक बालकको पिलाया जाय तो उससे बालकके शरीरका गठन होता है। इसी प्रकार धन स्वभावसे बुरा नहीं है, उसका दुरुपयोग ही उसे बुरा बनाता है और उसीसे मनुष्यका अधःपतन होता है। यदि सदुपयोग होता है तो उससे मनुष्यकी उन्नति होती है। धनका उपयोग जहाँतक साधनके रूपमें होता है, वहाँतक वह हानिकारक नहीं होता, पर यदि धनको साधनके बदले साध्यके सिंहासनपर बैठा दिया जाता है तो वह निश्चय ही मनुष्यका पतन कराता है।

यह बात तो सर्वसम्मत है कि मनुष्य-जीवनका ध्येय भगवत्प्राप्ति है; क्योंकि दूसरे किसी भी शरीरमें भगवत्प्राप्ति-की योग्यता नहीं है, जब कि विषय-सुख तो चौरासी लाख योनियोंमें अपने-आप मिल जाता है। अतएव भगवत्प्राप्तिको ही जीवनका ध्येय मानकर जीवन-निर्वाहके साधनके तौरपर न्याय और धर्मके अनुसार धन कमाना बुरा नहीं है, वरं कमाना अत्यन्त आवश्यक है। पहले भी और आज भी धनके बिना जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। इसीसे अर्थको भी एक पुरुषार्थ बताया गया है। जो मनुष्य अपना निर्वाह भी नहीं कर सकता, वह दूसरोंकी सहायता कैसे कर सकता है! अपना निर्वाह करते हुए, दूसरेकी सहायता करना—यह भी जीवनका एक बड़ा लाभ है। एक श्लोक है—

भिक्षुका नैव भिक्षन्ति बोधयन्ति गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां लोका अदातुः फलमीदृशम्॥

भावार्थ यह कि—भीख माँगनेवाले भीख नहीं माँगते, वे तो घर-घर यह शिक्षा देते हैं कि भाई! दान करो, दान करो, इस जन्ममें दान न करोगे तो इस समय जैसी हमारी स्थिति है, वैसे ही तुम्हारी होगी। इस चातुर्मासमें नहीं बोओगे तो वर्षभर क्या खाओगे? हम लोगोंने पूर्वजन्ममें दान नहीं किया, इसीसे आज भीख माँग रहे हैं—इस प्रत्यक्ष उदाहरणसे शिक्षा ग्रहण करो।

यहाँतक हमने देखा कि जीवन-निर्वाहके लिये धन अत्यन्त आवश्यक है; परंतु उसकी प्राप्ति होनी चाहिये सन्मार्गसे। धनकी प्राप्ति सन्मार्गसे ही क्यों करनी चाहिये, यह विषय विशेष विचारणीय है। जिस-किसी प्रकारसे प्राप्त किया हुआ धन क्या धन नहीं है? बैंकमें उसका ब्याज भी उतना ही मिलता है, जितना न्यायोपार्जित धनका। व्यवहारमें वह धन न्यायोपार्जित धनसे जरा भी कम काम नहीं देता। उत्तरमें निवेदन है कि ये विचार

केवल स्थूल दृष्टिके हैं । इनमें सूक्ष्म विचार और दूरदर्शिता नहीं है । अब देखिये—शास्त्रोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ बतलाये हैं । यहाँ परम पुरुषार्थ मोक्ष । पिछले तीनों पुरुषार्थ अन्तिम पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्तिमें बाधक हों, ऐसे नहीं होने चाहिये । जीवन धर्मपरायण नहीं होगा तो परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होगी ही नहीं—यह प्रत्यक्ष है । इस पुरुषार्थचतुष्टयका समन्वय इस प्रकार है कि जो मनुष्य धर्मसे अर्थकी प्राप्ति करके उस अर्थका उतना ही उपयोग करता है, जितना जीवननिर्वाहके लिये आवश्यक है, वह चतुर्थ पुरुषार्थको थोड़े ही प्रयासमें सिद्ध कर सकता है । मनुस्मृतिमें तो कहा है कि 'अधर्मसे प्राप्त किया हुआ धन कुछ दिन रहकर फिर न्यायोपार्जित धनको भी साथ लेकर नष्ट हो जाता है।' यदि कदाचित् ऐसा होनेके पहले ही शरीर छूट जाता है तो वह धन तो यहीं पड़ा रह जाता है और जीवनके किये हुए पापके फलस्वरूप यातना-शरीर धारण करना पड़ता है । अतएव अधर्मसे प्राप्त किया हुआ धन बैंकमें चाहे सुन्दर मालूम हो, पर वह है विषसे भरे हुए सोनेके घड़े-जैसा । 'विषरस भरा कनक घट जैसे ।'

अब धर्मसे धन प्राप्त करनेका अभिप्राय भी समझना चाहिये । मनुमहाराजने धर्मके दस अङ्ग बतलाये हैं; परंतु धनके उपार्जनमें तो उनमेंसे दो ही अङ्गोंका पूरा पालन हो जाय तो बहुत है । इनमें पहला अङ्ग है—'अस्तेय'। स्तेय कहते हैं चोरीको, अतः अस्तेयका अर्थ है 'चोरी न करना ।' किसीकी अनुपस्थितिमें या नजर चुराकर उसकी वस्तुको ले लेनेका नाम ही चोरी है, ऐसी बात नहीं है। दूसरेके जरा-से हकको ले लेना भी चोरी है । यहाँतक कि, दूसरेकी वस्तुकी ओर ललचायी नजरसे देखना भी चोरी ही है। श्रुतिमें इसलिये कहा है—'मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।' व्यापारी उचितसे अधिक मुनाफा ले, यह भी चोरी है । माप-तौलमें कम दे—ज्यादा ले ले, खरीदारकी गरज समझकर अधिक पैसा वसूल कर ले, अच्छा नमूना दिखाकर चाहे जैसा माल दे दे—यह सभी चोरी हैं । बलवान् राजा उचितसे अधिक कर वसूल करे और इसके लिये प्रजाको सतावे, यह भी एक प्रकारकी डकैती है । काला बाजार, रिश्वतखोरी और अनुचितरूपसे धनकी वसूली करनेवाले चाहे जेलमें न हों पर वे हैं तो चोर—डाकू ही । इस प्रकार सभी क्षेत्रोंमें मजदूरसे लेकर प्रधान पदोंतकमें, जो कोई भी अपने उचित हक़से अधिक लेते हैं और उचितसे कम काम करते हैं, वे सभी चोर कहलाते हैं ।

दूसरा अङ्ग है—अपरिग्रह । संग्रहको ही परिग्रह कहते हैं । अतएव अपरिग्रहका अर्थ हुआ संग्रह न करना । आजका अन्न-सङ्कट, वस्त्र-सङ्कट और अन्य प्रायः सभी सङ्कट परिग्रहके पापसे ही प्रकट हुए हैं और उसीसे पनप रहे हैं । परिग्रह बड़ा पाप है, यह समझकर कल्याणकामी पुरुषोंको संग्रहखोरीसे दूर ही रहना चाहिये ।

धर्मके इन दो अङ्गोंपर यदि व्यक्ति और सारी जनता ध्यान रक्खे तो देशका दुःख अवश्य दूर हो जाय । परंतु जबतक इसके लिये दृढ़ निश्चयके साथ व्यक्तिगत प्रयत्न नहीं होगा, इस दुःखसे प्रजाको रोते ही रहना पड़ेगा । भगवान् सबको सन्मति दें ।

अब यह देखना है कि धनको यदि साध्य या जीवनका ध्येय मान लें तो वह किस प्रकार हानिकारक होता है । चित्तका ऐसा स्वभाव है कि वह जिस वस्तुका चिन्तन करता है, उसी आकारका बन जाता है । अतएव यदि धनको ही जीवनका ध्येय बना लेंगे तो जीवनका सारा समय धनके चिन्तनमें ही जायगा और परिणाममें चित्तके ध्येयाकार बन जानेपर धनके सिवा दूसरी चीज अच्छी लगेगी ही नहीं । शास्त्रमें कहा है—

जगल्लुब्धा धनमयं कामुकाः कामिनीमयम् ।
नारायणमयं धीराः पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

भाव यह कि धन ही जिसका ध्येय है, वह जगत्भरको एक धन-संग्रहके साधनरूपमें देखता है, उसे धनके सिवा दूसरी दृष्टि ही नहीं है । कामी पुरुष जगत्को स्त्री-प्राप्तिके साधनरूपमें देखता है । धीर साधक पुरुष ईश्वर-प्राप्तिको जीवनका ध्येय बनाता है; इसलिये वह ज्ञानकी आँखोंसे जगत्को नारायणरूप देखता है ।

जब मनुष्यके सारे व्यापार—सारी चेष्टाएँ केवल धनकी प्राप्तिके लिये ही होती हैं, तब उसका अधःपतन किस प्रकार होता है, इसको भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायमें विशदरूपसे समझाया है । वहाँ कहा है—मनुष्य जब धनको (मूलमें 'विषय' शब्द है पर मनुष्य धनकी प्राप्ति इसीलिये करता है कि उससे भोग मिलते हैं) जीवनका ध्येय बनाता है, तब उसका चित्त हर समय धनका ही चिन्तन करता है । चिन्तन करते-करते उसीमें आसक्ति

हो जाती है। आसक्तिसे उसको प्राप्त करनेकी प्रबल कामना जाग उठती है, कामनामें प्रतिरोध होनेपर अर्थात् इच्छित वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न आनेपर क्रोधाग्नि भभक उठती है, क्रोधसे विवेकका नाश हो जानेपर कर्तव्या-कर्तव्यका भान नहीं रहता। ऐसा होनेपर सारासार, धर्माधर्म या नीति-अनीतिके विचार ही मनमें नहीं आते। परिणाममें मनुष्यका मनुष्यत्व मिट जाता है और वह क्या बन जाता है—यह कहा नहीं जा सकता। उसे क्या कहना चाहिये—'ते के न जानीमहे।' यह बात समझमें नहीं आती—उसका सर्वनाश हो जाता है।

समस्त पाप इस विषय-लालसासे ही होते हैं। यह विषयोंकी लालसा और विषयोंकी प्राप्तिके लिये धनकी लालसा—धन इकट्ठा करनेसे नहीं मिटती। ज्यों-ज्यों धनका ढेर लगता जाता है, त्यों-ही-त्यों अधिक-से-अधिक प्राप्त करनेकी तृष्णा भी बढ़ती ही जाती है। धनसे या विषय-भोगसे किसीका मन भरा हो, ऐसा भूतकालमें भी कभी नहीं सुना गया, फिर आजके भोगपरायण-कालमें तो ऐसा होगा ही कैसे?

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते।'

भगवान्ने कहा है लालसाको—कामनाको तो मार ही डालना चाहिये। उसको मारे बिना अर्थात् वैराग्यके द्वारा उसका दमन किये बिना उसके बन्धनसे छूटनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

जीवन-निर्वाहके साधनरूपमें धनकी प्राप्तिको शास्त्रोंमें निन्दित नहीं बतलाया है; बल्कि उसकी तो आवश्यकता बतलायी है। शास्त्रोंने तो निन्दा की है धनको ही जीवनका ध्येय बना लेनेकी और उसकी अनर्गल लालसा-की। पर जिसकी बुद्धि सारासारका निश्चय करनेमें समर्थ नहीं रह गयी है, उसका ध्यान शास्त्रोंकी चेतावनीकी ओर जाना बहुत कठिन है। एक जगह कहा है—

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्ति च संपत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः॥

अर्थात् धनके अर्जनमें दुःख है, विपत्तिकालमें—युद्ध, राज्यक्रान्ति, महामारी, अग्निप्रकोप, बाढ़ तथा भूकम्प आदिके समय धन अत्यन्त संतापदायक बन जाता है। ऐसे समय धनवान्की स्थिति बड़ी करुणाजनक हो जाती है। इसी प्रकार जब बहुत अधिक परिमाणमें धन इकट्ठा हो जाता है, तब वह मनुष्यकी बुद्धिको नष्ट कर देता है। जिससे वह एक उन्मत्त नशेबाजके सदृश आचरण करने लगता है और फलतः भयङ्कर विपत्तियोंमें फँस जाता है, ऐसी अवस्थामें धनको कब सुख देनेवाला समझा जाय?

शास्त्रकार कहते हैं—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

धनकी तीन गति होती है—उत्तम गति है धनका परोपकार—दान-पुण्य आदिमें सद्व्यय करना, मध्यम गति है—अपने उपयोगमें लाना। जो धनी अपने धनका इन दो प्रकारोंसे उपयोग नहीं करता, उसके धनकी तीसरी गति होती ही है। किसी भी मार्गसे उसके धनका नाश हो जाता है।

यहाँ जो धनको अपने उपयोगमें व्यय करनेकी बात कही गयी है, यह जरा विशेष विचारणीय है। धनकी अधिष्ठातृ देवी हैं—श्रीलक्ष्मीजी। लक्ष्मी भगवान्की अर्धाङ्गिनी हैं। भगवान् परम पिता हैं। वे सबकी माता हैं। वे यदि अपने घर पधारें तो हम उन्हें अपनी भोग्या न मानकर माता मानें और भगवान्की सेवामें लगा दें। यही कर्तव्य है। अर्थात् अपने निर्वाहके योग्य धनका अपने लिये उपयोग करें, शेष सारा जनतारूपी जनार्दनकी सेवामें लगा देना चाहिये। मनुष्यका जीवन भोगमय न होकर त्यागमय होना चाहिये। धनका उपयोग भोग-सामग्री संग्रह करनेमें नहीं होना चाहिये। मनुष्य एक बेसमझीके कारण ही भोग-सामग्री इकट्ठी करता है। मनुष्यमात्र सुखकी इच्छा करता है और इसीलिये उसकी सारी प्रवृत्तियाँ सुखप्राप्तिके लिये ही होती हैं। वह समझता है कि भोग-सामग्रीका जितना अधिक संग्रह होगा, उतना ही सुख अधिक होगा। पर होता है इससे विपरीत। ज्यों-ज्यों भोगके साधन बढ़ते जाते हैं—त्यों-ही-त्यों भोगतृष्णा अधिक-से-अधिक उग्र बनती जाती है। और यह तृष्णा ही संसारमें बड़े-से-बड़ा दुःख है। सुख भोगमय जीवनमें कदापि नहीं है। सुख है—त्यागमय जीवनमें। जिस मनुष्यकी आवश्यकता जितनी ही थोड़ी है, उतना ही वह अधिक सुखी है। अतः जो मनुष्य सुखी जीवन बिताना चाहता हो, उसे धीरे-धीरे अपनी आवश्यकताओंको कम करना चाहिये और सन्तोषवृत्तिकी शिक्षा लेनी चाहिये। 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' गीताके इस

महावाक्यको जीवनमें उतारना चाहिये । श्रीतुलसीदासजीके कथनानुसार 'यथालाभ संतोष सुख' की वृत्ति बनानी चाहिये । भोगोंके भोगमें तो चित्त व्यग्र ही रहता है । उससे सुख-शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता । पर सन्तोषसे चित्त शान्त रहता है और उस समय सुख-शान्तिका अनुभव होता है । पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—

संतोषादनुत्तमसुखलाभः । (२ । ४२)

अर्थात् जिससे बढ़कर दूसरा न हो ऐसा अप्रतिम सुख प्राप्त करना हो तो सन्तोषवृत्तिको धारण करना चाहिये । 'सन्तोष ही सुख है'—यह एक महामन्त्र है, इसको सतत स्मरण रखना चाहिये ।

इस छोटे-से निबन्धमें हमने देखा कि जीवननिर्वाहके साधनके तौरपर धन कमाना आवश्यक है । परंतु धनकी प्राप्ति ही जीवनका ध्येय नहीं बन जाना चाहिये । फिर, धनकी प्राप्ति भी न्याय और नीतिके मार्गसे ही होनी चाहिये । अन्याय और अधर्मसे आया हुआ धन नरकोंमें ले जाता है । साथ ही धनका उपयोग भी भोग-सामग्रीके संग्रहमें नहीं होना चाहिये । परंतु अपने उपयोगके आवश्यक धनके अतिरिक्त शेष धनको परोपकारमें लगाना चाहिये ।

अब, जीवननिर्वाह कैसे करें ? इसको योगवासिष्ठके इस एक श्लोकसे समझना चाहिये—

आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं
कुर्यादाहारं प्राणसन्धारणार्थम् ।
प्राणाः सन्धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥

शरीर है, इसलिये उसके निर्वाहार्थ न्यायमार्गसे धन कमाना चाहिये । शरीरको बनाये रखनेके लिये आवश्यक आहार-विहार करना चाहिये । खान-पानके लिये जीवन नहीं, पर जीवनके लिये खान-पान है । इस सूत्रको याद रखना चाहिये । जीवनको बनाये रखना चाहिये भगवत्प्राप्तिके लिये और भगवत्प्राप्ति इसी जीवनमें कर लेनी चाहिये, जिससे पुनः गर्भवासका दुःख न भोगना पड़े । यह नियम जैसे व्यक्तिके लिये सुखरूप फल देनेवाला है, वैसे ही समष्टिके लिये । जो व्यक्ति या समाज इसका पालन करेगा; उसको दुःख नहीं भोगना पड़ेगा ।

भौतिकवादका सिद्धान्त इससे सर्वथा उलटा है, वे कहते हैं—'Do not curtail your wants, but try to attain them.' 'तुम अपनी आवश्यकताओंको घटाओ मत, पर उनको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करो ।' आवश्यकताओंको ज्यों-ज्यों पोषण मिलेगा, त्यों-त्यों वे बढ़ती ही जायँगी और इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन आवश्यकताओंकी पूर्तिके प्रयत्नमें ही बीत जायगा । इतनेपर भी आवश्यकताओंकी प्राप्ति अधूरी ही रहेगी । इसीका नाम निष्फल जीवन है और इसीसे हमारे लिये यह सिद्धान्त उपयोगी नहीं है ।

* * *

विनय

हे हरि ! कवन दोष तोहिं दीजै ।
जेहि उपाय सपनेहुँ दुरलभ गति, सोइ निसि-बासर कीजै ॥
जानत अर्थ अनर्थरूप, तमकूप परब यहि लागे ।
तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों, फिरत बिषय अनुरागे ॥
भूत-द्रोह कृत मोह-बस्य हित आपन मैं न बिचारो ।
मद-मत्सर-अभिमान ग्यान-रिपु, इन महँ रहनि अपारो ॥
बेद-पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जगब्यापी ।
बेधत नहिं श्रीखंड बेनु इव, सारहीन मन पापी ॥
मैं अपराध-सिंधु करुनाकर ! जानत अंतरजामी ।
तुलसिदास भव-ब्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र यथासमय मिल गया था । समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ । आपके प्रश्नोंका उत्तर नीचे लिखा जाता है ।×××

(१) भगवन्नामकौमुदी-जैसे प्रामाणिक ग्रन्थोंमें जो नामकी महिमा कही गयी है, वह मेरी समझमें झूठ नहीं है, परंतु वह साधारण मनुष्योंकी समझमें नहीं आ सकती; क्योंकि अविश्वासके पर्देके कारण उस प्रभावसे उनका सम्बन्ध नहीं होता । नामके माहात्म्यमें विश्वास न करना जब कौमुदीकारके मतमें नामापराध है और नामापराधके कारण उसका फल नहीं होता । इस युक्तिसे भी बिना विश्वासके लिये हुए नाममें समस्त पापोंको नाश करनेकी शक्ति सिद्ध नहीं होती । 'भगवान्के नाममें पापोंको नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतने पाप करनेमें कोई पापी भी समर्थ नहीं है ।' यह बिल्कुल ठीक है । परंतु इस माहात्म्यके आधारपर जान-बूझकर किये हुए पापोंका नाश 'नाम महाराज' नहीं करते । वे यदि ऐसा करें तो नाम पापोंका नाशक सिद्ध न होकर पाप करवानेवाला सिद्ध होगा । यह उक्ति प्रेम और निरन्तरताकी शर्तपर न होनेपर भी विश्वासकी शर्त तो सबके साथ है ही, क्योंकि गीता १७ वें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें बिना श्रद्धाके किये हुए कामको 'असत्' बतलाया है ।

गीता अध्याय ९ श्लोक ३० के कथनानुसार यह सिद्ध नहीं होता कि दुराचारको एकदम छोड़नेपर ही नाम-जप सार्थक होता है—यह बिल्कुल ठीक है । परंतु वह दुराचार करना नहीं चाहता, उसको छोड़ना चाहता है । यह तो बिल्कुल स्पष्ट है तथा यह भी स्पष्ट है कि उसका विश्वास पूर्ण और अटल है । अतः उसके बाद उसका शीघ्र धर्मात्मा बन जाना तो उस परम सुहृद् भगवान्की अहैतुकी दयापर निर्भर है । इसलिये वह सर्वथा उचित माळूम होता है ।

श्रीतुलसीदासजीका कथन भी विश्वासको ही प्रधानता देता है और विश्वास बढ़ानेके लिये ही उन्होंने ऐसा कहा है । इस कथनका समर्थन भगवान्ने भी गीता अध्याय ६ श्लोक ४० में किया है ।

आपने लिखा कि प्रेम और विश्वास साधनकी वस्तु नहीं हैं सो इनके लिये क्रियात्मक साधन नहीं है; किंतु श्रद्धालु महापुरुषोंका सङ्ग, उनके भाषणका अध्ययन और उनकी तथा भगवान्की विशेष कृपा एवं साधकके हृदयमें प्रेम और विश्वासकी आवश्यकताका जाग्रत् होना—ये सब प्रेम और विश्वासको बढ़ानेवाले हैं । अतः साधकको निराश नहीं होना चाहिये । श्रद्धा और विश्वाससे प्रेम बढ़ता है और प्रेमसे श्रद्धा-विश्वास बढ़ते हैं । इस प्रकार इनका सम्बन्ध है ।

भजनकी निरन्तरता भी प्रेम और आवश्यकताकी जागृतिसे हो सकती है । साधकके मनमें उसके प्रति जितना अधिक आदर होगा, वह अपने साधनरूप जीवनके लिये उसे जितना अधिक आवश्यक समझेगा, उतनी ही उसमें अधिकता आवेगी । आपने लिखा कि निरन्तरताकी पूर्णता निर्विकल्प समाधिमें है सो ऐसी बात नहीं है । यह प्रेमसमाधि योगसमाधिसे निराली चीज है । क्या गोपियाँ अपने घरका सब काम नहीं करती थीं ? पर क्या वे कभी एक क्षणके लिये भी भगवान् श्रीकृष्णको भूलती थीं ? फिर बात क्या थी ? उनका भगवान् श्रीकृष्णमें अनन्य प्रेम था । वे जो कुछ भी करती थीं, अपने लिये नहीं, किंतु भगवान् श्रीकृष्णके

लिये—उन्हींका काम समझकर करती थीं। अतः वह काम उनको भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृतिका भुलानेवाला न होकर बढ़ानेवाला ही होता था। निरन्तरता अभ्यासकी अपेक्षा प्रेमपर अधिक निर्भर है। अभ्यासद्वारा की हुई निरन्तरता उतनी चिरस्थायी नहीं होती।

आपने पूछा कि जीवका शीघ्र कल्याण कैसे हो? इसका उत्तर यह है कि बिना कल्याणके जीवनधारण करनेमें असमर्थ-सा हो जाय। इस प्रकारकी उत्कट आवश्यकता जाग्रत् होनेपर ही शीघ्र कल्याण हो सकता है। जबतक साधकको उसकी आवश्यकता साधारण वस्तुओं-जैसी है, तबतक कल्याण कैसे हो सकता है?

(२) सुख-दुःख वस्तुओंके संयोग-वियोगमें नहीं हैं, किंतु मनुष्यके भावनानुसार बदलनेवाले हैं। वस्तुओंके संयोग-वियोग और भिन्न-भिन्न घटनाओंमें तो प्रारब्धकी प्रधानता है, परंतु उनमें सुख-दुःखका अनुभव करना मनुष्यकी भावनापर निर्भर है। उसमें उसकी सर्वथा स्वतन्त्रता है। लौकिक कामोंमें भी देखा जाता है कि लोभी मनुष्यको जब किसी कामसे धन प्राप्त होनेका पूरा विश्वास हो जाता है, तब उसके लिये किया जानेवाला परिश्रम उसे दुःखप्रद नहीं होता तथा उसके लिये वह मान-बड़ाई और धर्मतकका भी त्याग करके हर्षपूर्वक अपमान, निन्दा और पापको भी स्वीकार कर लेता है। अतः अपनी भावनाके द्वारा किसी घटनाको दुःखदायक न माननेमें तो साधक सर्वथा स्वतन्त्र है। घटनाको बदलनेमें स्वतन्त्र नहीं है। किसी घटनाके परिवर्तनके लिये नाम-जैसे अमूल्य धनको नहीं खर्च करना चाहिये। भाव बदलनेमें तो वह स्वयं काम करता ही है।

(३) किसी भी दुःखद घटनाको बिना प्रतीकार किये भगवान्का विधान समझकर सहर्ष सहन करना बिल्कुल सही है। अर्थार्थी भक्त भगवान्के विधानका विरोध नहीं करता वरं अपनेको असमर्थ समझकर भगवान्से विश्वासपूर्वक याचना करता है। इसलिये वह उदार है; क्योंकि वह भगवान्पर निर्भर रहता है। ऐसे भक्तकी गणना आर्तमें अधिक घटती है।

(४) आर्त और दीनकी पुकार भगवान् उसके विश्वास और आवश्यकताको प्रधानता देते हुए सुनते हैं। उनकी मर्जी भी वैसी ही होती है तथा प्रारब्ध भी वैसा ही बन जाता है। भगवान्की मर्जी होनेके बाद कोई विरोध नहीं ठहरता।

(५) खाना-पीना, सोना, विश्राम करना छोड़कर लगातार जीभसे रटन लगानेमें मनुष्य असमर्थ है; क्योंकि शब्द उच्चारणमें वाणी और प्राण इन दोनोंका बल आवश्यक है। बिना जलके प्राण बहुत शीघ्र कमजोर पड़ जाते हैं, इसलिये यह प्रश्न ही नहीं बनता। हाँ, ऐसी स्थिति हो जाय कि भजनके प्रेममें मुग्ध होकर साधक खान-पान और शरीरकी सुध भूल जाय तो वह बात अलग है। उसकी गणना छोड़नेमें नहीं है। अतः सब कुछ भगवान्के लिये करते हुए निरन्तर भजन करते रहना ही सर्वोत्तम साधन मालूम होता है। यही शास्त्रोक्तविधिसे समर्थित है और यही भगवान्की प्रसन्नताका हेतु है। भगवान् क्रियाको उतना मूल्य नहीं देते जितना कि भावको देते हैं। अतः साधकको भाव बढ़ानेपर विशेष ध्यान देना चाहिये। भावपूर्ण थोड़ी क्रिया भी अधिक फल देनेवाली होती है और भावरहित वर्षोंकी मेहनत भी उतना लाभ नहीं दे सकती।

(२)

सप्रेम हरिस्मरण। आपके पत्रोंका उत्तर निम्नलिखित है—

चलते, बैठते, उठते हर समय भगवन्नाम लेना बहुत ही उत्तम है। पूजा-पाठ भी भजनमें सहायक है। अतः पूजा-पाठमें आपत्ति क्यों होनी चाहिये? नाम-जप और पूजा—दोनों साथ-साथ चलेंगे तो काम जल्दी होगा। ध्यान करते समय शरीर स्थिर रहे तो बहुत अच्छा

है, किंतु ध्यानमें भी प्रेम और श्रद्धा प्रधान है। जैसे भी बने, ध्यान अवश्य करना चाहिये।

नाम-जपके साधनसे ही कल्याण हो जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं, किंतु स्वरूपका ध्यान भी साथ बना रहे तो और जल्दी कल्याण हो सकता है।

चलते-फिरते, उठते-बैठते, चिट्ठी लिखते समय भी आपको स्वरूपका ध्यान रहता है—सो बहुत उत्तम बात है; किंतु वास्तवमें यह स्मरण ही है। ध्यान इससे और आगेकी चीज है। व्यवहारमें हमलोग स्मरणको ही ध्यान कह दिया करते हैं।

उत्साहहीनताका कारण मलदोष है। बहुत बार जो उत्साहहीनता आती है, उसका कारण विश्वासहीनता है।

भगवान्का तत्त्व और रहस्य जाननेसे प्रेमकी अधिकाधिक वृद्धि होती है एवं भगवान्के गुण-प्रभावको समझनेसे तत्त्व-रहस्यके समझनेमें सहायता मिलती है। पराभक्ति प्राप्त होनेपर भगवान्के दर्शन हो जाते हैं, यह बात तो ठीक ही है; किंतु एकाएक प्रेमकी मात्रा बढ़ जाय तो पहले भी भगवान्के दर्शन हो जाते हैं। आप जिसको अनन्य प्रेम कहते हैं, वह पराभक्तिका ही बोधक है; किंतु ज्ञानयोगी ज्ञानकी परानिष्ठाको भी पराभक्ति कहते हैं।

समाधि लगानी आवश्यक ही हो, ऐसी बात नहीं है। नाम-जप, प्रेम, श्रद्धा और निष्कामकर्म आदि अनेकों प्रकारके साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

आपके ऊपर जो संकट आया हुआ है, वह कब निवृत्त होगा, यह तो प्रारब्धसे सम्बन्ध रखता है। भजनसे इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये।

आपकी कामना कब पूरी होगी—इस बातको तो भगवान् ही जानते हैं। पूरी होगी कि नहीं—इसका भी ज्ञान भगवान्को ही है। सबसे अच्छा तो यही है कि कामनाओंको हृदयसे निर्मूल कर दिया जाय।

साधनाङ्कमें तेरह कोटि नामका कोष्ठक दिया है, ऐसा आपने लिखा—सो इसके विषयमें लेखक महोदयसे ही पूछना चाहिये।

आपने लिखा 'पहले अनुभव अच्छा होता था, दो वर्षसे उत्साह ढीला पड़ता जा रहा है, सो इसके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् कभी किसी प्राणीकी उपेक्षा नहीं करते। ऐसा मानना ही भूल है कि हमारी भगवान् उपेक्षा करते हैं। वास्तवमें भगवान्के समान हमारा परम प्रिय सुहृद् कोई है ही नहीं।

ध्रुव और नरसीकी तरह घर छोड़कर वनमें जाकर साधन करनेकी इच्छा प्रकट की—सो यथार्थ बात तो यह है कि भगवान् तो श्रद्धा और प्रेमसे प्राप्त होते हैं। चाहे घर हो, चाहे वन। दुःखोंसे सन्तप्त होकर घर छोड़ देनेसे जब वनमें और भी कष्टका सामना करना पड़ता है, तब वैराग्य ठहरना और भी कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्थामें बहुत सोच-समझकर काम लेना चाहिये। हमारे ख्यालसे घरमें रहते हुए ही भजन, ध्यान ज्यादा-से-ज्यादा करनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

श्रीतुकारामजीने गृहस्थ-त्यागकी जो बात लिखी है, वह इस समयके लिये उपयुक्त नहीं है। हमारी सम्मति तो यह है कि घर-बार, धन-धान्य, पुत्र-कलत्रमें आसक्तिका अभाव कर देनेसे ही काम चल सकता है।

आप मानसिक जप करते हैं, सो बहुत ही उत्तम है, जरूर करना चाहिये। आत्मकल्याणके लिये मानसिक जपकी ही प्रधानता है। नाभिसे जप करनेकी कोई जरूरत नहीं पड़ती।

आप नाम-जप संख्याका हिसाब रक्खे बिना ही करते हैं, सो ठीक है। संख्या तो इसलिये रक्खी जाती है कि बिना संख्याके मन प्रमादवश जप तो करता नहीं और जपका धोखा हो जाता है। अतः संख्यासे जप करना भी अच्छा है। मनके प्रमादसे सावधान रहना चाहिये।

साधनाङ्कमें नौ करोड़ नाम-जपसे दर्शन बतलाया है सो हमें तो कोई शास्त्रीय प्रमाण इसके विषयमें मालूम नहीं है। आपको लेखक महोदयसे ही पूछना चाहिये।

कलिसंतरणोपनिषद्में छप्पन करोड़ नाम-जपसे दर्शनकी बात तो आती है, जिसकी मन्त्रसंख्या साढ़े तीन करोड़ होती है ।

तीव्र साधनासे ही तीव्र मनोवेग बनता है । जो भी साधन आपने अपने मनसे भगवत्प्राप्तिके लिये स्वीकार किया है, उसके अनुसार तीव्रतम अभ्यास करना ही आपका परम कर्तव्य है । इसीसे भगवान्‌के दर्शन सुलभ हो सकते हैं । तीव्रतम साधन, तीव्रतम अभ्यास या तीव्र मनोवेग—इसे आप किसी भी नामसे पुकार सकते हैं ।

श्रीनारायणस्वामीके विषयमें आपने पूछा सो उनका पता हमें मालूम नहीं है । हमने जब उन्हें देखा था, तब तो वे मौन ही रहा करते थे । सङ्केतसे ही कोई बात समझाते थे । ऋषिकेशकी ओर तो उन्हें कई सालसे नहीं देखा ।

(३)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपकी इच्छा ऋषिकेश-सत्सङ्गमें आनेकी थी, लेकिन आना न हो सका—इसके लिये किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये ।

आपके मनकी दशा विचित्र लिखी एवं इसे मार्गपर लानेके लिये किसी महान् शक्तिकी प्रेरणाकी आवश्यकता लिखी—सो इस प्रकारके शक्तिमान् तो पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं । उनकी शरण जानेपर मनमें शान्ति आ सकती है तथा आत्माका भी कल्याण हो सकता है ।

मनमें स्फुरणा तथा सङ्कल्प तो होते ही रहते हैं । 'जगत्‌में हम हैं, या नहीं । हमें क्या करना चाहिये ।' यह भी एक प्रकारकी स्फुरणा ही है । संसारमें तो हम हैं ही, इसके प्रमाणकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं है । जो चीज प्रत्यक्षमें है उसका प्रमाण क्या हो सकता है । हमें क्या करना चाहिये—इस विषयमें आपने पूछा, सो मुखसे भगवान्‌का नाम-जप, मनसे उनके स्वरूपका ध्यान और शरीरसे दूसरोंकी सेवा करना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है । मार्ग दिखलानेवाले एकमात्र भगवान् या उनके भक्त हैं । उनकी शरण जानेसे वे सही मार्ग दिखलाकर उसका इस संसार-सागरसे उद्धार कर सकते हैं ।

जबतक मन, वचन और कर्म—भगवान्‌की ओर नहीं लगते, तबतक हमारी वह दशा पतनकी ओर ही ले जानेवाली है । जब ये सब उनकी सेवामें लग जायँ, तब वह असली दशा है ।

जडरूपी शरीरमें प्रभुका आराधन करनेसे तीव्रता स्वतः ही आ जाती है । थोड़े भी प्रेमसे उनका आराधन करनेपर शेष तीव्रता वे स्वयं उत्पन्न कर देते हैं । मनको उनकी ओर लगानेभरकी ही तो देर है । जबतक यह संसारमें भटकता रहेगा, तबतक इसे परमात्मामें लगाना कठिन है । शक्ति-प्रदान करनेकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है । इसके लिये आप शक्तिमान् प्रभुसे प्रार्थना कीजिये । आपकी प्रेमभरी पुकार वे ही सुननेवाले हैं । अन्धकारमें प्रकाश डालनेवाले भी वे ही हैं । मुर्चा लगी हुई मशीनरीको चलानेकी शक्ति भी उन्हींमें है । आप परमात्मामें विश्वास कीजिये और धीरे-धीरे मनको उनकी ओर लगाइये । निरन्तर उनके नामके जपका प्रयत्न कीजिये ।

श्रद्धा एवं भक्तिके साथ किया हुआ भगवन्नाम-स्मरण और पाठ मृतक प्राणीकी आत्माको शान्ति पहुँचानेवाला है । आत्मा अमर है, वह शुद्ध ब्रह्म है—यह सत्य है । लेकिन इस स्थूल शरीरके द्वारा किये हुए मायाके दुर्गुण-दुराचाररूपी विकार आत्माके साथ जाते हैं और उनके फल सूक्ष्म-शरीरको भोगने पड़ते हैं । भोग पूरे होनेपर आत्मा परमात्मासे मिल जाती है ।

मैं ऋषिकेशसे यहाँ (बाँकुड़ा-बङ्गाल) आ गया हूँ । यहाँ अभी कुछ दिन रहनेका विचार है । चैत्र महीनेमें हर साल ऋषिकेश जाना होता है एवं वहाँ करीब तीन महीने रहना होता है । उस वक्त आप वहाँ जा सकती हैं । और भी बहुत-से लोग वहाँ सत्सङ्गके निमित्त जाया करते हैं । विशेष भगवत्कृपा ।

* * *

भक्त-गाथा

[पुरुषोत्तम भक्त]

गङ्गाजीके पवित्र तटपर एक गाँवमें पुरुषोत्तम नामक एक ब्राह्मण रहते थे। माता-पिता छोटी उम्रमें मर गये थे। दादीने उनको पाला था; बुढ़िया दादीका भगवान्‌में सरल विश्वास था और वह दिन-रात मुँहसे राम-राम रटती रहती थी। दादीके शुभ सङ्गसे पुरुषोत्तमको भी राम-नाम रटनेकी बान पड़ गयी। राम-नाममें बड़ी अनोखी मिठास है; परंतु इस मिठासका अनुभव होता है रुचि होनेपर ही। लेकिन यह रुचि भी होती है नामके सतत सेवनसे ही। पुरुषोत्तमजी तो बचपनसे ही राम-नाम रटने लगे थे। अतएव इनकी नाममें रुचि हो गयी और रुचि होनेपर इन्हें मिठास भी मिल ही गयी। राम-नामका यह रस इतना मधुर है कि इसके एक बार भी चख लेनेपर फिर इसके सामने सारे रस नीरस और फीके हो जाते हैं—

श्रीतुलसीदासजीने गाया है—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तो नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

'यदि मुझे राम मीठे लगे होते तो नव रस (श्रृङ्गार, हास्य, करुणा, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त—साहित्यके ये नौ रस) और छः रस (कटु, तीक्ष्ण, मधुर, कषाय, अम्ल और लवण—भोजनके ये छः रस) नीरस और फीके पड़ जाते।'

पुरुषोत्तम इस रसका स्वाद चख चुके थे, इसलिये उन्हें अब जगत्‌के किसी रसमें रति नहीं रह गयी। दादीने दो-एक बार कहा, पर पुरुषोत्तमने विवाह नहीं किया। समयपर दादीका देहान्त हो गया। फिर तो पुरुषोत्तम सर्वथा स्वतन्त्र होकर रामभजनमें लग गये। घरमें कुछ जमीन थी, उसीमें खेती करते। स्वयं परिश्रम करते और जो अनाज पैदा होता, उसीसे जीवननिर्वाह करते। उस अनाजमेंसे कुछ बचता, उसको बेचकर कपड़ा, तैल, मसाला, बैल, हल आदि सामान ले आते। उनका नियम था—न माँगकर खाना, न बिना परिश्रमका खाना, न पड़े-पड़े खाना, न किसीसे कभी कुछ लेना। कम-से-कम आवश्यकता और उसे अपने परिश्रमसे ही पूरा करना। पुरुषोत्तमके दिन बड़े ही सुखसे कटते थे। वे जब खेतमें परिश्रम करते, तब भी उनके मुँहसे रामका नाम और मनमें रामका ध्यान रहता। उनका परिश्रम भी सारा अपने इष्टदेव रामकी पूजाके लिये ही होता।

घरमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सुन्दर प्राचीन विग्रह था। बड़े प्रेम, चाव, भाव और विधिसे पुरुषोत्तमजी भगवान्‌की पूजा करते। स्वयं रसोई बनाकर भगवान्‌के भोग लगाते और उसी प्रसादसे अपने अंदर रहनेवाले भगवान्‌की तृप्ति करते।

भगवान्‌ने कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
(गीता १५। १४)

'मैं ही सब प्राणियोंके शरीरोंमें स्थित प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।'

बाहर भी भगवान्‌को भोग लगाना और भीतर भी भगवान्‌को ही। भक्त जो कुछ करता है, बाहर-भीतर सब भगवान्‌के लिये ही करता है। वह अपना अस्तित्व भी भगवान्‌के ही आधारपर मानता है। स्वतन्त्र न वह कुछ है, न उसका अपना कोई अलग कार्य है। उसके सारे कार्य भगवान्‌के कार्य हैं; क्योंकि वह सर्वदा और सर्वथा भगवान्‌का ही है। पुरुषोत्तम भक्तके सारे कार्य इसी भावसे सम्पन्न होते। निरन्तर भगवान्‌का अखण्ड स्मरण और भगवान्‌के लिये ही मन-वाणी-शरीरकी प्रत्येक क्षणकी प्रत्येक क्रिया। यही तो भगवदीय जीवन है।

ज्यों-ज्यों भजन बढ़ता गया, त्यों-ही-त्यों भावमें प्रगाढ़ता आती गयी। लगभग बारह वर्षकी साधनासे पुरुषोत्तम-

का सब कुछ राममय हो गया । अब उनकी खेती-बाड़ी छूट गयी । खेती-बाड़ी कहाँसे होती—गाढ़ समाधिमें भोजन-पानका भी कोई पता नहीं रह गया । श्रीमद्भागवत-में कथित श्रीभगवान्‌की निम्नलिखित उक्ति मानो उनमें पूर्णतया चरितार्थ हो गयी—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
(११ । १४ । २४)

भगवान् श्रीरामका नाम-गान करते हुए उनकी वाणी गद्गद हो जाती । चित्त द्रवित होकर बहने लगता । एक क्षणके लिये भी रोना बंद नहीं होता । कभी वे खिलखिलाकर हँसने लगते, कभी लाज छोड़कर उच्चस्वरसे गाने लगते और कभी उन्मत्त होकर नाचने लगते । भक्तिरसमें सराबोर हुए भक्त पुरुषोत्तमजीकी इस स्थितिमें जो कोई भी उनके पास आता, उनकी इस दिव्य भावमयी स्थितिके दर्शन करता, वही पवित्र-हृदय होकर भावोन्मत्त हो जाता ।

पुरुषोत्तमजीकी रामधुन दूर-दूरतक पहुँची । घर-घर और गाँव-गाँवमें लोग राम-नामका मधुर कीर्तन करने लगे । पुरुषोत्तमजीके दर्शनार्थ दूर-दूरसे लोग आने लगे । पर उनकी भाव-समाधि प्रगाढ़-से-प्रगाढ़तर होती गयी । वे सदा-सर्वदा बाह्यज्ञानशून्य रहते और उपर्युक्त भावोंका विलक्षण प्रकाश उनमें निरन्तर होता रहता । इस दशामें वे पाँच वर्षतक रहे । एक दिन इसी दशामें भगवान् श्रीरामके विग्रहके सामने नाचते-नाचते ही उन्होंने तीन बार बड़े जोरसे राम-राम-रामका घोष किया और उसी क्षण उनका ब्रह्मरन्ध्र फट गया । शरीर भगवान्‌के श्रीविग्रहके चरणोंपर गिर पड़ा । उस समय भी उनके मुखमण्डलपर अपूर्व तेज छाया था और मानो उनके रोम-रोमसे रामध्वनि हो रही थी ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

मरनेपर जीव कहाँ और कैसे जाता है ?

उपर्युक्त विषयपर कुछ सज्जनोंके प्रश्न आये थे । उनके उत्तर प्रश्नोंसहित नीचे दिये गये हैं ।

प्रश्न—

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः ।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥
व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥
(१० । १ । ३९-४०)

'शरीरकी मृत्यु होनेपर जीव अपने कर्मानुसार विवश होकर दूसरा शरीर ग्रहण करता है और पहले शरीरको छोड़ देता है । जैसे चलते समय मनुष्य एक पैर आगे रखकर फिर दूसरा उठाता है, जैसे जोंक अगले तिनकेको पकड़कर पहले पकड़े हुएको छोड़ती है, वैसे ही जीव भी अपने कर्मके अनुसार किसी शरीरको प्राप्त करके इस शरीरको छोड़ता है ।'

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(२ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्र ग्रहण करता है; वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।'

इससे सिद्ध है कि एक शरीरके छूटते ही तुरंत दूसरा शरीर मिल जाता है । जब शरीर मिल जाता है, तब जो यह कहा जाता है कि 'जीव अपने कर्मोंका भोग करनेके लिये स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें जाता है ।' इसकी सङ्गति कैसे बैठती है ? इससे ऐसा क्यों न मान लिया जाय कि स्वर्ग-नरक कोई लोक विशेष नहीं है । यहाँकी अच्छी-बुरी स्थितिको ही स्वर्ग-नरकके नामसे कहा जाता है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं, स्वर्ग-नरकादि लोक अवश्य हैं

और उनके सुख-दुःखोंका भोग जीवको अपने कर्मानुसार करना पड़ता है। श्रीमद्भागवत और गीताके उपर्युक्त वचन सर्वथा सत्य हैं। इन दोनों ही प्रसङ्गोंमें नया शरीर ग्रहण करनेकी बात कही गयी है, पर यह नहीं कहा गया है कि वह नया शरीर स्थूल पाञ्चभौतिक ही है। मनुष्यके मरते ही उसके सूक्ष्मशरीरको एक आधारभूत शरीर प्राप्त होता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि उस आधारभूत शरीरका आश्रय लेकर ही इस स्थूलमेंसे सूक्ष्म शरीरसहित जीवात्मा निकलता है। इस शरीरका नाम है—आतिवाहिक देह। पर यह देह उन्हीं जीवोंको प्राप्त होता है, जिनके प्राण उत्क्रमण करते हैं—जो अपने कर्मानुसार शुक्लमार्ग—अर्चिमार्ग या देवयान, कृष्णमार्ग—धूममार्ग या पितृयानसे अथवा नारकी पीड़ाके उपभोगार्थ प्रेतलोकमें जाते हैं।

प्रश्न—प्राणोंके उत्क्रमण करनेका तथा शुक्लमार्ग, कृष्णमार्ग और नरक-भोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मरनेके बाद चार प्रकारकी गतियोंमें जीवको कोई-सी एक गति प्राप्त होती है। वे चार गतियाँ ये हैं--

(१) यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त होनेके बाद जिस अद्वैत-निष्ठाके सिद्ध महात्मा पुरुषकी मृत्यु होती है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते। इसके लिये श्रुति-वचन मिलते हैं--'न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति' (बृह० ४।४।६) 'अत्रैव समवलीयन्ते' (बृह० ३।२।११) 'उसके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते।' 'यहींपर लीन हो जाते हैं।' भाव यह है कि ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान हो जानेके बाद सूक्ष्म शरीर भङ्ग हो जाता है। जबतक प्रारब्धवश स्थूलशरीर रहता है, तबतक उसके साथ सूक्ष्मशरीरका संयोग रहता है पर स्थूलशरीरका नाश होते ही सूक्ष्मशरीरके साथ चैतन्य जीवात्माका सम्बन्ध नहीं रहता, इससे उसका सारा सङ्घटन टूट जाता है--सूक्ष्मशरीरके समस्त तत्त्व अपने-अपने मूल-तत्त्वमें मिल जाते हैं। जीवात्माकी, जो प्रकृतिस्थ होनेके कारण पृथक् सत्ता प्रतीत होती थी, वह नष्ट हो जाती है। जीवात्मा परमात्माके साथ मिल जाता है--'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।' (बृह० ४।४।६) 'ब्रह्म हुआ ही वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।' यह एक गति है जो ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंकी है। इसको वेदान्तकी भाषामें 'सद्योमुक्ति' कहते हैं।

(२) दूसरी गति है भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले प्रेमी या भक्तजनोंकी, जो ब्रह्म न होकर भगवान्‌के दिव्य लोकमें जाते हैं और वहाँ भगवान्‌को प्राप्त करके वे भगवान्‌के नित्य पार्षद बन जाते हैं। इसके मार्गका नाम है--शुक्लमार्ग या अर्चिमार्ग। इस मार्गसे गये हुए महापुरुष वापस नहीं लौटते। ऐसे महात्माओंकी मृत्यु होनेपर अग्निका अभिमानी देवता उन्हें दिनके अभिमानी देवतातक, दिनके अभिमानी देवता उन्हें शुक्लपक्षके अभिमानी देवतातक, शुक्लपक्षके अभिमानी देवता उत्तरायणके अभिमानी देवतातक, उत्तरायणके अभिमानी देवता संवत्सरके अभिमानी देवतातक और संवत्सरके अभिमानी देवता उन्हें सूर्यलोकतक पहुँचा देते हैं। वहाँसे वे क्रमशः आदित्याभिमानी देवतासे चन्द्राभिमानी देवतातक और वहाँसे विद्युदभिमानी देवताके पास पहुँचाये जाते हैं। वहाँ भगवान्‌के दिव्य चिन्मय परम धामसे अमानव पुरुष—भगवान्‌के नित्य पार्षद आकर उन्हें पार्षदशरीर प्रदान करके दिव्य परम धाममें ले जाते हैं और तब वे भगवान्‌से मिलकर उनका सेवाधिकार प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं। सारांश यह कि जैसे कोई दूरदेशसे सम्राट् अपने घर लौटते हों तो प्रत्येक प्रान्तका उच्चाधिकारी उनको आदरपूर्वक अपने प्रान्तकी सीमातक पहुँचाता है और दूसरा प्रान्त आते ही वहाँका उच्चाधिकारी उनके स्वागतार्थ आकर उन्हें सादर सम्मानपूर्वक अपनी सीमातक पहुँचा देता है। इसी तरह सम्राट्‌का अपना प्रान्त आनेतक बीच-बीचके सभी प्रान्तोंके उच्चाधिकारी उनका अपने-अपने प्रान्तमें ससम्मान अनुगमन करते हुए उन्हें दूसरे प्रान्तके उच्चाधिकारीकी सेवामें सौंप देते हैं। ठीक वैसे ही ज्योतिर्मय अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण आदिके मार्गसे उन-उनके अभिमानी देवताओंद्वारा सम्मानित होकर ये महात्मा भगवान्‌के दिव्य धाममें पहुँचकर वहीं सदाके लिये रह जाते हैं। अद्वैत वेदान्ती महात्माओंकी भाषामें इसका नाम 'क्रममुक्ति' है और प्रेमी भक्तोंकी भाषामें इसका नाम 'भगवत्प्राप्ति' है। उपर्युक्त सद्योमुक्तिमें और इस भगवत्प्राप्तिमें तत्त्वतः कोई भी भेद नहीं है।

(३) तीसरी गति है--उन पुण्यात्माजनोंकी जो सकामभावसे शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करते हैं और मरनेके बाद अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं तथा वहाँका सुख भोगकर पुनः मर्त्यलोकमें लौटकर स्थूल देहको प्राप्त हो जाते हैं। गीतामें कहा है--

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
(९ । २०-२१)

‘तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्म करनेवाले सोमपायी पापरहित पुरुष मुझको यज्ञों (पुण्यकर्मों) के द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोग भोगते हैं । इस प्रकार वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं । स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें बतलाये हुए सकाम कर्मका आचरण करनेवाले ये भोगकामी पुरुष बार-बार आते-जाते रहते हैं ।’ पुण्य सञ्चय होनेपर स्वर्गमें और पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें ।

इसी मार्गका नाम है—कृष्णमार्ग या धूममार्ग । इसमें उस पुण्यात्मा जीवको धूमाभिमानी देवता रात्रि-अभिमानी देवतातक, रात्रि-अभिमानी कृष्ण-पक्षाभिमानी देवतातक, कृष्ण-पक्षाभिमानी देवता दक्षिणायन-अभिमानी देवतातक, यहाँसे पितृलोकाभिमानी देवतातक, पितृ-लोकाभिमानीसे आकाशाभिमानी देवतातक तदनन्तर आकाशाभिमानी देवतासे वह चन्द्रलोकमें पहुँचता है । यहाँ ‘चन्द्रलोक’से ब्रह्मलोक (ब्रह्माजीके लोक) तकके जितने भी पुनरागमनशील देवताओंके लोक हैं, उन सभीको समझना चाहिये । ये सभी ‘स्वर्ग’ कहलाते हैं । पुण्यात्मा पुरुष इस मार्गसे जाकर वहाँ नियतकालतक स्वर्गसुखको भोग करके वापस स्थूलशरीरमें लौट आता है ।

इन मार्गोंके विषयमें विशेष जानना हो तो छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् तथा गीताके आठवें अध्याय*का अध्ययन करना चाहिये ।

(४) चतुर्थ गति है—उन पापी जीवोंकी, जो यम-दूतोंके द्वारा बाँधे जाकर बड़े विकट मार्गसे परवश घोर यमपुरीमें पहुँचाये जाते हैं और वहाँ ‘यातनाशरीर’से नरकोंकी भयानक पीड़ा भोगकर भोग समाप्त होनेपर स्थूल शरीरको प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न—‘आतिवाहिक देह’ ‘यातनाशरीर’ आदिसे क्या अभिप्राय है । भगवान्‌के परम धाम स्वर्गादि लोक और नरकोंमें जानेवाले जीवोंको कौन-सा और कैसा शरीर मिलता है ?

उत्तर—‘आतिवाहिक देह’ उसको कहते हैं जो मनुष्यके मरते ही मिलती है । यह वायुप्रधान होती है । इसके अनन्तर यदि वह जीव शुक्लमार्गसे परमधाम या कृष्णमार्गसे स्वर्गादि-लोकोंमें जानेवाला होता है तो उसे तेजःप्रधान देव-देह प्राप्त हो जाती है । शुक्लमार्गमें जानेवालेकी तैजस देह, कृष्णमार्गमें जानेवालेकी अपेक्षा विशेष दिव्य होती है । कृष्णमार्गवालेकी तैजस देह यद्यपि शुक्लमार्गवालेकी अपेक्षा निम्नस्तरकी होती है पर वह भी बड़ी विलक्षण, मूत्र-पुरीषादिसे रहित, जरा-व्याधिसे रहित और प्रकाशपुञ्ज होती है । नरकमें जानेवाले प्राणीको वायुप्रधान प्रेतशरीर प्राप्त होता है, जिसको ‘यातना-शरीर’ कहते हैं । यह नरकोंकी भीषण यन्त्रणा भोग करनेके लिये ही मिलता है । इस शरीरमें कष्ट-भोग होता है, पर शरीरका नाश नहीं होता । जैसे आगमें जलाये जानेपर, तलवारों और तीक्ष्ण धारवाले पत्तोंसे कटने-छिदनेपर, जलता हुआ पदार्थ पेय रूपमें पीनेपर असह्य यन्त्रणा होती है, परंतु शरीरका नाश नहीं होता । वह वायुप्रधान यातना-शरीर पृथ्वी-प्रधान शरीरकी भाँति कटता, जलता, छिदता नहीं, पर कटने, जलने, छिदनेकी भयानक पीड़ा होती है । पितृलोकके अन्यान्य भागोंमें जानेवाले जीवोंको भी वायु-प्रधान शरीर प्राप्त होते हैं, परंतु उनमें वे नरक-यातना नहीं भोगकर पितृलोकके भोगोंको भोगते हैं ।

कृष्णमार्गसे गये हुए देव-शरीरको प्राप्त पुरुषोंको तथा प्रेतयोनिको प्राप्त नारकी जीवोंको अपने पूर्व-सम्बन्धकी याद रहती है, उनकी आकृति भी ठीक पूर्वके स्थूलशरीर-जैसी ही होती है । अवश्य ही जहाँ देवलोकके तेजःप्रधान देव-देहकी आकृति सुन्दर और प्रकाशपूर्ण होती है, वहाँ प्रेत-देहकी आकृति भयानक और मलिन-धूमिल होती है । उनके स्वभाव और प्रकृतिमें भी प्रायः वैसी ही बातें रहती हैं जैसी पूर्व स्थूलशरीरमें थी । वे उसी प्रकार न्यूनाधिकरूपमें दया, प्रेम, करुणा, सौहार्द, सेवा, सहानुभूति आदि गुणोंसे और राग-द्वेष, छल-कपट, काम-क्रोध आदि दोषोंसे सम्पन्न

---

* गीताप्रेससे प्रकाशित गीताकी गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण है ।

रहते हैं। यहाँकी भाँति ही उनमें कम या अधिक शक्ति होती है तथा अपनी शक्ति और अधिकारके अनुसार ही वे क्रिया भी करते हैं। उनको यहाँके सम्बन्धियोंके सुख-दुःखमें सुख-दुःख भी होते हैं और वे उनके कारणोंको जानकर यथाशक्ति उनमें शामिल भी होना चाहते और होते हैं। राग-द्वेषके अनुसार ही उनकी क्रियामें भेद होता है। इनमें जो शक्तिमान् होते हैं, वे यहाँके लोगोंको दिखायी भी दे सकते हैं—प्रत्यक्षमें सहायता या बाधा भी पहुँचा सकते हैं। ये अपने कुलमें सत् सन्तानको और उसके सत्कार्योंको देखकर प्रसन्न होते हैं और दुष्कार्योंको देखकर अप्रसन्न होते हैं; क्योंकि सन्तानके सत्कार्य और दुष्कार्यसे इनको भी अच्छा-बुरा फल मिलता है। ये दीखनेपर पहचाने भी जा सकते हैं। जैसे लङ्का-विजयके पश्चात् लङ्कामें देवलोकसे महाराज दशरथजी आये थे और उन्हें भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीताजीने देखते ही पहचान लिया था। पर आजकल जो प्रेतात्माएँ बुलायी जाती हैं, उनसे बात-चीत होती है—वह तो अधिकांशमें वैसी ही चीज है, जैसी हमारे यहाँ किसीमें पितर या प्रेतका आवेश होता है। वह नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता है और बोलकर डराता-धमकाता या अपनी माँगें पेश करता है। जैसे इस प्रकारके प्रसङ्ग अधिकांश मिथ्या ढोंग अथवा अपने ही मस्तिष्कके विकार होते हैं वैसे ही इन आजकलके प्रेतात्मा बुलानेके प्रसङ्गोंको समझना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ हम जो श्राद्ध-तर्पण करते हैं, वह परलोकमें गये हुए—प्रेत या देवता बने हुए हमारे पूर्वजोंको कैसे मिलता है?

उत्तर—वैसे ही मिलता है, जैसे विदेशमें रहनेवाले हमारे किसी मित्रको हमारेद्वारा भेजे हुए मनीआर्डरके रुपये मिलते हैं। श्राद्धमें श्रद्धा प्रधान है। इस सारे ब्रह्माण्डके स्वामी परमात्मा हैं, सब कुछ उनके नियन्त्रणमें होता है। उनको पता है कि कौन जीव कहाँ किस लोकमें है। उनकी बतायी विधिके साथ हम श्रद्धापूर्वक किसीके निमित्त श्राद्ध-तर्पणादि करेंगे तो उसका फल उसको उस परमात्माके द्वारा अवश्य मिल जायगा। डाकघरवालोंको तो हमें पता-ठिकाना बतलाना पड़ता है; परंतु सर्वद्रष्टा सर्वकामी सर्वतोमुख परमात्माको कुछ बतलाना नहीं पड़ता। वे हमारे संकल्पसे ही समझ लेते हैं कि हम अमुकके लिये यह श्राद्ध-तर्पण कर रहे हैं और फिर उसको वे वसु, रुद्र और आदित्य इन देवशक्तियोंके द्वारा वहाँ पहुँचा देते हैं, जहाँ वह होता है।

प्रश्न—यदि जीव प्रेतलोक या देवलोकसे लौटकर मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंगादिमेंसे किसी स्थूल शरीरको प्राप्त हो गया हो तो उसे श्राद्ध-तर्पणका फल कैसे मिलता है?

उत्तर—उन शरीरोंमें उनको यहाँ दिये हुए पदार्थ उनके वहाँके पदार्थोंके रूपमें परिणत होकर मिल जाते हैं। मान लीजिये, हमारा कोई सम्बन्धी अमेरिकामें रहता है, उसे रुपयोंकी जरूरत है। वहाँपर यहाँके रुपये-नोट नहीं चलते, डालर चलते हैं। यहाँ हमारे पास वहाँके डालर हैं नहीं, तब क्या हम उसे रुपये नहीं भेज सकते? ऐसी बात नहीं है। हम यहाँके रुपये ही बैंकमें जमा करावेंगे; परंतु वहाँका बैंक अपनी दरसे मुद्रा परिवर्तन करके उसे वहाँ दे देगा। जैसे यहाँके जमा कराये हुए रुपये वहाँ डालरके रूपमें उसे मिल जायँगे, वैसे ही हम यहाँ किसीके निमित्त जो कुछ देंगे, वह उसको वहाँ उसीके उपयोगी होकर मिल जायगा। यहाँकी दी हुई सुन्दर मिठाई—यदि वह जीव घोड़ा हो गया है तो उसे सुन्दर घास बनकर मिल जायगी। ऐसी ही बात सबमें समझनी चाहिये।

प्रश्न—मुक्ति किसे कहते हैं और मुक्त होनेपर भी क्या जीवको श्राद्धादिमें दिये हुए पदार्थ मिलते हैं। यदि नहीं मिलते तो फिर उनके लिये श्राद्ध क्यों किया जाय?

उत्तर—मुक्ति कहते हैं संसारके अज्ञानजनित कर्म-बन्धनका नाश होकर भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिको। जिसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते और सूक्ष्मशरीर बिखर जाता है तथा आत्माका परमात्मामें सायुज्य हो जाता है, वे भी मुक्त हैं। और जो भगवान्के दिव्य परम धाममें पहुँचकर भगवान्के पार्षद बन जाते हैं, वे भी मुक्त हैं। दोनोंके तात्त्विक बन्धन-नाशमें कोई अन्तर नहीं है पर एक सर्वथा अशरीरी होकर अपने पृथक् अस्तित्वका बिल्कुल लोप कर देते हैं, दूसरे दिव्य शरीर पाकर भगवान्के सदृश ही सदा मुक्त होकर भगवान्की लीलामें सम्मिलित रहते हैं। ये लोग कभी भगवान्की इच्छासे भगवान्की ही भाँति 'अधिकारिक' पुरुषके रूपमें जगत्के लोगोंका कल्याण करनेके लिये जगत्में भी आ सकते हैं।

इन मुक्त पुरुषोंके लिये यहाँके श्राद्ध-तर्पणकी कोई आवश्यकता नहीं है यह सर्वथा सत्य है; परंतु हमें यह पता कैसे लगेगा कि अमुक पितरकी मुक्ति हो गयी है। हम मुक्ति मानकर श्राद्ध-तर्पणादि न करेंगे और उसकी कदाचित् मुक्ति न हुई होगी तो उसे अतृप्त रहना पड़ेगा और हम कर्तव्यसे च्युत होकर अपराधी होंगे। ऐसी स्थिति

में श्राद्ध-तर्पणादि अवश्य करने चाहिये । इसमें हानि तो है ही नहीं । मान लीजिये, उसकी मुक्ति हो गयी है तो हमारे उस श्राद्धरूप सत्कर्मका शुभ फल लौटकर हमें ही प्राप्त हो जायगा, जैसे किसीके नाम भेजे हुए मनीआर्डरके रुपये उस व्यक्तिके वहाँ न मिलनेपर हमें वापस मिल जाते हैं ।

श्रद्धा तथा विधिपूर्वक किये हुए श्राद्ध, तर्पण, दान, कीर्तन तथा जपादिसे पितरोंको अवश्य शान्ति मिलती है और उनकी सद्गतितक हो जाती है । अतएव पितरोंके लिये ये सब अवश्य करने चाहिये । अपने इन श्रद्धायुक्त सदनुष्ठानोंसे सन्तान सहज ही अपने पूर्वजोंको नरकानलसे बचाकर परम शुभगति प्राप्त करा सकता है ।

प्रश्न—पितरोंके लिये क्या गया-श्राद्ध भी आवश्यक है ?

उत्तर—निश्चय ही आवश्यक है । पुत्रकी पुत्रता तीन ही बातोंसे प्रमाणित होती है—१. जीवित माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना, २. मरण-तिथिपर प्रतिवर्ष खूब ब्राह्मण-भोजन कराना और ३. गयामें जाकर पिण्डदान करना—

जीवतोर्वाक्यकरणात् प्रत्यब्दं भूरिभोजनात् ।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥

प्रश्न—गीताके 'वासांसि जीर्णानि' श्लोकमें शरीरोंके साथ 'जीर्णानि' पद दिया है, पर हम देखते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे भी मर जाते हैं । इसको क्या समझा जाय ?

उत्तर—यह 'जीर्णानि' पद वस्तुतः पचास या सौ वर्षकी वृद्धावस्थाको नहीं बताता । जो जीव प्रारब्धके अनुसार जिस उम्रमें मरता है, वही उसकी आयु समझी जाती है और उस आयुकी समाप्तिका नाम ही जीर्णावस्था है । इसलिये इसमें कोई शंकाकी बात नहीं है ।

वस्तुतः मनुष्य-देहकी प्राप्ति हुई है—भगवान्को पानेके लिये । उसीके प्रयत्नमें हमारा जीवन लगना चाहिये । तभी जीवनकी सार्थकता है । यहाँ इस दुर्लभ मानव-योनिमें आकर यदि हम भगवत्प्राप्तिका प्रयत्न न कर केवल पुण्यकार्य करके स्वर्गको प्राप्त कर लेते हैं और वहाँसे फिर मर्त्यलोकमें ढकेले जाते हैं तो हमारा जीवन व्यर्थ ही गया ।

एहि तनु कर फल बिषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥

और यदि हमने भोगवासनामें पड़कर शास्त्रनिषिद्ध कर्म—पापकर्म करनेमें जीवन बिताया और फलतः नरक और नारकी योनियोंको प्राप्त किया, तब तो बहुत ही अधिक नुकसानमें रहे ! मानव-जीवनके इस भयानक दुष्परिणामसे सबको बचना चाहिये ।

◆

कामके पत्र

(१)

मनुष्यजीवनकी व्यर्थता

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । आजका मनुष्य भोगोंको ही जीवनका परम ध्येय और उसीको सुखका एकमात्र साधन मानता है । बड़े-बड़े विचारशील उन्नत मस्तिष्कके पुरुष जगत्को सुखी करनेकी इच्छासे गम्भीर चिन्तनमें लगे हैं और उन्होंने किसी अंशमें सफलता भी प्राप्त की है । मनुष्यके मस्तिष्कने मानव-प्राणीको सुखी बनानेके लिये आज विज्ञानका महान् और अत्यन्त आश्चर्यजनक आविष्कार किया है । रेल, जहाज, मोटर, विमान, विद्युत्, टेलीफोन, टेलीवीजन, परमाणुशक्ति, विभिन्न प्रकारके यन्त्र, रेडियो आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । इससे निश्चय ही यह प्रमाणित हो गया है कि अन्यान्य प्राणी-जगत्की अपेक्षा मनुष्य-प्राणीका मस्तिष्क विशेष विकसित है; परंतु मनुष्यकी यह विशेषता—यह श्रेष्ठता मानवजीवनकी सार्थकता कदापि नहीं कही जा सकती । वैज्ञानिक आविष्कारोंसे मानव-मस्तिष्कके गौरवके साथ मानव-जगत्की सुख-सुविधा अवश्य बढ़ी है (साथ ही अणुशक्तिके दुरुपयोग आदिसे भयानक विनाशकी आशङ्का भी बढ़ रही है) परंतु इस सुख-सुविधाका दान करनेवाले और इसे ग्रहण करनेवाले दोनों ही अशान्त हैं । न तो किसीके हृदयमें अभावका बोध ही मिटा है, न अपूर्णता ही पूर्ण हुई है और न स्थायी सुख ही मिला है । वरं अशान्ति और अभावका बोध असीमरूपसे बढ़ता चला जा रहा है । मानवकी आवश्यकता, उसकी राक्षसी भोग-क्षुधा बढ़ती ही जा रही है । ज्यों-ज्यों भोग बढ़ते हैं, त्यों-ही-त्यों तृष्णा बढ़ती चली जाती है । शास्त्रमें कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(श्रीमद्भा० ९ । १९ । १४)

'विषयोंके भोगसे भोग-वासना कभी शान्त नहीं होती, वरं जैसे घृतकी आहुति देनेपर आग और भी भड़क उठती है, वैसे ही भोगसे भोग-वासना भी प्रबल हो जाती है ।'

भोगोंसे जीवनको सार्थक मानना तो व्यर्थताका नामान्तर-मात्र है । सच्ची सार्थकता तो वस्तुतः पूर्णतामें है ।

पूर्णको ही उपनिषद्ने 'भूमा' कहा है, उसीमें सार्थकता है, उसीमें सुख है—अपूर्ण या अल्पमें तो व्यर्थता है और व्यर्थता ही दुःख है। **'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।'**

जिस जड विज्ञानपर आजका मनुष्य गर्वोन्मत्त हो रहा है, जिसके विलक्षण चमत्कारसे जगत् चमत्कृत, विस्मित और विमुग्ध है, जिसकी गरिमा और महिमाके सामने सभी नतमस्तक हैं, वह विज्ञान पूर्ण नहीं है; इसीलिये वह हमें पूर्णताकी ओर न ले जाकर अपूर्णताकी ओर ले जा रहा है—अधिक-से-अधिक अभावकी अनुभूति करा रहा है। यह उसकी निश्चय ही व्यर्थता है। मानव-मस्तिष्कके इस अद्भुत अध्यवसायका लक्ष्य 'भोग' है और भोग सर्वथा अपूर्ण है। गीतामें आसुरी सम्पदाका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्ने कहा है—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।

'वे भोग प्राप्त करने और उन्हें भोगनेमें ही लगे रहते हैं, और बस यही सब कुछ है—ऐसा निश्चित सिद्धान्त मानते हैं।' यही कामोपभोगवाद है। इससे मनुष्यको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। भगवान्ने इसी प्रसङ्गमें कहा है—'ऐसे लोग मरते दमतक अपरिमित चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं। सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे वे काम-क्रोधपरायण होकर भोगोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रहके प्रसङ्गमें लगे रहते हैं।' (गीता १६। ११-१२) वर्तमान जगत्में जो चोरी, डकैती (प्रसिद्ध चोर-डकैतोंके द्वारा नहीं—सुशिक्षित, समाजमें प्रतिष्ठाप्राप्त, धर्मात्मा, भक्त, उदार, दाता, राष्ट्रनेता, उच्च अधिकारप्राप्त, देशसेवक आदि नामधारी लोगोंके द्वारा और बड़े-बड़े राष्ट्रोंके द्वारा होनेवाली), कपट, छल, दम्भ, असत्य, विश्वासघात, द्वेष-हिंसा, संघर्ष, युद्ध, क्लेश, अशान्ति, दुःख आदि बढ़ रहे हैं, वह इसी कामोपभोगवादका परिणाम है। जडवादकी पूर्ण परिणति ही कामोपभोगवाद है। जडवादके मदमें चूर जगत् अपनेको जडकी सेवा—आराधनामें लगाये रखनेमें ही गौरवका बोध करता है; परंतु वस्तुतः यह मानवमस्तिष्कका दुरुपयोग है। मानवका चैतन्याभिमुखी विवेक जब केवल जडताके प्रकाश-विकासमें ही लग जाता है, तब वह घोर असुर-मानवकी सृष्टि करता है, जो जगत्में सर्वत्र हाहाकारका विस्तार कर स्वयं भी भीषण नरकयन्त्रणा भोगनेको **बाध्य होता है!**

विज्ञानके आविष्कार और संसारके भोग-पदार्थ बुरे नहीं हैं, यदि वे आत्माके विकासके लिये हों—भगवान्की सेवाके लिये हों। पर जब उन्हींको भगवान्के पवित्र आसनपर बैठा दिया जाता है, तब तो मनुष्य एक भयानक भस्माच्छादित ज्वालामुखीपर जा बैठता है, जिसका परिणाम सर्वनाश निश्चित है।

जीवके पास पुण्यकी पूँजी थी, इससे वह मनुष्य बना। मनुष्यसे उसे भगवान्की ओर अग्रसर बनकर भगवत्स्वरूपको प्राप्त करना था। यही मानव-जीवनका परम और चरम उद्देश्य था। पर वह इस उद्देश्यको भूल गया। भोगवासनामें फँसकर उसने जीवनभर सुखकी आशामें नये-नये पाप-कर्म किये और पुनः उन्हें भोगनेके लिये आसुरी योनियोंमें और नरकोंमें चला गया! मानव-जीवनकी इससे बड़ी विफलता, व्यर्थता और क्या होगी। श्रीभगवान् मनुष्यकी इस विफलतापर मानो शोक प्रकट करते हुए-से कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'अर्जुन! वे मूढ मानव मुझको (भगवान्को) न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको (घोर नरकादिको) प्राप्त होते हैं।'

भारतवर्ष, जो आध्यात्मिकताकी जन्मभूमि था, आज विशेषरूपसे तमसाच्छन्न है। यहाँ न कोई वैज्ञानिक आविष्कार है, न मानव-मस्तिष्कका लौकिक असाधारण चमत्कार है। तथापि कामोपभोगवादके पीछे उन्मत्त होनेमें कोई कसर नहीं है। त्यागपूर्ण आध्यात्मिक भावनाका बड़ी तेजीसे नाश हो रहा है। नैतिक स्तर गिर रहा है। सदाचार, संयम, सत्य, त्याग, कर्तव्यपरायणता, ईश्वरनिष्ठा और ईमानदारी आदि सद्गुणोंके विनाशमें दक्षता समझी जा रही है। बस, सर्वत्र अबाध काम और उपभोग। किसी प्रकार भी धन कमाना और उसे पतनकारी विलासितामें खर्च करना। सर्वत्र स्वार्थ, असंयम, असत्य, नास्तिकता, दम्भ, प्रमाद, द्वेष और वैरका निर्लज्ज नृत्य है, मानो जीवनमें प्रमादका पूर्णावतार हो गया है। इसी जीवनकी ओर बड़ी तेजीसे हमारे युवक और हमारे घरकी बहू-बेटियाँ दौड़ी जा रही हैं। **इसका परिणाम शान्ति-सुख कैसे होगा!**

यह रोग तो सर्वत्र ही फैला है; परंतु बड़े नगरोंमें, धनियोंकी बस्तियोंमें, उच्छृङ्खल अधिकारियोंके गिरोहमें और बे-लगाम विद्यार्थियोंमें अधिक है । आपको जो अशान्ति है, उसका कारण यही महारोग है । कोढ़को महारोग कहते हैं । पर यह विषयासक्तिजनित प्रमाद तो मनका महा-महारोग है । शरीरका महारोग तो मरनेके साथ मर जाता है, पर यह मानस-महारोग तो मरनेके बाद भी साथ ही जायगा ।

असलमें—‘भोगोंमें सुख है’ यह धारणा ही भ्रान्त है और यह जबतक बढ़ती रहेगी और जबतक भोगोंमें सुख खोजा जायगा, तबतक असली सुख दूर-से दूर हटता चला जायगा । आप बुद्धिमान् हैं—सब समझते ही हैं । आपका लंबा पत्र था और आपने बहुत विस्तारसे उत्तर चाहा था । इसीसे यह पत्र भी आवश्यकतासे अधिक लंबा हो गया है—केवल आपके सन्तोषके लिये ही ।

शेष भगवत्कृपा ।

(२)

पतिकी कौन-सी आज्ञा माननी चाहिये

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । यह सर्वथा सत्य है कि स्त्रीके लिये पातिव्रत्य ही एकमात्र धर्म है और उसे सब प्रकारसे पतिके आदेशपालनमें तत्पर रहना चाहिये । पतिव्रता स्त्रीको मुक्तिके लिये अन्य कोई साधन नहीं करना पड़ता । वह यदि पतिको परमात्माकी चेतन मूर्ति मानकर निष्काम भावसे उसकी सेवा करती है तो इस सेवाके प्रतापसे ही वह अनायास संसार-सागरसे तर कर मुक्त हो जाती है । और जो स्त्री किसी भी विकारके वश होकर पतिवञ्चना करती है, वह नरकोंमें जाती है तथा विविध अशुभ योनियोंमें जाकर दुःख भोगती है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है । परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पतिके पापकर्ममें उसकी सहायता करे । शाण्डिली-जैसी पतिव्रताका उदाहरण सबके आदर्श और अनुकरणीय नहीं है । वह विशेष धर्मकी बात है और अपवाद-मात्र है । साधारणतः पत्नीका यही धर्म है कि वह सच्चे सेवक तथा मित्रकी भाँति पतिको कुपथसे हटाकर सुपथमें लगावे—‘कुपथ निवारि सुपंथ चलावा’ । अवश्य वह ऐसा करे—अपनी पवित्र सेवाके द्वारा उसपर सात्त्विक प्रभाव डालकर ही । पति यदि पाप करनेको कहे—जैसे व्यभिचार, शराब, मांस आदिके लिये आदेश दे तो नम्रतापूर्वक उसको दृढ़ताके साथ अस्वीकार कर दे । स्वयं पाप करना, दूसरेसे कहकर करवाना और पापका समर्थन करना—यों कृत, कारित और अनुमोदित—तीनों ही पाप होते हैं । पापका न कभी समर्थन करना चाहिये, न पापमें सम्मिलित होना चाहिये; परंतु पाप करनेवाले पतिका भी हित चाहना चाहिये । घृणा पापसे करनी है—पापीसे नहीं । फिर पति तो पत्नीका देवता है । पतिके सुधारके लिये भगवान्से कातर प्रार्थना करनी चाहिये । सावधानीके साथ ऐसा बर्ताव-व्यवहार करना चाहिये, जिससे पतिमें सुधार हो । परंतु पतिका सुधार करने जाकर अपनेमें नये-नये दोष पैदा कर लेना और स्थितिको और भी जटिल बना देना बुद्धिमानी नहीं है ।

यह सत्य है कि पतिको सुख होता हो, वही काम पत्नीको करना चाहिये । परन्तु सुख किस बातसे होगा, यह भी विचारनेकी बात है । सुख वही है, जो परिणाममें होता है । एक सन्निपातग्रस्त रोगी कुपथ्य माँगता है और उसके मिल जानेपर उसे सुख होता है; पर क्या कोई भी पतिका सुख चाहनेवाली बुद्धिमती पत्नी रोगी पतिको कुपथ्य देगी ? पतिका जिसमें हित होता हो, उसीमें उसका सुख समझना चाहिये । किसी नशेमें चूर पुरुषने अपने घरमें आग लगानेके लिये दियासलाई माँगी और उसको इससे सुख होगा, यह समझ कर उसे दे दी । यह तो प्रमाद और मूर्खता है एवं वस्तुतः उसको दुःख पहुँचानेका प्रयत्न है । इसी प्रकार पापमें सहायता देना भी उसका अहित करना है—वस्तुतः उसे दुःख ही पहुँचाना है । अतएव पति यदि पापके लिये आदेश करे तो उसे न माननेमें कोई दोष नहीं है ।

पिताकी आज्ञा पुत्रको, गुरुकी शिष्यको और पतिकी पत्नीको अवश्य माननी चाहिये । पर वही माननी चाहिये, जिसके माननेपर आज्ञा देनेवालोंका कोई अहित न होता हो, उनके लिये नरकका मार्ग न खुलता हो । जिस आज्ञासे आज्ञा देनेवाले पिता, गुरु या पतिका परिणाममें अहित होता हो, ऐसी आज्ञा न मानना ही उनकी सेवा करना है । इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखना चाहिये ।

पर इसका भी, यह अभिप्राय नहीं है कि अपनी मनमानी होनेमें ही उनका हित है—ऐसा मान लिया जाय । इसीलिये शास्त्रकी आवश्यकता है । शास्त्रमें व्यभिचार, हत्या, दूसरेका अनिष्ट, मद्यपान, डकैती आदि जिन कर्मोंको दोष बतलाया है, उन्हींको दोष मानना चाहिये और गुरुजन यदि उन कर्मोंके लिये आज्ञा दें तो उसे नहीं मानना चाहिये । उनकी आज्ञा

हो तो शास्त्रोक्त, पर हमारे मनके अनुकूल नहीं है या हम उसका पालन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं मानते, इसलिये उस आज्ञाको न मानना अवश्य ही प्रमाद है।

शेष भगवत्कृपा।

(३)

गृहस्थाश्रम बेड़ी नहीं है, बेड़ी है आसक्ति और ममता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर यह है—

(१) गृहस्थाश्रम वास्तवमें पैरमें बेड़ी नहीं है, बेड़ी तो इसमें जो आसक्ति और ममता है, वही है। हमने इसको अपना मान रक्खा है और हम इसके हो रहे हैं, इसीलिये इस बेड़ीसे जकड़े हुए हैं। जिस क्षण हम अपनेको भगवान्‌का बना देंगे और सारी आसक्ति तथा ममता एकमात्र उन्हींमें जोड़ देंगे, उसी क्षण ये तमाम बेड़ियाँ अपने-आप टूट जायँगी। कैदखानेके किंवाड़ स्वतः खुल जायँगे। ब्रह्माजीने भगवान्‌से कहा—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३६)

'जबतक यह जीव आपका नहीं हो जाता, तभीतक राग-द्वेषादि चोर इसके पीछे लगे रहकर सब कुछ लूटा करते हैं। तभीतक घर और घरवाले कैदखानेकी तरह सम्बन्धके बन्धनोंमें बाँधे रखते हैं और तभीतक मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें जकड़ी रहती हैं।' आप उनके बन जाइये, फिर सारा गृहस्थ उनका पूजन-मंदिर बन जायगा और आप स्वतन्त्र पुजारीमात्र रह जायँगे। कोई बन्धन रहेगा ही नहीं।

(२) प्रतिकूल व्यक्तिको अनुकूल बनानेकी कला तो प्रेम, आदर और हितका बर्ताव है। किसीको अनुकूल बनाना हो तो पहले आप उसके अनुकूल बनें, उसकी निर्दोष चेष्टाकी प्रशंसा करें, उससे प्रेम करें, उसका आदर करें तो मेरी समझसे उसका अनुकूल बनना बड़ी बात नहीं है। उपदेश, आदेश, क्रोध और अपने बड़प्पनके गौरवसे यह काम नहीं होता। यह तो सम्मान, प्रेम, हित तथा सत्य व्यवहारसे ही होता है।

शेष भगवत्कृपा।

(४)

दुःस्वप्न-नाशका उपाय

प्रिय बहिन ! सादर हरिस्मरण।

आपका कृपापत्र मिला। पतिकी अनुपस्थितिके दिन स्वप्नावस्थामें आपके पास कोई आता है और आप इससे बहुत दुखी हैं, सो आपका दुखी होना तो उचित ही है। मेरा तो ऐसा अनुमान है कि कोई आपके पास आता नहीं है, आपके मनका सङ्कल्प ही वैसा दृश्य खड़ा करके वैसी क्रिया करवा देता है। इसलिये आप रातको सोते समय श्रीमद्भगवद्गीताके ११ वें अध्यायके इस श्लोकको ग्यारह बार पढ़कर उससे जलको अभिमन्त्रित कर लें। जल गङ्गाजल हो तो सर्वोत्तम है। फिर उस जलको अपने बिस्तरपर छिड़क लें तथा चारपाईके चारों ओर उस जलसे कार लगा दें। फिर भगवान्‌का स्मरण करती हुई यह निश्चय करके कि आज वह स्वप्नमें कदापि नहीं आ सकता, क्योंकि गीताकी पवित्र वाणी मेरी चारपाईके चारों ओर पहरा दे रही है—सो जायँ। मेरा विश्वास है, यदि आपने विश्वासपूर्वक ऐसा किया तो वैसा स्वप्न आना बंद हो जायगा। श्लोक यह है—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥

(११ । ३६)

शेष भगवत्कृपा।

(५)

सुग्रीव और हनूमान् कैसे बंदर थे ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। आपने 'कल्याण'में प्रकाशित सुग्रीव और हनुमान्‌जीके चित्रोंमें वस्त्र, मुकुट, भुजबन्ध आदि देखकर व्यङ्ग करते हुए लिखा कि 'हनुमान्‌जी वस्त्रोंको कौन-से शहर (बाजार) से लाते थे। कच्छकी सिलाई किसके जरिये होती थी—आदि।' इससे आपका अज्ञान ही प्रकट होता है। वाल्मीकीय रामायणको आपने तनिक भी देखा-सुना होता तो आपको ऐसा लिखनेका साहस न होता। श्रीसुग्रीवजी और श्रीहनुमान्‌जी आदि आजकलके बंदरों-जैसे वानर नहीं थे। वे पूँछवाले तथा बंदरोंकी आकृतिके प्राणी अवश्य थे, पर बड़े ही सुसभ्य, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, कलावान् पुरुष थे। वाल्मीकीय रामायणके कुछ प्रसंग भी

यहाँ लिखता हूँ, उससे आपको कुछ ज्ञान होगा, ऐसी आशा है।

ऋष्यमूक पर्वतपर जब श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामसे मिलते हैं और अर्थगम्भीर मधुर मनोहर शब्दोंमें जब उनसे बातचीत करते हैं, तब भगवान् श्रीरामचन्द्र अनुज श्रीलक्ष्मणजीसे कहते हैं—

'सौमित्रि! तुम सुग्रीवके मन्त्री हनुमान्‌से स्नेहयुक्त सम्भाषण करो। यह हनुमान् वाक्यके रहस्यको जाननेवाला, चतुर और महाबली है। यह शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ है। इसके भाषणसे मालूम होता है कि इसने वेदोंका पूर्ण अभ्यास किया है; क्योंकि ऋक्, यजुः और सामवेदको न जाननेवाला कोई भी ऐसा उत्तम और स्पष्ट भाषण नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त यह व्याकरणका भी पूरा पण्डित प्रतीत होता है; क्योंकि इतने बड़े भाषणमें इसके मुँहसे न तो एक भी अशुद्ध शब्द निकला और न शब्दोंके उच्चारणमें कहीं इसके अङ्गोंमें ही कोई विकार आया।'

इस वानर जातिमें सभी संस्कार वैदिक विधिके अनुसार होते थे। उदाहरणार्थ बालिकी मृत्युके अनन्तर उसके और्ध्वदेहिक संस्कारका विवरण पढ़िये—

'सुग्रीव और अंगद एक सुन्दर पालकीपर बालिके शवको रखकर श्मशानमें ले जाते हैं। शवपर रत्नोंकी वर्षा की जा रही है। नदीके तीरपर शिविका उतारी जाती है। सूखे काठकी चिता बनाकर उसपर शव रक्खा जाता है। फिर शोकाकुल अंगद पिताकी चिताकी अपसव्य प्रदक्षिणा करता है। तत्पश्चात् शास्त्रविधिके अनुसार अग्नि-संस्कार किया जाता है। इसके अनन्तर वानर पवित्र नदी-तटपर स्नान करते हैं और सुग्रीव, तारा तथा अंगद बालिको जलाञ्जलि प्रदान करते हैं।' क्या पशु-बन्दरोंमें ऐसी क्रिया सम्भव है? और देखिये—

भगवान् श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीव राज्याभिषेकके लिये किष्किन्धा-नगरीमें प्रवेश करते हैं। उस समयका वर्णन है—

'सुग्रीवके राज्याभिषेकके लिये वानरोंने शीघ्रतासे ये वस्तुएँ मँगवायी थीं। सुवर्णालङ्कृत श्वेतछत्र, सोनेके डाँडीवाले दो चँवर, सब प्रकारके रत्न, सकल प्रकारके बीज और ओषधियाँ, सक्षीर वृक्षोंके प्ररोह, सुगन्धित पुष्प, सफेद कपड़े, श्वेत चन्दन, सुगन्धयुक्त कमल, अनेक प्रकारके सुगन्धित द्रव्य, अक्षत, सुवर्ण, गेहूँ, मधु, घृत, दही, व्याघ्रचर्म, बहुमूल्य जूतेकी जोड़ी। इसके बाद राजाके शरीरमें लेपन करनेके लिये गोरोचनादि सुगन्धित पदार्थोंको लेकर सोलह रूपसी कुमारिकाएँ आयीं। उत्तम ब्राह्मणोंको भोजन कराया गया और उन्हें रत्न तथा वस्त्र देकर प्रसन्न किया गया। फिर मन्त्रज्ञाता ऋत्विजोंने कुण्डमें अग्निकी विधिवत् स्थापना कर हवन किया। तदनन्तर सुन्दर सुवर्ण-सिंहासनपर बैठाकर चारों दिशाओंके तीर्थोंके तथा विविध समुद्रोंके निर्मल जलसे सुवर्ण-पात्रोंद्वारा सुग्रीवका अभिषेक किया गया। यहीं विधिपूर्वक अंगदको भी युवराज-पद दिया गया।' (वा० रा० ४। २६)

किष्किन्धा-नगरीकी अवस्थाका किञ्चित् वर्णन पढ़नेपर वानरोंके ऐश्वर्यका कुछ अनुमान लग जाता है। जिस समय सुग्रीवको चेतावनी देनेके लिये श्रीलक्ष्मणजी सुग्रीवकी नगरीमें गये, उस समय उन्होंने देखा—

'अनेक रत्नोंसे छायी हुई उस दिव्य नगरीमें जगह-जगह पुष्पित वृक्ष लग रहे थे। ऊँची-ऊँची छतोंवाले रत्न-जटित विशाल भवनोंसे नगरी खचाखच भरी थी, प्रत्येक घरके साथ बगीचा था, जिसमें फल-पुष्प-समन्वित वृक्ष लगे थे। विन्ध्याचल और सुमेरु-जैसे ऊँचे-ऊँचे महलोंसे नगरी सुशोभित हो रही थी। आगे चलकर श्रीलक्ष्मणजीने युवराज अङ्गद, मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, विद्युन्माली, सूर्याक्ष, हनुमान्, सुबाहु, नल, नील, जाम्बवान आदि श्रेष्ठ बुद्धिमान् वानरोंके रमणीय और सुन्दर महल देखे। ये सब महल सफेद बादल-जैसे, सुगन्धित पदार्थों और पुष्पमालाओंसे सजाये हुए, धन-धान्यादि ऐश्वर्य और रमणी-रत्नोंसे सुशोभित थे। वानरराज सुग्रीवका राजमहल तो श्वेत स्फटिक मणिकी बड़ी-बड़ी शिलाओंका बना हुआ था। सामने दिव्य पुष्प, फल और शीतल छायावाला बगीचा था। दिव्य पुष्प और सोनेके तोरणोंसे सजाया हुआ था। अत्यन्त बलवाले वानर शस्त्र धारण किये दरवाजेपर पहरा दे रहे थे! श्रीलक्ष्मणजीने महलके अंदर जाकर एकके बाद एक सात ड्योढ़ियाँ पार कीं। वहाँ उन्होंने भाँति-भाँतिके रथ और विमान आदि सवारियाँ और बिछाने योग्य बहुमूल्य आसनोंका ढेर देखा। अन्तःपुरमें सोने और चाँदीके बहुत-से बड़े-बड़े पलँगोंपर अमूल्य बिछौने बिछे थे। अंदर सुन्दर स्वरमें गाना-बजाना हो रहा था, अन्तःपुरमें सुन्दर आकृतिवाली उत्तम कुलमें उत्पन्न अनेक स्त्रियाँ थीं, जो उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई सुगन्धित फूलोंके हार गूँथ रही थीं। इसके बाद उन्होंने सुग्रीवके उत्तम गहनों-कप

सजे हुए अगणित नौकरोंको अनेक प्रकारके कार्योंमें लगे देखा ।' (वा० रा० ३ । ३३)

इससे वानरोंके ऐश्वर्य और विलासका अंदाजा लगाइये ! वानर-जाति कलाकौशलमें कितनी बढ़ी-चढ़ी थी । विशेष प्रमाण न देकर दो एक प्रमाण ही दिये जाते हैं । देखिये—

बालिका शव श्मशान ले जानेके समय जिस पालकीपर रखा गया था, उसका वर्णन इस प्रकार है—'दिव्य रथ-जैसी पालकी अत्यन्त शोभायमान थी । उसके मध्यभागमें उत्तम भद्रासन बनाया हुआ था । चारों ओर अनेक प्रकारके पक्षी और वृक्षोंके प्राकृतिक चित्र चित्रित थे । पालकीके अन्दर जानेके दरवाजे बहुत ही सुखरूप थे । हवाके जाने-आनेके लिये सुन्दर जालियाँ रक्खी हुई थीं । निपुण शिल्पकारोंद्वारा निर्मित वह सुन्दर शिविका बहुत ही बड़ी और मजबूत थी, देखनेमें देवताओंके विमान-जैसी थी । उसके अंदर नाना प्रकारके काठके पहाड़ बनाये हुए थे । इसके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी कारीगरी की गयी थी । वह पालकी उत्तम सोनेके हारों, रंग-बिरंगे पुष्पों और लालचन्दनसे सजायी हुई थी । शिविकापर भाँति-भाँतिके सुगन्धित फूल बिखराये हुए थे और प्रभातकालीन सूर्य-सदृश कान्तिवाली कमलकी मालाओंसे वह शोभित हो रही थी ।' (वा० रा० ३ । २५)

यह तो मुर्देको उठानेकी पालकीका वर्णन है । अन्य वस्तुओंकी कारीगरीका भी इसीसे अनुमान कर लीजिये ।

इस विवरणसे आपको समझना चाहिये कि सुग्रीव और हनुमान्‌जी किस ढंगके बंदर थे और उनके सिरोंपर मुकुट, भुजाओंमें बाजूबंद और शरीरपर वस्त्रादि धारण सर्वथा सत्य है । शेष भगवत्कृपा ।

(६)

संसार-सागरसे तारनेवाली नौका

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंके उत्तर निम्नलिखित हैं—

(१) न्यायके अनुसार किसीको दण्ड देना पाप नहीं है । अन्यायपूर्वक या द्वेष, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रोध, वैर, भय, लोभ आदिके वश होकर किसीको दण्ड नहीं देना चाहिये । न इसके लिये नौकरी छोड़नेका विचार करना चाहिये ।

(२) सत्यका महत्त्व न समझनेके कारण ही मनुष्य भयवश झूठ बोलता है । आपने जो परिस्थिति लिखी, वह यद्यपि विकट है पर सत्यवादी तो सत्यके लिये सब कुछ सहन करनेको तैयार रहता ही है । आप अपनी परिस्थिति समझकर जैसा उचित समझें, वैसा ही करें ।

(३) आपकी पत्नी आपकी गैरहाजिरीमें निषिद्ध वस्तु खा लेती हैं । इसके लिये आप डाँटना-फटकारना छोड़कर प्रेमपूर्वक उन्हें निषिद्ध वस्तु खानेके दोष बतलायें । वह दोषोंको समझ जायँगी तो संभवतः फिर नहीं खायँगी ।

(४) साधु-संत नहीं मिलते तो गीता, रामायण तथा संत-महात्माओंके द्वारा लिखित ग्रन्थोंका श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये । यह भी बड़ा उत्तम सत्सङ्ग है ।

(५) आपने भगवान् शङ्करजीको गुरु माना है सो बहुत ही ठीक किया है । भगवान् शङ्कर तो सबके आदि-गुरु—विश्वगुरु हैं ही । अन्य गुरु करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

(६) अत्यन्त दृढ़ वैराग्य हुए बिना गृहस्थका त्याग करना न तो उचित है, न लाभदायक ही है । वरं कर्तव्यका त्याग करना एक प्रकारसे पाप ही है । जिन सच्चे संतोंने घरका त्याग किया है, वह किया नहीं है, वैराग्यकी तीव्रतामें हो गया है ।

(७) भजन-साधन केवल एकान्तकी ही चीज नहीं है । चलते-फिरते, काम-काज करते भी भजन-साधन होता है । मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण करते हुए शास्त्रोक्त कर्म करना और कर्मका भी उद्देश्य केवल भगवान्‌की प्रसन्नता ही रखना—यही भजन है । यह भजन सब समय किया जा सकता है । भाव और स्मृति होनी चाहिये ।

(८) 'शिव-शिव' या 'राम-राम' पुकारना पिताके नामको बार-बार पुकारनेके समान निरर्थक नहीं है । भगवान्‌का नाम नामीसे अभिन्न है और चिदानन्दमय है । इसके बार-बार उच्चारणसे पापराशिका नाश होता है और भगवान्‌की प्राप्ति होती है ।

(९) संसारसे पार लगानेवाली नौका तो भगवान्‌में चित्त लगाकर उनका भजन करना है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ७)

'अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

आप घबराइये नहीं । भगवान्‌का नाम-जप कीजिये । कलियुगमें यह सबसे श्रेष्ठ सुलभ साधन है । इसीसे सब कुछ हो सकता है । शेष भगवत्कृपा ।

तीन नयी पुस्तकें ! श्रीहरिः प्रकाशित हो गयीं !!

कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा सम्पादित
सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित्र-मालाके दो नये पुष्प

भक्त-सुधाकर

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ-संख्या १००, आर्ट पेपरपर छपे हुए ११ इकरंगे और १ बहुरंगा चित्र, मूल्य ॥) मात्र ।

भक्त-चरित-मालाके इस १४ वें पुष्पमें भक्त रामचन्द्र, सपरिवार भक्त लाखाजी, भक्त गोवर्धन, भक्त रामहरि भट्टाचार्य, डाकू भगत, भक्त नवीनचन्द्र, भक्त सेठ रमणलाल, भक्त रामनारायण, भक्त स्वामी रामअवधदास, भक्त बालकराम, दृढनिश्चयी ब्राह्मण भक्त और भक्त वेंकटकी बहुत ही सुन्दर मनोहर उपदेशभरी भक्तिपूर्ण गाथाएँ हैं ।

भक्त-महिलारत्न

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ-संख्या १००, भक्त हरदेवीका सुन्दर बहुरंगा तथा भगवान् और भक्तोंके छः इकरंगे चित्र, मूल्य ।≈) मात्र ।

इस १५वें पुष्पमें आँवेरकी प्रसिद्ध भक्त-रानी रत्नावती, भक्तिमती हरदेवी, भक्तिमती निर्मला, लीलावती, बहिन सरस्वती, प्रेमिणी हसीना और हमीदा, भक्तिमती आण्डाल या रंगनायकी, भक्तिमती कुँअर-रानी और भक्त देवी फूलीबाईकी बहुत ही रोचक, उपदेशप्रद पवित्र करनेवाली कथाएँ हैं ।

ये दोनों पुस्तकें बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष सबके पढ़नेयोग्य बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद हैं । एक-एक प्रति अवश्य पास रखनेयोग्य हैं ।

* * *

श्रीरामचरितमानसान्तर्गत

बालकाण्ड (सटीक)

टीकाकार—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

आकार २२×२९ सोलहपेजी, पृष्ठ-सं० ३१२, भगवान् राम-लक्ष्मणका सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य १=) मात्र ।

इधर कई जगह विद्यालयोंके शिक्षाक्रममें विभिन्न श्रेणियोंके लिये श्रीरामचरितमानसके पृथक्-पृथक् काण्ड रक्खे गये हैं। इसलिये विद्यार्थियोंकी अलग-अलग काण्डोंकी माँग पूरी करनेका यह श्रीगणेश है। अन्य काण्ड भी तैयार हो रहे हैं ।

* * *

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

श्रीमद्भगवद्गीता

[श्रीरामानुज-भाष्य हिन्दी-अनुवादसहित]

(अनुवादक—श्रीहरिकृष्णदास गोयन्दका)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ सं० ६०८, तीन बहुरंगे चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य २॥) मात्र।

प्रस्तुत ग्रन्थमें हमारे यहाँसे प्रकाशित गीता-शांकरभाष्यकी तरह ही श्लोक, श्लोकार्थ, मूल-भाष्य और उसके सामने ही हिन्दी-अर्थ दिया गया है । कई जगह टिप्पणी भी दी गयी है ।

सभी पुस्तकोंका डाक-खर्च अलग

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

हिन्दू-कोड-बिल

पाठकोंसे निवेदन

देशपर तरह-तरहके संकट छा रहे हैं। कहीं अवर्षा है, कहीं बाढ़ है। अन्नके लिये हाहाकार मचा है। उधर पाकिस्तानमें जेहादकी घोषणा हो रही है और मियाँ लियाकत मुक्का ताने खड़े हैं। इस स्थितिमें इस प्रकारकी व्यवस्था और ऐसी नीति होनी चाहिये थी जिससे देशभरमें एकता और प्रेम हो। सब एकस्वरसे सरकारका साथ दें और सरकारका हाथ मजबूत हो। समस्त देशवासियोंकी ऐसी ही इच्छा भी है और किसी भी परिस्थितिमें इस विषयमें सब एकमत ही रहेंगे—ऐसी आशा है। परन्तु दुर्भाग्यकी बात है कि हमारी सरकार इसी समय संसद्में हिन्दू-कोड-बिल ला रही है और राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजीके द्वारा यह घोषणा करायी गयी है कि सरकार इसे इसी अधिवेशनमें पास भी करा देना चाहती है। जिस हिन्दू-कोड-बिलका देशके सर्वमान्य बड़े-बड़े विद्वानोंने विरोध किया और हजारों, लाखों तार-पत्र भेजे गये। जो हिन्दू-कोड-बिल सब प्रकारसे पवित्र हिन्दूजाति और हिन्दू-संस्कृतिपर और करोड़ों धर्म माननेवालोंके हृदयोंपर आघात करनेवाला है। इस महान् सङ्कटके समय, धर्मपर प्रहार करनेवाले उसी बिलको एक धर्मनिरपेक्ष सरकार पास करनेकी घोषणा कर रही है। इसको अन्याय, स्वेच्छाचारिता और हठवादके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? आश्चर्य और दुःखकी बात है कि जिन माननीय श्रीराजेन्द्रप्रसादजीने इसका व्यक्तिगतरूपमें खुले शब्दोंमें विरोध किया था, उसीकी वे वैधानिक राष्ट्रपतिके रूपमें पास करनेकी सूचना दे रहे हैं। वैधानिक राष्ट्रपतिके नाते वे स्वतन्त्र नहीं हैं, यह ठीक है, परन्तु यदि उनका मत न बदला हो, तो वे आत्मबलके आधारपर यह अवश्य कह सकते थे कि वे अपने मुखसे इसकी घोषणा नहीं करेंगे, अथवा यदि उनको अपने मतकी दृढ़ता हो तो, वे अपने इस पदका परित्याग कर सकते थे। परन्तु श्रीराजेन्द्रप्रसादजी साधु-स्वभावके पुरुष हैं। वे अनुचित दबावमें आ जाते हैं। इसीसे उनसे कहलवाया गया। यदि ऐसी बात नहीं है और श्रीराजेन्द्रप्रसादजीका मत भी नहीं बदला है तो कोई कारण नहीं, कि उनको अपने मतके सर्वथा विरुद्ध बाध्य होकर घोषणा करनी ही पड़े। जो कुछ भी हो। किसीका भी हठ हो; पर हिन्दू-कोड-बिल आ रहा है और यह प्रत्यक्ष हिन्दूधर्मपर आघात है। तीस करोड़ सनातन-धर्मियोंको चुनौती है! अतएव सब लोगोंको सावधान हो जाना चाहिये और इसके विरोधमें हमारे माननीय प्रधान मन्त्री महोदयके नाम बड़ी संख्यामें तुरंत तार-पत्र देने चाहिये। जिसमें लिखना चाहिये कि 'थोड़ेसे लोगोंको छोड़कर तमाम जनता इसके विरुद्ध है। अतः इस हिन्दू-कोड-बिलको तुरंत वापस लीजिये।'

साथ ही एक बातका और ध्यान रखना है, वह यह कि अगले चुनावमें जनता उन्हीं न्याय और धर्मपरायण पुरुषोंको मत दे—चाहे वे किसी संस्थाके हों, जो भारतवर्षमें गोवधका पाप दूर करने तथा किसीके भी धर्मपर आघात करनेवाले कानून न बनने देनेका वचन दें।

कल्याण

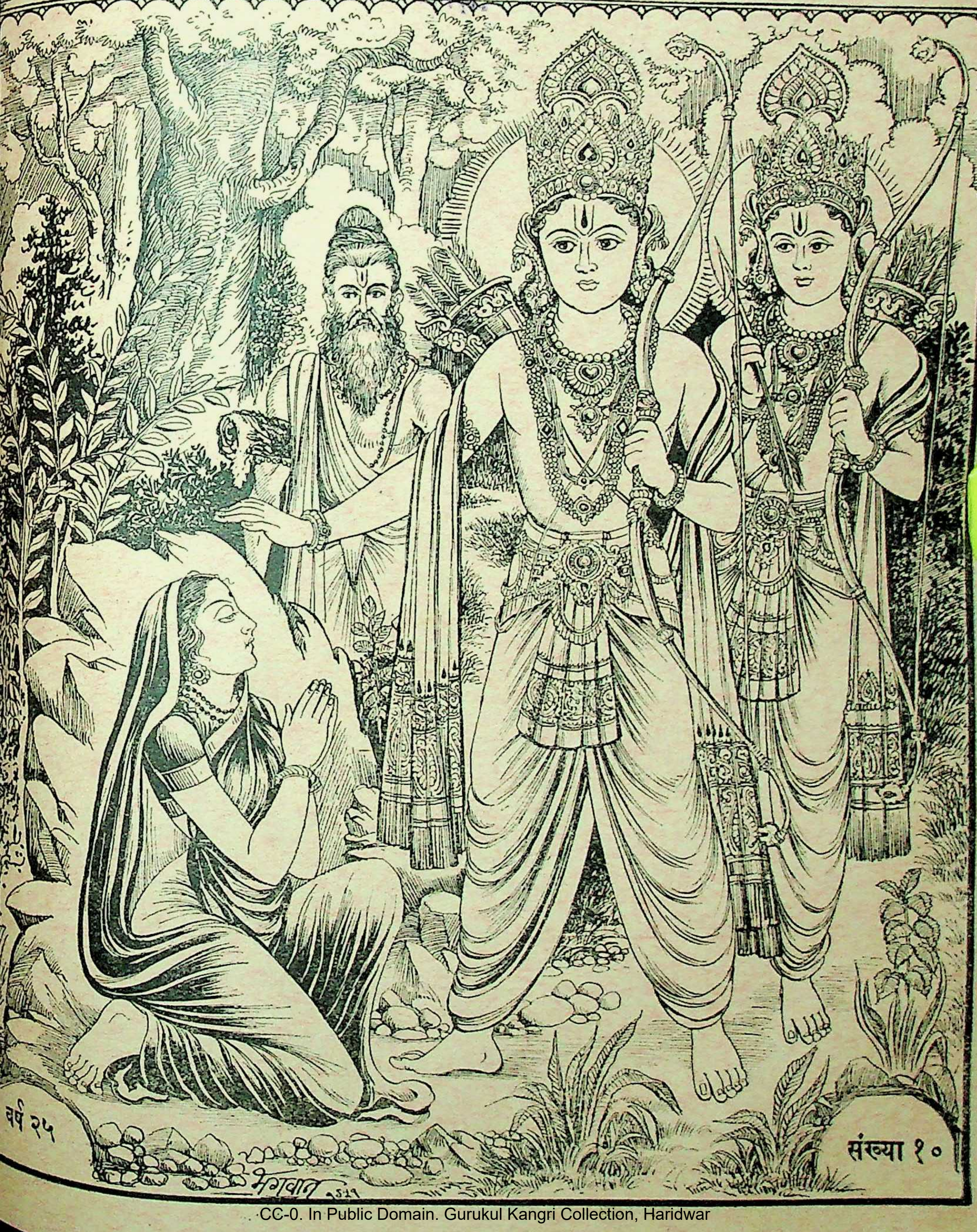

वर्ष २५

संख्या १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २००८, अक्टूबर सन् १९५१

विषय … पृष्ठ-संख्या
१–विनती [कविता] (संगृहीत) … … १३३५
२–कल्याण ('शिव') … … १३३६
३–महत्त्वपूर्ण प्रवचन (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … १३३७
४–प्रार्थना [कविता] ('अकिञ्चन') … … १३४३
५–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन … … १३४४
६–पवित्रताका रहस्य (साधुवेषमें एक पथिक) … … १३५३
७–श्रीभगवान्‌के दिव्यादेश (श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०) … … १३५४
८–गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णके मनोद्गार [कविता] (महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') … १३६१
९–सेवाके मार्गसे मुक्ति (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) … … १३६२
१०–सेवक [कविता] … … १३६३
११–तपोवन (कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर) अनु०—(श्रीधन्यकुमारजी जैन) … … १३६४
१२–यज्ञका महत्त्व (याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ) … १३७१
१३–भक्तके चेरे [कविता] (श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी) … … १३७४
१४–संस्कृतके पण्डित और अंग्रेजीके विद्वान् (आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ) … १३७५
१५–ज्ञानी [कविता] … … १३७८
१६–शोकसे मुक्ति (पं० श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री) … … १३७९
१७–गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई (श्रीबिहारीलालजी मित्तल) … … १३८३
१८–उपासना और मनकी पवित्रता (श्रीदेवीचरणजी निगम एम्० ए०) … … १३८६
१९–मानव-चक्षु (वैद्यरत्न श्रीप्रतापसिंहजी) … … १३८९
२०–भक्त-गाथा [भक्तिमती चन्द्रलेखा] … … १३९२
२१–कामके पत्र … … १३९५

चित्र-सूची

तिरंगा

१–चिन्मय युगल … … १३३५

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≈)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए० शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

'कल्याण'का

छब्बीसवें वर्षका विशेषाङ्क

सुन्दर और मधुर

भक्त-चरिताङ्क

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे विनीत प्रार्थना

'कल्याण'के तीसरे वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'भक्ताङ्क' निकला था। उसकी भी इतनी माँग रही कि उसे दूसरी बार छापना पड़ा। अब वह अप्राप्य है। इधर ग्राहकोंकी भक्त-चरितोंके लिये बड़ी माँग थी और वे बार-बार बृहद् 'भक्त-चरिताङ्क' प्रकाशित करनेके लिये जोर डाल रहे थे। वस्तुतः 'भक्त-चरित' है भी ऐसी ही महान् लाभदायक वस्तु। भगवान्‌के महत्त्व, तत्त्व, रहस्य तथा भगवान्‌की भक्तवत्सलता, भृत्य-परायणता आदिका पता भक्तोंके पावन चरित्रोंसे ही लगता है। 'भक्त-चरित' ही भक्तिदानमें समर्थ हैं। अतएव इस बार 'भक्त-चरिताङ्क' निकालना निश्चय हुआ है। इस 'भक्त-चरिताङ्क' में वैदिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, प्राचीन और अर्वाचीन सभी सम्प्रदाय और जातियोंके भक्तोंके शिक्षाप्रद, मधुर, भावपूर्ण जीवन-चरित्र और चुने हुए उपदेश रहेंगे। भक्तितत्त्व-सम्बन्धी थोड़े-से लेखोंके अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ केवल जीवनचरित्रोंसे पूर्ण होगा। भक्तोंके विविध चरित्रोंसे जीवनको पवित्र प्रेरणा मिलेगी, भगवान्‌के स्वरूपका प्रकाश होगा और जीवनको भक्तिमय बनानेके लिये सुप्रशस्त पथ प्राप्त होगा। यह अङ्क अत्यन्त रोचक, शिक्षाप्रद, आनन्ददायक और लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली सामग्रियोंसे सम्पन्न होगा। इसमें ऐसी-ऐसी सुरुचिपूर्ण सुन्दर कथाएँ रहेंगी, जिन्हें पढ़-सुनकर बालक, वृद्ध, युवा सभी नर-नारियोंका मन लगेगा और मन लगनेपर उन्हें भक्तिदेवीके दर्शन सहज ही हो सकेंगे।

इस अङ्कमें भगवान् विष्णु, भगवान् शङ्कर, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, भगवती तथा भक्तोंके अनेकों सुन्दर और प्रेरणाप्रद बहुरंगे तथा इकरंगे चित्र होंगे। जिससे इसकी सुन्दरता, सुगमता और आकर्षकता और भी बढ़ जायगी। इसमें लगभग ८०० पृष्ठोंकी ठोस सामग्री रहेगी। यह अङ्क सर्वथा संग्रहणीय तथा मित्रों, कन्याओं, विद्यार्थियों आदिको उपहार तथा पुरस्कारमें देने योग्य होगा।

'कल्याण'के पुराने 'भक्ताङ्क' और 'संताङ्क' सर्वथा अप्राप्य हैं। पूर्वका 'भक्ताङ्क' बहुत छोटा था, उसमें प्रायः २०० पृष्ठोंकी ही सामग्री थी। 'संताङ्क'में भक्तोंके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकारके संतोंके चरित्र संगृहीत थे। पर इस 'भक्त-चरिताङ्क'में केवल भक्तोंके ही पुनीत चरित्र रहेंगे और उनमें ऐसे अनेक होंगे, जो 'संताङ्क' या 'भक्ताङ्क'में नहीं आये हैं। यह एक अत्यन्त नवीन रसमय 'भक्तमाल' होगा।

अबतकके प्रकाशित 'कल्याण'के सभी विशेषाङ्कोंकी अपेक्षा यह विशेष आकर्षक अङ्क होगा, क्योंकि इसमें केवल भक्तोंके भावमय चरित्र ही रहेंगे। अतएव जो सज्जन पहलेसे ७॥) रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवतः निराश होना पड़े। इसलिये जिन नये-पुराने सज्जनोंको ग्राहक बनना हो वे मनीआर्डरसे तुरंत रुपये भेजनेकी कृपा करें, जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित हो जाय। मनीआर्डर-फार्म इसके साथ भेजा जा रहा है।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं, अतएव पत्रव्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय और मनीआर्डरके कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये । मनीआर्डर-कूपनमें ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये ।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये । पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलगसे रुपये तथा आर्डर भेजने चाहिये ।

सजिल्द विशेषाङ्क चाहनेवालोंको १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये अर्थात् ८।।।) भेजने चाहिये तथा कूपनमें लिख देना चाहिये कि १।) जिल्दके लिये भेजा गया है ।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजने चाहें, वे डाकखानेमें पूरी बीमा वेचकर या मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्ड पत्रसे रुपये कभी न भेजें । ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ नहीं पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेदारी 'कल्याण' या 'गीताप्रेस'की नहीं होगी । व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

* * *

कृपालु और विद्वान् लेखक महानुभावोंसे निवेदन

इस 'भक्त-चरिताङ्क'में भक्तितत्त्व-सम्बन्धी दो-चार लेखोंके अतिरिक्त सब भक्तोंके जीवन-चरित्र ही रहेंगे। भक्तोंके चरित्र प्रायः संगृहीत हो चुके हैं तथापि यदि कोई कृपालु लेखक महानुभाव किसी भक्तका सुन्दर, शिक्षाप्रद, मधुर चरित्र गद्य या पद्यमें लिखकर भेजना चाहें तो वे आगामी कार्तिक कृष्ण १४ दीपमालिकासे पहले-पहले भेज सकते हैं—

(१) चरित्र छोटा होना चाहिये और उसमें चमत्कारकी बातोंपर विशेष न लिखकर भक्तकी भक्तिनिष्ठा, आदर्श व्यवहार, सदाचार, त्याग, वैराग्य, कर्तव्यपरायणता, ईश्वर-विश्वास, कठिन-से-कठिन स्थितिमें भी ईश्वरनिष्ठा तथा धर्मका दृढ़तापूर्वक पालन आदि विषयोंपर विशेष प्रकाश डालना चाहिये ।

(२) जीवित भक्तोंके चरित्र नहीं भेजने चाहिये ।

(३) लेख सुन्दर स्पष्ट अक्षरोंमें कागजके एक तरफ लिखना चाहिये ।

(४) चित्र हो तो उसे भी भेज सकते हैं। छापनेका निश्चय रचना देखनेके पश्चात् ही हो सके

सम्पादक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गो

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥

वर्ष २५ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २००८, अक्टूबर १९५१ { संख्या १०
पूर्ण संख्या २९९

विनती

दिन दिन दूनौं दूनौं दोउनमैं नेह हूजौ, आनँदसौं व्रजमैं विहार सदा कीजियौ ।
रूपके उजारे गुन भारे प्रानप्यारे दोऊ, नैननि हमारे छिन-छिन चैन दीजियौ ॥
बंदन करत नित दोऊ कर जोरि दई ! विनती हमारी कान दै कै सुनि लीजियौ ।
नवलकिसोरी मनमोहनकी जोरी यह, प्रेम-मतवारी रसवारी चिर जीजियौ ॥

(संगृहीत)

कल्याण

याद रक्खो—जगत्में तीन प्रकारके रस हैं—१. प्रमाद-रस, २. विषय-रस और ३. भगवद्-रस। इनके अनेक अवान्तर भेद हैं। 'पामर' प्रमाद-रसका सेवन करता है, 'विषयी' विषय-रसका और सच्चा 'साधक' या 'भक्त' भगवद्-रसका।

याद रक्खो—अवश्य करने योग्य कार्यको न करना और कभी न करने योग्यको करना—'प्रमाद' कहलाता है। इस प्रमादसे जिस आनन्दकी प्राप्ति होती है, उसका नाम 'प्रमाद-रस' है। जैसे शास्त्रीय शुभ कर्मोंके त्यागमें और परधन-परस्त्री-परनिन्दा आदिके सेवनमें।

याद रक्खो—प्रमाद एक भीषण नशा है; प्रमादमें फँसे हुए मनुष्यकी बुद्धि सब कुछ विपरीत ही देखती है। वह पुण्यको पाप, पापको पुण्य; भलेको बुरा, बुरेको भला; और धर्मको अधर्म, अधर्मको धर्म। इसलिये वह सहज ही बड़े भाव और चावसे नये-नये पाप करता है और ऐसा करके मन-ही-मन गौरव और मानका अनुभव करता है। इसीलिये प्रमादको 'मोहमयी मदिरा' कहा गया है। इस प्रमादका तुरंत त्याग कर देनेमें ही कल्याण है।

याद रक्खो—स्त्री, स्वामी, पुत्र, धन, शरीर, मकान, यश, मान, बड़ाई आदि सांसारिक, ऐसे विषयोंमें, जो पापयुक्त नहीं हैं और शास्त्रविहित हैं—अत्यन्त आसक्त होना और दिन-रात उन्हींका सेवन करते हुए उसीमें आनन्दका अनुभव करना—'विषय-रस' है। यह पाप नहीं है, परन्तु इसमें भगवान्की विस्मृति है—मानवशरीरके चरम लक्ष्यकी ओरसे अवहेलना है और इसलिये इसके 'प्रमाद-रसमें' परिणत हो जानेकी संभावना है। अतएव परमार्थ-साधकके लिये यह भी त्याग करनेयोग्य ही है।

याद रक्खो—भगवान्का सतत स्मरण करते हुए ही मानवधर्मका पालन करते हुए अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जीवनके छोटे-बड़े सभी शास्त्रविहित कर्म—सोना-उठना, खाना-पीना, धन कमाना, व्यय करना, व्यापार या नौकरी करना, देश या धर्मकी सेवा करना, भिक्षाटन-अरण्य-सेवन, सन्तानोत्पादन, सन्तानसंरक्षण, पूर्ण ब्रह्मचर्य, भक्ति, तप, निष्काम कर्मयोग, योगसाधन, ज्ञान आदि समस्त साधन अथवा आवश्यक होनेपर घोर रजोगुणी कर्म भी ममता, आसक्ति और फल-कामनाका त्याग करके केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिये—उनकी पूजाके रूपमें करना और इस प्रकार भगवत्स्मरणयुक्त स्वकर्मके द्वारा भगवान्की पूजा करनेमें ही अतुलनीय आनन्दका अनुभव करना 'भगवद्-रस' है।

याद रक्खो—मनुष्यके लिये एकमात्र यह भगवद्-रस ही सेवन करनेयोग्य है। जो लोग भगवद्-रसके रसिक होते हैं, वे जितना-जितना ही इस दिव्य रसका पान करते हैं, उतनी-उतनी ही उनकी अतृप्ति और रसपिपासा बढ़ती जाती है, पर साथ ही उनके लिये इस रसके सामने किसी अन्य रसकी उपादेयता नहीं रह जाती। विषय-रस सर्वथा नीरस हो जाता है और प्रमाद-रसकी तो कल्पनाके लिये भी स्थान नहीं रहता! इसीलिये संसारका दुःख-दावानल उनके लिये सदाको शान्त हो जाता है। और वे भगवद्-रसके अत्यन्त प्यासे होनेपर भी परम सुखी हो जाते हैं।

याद रक्खो—आपातरमणीय विषय-रस भी परिणाममें विषका ही काम करता है, वह भी बार-बार मृत्युके चक्रमें ही डालता है; परंतु प्रमाद-रस तो प्रत्यक्ष महाविष है, लेकिन इस समय अधिकांश लोग इस प्रमादमें ही पड़े हैं! इसीलिये संसारमें इतने दुःख, संताप और क्लेश उत्पन्न हो गये हैं और उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं!

याद रक्खो—जबतक जीवनमें प्रमाद छाया है, तब-तक सच्ची शान्ति-सुखकी आशा करना वैसा ही है, जैसा भीषण अग्निके पास बैठकर ठंडक पानेकी दुराशा करना!

याद रक्खो—सच्चा अमिट और पूर्ण आनन्द—नित्य निर्मल और मधुर रस तो भगवान्में ही है; क्योंकि यथार्थ रसरूप भगवान् ही हैं—'रसो वै सः'।

'शिव'

महत्त्वपूर्ण प्रवचन

[ऋषिकेशमें गङ्गाजीके पवित्र तटपर प्रतिवर्ष लगभग चैत्रसे आषाढ़तक सत्सङ्गका आयोजन होता है । सैकड़ों नर-नारी दूर-दूरसे सत्सङ्गके लिये वहाँ जाते हैं, हमारे पू० श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके, स्वामीजी श्रीरामसुखदासजीके तो प्रायः नित्य प्रवचन होते ही हैं, इनके सिवा अन्यान्य महानुभावोंके भी प्रवचन होते हैं । प्रातःकालसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतक सत्सङ्गका क्रम प्रायः चालू रहता है । स्नान-सन्ध्या-भोजनादि आवश्यक कार्योंके अतिरिक्त सत्सङ्ग, भजन, ध्यान, मनन, चिन्तन—इसीमें वहाँका प्रायः सारा समय बितानेकी व्यवस्था होती है । इस बार इस सत्सङ्ग-आयोजनकी समाप्तिके आखिरी दिनोंमें एक दिन पूज्य **श्रीजयदयालजीने** सत्सङ्गी भाइयोंके सामने जो महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त शिक्षाप्रद प्रवचन किया, वही यहाँ नीचे दिया जाता है ।]

एक सिद्धान्तकी बात कही जाती है । वह अत्यन्त रहस्यकी और मूल्यवान् बात है । मैं जब सबको प्रश्न करनेके लिये समय देता हूँ, तब कोई भाई यदि कुछ पूछते हैं तो उनका पूछना न्याय्य है, अधिकार है । उस समय उन्हें कोई भी रोके, तो उनका रोकना अनुचित है । जिस समय धाराबद्ध व्याख्यान चल रहा हो, उस समय बीचमें कोई पूछे तो उसे मैं स्वयं ही निषेध कर देता हूँ कि 'आप अपनी बात नोट कर लें या याद रक्खें और व्याख्यानकी समाप्तिपर पूछ लें, अभी पूछनेसे प्रसङ्गका प्रवाह टूट जायगा ।' क्योंकि उस समय किसीका पूछना अवैध है, इसीसे रुकनेके लिये प्रार्थना कर दी जाती है ।

रहस्यकी बात यह समझनेकी है कि जिस समय अवसर दिया जाता है, उस समय पूछनेवालेकी बात किसी दूसरेको अनुचित मालूम देती हो तो उसे सहन करना चाहिये अथवा उसे यदि उसका पूछना सहन न हो तो उठकर दूसरी जगह चले जाना चाहिये और वहाँ जाकर भजन-ध्यान करना चाहिये । मेरे समयके लिये मैं स्वतन्त्र हूँ और आपका समय आपकी स्वतन्त्रतामें है । यदि मैं अपने ऊपर सबका अधिकार मानूँ तो मेरे उस अधिकारको दूसरा कोई अकेला कैसे छीन सकता है । इस न्यायसे सभी अपने इच्छानुसार पूछ सकते हैं ।

कोई यह कहे कि 'आपके साथ हमारा अधिक प्रेम है, हम आपके अनुयायी हैं; दूसरे आदमी नये हैं, वे आपके भावको नहीं जानते, अतः आपका समय नष्ट करते हैं ।' तो मैं कहूँगा कि 'आप मेरे मित्र हैं तो मैं जिस तरह सबको प्रश्न करनेके लिये अवसर देता हूँ—उसीमें आपकी सम्मति होनी चाहिये । मेरी प्रसन्नतामें ही आपको प्रसन्न होना चाहिये । जिसे मैं अच्छा समझूँ, उसीको आप अच्छा समझें । यदि मैं किसीकी बात सुन रहा हूँ तो आप भी सुनें ।' यदि कहें कि 'आप सहन कर सकते हैं, हम नहीं ।' तो आप अलग बैठ सकते हैं । आप कहें कि 'हमारा समय व्यर्थ चला गया' तो इसका उत्तर यह है कि 'आप यदि उसे व्यर्थ गया समझते हैं तो अवश्य व्यर्थ गया । आपने इतने वर्षोंतक इतनी बातें सुनकर क्या यही सार निकाला कि अपने मनके अनुकूल बात सुनना, दूसरी नहीं । यदि ऐसी बात है तो आपकी यह समझ ठीक नहीं है । फिर, आपने आजतक कितनी बातें सुनीं और उनमें कितनी आप काममें लाये ! यदि सुनी हुई बातें काममें लायी जातीं तो कल्याण हो सकता था । प्रश्न करनेवाले दूसरे भाई शायद काममें भी ला सकते हैं, ऐसी परिस्थितिमें उन्हें रोकना कैसे उचित हो सकता है । वे यदि सुनी हुई बातको काममें लावें तो वे आपसे भी बढ़कर अधिकारी हो सकते हैं ।'

जो सज्जन मेरी स्वतन्त्र बात सुनना चाहते हैं;

किंतु दूसरेके प्रश्न कर लेनेपर उनको वह मौका नहीं मिलता तो इससे उन चुप साधनेवालोंके लिये कोई नुकसान नहीं है, क्योंकि मुझको इस बातका ख्याल है । जितना समय शेष रहेगा, उसीको मैं अधिक मूल्यवान् बनानेका प्रयत्न करूँगा । फिर पूछनेवालेको यदि मैं बुरा समझूँगा तो मैं अपने-आप ही उन्हें मना कर दूँगा । आप मना करते हैं, इसका अभिप्राय तो यह है कि आप अपनेको अधिक बुद्धिमान् समझते हैं ।

यदि आप कहें कि 'फिर हमें क्या करना चाहिये ।' तो इसका उत्तर यह है कि 'जो होता है उसे भगवान्का विधान या लीला समझकर प्रसन्न होना चाहिये ।' आप कहें कि 'हमारेमें इतनी श्रद्धा नहीं है ।' सो श्रद्धा न होनेपर भी आपको दूसरोंके हितके लिये अपने समयका त्याग कर देना चाहिये । जिसको हम अपनेसे अधिक बुद्धिमान् मानते हैं, वह कहे जैसा ही करें, अपनी बुद्धि न लगावें तो इसमें हम घाटेमें नहीं रहेंगे । यदि हम घाटा मानते हैं तो फिर हमने अपनेको ही अधिक बुद्धिमान् समझा । यह सब बहुत मर्म, रहस्य और सिद्धान्तकी बातें हैं ।

अब एक और दूसरी सिद्धान्तकी बात अपना दृष्टान्त देकर बतलाता हूँ । (१) एक भाई मेरी पूजा, आरती आदि विशेष सत्कार करे (२) दूसरा भाई मेरी पूजा, आरती तो नहीं करता पर मेरी सेवा करके मेरे शरीरको आराम पहुँचाता है, (३) तीसरा भाई मेरे आचरणोंका अनुकरण करता है और (४) चौथा भाई मैं जो कुछ कहता हूँ, उसके अनुसार जीवन बिताता है । इनमें, जो मेरे कहनेके अनुसार जीवन बिताता है, उसके कल्याणमें कोई शङ्का नहीं । क्योंकि जो कुछ कहा जाता है वह उपनिषद्, गीता, रामायण आदि शास्त्रोंके सिद्धान्त ही कहे जाते हैं । मैं तो केवल अनुवादमात्र कर देता हूँ । गीता भगवान्की वाणी है, वेद अपौरुषेय हैं तथा आर्षग्रन्थ भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके वाक्य हैं । उनको हम आदर्श मानते हैं । उनके अनुसार यदि मैं पालन करूँ तो मेरा हित है और आप पालन करें तो आपका हित है । इनके पालन करनेसे कल्याण होनेमें कोई शङ्का नहीं । इसके लिये मैं गारंटी दे सकता हूँ । यह कहनेमें मुझे कोई सङ्कोच नहीं है । क्योंकि मैं तो इन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर कहता हूँ, अपनी बात नहीं । तुलसीदासजी भी कहते हैं—

सत्य बचन, आधीनता, परतिय मातु समान ।
इतनेमें हरि ना मिले तो तुलसीदास जमान ॥

श्रीतुलसीदासजी 'जमान' कहकर जो अपनी गारंटी देते हैं, यदि वे यह कहते कि मेरी सेवा करनेसे भगवान् मिलते हैं तो कोई कामकी बात नहीं थी, पर यहाँ तो वेदों और शास्त्रोंकी बात थी । उसपर उनका पूरा विश्वास था, उनकी अनुभव की हुई बात थी । अतः तुलसीदासजी गारंटी दे सकते हैं । उनका यह कहना युक्तिसङ्गत है ।

यदि मैं कोई भी व्यक्तिगत बात कहूँ कि मेरी सेवा करनेसे उद्धार हो जायगा तो यह मेरा कहना अनुचित और अहङ्कारयुक्त होगा । ऐसा तो केवल भगवान् ही कह सकते हैं, वे सदा मुक्त हैं । पर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ; क्योंकि मेरा जन्म गुण और कर्मके अनुसार हुआ है । गीतामें कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(४ । १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है । इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ।'

मैं तथा आपलोग सभी गुण और कर्मोंके अनुसार जन्म लेनेवाले हैं; परंतु भगवान् इससे विलक्षण हैं। गीतामें उन्होंने स्वयं कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

इस प्रकार भगवान् ही कह सकते हैं, मैं तथा आपलोग नहीं। इसीलिये भगवान्‌ने तो यह भी कहा है कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९।३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

मनुष्य यह कैसे कह सकता है। अतः श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण आदिके आधारपर जो बातें सुनायी जाती हैं, उनके अनुसार जीवन बिताना सर्वोत्तम बात है।

जो भी आपकी सेवामें प्रार्थना और विनयके रूपमें निवेदन किया जाता है, उसे आप काममें लावें तो मैं अपनेको आपका बड़ा आभारी मानता हूँ, मेरे ऊपर आपकी कृपा मानता हूँ। आप कहेंगे कि 'काममें लानेसे लाभ हमें होगा, इसमें हमने आपपर क्या कृपा की', तो इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि आप मेरी बात सुनने आये हैं, तभी तो मैंने भाषण दिया। मैं जो कुछ भी बात आपकी सेवामें निवेदन करता हूँ वह सबसे प्रथममें मेरी बुद्धिमें आती है; दूसरे, मेरे मनमें आती है; तीसरे, मैं वाणीसे कहता हूँ; चौथे, आप उसे सुनते हैं; पाँचवें, उसे आपका मन ग्रहण करता है; छठे, आपकी बुद्धि समझती है। अर्थात् मेरी बुद्धिमें जो बात आती है वह पाँच स्तरोंको पार करके तब आपकी बुद्धिके पास पहुँचती है। जो बात मेरी बुद्धिमें आती है, वह सब-की-सब मनकी कल्पनामें नहीं आ सकती, मन जितनी कल्पना करता है, उतनी वाणीसे कही नहीं जा सकती। जितनी कुछ कहनेमें आती है, उतनी पूरी-पूरी आप सब सुन नहीं पाते; क्योंकि आपलोगोंका मन इधर-उधर चला जाता है। जो सुनी जाती है वह सब-की-सब ज्यों-की-त्यों याद नहीं रहती और जितनी याद रहती है, उतनी सब बुद्धिमें धारण नहीं होती। इतने पर भी, जब सुननेवालोंको लाभ होता है, तब फिर कहनेवालेको तो विशेष लाभ होना ही चाहिये। अतः मेरा यह कहना उचित ही है कि आपलोगोंका मैं आभारी हूँ; क्योंकि आपलोगोंके निमित्तसे ही तो मेरे हृदयमें ये बातें पैदा हुईं। नहीं तो, यहाँ बैठकर मैं अकेला बड़ (बरगदके पेड़) को थोड़े ही सुनाता।

अब दूसरी बात आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि मैं आपकी सेवामें जो कुछ कहता हूँ, इसमें यदि मैं दलाली चाहूँ तो मुझे दलाली मिल सकती है। किंतु सुननेवाले न मिलें तो दलाली कैसे मिले? इस कारणसे भी मैं आपका आभारी हूँ। यदि आप कहें कि 'यह आभार दूर कैसे हो' तो इसका उत्तर यह है कि आप जिस उद्देश्यसे यहाँ आये, उसकी पूर्ति हो, तब मैं आपके ऋणसे मुक्त होऊँ। आपलोगोंके यहाँ आनेका उद्देश्य अपनी आत्माके उद्धारके लिये है और वह मेरे सामर्थ्यके बाहर है। भगवान् ही आप सबका उद्धार करके मुझको इस आभारसे मुक्त

कर सकते हैं । क्योंकि जैसे किसी मनुष्यपर जब ऋण बहुत बढ़ जाता है और वह उसे चुकानेमें असमर्थ होता है, तब वह सरकारकी शरणमें चला जाता है । फिर सरकार उसकी पूँजीके अनुसार ऋणदाताओंको दो, चार या छः आने चुकाती है । किंतु भगवान् सर्वसामर्थ्यवान् हैं, इसलिये उनके शरणापन्न हो जानेपर वे पूरा-का-पूरा सोलहों आना चुका देते हैं ।

(२) जो मेरे आचरणोंका अनुकरण करता है, उसके उद्धार होनेकी गारंटी मैं नहीं दे सकता; क्योंकि मेरे आचरण अच्छे भी हैं, बुरे भी हैं । सभी आचरण कल्याण करनेवाले नहीं हैं । यदि मेरे ऐसे आचरण होते, जिनके लिये गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २१)

‘श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है’—

—तो मैं भी गारंटी दे सकता । उपनिषदोंमें आता है कि आचार्य अपने शिष्यको स्नातक बनाकर विदा करते समय उपदेश देते हुए कहते हैं—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि ।
(तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनु॰ ११)

वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर ‘आचार्य अपने विद्यार्थीको शिक्षा देता है, कि तुम सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, स्वाध्यायसे कभी न चूको, आचार्यके लिये दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन लाकर दो, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके सन्तान-परम्पराको चालू रक्खो, उसका उच्छेद न करना । तुमको सत्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये, धर्मसे नहीं डिगना चाहिये, शुभ कर्मोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये, उन्नतिके साधनोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये, वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये, देवकार्य और पितृकार्यसे कभी नहीं चूकना चाहिये ।’

‘तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो, पिताको देवरूप समझनेवाले होओ, आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो, अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ । जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये, दूसरे दोषयुक्त कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये । हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे आचरण हैं, उनका ही तुमको सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं ।’

जब इतने बड़े-बड़े आचार्य ऐसा कहते हैं तब मैं किस आधारपर कहूँ कि मेरे सारे आचरण अच्छे हैं और उनका अनुकरण करनेसे आपका कल्याण हो सकता है । यह तो छोटे मुँह बड़ी बात होगी । मेरे आचरणोंमें जो कोई शास्त्रानुकूल प्रतीत हों और उनको कोई काममें लावें तो मैं उनका आभारी हूँ ।

(३) जो कोई मेरे शरीरको आराम पहुँचाता है, सेवा करता है, उसके लिये भी कल्याण होनेकी गारंटी मैं नहीं दे सकता, क्योंकि यह उससे भी नीची श्रेणी है । जो मेरी सेवा करता है, उसका मैं आभारी तो हूँ; क्योंकि मैं बदलेमें उसकी सेवा नहीं करता । अतः उसका ऋणी हूँ । पर मेरी सेवासे कल्याण हो जायगा, यह

विश्वास बिल्कुल नहीं दिलाया जा सकता । यदि वह भी मेरे अच्छे आचरणोंका अनुकरण करेगा तो उसे अच्छा फल अवश्य मिल सकता है, पर मेरी सेवासे कल्याण हो जाय, यह नहीं कहा जा सकता ।

(४) जो मेरी जूँठन खाना, पूजा-आरती करना, ध्यान करना, चरणधूलि लेना, चरण धोना आदि करना चाहता है, वह तो मुझपर कलङ्क लगाता है । यह क्रिया मेरे मनके अत्यन्त विरुद्ध और अन्याययुक्त है । अतः मैं इसका घोर विरोध करता हूँ । जो कोई ऐसा करता है, वह स्वयं अपना, मेरा और संसारका सबका अहित करता है, इसलिये वह नरकका भागी होता है । क्योंकि इसका दूसरोंपर बुरा असर पड़ता है, दूसरे समझते हैं कि यदि इनकी सम्मति न होती तो ये लोग इनकी पूजा आदि क्यों करते ।

इस चौथेके सिवा ऊपरके तीनों प्रकारके व्यक्तियोंका मैं ऋणी हूँ ।

अब कुछ सार-सार बातें निवेदन करता हूँ, क्योंकि जो भाई यहाँ आये हुए हैं, वे अब शीघ्र ही जानेवाले हैं । इन सार बातोंको समझकर पहले स्वयं पालन करें, फिर दूसरोंमें इनका प्रचार करें । क्योंकि वही पुरुष प्रचार कर सकता है, जो स्वयं पालन करता है । जो स्वयं पालन नहीं करता उसका दूसरोंपर असर नहीं पड़ सकता । जो बात हमारे लिये लाभ की है, वह सबके लिये लाभकी है; इसलिये अच्छी चीजका लोगोंमें प्रचार करें । अतः यहाँ जो नियम बताये जाते हैं, उनका स्वयं पालन करके ही लोगोंमें प्रचार करना चाहिये । वे नियम इस प्रकार हैं—

(१) हर समय भगवान्‌को याद रखनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करते रहना चाहिये अर्थात् अपने मनमें यह निश्चय कर ले कि हम यथाशक्ति हर समय भगवान्‌को याद रक्खेंगे, जानकर कभी नहीं भूलेंगे । यह पहला नियम है । यथाशक्तिका अर्थ अपने सामर्थ्यके अनुसार प्रयत्न करते रहना । भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान दोनों हो, तो बहुत ही अच्छा है । जप वाणी या श्वाससे और ध्यान मनसे करे या दोनों मनसे ।

यदि किसीसे जप, ध्यान—दोनों एक साथ न बनें तो नाम-जप या स्वरूपका चिन्तन—दोनोंमेंसे एक करे तो भी उत्तम है । इस नियमका पालन सदा-सर्वदा आजीवन करता रहे । कोई कहे कि 'बीचमें ही भगवत्प्राप्ति हो जाय, अपना कल्याण हो जाय तो फिर क्या जरूरत है ?' सो अपना कल्याण होनेपर भी लोकसंग्रह यानी दूसरोंके कल्याणके लिये करना चाहिये । वास्तवमें तो जिसको भगवान् मिल जाते हैं, उससे उपर्युक्त साधन छूट ही नहीं सकता । जो छोड़ते हैं, वे स्वार्थी हैं । इसलिये यह समझना चाहिये कि उन्हें भगवान् मिले ही नहीं । महात्मा पुरुष तो तन, मन, धनसे दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करते हैं ।

(२) स्त्रियाँ दूसरे पुरुषोंको पिता-भाईके समान और पुरुष पर-स्त्रियोंको माता-बहिनके समान समझें । इसके लिये विशेष प्रयत्न करें । मनसे या दृष्टिसे भी दोष घट सकता है, यदि ऐसा दोष घट जाय तो अपनेको धिक्कार दे, और भगवान्‌के शरण होकर सावधानीके साथ भगवान्‌से प्रार्थना करे । अर्थात् काम-क्रोध आदि कोई भी शत्रु आक्रमण करे तो 'हे नाथ ! हे नाथ !' इस प्रकार पुकार लगावे । इस तरह पुकार लगानेपर काम-क्रोध आदि शान्त हो जाते हैं । जैसे चोर डाकूके घरमें घुसनेपर पुलिस-पुलिसकी पुकार लगानेसे चोर डाकू भाग जाते हैं, वैसे ही काम-क्रोधादि भाग जाते हैं । यह बात निश्चय की हुई है ।

(३) यदि आप उचित समझें तो नित्य प्रति सब घरके आदमी इकट्ठे होकर घरमें ही अपने सुविधानुसार प्रातःकाल और रात्रिमें गीता, रामायण, भागवत आदि किसी भी ग्रन्थका क्रमशः स्वाध्याय करें । चाहे

आधा घंटा ही हो, यथाशक्ति प्रयत्न करें। यह बड़े लाभकी चीज है। जो पढ़ा हुआ हो, जानकार हो, वह सुनावे और दूसरे सब सुनें। घरमें जहाँतक हो, अपने ही घरके आदमियोंमें-से किसीसे सुने। इसी तरह घरमें ही भगवान्‌की मूर्ति स्थापित करके पूजा करे तो वह मन्दिरोंमें जाकर करनेसे श्रेष्ठ है। मन्दिरोंमें हम अपने हाथसे पूजा, नैवेद्य, आरती आदि नहीं कर सकते। घरमें अपने हाथों कर सकते हैं। अतः यह विशेष मूल्यवान् है। शरीरसे पूजा करनेकी अपेक्षा मानसिक पूजा अधिक कीमती है; क्योंकि मानसिकमें मन भी इधर-उधर नहीं जा सकता। किसी-किसी मन्दिरमें पुजारी सदाचारी न होनेसे कई तरहकी बाधा भी आ जाती है, जो घरमें नहीं आती। इसीलिये घरमें पूजा करनेकी बातको मूल्यवान् बताया गया। आप मुझसे पूछेंगे कि 'आपके घरमें स्त्रियाँ पूजा करती हैं, आप भी करते हैं क्या?' तो कहना तो नहीं चाहिये, पर कहा जाता है कि 'मैं मानसिक पूजा करता हूँ।'

(४) नित्य बलिवैश्वदेव करें। बलिवैश्वदेव करना एक प्रकारसे सारे संसारको भोजन देना है। यह बहुत ही उत्तम चीज है। और इसमें कोई विशेष खर्च भी नहीं है।*

(५) घरमें जो बड़े हैं, प्रातः उठकर उनके चरणोंमें नमस्कार करना। भगवान्‌ने शरीरका तप बतलाते हुए इसे पहला धर्म बताया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(गीता १७ । १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी जनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

'आपलोगोंमेंसे जो नहीं करते, उनको भी घर लौटकर इसे आरम्भ कर देना चाहिये। आपको इस प्रकार करते देखकर आपके बालकोंको तथा अन्य लोगोंको भी शिक्षा मिलेगी।

(६) जैसे आपने माला फेरने (भगवन्नामका मालासे जप) का नियम लिया है, उसका आप तो पालन करें ही; घरवालोंको भी नियम दिलानेका प्रयत्न करना चाहिये तथा घरमें जो यज्ञोपवीत होते हुए सन्ध्या तथा गायत्री-जप नहीं करते, उनके द्वारा छोटे हों तो प्यारसे समझाकर और बड़ोंसे विनीत प्रार्थना करके आरम्भ करानेका प्रयत्न अवश्य करें।

(७) गीताके प्रचारकी बात कल कही ही थी। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
(१८ । ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है, तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

जब मैंने गीता पढ़ी और ये श्लोक पढ़े तो उनका मेरे ऊपर बड़ा असर पड़ा कि भगवान्‌को इसका प्रचार बहुत ही प्रिय है और तभी इसके प्रचार करनेकी बात मेरे मनमें आयी। अतः आपलोगोंको भी भगवान्‌की भक्ति करते हुए यथाशक्ति गीताके प्रचारकी चेष्टा करनी चाहिये।

(८) आप जीविकाके लिये झूठ, कपट, चोरी न करें। भगवान् सबकी रक्षा करते हैं। यदि धर्मका पालन करते हुए मृत्यु भी हो जाय तो कोई हर्ज नहीं,

---

*बलिवैश्वदेवकी छपी हुई विधि गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती है।

बल्कि उसमें महान् लाभ है । हमें यदि न्यायसे अन्न न मिलता हो, और अन्याय न करनेके कारण अन्नके बिना मरना पड़ता हो तो वह मरना भी हमारे लिये कल्याणकारी है; क्योंकि हम धर्मके लिये मरते हैं । भगवान्ने कहा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(३ । ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है । अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ।'

(९) स्वाद, शौकीनी, ऐश-आराम, भोग, करने योग्य कामको न करना और न करने योग्यको करना रूप प्रमाद; अकर्मण्यता, दीर्घसूत्रता, निद्रा-तन्द्रा आदि आलस्य, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष आदि दुर्गुण; झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि पाप तथा चौपड़-ताश खेलना, नाटक-सिनेमा देखना, क्लब आदिमें जाना, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट आदि नशीली वस्तुओंका सेवन करना, दिनमें सोना आदि दुर्व्यसन—इनको विषके समान समझकर सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ।

(१०) क्षमा, दया, शान्ति, समता, सन्तोष, ज्ञान, वैराग्य, सरलता, विनय आदि सद्गुण; यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्यका पालन, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, परोपकार आदि सदाचार; तथा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका श्रवण, कीर्तन, मनन और पूजन-नमस्कार आदि ईश्वरभक्तिको अमृतके समान समझकर सदा सेवन करना चाहिये ।

इनमें ईश्वरकी भक्ति करनेसे दुर्गुण-दुराचार, प्रमाद, आलस्य, भोग, दुर्व्यसन, दुःख और विकारोंका अत्यन्त अभाव होकर सद्गुण, सदाचार अपने-आप ही आकर प्राप्त हो जाते हैं । और कुछ न बने तो भगवान्के नामका जप और ध्यान हर समय करना चाहिये । केवल जप और ध्यानके प्रभावसे भी उपर्युक्त सारी बातें अपने-आप ही प्राप्त हो सकती हैं और परमात्माकी प्राप्ति होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है । अतएव भगवान्के नाम-रूपको हर समय याद रखना चाहिये ।

* * *

प्रार्थना

हमें प्रभु ! दो ऐसा वरदान ।
तन-मन-धन अर्पण कर सारा करें सदा गुणगान ॥
कभी न तुमसे कुछ भी चाहें सुख-सम्पति-सम्मान ।
अतुल भोग परलोक-लोकके खींच न पावें ध्यान ॥
हानि-लाभ निन्दा-स्तुति सम हो मान और अपमान ।
सुख-दुख विजय-पराजय सम हो, बन्धन-मोक्ष समान ॥
निरखें सदा माधुरी मूरति निरुपम रसकी खान ।
चरण-कमल-मकरन्द-सुधाका करें प्रेमयुत पान ॥

'अकिञ्चन'

* * *

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५१)

प्रभात होता, सन्ध्या आती, निशाके श्याम अथवा शुभ्र आवरणसे व्रजपुर आवृत हो जाता एवं पुनः तरणिकिरणें उसे आलोकित करने लगतीं—इस क्रमसे दिन-पर-दिन बीतने लगे। पर किसीने भी गोपशिशु तथा गोवत्सरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रको पहचाना नहीं। व्रजपुरन्ध्रियोंका, गायोंका वात्सल्य—मातृभाव ज्यों-का-त्यों रहा; पुत्र बने हुए नन्दनन्दनके प्रति गोपसुन्दरियोंके मनमें कभी कोई अन्यथा आशङ्का नहीं हुई, उनके पुत्र-संलालनकी प्रणाली वैसी-की-वैसी बनी रही; गायें भी वत्सरूपमें विराजित व्रजविहारीको सर्वथा अपना गर्भजात शावक ही अनुभव करतीं, उन्हें दूध पिलाकर, चाट-पोंछकर कृतार्थ होतीं। सब बातें पहलेकी भाँति ही ज्यों-की-त्यों बनी रही। अनन्त गृहोंमें, गोष्ठोंमें असंख्य शिशुओं एवं वत्सोंकी मूर्ति धारण किये हुए श्रीकृष्णचन्द्रका यथोचित बाल्यभाव भी पूर्णतया पहले-जैसा ही रहा; किंतु दोनों ओर ही एक अन्तर अवश्य हो गया था। वह यह कि गोपसुन्दरियोंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंके प्रति, गायोंके अन्तस्तलमें वत्सतरोंके प्रति जो स्नेहकी धारा थी, उसका रूप बदल गया था। पहले यह प्रवाह स्वाभाविक शान्त एवं समगतिका था और अब वह अतिशय वेगसे बढ़ने लगा, हिलोरें लेने लग गया था। तथा उधर श्रीकृष्णचन्द्रमें, 'मेरी यह जननी है, मैं इसका पुत्र हूँ'—ऐसी भावना, पहलेके गोपशिशुओंमें, गोवत्सोंमें नित्य वर्तमान रहनेवाले मोहकी यह वृत्ति नहीं रही थी, शिशु एवं वत्सरूपमें विराजित रहनेपर भी अपने स्वरूपमें ही वे नित्य प्रतिष्ठित थे—

गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। २५)

मातृभाव ज्यों-त्यों भयो गो-गोपिन तेहि काल।
पूरब बालनते अधिक नेह वृद्धि एहि बाल॥
हरि महँ भई असेष गो गोपिनकी मातृता।
एतनो भयो विसेष नेहाधिक्य बिना लसत॥
गो गोपिनके माहिं कृष्नचंद्र कँहँ भाव नित।
प्रथम सरिस सब आहि तोक भावना जननि पर॥
तोक भावना हरि कँहँ तैसी। प्रथम हुती मातन पर जैसी॥
एक मोह बिनु जानु महीसा। बाल भाव किय प्रभु जगदीसा॥
मैं हौं सुत यह है मम माता। एतने बिना जानियहु ताता॥

यहाँ नन्दभवनमें भी व्रजेश्वरीका उनके नीलमणिका और समस्त कार्यक्रम तो ज्यों-का-त्यों चल रहा था। प्रातः समीरका स्पर्श पाते ही जननी यशोदा अपने पुत्रको विविध मनुहारके द्वारा प्रतिदिन ही जगातीं—

मोहन जाग हौं बलि गई।
तेरे कारन स्यामसुंदर नई मुरली लई॥
ग्वालबाल सब द्वार ठाढ़े बेर बनकी भई।
गायन के सब बंद छूटे डगर बनकूँ गई॥
पीत-पट कर दूर मुखतें छाँड दै अलसई।
अति अनंदित होत जसुमति देखि दुति नित नई॥
जागे जंगम जीव पसु खग और ब्रज सबई।
सूरके प्रभु दरस दीजै होत आनँदमई॥

तथा श्रीकृष्णचन्द्र भी निद्रा त्यागकर अपनी परम मनोहर चेष्टाओंसे व्रजरानीका, श्रीरोहिणीका आनन्दवर्द्धन करते। फिर अग्रजके सहित नीलसुन्दरका संलालन होता और तब वे वत्सचारणके लिये वनमें चले जाते। सायंकाल लौटते, माता अङ्कमें धारण करतीं, अपने कोटि प्राणोंका स्नेह देकर, ऋतुके अनुरूप उपचारोंसे लालितकर वनका श्रम हरतीं, व्यारू होता और श्रीकृष्णचन्द्र पौढ़ जाते। प्रतिक्षण बढ़ते उल्लाससे प्रत्येक चर्या सदाकी भाँति पूर्ण होती; किंतु एक विलक्षणता यहाँ भी हो गयी थी। अब नन्दभवनमें पुरसुन्दरियोंकी भीड़ जो नहीं रही! कहाँ तो श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे नेत्र शीतल करने, उन्हें क्रोड़में लेकर

प्राणोंकी व्यथा शान्त करनेके लिये एकत्र हुई गोपिकाओंसे राजप्रासादका कोना-कोना पूर्ण रहता—यह दशा थी । और अब बाहरका कोई नहीं ! अब तो व्रजेश्वरका परिवार—नन्दराय, यशोदारानी, श्रीरोहिणी, सेवक गोप, दासियाँ, परिचारिकाएँ—इनका साम्राज्य है; ये चाहें जैसे राम-श्यामका लाड़ लड़ावें ! पहले तो बाहरसे आयी गोपीको सम्मान देना अनिवार्य हो जाता, वह नीलमणिको अपना स्नेह समर्पित कर सके, उसे ऐसा अवसर देना ही पड़ता । और एक दो हो तो भी बात थी । जब समस्त व्रजमण्डल ही उमड़ आता है तो घरवालोंकी स्वच्छन्दता छिनेगी ही । पर अब पूर्ण सुयोग मिल गया है मनमाना करनेका । साथ ही इस ओर किसीका ध्यान भी नहीं गया । पुरसुन्दरियाँ क्यों नहीं आतीं, यह प्रश्न भी किसीके मनमें उदय नहीं हुआ । जैसे कुछ भी नवीनता हुई ही नहीं हो—यही अनुभूति परिवारके प्रत्येक सदस्यको है । अधिक आश्चर्य तो यह है कि स्वयं पुरवासियोंको भी पता नहीं कि उनकी जीवनधारामें कोई परिवर्तन हुआ है ! वे कुछ भी नहीं जानते, और जान पायेंगे भी नहीं; किंतु वस्तुस्थिति तो सर्वथा बदल ही गयी है। सचमुच व्रजपुर दूसरा-सा बन गया है । दिन बीत रहे हैं और यह उत्तरोत्तर बदलता जा रहा है । बलिहारी है लीलाविहारीकी इस लीलाकी ! कुछ दिन पूर्व यशोदानन्दन व्रजपुरवासियोंके लिये अपने कोटि-कोटि प्राणोंसे भी अधिक प्रिय रहे हैं, क्षणभरके लिये भी उनके अन्तस्तलमें, बाह्य व्यवहारमें—जबसे श्रीकृष्णचन्द्र दृष्टिपथमें आये—अपनी सन्तानके लिये वैसे प्यारका उन्मेष नहीं हुआ । पर आज ? देखनेकी बात है—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति प्यार कम हुआ हो, यह बात तो नहीं है, किंतु ठीक वैसा ही, उसी जातिका स्नेह उनके मनमें, प्रत्येक चेष्टामें अपने गर्भजात शिशुओंके लिये निरन्तर लहरा रहा है । जो असीम प्रीति श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति है, वैसे-की-वैसी वही स्नेहलता अपने बच्चोंमें प्रतिदिन क्रमशः बढ़ती रहकर ओर-छोर-विहीन बन गयी है । वर्षपर्यन्त परिवर्द्धित होती हुई निःसीम बन गयी है तथा ठीक यही दशा उन गायोंकी भी है । अपने वत्सतरोंके लिये उनका स्नेह भी क्रमशः ऐसा ही अपरिसीम बन गया है—

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् ।
शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । २६)

नेह बृद्धि ब्रज जुवतिन केरी । सुनहु तात तोहि कहौं निबेरी ॥
नर-नारी जे कोउ ब्रजबासी । तिनके प्रान कृष्न-सुख रासी ॥
निज पुत्रन तें कृष्न सझारा । अति सनेह यह प्रथम बिचारा ॥
अब निज सुअन माँझ अति प्रीती । बढ़ी निरंतर सुखमय रीती॥
बरस एक बाढ़ी सब काहू । नेह लता निज सुत चित चाहू ॥

अस्तु, इस प्रकार सर्वात्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रका यह अद्भुत आत्मविहार प्रायः वर्षपर्यन्त चलता रहा । शिशु एवं गोवत्सका मनोहर स्वाँग लेकर, साथ ही यशोदानन्दनके रूपमें भी नित्य सबके सञ्चालक बने रहकर वे यह खेल खेलते रहे; अपने-आप द्वारा अपने-आपका ही पालन करते रहे; स्वयं अपने-आपके ही साथ अपने-आप अनेक भुवनमोहन बाल्यक्रीडाकी, परम रमणीय कौतुककी रचना करते और सुखसिन्धुमें निमग्न हो जाते । काननमें, गोवत्समें उनका यह वर्ष-व्यापी क्रीडाविलास निर्बाध होता रहा—

इत्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपालमिषेण सः ।
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । २७)

एहि बिधि भए वत्स हरि आपू । मेटन हित निज जन परितापू ॥
बछरा वत्स पालके ब्याजा । पाल्यो निज जन जीव समाजा ॥
गृह वन फिरत करत बहु लीला । कृपासिंधु गुन गन बहु सीला ॥
बरष प्रजंत गयउ एहि रीती । लखेउ न काहू बढ़ै जो प्रीती ॥

× × ×

व्रजमंगल भगवान ब्रह्म सच्चिदानंद प्रभु ।
भक्तन के सुखदान लगे देन सुख घरन घर ॥

और तो क्या—इतने दिन हो गये, अग्रज बलरामको भी इस रहस्यकी गन्धतक न मिली। वास्तविक गोपशिशु एवं गोवत्स मायामुग्ध हुए कहीं अन्यत्र विश्राम कर रहे हैं, और उनके अनुज ही इन असंख्य रूपोंमें आत्मप्रकाश कर एक वर्षसे गोष्ठमें, वनमें विहार कर रहे हैं—यह कल्पना क्षणभरके लिये भी रोहिणीनन्दनके मनमें न आयी।

ऐसैं बरस दिवस निरबह्यौ, संकर्षन हू भेद न लह्यौ।

बलराम जानें कैसे ? व्रजेन्द्रकुलचन्द्रको यह अभिप्रेत जो न था। क्यों अभिप्रेत नहीं था, इसे तो एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र ही जानते हैं। उनके किसी भी सङ्कल्पका 'इत्थम्भूत' समाधान पा लेना सम्भव ही नहीं है। पर यह सत्य है कि श्रीकृष्णचन्द्र नहीं चाहते थे और इसीलिये बलराम नहीं जान सके। आरम्भसे ही संयोग ऐसा बना कि वे इस अभिनयसे पृथक् हो गये। जिस दिन अघासुरका मोक्ष हुआ, विधाताकी माया फैली, शिशु-गोवत्स अपहृत हुए, उस दिन रोहिणीनन्दन वत्सचारणके लिये अनुजके साथ वनमें नहीं आ सके। वे आये होते तो सम्भवतः लीलाका प्रवाह कुछ और ही होता। श्रीकृष्णचन्द्रका वह योगीन्द्र-मुनीन्द्रदुर्लभ, परम पावन चरणस्पर्श अघ दैत्यको मिलता कि नहीं, यह कहना कठिन है। क्या पता, इससे पूर्व ही राम उसका कचूमर निकाल देते ? और फिर उनके साथ रहनेपर, विधाता अपनी उस चेष्टासे उनके कोपभाजन न बन जाते—यह कौन कह सकता है ? विधिकी माया उन्हें तो स्पर्श कर सकती नहीं ? फिर ब्रह्ममोहनका यह प्रसङ्ग इसी रूपमें संघटित होता कि नहीं—इसका उत्तर पा लेना सहज नहीं। जो हो, हेतु कुछ भी हो, यह सर्वथा, सर्वांशमें सत्य है कि व्रजेन्द्रनन्दनकी ही इच्छा नहीं थी और इसीलिये राम प्रारम्भसे अबतक इस रहस्यसे अपरिचित रहे। अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्रके 'शेष' नामसे अभिहित, उनके ही दूसरे रूप बलरामके लिये कौन-सी वस्तु अज्ञात है ? पर अब पद्मयोनि मञ्चपर पुनः आनेहीवाले हैं। इसीलिये—'दाऊ भैयाको सूचना इससे पूर्व ही मिल जाय'—मानो श्रीकृष्णचन्द्रने यह इच्छा की और उसीके अनुरूप एक छोटी, पर नयी-सी घटना रोहिणीनन्दनके समक्ष घटित हुई।

उस दिन भी शरद् ऋतु थी और आज भी शरद्के ही सुखद स्पर्शसे वन्यतरु, लतावल्लरियाँ, कुसुमसमूह, निरभ्र गगन—सभी हँस रहे हैं। तबसे—शिशु एवं गोवत्सोंके अपहृत होनेके दिनसे वर्ष पूर्ण होनेमें केवल पाँच-छः दिन और रहे हैं। अबतक प्रतिदिन ही नवीन उल्लासके सहित श्रीकृष्णचन्द्रका वत्सचारण होता आया है। आज भी वे बलरामके सहित वत्सचारणके लिये सदाकी भाँति वनमें पधारे हैं। जो नित्य अजन्मा हैं, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र असंख्य गायोंके, गोप-वनिताओंके पुत्र बने हुए, अपने-आपको अपने-आपके द्वारा ही घेरे हुए झूमते चले जा रहे हैं गिरिराजके चरणप्रान्तकी ओर—

एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत्।
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २८)

एतने दिन पर्यंत प्रभु चरित लखेउ नहिं राम।
रहउ दिवस षट पाँच जब लखेउ कछुक बलधाम॥
सो बरनत मुनि कृपानिधाना। हरिचरित्र सुखप्रद जग जाना॥
एक समय बलदेव समेता। बन गवने प्रभु कृपानिकेता॥
बत्स चरावन हेतु उदारा। अपर सखा तेहि को गन पारा॥
बरष माँझ दिन पांचक ऊना। अति प्रसन्नता दिन दिन दूना॥

× × ×

उठि मोहन प्रात चले बनकौं।
लै राम सखा बछरागनकौं॥
बनकौं सुत मातनि जानि ठये।
कच ऊँछि कलेऊ बाँधि दये॥

उर मोह पयोधि परी चलतैं।
नहिं बात कढ़े जु कछू गलतैं॥
गौवैं बन जात रम्हाइ चलैं।
मुरकैं चितवैं सुत चाहि भलैं॥

शिशुओंकी शृङ्गध्वनि, वंशीरव, करतलवाद्यसे गोवर्धन-परिसर निनादित हो उठता है। वन्यपशु, विहङ्गम चञ्चल होकर नन्दनन्दनके दर्शनके लिये उस दिशामें ही दौड़ पड़ते हैं। उन्हें रञ्चकमात्र भी भय नहीं होता, अपितु श्रीकृष्णसखाओंका यह शृङ्गनाद उन्हें प्रतिदिन ही नये उल्लाससे भर देता है। वे इनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। अस्तु, आज भी उनके आनन्दका पार नहीं है। वे देख रहे हैं श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर, उनके सखाओंकी ओर। तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनके सखा इनकी ओर निहारकर प्रफुल्लित हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं। और अब आ गया है क्रीड़ाके उपयुक्त स्थल। फिर तो उद्दाम कौतुक आरम्भ होनेमें विलम्ब क्यों हो!—

पहुँचे बन सुखधाम, संग सखा अभिराम।
अमित खेल तहँ खेलि, कछरनि बछरनि मेलि॥

आज संयोग ऐसा है कि ठीक नीचे तो श्रीकृष्णचन्द्र एवं शिशुओंके संरक्षणमें असंख्य गोवत्सराशि एकत्र हो गयी है, तथा ऊपर गोवर्धनके वक्षःस्थल देशमें, पर्वतके बहुत ऊपरी समतल तृणपूर्ण भूभागपर वृद्धवयस्क गोपोंसे परिचालित समूह-की-समूह गायें विचरण कर रही हैं। गायें तो बहुत पूर्व आ चुकी थीं, पर गोवत्स आये हैं अभी-अभी कुछ क्षणों पहले; किंतु इनके आते ही एक विचित्र-सी बात हो गयी। धेनुपालकोंने देखा—'सहसा गौएँ अतिशय चञ्चल हो उठीं; उनकी दृष्टि केन्द्रित हो गयी है नीचे गिरिराजके तटदेशमें एकत्र हुई गोवत्सराशिकी ओर। इनमें और उनमें व्यवधान भी कम नहीं है। गोवत्स इनसे बहुत दूर हैं—सर्वथा पर्वतके चरणतलके क्षेत्रमें। फिर भी ये जैसे उन्मत्त-सी हो गयी हैं, गोशावकोंको देखकर स्नेहवश सुध-बुध खो बैठी हैं। इतना ही नहीं, यह लो! यह दौड़ीं उनकी ओर।' बस, फिर तो पालकवर्गने भी अतिशय त्वरासे अपने लगुड ऊपर कर लिये; जो जहाँ था वहींसे गरज उठा, प्रतिरोधके लिये प्रस्तुत होकर पूर्ण वेगसे दौड़ा। पर कहीं वेगसे झरते प्रपातकी अजस्र धारा भी लघु प्रस्तरखण्डोंके प्रतिरोधसे प्रतिरुद्ध हुई है? वह तो बह ही चलती है। ऐसे ही धेनुसमूहने भी आज अपने पालकवर्गका अतिक्रमण कर लिया। सम्पूर्ण शक्तिका प्रयोग करके भी कुशल रक्षक गोप गायोंको रोकनेमें समर्थ न हो सके। और तो क्या, दुर्गम पथ—सघन लताजालसे आवृत, कण्टकपूर्ण, स्थान-स्थानपर पाषाणखण्डोंसे रुद्ध वह पर्वतमार्ग भी उन्हें प्रतिहत न कर सका। वे गायें सबका उल्लङ्घन कर भाग चलीं। उनके आगेके दो पैर परस्पर संयोजित-से हो गये हैं; ठीक ऐसे ही पिछले दोनों पैर भी जुड़-से गये हैं; वेगसे दौड़नेके कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो वे द्विपाद—दो पैरके जन्तु हों। इस समय उनका मुख भी ऊपरकी ओर उठ गया है; पूँछ भी ऊपरकी ओर तन गयी है—सब-की-सब ऊर्ध्वमुख, ऊर्ध्वपुच्छ हो गयी हैं। सबकी ग्रीवा ककुद्‌से संलग्न हो रही है। वात्सल्य उच्छलित होकर सबके थनोंसे दूधके रूपमें झरता जा रहा है। और वे हुंकार करती हुई अत्यन्त द्रुतगतिसे दौड़ी जा रही हैं अपने वत्सतरोंकी ओर—

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम्।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम्॥
दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा
स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः।
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छो-
ऽगाद्‌धुङ्कृतैरास्रुपया जवेन॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । २९-३०)

इक दिन गिरि गोधनपर गाइ। चरति ही चढ़ी आपने चाइ॥
ब्रज-समीप बछरन अवहेरि। चली जु ग्वाल सके नहिं फेरि॥
स्वच्छ पुच्छ ऊँची करि लई। मानहुँ दुरत चँवर छबि छई॥

अति गति पग डारनि हुंकारनि। सींचति धरनि दूधकी धारनि॥
बखरे बछरन पै चलि आई। मिली आइ कछु नहिं कहि जाई॥

× × ×

अति सनेह बस तन मन जासू। भूलि गई सब सुधि-बुधि आसू॥
अतिसै बेग तहाँ तें धाई। तुरित सबै बछरन ढिग आई॥
रोकन लगे गोप बहु भाँती। एक एक बल बिपुल सुहाती॥
अतिसै दुर्गम पथ बन घोरा। सिला बिपुल द्रुम सघन कठोरा॥
गन्यो न ताहि तहाँ तें दौरी। मनहु बात बस हो गइ बौरी॥
मान भंग भए गोप सब रुकी न कैसेंहु गाइ।
धाई जिमि मृगराज गति निज तन कहुँ बिसराइ॥

× × ×

श्रवन पुच्छ उन्नत करैं, श्रवत दुग्ध करि प्रीति।
हरे भरे तन बदनमें, धाई नृप इहि रीति॥

देखते-देखते गायें पर्वतसे नीचे उतर आयीं, गोवत्सोंके समीप जा पहुँचीं। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि इन गायोंके स्तनपायी दूसरे वत्स हो चुके हैं; कई तो बस, दो-चार दिन पूर्वकी ही ब्यायी हुई हैं; कितनोंके वत्स भी अपनी जननीका अनुसरण करते हुए कूदते, उछलते वनमें साथ-साथ आये हैं, और वे इस समय आभीर रक्षकोंद्वारा वहीं शिखरपर ही रुद्ध होकर उत्कर्ण हुए, आकुलताभरी आँखोंसे इनकी ओर देख भी रहे हैं। पर इनकी ममता भी मानो इन गायोंमें सर्वथा नहीं रही हो, इस प्रकार उन्हें परित्याग-कर ये यहाँ, अपने पूर्वप्रसूत मुक्तस्तन्य वत्सतरोंके समीप आ पहुँचीं। रक्षकवर्गका लगुड-प्रहार, मार्गकी भयानकता, अपने नवजात शावकका स्नेहनिबन्धन—कोई भी इन्हें रोक न सका। सब कुछ सहकर, सबकी उपेक्षाकर ये यहाँ चली ही आयीं। इसे कहते हैं श्रीकृष्णचन्द्रका आकर्षण! सचमुच जब किसीका मन श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलनेके लिये व्याकुल हो उठता है, उस समय उसकी ऐसी ही दशा होती है। उसके लिये कोई प्रतिबन्धक नहीं। स्वजनोंका विरोध उसके कर्णरन्ध्रमें प्रविष्ट नहीं होता। किसीके भीषण प्रहारकी व्यथा उसे स्पर्श नहीं करती। पथकी भीषणता उसके ध्यानमें ही नहीं आती। पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धवका ममत्व उसके मनमें उदय ही नहीं होता। उसे दीखते रहते हैं एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र और वह अम्लान मनसे, प्रतिक्षण वर्द्धनशील उत्साहपूरित चित्तसे सब कुछ सहता हुआ, समस्त विघ्न-बाधाओंको पैरोंसे रौंदता हुआ, अन्य सब ओरसे मुँह फेरकर, सबको भूलकर अत्यन्त तीव्र गतिसे दौड़ पड़ता है उनकी ओर; अविराम भागता चला जाता है उनको ही लक्ष्य बनाकर; उनके कण्ठसे लगकर ही शान्त होता है। इसीलिये गायें भी चली आयीं इन वत्सरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रके समीप। तथा आकर, अपने वत्सतरोंसे मिलकर जो इनकी दशा होती है उसे वाणी कैसे व्यक्त करे? किसी अंशमें इतना-सा सङ्केतमात्र कर सकती है—वे गायें स्नेहातिरेक-वश जीभ निकालकर इनके अङ्गोंको ऐसे चाटने लगती हैं, मानो उठाकर अपने हृदयमें रख लेना चाहती हों। थनसे दूधकी निर्मल धारा तो कबकी क्षरित होती आ रही है। केवल वत्सतरोंके मिलनेभरकी देर थी। ये मिल गये। फिर तो अपना समस्त रसपान करा देनेके उद्देश्यसे ये अपने स्तन इन वत्सोंके मुखमें रख ही देती हैं। गोवत्स भी हुमक-हुमककर दूध पीने लग जाते हैं। कदाचित् किसीके नेत्र इन बड़भागिनी गायोंकी आँखोंमें समाकर देख सकनेकी क्षमता पा लें, तभी दीख सकता है—कितना अपूर्व, अप्रतिम स्नेह भरा है इन मूक पशुओंके नयनोंमें—

समेत्य गावोऽधो वत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन्।
गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ३१)

धेनु धाइ बछरन ढिग आई। प्यावन लगी प्रेम अधिकाई॥
वत्सवती अपि धेनु प्रबीने। प्यावत भइ तजि बाल नवीने॥
चाटन लगी प्रेम अति गाढ़ो। गिलि जै हैं जनु अस सुख बाढ़ो॥

अस्तु, उधर अपना प्रयास व्यर्थ हुए देखकर रक्षक गोपोंके रोषका पार नहीं। इतनी प्रबल चेष्टा करनेपर भी गायें न रुकीं, सारा परिश्रम निरर्थक सिद्ध

हुआ—इस बातसे प्रथम तो वे अतिशय लज्जाका अनुभव करने लगे, और फिर उनमें क्रोधका सञ्चार हो गया । गायोंपर नहीं, गोवत्सोंके संरक्षक अपनी ही सन्तति उन गोपशिशुओंपर । वे सोचने लगे—'पशु तो पशु ही हैं, इनमें बुद्धि नहीं । वास्तविक अपराधी तो ये शिशु हैं । सचमुच नन्दनन्दन एवं बलरामका अनुसरण करते-करते ये सब अतिशय उद्धत हो गये हैं । देखो न, इतना तुमुल कोलाहलकर इन सबोंने जान-बूझकर गायोंको बिझुकाया है ।' तथा ऐसा सोचकर क्रोधसे अभिभूत हुए वे गोपगण भी बालकोंको कुछ दण्ड देनेके उद्देश्यसे नीचे उतरने लगे । उस दुर्गम पर्वतपथको पार करते समय उन्हें अत्यन्त कष्ट हो रहा है, फिर भी तीव्र क्रोधके आवेशमें—चाहे कुछ हो, वहाँ जाकर शिशुओंका शासन करना ही है—इस आवेशमें पूरे वेगसे चलकर वे गिरिराजके तटदेशमें उतर पड़ते हैं ।

कौन बतावे—पहले उनकी दृष्टि गोसमूहपर पड़ी या बालकोंपर ? गायें तो तन्मय हो रही हैं वत्सतरोंको अपना स्नेहदान देनेमें । उनके लिये रक्षकवर्गके रोषकषायित नेत्रका कोई अर्थ नहीं । किंतु जब इनकी दृष्टि बालकोंपर पड़ी, तब एक बार तो वे सब-के-सब बालक 'सन्न' रह गये ! अवश्य ही स्थिति बदलते देर न लगी । निमेष गिरते-न-गिरते रक्षक गोपोंकी दशा भी विचित्र ही हो गयी । कहाँ तो वे आये थे शिशुओंकी भर्त्सना करने, उन्हें दण्ड देने; और हुआ यह कि वात्सल्यके प्रबल प्रवाहमें सहसा सब-के-सब एक साथ बह चले । उनकी समस्त चित्तवृत्ति इसमें निमग्न हो गयी । क्या हुआ, कैसे हुआ—यह किसीने नहीं जाना । बस, उन्होंने शिशुओंकी ओर देखा ही था कि एक झोंका-सा आया, तड़ित्-लहरी-सी छू गयी और उच्छलित हो उठा स्नेहरससिन्धु । मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय, शरीर—सब डूब गये इसमें । क्रोधकी वृत्ति समा गयी इसके अतल तलमें । ऊपर उठीं अनुरागकी लहरें । इनके साथ ही नाचते हुए उनके प्राण दौड़े पुत्रोंको अङ्कमें भर लेनेके लिये ! लगुड हाथसे गिर गया, भुजाएँ फैल गयीं । मानो सहस्र-सहस्र प्राणोंकी आर्ति, उत्कण्ठा प्रत्येक गोपमें एकत्र हो गयी हो, ऐसे उल्लाससे उन सबने अपने-अपने पुत्रोंको उठाकर अङ्कमें धारण कर लिया, वक्षःस्थलसे लगाया, और फिर मस्तकका घ्राण लेने लगे । वे इस समय पुत्रोंके स्पर्शसे, घ्राणसे जिस परम आनन्दका अनुभव कर रहे हैं, इसे वे ही जानते हैं—

गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना ।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान् ॥
तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ३२-३३)

पसु पालन रोकी जब धेनू । रुकी न बैसुख श्रम भा फेनू ॥
रोस भरे दृग अति रतनारे । पंथ त्यागि धाए अति हारे ॥
सरिता गिरि बन उपबन माहीं । आए दौरत तन सुधि नाहीं ॥

आए जद्यपि रोस भर, ताडन मन अनुरागि ।
तदपि देखि बालक बदन, बढ़्यो प्रेम बड़भागि ॥
जद्यपि रिस अति घोर, निरखि बदन सब मिटि गई ।
प्रेम उमग नहिं थोर, रहसि लिए उर लाइ सुत ॥

सीस सूँघि पुनि पुनि उर लाई । मानहु परी परम निधि पाई ॥

लीलाशक्तिकी प्रेरणा ही इन्हें पुनः यहाँसे अलग करती है, अन्यथा आज ये अपने पुत्रोंको छोड़कर किसी अन्य कार्यमें योग दान कर सकें—यह सम्भव ही नहीं रहा था । अभी भी बालकोंको हृदयसे लगाये, निर्निमेष नयनोंसे इनकी ओर वे देख ही रहे हैं । आगे क्या करना है, कहाँ जाना है, इसका उन्हें तनिक भी भान नहीं । कुछ क्षणोंके अनन्तर अचिन्त्य प्रेरणावश उन सबने पुत्रोंको गोदसे उतारा भी सही, पर सुध-बुध खोये-से, भ्रान्त-से हुए वहीं खड़े रहे ।

गायोंकी दशा भी ऐसी ही है। उन्हें भी किसी अलक्षित हाथोंने ही वत्सतरोंसे अलग किया। आँखें तो उनकी भी लगी रहीं अपने शावकोंकी ओर ही। पर शरीरसे वे हट आयीं। पालकवर्गने इनकी ओर देखा या नहीं—यह निर्णय कठिन है। हाँ, यन्त्रपरिचालित-से हुए उनके हाथ अपने-आप ऊपर उठ अवश्य गये हैं, सङ्केत कर दे रहे हैं गायोंको पुनः गिरिराज शिखरकी ओर बढ़ चलनेके लिये, और ये उधर ही चलने लग जाती हैं। इनके पीछे गोप भी चल पड़ते हैं; इच्छापूर्वक नहीं, जैसे कोई बरबस खींचे लिये जा रहा हो, इस प्रकार वे जा रहे हैं। वे कुछ भी बोल नहीं सकते—कण्ठ अश्रुके आवेगसे रुद्ध हो चुका है। और अब तो उन्हें पथ दीखना भी बंद हो गया है—इस अननुभूतपूर्व परमानन्दकी निरन्तर स्मृतिसे नेत्र झरने लगे हैं, अश्रुका अजस्र प्रवाह बहने लगा है। अत्यन्त कठिनाईसे धीरे-धीरे मार्गका अनुसरण करते हुए वे वहाँसे लौट पड़े हैं—केवल देहसे ही, मन तो अभी भी वहाँ ही है। निमेषशून्य दृष्टिसे मानो वे अब भी ठीक वैसे ही देख रहे हैं उन शिशुओंको ही!—

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः।
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३४)

गद्गद कंठ नयन भरि बारी। एकटक रहे सुबदन निहारी॥

उपर्युक्त घटनाको आदिसे अन्ततक बलरामने अपनी आँखों देखा है। यहाँसे कुछ ही दूरपर एक सघन कदम्बकी छायामें श्रीकृष्णचन्द्रके दक्षिण स्कन्धपर अपनी वाम भुजा टेके खड़े वे देख चुके हैं—किस प्रकार गायें गिरिराज शिखरसे दौड़ीं; गोपोंके द्वारा प्रतिरोधके समस्त प्रयास असफल हुए और स्तनपायी वत्सोंका भी परित्यागकर दुर्गम पथका उल्लङ्घनकर वे अपने उन मुक्तस्तन्य वत्सतरोंसे आ मिलीं; कितना स्नेह, प्राणोंकी कैसी आर्ति इन पशुओंमें इन वत्सोंके लिये है। प्रेम-समृद्धि एवं तदनुरूप उत्कण्ठाका कितना उज्ज्वल निदर्शन इन धेनुसमूहोंने अभी-अभी उपस्थित किया है। तथा फिर उन रक्षक गोपोंकी दशा! प्रथम तो अपनी सन्ततिके व्यवहारसे क्षोभ, वह क्रोधकम्पित कलेवर और पश्चात् पुत्रोंकी ओर देखनेमात्रसे ही प्रेमावेशका वह निखरा हुआ सौन्दर्य—दोनोंका सामञ्जस्य कितना आश्चर्यमय है!'—रोहिणीनन्दन बड़े ध्यानसे यह सब कुछ देखते रहे हैं। पर 'ऐसा क्यों हुआ, क्यों हो रहा है'—इसका हेतु उन्हें विदित नहीं। इसीलिये वे विचारमें पड़ जाते हैं, वस्तुस्थितिके सम्बन्धमें सोचने लग जाते हैं—

व्रजस्य रामः प्रेमर्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम्।
मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३५)

यह देखि बल सोइ, मन अचरज भोइ।

× × ×

ता दिन बल के भयो सँदेह, सिसुन बिषै दिखि ब्रज कौ नेह।

× × ×

लखि बल प्रेम अधिक सब काहीं। करत बिचार आपु चित चाहीं॥

एक-एक बात रोहिणीनन्दनको विस्मयसे पूर्ण कर दे रही है। साथ ही बाल्यावेशके किसी एक छिद्रसे अनन्तदेवके अपरिसीम ऐश्वर्यका एक क्षुद्र स्रोत शनैः-शनैः झरने लगता है और वे उसके एक विन्दुका स्पर्श-सा करते हुए, उससे अपनी लीलारसमत्त आँखोंको आँजते-से हुए घटनाके प्रत्येक अंशके हेतुपर विचार करने लगते हैं—'अखिलात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके इतने निकट रहनेपर भी ऐसी बात क्यों हो रही है? समस्त व्रजवासी गो-गोप-गोपियोंके जीवनस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रके उपस्थित रहते हुए ही धेनुसमूहका, इन अपने गोवत्सोंमें रक्षक गोपोंका अपनी सन्ततिमें स्नेह बढ़नेका हेतु क्या है? इनका जैसा प्रतिक्षण वर्द्धनशील, अपरिसीम स्नेह श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति है, ठीक वैसा ही स्नेह वत्सतरोंके प्रति, शिशुओंके प्रति कैसे हो गया!

ऐसी बात पहले तो कभी नहीं हुई थी ? जहाँ आत्मज्ञानका आलोक नहीं, वहाँ उस अन्तःकरणमें तो अज्ञात आत्माके सुखके उद्देश्यसे ही पुत्र आदिके प्रति प्यारका प्रवाह सम्भव है, किंतु जहाँ जिन नेत्रोंके सामने अखिलात्मा विशुद्ध सत्त्वविग्रह श्रीकृष्णचन्द्र विराजित हैं, निरन्तर अत्यन्त निकट अवस्थित रहकर चिन्मय लीलारससुधाका दान कर रहे हैं, वहाँ अन्यके प्रति आकर्षण—अपनी सन्ततिके प्रति स्नेह कैसे सम्भव हुआ ? त्रिगुणमय संसारमें सुखके आधार स्थिर नहीं, उनमें परिवर्तन होना अनिवार्य है, स्नेहके पात्र बदलेंगे ही । आज सुखका आधार कुछ और है, कल कुछ और ही रहेगा; आज जिसके प्रति प्राणोंका स्नेह समर्पित करके भी तृप्ति नहीं होती, कल उसका स्थान कोई अन्य ग्रहण करेगा; किंतु जिसने एक बार श्रीकृष्णचन्द्रमें सुखका अनुभव किया, अपना सारा स्नेह श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें अर्पित कर दिया, उसके लिये अनन्तकालतक सुखका कोई अन्य आधार सम्भव ही नहीं, उसका स्नेहास्पद अन्य बन सकता ही नहीं । फिर भी यहाँ यह वैषम्य कैसे संघटित हुआ ? एक बार श्रीकृष्णचन्द्रके लिये सर्वस्व न्यौछावर कर देनेके अनन्तर भी पुनः गो-गोपोंका अपने वत्सतरोंके प्रति, शिशुओंके प्रति यह स्नेह-निर्बन्ध कैसे सम्भव हुआ ? और इनकी बात दूर, स्वयं मेरी भी ऐसी दशा क्यों हो गयी ? मुझे भी ये शिशु, ये गोवत्स ठीक अपने अनुजके समान ही क्यों प्रिय लग रहे हैं ? इस आश्चर्यकी भी कोई सीमा है ? आखिर ये बातें हो कैसे रही हैं ? किस अघटनघटनी महाशक्तिके प्रभावसे गायोंकी, गोपोंकी, मेरी ऐसी अवस्था हो रही है ? किस हेतुसे, कहाँसे इस महाशक्तिका अवतरण हुआ है ? क्या यह कोई देवमाया है ? अथवा शक्तिविशिष्ट नरकी—किसी मनीषी मुनिकी माया है ? अथवा यह आसुरी मायाका प्रसार तो नहीं है ? किंतु ये आसुरी नारी, दैवी माया—इनमें कोई-सी मुझे भी मोह सकती है क्या ? विश्वमें ऐसी कौन-सी माया है जो मुझे भी मोहित कर ले ? हाँ, एकमात्र मेरे अनुज—नहीं-नहीं, मेरे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रकी ही अघटनघटनी, परमाचिन्त्यशक्तिमयी माया ऐसी है जो मुझे भी मुग्ध कर दे ! उनकी ही माया फैली हो, और ये बातें संघटित हो गयी हों—यह असम्भव नहीं है ।'

रोहिणीनन्दन लवमात्र काल भी व्यतीत होते-न-होते इतनी बात सोच गये । और केवल सोच भर लिया हो, यह नहीं, इस रहस्यकी ओर-छोर पा लेनेका सङ्कल्प भी उनमें उदय हो गया । अबतक तो वे विचार कर रहे थे लीलानुरूप भङ्गिमाकी चादर ओढ़कर ही; किंतु अब उन्होंने अपनी ज्ञानमयी दृष्टिके आलोकमें देखना आरम्भ किया और देख लिया—स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ही तो इन असंख्य गोवत्स एवं गोपशिशुके रूपमें अवस्थित हैं !—

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि ।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥
केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी ।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी ॥
इति संचिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि ।
सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ३६—३८)

पिवत न स्तन न बालक जेऊ। तिन पर अधिक प्रीति कत मेऊ॥
विकट प्रसूति वत्स कहँ त्यागी। पूरब महँ किमि ए अनुरागी॥
नित प्रति बढ़ै प्रेम सब काहू। लखौं न कारन प्रीति उमाहू॥
मोहि सहित सब कहँ एहि रीती।प्रेम अधिक छन छन किमि प्रीती॥
मोहि प्रीति इनमें केहि हेतू। समुझि परै नहिं मोह निकेतू॥
कै दैवी माया यह होई।कै नर असुर कहावति सोई॥
केहि कारन प्रेरी किन कैसें। अपर न घटै भई यह जैसें॥

अपरन माया प्रबल असि मो कहँ मोह कराइ ।
यह माया श्रीकृष्न की अस मो मन ठहराइ ॥
अस बिचारि बलराम ज्ञान दृष्टि देखी तबहि ।
कृष्नदेव सब ठौंम बछरा बत्सप आपु हरि ॥

× × ×

बलबीर ज्ञान दृग देखि तहाँ।
प्रभु आतम भूति विभूति महाँ॥
सब बिस्व चराचर ब्यापि रह्यौ।
बछरानि सखा किमि जाइ कह्यौ॥

× × ×

ये ब्रज बालक वे तौ नाहीं। पाछे हुते जु या ब्रज माहीं॥
अब तौ नाम दाम दल अंबर। बेनु, बिषान बेत बल कंबर॥
कंकन किंकिन भूषन जिते। मोहिं श्रीकृष्न अभासत तिते॥

बलरामके अधरोंपर स्मितकी एक रेखा अङ्कित हो गयी। उन्होंने अपने अनुजके नेत्रसरोजपर अपनी दृष्टि स्थिर कर ली। तथा फिर एक साथ आदर्श विनय, अकृत्रिम नम्रता, मधुमय व्यङ्ग, सरस परिहास, अपरिसीम स्नेह, महान् आदर, पवित्र प्रणयरोष—न जाने कितने भावोंका रस वाणीमें भरकर वे बोल उठे—'भैया रे श्रीकृष्ण! नहीं, नहीं हे सर्वेश्वर देवता! सुनो, देखो, गोवत्स, गोपशिशुके रूपमें पार्षद नहीं, ऋषि नहीं, एकमात्र तुमने ही इन असंख्य रूपोंमें आत्मप्रकाश किया है। यहाँ दीख रहे हैं वत्स, शिशु एवं उनसे सम्बन्धित अनन्त पदार्थ; किंतु वास्तवमें तुम्हारे अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई नहीं, कुछ भी नहीं। केवल तुम्हीं इन असंख्य रूपोंमें मूर्त हो रहे हो। बता दो भैया! हे महामहेश्वर! बता दो प्रभो! इन परिदृश्यमान गोशावक, गोपबालक, शृङ्ग, वेत्र, छींके आदि अनन्त रूपोंमें आखिर तुमने आत्मप्रकाश किस उद्देश्यसे किया है? विस्तारसे नहीं, संक्षेपमें ही सुना दो। भैया!'—रोहिणीनन्दनने शीघ्र उत्तर पानेकी प्रतीक्षा-सी व्यक्त करते हुए अतिशय धीर कण्ठसे इतनी बात कह दी। तथा जब दाऊ भैयाने पूछ ही लिया तो नीलसुन्दर भी अब उनसे गुप्त क्यों रक्खें? समस्त विवरण उन्होंने अग्रजको विस्तारसे सुना दिया—

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते
त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ३९)

तुम अब सकल माहिं मोहि भासत।
तव गति अगम बेद इमि भाषत॥
मोहि बुद्धि भ्रम कै यह साची।
सब महँ तुम ऐसी मति राची॥
तब हरि कंज सुअन कृत भाखे।
बल सौं कछु दुराव नहि राखे॥

× × × ×

जब हँसि हलधर हरि तन चह्यौ,
हरि तब सब हलधर सौं कह्यौ।

इस प्रकार बलरामके समक्ष श्रीकृष्णचन्द्रके आत्मविहारका रहस्य प्रकट हुआ। और अब आ रहे हैं पद्मयोनि अपनी कृतिका परिणाम जानने, श्रीकृष्णचन्द्रपर अपनी मायाका प्रभाव देखने, मोहित हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी बाल्यमाधुरीका रस लेने! भ्रान्त हुए हैं वे! अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्रपर अपनी माया विस्तार करनेकी वृत्ति उनमें नहीं जागती। अरे, जिनकी माया संकर्षणको भी भ्रमित कर दे रही है उनका विधिकी माया क्या करेगी?

संकर्षन हू नहिं सुधि परै, बिधि बावरौ जु पचि पचि मरै।

नारायन जाँ कें हृदय सुंदर स्याम समाय।
फूल-पात-फल-डारमैं ताकौं वही दिखाय॥
दर दिवार दरपन भये जित हेरहुँ तित तोहि।
काँकर पाथर ठीकरी भये आरसी मोहि॥

पवित्रताका रहस्य

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

पवित्रता परम पावन परमात्माकी वह सर्वव्यापिनी सुन्दरता है, जिसे देखकर सभीको सन्तोष होता है। तत्त्वज्ञ और भक्त दोनोंकी दृष्टिमें भगवान् ही सर्वाङ्ग रूपसे पवित्र हैं, अनन्त सौन्दर्य-निधि हैं। अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्य दोनों एक दूसरेके पर्याय हैं, आत्मा हैं। सौन्दर्य और माधुर्यसे प्रेम करनेवाला तबतक स्वयं सुन्दर और मधुर नहीं हो सकता, जबतक वह पूर्ण पवित्र नहीं हो जाता। जो सभी प्रकारसे निर्दोष, निर्मल और निर्विकार तथा जडता और कठोरतासे रहित है, वही परम पवित्र है और उसीके स्मरण, चिन्तन, ज्ञान और ध्यानसे मनुष्य अपने दोषों, विकारों, मल और जडता तथा कठोरताको दूरकर पवित्र हो सकता है। जो परम पवित्र है, उससे कोई पवित्र होकर ही तन्मय हो सकता है। सम्पूर्ण सौन्दर्यका दर्शन तो पवित्र शरीरमें ही होता है।

अपवित्र और असुन्दर रहकर पवित्र तथा सुन्दरको देखनेवाले तो बहुत हैं, पर स्वयं पवित्र और सुन्दर होनेका समुचित प्रयत्न करनेवाले विरले ही हैं। .... जो अपवित्र व्यक्तिसे घृणा करता है, वह पवित्र नहीं है। पवित्र तो वह है, जो अपनी पवित्रतासे अपवित्रको पवित्र बनाता है, अपनी श्रेष्ठतासे लघुको श्रेष्ठ बनाता है; अपवित्र तो पवित्रकी ही शरणमें आकर पवित्र होता है इसलिये पवित्र शरणागत अपवित्रका अनादर कर ही नहीं सकता है।

पवित्रको ही देखना, पवित्रके ही विषयमें सुनना, पवित्रकी ही चर्चा करना और पवित्रकी ही ओर चलना अपवित्रके लिये पवित्र होनेका उपाय है। परमात्मा और उनकी प्रकृति पूर्ण पवित्र हैं; जो कोई उनका आश्रय लेता है, वह पवित्र रहता है। प्रकृतिमें अशुद्धको शुद्ध करनेकी विलक्षण शक्ति है, प्रकृतिकी शक्तियोंके सहारे अपनी और दूसरोंकी अपवित्रता दूर करनेमें मनुष्यको एक दूसरेका सहयोग करना चाहिये।

जिसका प्राणमय शरीर संयमी है, मन निरुद्ध है और बुद्धि सत्य लक्ष्यके लिये स्थिर है, उसके शक्ति-कम्पन, भाव और विचार पवित्र होते हैं। ऐसे पुरुषकी समीपतामें साधारण व्यक्तिको शुद्ध स्फूर्ति, प्रेरणा और गति मिलती है, प्रकाश मिलता है। जिस मनुष्यकी प्राण-शक्तिमें संयम नहीं है, मनका सद्भावोंके लिये ही निरोध नहीं है, बुद्धिमें विचारशीलता और स्थिरता नहीं है, उसके आसपास अहितकर कम्पन, अधोगति देनेवाली तरङ्गें और अन्धकारमें भटकानेवाली लहरें रहा करती हैं। उन्नति चाहनेवाले व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह अपनेसे श्रेष्ठ भाव और विचारवाले पवित्र पुरुषसे ही विशेष सम्बन्ध रखकर शुद्ध स्फूर्ति, कम्पन, प्रेरणा और विचारकी प्राप्तिमें पवित्रता, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्यका रसास्वादन करे।

जिससे संशय, भ्रम और अन्धकारका नाश हो जाता है, जगत् और जगदाधारका स्वरूप दीख पड़ता है; दुःख और बन्धनके कारण, प्रवृत्ति और उसकी निवृत्तिके उपायका स्पष्टीकरण हो जाता है, वही पवित्र ज्ञान है। जो सत्य, शान्ति और अमृतत्वकी ओर ले जाते हैं, वे ही पवित्र भाव हैं। जो पापसे बचाकर पुण्य, दुःखसे छुड़ाकर सुख और बन्धनसे निकालकर मुक्तिकी ओर ले जाते हैं, वे ही शुभ कर्म हैं। शुभ ज्ञान, स्वच्छ भाव और अच्छे कर्मसे ही सत्यके शिव और सुन्दर रूपकी, पवित्रताकी प्राप्ति हो पाती है।

आशय यह है कि पवित्रका स्मरण, चिन्तन, ज्ञान और ध्यान ही वास्तविक पवित्रता है। अपवित्रका स्मरण, चिन्तन, ज्ञान और ध्यान ही अपवित्रता है। अशान्ति, दुःख, बन्धन और विकार तथा मृत्यु ही अपवित्रताके मूल अधिष्ठान हैं। शान्ति, आनन्द, मुक्ति, निर्विकारता और जीवनसे ही पवित्रताकी भरी-पूरी निधि मिलती है।

श्रीभगवान्के दिव्यादेश

(लेखक— श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम० ए०)

[गताङ्कसे आगे]

[४]

अबतक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जो कुछ कहते आये हैं, उनका उपसंहार षष्ठ अध्यायमें हुआ है। श्रीगीतामें परमार्थ-प्राप्तिके लिये भगवान्ने कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्गका यथोचित वर्णन किया है। पहले छः अध्यायोंमें कर्ममार्गका विवरण दिया गया है। श्रीअरविन्दने लिखा है कि भगवान्ने इन अध्यायोंमें वेदान्त-दर्शन, सांख्य-दर्शन और गीतोपनिषद्का समन्वय किया है; और सम्पूर्ण गीताके सारांशका अद्भुत कौशलसे एक ही टिप्पणीमें विश्लेषण किया है। वे लिखते हैं—

The whole object of the first six chapters of the Gita is to synthetise in a large frame of Vedantic truth the two methods, (Yoga of Knowledge and Yoga of works), ordinarily supposed to be diverse and even opposite. Whatever the precise distinctions of their metaphysical ideas, the practical difference between Sānkhya and Yoga, as developed by the Gitā, is the same as that which now exists between the Vedantic Yogas of Knowledge and works, and the practical results of the difference are also the same. The Sānkhya proceeded like the Vedantic Yoga of Knowledge by the *Buddhi*, by the discriminating intelligence; it arrived by reflective thought, *Vichāra*, at right discrimination, *Viveka*, of the true nature of the soul and of the imposition on it of the works of *Prakṛti* through attachment and identification, just as the Vedantic method arrives by the same means at the right discrimination of the true nature of the Self and of the imposition on it of cosmic appearances by mental illusion which leads to egoistic identification and attachment. In the Vedantic method Māyā ceases for the soul by its return to its true and eternal status as the one Self, the Brahman, and the cosmic action disappears: in the Sānkhya method the working of the *Guṇas* falls to rest by the return of the soul to its true and eternal status as the inactive Puruṣa and the cosmic action ends. The Brahman of the Māyāvādis is silent, immutable and inactive; so too is the Puruṣa of the Sānkhya; therefore for both ascetic renunciation of life and works is a necessary means of liberation. But for the Yoga of the Gitā as for the Vedantic Yoga of works, action is not only a preparation but itself is the means of liberation; and it is the justice of this view which the Gitā seeks to bring out with such an unceasing force and insistence, an insistence, unfortunately, which could not prevail in India against the tremendous tide of Buddhism, was lost afterwards in the intensity of ascetic illusionism (made popular by Śankara) and the favour of world-shunning saints and devotees and is only now beginning to exercise its real and salutory influence on the Indian mind. Renunciation is indispensable but the true renunciation is the inner rejection of desire and egoism; without that the outer physical abandoning of works is a thing unreal and ineffective; with it it ceases even to be necessary, although it is not forbidden. Knowledge is essential, there is no higher force for liberation; but works with knowledge are also needed; by the union of knowledge and works the soul dwells entirely in the Brahmanic status not only in repose and inactive calm, but in the very midst and stress and violence of action. Devotion is all important; by the union of knowledge, devotion and works the soul is taken up into the highest status of the Iśwara to dwell there in the Puruṣottama who is master at once of the internal spiritual calm and the eternal cosmic activity. This is the synthesis of the Gītā.

'साधारणतया विभिन्न तथा विरोधी मानी जानेवाली ज्ञानयोग एवं कर्मयोग नामक दोनों निष्ठाओंका समन्वय करके उन्हें वैदान्तिक सत्यके ढाँचेमें बैठा देना ही गीताके प्राथमिक छः अध्यायोंका अन्यतम उद्देश्य है । सांख्य और योगके आध्यात्मिक अर्थोंमें यथार्थ अन्तर चाहे जो हो, व्यावहारिक दृष्टिसे, गीताके व्याख्यानुसार उनमें वही भेद है, जो आज वैदान्तिक ज्ञानयोग और कर्मयोगमें है । और दोनोंका व्यवहारजन्य परिणाम भी एक ही है । वेदान्तके बौद्धिक ज्ञानयोगकी भाँति सांख्य भी विवेकको लेकर चलता है । विचारके द्वारा यह आत्माके ऊपर ममता एवं देहाभिमानके द्वारा प्रकृतिके गुणोंके आरोप तथा आत्माके वास्तविक स्वरूपके विवेकको प्राप्त होता है । ठीक इसी प्रक्रियासे वेदान्तकी प्रणाली भी आत्माके वास्तविक स्वरूप तथा उसके ऊपर अहंकारमूलक देहाभिमान एवं ममताको उत्पन्न करनेवाले मानसिक विभ्रमद्वारा भौतिक स्वरूपोंके आरोपके विवेकको प्राप्त होती है । वैदान्तिक प्रणालीमें जीवके अपने सत्य एवं शाश्वत स्वरूपमें स्थित होकर आत्मत्व अर्थात् ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जानेपर उसके लिये मायाका अन्त हो जाता है और लौकिक व्यापार भी लुप्त हो जाते हैं । सांख्य-प्रणालीमें जीवके अपनी सच्ची एवं शाश्वत स्थितिमें लौटकर अक्रिय पुरुषरूपको प्राप्त हो जानेपर गुणोंका व्यापार शान्त हो जाता है और लौकिक क्रियाओंका विराम हो जाता है । मायावादियोंका ब्रह्म मूक, अपरिवर्तनशील तथा कर्मरहित है; सांख्यका पुरुष भी ऐसा ही है । अतएव दोनोंमें जीवन और कर्मोंका निरपेक्ष त्याग मोक्षप्राप्तिके लिये एक आवश्यक अङ्ग है; किंतु गीतोक्त कर्मयोगके लिये, वैदान्तिक कर्मयोगकी ही भाँति, कर्म केवल तैयारी ही नहीं वरं मुक्तिका स्वयं एक साधन है । इसी दृष्टिकोणके औचित्यको सिद्ध करनेमें गीता अनवरत शक्ति एवं आग्रहसे संलग्न है । दुर्भाग्यवश यह आग्रह बौद्धधर्मके प्रबल प्रवाहमें भारतवर्षमें ठहर न सका; और पीछे (श्रीशङ्कराचार्यके द्वारा लोकप्रिय बनाये हुए) संन्यासियोंके मायावादमें तथा निवृत्तिमार्गी संतों एवं भक्तोंकी प्रतिष्ठामें बिल्कुल खो गया । इसका वास्तविक और गुणकारी प्रभाव भारतीय मस्तिष्कपर इधर अब फिर पड़ने लगा है । त्याग अनिवार्य तो है, परंतु सच्चा त्याग है कामना और अहंकारका भीतरसे त्याग । बिना इसके कर्मोंका बाह्य एवं भौतिक त्याग अवास्तविक और निरर्थक है । जहाँ आन्तरिक त्याग है, वहाँ इसकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती, यद्यपि यह वर्जित नहीं है । ज्ञान भी आवश्यक है । मोक्षप्राप्तिके लिये इससे बड़ी दूसरी शक्ति नहीं है; किंतु ज्ञानके साथ कर्मकी भी आवश्यकता है । ज्ञान और कर्मके संयोगसे जीव सम्पूर्णरूपसे ब्राह्मी स्थितिमें निवास करता है—केवल विराम और कर्मरहित शान्तिमें ही नहीं वरं कर्मोंकी प्रबलता एवं प्रचुरताके बीच भी भक्तिका महत्त्व सर्वोपरि है । ज्ञान, भक्ति तथा कर्मके संयोगसे ईश्वरत्वकी सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त होकर जीव उस पुरुषोत्तममें निवास करने लगता है, जो आन्तरिक, आध्यात्मिक शान्तिके साथ-साथ बाह्य, भौतिक व्यापारोंका भी स्वामी है । गीताका यही समन्वय है ।'

षष्ठ अध्यायमें भगवान्के अधिकांश आदेश अध्यात्मयोगविषयक हैं । और श्लोक १० से ३२ तक अङ्गसहित योगकी व्याख्या है । इन आज्ञाओंकी सम्यक् उपलब्धिके लिये योगेश्वरका पहला आदेश पाँचवें श्लोकमें यह है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

'मनुष्यको चाहिये आत्मासे आत्माका उद्धार करे, आत्माको नीचे न गिरावे; क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है ।' अभिप्राय यह कि अपने पैरोंके बल अपने आप खड़ा होना है । अपने आत्माको संसार-समुद्रसे उद्धार करनेके लिये अपने आत्माकी शक्तिहीसे काम लेना है, क्योंकि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।' 'विवेकशून्य होकर अपने आत्माका अधःपतन न करो' यह भगवान्की आज्ञा है । दुःखार्णवसे उसे निकालनेवाला पोत आत्मा ही है । बेड़ा पार तो तभी हो, जब स्वयं नावका केवट हो ।

इस उपक्रमणिकाके बाद भगवान्‌ने पाँच श्लोकोंमें योग और योगीके विषयमें पालनीय विधियोंका संक्षेपमें उपदेश दिया है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
(१०—१४)

‘ध्यानशील व्यक्ति गिरिगुहादि एकान्त स्थानमें अकेला स्थित होकर आशा और संग्रहशून्य और संयतेन्द्रिय, संयतचित्त और संयतशरीर होकर आत्माको निरन्तर परमेश्वरके ध्यानमें लगावे । ऐसे स्थानमें पवित्र भूमिपर अपना आसन लगावे । आसन न अत्यन्त ऊँचा, न अत्यन्त नीचा हो; पहले कुश, उसपर मृगछाला और उसपर वस्त्र बिछाकर आसन रचे । उसपर उपविष्ट होकर देह, इन्द्रिय और चित्तको संयत करते हुए और मनको एकाग्र करके आत्मशुद्धिके लिये योग-साधन करे । काय, शिर और ग्रीवा-को सम, अचल और स्थिरतापूर्वक धारण करके, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि स्थिर रखकर, प्रशान्तात्मा (राग-द्वेषादिरहित), भयोद्वेगशून्य और ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित होकर मनको वशमें करके मुझमें चित्त लगाकर सावधान और मेरे परायण होकर बैठे ।’

इन श्लोकोंमें विशेष द्रष्टव्य ये शब्द हैं—‘यतचित्तात्मा’, ‘यतचित्तेन्द्रियक्रियः’, ‘मनः संयम्य’ जिनका कि महर्षि पतञ्जलिका ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ सूत्रसे सादृश्य है और यही योगकी संज्ञा भी है; परंतु सबसे स्मरणीय तो ये वचन हैं—‘मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः’ । करुणामय हृषीकेशने भ्रान्त मनुष्यके कल्याणके निमित्त इन शब्दोंका पुनः-पुनः श्रीगीतामें उल्लेख किया है (१० । ९; १२ । ६; १८ । ५७, ५८) ।

इसके अनन्तर और चार श्लोकोंमें इसी योगके विषयपर अन्यान्य आदेश हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(२३–२६)

‘उस दुःख-संयोग-वियोगको ‘योग’ नामवाला जानना चाहिये । वह योग निश्चय ही तत्पर हुए चित्तसे करना चाहिये । सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाले सब भोगोंको त्यागकर, मनके द्वारा इन्द्रियसमूहको सब ओरसे अच्छी तरह वशमें करके, धैर्ययुक्त बुद्धिसे शनैः-शनैः उपरामताको प्राप्त हो और मनको आत्मामें स्थित करके, दूसरे किसी बातकी कुछ चिन्ता न करे । यह चञ्चल और अस्थिर मन जिस-जिस बाह्य विषयोंमें विचरण करे, उस-उससे हटाकर इसे आत्माके ही वशवर्ती करे ।’

इन श्लोकोंमें योगाचरणका ढंग बतलाया गया है । भगवान् कह रहे हैं—पहली बात यह है कि योगाभ्यास निश्चय करना चाहिये और दूसरी बात यह कि निर्वेदरहित दृढ़चित्तसे अभ्यास करना चाहिये । सम्पूर्ण इन्द्रियसमूहको मनद्वारा सुनियमित करना और मनको अनात्म वस्तुओंसे उपरत करते हुए आत्मासे युक्त करना और सुखकी भावनासे आत्माके ही वशवर्ती करना योगारूढ़ होनेका उपाय है । ऐसे योगी पुरुषका उच्चासन है । अतः इस अध्यायमें भगवान्‌की शेष आज्ञा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

अर्थात् ‘तपस्वियोंसे, ज्ञानियोंसे और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, इसलिये हे अर्जुन ! तुम योगी बन जाओ ।’

[५]

अष्टम अध्यायमें प्रभुकी केवल दो ही आज्ञा हैं, परंतु दोनों सम्पूर्ण मानवजीवनको प्रभावित करनेमें शक्य हैं—

(१) तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

'इसलिये सब समयमें तू मुझको स्मरण कर और युद्ध कर। (इस प्रकार) मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अन्तकालमें मनुष्य उसी भावका चिन्तन करता है जो कि जीवनमें सदा उसके मनमें वर्तमान रहता है। इसलिये उसको आजीवन सर्वथा भगवान्‌का स्मरण करना और संसार-युद्धमें शौर्य-वीर्यसे काम लेना कर्तव्य है। भगवान्‌में अर्पित मन-बुद्धिवाला मनुष्य निश्चय उनको प्राप्त होता है। इन्हीं शब्दोंसे भगवान् फिर अध्याय १२, श्लोक १४ में एक दूसरी प्राप्तिकी भी आज्ञा दे रहे हैं—

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'—मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

(२) नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥
(२७)

'हे अर्जुन! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मोहको प्राप्त नहीं होता। इसलिये तू सब कालमें योगयुक्त हो।'

इस संसारमें यह चिरन्तन नियम है कि एक मार्ग जो शुक्ल है (देवयान)—क्रममुक्ति-फलदायक है, और दूसरा—जो कृष्ण है (पितृयान)—पुनरावृत्तिदायक है। इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मरणकालमें मोहित नहीं होता, वरं अपने ही देवयान-मार्गके द्वारा चला जाता है। इसलिये प्रतिदिन मनुष्यको अर्चि आदि गतिके चिन्तनरूप योगसे युक्त होना चाहिये।

नवम अध्यायमें प्रभुकी आज्ञा है—आत्मसमर्पण करनेकी। अबतक अनेक तत्त्वोंको समझाते आये हैं, अब केवल यह प्रत्यक्ष आदेश है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

'तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ देता है, जो कुछ तप करता है, हे अर्जुन! वह सब मेरे अर्पण कर।'

भगवान् इसके पहले द्रव्ययज्ञ—पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं—के विषयमें कहकर अब समग्र कर्मोंको अर्पण करनेकी बात कह रहे हैं। युक्तात्मा पुरुषका तो सम्पूर्ण कर्म भगवान्‌में स्वतः समर्पित हो जाता है और वह कृतकृत्य हो जाता है। इसलिये भगवान्‌के नाम सब कुछ उत्सर्ग करना चाहिये; क्योंकि जिसने दिया उसीने पाया; जिसने नहीं दिया उसने खोया।

शेष दो श्लोकोंमें भगवान्‌का आदेश है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(३३-३४)

'तू इस अनित्य और सुखरहित मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर मुझको ही भज। मुझमें मनवाला हो; मेरा भक्त हो, मेरे पूजनवाला हो; मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ भक्तिसहित भजन करनेका स्थूल उपदेश भगवान् पहले देते हैं, फिर भजनका क्रम दिखा रहे हैं; परंतु इस क्रमकी गति शेष पदसे आरम्भ होती है। अर्थात् पहले नमस्कार; तब पूजन; तब भक्तिभाव, अन्तमें 'मन्मना'। वैसे ही श्लोकके परार्द्धमें—'मन्मना' से आगे 'मत्परायण'—'मैं जिसका परम 'अयन' या गति हूँ वह 'मत्परायण'। भगवत्परायण होनेसे उनसे आत्माके द्वारा युक्त हुआ जाता है। भगवद्युक्त तब ही हुआ जाता है, जब सब प्रकारसे मन-प्राणकी गति 'मैं तुम्हारा ही' इस भावसे उनकी ओर धावित हो। युक्तात्मा होनेपर परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे होती है। इस प्रकार क्रमकी पूर्ति होती है।

एकादश अध्यायमें कमलपत्राक्ष पुरुषोत्तमने अर्जुनको दिव्यचक्षु प्रदानकर विश्वरूपका दर्शन कराया। इसमें आदेश-उपदेश दो श्लोकोंमें हैं—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

'इसलिये अर्जुन! तू उठ, शत्रुओंको जीतकर, यशको प्राप्त कर और समृद्ध राज्यको भोग। मेरे द्वारा ये सब पहलेही-से मारे हुए हैं, तू निमित्तमात्र हो जा। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य भी वीर योद्धाओंको, जो पहले ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू मार। घबरा मत, युद्ध कर, रणमें शत्रुओंको तू जीतेगा।'

कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें जैसे अर्जुनको विश्वेश्वरने 'निमित्त-मात्र' होनेकी आज्ञा दी, वैसे ही जीवन-युद्धमें जो मनुष्य भगवदाज्ञा पालन करते हुए ईश्वरोद्देश्य-साधनके लिये निमित्त मात्र होनेका प्रयत्न करता है, वह शत्रुपर विजय प्राप्त करता है। उसका जीवन सफल हो जाता है।

द्वादश अध्यायमें भक्तिमार्गका प्रकरण समाप्त होता है। यहाँ व्यक्त भगवत्-साधना और अव्यक्त आत्मोपासनाकी समस्याका समाधान करते हुए भगवान् अपने भक्तको आदेश देते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥
(८-११)

—'मेरे व्यक्त भगवत्स्वरूपमें ही मन स्थिर रक्खो; मुझमें ही बुद्धि निविष्ट करो।' भगवान् इस बातका पुनः-पुनः उपदेश दे रहे हैं कि मन और बुद्धि उन्हींमें लगाना चाहिये। इसका फल अध्याय ८, श्लोक ७ में कह आये हैं और आगे अध्याय १२, श्लोक १४ में कहेंगे। यहाँपर भी कहते हैं कि 'तव देहान्त होनेपर निःसन्देह मुझमें निवास करोगे।' श्रीधरस्वामी अपनी टीकामें कहते हैं कि 'श्रुतिका यह वचन है कि सगुण उपासकका देहान्त होनेपर उसके उपास्य देवता उसको तारकरूप परब्रह्ममन्त्रका उपदेश देते हैं।' 'पर यदि मुझमें मन स्थिर रखनेके लिये समर्थ न हो, तो अभ्यासयोगके द्वारा मुझे पानेकी इच्छा कर।'—नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अविरुद्ध सब समयमें मनके द्वारा उपास्यदेवके भलीभाँति चिन्तन करनेका नाम अभ्यास है। 'अभ्यासयोग' ज्ञानप्रधान है। यदि अभ्यासयोगके लिये असमर्थ हो, तो मेरे कर्मपरायण हो जा। मेरे कर्मपरायण होनेसे भी सिद्धिलाभ होगा। जो कुछ किया जाय, भगवत्-कर्म समझकर किया जाय। यही भगवत्परायण होना है। और यदि यह भी करनेमें असमर्थ हो, तो मद्युक्त भाव ग्रहण कर, प्रयत्नशील होकर सब कर्मोंका फल त्याग दे। फल-कामनाके त्यागसे भगवदर्थ कर्म करनेमें प्रवृत्ति होगी, उससे भगवत्प्राप्तिकी इच्छा और अभ्यासयोगमें सिद्धि लाभ होगा; इस अभ्याससे चित्तसमाधानकी शक्ति उत्पन्न होगी।

[६]

पञ्चदश अध्यायमें भगवदाज्ञा एक ही श्लोकमें है—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥

इस श्लोकका अर्थ पूर्वोक्त श्लोकके सन्दर्भसहित कह है—दृढ़तापूर्वक जमी हुई जड़वाले इस वृक्षको अनासक्तिरूप शस्त्रसे काटकर, यह भाव स्थिर—निश्चय किया जाय कि 'मैं उसी आदिपुरुषकी शरण ग्रहण करता हूँ, जिससे यह पुरानी त्रिगुणमयी भोगासक्तिकी प्रवृत्ति विस्तृत हुई है', तब उस पदको ढूँढ़ना चाहिये जहाँ पहुँचे हुए पुरुष फिर संसारमें लौटकर नहीं आते। क्योंकि भगवान् कहते हैं यह पद उनको प्राप्य है जो—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥५॥

'मान-मोहसे रहित, सङ्गदोषके जीतनेवाले, सदा अध्यात्ममें स्थित, निवृत्त कामनावाले और सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे मुक्त ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं—अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्माके यथार्थ स्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं।'

षोडश अध्यायमें दैवासुर-सम्पद्का विभाग दिखाया गया है। उसका वर्णन सुनकर युद्धक्षेत्रमें खड़े हुए हिंसात्मक कर्म करनेके लिये प्रस्तुत अर्जुनके मनमें स्वभावतः यह प्रश्न उदित होता है कि मैं आसुरी सम्पदावाला तो नहीं हूँ? अन्तर्यामी मनकी बात समझकर कहते हैं—'तुम चिन्ता न करो'—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

'दैवी सम्पदा मोक्षके लिये और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिये मानी जाती है । पाण्डुपुत्र ! तुम शोक मत करो; तुम दैवी सम्पदामें उत्पन्न हुए हो ।'

आसुरीसम्पदामें जिनको त्याग देनेसे मनुष्यमें आसुरी प्रकृतिका परिवर्तन हो सकता है, जो सब अनर्थोंके मूल हैं, भगवान् उन अनर्थमूलोंको परिहार करनेका आदेश देते हुए कहते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

'काम, क्रोध और लोभ—ये नरकके तीन द्वार हैं और ये आत्माका पतन करनेवाले हैं । इसलिये इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ।'

इनसे मुक्त हुआ पुरुष परम गति लाभ करता है, परंतु जो शास्त्र-विधि नहीं मानता, उसका कहीं ठिकाना नहीं । इसलिये भगवदाज्ञा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

'कार्य और अकार्यकी व्यवस्थामें तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है । अतः तुझे यहाँ शास्त्र-विधानमें कहे हुए तत्त्वको समझकर कर्म करना चाहिये ।'

अष्टादश अध्यायमें ज्ञानमा की समाप्तिके सहित सम्पूर्ण गीता-शास्त्रका सार संकलित है । यहाँ भगवान् भक्ति, सिद्धि, ज्ञान, शान्ति आदि सब विषयोंकी 'परम' अवस्थाका वर्णन करते हैं ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

सब तत्त्वोंके लिये प्रयोज्य है । यह स्पष्ट है कि भगवान्‌को जो कुछ कहना था, उन्होंने सब कुछ अशेषेण कह दिया है और इसलिये अन्तमें अर्जुनसे पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

परंतु आज्ञाके रूपमें कतिपय वचनमात्र हैं । प्रथम यह—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

'अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म सदोष हो तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धुएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म दोषसे आच्छादित हैं ।'

द्वितीय—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

'चित्तसे समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पण करके मेरे परायण हुआ तू बुद्धियोगका आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ।' अध्याय १२ श्लोक ६ में जो भगवदुक्ति है उसके साथ उपर्युक्त श्लोककी तुलना करनी चाहिये—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

'जो समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पण करके मेरे परायण हुआ अनन्ययोगसे मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं ।'

तृतीय—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

'भारत ! सर्वभावसे तू उस ईश्वरकी ही शरण ग्रहण कर । उसके प्रसादसे तू परम शान्तिको और शाश्वत स्थानको प्राप्त करेगा ।' 'सर्वभावेन' शरणकी अवस्था भगवान्‌ने इस प्रकार व्यक्त की है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(१५ । १९)

'भारत ! जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार तत्त्वसे मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सब कुछ जानता है और मुझको सर्वभावसे भजता है ।'

चतुर्थ आज्ञा गरिष्ठ है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा करनेवाला हो और मुझको ही नमस्कार कर; तू मुझको ही प्राप्त होगा । यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रिय है ।' अध्याय ९, श्लोक ३४ में इस श्लोकका पूर्वार्द्ध सुननेमें आया था । परंतु यहाँ परार्द्धमें सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् दृढ़तासे जो प्रतिज्ञा करते हैं, वह विशेष द्रष्टव्य है । अर्जुनमें (या साधकमें) कोई महान् परिवर्तन अब निश्चय हुआ है, जिसके कारण उसको यह परमाज्ञा दी जाती है कि भगवान् स्वयं उसको अवश्य प्राप्य हैं । ९ । ३४में मनुष्यकृत प्रयत्नके फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति दिखायी गयी है।

यहाँ प्रयत्नोंके पार ईश्वरानुग्रहसे परम गति दिखायी गयी है। अबतक साधक अपने इष्टकी ओर हाथ फैलाये हुए कर्म-भक्ति-ज्ञान-मार्गपर जा रहा था; यहाँ देवता स्वयं आकर उसका हाथ पकड़ लेते हैं, वह कृतकृत्य हो जाता है।

भगवान्‌की पञ्चम आज्ञा इस प्राप्तिका प्रकृष्ट उपाय जैसा बता रही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

'सब धर्मों और अधर्मोंका परित्याग करके मुझ एककी शरण ग्रहण कर; अर्थात् 'मैं ही वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव चित्स्वरूप अखण्ड, अद्वितीय परमात्मा हूँ' यह निश्चयकर मेरी शरणमें स्थित हो। मैं तेरे चित्तमें आत्माका स्वरूप प्रकाशकर तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा।'

श्रीगीतापाठक्रमके करन्यासमें इस श्लोकका पूर्वार्द्ध 'शक्ति' है, और परार्द्ध 'कीलक' है। कई लोग यह प्रश्न करते हैं कि भगवान्‌ने आदिमें या मध्यमें इस अभय वाणीको न सुनाकर अन्ततक क्यों स्थगित रक्खा। उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि इस अनुशासनके अनुसार आचरण करनेके लिये पाठक अबतक प्रस्तुत नहीं थे। १७ अध्यायोंके तत्त्वोंसे परिचयके उपरान्त कदाचित् इतना आत्मबल हुआ हो कि सब धर्मोंको—एकादश इन्द्रियोंके भोग्य-विषयक, वर्णाश्रम, नित्य-नैमित्तिक काम्य सब धर्मोंको—हम परिहार करनेमें समर्थ हों, और कर्मणा मनसा वाचा केवल एकमात्र नारायणके चरणोंमें सर्वस्व समर्पण करें। क्योंकि इस अवस्थाका एकमात्र धर्म है—शरणागति। जब इस भूमिको प्राप्त हुए, तभी इस योग्य हुए कि भगवान् स्वयं यह आश्वासन दें कि 'तुम शोक मत करो; मैं तुमको धर्माधर्म सब बन्धनोंसे, सारी परिच्छिन्नतासे मुक्त कर दूँगा। यह आशा, यह अभय अनायास लभ्य नहीं हैं। अष्टादश अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्य वचनोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनकी सहायतासे यज्ञ-दान-तप कर्मके साधनद्वारा ही लभ्य हैं।

अन्तमें प्रभुकी एक निषेधाज्ञा लेते हुए यह लेख समाप्त किया जाता है। श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको सम्पूर्ण गीता-शास्त्र सुनानेके उपरान्त यह आदेश देते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

'यह शास्त्र तुझे तपहीन, भक्तिहीन, सेवाभावहीन और मेरी निन्दा करनेवालेसे कभी नहीं कहना चाहिये।' इस श्लोकपर श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी टीका पठनीय है—

समाप्तः शास्त्रार्थः। शास्त्रसम्प्रदायविधिमधुना कथयति। इदं गीताख्यं सर्वशास्त्रार्थरहस्यं ते तव संसारविच्छित्तये मयोक्तं नातपस्काय असंयतेन्द्रियाय न वाच्यं कदाचन कस्यामप्यवस्थायामिति पर्यायत्रयेऽपि संबध्यते। तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय न वाच्यं कदाचन, तपस्विने भक्तायापि अशुश्रूषवे शुश्रूषां परिचर्यामकुर्वते च न वाच्यं कदाचन'''। न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं वासुदेवं मनुष्यमसर्वज्ञत्वादिगुणकं मत्वा अभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेनेश्वरत्वमसहमानो द्वेष्टि यः तस्मै श्रीकृष्णोत्कर्षासहिष्णवेऽतपस्विनेऽभक्तायाशुश्रूषवेऽपि न वाच्यम्। कदाचनेत्यनुकर्षणार्थश्चकारः। तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवे श्रीकृष्णानुरक्ताय च वाच्यमित्यर्थः॥

अर्थात् 'शास्त्रार्थ (प्रतिपाद्य विषय) समाप्त हुआ। अब शास्त्रकी सम्प्रदायविधि, गुरु-शिष्य-क्रम या प्रदान करनेका नियम वर्णन कर रहे हैं। इदं—यह गीता नामक सकल शास्त्रार्थका रहस्ययुक्त जो विषय है; ते—तुम्हारे निमित्त जो मुझसे कहा गया है; वह नातपस्काय—तपरहित मनुष्यके लिये वक्तव्य नहीं है; कदाचन—किसी अवस्थामें भी। (कदाचन शब्द तीनों पर्यायोंसे युक्त है)। तपस्वी होते हुए भी, अभक्ताय—जो गुरु और देवतामें भक्तिरहित है, उससे भी यह वक्तव्य नहीं है। तपस्वी और भक्त होते हुए भी अशुश्रूषवे—जो मनुष्य सेवा नहीं करता, उसे भी यह न कहा जाय। 'न च मां योऽभ्यसूयति' मां—मुझको, अर्थात् भगवान् वासुदेवको, असर्वज्ञ आदि गुणयुक्त साधारण मनुष्य मानकर जो व्यक्ति अभ्यसूयति—आत्मप्रशंसा इत्यादि दोषारोप करता हुआ मेरा ईश्वरीय भाव असहन होनेपर मुझसे विद्वेष करता है उसे अर्थात् कोई मनुष्य तपस्वी, भक्त और सेवापरायण होते हुए भी यदि वह श्रीकृष्णका उत्कर्ष न सहन कर सके, तो ऐसे व्यक्तिको यह शास्त्र कभी न कहना। तात्पर्य यह कि जो तपस्वी, भक्त, सेवापरायण और श्रीकृष्णानुरक्त हो उसीको यह कहा जाय।

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

* * *

गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णके मनोद्गार

(लेखक—महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

मेरो मन भयो अनमन, जानों कारन न,
इत-उत धाय धीर नेक नाहिँ पावै है।
ज्योंही गयो गोकुलमैं गोपिनके गेह माँहि,
नेहके सपन सब जागत सुनावै हैं।
कोऊ कहैं कान्ह कहाँ, आये कहैं कोऊ यहाँ,
जहाँ सुनो कान तहाँ गुन-गन गावै हैं।
'सिरस' बखानै ऊधो व्रज-बाल-हाल सुनो,
बहती बयारि-नारि जरतीं बतावै हैं ॥ १ ॥

शीतल-तुषार-सार, सरसिज जारतो है,
अनल-अनोखी आनै अचरज आन को।
बधिक अधिक स्वर-तान सों बजायो बेनु,
आतो मृग दौरि दुख पातो सुनि गान को।
मानी मन मानतो न, माननीय मानुष कौं,
मानस की भूल भूरि भरे अपमान को।
'सिरस' बखानैं सुख दौरि दुख ओर जातो,
देतो प्रेम प्रेमी पीर प्रीतम के प्रान को ॥ २ ॥

ऊधव, उधार खाये कैसेकै उबार होतो,
बार-बार माँगिबे पै लाज सिर नायो है।
प्रेमके पयोधि-बीची-सुधि सोधि सकै कौन,
दृग, तीर तकै नीर बिरत मनायो है।
एक ओर हौं मैं, दूजी ओर व्रज-बाल बहु,
हारिबो दिखाई देइ 'सिरस' गनायो है।
बिरह-उसास-ताप गोपिन-गुबारो उड़ो,
छाइगो अकास, मोहिं गरम जनायो है ॥ ३ ॥

पछुवा बयारि जारि देतो तन ततकाल,
रंगहू कुरंग-हाल होइबो दिखाइगो।
शीतल समीरहू मैं लूक की लपक लगै,
अंग बहु स्वेद जगै भीतर सों आइगो।
येती दूर पैहूँ ऐसी ज्वाल-जोर जानि परै,
वृन्दावन-बालनि कौं हाल कौन पाइगो।
ऊधव उदधि-ज्ञान-जल सों बुझावो आगि,
दावा सों बढ़ति जाति जग जरि जाइगो ॥ ४ ॥

व्रज-युवतीन कौं विरह-ज्वाल जोर जग्यो,
चारों ओर हाहाकार वचनों न पाइ हैं।
स्वास की उसास-त्रास पास ना परोसी बसैं,
दासी-दास-खास दवे दरद दवाइ हैं।
कलित-कदम्ब-अम्ब-कुंजन-करील हू के,
हरिल सों हरे पात मुरझात झाइ हैं।
ज्ञान-बारि बरसो जो ऊधव बलाहक ह्वै,
व्रज-बाल-वसुधाकी ताप मिटि जाइ है ॥ ५ ॥

सर-सरितानि कौं सलिल सिन्धु जाइ गिरै,
लपटैं लतानि तरु जोरि निजवक्ष कौं।
बारि-बूँद-बारिदके ऊँचेहू अकास-बास,
धरती धरत अंक सोधि प्रेम-पक्ष कौं।
कच्छप छिपाइ नीड अंडन कौं रेत बीच,
दूरिहू गये पै रच्छै ऐसो ध्यान दक्ष कौं।
गोपिनकी ज्वाला आइ जारती है मोहिं हाय,
बेधतो है बान-बेग जैसे दौरि लक्ष कौं ॥ ६ ॥

राज-काज लीन ना समाज-साजु साजौं कवौं,
आनकी अवाज कान-कोर नाहिं कीन्हो है।
'सिरस' जू योग बिनु योग-सिद्धि जागि रही,
मनकी चपलताहू चुप त्यागि दीन्हो है।
रस-वश रास-रचो हासहू उलास-खास,
संग व्रज-बालनि कौं बास चित्त चीन्हो है।
अन्तर-अनल-गर्भ-भूमि भारी भभकति,
फोरि गिरि-राह ऊपर कौं ज्वाला लीन्हो है॥ ७ ॥

विरह-वियोग-रोग लागो व्रज-युवतीन,
भूलि गईं भोग दुख-दाग दिल दागतीं।
मेरोहू हवाल इत, तरुनीन सों न कम,
गोपी-गन, मन सों भगायेहू न भागतीं।
'सिरस' सयाने-आप, सुंदरीन समुझावो,
दीन-दुखी प्रेम-पथ काहे नाहिं त्यागतीं।
मिलनो न हितकर मेरो मृगनैननि सों,
आगि मैं ही आगि मिले ज्वाला-जोर जागती॥ ८ ॥

सेवाके मार्गसे मुक्ति

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

सेवा निष्काम हो तो मुक्तिकी प्राप्ति अवश्य हो। मुक्तिके विभिन्न साधनोंमें सेवा एक श्रेष्ठ साधन है। और यह कठिन भी है। सेवा मूर्तिकी नहीं, उन परमात्माकी, जो प्राणिमात्रके भीतर-बाहर सर्वत्र पूर्णतया व्याप्त हैं। प्राणिमात्रमें रहनेवाले परमात्मा प्राणिमात्रकी सेवासे ही प्रसन्न होते हैं। मुक्तिका अर्थ है—जीवपनका नाश। 'मैं शरीर हूँ' अथवा 'मैं शरीरके भीतर रहकर पाप-पुण्य करनेवाला और सुख-दुःखको भोगनेवाला जीव हूँ'—इस भावनाके नाशका नाम मुक्ति है। 'मैं अमुक हूँ' इस भावनाका—अहंभावका नाश मुक्ति है। हम पिता होकर पुत्रको आज्ञा देते हैं, पति होकर पत्नीसे सेवा लेते हैं। यों नौकर, व्यापारी, राजा या स्त्री—कुछ-न-कुछ बनना, अपनेको कुछ-न-कुछ मानना इसीका नाम है—जीवभाव। इसीका नाम 'बन्धन' है। इनमेंसे अपनेको कुछ भी न मानना—कुछ भी न बनना, यही मुक्ति है। सेवा यदि सच्ची हो तो उसमें अहंता तो होनी ही नहीं चाहिये। मैं अमुक हूँ, यों माननेवाला सेवा नहीं कर सकता। 'मैं अमुक स्त्रीका पति हूँ' इस भावनावाला स्त्रीमें विराजमान प्रभुकी सेवा कैसे कर सकता है ?

किसी प्रकारकी भी अहंता सेवक-भावका नाश करती है। सेवाके द्वारा जिसको मुक्ति चाहिये, उसे अहंताका नाश करना, नम्र होना, सेवामें तत्पर होना, ऊँच-नीच तथा छोटे-बड़े भावका त्याग करना ही चाहिये।

'मैं सेवक हूँ,' 'मैं सेवा करता हूँ'—ऐसी भावनासे सेवाका गौरव नष्ट हो जाता है। सेवककी दृष्टि तो घट-घटवासी भगवान्पर रहती है। वह भगवान्को ही देखता है, जानता है। अपने-परायेको भूल जाता है। ऐसा सेवक जगत्को दिन-रात भगवन्मय ही देखता है। जैसे जल, वृक्ष, साधु और बादल—ये परार्थ ही जीवन धारण करते हैं। सेवा करना उनका स्वभाव ही है। सेवकको उन्हींकेजैसा होना चाहिये। ऊँच, नीच और पात्र-कुपात्र सेवक नहीं देखता। सेवाका अवसर मिलना चाहिये, उसे तो सेवा करनी है। सेवाका अर्थ है—अपने प्राप्त साधनोंका तथा अपनी शक्तिका दूसरेके हितके लिये, दूसरेकी सेवाके लिये, दूसरेके काममें आनेके लिये निष्काम भावसे उपयोग करना। जिस क्रियासे दूसरेमें रहनेवाले परमात्मा प्रसन्न हों, जिससे दूसरेका चित्त शान्त हो, उसीका नाम 'सेवा' है।

व्यभिचारी व्यभिचारकी इच्छा करता है, उसकी इच्छाको पूर्ण करना सेवा नहीं है, चोरी करनेमें चोरकी सहायता करना सेवा नहीं है।

सेवा निर्दोष है। सेवा दोषयुक्त होती ही नहीं। सेवा, वासनारहित चित्तमें प्रकाशित परमात्माकी अद्भुत प्रसादी है। सेवा मनके मोहको पूर्ण करके उसे बहलाने और मनको बहकाकर उसे अशान्त करनेके लिये नहीं है।

जिसका चित्त दुःखसे तपकर वासनामुक्त—शुद्ध हो गया है, ऐसे दीन-दुखियोंकी सेवा ही सच्ची सेवा है। जो अपने धर्ममें संलग्न हैं, जो धर्मयुक्त होकर अपने कर्तव्यके परायण हैं; जो दूसरेको सताते नहीं, उनकी सेवा ही सेवा है।

दूसरोंको सतानेवालोंकी सहायता करना सेवा नहीं है, वह तो पर-पीड़न है। खूनीकी सहायता करनेवाला खूनीकी सहायता नहीं करता, वह तो खूनमें सहायता करके खून ही करता है। इसलिये पापीके पाप-कर्ममें सहायता करना सेवा नहीं है। निर्दोषकी सेवा ही सेवा है; परंतु यदि पापी भी बीमार हो तो उसे रोगमुक्त करनेका प्रयत्न तो यथासाध्य अवश्य करना है। सेवक जिसकी सेवा करता है, उसके आगे-पीछेके बर्तावको नहीं देखता। इतना ही देखता है कि वह जो सेवा कर रहा है, वह सीधे उसके वर्तमान पापमें तो सहायता नहीं कर रही है।

सेवक त्यागी होना चाहिये। निरभिमानिता सेवकका प्रथम लक्षण है। दूसरा लक्षण है त्याग। त्यागीका अभिप्राय केवल गेरुआ वस्त्र पहननेवालेसे नहीं है। गेरुआ वस्त्र पहननेवाला हो या सफेद पहननेवाला—त्यागीका अर्थ है शुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला, परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी वशमें न होनेवाला, संग्रहमात्रका त्याग करनेवाला और जीवन-निर्वाहके लिये ही खाने तथा कपड़े पहननेवाला संयमी पुरुष।

त्याग और निरभिमानिता जिसमें जितनी ही कम है, उतना ही वह सेवक कम योग्यतावाला है और उतनी ही उसकी सेवामें कमी है। जिसमें त्याग और नम्रता न हो,

वह सेवक नहीं है। वह तो स्वामी है; सेव्य है, पर-भोगी है। सेवक तो अपने लिये दूसरेसे कभी सुखकी इच्छा करता ही नहीं। सेवा ही उसका सुख है। जो आत्मासे, परमात्मासे, सेवासे ही सुखी होता है, ऐसे सेवकको सेवाका क्षेत्र और सेवाका कार्य ढूँढ़ना नहीं पड़ता। वह जहाँ होता है, वहीं अपनी शक्ति और अपने प्राप्त साधनोंका दूसरोंके लिये उपयोग करता है। पापमात्र होते हैं—अहंतासे और त्यागके अभावसे। जिसमें ये दो नहीं हैं, वह कभी पाप कर ही नहीं सकता, न वह किसीके पाप करनेमें सहायता कर सकता है। केवल व्याख्यान देनेवाला, कथा कहनेवाला, लेख या पुस्तकें लिखनेवाला सेवक नहीं है; ऊँचे आसनपर बैठनेवाला और दूसरोंसे सेवा करानेवाला सेवक नहीं है। हाँ, वह व्याख्यान देनेवाला, कथा कहनेवाला, लेख या पुस्तक लिखनेवाला या दूसरेसे सहायता लेनेवाला भी अवश्य सेवक है—जिसमें कभी अहंता या कामना उत्पन्न नहीं होती। सेवा और अहंतामें उतना ही अन्तर है जितना उत्तर और दक्षिणमें है। सेवक आदेश नहीं करता, सेवकको स्वप्नमें भी मान-बड़ाईकी इच्छा नहीं होती। सेवकके मनमें दूसरेके प्रति तिरस्कार, द्वेष या अप्रीति कभी होती ही नहीं। सेवक कभी निकम्मा नहीं रहता, परमात्माके बिना कोई स्थान या समय हो तो सेवक निकम्मा रहे।

सेवकको निन्दा या टीका नहीं करनी है, उसे तो सेवा ही करनी है। इसीसे दूसरे धर्मोंकी अपेक्षा सेवा-धर्म बहुत ही कठिन और गहन है। 'सब तें सेवक धर्म कठोरा।'

आजकल बहुत लोग, जो सेवाको पसंद करते हैं, सेवाका स्वरूप नहीं जानते। वे सेवाका अर्थ समझते हैं—दूसरोंको उपदेश देना, लेख लिखना, कविता बनाना और गाकर सुनाना, दूसरोंके अच्छे साधनोंको अपने उपयोगमें लाना, सबपर हुकुम चलाना, अपनेको सबसे श्रेष्ठ समझना, दूसरोंको पामर, अज्ञानी और मूर्ख मानना, पराये घर अच्छा भोजन करना, आजीविकाके लिये मेहनत न करना, दूसरोंकी मेहनतपर जीना और आलोचनामय जीवन बिताना।

सच्चे सेवक भी हैं, पर बहुत थोड़े। वे जागते होते हैं। उनके हृदय निर्मल होते हैं। जरा-सा धब्बा लगते ही वे भड़क उठते हैं। जगत्के भोगोंको आगकी लपट जानकर वे उनका स्पर्शतक न करके सदा दूर ही रहते हैं। ऐसे सेवकोंकी सेवा गुप्त ही रहती है। सेवा उनका स्वभाव ही होता है। जैसे पुष्प जहाँ भी जायगा, सुगन्धि ही देगा; सूर्य जहाँ उदय होगा, प्रकाश देगा, वृक्ष जिस किसीको भी छाया देगा, नदीका जल जिस किसीको भी जल देगा; वैसे ही सेवक रात हो या दिन, समय हो या असमय, पात्र हो या अपात्र—सबको सेवा ही देगा। ऐसी सेवा पल-पलमें मुक्ति-सुखका अनुभव कराती है। सेवकका दर्जा इसीलिये सबसे ऊँचा है।

सच्चे सेवक परमात्मा हैं, वे सदा प्राणिमात्रकी सेवा करते रहते हैं। इन परमात्माको आदर्श बनाकर सेवा करनेवाला सेवक भी परमात्मस्वरूप ही हो जाता है।

सेवा मुक्तिका साक्षात् साधन है। अन्यान्य सारे साधनोंका फल है—ऐसा सच्चा सेवक बनना। सच्चा सेवक निर्मल हृदय, दयार्द्र, धैर्यवान्, उद्यमशील और कुशल होता है। उसे देखते ही दूसरोंके हृदयोंमें शान्तिका अनुभव होने लगता है। जिसका प्रसङ्ग चलते ही पल-पलमें आनन्दकी बाढ़ आने लगे, वही सच्चा सेवक है।

जिसके हृदयमें सदा शान्ति, जिसके मुखपर सदा प्रसन्नता, जिसका आधार एकमात्र भगवान् और जिसका प्राप्तव्य एक परमात्मा ही हो, वह सच्चा सेवक है। जिसका चरित्र शीशेके समान निर्मल हो, जिसका हृदय नम्र हो और जो परार्थ ही जीवन धारण करता हो, उसीका नाम सेवक है।

* * *

सेवक

नहिं ममता, नहिं कामना, नहीं संग, अभिमान।
विनय त्याग भरपूर हिय, सो सेवक मतिमान॥
सेवक सेवा छाँड़िकै, चहै न सम्पति स्वर्ग।
सेवा ही है परम फल, परम धर्म, अपवर्ग॥

तपोवन*

(लेखक—कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

[अनुवादक—श्रीधन्यकुमारजी जैन]

आधुनिक सभ्यता—लक्ष्मी जिस कमलपर विराज रही हैं, वह ईंट और लकड़ीसे बना है—वह है नगर या शहर। उन्नतिका सूर्य जैसे-जैसे मध्य-आकाशमें आ रहा है, वैसे-वैसे शहररूपी कमलके दल खिल-खिलकर क्रमशः चारों तरफ व्याप्त हुए जा रहे हैं। बेचारी वसुन्धरा इस बढ़ते हुए सुर्खी-चूनेके गारेको रोकनेमें असमर्थ हो रही है।

नगरमें ही मनुष्य विद्या सीख रहा है, विद्याका प्रयोग कर रहा है, धन कमा रहा है, धन खर्च रहा है, अपनेको हर तरफसे शक्ति और सम्प्रदायसे परिपूर्ण करनेकी कोशिश कर रहा है। इस सभ्यतामें सबसे बढ़कर जो कुछ श्रेष्ठ पदार्थ है, वह है नगरकी सामग्री।

वस्तुतः इसके सिवा और किसी तरहकी कल्पना करना कठिन है। जहाँ अनेक मनुष्योंका सम्मिलन है, वहाँ विचित्र बुद्धियोंके संघातसे चित्त जाग्रत् हो उठता है—और चारों तरफसे धक्के खा-खाकर प्रत्येककी शक्ति गतिको प्राप्त होती है। इस तरह चित्त-समुद्रका मन्थन होते रहनेसे मनुष्यका निगूढ़ सार-पदार्थ स्वतः ऊपर आकर बहने लगता है।

उसके बाद जब मनुष्यकी शक्ति जाग उठती है, तब वह स्वभावतः ऐसा क्षेत्र चाहने लगती है, जहाँ वह अपना सफल प्रयोग कर सके। वह क्षेत्र कहाँ है ? जहाँ अनेक मनुष्योंके अनेक प्रकारके उद्यम तरह-तरहके सृष्टि-कार्यमें सर्वदा ही सचेष्ट हो रहे हैं, वहीं है वह क्षेत्र—और वह है नगर।

शुरू-शुरूमें मनुष्य जब खूब भीड़ इकट्ठी करके किसी जगह शहरकी रचना कर बैठता है, तब उसकी वह रचना सभ्यताके आकर्षणसे नहीं होती। अधिकांश क्षेत्रोंमें शत्रुओंके आक्रमणोंसे आत्म-रक्षा करनेके लिये ही मनुष्योंने किसी सुरक्षित और सुविधा-जनक स्थानमें एकत्रित होकर रहनेकी आवश्यकता अनुभव की; परंतु किसी भी कारणसे हो, एक जगह बहुतोंके इकट्ठे होनेका कोई आयोजन होनेपर वहाँ तरह-तरहके आदमियोंकी आवश्यकता होती है और उनकी बुद्धि एक कलेवर-बद्ध आकार धारण करती है और वहींपर सभ्यताकी अभिव्यक्ति स्वतः होने लगती है।

परंतु भारतवर्षमें यह एक आश्चर्यजनक बात देखी गयी कि यहाँकी सभ्यताका मूल प्रस्रवण (सोता) नगरमें नहीं, वनमें है। भारतवर्षका प्रथमतम आश्चर्यकारी विकास जहाँ दिखायी देता है, वहाँ मनुष्यके साथ मनुष्य बहुत ही नजदीक सटकर बिलकुल गुट बाँधकर नहीं बैठे। वहाँ वृक्ष-लता और नदी-सरोवरोंको मनुष्यके साथ मिलकर रहनेका काफी अवकाश मिला था। वहाँ मनुष्य भी था और निर्जनता भी थी—धक्कम-धक्का नहीं था। फिर भी, उस निर्जनता या सुनसानने भारतवर्षके चित्तको जड-सा नहीं बना दिया, बल्कि उसकी चेतनाको उज्ज्वल कर दिया था। ऐसी घटना संसारमें और भी कहीं हुई है, ऐसा तो नहीं मालूम होता।

हम लोगोंने यही देखा है कि जो मनुष्य परिस्थिति-वश जंगलमें घिर जाते हैं, वे क्रमशः जंगली हो जाते हैं। या तो वे व्याघ्रकी तरह हिंसक हो जाते हैं, या फिर हरिणके समान भोले बने रहते हैं।

परंतु प्राचीन भारतवर्षमें, हम देखते हैं, अरण्यकी निर्जनताने मनुष्यकी बुद्धिको पराभूत नहीं किया, बल्कि उसे ऐसी एक शक्ति प्रदान की थी कि उस वनवाससे निकली हुई सभ्यताकी धाराने समस्त भारतवर्षको अभिषिक्त कर दिया और आजतक उसका प्रवाह बंद नहीं हुआ।

इस तरह वनवासियोंकी साधनासे भारतवर्षने सभ्यताकी जो 'प्रैति' (energy=सञ्चालन-शक्ति) प्राप्त की थी, शायद वह बाहरके संघातसे नहीं हुई—नाना प्रयोजनोंकी प्रतियोगितासे नहीं जागी; इसलिये वह शक्ति प्रधानतः बहिरभिमुखी नहीं हुई। उसने ध्यानके द्वारा विश्वकी गम्भीरतामें प्रवेश किया है—निखिलके साथ आत्माका सम्बन्ध स्थापित किया है। यही कारण है कि भारतवर्षने

---

* यह सुन्दर लेख हमें श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी महोदयने प्रकाशनार्थ भेजा है, इसके लिये उन्हें धन्यवाद !

मुख्यतः ऐश्वर्यके उपकरणोंके द्वारा ही अपनी सभ्यताका परिचय नहीं दिया । इस सभ्यताके जो कर्णधार थे, वे निर्जनवासी थे, विरल-वसन तपस्वी थे ।

समुद्र-तटने जिस जातिका पालन-पोषण किया है, उसे वाणिज्य-सम्पदा दी है । मरुभूमिने जिन्हें थोड़ा-सा दूध पिलाकर भूखा रख छोड़ा है, वे दिग्विजयी हुए हैं । इसी प्रकार एक-एक विशेष सुयोगसे मनुष्यकी शक्तिने एक-एक विशेष मार्ग प्राप्त किया है ।

समतल आर्यावर्तकी वन-भूमिने भी भारतवर्षको एक विशेष सुयोग दिया था । भारतवर्षकी बुद्धिको उसने संसारके अन्तरतम रहस्य-लोक आविष्कृत करनेके लिये प्रेरित किया था । उस महासमुद्र-तटके अनेक सुदूर द्वीप-द्वीपान्तरोंसे वह जिस सम्पदाको अपहरण कर लायी थी, समस्त मनुष्य-जातिको आये दिन उसकी आवश्यकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी । जिस ओषधि-वनस्पतिके भीतर प्रकृतिके प्राणोंकी क्रिया दिन-रात और ऋतु-ऋतुमें प्रत्यक्ष हो उठती है, और प्राणोंकी लीला तरह-तरहकी अपरूप भङ्गियों, ध्वनियों और रूप-वैचित्र्यमें निरन्तर नये-नये भावोंमें प्रकाशित होती रहती है, उसके बीचमें ध्यान-परायण चित्त लेकर जो रहा करते थे, वे अपने चारों तरफ एक आनन्दमय रहस्यका अनुभव किया करते थे । इसीलिये वे इतने सहजरूपमें कह सके थे—**'यदिदं किंच सर्वं प्राण एजति निःसृत'**—यह जो कुछ है, सभी कुछ परमप्राणसे निकलकर प्राणोंमें ही कम्पित हो रहा है । वे स्वरचित ईंट लकड़ी-लोहेके कठिन पिंजड़ेमें नहीं रहते थे—जहाँ वे रहते थे, वहाँ विश्वव्यापी विराट् जीवनके साथ उनके जीवनका अवारित योग (सम्बन्ध) था । इसी वनने उन्हें छाया दी है, फल-फूल दिये हैं, कुश-समिध (तृण और यज्ञकाष्ठ) पहुँचाया है,—उनके दैनिक समस्त कर्म, अवकाश और आवश्यकताओंके साथ इस वनके आदान-प्रदानका -जीवनमय सम्बन्ध था । इसी उपायसे अपने जीवनको चारों तरफके एक बड़े जीवनके साथ जोड़कर वे अपने जीवनका ज्ञान प्राप्त कर सके थे । चारों ओरको वे शून्य, निर्जीव और पृथक् नहीं समझते थे । इस बातको वे अपने सहज स्वाभाविक अनुभवसे स्पष्ट जानते थे कि विश्व-प्रकृतिमेंसे उन्होंने प्रकाश, हवा, अन्न-जल आदि जो कुछ भी दान ग्रहण किया है, वह दान मिट्टीका नहीं, वृक्षका नहीं, शून्य आकाशका नहीं, बल्कि एक चेतनामय अनन्त आनन्दमेंसे ही उसका मूल प्रस्रवण (उद्गम) है । इसीलिये उन्होंने निःश्वास, प्रकाश और अन्न-जल सब कुछ बड़ी श्रद्धाके साथ भक्तिपूर्वक ग्रहण किया था । इसीलिये निखिल चराचरको अपने प्राणोंद्वारा, चेतनाद्वारा, हृदयके द्वारा, ज्ञानके द्वारा, अपनी आत्माके साथ आत्मीयरूपमें एक करके प्राप्त करना ही भारतवर्षका यथार्थ पाना है ।

इसीसे हम समझ सकते हैं कि वनने भारतवर्षके चित्तको अपनी निभृत छायामें—निगूढ़ प्राणोंमें—रखकर कैसे सुन्दर ढंगसे पाला है । भारतवर्षमें जो बड़े-बड़े दो प्राचीन युग बीत चुके हैं—वैदिक युग और बौद्ध युग, इन दोनों युगोंको वनने ही धात्रीके रूपमें धारण किया है । केवल वैदिक ऋषियोंने ही नहीं, भगवान् बुद्ध और महावीर-ने भी कितने ही आम्रवनों और कितने ही वेणुवनोंमें अपने उपदेशोंकी वर्षा की है—राजप्रासादमें वे अमाये ही नहीं—वनोंने ही उन्हें अपने हृदयसे लगाया था ।

क्रमशः भारतवर्षमें राज्य, साम्राज्य और नगर-नगरियोंकी स्थापना हुई । देश-विदेशोंके साथ उसके वाणिज्यका आदान-प्रदान चला—अन्नलोलुप कृषि-क्षेत्रने धीरे-धीरे छाया-निभृत अरण्योंको दूर से दूर हटा दिया—परंतु उस प्रतापशाली ऐश्वर्यपूर्ण यौवनदृप्त भारतवर्षने वनका ऋण स्वीकार करनेमें कभी भी लज्जाका अनुभव नहीं किया । तपस्याको ही उसने अन्य समस्त प्रयासोंकी अपेक्षा अधिक सम्मान दिया है । और वनवासी प्राचीन तपस्वियोंको ही अपना आदिपुरुष मानकर भारतवर्षके राजा-महाराजाओंने भी गौरव अनुभव किया है । भारतवर्षकी पुराण-कथामें जो कुछ महत्, आश्चर्यकारी और पवित्र है, जो कुछ श्रेष्ठ और पूज्य है, सब-का-सब प्राचीन तपोवनकी स्मृतिके साथ विजड़ित है । बड़े-बड़े राजाओंके राजत्वकी कथा याद कर रखनेकी उसने कोशिश नहीं की, परंतु नाना विप्लवोंके भीतरसे गुजरते हुए भी वनकी सामग्रीको अपने प्राणोंकी सामग्री बनाकर आजतक उसे वह वहन करता आया है । मानव-इतिहासमें भारतवर्षकी यही विशेषता है ।

भारतवर्षमें विक्रमादित्य जब राजा थे, उज्जयिनी जब महानगरी थी, कालिदास जब कवि थे—तब इस देशमें तपोवनका युग चल रहा था । तब हम मानवोंके महामेलाके बीचमें खड़े थे—तब चीन, हूण, शक, ईरानी, ग्रीक, रोमन,

सब हमारे चारों तरफ भीड़ लगाये हुए थे। उस समयका दृश्य जनक-सरीखे राजाको एक ओर हल हाथमें लिये खेती करते और दूसरी ओर देश-देशान्तरसे आये हुए ज्ञानपिपासुओंको ब्रह्म-ज्ञानकी शिक्षा देते हुए देखनेका दृश्य नहीं था। परन्तु उस ऐश्वर्य-मदसे गर्वित युगमें भी उस समयके श्रेष्ठ कविने तपोवनकी कथा ऐसे सुन्दर ढंगसे कही है कि उसे देखनेसे साफ समझमें आ जाता है कि तपोवन——हमारी दृष्टिसे ओझल हो जाने पर भी——हमारे हृदयमें जमकर बैठा हुआ है।

कालिदास विशेषरूपसे भारतवर्षके ही कवि हैं, यह बात उनके तपोवनके चित्रणसे प्रमाणित हो जाती है। ऐसे परिपूर्ण आनन्दके साथ तपोवनके ध्यानको और कौन मूर्तमान् कर सका है ?

'रघुवंश' काव्यकी यवनिका ज्यों ही उद्घाटित हुई, त्यों ही सबसे पहले तपोवनका शान्त सुन्दर पवित्र दृश्य हमारी आँखोंके सामने प्रकाशमान हो उठता है।

उस तपोवनमें वनान्तरसे कुश-समिध और फल आदि संग्रह करके तपस्वी आते दिखायी देते हैं, और मानो एक अदृश्य अग्नि उनका प्रत्युद्गमन करती दिखायी देती है। वहाँ हरिण-हरिणियाँ ऋषि-पत्नियोंकी सन्तान-सी मालूम होती हैं। उन्हें नीवार धान्यका हिस्सा मिलता है, और बिना किसी संकोचके कुटीरका द्वार घेरे पड़ी रहती हैं। मुनि-कन्याएँ पेड़-पौधोंमें पानी देती हैं और पौधोंके नीचेका आलबाल (पानी देनेका घेरा या मेंड़) ज्यों ही जलसे भर आता है, त्यों ही वे हट जातीं है। पक्षी निःशङ्क होकर जल पियें, यही उनका अभिप्राय रहता है। वहाँ हम देखते हैं, सूर्य पश्चिमाकाशकी ओर बढ़ रहा है, सन्ध्या-समागम होनेके पहले ही कुटीरके प्राङ्गणमें नीवार–धान्यका ढेर लग गया है, और वहाँ हरिण-हरिणियाँ रौंथ कर रही हैं। आहुतिका सुगन्धित धुआँ पवनमें प्रवाहित होकर आश्रमोन्मुख अतिथियोंके सम्पूर्ण शरीरको पवित्र कर रहा है। तरु-लता और पशु-पक्षी सबके साथ मनुष्यके मिलनकी पूर्णता यही इसके भीतरका भाव है।

सम्पूर्ण 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटकमें, भोग-लालसासे निष्ठुर राजप्रासादको धिक्कार देता हुआ जो एक 'तपोवन' विराज रहा है, उसका भी मूल स्वर यही है, चेतन-अचेतन—सबके साथ मनुष्यके आत्मीय-सम्बन्धका माधुर्य।

'कादम्बरी' में तपोवनके वर्णनमें कवि लिखते हैं, 'वहाँ लताएँ पवनमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करती हैं, वृक्ष फूल बिखेर-बिखेरकर पूजा करते हैं, कुटीरके आँगनमें श्यामाक-धान्य सुखानेके लिये फैला दिये गये हैं; वहाँ आँवले, लवली, लवंग, कदली, बदरी आदि फल संग्रह किये गये हैं। वटुकोंके अध्ययनसे वन-भूमि मुखरित है। वाचाल शुकपक्षी लगातार सुननेसे कण्ठस्थ हुए आहुति-मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे हैं। अरण्य-कुक्कुट वैश्वदेव-बलिपिण्ड भक्षण कर रहे हैं। पासके सरोवरसे कलहंस-शिशु आ-आकर नीवार-बलि खाते और चले जाते हैं। हरिणियाँ अपने जिह्वा-पल्लवोंसे मुनि-बालकोंका लेहन कर रही हैं।'

इसकी भीतरी बात वही है, चेतन-अचेतन——सबके साथ मनुष्यके आत्मीय सम्बन्धका पवित्र माधुर्य। तरु-लता और जीव-जन्तुओंके साथ मनुष्यके विच्छेदको दूर करके तपोवन प्रकाशमान हो रहा है। यहाँ पुरानी बात ही हमारे देशमें शुरूसे चली आ रही है।

सिर्फ तपोवनके चित्रमें ही यह भाव प्रकट हुआ हो, सो बात नहीं। मनुष्यके साथ विश्व-प्रकृतिका सम्मिलन ही हमारे देशके समस्त प्रसिद्ध काव्योंमें परिस्फुटित हुआ है। जो घटनाएँ मानव-चरित्रका आश्रय लेकर व्यक्त होती रहती हैं, वे ही शायद प्रधानतः नाटककी उपादान-सामग्री होती हैं। इसीलिये अन्य देशोंके साहित्यमें हम देखते हैं कि नाटकमें विश्व-प्रकृतिका केवल आभास मात्र रक्खा जाता है, उसमें उसे अधिक स्थान देनेका अवकाश ही नहीं रहता। हमारे देशके प्राचीन नाटक जो आजतक अपनी ख्याति-रक्षा करते आये हैं, उनमें देखा जाता है कि प्रकृति भी नाटकमें अपने प्राप्य अंशसे वञ्चित नहीं हुई।

मनुष्यको घेरे हुए जो यह जगत्-प्रकृति है, यह तो अत्यन्त अन्तरङ्गभावसे मनुष्यकी सम्पूर्ण विचारधारा और समस्त कर्मोंके साथ जकड़ी हुई है। मनुष्यका लोकालय (बस्ती) केवल एकान्त रूपसे मानवमय हो जाय और उसकी संधोंमेंसे प्रकृतिको यदि किसी भी तरह प्रवेशाधिकार न मिले, तो हमारी विचारधारा और कार्य क्रमशः कलुषित और व्याधिग्रस्त होकर अपनी अथाह गन्दगीमें आत्म-हत्या करके मर मिटेंगे। यह जो प्रकृति हमारे अंदर नित्य-नियमित कार्य कर रही है, फिर भी मालूम होता है मानो वह चुपचाप खड़ी है, मानो हम ही लोग सब बड़े भारी कामके आदमी हैं और वह बेचारी महज एक शोभाकी चीज है। इस प्रकृतिको हमारे देशके कवियोंने अच्छी तरह पहचान लिया था। यह प्रकृति मनुष्यके सम्पूर्ण सुख-दुःखोंमें जो अपना

स्वर मिला रही है, उस स्वरको हमारे देशके कवि हमेशासे अपने काव्योंमें बजाते आ रहे हैं।

'ऋतु-संहार' कालिदासकी कच्ची उम्रकी रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसमें तरुण-तरुणियोंका जो मिलन-संगीत है, उसका स्वरग्राम लालसाके निम्न सप्तकसे ही शुरू हुआ है; वह 'शकुन्तला' और 'कुमारसम्भव' की तरह तपस्याके उच्चतम सप्तक तक नहीं पहुँचा।

परन्तु कविने नवयौवनकी इस लालसाको प्रकृतिके विचित्र और विराट् सुरके साथ मिलाकर मुक्त आकाशमें उसे झंकृतकर दिया है। धारा-यन्त्रसे मुखरित निदाघ-दिनान्तकी चन्द्र-किरणोंने इसमें अपना राग मिला दिया है। वर्षामें नवीन जल-सिंचनसे तापहीन शान्त वनान्तमें पवनसे हिलती हुई कदम्बकी शाखाएँ इस छन्दमें नाच रही हैं; आपक्कशालिरुचिरा शारद-लक्ष्मी अपनी हंसरव-नूपुर ध्वनिको इसके तालपर बजा रही हैं और वसन्तकी दक्षिण पवनसे चञ्चल कुसुमित आम्र-शाखाका मर्मर-गुञ्जन इसीकी तानमें विस्तीर्ण हो रहा है।

इस विराट् प्रकृतिके भीतर जिस वस्तुका जहाँ स्वाभाविक स्थान है, वहाँ उसे रखकर देखा जाय तो मालूम होगा कि उसकी अत्युग्रता बिलकुल जाती रही है; और वहाँसे हटाकर अगर उसे केवल एक मनुष्यके दायरेमें ही सीमाबद्ध संकुचित बनाकर रक्खा जाय तो वह व्याधिकी तरह अत्यन्त उत्तप्त और रक्तवर्ण दिखायी देगी। शेक्सपियरके दो-एक खण्डकाव्य हैं। उनका वर्णनीय विषय है नर-नारीकी आसक्ति। पर उन काव्योंमें आसक्ति ही एकान्त रूपसे जमकर बैठ गयी है। उसके चारों तरफ और किसीके लिये स्थान ही नहीं। न आकाश है, न हवा है, और न प्रकृतिके गीत-गन्ध, वर्ण-विचित्र विशाल आवरणसे, जो विश्वकी सम्पूर्ण लज्जाकी रक्षा किये हुए है, उसका कोई सम्बन्ध ही है। इसलिये उन काव्योंमें प्रवृत्तिकी उन्मत्तता अत्यन्त दुःसह रूपसे प्रकट हो रही है।

'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्गमें जहाँ मदनके आकस्मिक आविर्भावमें यौवन-चाञ्चल्यकी उद्दीपनाका वर्णन है, वहाँ कालिदासने उन्मत्तत्ताको एक संकीर्ण सीमामें ही सर्वमयके रूपमें दिखानेका प्रयासमात्र किया है। आतशी शीशेके भीतरसे एक विन्दुमात्रमें सूर्यकी किरणें इकट्ठी हो जानेसे वहाँ आग जल उठती है। पर वे ही किरणें जब आकाशमें सर्वत्र स्वभावतः बिखरी हुई रहती हैं, तब वे गरमी तो अवश्य पहुँचाती हैं, पर जलाती नहीं। कालिदासने वसन्त और प्रकृतिकी सर्वव्यापी यौवन-लीलाके बीचमें हर-पार्वतीके मिलन-चाञ्चल्यको निविष्ट करके उसके सम्भ्रमकी रक्षा की है।

कालिदासने पुष्प-धनुषकी डोरीको विश्व-सङ्गीतके स्वरके साथ विच्छिन्न और बेसुरा करके नहीं बजाया। उन्होंने जिस पटभूमिकापर अपना चित्र-चित्रण किया है, वह तरु-लता और पशु-पक्षियोंको लिये हुए समग्र आकाशमें अति विचित्र वर्णोंमें विस्तृत हुआ है।

केवल तृतीय सर्ग ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण 'कुमारसम्भव' काव्य ही एक विश्वव्यापी पटभूमिकापर अङ्कित है। इस काव्यकी भीतरी कथा एक गम्भीर और चिरन्तन कथा है। जो पाप-दैत्य प्रबल होकर सहसा स्वर्गलोकको न जाने किधरसे नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। उसको पराजित करने योग्य वीरता कैसे जन्म लेती है, यह एक समस्या है। यह समस्या मनुष्यकी चिरकालीन समस्या है। प्रत्येक मनुष्यके जीवनकी समस्या भी यही है; और यह सम्पूर्ण जातिमें, सारे राष्ट्रमें, नयी-नयी मूर्तियोंमें प्रकट होती रहती है।

कालिदासके समयमें भी एक समस्याने भारतवर्षमें अत्यन्त उत्कट रूप धारण किया था, यह बात कविके काव्योंके पढ़नेसे स्पष्ट मालूम हो जाती है। प्राचीनकालमें हिंदू-समाजकी जीवनयात्रामें जो एक सरलता और संयम था, उस समय वह टूट रहा था। राजा-महाराजागण उस समय अपने राजधर्मको भूलकर अपने निजी सुखमें डूबने लगे थे—भोगी हो गये थे। और इधर शकोंके आक्रमणसे भारतवर्षकी तब बार-बार दुर्गति हो रही थी। बाहरी दृष्टिसे देखनेसे भारतवर्ष उस समय भोग-विलासके उपकरण और काव्य-सङ्गीत-शिल्पकलाकी चर्चामें सभ्यताकी श्रेष्ठता प्राप्त कर रहा था। कालिदासकी काव्य-कलाके भीतर उस समयके उपकरण-बहुल सम्भोगका राग बजा ही न हो, सो बात नहीं। वस्तुतः उनके काव्यके बाहरी अंशपर तत्कालीन शिल्प-कलाका काफी प्रभाव था। इस तरह हम एक दिशामें उस जमानेके समयके साथ उस जमानेके कविका योग या सम्बन्ध स्पष्ट देख सकते हैं।

किन्तु उस प्रमोदभवनके स्वर्णजड़ित अन्तःपुरके भीतर बैठकर काव्य-लक्ष्मी वैराग्यविकल चित्तसे किसके ध्यानमें मग्न थीं ? हृदय तो उनका यहाँ नहीं था। मन तो

उनका इस आश्चर्यकारी कारु-विचित्र माणिक्य-कठिन कारागारसे बार-बार मुक्तिकी ही कामना कर रहा था ।

कालिदासके काव्योंमें बाहरके साथ भीतरका, अवस्थाके साथ आकांक्षाका एक द्वन्द्व मौजूद है । भारतवर्षमें तपस्याका जो युग उस समय बीत चुका था, ऐश्वर्यशाली राज-सिंहासनके पास बैठे हुए कवि उसी निर्मल-सुदूर कलाकी ओर एक वेदनाका भार लिये हुए देख रहे थे ।

'रघुवंश' काव्यमें कवि भारतके जिस प्राचीन सूर्यवंशी राजाओंके चरित-गानमें प्रवृत्त हुए थे, उसमें उनकी वह वेदना निगूढ़रूपसे विद्यमान है । उसका प्रमाण देखिये ।

हमारे देशके काव्योंमें परिणामको अशुभकारी रूपमें दिखानेकी प्रथा ठीक नहीं समझी जाती । वास्तवमें जिन रामचन्द्रके जीवनमें रघुका वंश उच्चतम शिखरपर पहुँचा है, वहीं काव्यकी समाप्ति होती, तभी भूमिकाके वाक्य सार्थक हो सकते थे ।

कविने भूमिकामें कहा है—'इस काव्यमें मैं, वाक्-सम्पदामें दरिद्र होनेपर भी, उन्हीं रघुराजके वंशका गुण-कीर्तन करूँगा, जो जन्मकालसे शुद्ध थे, जो फल-प्राप्तितक कार्य करते थे, समुद्रतक जिनका राज्य था और स्वर्गतक जिनका रथ-मार्ग था, यथाविधि जो अग्निमें आहुति दिया करते थे, यथाकाम जो प्रार्थियोंके अभावकी पूर्ति किया करते थे, यथापराध जो दण्ड देते थे, यथाकाल जो जाग्रत् हो जाया करते थे, त्यागके लिये जो अर्थ-सञ्चय करते थे, सत्यके जो मितभाषी थे, यशके लिये जो विजयकी इच्छा करते थे, और सन्तान-प्राप्तिके लिये जो दारा ग्रहण करते थे, शैशवमें जो विद्याभ्यास करते थे, यौवनमें जिनके विषय-सेवा थी, वार्द्धक्यमें जो मुनि-वृत्ति ग्रहण करते थे और योग साधनके बाद जिनका देह-त्याग होता था । कारण उनके गुणोंने मेरे कानोंमें प्रवेश करके मुझे चञ्चल कर दिया है ।'

परन्तु गुण-कीर्तनमें ही इस काव्यकी समाप्ति नहीं हुई । कविको किस चीजने इतना चंचल कर दिया था, यह बात रघुवंशका परिणाम देखनेसे ही समझमें आ जाती है । रघुवंशको जिनके नामसे इतना गौरव प्राप्त हुआ है, उनकी जन्म-कथा क्या है ? उनका आरम्भ कहाँ है ?

तपोवनमें दिलीप-दम्पतिकी तपस्यासे ही ऐसे राजाने जन्म लिया था । कालिदासने अपने राज-प्रभुओंके समक्ष इस बातको अपने नाना काव्योंमें नाना कौशलसे कहा है कि कठिन तपस्याके बिना कोई भी महान् फल नहीं मिल सकता । जिन रघुने उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिमके समस्त राजाओंको वीर-तेजसे पराजित करके पृथ्वीपर एकछत्र राज्य-विस्तार किया था, वे अपने माता-पिताके तप और साधनाके धन थे । फिर भरतने जो अपने वीर्य-बलसे चक्रवर्ती सम्राट् होकर भारतवर्षको अपने नामसे धन्य किया था, उनकी जन्म-घटनामें अवारित प्रवृत्तिका जो कलंक पड़ा था, कविने उसे तपस्याकी अग्निमें भस्म और दुःखके अश्रु-जलसे पूरी तरह धोये बगैर नहीं छोड़ा ।

'रघुवंश' का आरम्भ राजोचित ऐश्वर्य-गौरवके वर्णनसे नहीं हुआ । सुदक्षिणाको अपनी बायीं तरफ लिये हुए राजा दिलीपने तपोवनमें प्रवेश किया । चारों समुद्र जिनकी अनन्यशासना पृथ्वीकी खायीं थे, ऐसे राजा अविचलित निष्ठा और कठोर संयमके साथ बराबर तपोवनकी धेनुकी सेवा कर रहे थे ।

संयममें, तपस्यामें, तपोवनमें रघुवंशका आरम्भ है और मदिरामें, इन्द्रिय-भोगोंकी मत्ततामें, प्रमोद-भवनमें उसका उपसंहार । इस अन्तिम सर्गके चित्रमें वर्णनकी उज्ज्वलता काफी है; किन्तु जो अग्नि लोकालयको जलाकर भस्म कर डालती है, वह भी तो कम उज्ज्वल नहीं होती । एक पत्नीके साथ दिलीपका तपोवनमें वास, शान्त और फीके वर्णनसे अङ्कित है और बहुनायिकाओंके साथ अग्नि-वर्णका आत्मघात असंयत बाहुल्यके साथ मानो आगकी रेखामें वर्णित है ।

प्रभात जैसा शान्त और पिंगल जटाधारी ऋषि-बालकोंके समान पवित्र है, और अपना मोती-सा सौम्य उज्ज्वल प्रकाश लिये हुए शिशिरसे भीगी हुई पृथ्वीपर धीर पदोंसे अवतरण करता है और नवजीवनकी अभ्युदय वार्तासे जगत्को उद्बोधित कर देता है, कविके काव्यमें भी उसी प्रकार तपस्याद्वारा सुसमाहित राज-माहात्म्य, वैसे ही स्निग्ध तेज और संयत वाणीसे महोदयशाली रघुवंशकी सूचना की गयी है । और नाना वर्णविचित्रित मेघजालसे घिरा हुआ अपराह्न जैसे अपनी अद्भुत रश्मिच्छटासे पश्चिम आकाशको क्षणभरके लिये प्रगल्भ बना देता है और देखते-देखते भीषण क्षय आकर उसकी समस्त महिमा अपहरण कर लेता है और अन्तमें कुछ ही क्षणोंमें वाक्यहीन, कर्महीन, अचेतन अन्धकारमें सब कुछ विलुप्त हो जाता है, उसी प्रकार कविने काव्यके अन्तिम सर्गमें विचित्र भोग-आयोजनके

भीषण समारोहमें ही रघुवंश-ज्योतिष्कके बुझनेका वर्णन किया है।

काव्यके इस आरम्भ और समाप्तिमें कविके हृदयकी एक बात छिपी हुई है। वे नीरव दीर्घ-निःश्वासके साथ कहते हैं, 'क्या था और क्या हो गया।' उस प्राचीन समयमें जब कि सामने अभ्युदय था, तब तपस्या ही थी सबसे बढ़कर प्रधान ऐश्वर्य और आज जब कि सामने दीख रहा है विनाश, तब विलासके उपकरणोंके ढेरोंका अन्त नहीं और भोगकी अतृप्त अग्नि सहस्र शिखाओंमें प्रज्वलित हो-होकर अपने चारों ओरकी आँखोंको झुलसाये दे रही है!

कालिदासके अधिकांश काव्योंमें यह द्वन्द्व स्पष्ट दिखायी देता है। इस द्वन्द्वका समाधान कहाँ है, 'कुमारसम्भव' काव्यमें यही दिखाया गया है। कविने इस काव्यमें कहा है, त्यागके साथ ऐश्वर्यका और तपस्याके साथ प्रेमका मेल होनेमें ही शौर्यका उद्भव है। उस शौर्यसे ही मनुष्य सब प्रकारके पराभवोंसे उद्धार पाता है। अर्थात् त्याग और भोगके सामंजस्यमें ही पूर्ण शक्ति है। त्यागी शिव जब अकेले समाधिमग्न थे, तब भी स्वर्गराज्य असहाय था, और फिर सती जब अपने पिताके घर ऐश्वर्यमें अकेली आबद्ध थी, तब भी दैत्यका उपद्रव प्रबल था।

प्रवृत्ति ज्यों ही प्रबल हो उठती है, त्याग और भोगका सामञ्जस्य उसी समय टूट जाता है।

किसी एक संकीर्ण स्थानमें जब हम अहंकार या वासनाको गाढ़ा कर लेते हैं, तब हम 'समग्र' की हानि करके उसके अंशको बड़ा बनानेकी कोशिश करते हैं। इससे अमङ्गल होता है। अंशके प्रति आसक्ति होनेके कारण 'समग्र'के विरुद्ध विद्रोह होना, यही पाप है।

इसलिये त्यागकी आवश्यकता है। यह त्याग अपनेको रीता कर डालनेके लिये नहीं, बल्कि अपनेको पूर्ण करनेके लिये ही है। त्यागके माने हैं आंशिकका त्याग समग्रके लिये, क्षणिकका त्याग नित्यके लिये, अहंकारका त्याग प्रेमके लिये, सुखका त्याग आनन्दके लिये। इसीलिये उपनिषद्में कहा गया है—**'त्यक्तेन भुंजीथाः'** त्यागके द्वारा भोग करना, आसक्तिके द्वारा नहीं।

पहले पार्वतीने मदनकी सहायतासे शिवको चाहा था, वह चेष्टा व्यर्थ हुई। अन्तमें त्यागकी सहायतासे तपस्याके द्वारा ही उन्हें प्राप्त किया।

काम ठहरा केवल अंशके प्रति ही आसक्त, समग्रके प्रति वह अन्धा है, किन्तु शिव है सकल देश और सकल कालका। कामना त्यागे बिना उसके साथ मिलन हो ही नहीं सकता।

'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'—त्यागके द्वारा ही भोग करना, यही उपनिषद्का अनुशासन है, यही 'कुमारसम्भव' काव्यकी सार-कथा है और यही हमारे 'तपोवन' की साधना है—प्राप्त करनेके लिये त्याग करना।

Sacrifice और resignation, आत्म-त्याग और दुःख स्वीकार—इन दो बातोंका माहात्म्य-वर्णन हम किसी-किसी धर्मशास्त्रमें विशेषरूपसे पाते हैं। जगत्के सृष्टिकार्यमें उत्ताप जैसे एक मुख्य चीज है, मनुष्यके जीवन-गठनमें दुःख भी उसी प्रकार एक जबरदस्त रासायनिक शक्ति है। इसके द्वारा चित्तका दुर्भेद्य काठिन्य गल जाता है, और असाध्य-हृदयकी गाँठ खुल जाती है। इसलिये संसारमें जो दुःखको सुख-रूपमें ही नम्रभावसे स्वीकार कर सकते हैं, वे ही यथार्थ तपस्वी हैं।

परन्तु इससे कोई यह न समझ लें कि इस दुःख-स्वीकारको ही उपनिषद्ने अपना लक्ष्य बनाया है। त्यागको दुःखके रूपमें अङ्गीकार कर लेना नहीं; बल्कि त्यागको भोगके रूपमें ही वरण कर लेना उपनिषद्का अनुशासन है। उपनिषद्ने जिस त्यागकी बात कही है, उस त्यागमें ही पूरा-पूरा ग्रहण है। वह त्याग ही गम्भीरतर आनन्द है, वह त्याग ही निखिलके साथ योग है और भूमाके साथ मिलन है। इसलिये भारतवर्षका जो आदर्श तपोवन है, वह तपोवन शरीरके विरुद्ध आत्माका, संसारके विरुद्ध संन्यासका निरन्तर मल्ल-युद्ध करनेका कोई मल्लक्षेत्र नहीं है। **'यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** अर्थात् 'जो कुछ है, सबके साथ त्यागके द्वारा बाधाहीन मिलन' यही है तपोवनकी साधना। इसीलिये तरु-लता और पशु-पक्षियोंके साथ भारतवर्षके आत्मीय-सम्बन्धका योग ऐसा घनिष्ट है कि अन्य देशके लोगोंके लिये वह अद्भुत मालूम होता है। और यही कारण है कि हमारे देशके कवित्वमें जो प्रकृति-प्रेमका परिचय मिलता है, दूसरे देशके काव्योंके देखे मानो उसकी एक विशिष्टता है। यह हमारा प्राकृतिक प्रभुत्व करना नहीं, प्रकृतिका भोग करना नहीं, बल्कि प्रकृतिके साथ सम्मिलन है।

और साथ ही, यह सम्मिलन वन-वासियोंकी बर्बरता नहीं है । तपोवन यदि अफ्रीकाका जङ्गल होता तो कहा जा सकता था कि प्रकृतिके साथ मिलकर रहना एक तामसिकतामात्र है । परन्तु मनुष्यका चित्त जहाँ साधनाके द्वारा जाग्रत् है, वहाँका मिलन केवल एक अभ्यासके जडत्वसे नहीं हो सकता । संस्कारकी बाधा नष्ट हो जानेपर जो मिलन स्वाभाविक हो उठता है, तपोवनका मिलन वही मिलन है ।

हमारे सभी कवियोंने कहा है—तपोवन शान्त-रसका आधार है । तपोवनका जो एक विशेष रस है, वह है शान्तरस । शान्तरस परिपूर्णताका रस है । जैसे सात वर्णरश्मियोंके एक साथ मिल जानेपर उसका रङ्ग सफेद हो जाता है, उसी तरह चित्तका प्रवाह नाना भागोंमें विभक्त न होकर जब अविच्छिन्नरूपसे निखिलके साथ अपने सामञ्जस्यको एकदम गलेतक भर देता है, तभी शान्तरसका उद्भव होता है । तपोवनमें वही शान्तरस है । वायु, जल, स्थल, आकाश, तरु-लता, मृग, पक्षी सभीके साथ चेतनाका एक परिपूर्ण योग है । यहाँ चारों ओरके किसीके साथ भी मनुष्यका विच्छेद नहीं है, विरोध नहीं है ।

भारतवर्षके तपोवनमें यह जो एक शान्तरसका संगीत-सुर बाँधा गया था, उस संगीतके आदर्शसे ही हमारे देशमें अनेक मिश्र राग-रागिनियोंकी सृष्टि हुई है । इसीलिये हमारे काव्यमें मानवीय घटनाओंके बीच प्रकृतिको इतना बड़ा स्थान दिया गया है । यह केवल इसीलिये कि सम्पूर्णताके लिये हमारे भीतर जो एक स्वाभाविक आकांक्षा है, उस आकांक्षाकी पूर्ति हो ।

'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटकमें जो दो तपोवन हैं, उन दोनोंने शकुन्तलाके सुख-दुःखको एक विशालतामें सम्पूर्ण-कर दिया है । उसका एक तपोवन पृथ्वीपर है और दूसरा स्वर्गलोककी सीमामें । एक तपोवनमें सहकारके साथ नव-मल्लिकाके मिलनोत्सवमें नवयौवना ऋषिकन्याएँ पुलकित हो-हो उठती हैं, मातृहीन मृगशिशुओंको वे नीवार खिला-खिलाकर उनका पालन-पोषण कर रही हैं; कुशकी फाँससे उनका मुँह छिद जानेपर इंगुदी-तेल लगाकर उनकी सेवा कर रही हैं । इस तपोवनने दुष्यन्त-शकुन्तलाके प्रेमको सरल-सुन्दर और स्वाभाविक बनाकर उसे विश्व-स्वरके साथ मिला लिया है ।

और, संध्या-मेघके समान किम्पुरुष पर्वतपर जो हेमकूट है, वहाँ सुरासुरोंके गुरु मरीचि अपनी पत्नीके साथ मिलकर तपस्या कर रहे हैं, लताजाल-जड़ित जो हेमकूट है वह पक्षि-नीड़ोंसे शोभित अरण्य-जटामण्डलको वहन करता हुआ योगासनमें अचल शिवके समान सूर्यकी ओर दृष्टि किये ध्यान-मग्न है; वहाँ केसर (अयाल) पकड़कर सिंह-शिशुको उसकी माताके स्तनसे छुड़ाकर जब उपद्रवी तपस्वि-बालक उसके साथ खेलने लगता है, तब पशुका वह दुःख ऋषि-पत्नीके लिये असह्य हो उठता है । उसी तपोवनने शकुन्तलाके अपमानित विच्छेद-दुःखको अति विशाल शान्ति और पवित्रता दान की थी ।

यह बात माननी ही पड़ेगी कि पहला तपोवन मर्त्यलोकका था और दूसरा अमृतलोकका । अर्थात् पहला है जैसा हुआ करता है और दूसरा है जैसा होना चाहिये । इस 'जैसा होना चाहिये' की ओर 'जैसा हुआ करता है' चल रहा है । उसीकी ओर देखता हुआ वह अपना शोधन कर रहा है, अपनेको पूर्ण बना रहा है । 'जैसा-हुआ-करता है' ठहरा सती अर्थात् सत्य, और जैसा होना चाहिये है शिव अर्थात् मंगल । कामनाका क्षय करके तपस्याके भीतरसे सती और शिवका मिलन हुआ है । शकुन्तलाके जीवनमें भी 'जैसा हुआ करता है' ने तपस्याके द्वारा अन्तमें 'जैसा-होना-चाहिये' में आकर अपनेको सफल कर डाला है । दुःखके भीतरसे मर्त्य अन्तमें जाकर स्वर्गके प्रान्ततक पहुँच गया है ।

मानस-लोकका यह जो दूसरा तपोवन है, वहाँ भी मनुष्य प्रकृतिको त्यागकर स्वतन्त्र नहीं हुआ । स्वर्ग जाते समय युधिष्ठिर अपने कुत्तेको साथ ले गये थे । प्राचीन भारतके काव्योंमें हम देखते हैं कि मनुष्य जब स्वर्ग जाता है तो प्रकृतिको अपने साथ लेता जाता है, विच्छिन्न होकर स्वयं बड़ा नहीं बन जाता । मरीचिके तपोवनमें मनुष्य जैसा तपस्वी है, हेमकूट भी वैसा ही तपस्वी है; सिंह भी वहाँ हिंसा त्याग देता है, पेड़-पौधे भी वहाँ इच्छापूर्वक प्रार्थियोंके अभावकी पूर्ति करते रहते हैं । मनुष्य अकेला पूर्ण नहीं, बल्कि निखिलको लेकर ही वह पूर्ण है; इसलिये कल्याण जब आविर्भूत होता है तो सबके साथ योगसे ही उसका आविर्भाव होता है ।

(शेष आगे)

यज्ञका महत्त्व

(लेखक—याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

'यज्' धातुसे 'यज याच यत विच्छ प्रच्छ रक्षो नङ्' (३ । ३ । ९०) इस पाणिनीय सूत्रसे 'नङ्' प्रत्यय करनेपर 'यज्ञ' शब्द बनता है ।

'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इस पाणिनीय स्मृतिके अनुसार 'यज्' धातुका देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान इन तीन अर्थोंमें प्रयोग किया गया है । अर्थात् यज्ञमें देवपूजा होती है, देवतुल्य ऋषि-महर्षियोंका सङ्गतिकरण होता है और दान भी होता है ।

अब हम कतिपय शब्दोंमें 'यज्ञ' शब्दका निर्वचन करते हैं । यथा—

(१) येन सदनुष्ठानेन इन्द्रप्रभृतयो देवाः सुप्रसन्नाः सुवृष्टिं कुर्युस्तद् यज्ञपदाभिधेयम् ।

(२) येन सदनुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम् ।

(३) येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्णं विश्वं कल्याणं भजेत् तद् यज्ञपदाभिधेयम् ।

(४) येन सदनुष्ठानेन आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकतापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम् ।

(५) यागाङ्गसमूहस्य एकफलसाधनाय अपूर्ववान् कर्मविशेषो यागः ।

(६) मन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानं यागः ।

'जिस सदनुष्ठानद्वारा इन्द्रादि देवगण प्रसन्न होकर सुवृष्टि प्रदान करें उसे यज्ञ कहते हैं । जिस सदनुष्ठानद्वारा स्वर्गादिकी प्राप्ति सुलभ हो उसे यज्ञ कहते हैं । जिस सदनुष्ठानद्वारा संसारका कल्याण हो उसे यज्ञ कहते हैं । जिस सदनुष्ठानद्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों उसे यज्ञ कहते हैं । यागाङ्ग-समूहके एकफलसाधनार्थ अपूर्वसे युक्त कर्म-विशेषको यज्ञ कहते हैं । वैदिक मन्त्रोंके द्वारा देवताओंको उद्देश्य करके किये हुए द्रव्यके दानको यज्ञ कहते हैं ।' (यह संक्षिप्तार्थ है) ।

मत्स्यपुराणमें यज्ञका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा ।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते ॥

'जिस कर्म-विशेषमें देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विज और दक्षिणा—इन पाँचोंका संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं ।'

यज्ञके दो भेद होते हैं—एक यज्ञ और दूसरा महायज्ञ । जो अपने ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याणके लिये पुत्रेष्टियाग और विष्णुयागादि करते हैं, उन्हें 'यज्ञ' कहते हैं । और जो विश्वकल्याणार्थ 'पञ्चमहायज्ञ' आदि करते हैं उन्हें 'महायज्ञ' कहते हैं । यज्ञ और महायज्ञके स्वरूप तथा इसकी विशेषताका वर्णन महर्षि भारद्वाजने इस प्रकार किया है—

'यज्ञः कर्मसु कौशलम्' 'समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः ।'

'कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'यज्ञ' कहते हैं । पश्चात् समष्टि-सम्बन्ध होनेसे उसीको 'महायज्ञ' कहते हैं ।'

इसी बातको महर्षि अङ्गिराने भी कहा है—

'यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात् ।'

'व्यष्टि-समष्टि सम्बन्धसे यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं ।'

यज्ञका फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण है, उसका व्यष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें स्वार्थकी प्रधानता आ जाती है । (यही इसकी न्यूनता है) ।

महायज्ञका फल जगत्‌का कल्याण है, उसका समष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें निःस्वार्थताकी प्रधानता आ जाती है । (यही इसकी विशेषता है) ।

प्रधानतया यज्ञ दो प्रकारके होते हैं—श्रौत और स्मार्त्त । श्रुतिप्रतिपादित यज्ञोंको * श्रौतयज्ञ और स्मृतिप्रतिपादित यज्ञोंको स्मार्त्तयज्ञ कहते हैं । श्रौतयज्ञमें केवल श्रुतिप्रतिपादित मन्त्रोंका प्रयोग होता है और स्मार्त्तयज्ञमें वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रोंका प्रयोग होता है ।

---

* श्रौतयज्ञोंका विशदरूपमें परिचय प्राप्त करनेके लिये देखिये—स्व० म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौडकी रचित 'कात्यायन-श्रौतसूत्रभूमिका' ।

वेदोंमें अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन मिलता है, किंतु उनमें निम्नलिखित पाँच प्रकारके ही यज्ञ प्रधान माने गये हैं—

'स एष यज्ञः पञ्चविधः—अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः इति । (ऐतरेय ब्राह्मण)

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम—ये पाँच प्रकारके यज्ञ कहे गये हैं । इन्हीं पाँच प्रकारके यज्ञोंमें श्रुतिप्रतिपादित वैदिक यज्ञोंकी समाप्ति हो जाती है।

गौतमधर्मसूत्रमें यज्ञोंका उल्लेख निम्नलिखित है—

'औपासनहोमः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासिकश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः । अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः । अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः ।' (८ । १८)

गौतमधर्मसूत्रकारने पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ भेदसे तीन प्रकारके यज्ञोंका भेद दिखलाकर प्रत्येकके सात-सात भेद दिखला करके २१ प्रकारके यज्ञोंका उल्लेख किया है । इसमें स्मार्त्त सात पाकयज्ञ संस्थाओंका उल्लेख गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रोंमें मिलता है । अग्निहोत्रसे लेकर सोमसंस्थान्त १४ यज्ञोंका उल्लेख कात्यायनादि श्रौतसूत्रमें मिलता है ।

वर्तमान समयमें श्रौतयज्ञोंका प्रचार नहींके बराबर है । गृह्यसूत्रोक्त पाकयज्ञोंका प्रचार किसी-न-किसी रूपमें अवश्य प्रचलित है ।

उपर्युक्त १४ वैदिक यज्ञ तथा ७ पाकयज्ञके अतिरिक्त गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रोंमें पञ्चमहायज्ञोंका* भी उल्लेख किया गया है, जो कि नित्यकर्म और आवश्यक अनुष्ठेय माने गये हैं ।

उपर्युक्त सभी प्रकारके यज्ञ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारके कहे गये हैं । जो यज्ञ निष्कामभावसे किया जाता है उसे 'सात्त्विक[१] यज्ञ' कहते हैं। जो यज्ञ सकाम अर्थात् किसी फल-विशेषकी इच्छासे किया जाता है उसे 'राजसिक[२] यज्ञ' कहते हैं । जो यज्ञ शास्त्रोंके विरुद्ध किया जाता है उसे 'तामसिक[३] यज्ञ' कहते हैं। इनमें 'सात्त्विक यज्ञ' का अनुष्ठान सर्वोत्तम कहा गया है। अतः यज्ञका मुख्य उद्देश्य सात्त्विकताको लेकर ही होना चाहिये । शास्त्रोंमें सात्त्विक यज्ञका महान् फल लिखा है।

श्रौत-स्मार्त्तादि सभी प्रकारके यज्ञोंमें कुछ यज्ञ नित्य, कुछ नैमित्तिक और कुछ काम्य होते हैं । उनमें नैमित्तिक और काम्य यज्ञ करनेके लिये तो द्विज स्वतन्त्र है अर्थात् वह अपनी श्रद्धा-भक्ति तथा आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल यज्ञ करे अथवा न करे, किंतु नित्ययज्ञ तो करना ही होगा। उस नित्ययज्ञका नाम 'पञ्चमहायज्ञ' है । पञ्चमहायज्ञके न करनेसे मनुष्य †पञ्चसूनाजन्य दोषोंसे छुटकारा कथमपि नहीं प्राप्त कर सकता। अतः 'पञ्चसूना' दोषोंसे छुटकारा पानेके लिये 'पञ्चमहायज्ञ' का अनुष्ठान परमावश्यक और नित्य कर्तव्य है । यह पञ्चमहायज्ञ अन्य यागोंकी तरह न तो अधिक द्रव्यसाध्य है और न अधिक समयसाध्य ही है।

---

* ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ इन्हें 'पञ्चमहायज्ञ' कहते हैं । (मनु० ३ । ७०) इन पञ्चमहायज्ञोंका विस्तृत वर्णन हमने कल्याणके 'साधनाङ्क' में किया है । अतः विशेष जिज्ञासुओंको कल्याणका 'साधनाङ्क' पढ़ना चाहिये ।

[१] अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥
(गीता १७ । ११)

[२] अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥
(गीता १७ । १२)

[३] विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥
(गीता १७ । १३)

† पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु बाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
(मनुस्मृति ३ । ६८, ६९)

'प्रत्येक गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और जलका पात्र—ये पाँच हिंसाके स्थान हैं । इनको काममें लानेवाला गृहस्थ पापसे बँधता है । इनसे मुक्त होनेके लिये महर्षियोंने पञ्चमहायज्ञ प्रतिदिन करनेके लिये कहे हैं ।'

हिंदू-जातिका प्रधान धर्मग्रन्थ वेद है। वेदोंमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन तीन विषयोंका मुख्यतः वर्णन मिलता है, किंतु इन तीनोंमें प्रधान स्थान 'कर्मकाण्ड' को ही प्राप्त है। इसीलिये वेदोंमें यज्ञ-यागादि विविध क्रिया-कलापका विशेषरूपमें वर्णन मिलता है। अतः यज्ञ ही वेदोंका मुख्य विषय है। वेदोंका मुख्य विषय यज्ञ होनेके कारण ही यज्ञोंमें वेद-मन्त्रोंका प्रयोग (उचारण) किया जाता है। वेद-मन्त्रोंके बिना यज्ञ नहीं हो सकते और यज्ञोंके बिना वेद-मन्त्रोंका ठीक-ठीक सदुपयोग नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि वेद हैं तो यज्ञ हैं और यज्ञ हैं तो वेद हैं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२ । १७४) के 'वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' इस वचनसे तथा भगवान् मनुके 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम्' (१ । २३) इस वाक्यसे स्पष्ट सिद्ध है कि वेदोंका प्रादुर्भाव यज्ञोंके लिये ही हुआ है।

जिस प्रकार वेद अत्यन्त दुरूह हैं, उसी प्रकार वेदाङ्गभूत यज्ञ भी अत्यन्त दुरूह हैं। जिस प्रकार वेदमें उपास्य देवता हैं, उसी प्रकार यज्ञमें भी उपास्य देवता हैं। जिस प्रकार वेद अपौरुषेय, नित्य और अनादि हैं उसी प्रकार यज्ञ भी अपौरुषेय, नित्य और अनादि हैं। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्र 'अग्निमीडे पुरोहितम्' में 'यज्ञ' पद आया है, अतः सिद्ध होता है कि वेदसे भी प्राचीन 'यज्ञ' है।

अब हम अनेक ऋषि-महर्षियोंके उन वचनोंको उद्धृत करते हैं, जिनसे यज्ञके महत्त्वका सुन्दररूपसे परिचय हो सकेगा।

यज्ञेन हि देवा दिवङ्गता यज्ञेनासुरानपानुदन्तः, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ॥

(नारायणोपनिषद्)

'यज्ञसे ही देवताओंने स्वर्गको प्राप्त किया और असुरोंको परास्त किया। यज्ञसे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। यज्ञमें सब प्रकारके गुण हैं। अतः श्रेष्ठजन यज्ञको श्रेष्ठकर्म कहते हैं।'

ॐ अयंत इध्म आत्मा जातवेदस्तेन इध्यस्व वर्धस्व च इद्धय वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन अन्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ (आश्वलायन गृ० सू० १ । १० । १२)

'हे अग्ने! तुम प्रज्वलित होकर हमको प्रज्वलित करो। तुम बढ़ो और हमको भी बढ़ाओ। प्रजया अर्थात् सन्तानसे, पशुओंसे, आत्मज्ञानसे तथा अन्नसे, यज्ञसे इन चारों पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।'

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

(गीता ३ । १४)

'समस्त प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है और वर्षा यज्ञसे होती है तथा वह यज्ञ कर्मसे होता है।'

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

(मनुस्मृति ३ । ७६)

'अग्निमें विधि-विधानपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है, पश्चात् उससे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है।'

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः ॥
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ॥
तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।

(भागवत ४ । १४ । १८–२०)

'जिस राजाके राष्ट्र अथवा नगरमें वर्णाश्रमधर्मियोंके द्वारा यज्ञपुरुष भगवान्‌का यजन होता है उसपर भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो कि अप्राप्य हो।'

यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः।
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याणहेतवः ॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, ३ । १२४)

'यज्ञसे देवताओंका आप्यायन (वर्द्धन) अथवा पोषण होता है, यज्ञद्वारा वृष्टि होनेसे मनुष्योंका पालन-पोषण होता है। इस प्रकार प्रायः जगत्‌का पालन-पोषण करनेके कारण यज्ञ कल्याणके हेतु कहे जाते हैं।'

यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः।
आप्यायन्ते तु धर्मज्ञ यज्ञाः कल्याणहेतवः ॥

(विष्णुपुराण ६ । १ । ८)

'हे धर्मज्ञ! यज्ञसे देवताओंका आप्यायन (वर्द्धन) अथवा पोषण होता है, यज्ञद्वारा वृष्टि होनेसे मनुष्योंका पालन-पोषण होता है। इस प्रकार प्रायः जगत्‌का पालन-पोषण करनेके कारण यज्ञ कल्याणके हेतु कहे जाते हैं।'

यज्ञेषु देवास्तुष्यन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यज्ञेन ध्रियते पृथ्वी यज्ञस्तारयति प्रजाः ॥

अन्नेन भूता जीवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
पर्जन्यो जायते यज्ञात्सर्वं यज्ञमयं ततः ॥

(कालिकापुराण ३२ । ७-८)

'यज्ञोंसे देवता सन्तुष्ट होते हैं, यज्ञ ही समस्त चराचर जगत्का प्रतिष्ठापक है । यज्ञ पृथ्वीको धारण किये हुए है । यज्ञ ही प्रजाको पापोंसे बचाता है । अन्नसे प्राणी जीवित रहते हैं, वह अन्न बादलोंद्वारा उत्पन्न होता है और बादलकी उत्पत्ति यज्ञसे होती है । अतः यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है ।'

यज्ञाद्देवाः प्रजाश्चैव यज्ञादन्ननियोगिनः ।
सर्वं यज्ञात्सदा भावि सर्वं यज्ञमयं जगत् ॥

(कालिकापुराण ३१ । ४०)

'यज्ञसे देवगण, यज्ञसे समस्त प्रजा, यज्ञसे समस्त अन्नोपजीवी प्राणी और यज्ञपर ही सम्पूर्ण भविष्य सदैव निर्भर रहता है । इस तरह समस्त जगत् ही यज्ञमय है ।'

देवाः सन्तोषिता यज्ञैर्लोकान् संवर्धयन्त्युत ।
उभयोर्लोकयोर्देवि भूतिर्यज्ञैः प्रदृश्यते ॥
तस्माद्यज्ञाद्दिवं याति पूर्वजैः सह मोदते ।
नास्ति यज्ञसमं दानं नास्ति यज्ञसमो विधिः ।
सर्वधर्मसमुद्देशो देवि यज्ञे समाहितः ॥

(महाभारत)

'यज्ञोंसे सन्तुष्ट होनेपर देवगण लोकाभ्युदयकी कामना करते हैं, साथ ही यज्ञोंद्वारा दोनों लोकोंका कल्याण सम्पन्न होता है । यज्ञसे प्राणीके लिये विशेष फल यह होता है कि वह स्वर्गलोकका भागी बनता है और वहाँपर अपने पूर्वजोंके साथ आनन्द करता है । संसारमें यज्ञके समान कोई दान नहीं और यज्ञके समान कोई विधि-विधान नहीं है । यज्ञसे ही समस्त धर्मोंका उद्देश्य सिद्ध होता है यह बात सुस्पष्ट है ।'

यज्ञेन देवा विमला विभान्ति
यज्ञेन देवा अमृतत्वमाप्नुयुः ।
यज्ञेन पापैर्बहुभिर्विमुक्तः
प्राप्नोति लोकान् परमस्य विष्णोः ॥

(महर्षि हारीत)

'यज्ञसे समस्त लोक निर्मलता एवं सुन्दरताको प्राप्त करते हैं । यज्ञसे देवगण अमरत्वको प्राप्त करते हैं । यज्ञके द्वारा अनेक तरहके पापोंका प्रक्षालन कर प्राणी भगवान् विष्णुके परम वैष्णव धामकी प्राप्ति करते हैं ।'

'यज्ञादिभिर्देवाः शक्तिसुखादीनाम् ।'

(महर्षि अङ्गिरा)

'यज्ञादि करनेसे देवगण सन्तुष्ट होते हैं, उनकी सन्तुष्टतासे मनुष्य शक्ति और सुखादिकी प्राप्ति करता है ।'

तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें—

यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः । (अथर्ववेद ९ । १० । १४)
यज्ञैश्च देवानाप्नोति । (मत्स्यपुराण १४३ । ३३)
यज्ञैश्च देवानाप्नोति । (अग्निपुराण ३८० । १)
यज्ञभागभुजो देवाः । (मत्स्यपुराण २४६ । १४)
यज्ञभागभुजः सर्वे । (दुर्गा १२ । ३४)
यज्ञोऽयं सर्वकामधुक् । (पद्मपुराण)
यज्ञोऽयं सर्वकामधुक् । (विष्णुपुराण)
यज्ञाः पृथिवीं धारयन्ति । (अथर्ववेद)

उपर्युक्त यज्ञके महत्त्वको प्रकट करनेवाले अनेक प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध है कि यज्ञका फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं है, अपि तु पारलौकिक भी है । अतः जिस यज्ञानुष्ठानके प्रभावसे जीवकी क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदि विविध उपद्रवोंका विनाश होता है और वह परमात्माके साथ एकताको प्राप्त होता है, उस यज्ञका महत्त्व सर्वमान्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

भक्तके चेरे

(लेखक—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

ध्रुवकी ध्रुवतामें प्रतीति भई, मन प्रीति छई करुनाकर केरे ।
पदमासन औ कमलासन त्यागि, चले प्रनतारत प्रेमके प्रेरे ॥
तन सूंघत प्रेम पगे उर ल्याय, बिकाय बिलोकत साखि निबेरे ।
आजु लखौ चलि साज नयो, भगवान भयो चहैं भक्तके चेरे ॥

संस्कृतके पण्डित और अंग्रेजीके विद्वान्

(समन्वयकी आवश्यकता)

(लेखक---आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

प्रश्न यह है कि हिंदुस्थानकी छत्तीस करोड़ प्रजाको एक सूत्रमें बाँधनेके लिये हिंदुत्वके अतिरिक्त अन्य कोई साधन अथवा सूत्र होने चाहिये या नहीं ? इनमें चार कोटि मुसल्मान और एक कोटि ईसाइयोंको छोड़ दिया जाय तो शेष इकतीस करोड़ हिंदू प्रजाको, जो हिंदुत्वके नाते एक हैं, एकत्वमें बाँधे रखना राष्ट्रदृष्टिसे हितकर ही होगा या नहीं ? पर यह तभी हो सकता है, जब कि समाज-सुधारकी दृष्टि रखनेवाले लोग समाज-सुधार करते समय राष्ट्रियत्वका ध्यान रखते रहें । प्रायः यह इतना बड़ा हिंदू-समाज प्राचीन धर्म, रीति-नीति-संस्कृतिके परम कट्टर उपासक पण्डित शास्त्रियों और संन्यासियोंके हाथोंमें ही है और उनके आदेश, निदेश, अनुशासन तथा अनन्त कालकी उन-उन सुदृढ परम्पराओंके अनुसार चलता आया है । दूसरी ओर अंग्रेजी राज्यके समयमें अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षामें लालित, पालित, पोषित, परिवर्द्धित एवं डेढ़ सौ वर्षोंतक उनके अनुशासनमें अनुप्राणित अंग्रेजी विद्वानोंकी परम्परा है । और ऐसे ही लोगोंके हाथोंमें राज्य-सूत्र आ गये हैं । ये लोग समाज-सुधार करते समय प्राचीन पण्डित-शास्त्रियोंकी भावनाओंका ध्यान नहीं रखते और इनको साथ लिये बिना ही स्वेच्छानुसार एकदम सुधार करना चाहते हैं । दूसरी ओर पुराना पण्डितसमाज इन सुधारकोंको तिरस्कारकी दृष्टिसे ही देखता रहता है । इनको नयी परिस्थिति समझमें नहीं आती और अंग्रेजी विद्वानोंमें इनसे हेल-मेल बढ़ाकर, इनसे संपर्क रखकर काम करनेकी युक्ति तथा बुद्धि नहीं होती । केवल यह सुधार हो, वह सुधार हो——ऐसी बड़-बड़ करनेमें और नये कानूनोंके बनवानेमें ही ये प्रयत्नशील रहते हैं । इस प्रकार प्राचीन-नवीनका मेल बैठाना अत्यन्त कठिन कार्य हो गया है । नये अंग्रेजीके विद्वान् जनताको अपनी ओर खींचते हैं और प्राचीन विद्वान् अपनी ओर । इस प्रकार हिंदुओंके इतने बड़े समाजमें खींचातानी और ऐंचातानी चल रही है । प्राचीन पण्डित-समाजके साथ प्राचीन धर्म-शास्त्र, दर्शन, संस्कृति-परम्पराका बल है और नवीन अंग्रेजी शिक्षित समाजके साथ केवल नवीन ढंगके स्वराज्य स्वशासनका बल है और उनके हाथोंमें शासनसूत्रोंके होनेसे वे बलपूर्वक ही समाजमें अपने ढंगके सुधार लाना, करना, अथवा करवाना चाहते हैं । अब कैसे मेल बैठे ? नये ढंगके स्वराज्यमें, स्वशासनमें शासनचक्र किसी विशेष धर्माधिष्ठानपर आश्रित नहीं रहेगा और न है । किन्तु फिर यह प्रश्न होता है कि इनको धार्मिक क्षेत्रमें हस्तक्षेप करनेका कहाँ अधिकार है, पर ये हस्तक्षेप करते हैं अथवा हस्तक्षेप करनेकी चेष्टा करते हैं । अतः यह इनकी सर्वथा अनधिकार चेष्टा ही है । और क्या कहा जाय ।

फिर प्रश्न यह उठता है कि यदि शासनसूत्र हस्तक्षेप न करे तो भीतरी अपेक्षित सुधार कैसे होगा ? क्या इतने बड़े समाजको, यह जिस रूपमें चल रहा है, चलने दिया जाय ? क्या इसमें प्रचलित अनेक श्रेष्ठ सदाचारोंके साथ-साथ मिश्रित रूपमें बहते हुए अनेक अनाचार अथवा कदाचारोंको ऐसे ही चलने दिया जाय ? क्या उनमें देशकालानुसार अपेक्षित सुधार न किये जायँ ? इसका सरल उत्तर यह है कि सुधार होने चाहिये, पर इसके लिये समाज-प्रवर्तक आचार्यों, धर्माचार्यों, प्राचीन पण्डितों और शास्त्रियोंके सम्मुख देशकी समग्र स्थिति रखकर उन्हींसे अनुरोध किया जाय कि वर्तमान परिस्थितियोंमें, समाजमें इन-इन सुधारोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है । इसलिये वे धर्मकी मुख्य परम्पराओंको सुरक्षित रखकर ऐसी व्यवस्थाएँ दें जिससे इतने बड़े समाजका भीतरी सुधार होकर जाति तथा राष्ट्रमें बलसञ्चार हो सके ।

ऐसा कोई समन्वय हुए बिना प्राचीन धर्म-परम्पराओं तथा नव्य शासनप्रणालीका मेल नहीं बैठेगा और अशान्ति तथा कलह बढ़ते ही रहेंगे । मुख्य बात यह है कि नव्यशासन-सूत्रधारी नव्य विचारोंके लोग धर्मकी बातोंमें हस्तक्षेप न करें । उन सब परम्पराओंकी बातोंको बैलगाड़ीकी उपमा देकर अपने-आपको वायुयानके उपासक समझ स्वेच्छानुसार बर्तना भी कदापि उचित नहीं है । जब प्राचीन धर्म और प्राचीन संस्कृतिके उपासक धर्म और संस्कृतिके उद्धारकी बातें करते हैं, तब ये नये ढंगके लोग उनको बैलगाड़ीके सवार कहकर उपहास किया करते हैं । नये वायुयानोंकी सभ्यता किस विनाश-पथपर चल रही है, इसको देखकर तो यही कहना पड़ेगा कि बैलगाड़ीकी सभ्यता

चाहे कितनी ही धीमी चल रही है, श्रेष्ठ है । चाहे उस कालवश कितनी ही त्रुटियोंका क्यों न संचार हुआ हो । जिस बैलगाड़ीके साथ संसारके सर्वश्रेष्ठ, आदिसत्य सनातन चक्षु वेद हैं, शास्त्र हैं, दर्शन हैं, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहास हैं, उसका अनुचित उपहास अथवा परिहास क्यों ? बैलगाड़ी जहाँ काम देती है, वहाँ वायुयान कौड़ीकामके सिद्ध होते हैं । वायुयानका जहाँ काम है, वहाँ रहे । जितना उसका महत्त्व है, रहे । हमारे प्राचीन पुरुष सब प्रकारके यानोंसे काम लेते रहे। उनके बैलगाड़ी, रथ आदि तो थे ही; पर उनके वायुयान भी तो थे—जिनपर बैठकर देवगण आकाश-संचार करते थे, ऊपरसे युद्ध देखते थे, विजयी दलपर ऊपरसे पुष्प-वृष्टि किया करते थे । उनके शस्त्रास्त्र भी थे। सब कुछ था; किंतु वे उनका दुरुपयोग कभी नहीं करते थे । और हम पूछते हैं कि आजकलके सभ्य-ब्रुव विज्ञानवादियोंकी सभ्यता क्या कर रही है ? थोड़ा-सा नाममात्र भौतिक सुख पहुँचा रही है तो अधिकतर उसका रुख महती विनष्टिकी ओर ही है ।

जिसको बैलगाड़ीकी सभ्यता कहकर उपहास किया जाता है, उस बैलगाड़ीकी सभ्यतामें अब भी, उसको कोई ठीक-ठीक चलने दे, अथवा उसके अनुयायियोंमें ही त्याग-तपस्या-द्वारा इतना तेज आ जाय कि वह संसारको अपनी ओर खींच सके तो अब भी इसमें वह शक्ति है जिससे वह संसारको सुख-शान्तिधाम बना सकती है । आर्यजाति सहस्रों वर्षोंकी परचक्र, परदास्य, पराधीनताकी संकट-परम्पराओंमेंसे बच सकी, इसका कारण वह बैलगाड़ीकी सभ्यता ही तो है । दूसरी ओर इन नयोंके वायुयानोंकी सभ्यताको देखिये । इनका लोभ, इनका स्वार्थ, इनकी साम्राज्यलालसा, इनकी परस्पर-जिघांसा, इनका भोगवाद, इनका भौतिकवाद, इनका अनीश्वरवाद—ये सब संसारको नरक बनानेपर तुले हुए हैं ! यदि इनके विज्ञानरूपी घोड़े धर्मरूपी गाड़ीसे सम्बद्ध नहीं रहेंगे तो ये घोड़े संसारको विनाशकी ओर ले ही जायँगे, निःसन्देह । छलनी भी सूपको हँसती है और अपने सैकड़ों छिद्रोंको नहीं देखती । हमारी बैलगाड़ीकी सभ्यता संसारको बतलाती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥

संसारमें आकर यदि सत्य स्वरूप परमात्मतत्त्वको न समझकर केवल भोगोंके पीछे दौड़ोगे तो महती विनष्टि है ही । भोगपूर्वक त्याग चले न कि भोगोंमें ही नष्ट हों ।

इसलिये अंग्रेजीगंधी विद्वान् प्राचीनगन्धी विद्वानोंका उपहास करना छोड़कर उनकी भावनाओंका समादर करें । और प्राचीनगन्धी विद्वान् भी समयकी परिस्थितिको समझनेकी चेष्टा करें एवं अपने धर्म और संस्कृतिके विपरीत जो बातें हों, उनको छोड़कर, अन्य बातोंमें देश, राष्ट्र और शासनचक्रके सहायक रहें । नये ढंगके शासकवर्ग शासनसूत्रके बलपर, बहुमतके बलपर प्राचीनताभिमानियोंके साथ धींगामुश्ती, जोर-जबरदस्ती न करें । आज अंग्रेजी पढ़े-लिखोंका यह हाल है कि जरा धर्मका नाम सुनते ही ये नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं । जिनको अंग्रेजी नहीं आती, ऐसे लोगोंके साथ बैठने, उनसे मिलने, बातचीत करनेमें ये अपनी हतक समझते हैं । ऐसे लोग अपने समाजका सुधार कैसे कर सकते हैं । वस्तुतः ऐसे लोग देश तथा राष्ट्रोद्धारकी बातें क्यों करते हैं ?

स्व० लोकमान्य तिलकने एक बार 'केसरीमें' लिखा था—

'अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंमें यही एक कमी है, ऐसे लोग क्या तो समाज-सुधार करेंगे और क्या ही देशकार्य करेंगे। धर्मकी रक्षाके लिये कष्ट सहना अथवा तदर्थ प्राण देना—इन बातोंका धर्म-श्रद्धामें अन्तर्भाव होता है । ईसाईलोग अंग्रेजी-विद्यामें पारंगत होते हुए भी किसान, मजदूर, माली आदि छोटे-छोटे लोगोंसे मिलने, उनसे हेलमेल बढ़ाकर धर्मप्रचार करनेमें नहीं हिचकिचाते । हमारे सुधारक लोगोंमें ऐसे लोग कहाँ देखनेको मिलते हैं ? उलटा ऐसा करनेमें वे अपनी हतक समझते हैं । अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंमें यह जो कमी है, वह उनकी शिक्षा-दीक्षाका ही प्रभाव है । जनताकी उन्नतिके लिये उनमें मिलकर रहना, स्वार्थ-त्यागपूर्वक सतत चेष्टा करना और स्वधर्मपर निष्ठा रखकर वैसी बुद्धि बनाये रखना—ये बातें अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंमें कहाँ हैं । यह उनका दोष नहीं, यह तो उनकी शिक्षाका ही दोष है । परन्तु इनमें इस प्रकारकी जनतासे अलग रहनेकी और अज्ञानसे अपने-आपको उनसे बड़ा समझते रहनेकी मनोवृत्ति जबतक बनी रहेगी, तबतक सच्चा सुधार असम्भव है । ये लोग पुराने पण्डितों, शास्त्रियोंको भला-बुरा कहते हैं, उनकी खिल्ली उड़ाते रहते हैं सही; पर शास्त्रिवर्ग भी तो इनको ऐसा ही समझता है । इस प्रकार दोनों ओर जो कानापन आ गया है, उसको ठीक करना, यह सबसे प्रथम सुधार होना चाहिये, जब अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अपने इस दृष्टिदोषको दूर करेंगे तभी वे सुधार कर सकेंगे, अन्यथा नहीं ।'

बात सोलह आने सच्च है । यदि लोकमान्य तिलकके

समयमें यह लागू होती थी तो अब भी लागू होती है।

ये लोग जिन पण्डितों, शास्त्रिजनोंका उपहास करते रहते हैं, उन्हीं पण्डितोंने अपनी कुल-परम्परासे अबतक जिस किसी प्रकारसे वेद, दर्शन, इतिहास-पुराणादिको जीवित रक्खा; जिससे विपरीत समयमें भी हिंदूजाति किसी प्रकार श्वास-प्रश्वास लेती रही है। कितनी अनुपम धर्मनिष्ठा है! इसकी उपमा संसारमें कहीं नहीं मिलेगी। अंग्रेजोंके समयमें धर्मबन्धन शिथिल हो जानेके कारण यह परम्परा ढीली-सी होती जा रही है। पेटका प्रश्न धर्मानुसार न रहकर धर्मका साथ छोड़ रहा है और ऐसा विकराल बन गया है कि धर्मनिष्ठा पीछे-ही-पीछे हटती जा रही है और येनकेन प्रकारेण उदरदरीकी पूर्तिकी चिन्ता ही सबको मारे डाल रही है। इसीलिये पण्डितोंके लड़के भी धर्मग्रन्थोंकी रक्षाके प्रश्नको मध्यमार्गमें छोड़कर अर्थके पीछे पड़ गये हैं तो भी पण्डितोंके यहाँ अब भी वैदिक साहित्यके अवशेष मिलेंगे ही। इसलिये अंग्रेजी पढ़े-लिखोंको इन पण्डितोंका उपहास करनेमें लज्जित ही होना चाहिये। और जिस अंग्रेजी राज्यशासन; शिक्षा-दीक्षाके बलपर इतना उपहास होता था, वह राज्य भी अब तो चला गया। यद्यपि उस राज्यकी छाया और माया अब भी शेष है तो भी वह दिन समीप आ रहा है, जब कि जो कुछ शेष है, वह भी निःशेष हो जायगा। फिर समझमें नहीं आ रहा है कि ये लोग अपने स्वरूपको भूलकर अपने ही भाइयोंका क्यों तिरस्कार करते रहते हैं।

अंग्रेजी पढ़े-लिखोंमें अनेक ऐसे हैं जो प्राचीन धर्म या संस्कृतिकी शतमुखसे प्रशंसा करते रहते हैं। पर साथ ही यह भी उपदेश देते रहते हैं कि हमारे धर्ममें—संस्कृतिमें जो भी उच्चतम नैतिक सिद्धान्त हैं, उनको ही लेना चाहिये; न कि सड़ी-गली सभी वस्तुओंको। हिंदूधर्मकी अत्यधिक प्रशंसा सुननेसे वे घबराते हैं और कहते हैं कि यह जातिवाद अनर्थक है, इससे भारतको हानि पहुँचेगी। जिस प्राचीन धर्म-संस्कृतिकी पुकार मचायी जाती है, उस धर्म और संस्कृतिका पुनरुत्थान देखना उनकी समझमें एक व्यर्थ स्वप्न-सा ही है। वे समझते हैं कि ऐसी प्राचीनताके दिन सदाके लिये गये। अब कभी नहीं लौटेंगे।

ईश्वरकी कृपा हुई कि लोकमान्य तिलक; महात्मा गान्धी-जैसे नेता भारतीयोंके सामने भारतीय संस्कृतिके प्रतीकके रूपमें आये और महात्मा गान्धीने तो भारतीय संस्कृतिके प्रथम दो उच्च तत्त्व 'सत्य' और 'अहिंसा'को भारतीय राजनैतिक आन्दोलनमें प्रमुख स्थान दिया और उसीका आश्रय लेकर अंग्रेजोंको विवश किया कि वे भारतको छोड़ जायँ।

यदि कांग्रेसको कोरे विलायती ढंगके राजनैतिक नेता मिलते तो न जाने आज क्या विपरीत रूप देखनेको मिलता। भारतीय धर्म और संस्कृतिके उच्च तत्त्वको सब मानेंगे; किंतु यही कहते जायँगे कि भारतीय वर्तमान शासन निधर्मी रहेगा। मतलब यह कि राज-काजमें किसी भी धर्मका विशिष्ट अधिष्ठान नहीं रहेगा, अस्तु!

इस प्रकार हिंदूसमाजमें दो भेद प्राचीन और अर्वाचीनको लेकर चल पड़े हैं और इसका समन्वय अत्यन्त आवश्यक है कि प्राचीनतामें कितनी नवीनताका समावेश होना चाहिये और प्राचीनताका कौन-कौन-सा अंश ग्राह्य है और कौन-कौन-सा अग्राह्य है। नवीनमें भी कितना किस अंशमें ग्राह्य है, कितना नहीं। इसपर विचार होना चाहिये। यह बात स्पष्ट है कि यह नवीन पद्धतिका शासनचक्र हमारे धर्म और संस्कृतिका सीधे सहायक, रक्षक अथवा पोषक नहीं हो सकेगा। यदि यह शासनचक्र सीधे हमारी पुष्टि करेगा तो उसको अन्य धर्मोंको भी सहायता करनी पड़ेगी—यह शासनचक्र तो अधिकतर देशकी स्वतन्त्रताकी रक्षाका ध्यान रक्खेगा। यह ध्यान रक्खेगा कि प्राप्त हुई स्वतन्त्रता चिरकाल नहीं, तो अधिक-से-अधिक समयतक तो सुरक्षित रह सके।

जब यह दशा है तो स्वधर्म तथा स्वसंस्कृतिकी रक्षा कौन करेगा? वही प्राचीनताभिमानी पण्डित-शास्त्रि-समाज या और कोई? यवनकालमें भी यह भार इन्हींपर रहा। अंग्रेजोंके कालमें भी यह भार इन्हींपर रहा—और अब स्वराज्य कालमें भी इस बातका उत्तरदायित्व इन्हींपर है; क्योंकि अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वान् कभी इस धर्म और संस्कृतिकी रक्षा करेंगे, ऐसी आशा करना दुराशामात्र है। जिनको जिस बातका गन्धतक नहीं, उनसे उस बातकी रक्षाकी आशा करना नितान्त मूर्खता होगी!

इतनी बड़ी विवेचनाका अर्थ यही है कि ब्राह्मणोंको पुनः त्याग-तपस्याका मार्ग लेना पड़ेगा। तब हमारे धर्म और संस्कृतिकी परम्पराकी यथार्थ रक्षा हो सकेगी—इस वर्गके आगे हुए बिना कुछ न हो सकेगा।

यही मार्ग क्यों ?
और इन्हींपर भार क्यों ?

इसलिये कि ये ही राष्ट्रपुरोहित रहे हैं और वेदोंके शब्दोंमें जबतक पुनः—

राष्ट्रे वयं 'जागृयाम' पुरोहिताः स्वाहा ।

(अथर्ववेद)

'हम राष्ट्रके पुरोहित हैं और राष्ट्र-कल्याण-निमित्त जाग रहे हैं'—ऐसी गर्जना नहीं करेंगे, तबतक हमारा उद्धार कहाँ ?

देश अथवा धर्मपर जब सङ्कट आ पड़ते हैं, देशका शासन भ्रष्ट हो जाता है, प्रजा मर्यादाको छोड़कर विच्छृङ्खल हो जाती है, धर्म-कर्मोंका विलोप होने लगता है, तब ये ही राष्ट्रपुरोहित देव राष्ट्रमें ओज, तेज, बल आदिके सञ्चारार्थ तप और त्यागका आश्रय लेते हैं । यही अथर्ववेदमें बतलाया गया है—तभी राष्ट्रका कल्याण होता है ।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः
तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

(अथर्ववेद)

क्या देखते नहीं कि राजनैतिक कार्यमें भी लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी आदिको तप और त्यागका आश्रय लेना पड़ा, तब भारत तेजस्वी बन सका । जब धर्मके एक अङ्ग—राजनीतिकी प्राप्तिमें इतना त्याग करना पड़ा, इतना तप तपना पड़ा, तब सम्पूर्ण धर्मकी रक्षाके लिये कितनी त्याग-तपस्याकी आवश्यकता पड़ेगी—इसपर जरा विचार कीजिये ।

जबतक एक वर्ग अन्य सब बातोंको छोड़कर इसी त्याग-तपस्याके मार्गको अपनाकर अग्रसर नहीं बनता, तबतक तेजस्वी, ओजस्वी, बलशाली भारतीय राष्ट्रकी कल्पना ही सर्वथा असङ्गत है । चाहे कोई वर्ग क्यों न हो, जो भी वर्ग इस कार्यके लिये आगे बढ़ेगा, भारतवर्ष उसीका ऋणी होगा । यदि अत्यन्त प्राचीन कालसे जिसका यह पवित्र कार्य रहा है, वही इस कार्यको सँभाले तो और अच्छा । फिर एक बात और है—भारतवर्ष तो सदैव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्तको मानता चला है । उसने यह जो संकुचित केवल नये ढंगकी राष्ट्रियता सीखी है, वह अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा-शासनका ही प्रभाव है । समस्त संसारके कल्याणके साधनके लिये भी भारतका ओजस्वी, तेजस्वी एक राष्ट्र होना अत्यावश्यक है । पाश्चात्त्य देश और राष्ट्र संकुचित राष्ट्रियता एवं धर्मशून्य विज्ञानके दुष्परिणामोंको भुगत रहे हैं । भारतवर्ष इस प्रकारकी संकुचित राष्ट्रियता तथा धर्मशून्य विज्ञानके दुष्परिणामोंसे बचकर फिर एक बार संसारका गुरु बनकर संसारको चरित्र-शिक्षा देना चाहता है । भारतवर्षके ठीक हुए बिना संसारकी गति-विधि सुधर नहीं सकती । ईश्वर करे वह दिन शीघ्र देखनेको मिले जब भारत ओजस्वी, तेजस्वी राष्ट्र बनकर संसारको यथार्थ मार्ग दिखला सके । तथास्तु, एवमस्तु, परेशो मङ्गलं विभावयतु—

हिंदूधर्म अथवा आर्यधर्म क्या है ?

हमारा धर्म तो एक सुवर्णकी बड़ी खान है । सुवर्णके कणोंके साथ अन्य मृत्तिका आदि धातुएँ मिली रहती हैं । बुद्धिमान्—खनिज पदार्थोंके विशारद युक्तिसे सुवर्णको पृथक् कर लेते हैं । वह खनिजशास्त्री मूर्ख ही होगा अथवा माना जायगा जो मृत्तिका आदिके कण लग रहे हैं, इसलिये सुवर्णको ही फेंक देता है । ऐसे ही हमारे धर्मकी अनन्त परम्परामें देशकालकी परिस्थितिके कारण अन्य अनेक अनपेक्षित और कोई-कोई विपरीत दिखलायी देनेवाले तत्त्व भी आ मिले हैं । इन सबका पृथक्करण, कहीं-कहीं समन्वय अपेक्षित है । यह कार्य विद्वान् पण्डित संन्यासी महात्माओंके उदार बने बिना निष्पन्न न हो सकेगा । लेखककी यही धारणा है । समयकी गतिविधि देखकर जो भी इस कार्यको सम्पन्न करेंगे, वे ही धन्य, वे ही मान्य और वे ही अग्रगण्य होंगे ।

* * *

ज्ञानी

स्तुति-निन्दा, सुख-दुःख सब, मान और अपमान ।
इनमें जो नित सम रहे, सो ज्ञानी मतिमान ॥

शोकसे मुक्ति

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री)

प्रायः सभी मनुष्य शोकसे दुःख पाते हैं। प्रिय-वियोग-जनित दुःखको शोक कहते हैं। माता, पिता, पत्नी, पुत्र आदि प्रियजनकी मृत्युसे, धन-सम्पत्तिके नाशसे, यहाँतक कि मुकद्दमा हार जानेसे भी शोक होता है। सभी चाहते हैं कि हमें शोक न हो। साधारण विचारसे ही हम शोकसे मुक्त हो सकते हैं। वह विचार कैसा है, नीचे दिखाया जाता है।

स्थूल रूपसे सृष्टिको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक ईश्वरकी सृष्टि और दूसरी जीवकी सृष्टि। ईश्वरने पाँच भूत बनाये तो मनुष्योंने उनमेंसे मिट्टी, जल, अग्नि आदिके द्वारा ईंटें बनाकर मकान बनवा लिया, जो उसके सुखका साधन हुआ, ईश्वरने अन्न उत्पन्न किया तो मनुष्योंने उसे अपना भोग्य बनाया, ईश्वरने जमीन बनायी तो मनुष्योंने उसमेंसे कुछ अंशको अपने भोगका साधन बनाया। ईश्वर-सृष्ट धातु, मिट्टी, बाँस आदिसे रुपये-पैसे और नोट बनवाकर मनुष्योंने उन्हें सुखका साधन बनाया। ईश्वरने माता-पितासे एक कन्या उत्पन्न की * तो माता-पिता कन्यारूपसे, भाई भगिनीरूपसे, विवाह हुआ तो पति पत्नी-रूपसे, पुत्र मातारूपसे उसके द्वारा सुख प्राप्त करने लगे। संक्षेपसे, संसारकी सारी वस्तुएँ ईश्वरकी बनायी हुई हैं। जीवने उनमें भोग्यत्व आरोप किया अर्थात् उनसे अपने सुख-दुःखभोगका सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। ईश्वरका बनाया हुआ संसार मनुष्यके शोक या बन्धनका कारण नहीं है। बल्कि मनुष्य उसके साथ जो सम्बन्ध जोड़ता है, उसीके कारण उसे शोक होता है।

एक मणिको पड़े देखकर उसे पानेके लिये दो आदमी झपटे। जिसे मिली वह प्रसन्न हुआ; जिसे न मिली उसके मनमें क्रोध उत्पन्न हुआ और एक विरक्त पुरुषको, जो पासमें खड़े थे, उस मणिपर उपेक्षा हुई। ईश्वर-सृष्ट मणि एक ही है; परंतु तीन मनुष्योंने उसे तीन प्रकारसे देखा—प्रिय, अप्रिय और उपेक्ष्य *।

इसी प्रकार ईश्वर-सृष्ट एक ही स्त्री-शरीरको कोई कन्या-रूपसे, कोई भगिनीरूपसे, कोई पत्नीरूपसे, कोई माता-रूपसे और कोई पुत्र-वधूरूपसे देखता है। विभिन्न व्यक्तियोंने अपने-अपने मनमें उस स्त्रीकी विभिन्न रूपसे कल्पना कर ली है। अथवा यों कहिये कि उन लोगोंने विभिन्न रूपसे अपने-अपने मनमें उस स्त्रीकी छाप ले ली है। उस छापकी गहराईके अनुसार उस स्त्रीका वियोग होनेपर उन विभिन्न व्यक्तियोंके शोकमें तारतम्य होगा; पुत्र और पतिको शोक बहुत अधिक होगा, माता-पिता और ससुरको उससे कम, भाईको और भी कम और पड़ोसियोंको शोक कुछ भी नहीं होगा। क्योंकि उन्होंने उस स्त्रीसे कोई ममत्व-सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं था या उन्होंने उसकी कोई भी छाप अपने मनमें नहीं ली थी। ईश्वर-सृष्ट स्त्री-शरीर ही यदि शोकका कारण होता तो उसकी मृत्युसे सभीको एक-सा शोक होता। वास्तवमें अपने-अपने मनके विभिन्न प्रकारकी छापका अभाव हो जानेके कारण ही शोकमें तारतम्य होता है।

किसीका पुत्र बचपनमें ही दूर देशमें चला गया। पिताको ज्ञात नहीं रहा कि वह जीवित है या मर गया है। बीसों वर्षोंके बाद वह अपने पिताके पास लौट आया, पर उसने अपना परिचय नहीं दिया। पिताने भी उसे नहीं पहचाना और अतिथि समझकर घरमें रख लिया। उसी दिन वह पुत्र, ईश्वर न करें, हैजे आदि किसी रोगसे ग्रसित होकर मर जाय तो उससे पिताको पुत्र-शोक नहीं होगा; वह किसी पड़ोसीके पुत्रके वियोगके समान मौखिक दुःखमात्र प्रकट करेगा। ईश्वर-सृष्ट पुत्रके वियोगसे यदि शोक होनेका नियम होता तो उस पिताको पूरा पुत्र-शोक होना चाहिये था; क्योंकि वही उसका वास्तविक पुत्र था। ऐसा नहीं हुआ, इसका कारण यही है कि पुत्रके सामने न रहनेसे पिताके मनमें

---

* माता-पिता सन्तानके उत्पादक नहीं हैं; क्योंकि वे अपनी इच्छासे पुत्र या कन्या उत्पन्न नहीं कर सकते, सन्तानका एक नाखून, हड्डीका एक टुकड़ा या खूनकी एक बूँद भी वे नहीं बना सकते, तो कैसे वे जनक हुए ? वे निमित्तमात्र हैं। मनुष्य ईश्वरकी सृष्टि है।

* प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥
(पञ्चदशी)

उसकी कोई छाप ही नहीं पड़ी थी। उसके मनमें पुत्रका स्थान खाली था, इससे उसके मर जानेपर पिताके मनमें कोई नया अभाव उत्पन्न नहीं हुआ, इस कारण शोक भी नहीं हुआ।

दूसरी ओर पुत्र उत्पन्न हुआ और बीसों वर्षोंतक पिताके सामने प्रतिपालित हुआ, जन्मसे ही पिताने उसे अपना पुत्र करके मान लिया, प्रतिदिन 'मेरा पुत्र', 'मेरा पुत्र' कहकर पिता अपने मनमें उसकी छाप लेता गया। अनेक वर्षोंमें वह छाप बहुत गहरी हो गयी। अब यदि उसके पुत्रका देहान्त हो जाय तो उसके साथ-ही-साथ पिताके मनकी वह छाप या पुत्रकी छाया एकदम मिट जायगी या यों कहिये कि उसका मनोमय पुत्र मर जायगा, इस कारण शोकसे अधीर होकर वह रोने लगेगा। अतः मनुष्यकी अपनी सृष्टि ही उसके शोकका कारण है, न कि ईश्वरकी सृष्टि।

एक दूसरे दृष्टान्तसे यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। पुत्र दूर देशमें चला गया, वहाँ वह सकुशल पढ़ रहा है, या नौकरी कर रहा है। परंतु किसी प्रवञ्चकने पिताको दुःख देनेके लिये तार दिया कि तुम्हारे पुत्रका देहान्त हो गया है। यह समाचार सुनते ही पिताके मनमें पुत्रकी जो छाप थी वह मिट गयी और वह पुत्र-शोकसे विलाप करने लगा *। वास्तवमें ईश्वर-सृष्ट उसका पुत्र विदेशमें मरा नहीं है, जीवित है, वह तारका समाचार केवल प्रवञ्चककी प्रतारणामात्र है। दूसरी ओर यदि उसके पुत्रकी मृत्यु विदेशमें हो गयी हो और उसका समाचार पिताको नहीं मालूम हो तो उसे शोक नहीं होता, वह हँसता है, खेलता है, मित्रोंसे हँसी-दिल्लगी भी करता है †। इसका कारण यह है कि पिताके मनमें पुत्रकी छाप या मनोमय पुत्र विद्यमान है। इसलिये मनुष्यका मनोमय संसार ही उसके बन्धन या दुःखका कारण है ‡।

एक मिस्त्री मजदूरी लेकर दूसरोंके लिये अनेक मकान बनाता है। कालान्तरमें उनमेंसे कोई मकान गिर जाय तो मिस्त्रीको उससे शोक नहीं होता; क्योंकि उन मकानोंसे उसने अपना ममत्व-सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं था, जिससे उनकी कोई छाप ही उसके मनमें नहीं पड़ी थी, जिसका अभाव हो जानेपर शोक हुआ करता है। शोक तो उसको होगा जिसने अपनेको मकानका मालिक समझा था, जिसने मकान बनाते समय रुपये देना शुरू किया था और मकान बननेके साथ-साथ अपने मनमें उसकी छाप लेना शुरू किया था, आज 'मेरे मकान' की नींव खुद गयी, आज 'मेरा मकान' एक-मंजिला बन गया, आज 'मेरे मकान' की दूसरी मंजिल बन गयी इत्यादि। मकान तुम्हारा कैसे? माता-पिताको यदि दावा हो कि पुत्र हमारा है तो मिस्त्री भी कह सकता है कि मकान मेरा है, क्योंकि ईंटोंपर ईंटें रखकर उसीने मकान बनाया था। अथवा मकान-मालिकसे यह पूछा जाय कि मकान बनानेमें जो मिट्टी, लकड़ी, लोहा आदि सामान लगे हैं, उन्हें तुमने कहाँसे पाया? मिट्टीके एक टुकड़ेको तुम बना सकते हो? उत्तर 'नहीं' ही मिलेगा। लकड़ी वृक्षसे ही बनी है, लोहा आदि धातु मिट्टीसे उत्पन्न है। सभी ईश्वरकी सृष्टि है। उन्हें अपना समझना अज्ञान है। तुमने रुपये जरूर लगाये हैं, जिनसे मकान बनानेके सामान खरीदे हैं, परंतु रुपया क्या चीज है? वह धातुका हो या कागजका सभी मिट्टीका ही विकार है। तुमने उस मिट्टीको अपने मनमें दस-बीस हजार रुपयेके रूपमें मान रक्खा है। कोई उसे छीन ले जाय या एक जंगली मनुष्य, जिसे उसके मूल्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है, उसे नष्ट कर डाले तो तुम्हारे मनके हजारों रुपये गायब हो जायँगे और तुम शोक करने लग जाओगे।

घरमें पला हुआ सुग्गा मर जाय तो लोग शोक करते हैं, परंतु चूहेके मरनेसे शोक नहीं करते। इसका कारण यही है कि सुग्गेको लोग प्रिय समझते हैं और चूहेको अप्रिय *। ठीक इसी प्रकार पत्नी, पुत्र, मकान आदिको लोग प्रिय समझते हैं और उनका अभाव होनेपर शोक करते हैं। परंतु वही पत्नी व्यभिचारिणी हो जाय या पुत्र कुलाङ्गार निकले, जिससे अपने जीवनका ही भय होने लगे जाय तो उस पत्नी या पुत्रका जीना ही अखरता है, उनकी मृत्युसे ही पति या पिता प्रसन्न होता है। ईश्वर-सृष्ट पत्नी या पुत्रके वियोगसे अगर शोक होनेका नियम होता तो उनके निधनसे पति या पिताको प्रसन्नता न होकर शोक

---

* दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत् पिता।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥
(पञ्चदशी)

† मृतेऽपि तस्मिन् वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।

‡ अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृत् मानसं जगत् ॥

* ममेति मूलं दुःखस्य निर्ममेति च निर्वृतिः।
शुकस्य विगमे दुःखं न दुःखं गृहमूषिके ॥
(विष्णुपुराण)

होना चाहिये था; परंतु यहाँ शोक नहीं होता । इसका कारण यही है कि पति या पिताके मनमें अपनी प्यारी पत्नी या प्यारे पुत्रकी जो छाप या फोटो थी, उन लोगोंके बर्तावोंसे उसका रूप बदलता गया, प्रिय अब अप्रिय हो गया है। शोक प्रिय-वियोगसे होता है, अप्रिय-वियोगसे नहीं, अतः उन लोगोंके निधनसे पति या पिताके मनमें उनकी अप्रिय छापके अभावसे शोक न होकर प्रसन्नता होती है। इस दृष्टान्तसे भी यही सिद्धान्त निकलता है कि ईश्वरकी सृष्टि हमारे शोकका कारण नहीं है, हमारा मनोमय संसार ही हमारे शोकका कारण है *।

पूर्व-पूर्व जन्मोंमें हमारे पुत्र-परिवार थे। जीवित रहते समय उनसे हमें बड़ा प्रेम-सम्बन्ध था। अब इस जीवनमें उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस जन्ममें जिन पुत्र-पौत्रोंको हम बहुत प्रिय समझते हैं, उन्हें छोड़कर इस दुनियासे चल देना होगा। फिर नये जन्ममें नये ही पुत्र-परिजन मिलेंगे। उस समय इस जीवनके प्रिय-प्रियतर-प्रियतमोंको भूल जाना होगा। आगामी जन्मके पुत्र-परिवारसे नया ही प्रेम-सम्बन्ध होगा। इस प्रकार अनन्त कालतक चलता रहेगा। ऐसा विचार मनमें रक्खा जाय तो किसीपर प्रेम-सम्बन्ध जम ही नहीं सकता, जिससे किसी सम्बन्धीके वियोगसे शोक भी न होता। यह अविकल रुपये-पैसेकी तरह हैं। रुपये-पैसे जबतक दूसरेके हाथमें थे, तबतक हमें उनसे कोई सुख-दुःख नहीं था। जब वे हमारे हाथमें आये तब आनन्द होने लगा, फिर जब व्यय या चुराये जानेके कारण हमारे हाथसे वे निकल गये, तब मनमें दुःख होने लगा। पुत्र-परिजन भी ठीक इसी प्रकार जबतक हमारे सम्पर्कमें नहीं आये थे, तबतक हमें उनसे कोई सुख-दुःख नहीं था, जब हमारे साथ उनका सम्पर्क हुआ, तब उनसे थोड़े समयके लिये सुख-बोध होता है, फिर जब ये मरकर दूसरे शरीरमें चले जाते हैं, तब उनके लिये शोक होता है, अतः जो शोकसे मुक्त रहना चाहते हैं, उन्हें इन थोड़े दिनके मेहमानोंके साथ ममत्व-सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये।

संसारमें प्रतिक्षण अगणित स्त्री-पुत्र मरते रहते हैं, अपरिमित धन-सम्पत्ति नष्ट होती रहती है, परंतु किसीसे सम्बन्ध-रहित मनुष्यको शोक नहीं होता। अतः यदि शोकसे मुक्त रहना हो तो स्त्री, पुत्र, गृह-क्षेत्र, धन-सम्पत्ति आदिसे ममत्व-सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये और न उनमेंसे किसीकी छाप ही अपने मनमें लेनी चाहिये। ईश्वरकी चीजको अपनी समझना महान् भूल है। बल्कि यह समझकर कि ये सब हमारे पास ईश्वरकी धरोहर हैं, कर्तव्यबुद्धिसे उनकी सेवा, रक्षा और पालन करनेसे उनमेंसे किसीका वियोग होनेपर शोक नहीं होगा।

ईश्वरकी सृष्टि बाधक नहीं है, बल्कि हमारे सुख साधनमें सहायक है *। उनसे ममत्व-सम्बन्ध न जोड़ते हुए भी उचित रीतिसे उनका अपने जीवनमें उपयोग करनेसे हमें आराम ही मिलेगा। धन कमाया जाय, वृद्धावस्थाके लिये कुछ सञ्चय भी किया जाय, मकान बनवाया जाय और उत्तमोत्तम भोजन-वस्त्रोंका भी संग्रह किया जाय तो आराम ही मिलेगा। पत्नी कितना आराम देती है? उसे अपना न समझकर ईश्वरकी धरोहर मानकर यथोचित मानके साथ उसकी रक्षा और पालन करनेसे वह जीवनभर आराम ही देती रहेगी। लोग अज्ञानवश पत्नीको अपनी वस्तु समझकर उसके साथ तुच्छताका बर्ताव करते हैं, उसे धमकाते, गाली देते या मारते-पीटते हैं, जिससे वे जीवनभर दुःख पाते हैं। पुत्र गृहस्थाश्रममें ईश्वरकी एक परम मङ्गलमय देन है। उसकी शिक्षा, रक्षा, पालन, रोग होनेपर चिकित्सा और सेवा यथोचित रूपसे की जाय तो जीवनभर उससे आराम ही मिलता रहेगा, वृद्धावस्थामें वह कमाकर खिलायेगा तो हम आत्मचिन्तन कर सकेंगे। इसी प्रकार मङ्गलमय ईश्वरकी सृष्टिके सभी पदार्थोंको हम अपनी सद्भावनासे मङ्गलमय बना सकते हैं और शोकसे मुक्त रह सकते हैं।

शोक और दुःखमें कुछ अन्तर है। शोक भी एक प्रकारका दुःख ही है। शोक मनुष्यका बनाया हुआ है। इसलिये विचारसे वह उससे मुक्त हो सकता है। परंतु दुःख प्राकृतिक कारणोंसे होता है, जैसे—हाथ कट गया, खून बहने लगा, इससे दुःख होता है, भूख-प्याससे भी दुःख होता है। हम विचारसे इन प्राकृतिक दुःखोंको रोक नहीं सकते। ये प्राकृतिक दुःख जीवमात्रमें समान हैं।

---

* तस्मात् सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन् मानसं जगत्।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥
(वराहोपनिषद्)

* अबाधकं साधकं च द्वैतं ईश्वरनिर्मितम्।
(पञ्चदशी)

शोक भी यदि प्राकृतिक होता तो किसी एकके मरनेसे सभी सम्बन्धियोंको समान रूपसे दुःख होता। ऐसे विचारवान् पुरुष अभी भी हैं जो अपनी प्रियतमा पत्नी या प्रियतम पुत्रके निधनसे कुछ भी शोक नहीं करते। उन्हें कहते सुना गया है कि—'पत्नी या पुत्र मेरे यहाँ ईश्वरकी धरोहर थी, जितने दिनोंतक उन्हें मेरे पास रखना मंजूर था उन्होंने रक्खा, अब अवधि पूरी हो गयी; अपनी चीज उन्होंने वापस ले ली, इसमें मुझे शोक करनेका कोई कारण नहीं है।'

प्राकृतिक दुःख ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको ही समान रूपसे अनुभूत होनेपर भी ज्ञानी धैर्यसे उसका सहन करते हैं, इसलिये उन्हें क्लेश नहीं होता। परंतु अज्ञानी अधीरताके कारण क्लेश पाता है *। जैसा कि दो आदमी रास्ता चलते हुए थककर विश्राम करने लगे, उनमेंसे जो यह जानता है कि गन्तव्य स्थान समीप है, वह थोड़ा विश्राम करके धैर्यके साथ शीघ्र चलकर वहाँ पहुँच जाता है। परंतु जिसे दूरत्वका ज्ञान नहीं है, वह रास्तेमें बैठा रहता है और थकावटका क्लेश ही भोगता रहता है।

सुख-दुःखका अनुभव होता है मनमें। वेदान्तका यह अकाट्य सिद्धान्त है कि मनके अनुभवकी छाया भी नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव आत्मापर नहीं पड़ती। आत्मा सुख-दुःखसे परे है। जो इस आत्मासे अपनेको मिला देता है, वह मनके सुख-दुःखोंकी लहरोंको देखकर हँसता है। उसके लिये संसारके सारे दुःखोंकी निवृत्ति ही हो जाती है। अतः वेदान्त-प्रतिपादित आत्मज्ञान ही दुःख-निवृत्तिका एकमात्र अव्यर्थ उपाय है। शोक अज्ञानसे होता है, यह पहले ही दिखलाया गया है। मनके दुःखोंका आरोप भी मनुष्य आत्मापर अज्ञानसे ही करता है। अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर शोक और दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। अन्धकार दूर करनेके लिये जिस प्रकार प्रकाशकी आवश्यकता होती है, तलवार चलाकर या हाथीसे खिंचवाकर उस अन्धकारको हटाना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार हजारों कर्मों और उपासनाओंसे अज्ञान नहीं हटाया जा सकता, केवल ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती है *। देवर्षि नारद शोकार्त होकर महर्षि सनत्कुमारके पास जाकर कहने लगे—'आपके सदृश सत्पुरुषोंसे मैंने सुना है कि आत्मज्ञ शोकसे उत्तीर्ण होते हैं, मैं शोकार्त हूँ, आप मुझे शोकसे उबारिये †।' नारदके प्रश्नसे ही जाना जाता है कि आत्मज्ञानसे शोक दूर होता है। महर्षि सनत्कुमारने भी उत्तरमें आत्मज्ञानका ही उपदेश दिया। उन्होंने कहा—'जो भूमा यानी सर्वत्र व्यापक है, वही सुखरूप है, अल्प वस्तुमें सुख नहीं है, जो भूमा है, वही अमृत है, छोटी वस्तु नष्ट हो जाती है, भूमा आत्मा नीचे, ऊपर, पीछे, सामने, दक्षिणमें तथा उत्तरमें सर्वत्र पूर्ण है, सारा संसार ही आत्ममय है, जो इस प्रकार देखता है, मनन करता है और अनुभव करता है, वह आत्मरति होकर आत्मानन्दको प्राप्त होता है ‡। यानी शोक और दुःखसे वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है।

भगवद्गीताका प्रथम अध्याय सम्पूर्ण और द्वितीय अध्यायके दस श्लोकतक आसन्न युद्धमें अपने आत्मीय जनोंके निधनकी आशंकासे उत्पन्न अर्जुनके शोकके उद्गार हैं। उन्हें शोकसे मुक्त करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने द्वितीय अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे उपदेश देना आरम्भ किया। उन्होंने कहा—'हे अर्जुन! जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो और पण्डितोंकी तरह बातें करते हो। पण्डितलोग जीवित या मृत किसीके लिये शोक नहीं करते §।' पण्डा (आत्मसम्बन्धी बुद्धि) जिसको कहते हैं, वही यथार्थमें पण्डित है। आजकल तो रसोइया, दरवान आदि भी पण्डित हैं। ऐसे

---

* ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समेऽप्यारब्धकर्मणि।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान् मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः॥
(पञ्चदशी)

* अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत।
विद्याविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत्॥ (आत्मबोध)

† सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविद् इति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु। (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।३)

‡ यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। आत्मा एव अधस्तात्, आत्मा उपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मा उत्तरतः, आत्मा एव इदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन् आत्मरतिः, आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।
(छान्दोग्योपनिषद् ७।२३-२५)

§ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ (गीता २।११)

तो प्रायः सभी पण्डित शोक करते हैं; परंतु गीतामें आत्मज्ञानीको ही पण्डित कहा है । क्योंकि आगे भगवान्ने अर्जुनको लक्ष्य करके जगज्जनोंका शोक दूर करनेके लिये गीतामें इस आत्मज्ञानका ही उपदेश किया है । जैसे—आत्मा अविनाशी और सर्वत्र व्याप्त है, कोई इसका विनाश नहीं कर सकता । (२ । १७) शस्त्र इसका छेदन नहीं कर सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे गला नहीं सकता या हवा इसे सुखा नहीं सकती । (२ । २३) यह आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है (२ । २४) । यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्तनीय और अविकारी है । इसलिये आत्माको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये (२ । २५) । इस अन्तिम श्लोकमें आत्माको अविकारी बताया गया है । तात्पर्य यह है कि आत्मा अन्तःकरणकी सुख-दुःख और मोहादि वृत्तियोंसे विकारको प्राप्त नहीं होता । अतः शोक करनेका कोई कारण नहीं है । क्योंकि आत्मा ही जीवोंका यथार्थ स्वरूप है, जहाँ शोक-दुःखादिका अत्यन्ताभाव है । अतः गीता और उपनिषद्में भी आत्मज्ञानको ही दुःख-निवृत्तिका एकमात्र उपाय बताया गया है—'तरति शोकमात्मवित्' ।

महर्षि अष्टावक्रने राजर्षि जनकसे कहा था—'यदि देहको पृथक् करके शुद्ध चेतन आत्मामें स्थित हो सको कि 'यही आत्मा मैं हूँ'; तो इसी क्षण सुखी, शान्त और बन्धनमुक्त हो जाओगे * ।' अतः श्रुति, गीता, संहिता आदि सभी शास्त्रोंमें आत्मज्ञानको शोक-दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिका कारण बताया है । यह सुगम भी है और कठोर साधन बिना भी थोड़े विचारसे अनायास सम्पन्न होता है ।

गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई

(लेखक—श्रीबिहारीलालजी मित्तल)

किसी भिखारीको एक उदार सज्जनने 'अमूल्य मणि' दी । पारसमणि थी वह । जन्म-जन्मान्तरोंके दुःख-दारिद्र्य मिटानेकी सामर्थ्य थी उसमें । उसका मूल्य इतना अधिक था कि अनन्त कालतक वह भिखारी उससे सुन्दर, सुगन्धयुक्त एवं सुपाचक भोजनकी ही नहीं, अन्य सब प्रकारके आरामकी—सुखकी व्यवस्था सहज ही कर सकता था । किंतु मूर्ख अभागेने मणिके मूल्यको नहीं समझा अथवा समझकर भी विवेकसे कार्य नहीं किया । उसने तो उस परम निधिको लाल-लाल घुँघचियोंके बदलेमें ही खो दिया । उनसे न तो उसकी भूखकी ज्वाला तनिक शान्त हुई, न सुख मिला, न आराम मिला और न शान्ति ही मिली ।

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई । गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई ॥

उदार सज्जनने भी अपनी दी हुई परम वस्तुकी दुर्गति और अवहेलना देखी । 'मेरी कृपालु प्रवृत्तिका दान पाकर भी यह मूढ़ अपने दारिद्र्यसे मुक्त नहीं होना चाहता तो फिर दारिद्र्य ही भोगता रहे' उसने कहा । कौन जाने उदार सज्जनकी कृपा-दृष्टि भिखारीपर पुनः कब पड़ेगी ?

× × ×

अधम योनियोंमें अनेक दुःख-दोष और आवर्तन-प्रवर्तनकी शृङ्खलामें बद्ध जीवकी ओर परमात्माकी कृपादृष्टि हुई । 'संसृतिके क्लेशोंमें इसे युगों बीत गये हैं' अकारण करुणामयने सोचा, 'अब इसे मुक्तिका अवसर देना चाहिये ।' ऐसा विचारकर प्रभुने इसे मानवदेह दिया—

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

और सारी सुविधाएँ प्रदान कीं—

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा । दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥

जीवने इस प्रकार मानव-तनरूपी 'मणि' प्राप्त

---

* यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि । अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥ (अष्टावक्रसंहिता)

की । यह मानव-जीवन मायाके समस्त बन्धनोंसे, आवर्तन-प्रवर्तनके सम्पूर्ण क्लेशोंसे तथा भ्रमपूर्ण क्रिया-कलापोंकी अविरत अशान्तिसे मुक्त करनेवाले समग्र साधनोंसे सम्पन्न है । इसके विवेकपूर्ण प्रयोगसे जीव सहज ही अपने 'चेतन अमल सहज सुखरासी' नित्य स्वरूपको पुनः प्राप्त कर सदाके लिये 'ब्रह्मानन्द' में मग्न हो सकता है; किंतु उक्त भिखारीकी भाँति ही इस मूढ़ने भी इन्द्रियोंके क्षणिक आनन्द देनेवाले कामिनी-काञ्चनमें अथवा काम-क्रोध-मद-लोभ-मोहकी गुलामीमें ही मानव-जीवनको व्यय कर दिया । इस अभागेने भी विषभरे विषयोंके बदलेमें अमूल्य मणिको खो दिया !

विषय-सुख तो वस्तुतः रोगी जीवके लिये कुपथ्य है । इससे तो उसके बन्धन और भी दृढ़ होते हैं तथा उसका जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

हाय रे मूर्ख कृतघ्न ! तूने तो अमृत देकर बदलेमें जहर पी लिया ।

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥

मन्दबुद्धि ! तुझपर तो आत्महत्याका पातक लगेगा !

× × ×

वस्तुतः जीव ब्रह्मका ही अंश है जो मायाकी छलनाद्वारा अपने वृत्तसे च्युत कर दिया गया है । मूलतः तो जीवका स्वभाव ब्रह्म-स्वभाव ही है । अग्निका स्फुलिङ्ग, अग्निसे विलग हो गया है । अनन्त नीलाकाशका किञ्चित् अंश घटद्वारा पृथक् कर दिया गया है । तत्त्व-विचारसे तो जो स्फुलिङ्ग है वही अग्नि है अथवा जो नीलाकाश है वही घटके अन्तरका शून्य है । उस दृष्टिसे द्वैत ही भ्रममूलक है । यह सत्य होनेपर भी एक भेद स्पष्ट है कि 'पूर्ण' की अनन्तताके लिये किसी अन्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं है; परंतु अंशकी अनन्तताके लिये उसका अपने वृत्तमें ही लीन हो जाना आवश्यक है ।

अग्निका गुण 'तेज' स्फुलिङ्गमें भी विद्यमान है और आकाशका गुण 'शब्द' शून्यमें भी सन्निहित है । इसी प्रकार ब्रह्म-स्वभावकी आनन्दमयी चेतना बीजरूपमें जीवमें भी उपस्थित है । हमें तो इस चेतनाको ब्रह्मकी चेतनामें लीन कर देना है ।

अनन्तकी चेतनामें लीन होनेके लिये अथवा ब्रह्मानन्दका अक्षय स्वरूप-सुख प्राप्त करनेके लिये जीवके चारों ओर परिवेष्टित मायाके आवरणको हटानेकी आवश्यकता है । यदि छलनाका यह अवगुण्ठन खोला जा सके तो आत्म-तत्त्व बिना श्रम ही स्वरूपभूत ब्रह्म-तत्त्वको प्राप्त कर लेगा—

'घूँघटके पट खोल रे तोहे पीव मिलेंगे ।'

इस मुँह-दिखायीकी भेंटमें ही मानव-जीवनरूपी 'मणि' दी जानी चाहिये ।

× × ×

मानव-योनिमें ही जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है । इतर योनियाँ तो केवल भोग-क्षेत्र होती हैं, जहाँ काल, कर्म और स्वभावसे घिरा हुआ जीव विवेकशून्य रहता है । विवेकशून्य होनेसे उसे अपने नित्य स्वरूपकी आनन्दमयताका आभास ही नहीं होता । आनन्दमयताके आभासके अभावमें उसे प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति होना ही सम्भव नहीं है । प्रवृत्तिके न होनेपर जीव प्रयत्न नहीं करता और प्रयत्न न करनेपर किसी श्रेय वस्तुकी उपलब्धि नहीं हो सकती ।

मानव-शरीरमें अन्य योनियोंकी भाँति जीव पूर्वजन्मके कर्मोंके परिणामस्वरूप दुःख-सुख तो उठाता है; किंतु स्वतन्त्र कर्म करनेके लिये भी वह साधनसम्पन्न होता है । इन स्वतन्त्र कर्मोंके हम दो विभाग कर सकते हैं । एक विभागमें तो वे कर्म आते हैं जिन्हें

मानव इन्द्रियोंके सुखके लिये किंवा उससे कुछ ऊँचे 'स्वर्गसुख' की प्राप्तिके लिये करता है और इस प्रकार मायाके बन्धनोंको और भी दृढ़तर कर लेता है। दूसरे विभागमें उन कर्मोंको लिया जा सकता है जो विवेक-युक्त होनेपर मानव अपनी मुक्तिके लिये श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक करता है। प्रथम विभागके कर्मोंके लिये मानव-तनुका सृजन नहीं हुआ है। भगवान् श्रीरामने अपने परिजन, पुरजन और प्रजाजनोंको बुलाकर उपदेश दिया—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

विषयोंके सेवनसे तो क्षणिक ऐन्द्रिक आनन्द मिलता है। वह तो अन्य सभी योनियोंमें प्राप्त था। ब्रह्मानन्दको प्राप्त करनेकी इस बलामें विषयानन्दका चिन्तन उपहासास्पद है। अक्षय सुखके स्थानपर क्षणिक निकृष्ट सुखकी प्राप्तिकी चेष्टा मनुष्यकी भयंकर भूल है। मणिके बदलेमें घुँघची क्रय करना व्यापार-बुद्धिका नितान्त दिवालियापन है। मानव-जीवनके बदलेमें तो स्वर्ग-सुखको प्राप्त करना भी हानिका धंधा है, यद्यपि पार्थिव ऐन्द्रिक आनन्दसे यह कुछ श्रेष्ठ अवश्य है। स्वर्ग-सुख विषयानन्दकी अपेक्षा अधिक समयतक और अधिक परिमाणमें उपभोग किया जा सकता है; किंतु अन्ततः वह भी पञ्चतत्त्वसे निर्मित इस भौतिक शरीरद्वारा अनुभव किया जानेवाला आनन्द ही है। आत्माका आनन्द वह भी नहीं है। दूसरे, स्वर्गसुखका उपभोग भी अनित्य है। इस जीवनमें 'पुण्य कार्य' एक निश्चित परिमाणमें ही किये जा सकते हैं और उस परिमाणके अनुसार ही स्वर्गसुख पानेके पश्चात् 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के सिद्धान्तानुकूल इस जीवको फिर संसारमें अवतरित होकर माया-चक्रके साथ घूर्णित होना पड़ता है। अतः इस जीवनमें तो वह आनन्द प्राप्त कर लेना चाहिये जिससे दुःख तथा बन्धनोंकी कभी पुनरावृत्ति हो ही न सके। इस आत्यन्तिक आनन्दको प्राप्त कर लेना ही आत्मानन्द किंवा ब्रह्मानन्दकी स्थितिमें लय हो जाना कहा जाता है। यही निर्वाण या ब्रह्मलीनावस्था है।

× × ×

ब्रह्मानन्दके साधनोंकी अनुभूति करानेके लिये मानसकारने एक लीलाका वर्णन किया है। इसको एक रूपकके रूपमें देख सकते हैं। वस्तुतः तो रूपकका पथ छाया-पथ होता है; किंतु विवशता ऐसी है कि मन-बुद्धिसे छाया-पथपर ही चला जा सकता है। यों तो छायासे ही प्रकाशका अनुमान और अनुगमन किया जाता है। प्रकाशमें पहुँचकर तो चलनेकी आकांक्षा भी नहीं रहती। वहाँ पहुँचकर तो जीव आनन्दातिरेकमें आत्मविस्मृत हो जाता है। अब हम मानसकारके इस लीला-रूपकका अवलोकन करें—

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥

इस रूपककी छायामें राजा दशरथको 'ज्ञान' माना गया है और स्नेहमयी श्रीकौशल्या अम्बाको भक्ति। भगवान् श्रीराम अथवा 'ब्रह्मतत्त्व'की प्राप्तिके लिये ज्ञान और भक्ति दोनोंकी आवश्यकता है। ज्ञानके नेत्रोंसे तो हम प्रभुको देखते हैं और भक्तिके पगोंसे श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दौड़कर उन्हें प्राप्त करते हैं; किंतु इनसे भी महान् एक और वस्तु है, वह है 'राम-कृपाका अवलम्बन।' अपने करुणामय मृदुल स्वभावके कारण ही श्रीराघवेन्द्र भागती हुई कौशल्या अम्बाके परिश्रम और विवशतापर द्रवित होकर उसके हाथमें आ गये। नहीं तो भला कौशल्या माता वेदोंद्वारा भी 'नेति नेति' गाये हुए ब्रह्मको 'इदं अस्ति' कहकर कैसे पकड़ सकती थीं। अतः मानव-जीवनरूपी मणिको

गकर हमें उसके बदलेमें ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिये भी कोमल, करुणामय एवं कृपालु स्वभाववाले श्रीराघवेन्द्र प्रभुसे आर्तवाणीमें याचना करनी चाहिये—

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

उपासना और मनकी पवित्रता

(लेखक—श्रीदेवीचरणजी निगम एम्० ए०)

आये दिन गुरुओं, संतों तथा शास्त्रोंद्वारा उपासकों, भक्तों तथा साधकोंके लिये बतलाये हुए तरह-तरहके नियम सुननेमें तथा देखनेमें आते हैं। अपनी-अपनी स्थिति तथा बुद्धिके अनुसार एक-न-एक नियमका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन सभी करते आये हैं। कोई एक बातको आवश्यक बताता है तो कोई दूसरीको। परंतु आजकलके तर्कयुगमें जब हर-एक बात प्रत्येक विचारशील मस्तिष्कमें 'अगर-मगर' के रूपमें टकराती है तब एक स्वाभाविक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या वे सीमित जड नियम साधकको उसके आराध्य इष्टतक पहुँचानेमें समर्थ हैं? और यदि समर्थ हैं तो कोई एक नियम समर्थ है अथवा सभी तरहके नियम ठीक हैं और समर्थ हैं? समस्या जटिल है। प्रश्न टेढ़ा है। इतना टेढ़ा कि बहुधा लोग नियमोंको ढकोसला तथा साधकोंको ढोंगीके नामसे पुकारने लगते हैं। लोग पूछने लगते हैं कि इतनी पूजा, कथा, सत्सङ्गसे तुमने क्या सीखा, तुममें कितना परिवर्तन हुआ? तुम्हारा दृष्टिकोण कितना सुधरा एवं तुमने भगवान्‌के दर्शन कै बार किये इत्यादि।

दूसरी ओर ऐसा भी देखा गया है कि बहुत-से भक्त किसी महात्मा तथा गुरुकी अन्तरङ्ग सेवामें रहते हुए भी परमार्थलाभसे नितान्त वञ्चित हैं और वे स्वयं झीखते हैं कि घर-द्वार छोड़े इतने वर्ष हो गये परंतु आजतक भगवान्‌के दर्शन न मिले।

श्रीरामचरितमानसमें इस विषयमें एक बड़ा अनुपम सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। साधक किसी भी मत, सम्प्रदाय अथवा मार्गका अनुयायी हो—सभीको यानी साधकमात्रको श्रीभगवान् अपने दर्शन सुलभ बताते हैं। उसमें ढोंग, कट्टरता, पाखण्ड आदिका कोई स्थान नहीं रह जाता है। किसी दूसरे देखनेवालेको भी साधकपर नुकताचीनी या समालोचना करनेका अवसर नहीं मिलता। एक साधारण, सामान्य, मनुष्यमात्रपर लागू होनेवाला नियम बनाकर उसकी घोषणा करते हुए श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम व्यवस्था देते हैं। वे कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

इस व्यवस्थाका एक-एक पद समझने, समझकर हृदयङ्गम करने और हृदयङ्गम करके नित्यके आचरणमें—काममें लाने योग्य है। श्रीभगवान् कपटी, छली तथा छिद्रान्वित मनुष्यको अपने दर्शन, अपनी प्राप्तिका अभाव ही नहीं बताते, अपितु उसके लिये कहते हैं 'मोहि न भावा'। देखनेमें भले ही वे हजारों माला घुमाते हों, बड़े ऊँचे आसनोंसे व्याख्यान झाड़ते हों, तिलक लगाते हों, सत्सङ्ग करते हों; किंतु श्रीभगवान् उन्हें अपना भक्ततक माननेको तैयार नहीं हैं। इस व्यवस्थात्मक चौपाईकी अर्धालीको फिर विचारिये। श्रीभगवान्‌का भक्त अर्थात् 'जन' कौन है। तुरंत उत्तर मिलता है 'निर्मल मन (वाला पुरुष)' देहली-दीपकन्यायसे यह शब्द 'जन' इस अर्धालीके

दोनों टुकड़ोंमें लगता है । निर्मल मनवाला साधक ही भगवान्‌का जन अर्थात् भक्त है और ऐसे (निर्मल मनवाले) जन अथवा भक्तके लिये श्रीभगवान्‌को कुछ 'अदेय' भी नहीं । उसे वे अपने दर्शन, नहीं-नहीं, अपनी प्राप्ति करा देते हैं । वे कहते हैं 'सो मोहि पावा ।' दर्शनमें और प्राप्तिमें अन्तर है । एक मित्रके घरमें, उसकी तिजोरीमें कोई दस हजार रुपयेकी थैली देख आया । इस दर्शनसे नेत्र भले ही तृप्त हुए हों । परंतु प्राप्ति तभी होगी, जब मित्रकी तिजोरीसे उठकर वह थैली उसके पास, उसकी तिजोरीमें आकर उसकी सम्पत्तिका अङ्ग बनकर उसके अधिकारमें आ जायगी और चौबीसों घंटे उसीके पास रह सकेगी ।

प्रिय पाठको ! जरा विचारिये । कितनी बड़ी बात कह दी श्रीभगवान्‌ने । वे हमारे पास आनेको, हमारे बननेको, सदा हमारे पास प्रत्यक्षरूपसे रहनेको तैयार हैं । और इसके लिये हमसे कुछ श्रम नहीं कराते । मन भी हमारा हमसे नहीं माँगते । उसको भी हमारे पास रहने देनेको तैयार हैं । केवल उसे साफ करने, मलरहित रखनेको कहते हैं । यही एक शर्त है । यह तो साबुन, तेल, क्रीम, पाउडरवाले इस सफाईके युगमें कोई बेजा बात नहीं मालूम होती भगवान्‌की । एक शरीरपर बढ़िया चुन्नटदार कुरता पड़ा हो, साफ बुर्राक धोती लहरा रही हो, सिरपर सुगन्धित तेल लगा हो, शरीर साबुन-तेलसे निर्मल हो और उसके भीतरवाला मन गंदा हो ! सफाई तो भीतर-बाहर सब कहीं होनी चाहिये ।

जरा देरके लिये जाने दीजिये भगवान्‌की प्राप्तिकी चर्चाको । एक व्यक्ति जैसे गंदे कपड़े पहनकर समाजमें नहीं बैठ सकता, वैसे ही गंदे मनवाला पुरुष साफ कपड़े होनेपर भी समाजके लिये वैसा ही अयोग्य है, जैसी बढ़िया पैकिंगवाली दुर्गन्धित शराबसे भरी बोतल । एक बोतलमें गंदी शराब भरी गयी । उसके बाद उसे सील करके उसके ऊपर बड़ी बढ़िया तसवीर और चमकदार साफ पैकिंग की गयी । फिर वह अपनी मनोहर सज-धजके साथ यत्र-तत्र रक्खी गयी । बोतलके ऊपर तो पैकिंग बढ़िया परंतु भीतर । ऊपरकी सफाई खूब और भीतर ? इसका परिणाम यह हुआ कि बोतलके भीतर तो बदबू भरी पड़ी है, परंतु जहाँ-जहाँ वह बेचारी जायगी, वहीं वह दुर्गन्धि फैलानेको लाचार है । और कहीं बोतलका मुँह खुल गया तो 'सियावर रामचन्द्रकी जय ।'

सफाई रखना, सफाईकी आदत डालना, यह तो बड़ी अच्छी सीख है भगवान्‌की । और गंदगीसे, कपट-छल-छिद्रसे भगवान् अप्रसन्न होते हैं । ये मल उन्हें 'न भावा ।' कतई नापसंद है । तरह-तरहके दम्भ-वेषभूषावालोंको सावधान हो जाना चाहिये भगवान्‌की इस चेतावनीसे ।

यह सफाई कैसे की जाय ? उत्तर मिलता है जलसे । ठीक, बिल्कुल ठीक । साधारणतया धोने और साफ करनेमें जल ही उपयोगमें आता है । परंतु इस विषयमें मनु महाराजका कथन है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।

वे मनके साफ करनेका साधन 'सत्य' बतलाते हैं और हमारे हिंदीके आचार्य गोस्वामी तुलसीदासजी इस विषयको और भी सरल रूपसे समझाते हैं । वे कहते हैं जैसे मन एक विलक्षण तत्त्व है, वैसे ही इसकी सफाईके लिये विलक्षण जल भी होना चाहिये । इस विलक्षण जलको वे 'सलिल'के नामसे पुकारते हैं और उसका परिचय कराते हुए कहते हैं—

'राम-सीय-जस सलिल सुधासम'

उनका यह कहना है कि जैसे मनुष्य जलसे नित्य अपना शरीर रगड़-माँजकर साफ करता रहता है ठीक वैसे ही नित्य इस श्रीरामसीय-यशरूपी जलसे मनको

साफ कर लेना चाहिये । शरीरकी सफाईसे चर्मरोग और बहुत-से दूसरे रोग नहीं होते । वैसे ही मनकी सफाईसे भवरोग भी नहीं होता । गीताजीमें श्रीभगवान् कहते हैं कि इस विलक्षण जलसे मनको धोनेमें बहुत लाभ हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
(गीता ८ । १४-१५)

'अर्जुन ! जो पुरुष अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ । परमसिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ।'

और यदि किसी कारणवश, संस्कारवश, कुसङ्गवश किंवा आलस्यवश किसीने इस सलिलका उपयोग करके मनको न धोया, तो फिर तुलसीदासजी कहते हैं—

जिन्ह एहि बारि न मानस धोए । ते कायर कलिकाल बिगोए ॥

उपासनामें मनकी पवित्रता और मनका छल-कपटरहित होना नितान्त अनिवार्य है । बड़े उच्चकोटिके साधक तो श्रीभगवान्‌के दरबारमें बैठकर उनके नाम-गुणरूपी जलसे मनको धोते हैं और साथ ही भगवान्‌के सामने मनके पवित्र होनेकी प्रार्थना करते हुए रोते हैं—

'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥'
(यजुर्वेद० ३४ । १)

एक ओर यह वेदकी ऋचा सुनायी पड़ती है तो दूसरी ओर एक पदकी गूँज उठती है ।

'मेरो मन हरि जू हठ न तजै'

भगवान् ऊपरी वेष-भूषा नहीं चाहते । तमाम दुनियाका ढोंग-दिखावा उन्हें नहीं भाता । बस, केवल एक बात—मन पवित्र ।

भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
(गीता ३ । ६)

'जो मूढबुद्धि मनुष्य कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता है वह मिथ्याचारी है ।'

इस पवित्रताकी पहचान करना हो तो भगवान् दिग्दर्शन स्वयं कराते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

'योगयुक्तात्मा सर्वत्र समभावसे देखनेवाला योगी सब भूतोंमें आत्माको और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है ।'

मनसे चालाकी करनेकी आदत यदि हम नहीं छोड़ते तो दुनियामें हम भले ही कुछ कालतक उन्नति करते हुए दीख पड़ें । दुनिया हमारे आन्तरिक भावको न समझे परंतु 'साक्षी' रूपसे जो प्रभु हमारे अंदर-बाहर सर्वत्र ओतप्रोत हैं उससे हमारे भाव, हमारी क्रियाएँ छिप नहीं सकतीं ।

श्रीभगवान् स्वयं समताप्रिय, समतारूप तथा समतानन्द हैं ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
(गीता १३ । २८)

'क्योंकि जो पुरुष मनमें समभावसे स्थित परमेश्वर-

को समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ।'

समताके झंडेके नीचे आना ही वे परम गतिका मार्ग बताते हैं । और ऐसे ही भक्तको, जो मनका दृष्टिकोण सँभाले हुए सम, शीतल है, नीतिपूर्वक व्यवहार करता है, श्रीभगवान्‌को सर्वत्र देखता है और 'सरल स्वभाव सबहिं सन प्रीती' का अभ्यासी है । उसीको अपना प्रिय, भक्त तथा मोक्षका अधिकारी ठहराते हैं ।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है ।'

× × × ×

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(गीता १३ । ३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही संपूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।'

और जो मनकी चालाकीमें ही रमण करना चाहते हैं, उनके लिये Ordinance तैयार है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
(गीता १६ । १९)

'उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ।'

अतः इस सेवककी सभीसे यही करबद्ध प्रार्थना है कि सभी भाई इस भगवद्वाणीको कदापि न भूलें—

'निर्मल मन जन सो मोहि पावा'

मानव-चक्षु

(लेखक—वैद्यरत्न श्रीप्रतापसिंहजी)

मनुष्यको भगवान्‌ने नेत्र एक ऐसी चीज दी है कि जिसकी रक्षासे वह संसारके विविध प्रकारके सौन्दर्यको निरीक्षणकर ईश्वरकी सत्ताका अनुभव कर सकता है और संसारके वैभवका उपयोगकर आनन्द अनुभव कर सकता है ।

योगीजन विविध प्रकारके योगाभ्यासके द्वारा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके तेजःपुञ्जमय आत्मप्रकाशका अवलोकन करते हैं ।

वैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंने अनेक यन्त्रोंकी सहायतासे एक इंचके दस हजारवें सूक्ष्म भागको भी चक्षु-इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष कर अनेक क्रान्तिकारी आविष्कारोंको करके युग परिवर्तन कर दिया है और कर रहे हैं । ऐसे नेत्रोंकी हम अवहेलना करें, इससे अधिक चिन्तनीय क्या हो सकता है ?

हमारा देश उष्ण वातावरणका है । यहाँकी तीव्र सूर्यरश्मियाँ आँखोंको अधिक हानि पहुँचानेवाली हैं इसीलिये हमारे देशमें तिमिर (Glucoorma) आन्ध्य (Cataract) मोतियाबिंद आदि अनेक नेत्ररोग बहुतायतसे पाये जाते हैं, इसीलिये प्राचीन आर्यवैद्योंने नेत्ररक्षाके लिये अनेक प्रकारके अंजनोंका आविष्कार किया था । किंतु खेद है कि आज इस नव सभ्यताके युगमें इनका प्रचार दिनोंदिन न्यूनातिन्यून होता चला

जा रहा है, और नेत्रक (Spectacle) लगानेका रिवाज दिनोंदिन बढ़ रहा है। बेचारे छोटे-छोटे बालक भी नेत्रक (चश्मे) के बिना देख नहीं सकते और जीवनके आरम्भकालमें ही आन्ध्यत्वका अनुभव करते हैं। इस दयनीय दशाको देखकर मैंने अपने जीवनमें अनेक अनुभव नेत्ररक्षाके लिये किये हैं। वे 'कल्याण'के पाठकोंके लिये समर्पण करता हूँ। यह अनुभव बहुत सुगम और सरल है। आशा है संसारके कल्याण चाहनेवाले विज्ञ पाठक इनका वितरण कर धर्मलाभ लेंगे।

आर्यवैद्यक शास्त्रने सर्वप्रथम आँखकी रक्षाके लिये व्यायाम बताया है। इस व्यायामकी तीन विधियाँ प्रधान हैं। उसमें प्रथम दिनमें तीन बार मुखमें शीतल जल भरके आँखमें शीतल जलके छींटे लगाना है। इस अभ्यासमें अनुभवसे यह सिद्ध हुआ कि मुँहमें शीतल जलका गण्डूष भरकर आँख बंद करके हाथके चुल्लूमें पानी लेकर आँखपर जोरसे छींटे। ऐसे छींटे कम-से-कम तीस बार एक-एक आँखपर देने चाहिये और अधिक-से-अधिक एक-एक सौतक बढ़ाना चाहिये। आँखें छींटे देनेके बाद धोकर कपड़ेसे पोंछ लें और उसके बाद १५ मिनटतक लिखने-पढ़ने या अग्निके पास जानेका काम न करें। अच्छा तो यह हो कि आँखें बंदकर भगवान्का ध्यान करे जिससे आँखोंको इस व्यायामके बाद विश्राम मिल जाय। ऐसा त्रिकाल करनेसे आँखोंमें किसी प्रकारका विकार पैदा नहीं होता और आँखें निर्मल और स्वच्छ रहती हैं। इस विधिको स्मरण रखनेके लिये आचार्योंने निम्नलिखित श्लोक बना दिया है—

शीताम्बुपूरितमुखः प्रतिवासरं यो
वारत्रयेऽपि नयनद्वितयं जलेन।
सिञ्चत्यसौ स मुदमेति कदापि नाक्षि-
रोगव्यथाविधुरतां भजते मनुष्यः॥

दूसरा व्यायाम त्राटकका है। यह विधि सरल है और प्रत्येक व्यक्तिको पाँचसे दस मिनटतक करनी चाहिये। एक सफेद कागजको एक फुट चौरस गत्ते-पर चिपकाकर ठीक उसके मध्यमें काजलसे एक गहरा काला बिन्दु आध इंच परिधिका लगा दें। इस गत्तेको अपने सामने दो फुटकी दूरीपर रखकर सिद्धासन, पद्मासन, या सहज आसनमें बैठकर मनको एकाग्रकर इष्टदेवका जप करते हुए इस बिन्दुको दोनों आँखोंसे देखें और पलक बिल्कुल न गिरने दें। आँखोंमें पानी आनेपर अथवा थकनेपर आँखें बंद कर लें। दो-तीन मिनट बंद रखनेके बाद फिर इसका अभ्यास करें। ऐसा दो-तीन बार करके दस मिनटमें सारा अभ्यास समाप्त कर दें। इस व्यायामके करनेसे मोतियाबिंदका रोग नहीं होता और आँखोंकी रोशनी सुदृढ़ रहती है।

योगीलोग इस त्राटककी बड़ी महिमा करते हैं जो पाठक इसका अभ्यास करना चाहें वे हठयोगप्रदीपिका आदि योगग्रन्थोंका विशेषरूपसे अध्ययन करें।

तीसरा व्यायाम पतंग उड़ानेका है, जितनी पतंग ऊँची चढ़ेगी और उसको बायाँ-दायाँ ऊँचा-नीचा बार-बार घुमानेमें आँखोंको अच्छा व्यायाम हो जायगा, यह व्यायाम १५ मिनटसे आध घंटेतक करना पर्याप्त है। आजकल जो पाश्चात्त्य नेत्रचिकित्सक थम्मिग (Thumbing) या सनिंग (Sunning) आदि व्यायाम बताते हैं उनकी अपेक्षा पतंग उड़ानेका व्यायाम निर्दोष, सरल और मनविनोदी होता है। जो व्यक्ति ये तीनों प्रकारके व्यायाम न कर सकें, उनके लिये नीचे लिखी ओषधियोंका प्रयोग नेत्रदृष्टिको बलवान् करनेके लिये हितकर है—

१. एक छटाँक शुद्ध मधु (काश्मीरी) लेकर उसमें तीन माशा बरास कपूर (Borneo Camphor) मिलाकर खरलमें घोटकर काँचके ढकनेकी शीशीमें डालकर रक्खें और प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल अंजन करके जबतक आँखसे पानी निकलता रहे आँख बंद करके बैठे रहें, बादमें शीतल जलसे आँखें

धो डालें और दस मिनटतक लिखने-पढ़नेका काम न करें।

२. जिनको मधु मिलनेमें कठिनाई या संदेह हो वे नीचे लिखा हुआ द्रव बना लें और उसको (droper) या रूईसे आँखमें पाँच-पाँच बूँद टपका लें और आँखको पाँच मिनटतक बंद रखकर लेटे रहें और बादमें आँखको धोकर अपना काम करें। जिन बच्चों या अन्य व्यक्तियोंको आँखोंमें कीचड़ आता हो, उनके लिये इस द्रवका रातको सोते समय और सुबह उठते ही उपयोग अत्यन्त हितकर है। इस द्रवको मैंने लाखों रोगियोंपर प्रयोग किया है और प्रतिवर्ष हजारों रोगी इसका लाभ हमारे अस्पतालोंमें उठाते हैं। पुष्लिका द्रवके नामसे यह वितरण होता है। इसकी निर्माणविधि निम्नलिखित है—

उत्तम गुलाब जल	१० छटाँक (एक बोतल)
सफेद फिटकरी	१ तोला
सफेद सेंधा नमक	१ ,,
बीकानेरी मिश्री	१ ,,

सबको पीसकर गुलाब जलमें भलीभाँति घुला दें और छानकर काँचके डाँटवाली बोतलमें उपयोगके लिये रख दें। इसमें कभी-कभी हवा लगनेसे जाले-से पड़ जाते हैं। उस समय इसको फिरसे एक साफ कपड़ेमें छान लेना चाहिये। इस तरह बार-बार छानकर रख लेनेसे यह वर्षोंतक काम देता है।

जिनकी आँखें उठ आयें या जिनकी आँखोंमें रोंहे हो गये हों उनकी आँखमें इस अर्कको डालकर और ऊपर इसी अर्कमें रूईका फोहा भिगोकर बाँध देनेसे जल्दी लाभ होता है। यह द्रव प्रत्येक गृहस्थको अपने घरमें बनाकर रखना चाहिये।

३. जिनकी आँखोंमें मोतियाबिंद होनेका भय हो या आँखोंकी रोशनी बहुत कम हो गयी हो वे इस निम्नलिखित प्रयोगका निरन्तर उपयोगकर लाभ उठावें—

शुद्ध सरसोंका तेल	१ छटाँक
नीमकी कोपलें (हरी)	१ तोला

नीमकी कोपलोंको पीसकर और टिकिया बनाकर तेलमें रखकर एक ढक्कनदार शीशीमें बंद करके खुली छतपर १५ दिनतक रहने दें। इसमें सूर्य और चन्द्रके प्रभावसे विशेष गुण उत्पन्न होता है। बादमें इसको छानकर और फिर इसमें तीन माशा बरास कपूर डाल दें और इसका अंजन सलाईसे प्रतिदिन सोते समय करें।

४. जिनको मोतियाबिंद और आँखमें फूलादिका कष्ट हो, उनको नीचे लिखा हुआ योग लाभकारक होगा। पुनर्नवा आजकल सर्वत्र मिलती है। इसको जड़-समेत उखाड़कर धोकर सिलके ऊपर बारीक पीसकर कपड़ेसे निचोड़कर एक छटाँक रस निकाल लें और उस रसमें तीन माशा बरास कपूर और डेढ़ माशा पेपरमिंट मिलाकर एक सप्ताहतक रख दें। बादमें फलालैनसे छानकर काँचके डाटकी शीशीमें भरकर रख लें और सोते समय सलाईसे इसका अंजन करें। यह योग कुछ परिवर्तनके साथ रायबहादुर श्रीबंशीधरजी ढाँढड़ियाँ भागलपुर निवासी बनाकर वितरण करते हैं। पाठक उनसे मँगवाकर लाभ उठा सकते हैं।

कई-एक व्यक्तियोंको आँखकी बीमारी पेटके कारण होती है। उनको किसी विज्ञ चिकित्सकसे रोगका निर्णय कराकर सप्तामृत लौह, त्रिफला या महात्रिफलाद्य घृतका सेवन करना लाभदायक है।

नेत्रोंको सदा तीक्ष्ण भास्कर तथा सूक्ष्म और भयङ्कर चीजोंको देखनेसे बचाना चाहिये। नेत्र ही मनुष्यके सर्व सुख हैं। 'मीच गई आँखें तो लाखें क्या कामकी।' सिनेमा देखनेसे भी आँखोंको बहुत हानि होती है।

भक्त-गाथा

[भक्तिमती चन्द्रलेखा]

पश्चिमोत्तर प्रान्तमें एक जमींदारके घर चन्द्रलेखाका जन्म हुआ था। चन्द्रलेखा जब नन्ही-सी बालिका थी, तभी उसे देखकर सबका मन उसकी ओर खिंच जाता था। उसके अन्तरमें मानो एक पूर्ण ज्योत्स्नायुक्त सुधामय सुधाकर छिपा था, जिसकी मृदु मधुर किरणें उसके अङ्ग-अङ्गसे छिटकती रहती थीं। ज्यों-ज्यों चन्द्रलेखाकी उम्र बढ़ती गयी, त्यों-ही-त्यों उसके अन्तःकरणकी सात्त्विक वृत्तियाँ भी विकसित होने लगीं। उसकी धीरता, गम्भीरता, सौम्य स्वभाव, मृदु-मधुरभाव, शान्तवृत्ति, मुसकराती मुखाकृति और सरलता देखकर, ऐसा कोई नहीं था जो उससे स्नेह किये बिना रह सकता। उसकी उम्र अभी पाँच-छः वर्षकी थी और वह सबके लिये खिलौना बनी हुई थी।

एक दिन चन्द्रलेखाके घर एक साधु आये। चन्द्रलेखाके भक्त पिताने उनका भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया। साधु महाराज स्नान करके पूजा करने बैठे। उनके पास एक सुन्दर शालग्रामका विग्रह था। चन्द्रलेखा उनके पास जाकर बैठ गयी और भगवान्‌की पूजा देखने लगी। सरल हृदयकी बालिका थी, उसके मनमें आया—'मैं भी इसी प्रकार भगवान्‌की पूजा करूँगी' और उसने साधु महाराजसे बड़ी ही मीठी वाणीमें कहा—'महाराजजी! ऐसा एक भगवान् मुझको भी दीजिये। आपकी ही भाँति मैं भी उसकी पूजा करूँगी—नहलाऊँगी, चन्दन लगाऊँगी, कपड़े पहनाऊँगी, माला चढ़ाऊँगी, खिलाऊँगी, आरती उतारूँगी, फिर सुलाऊँगी और जब मैं अकेली रहूँगी, तब खूब प्यार-दुलार करूँगी—जैसे मेरी मा मेरा किया करती है।'

शिशु-बालिकाकी भोली बातें सुनकर साधु महाराजको हँसी आ गयी। उन्होंने कुछ कहा नहीं। साधुकी इस उपेक्षासे चन्द्रलेखाको बड़ा दुःख हुआ। वह फूट-फूटकर रोने लगी। साधुजीने भगवान्‌का मिश्री-प्रसाद देकर उसे भुलाना चाहा, पर उसका रोना किसी तरह भी बंद नहीं हुआ। साधुजीने अन्य कोई उपाय न देखकर एक छोटा-सा काला पत्थर लाकर उसे दे दिया और कह दिया कि 'ये ही भगवान् हैं। इनका नाम सिलपिल्ले है।' बस, अब तो चन्द्रलेखाके आनन्दका पार नहीं है। वह अपने सिलपिल्ले भगवान्‌को सिरपर रखकर चली गयी और आनन्दमें मतवाली होकर नाचने लगी।

साधु महाराज चले गये; परंतु चन्द्रलेखाको जो भगवान् और उनका मन्त्र मिल गया, वह उन्हींको लेकर मस्त हो गयी। पिताजीने एक सिंहासन बनवा दिया; माताने पूजाका सामान मँगवा दिया। सुलानेके लिये एक सुन्दर पिटारी बनवा दी। चन्द्रलेखाका भगवत्पूजन और सिलपिल्ले मन्त्रका जप निरन्तर चलने लगा। माता-पिता तथा अड़ोसी-पड़ोसी उसकी पूजा देखकर बड़े प्रसन्न होते। पर चन्द्रलेखा किसीकी ओर न ताककर तद्गतचित्तसे पूजामें लगी रहती। उसकी आँखोंसे निरन्तर प्रेमाश्रु बहते रहते।

काल तो कभी रुकता नहीं, देखते-देखते चन्द्रलेखाकी उम्र विवाहके योग्य हो गयी। चन्द्रलेखाकी इच्छा विवाह करनेकी नहीं थी; परंतु माता-पिताकी इच्छाके सामने हिंदूबालिका अपने विवाहके सम्बन्धमें कैसे कुछ कहे? पिताने योग्य वर ढूँढ़कर सम्बन्ध कर दिया। बारात आयी। विधिपूर्वक विवाह हो गया। और चन्द्रलेखाको भाँति-भाँतिके वस्त्राभूषणोंसे सजाकर और बहुत-सा दहेज देकर पिताने आँसू बहाते हुए विदा

कर दिया। वह पालकीपर सवार हो गयी और अपने प्यारे सिलपिल्ले भगवान्‌की पिटारीको आदरपूर्वक पालकीपर पधरा लिया। चन्द्रलेखाने बात-ही-बातमें यह सुन लिया था कि उसका पति हरिविमुख है। इससे उसको बड़ा दुःख हो रहा था; परंतु 'भगवान् मेरी निश्चय ही सहायता करेंगे' इस विश्वासको लेकर वह रोती हुई ससुरालके लिये विदा हो गयी।

रास्तेमें नदीके तटपर बारात ठहरी। पालकी भी ठहरायी गयी। इसी अवकाशमें चन्द्रलेखाका पति अपनी नवविवाहिता पत्नीका मुख देखने और उससे दो-एक मीठी बात करनेके लिये पालकीके पास आया। चन्द्रलेखाके मनमें बड़ा क्षोभ था। वह तो अपना तन-मन-जीवन श्रीभगवान्‌के अर्पण कर चुकी थी। हरिविमुख पतिका मुख देखनेमें उसे बड़ा सन्ताप हो रहा था। उसने रोते-रोते कहा—'स्वामिन्! मैंने सुना है आपका मेरे श्रीहरिके प्रति प्रेम नहीं है। मेरे और आपके सभीके सर्वस्व तो श्रीहरि ही हैं। उनसे विमुख होनेपर जीवका कभी कल्याण नहीं हो सकता। मैं आपसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ—आप समस्त कल्याणगुणोंके भण्डार आनन्दनिकेतन परम प्रियतम मेरे प्रभुसे प्रेम करें। आप मेरे प्रभुसे प्रेम करेंगे तब मेरा हृदय खिल उठेगा और मैं बड़े चावसे आपके चरणोंकी सेवा करूँगी।' नास्तिक पतिके हृदयमें पत्नीके ये वाक्य बाण-से बिंध गये। उसने क्रोधित होकर चन्द्रलेखाके भगवान्‌की पिटारी छीन ली और उसे नदीके प्रवाहमें बहा दिया। इस दृश्यको देखकर चन्द्रलेखाका हृदय मानो विदीर्ण हो गया। वह ऊँचे स्वरसे रोने-कलपने लगी। पतिने तथा बरातियोंने उसे शान्त करनेकी बहुत कोशिश की; परंतु उसका रुदन बंद नहीं हुआ। उसके हृदयकी क्या स्थिति थी, इसे दूसरे कैसे समझ सकते। रोती हुई ही वह ससुराल पहुँची!

चन्द्रलेखाके तो हृदयनिधि ही छिन गये हैं। जगत्‌के सारे सुखोंके नाश हो जानेपर भी जिन अपने भगवान्‌को लेकर वह सुखपूर्वक जीवन बिता सकती थी, उनके वियोगमें उसकी कैसी दशा है और वह क्यों रो रही है, इस बातको बेचारी विषयासक्त ससुरालकी स्त्रियाँ कैसे समझ सकतीं। उन्होंने सोचा 'पहले-पहल बहू ससुराल आती है, तब रोया ही करती है। ऐसे ही यह भी रोती होगी। दो-चार दिनोंमें अपने ही शान्त हो जायगी।' पर चन्द्रलेखाका तो रोना दूसरा ही था। उसकी तो हृदय-तन्त्री ही तोड़ दी गयी है। चन्द्रलेखा न सोती है, न खाती है, न किसीसे कुछ बोलती है, आठों पहर उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहती रहती है। आँसुओंके प्रवाहसे उसका सारा वक्षःस्थल भीगा रहता है। उसका स्वर्ण-सा मुख-कमल सर्वथा मुरझा गया है। सासको अपने पुत्रसे जब सारी बातें मालूम हुईं, तब उसने बहूसे बड़े दुलारसे पूछा। इसपर उसने कहा—'माताजी! मेरा जीवन तो मेरे हृदयनाथ भगवान्‌के हाथमें है। उनके मिलनेपर ही जीवन रह सकता है। अन्य कोई उपाय नहीं है।'

जब उन लोगोंने देखा कि अब इसके प्राण नहीं बच सकते, तब वे लोग उसे लेकर नदीके तीरपर वहीं आये, जहाँ उसके पतिने ठाकुरजीकी पिटारीको जलमें बहा दिया था। चन्द्रलेखाके पतिने कहा—'हमलोग यहाँ नदीके तटपर तो आ गये हैं; परंतु पिटारीका पता कैसे लगेगा। वह तो उसी समय नदीकी धारमें बह गयी थी। खोजकर उसका पता लगाना ठीक है। पता नहीं पिटारी डूब गयी है या बहकर बहुत दूर चली गयी है। मुझसे अवश्य बड़ी भूल हुई, मैंने तुम्हारे भावको नहीं समझा, पर अब क्या उपाय है।' चन्द्रलेखाने कोई उत्तर नहीं दिया और वह बड़े विश्वासके साथ रो-रोकर अपने प्रभुसे प्रार्थना करने लगी—

कृपानाथ ! इस आपकी दासीसे ऐसा क्या अपराध हो गया कि आपने इसका ऐसी निर्दयताके साथ त्याग कर दिया ! नाथ ! मेरे पति कहते हैं, 'आपका पता नहीं है, कहाँ हैं; आप डूब गये हैं कि कहीं बह गये हैं।' मैं तो समझती हूँ, आप सदा सर्वत्र हैं, जहाँ आपके लिये मनुष्यके प्राण रो उठते हैं, वहीं आप प्रकट हो जाते हैं। आपके डूबनेके लिये तो एक स्थान है और वह है प्रेमी भक्तका सुधाभरा हृदय-समुद्र ! आप शायद उसीमें कहीं डूबे हों, पर अब तो मेरी करुण पुकार सुनकर तुरंत आ जाइये। मैं विश्वासी नहीं हूँ पर मेरे प्राण अवश्य आपके लिये रो रहे हैं। प्रभो ! आपके सिवा संसारमें और कौन है, जिसे मैं 'मेरा' कह सकूँ। कोई सुखके साथी हैं, कोई यौवनके लोलुप हैं, बहुत हुआ तो कोई मरण-कालतकका संगी हो सकता है; परंतु मरनेके बाद भी, माताके पेटमें भी, स्वर्ग-वैकुण्ठ और नरकमें भी साथ रहनेवाले, साथ-साथ सुख-दुःखका अनुभव करनेवाले, सदा हृदयसे लगाये रखनेवाले, किसी भी अवस्थामें उपेक्षा-घृणा न करके सदा हृदयसे प्यार करनेवाले तो एकमात्र आप ही हैं। मुझ अनाथ और कंगालके तो सर्वस्व धन ही आप हैं। मेरे अपराधोंको क्षमा कीजिये, जहाँ कहीं भी हों, तुरंत आकर दर्शन दीजिये, हृदयसे लगकर मेरी छातीको शीतल कीजिये—

मिलहु मोहि अब आइ प्रभु ! दयासिंधु भगवान ।
दरसन बिनु तव दासि यह तजन चहति है प्रान ॥

भगवान् भृत्यवत्सल हैं, भक्तसर्वस्व हैं, भक्तार्तिकातर हैं, उनसे भक्तके निश्छल निष्काम आँसू नहीं देखे जाते। जो उनके लिये व्याकुल होकर एक भी आँसूकी बूँद बहा देता है, उसीके सामने प्रकट होनेमें वे देर नहीं करते। यहाँ तो चन्द्रलेखाकी रोते-रोते आँखें फूल गयी हैं। भगवान् अब कैसे रहते! अकस्मात् नदीमें एक तरङ्ग आयी और जलराशिको भेद करके सिलपिल्ले भगवान्‌की पिटारी निकली और तरङ्गके साथ ही उछलकर वह चन्द्रलेखाकी गोदमें उसके हृदयदेशपर आकर चिपट गयी—

सुनतहि अति आरत बचन, करुनानिधि अतुराइ ।
निकसि सरित ते, गोद तेहि आ लिपटे हरि धाइ ॥

चन्द्रलेखाने भगवान्‌को उठाकर मस्तकपर धारण किया ! सारा कष्ट सदाके लिये बह गया। इस आश्चर्य-घटनाको देखकर नास्तिक हरिविमुख पतिका मन भी बदल गया। उसका हृदय भी भगवान्‌के लिये रो उठा, उसने अपना अपराध स्वीकार करके भगवान्‌से क्षमा माँगी। भगवान्‌ने अपनी भक्तिपरायणा चन्द्रलेखाके इच्छानुसार उसके पतिको दुर्लभ भक्ति दी। सास-ननदका हृदय भी भक्ति-रससे द्रवित हो गया। चन्द्रलेखाकी भक्तिकी बाढ़ने रेतीले रेगिस्तानको पवित्र प्रेमसुधासे लहरा दिया। सूखा बगीचा लहलहा उठा। समस्त श्वसुरकुलका उद्धार हो गया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

* * *

रामलगन माते जे रहते ।
तिनकी चरन-धूरि ब्रह्मादिक, सिर धारनको चहते ।
याही ते मानव-शरीरकी, महिमा बुधजन कहते ॥
सो बपु पाय भजे राम नहिं ते सठ डहडह डहते ।
केशी तोहिं उचित मारग सोइ जिहि मुनिनायक गहते ॥

—मंजुकेशी

कामके पत्र

(१)

कुसङ्गका त्याग करें

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपके पतनमें मेरी समझसे तो कुसङ्ग ही प्रधान कारण है । सिनेमाके शौकीनोंके साथ आपने मेल बढ़ाया । सिनेमा देखनेका चसका लगा । उसीके परिणामस्वरूप आपमें ये दोष आ गये हैं । सिनेमा-सम्बन्धी पत्रोंको पढ़ना और उनमें अभिनेत्रियोंके चित्रोंका बार-बार देखना भी पतनमें बड़ा कारण है । महाभारतमें कहा है—

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥
असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ॥
(वनपर्व १ । २३, २८)

'जैसे पुष्पोंकी गन्ध अपने सम्पर्कमें आनेपर वस्त्र, जल, तिल (तैल) और भूमिको उसी प्रकारकी गन्धसे भर देती है, वैसे ही, मनुष्यमें संसर्गजनित गुण (या दोष) आ जाते हैं ।'

'बुरे मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ बात-चीत करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचरण नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य किसी अच्छे कर्ममें सफल नहीं हो पाते ।'

भगवान्की बड़ी कृपा समझिये जो आपको अपने पतनका ध्यान हो आया । अब आप नीचे लिखी प्रतिज्ञा कीजिये ।

(१) कभी सिनेमा नहीं देखेंगे ।

(२) सिनेमासम्बन्धी पत्र, गंदे उपन्यास, नाटक या गंदी अन्य पुस्तकें नहीं पढ़ेंगे ।

(३) स्त्रियोंके चित्र नहीं देखेंगे । स्त्रियोंके अङ्गोंका वर्णन न करेंगे, न सुनेंगे ।

(४) नित्य प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्याके उपरान्त गायत्रीकी कम-से-कम एक माला (१०८ मन्त्र) का जप अवश्य करेंगे और सूर्य भगवान्से सच्चरित्रता प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करेंगे ।

(५) प्रतिदिन गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ करेंगे ।

(६) शौकीनी तथा विलासिताका त्याग करेंगे ।

(७) जिनके सङ्गसे आपमें ये दोष आये हैं, उनका सङ्ग त्याग करेंगे । इसका अर्थ यह नहीं कि उनसे वैर-विरोध करें या उनका अपमान-तिरस्कार करें । बल्कि उनका मनसे हित चाहते हुए ही उनके सङ्गका त्याग करें

(८) नित्य भगवान्की प्रार्थना करें ।

(९) खर्चका हिसाब रक्खें । पिताजीसे खर्चके लिये आपको जो मिलता है, उसमेंसे कुछ बचावें और उसे किसी गरीबकी भलाईके लिये खर्च करें ।

(१०) पिताजीके आदेशानुसार कारोबार देखनेमें समय लगावें और मन लगाकर काम करें ।

(११) कभी निकम्मे न रहें ।

शेष भगवत्कृपा ।

(२)

भगवान्की शक्ति ही प्रकृति है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपा-पत्र मिला । उत्तर विलम्बसे जा रहा है, क्षमा कीजियेगा । आपके प्रश्नोंके उत्तर नीचे लिखे जाते हैं—

(१) भगवान्का सगुण स्वरूप सविशेष यानी

नित्य शक्तियुक्त ही है । हम चाहे भगवान् लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शङ्कर, सीता-राम, राधा-कृष्णके युगल विग्रहका पूजन करें या केवल भगवान् नारायण, शङ्कर, राम या श्रीकृष्णका । जहाँ भगवान् सगुण-साकार हैं, वहीं उनकी शक्ति साथ हैं और उसीको लेकर भगवान्‌की सारी लीलाएँ होती हैं । गौरतेजके बिना केवल श्यामतेजकी समाराधनासे पाप लगता है, तन्त्रकी यह बात ठीक ही है । क्योंकि बिना शक्तिके शक्तिमान्‌का आराधन हो ही नहीं सकता । उसका अस्तित्व ही शक्तिपर निर्भर है । शक्ति है तो शक्तिमान् हैं और शक्तिमान् है तो शक्ति है । एकके बिना दूसरेका अभाव है तथा शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं । जैसे अग्नि और दाहिका-शक्ति तथा सूर्य और उसकी प्रकाश-शक्ति ।

(२) भगवान्‌की शक्तिका नाम ही प्रकृति या योगमाया है । इनके कई स्वरूप और स्तर हैं । परमोज्ज्वल भगवत्स्वरूप भी प्रकृति है । जगत्‌को सृजन करनेवाली तथा पालन और संहार करनेवाली भी प्रकृति है. जगत्‌के समस्त जीवोंको मोहित करनेवाली भी प्रकृति है और मोहसे मुक्त करके भगवान्‌तक पहुँचानेवाली भी प्रकृति है । भगवान्‌की एक ही प्रकृति या शक्तिके ये विभिन्न लीलास्वरूप हैं । योगमाया, स्वमाया, माया, मलिना माया आदि भी इस शक्तिके ही विभिन्न लीलानुरूप नामान्तर हैं ।

(३) जहाँ भगवान्‌की शक्तिका कार्य नहीं होता, वहाँ भगवान्‌का निर्गुण स्वरूप है और जहाँ शक्ति लीलायमान है, वहाँ भगवान् सगुण हैं । निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार एक ही भगवान्‌के विभिन्न स्वरूप हैं । सभी पूर्ण हैं, सब अलग-अलग भी पूर्ण हैं, सब एक साथ भी पूर्ण हैं ।

(४) भगवान् विष्णु, शिव, नारायण, दुर्गा, राम, श्रीकृष्ण सब एक ही भगवान्‌के विभिन्न लीलास्वरूप और लीला-नाम हैं । इनमें जो एकको भजता है, वह सभीको भजता है । इनमें ऊँच-नीचकी भावना करना पाप है ।

(५) वैकुण्ठ, स्वर्ग, नरक आदि निश्चित लोक हैं । वैकुण्ठ भगवान्‌का दिव्य लोक है और नित्य है । वहाँ गया हुआ जीव वापस नहीं लौटता । स्वर्ग-नरकादि अनित्य हैं । कर्मानुसार जीव इन लोकोंमें जाते हैं । वहाँ उतने ही समय रहते हैं, जितने समयके लिये वहाँके योग्य पुण्य या पापका भोग होता है । भोग समाप्त होनेपर अवशेष कर्मभोगके लिये कर्मानुसार स्थूल योनि मिलती है । पुण्यात्माको पवित्र योनि और पापात्माको नीच योनिकी प्राप्ति होती है ।

(६) भगवान्‌के दर्शन अवश्य हो सकते हैं । दर्शनका प्रधान उपाय है अटल विश्वासयुक्त दर्शनकी उत्कट लालसा । भक्त जिस रूपमें भगवान्‌के दर्शन चाहता है, उसी रूपमें प्रभु उसे दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं ।

शेष भगवत्कृपा

(३)

धनकी सार्थकता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । पढ़कर खेद हुआ । आपके पास धन है, भगवान्‌ने आपको दिया है । फिर आप उसे अपने गरीब सगे भाई-बहिनोंकी तथा माता-पिताकी सेवामें लगानेसे इतना क्यों हिचकते हैं ? आप ऐसा क्यों मानते हैं कि 'मेरे धनपर इन लोगोंका क्या अधिकार है, मैं अपने बाल-बच्चोंके पालन-पोषणमें ही इसको क्यों न लगाऊँ । इन लोगोंको देकर क्यों धनको बर्बाद करूँ ।' मुझे तो आपकी इस बुद्धिपर तरस आती है । सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌ने आपको जो विशेष धन, विशेष शक्ति या विशेष साधन दिये हैं सो केवल दूसरोंकी

सेवाके लिये ही दिये हैं। अपने प्राप्त साधनोंसे जो दूसरोंकी सेवा न करके, उन्हें सुख-सुविधा न देकर केवल अपने या अपने कुटुम्बके लिये ही उनका उपयोग करता है, वह तो ईश्वरको धोखा देता है। आपके धनपर प्राणिमात्रका अधिकार है। सबको उनका प्राप्य हिस्सा देकर जो बचा हुआ खाता है, वह अमृत खाता है। पर जो केवल अपने लिये ही कमाता-खाता है, वह तो पाप खाता है। उसका जीवन ही पापमय है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
(गीता ३ । १३, १६)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापात्मालोग अपने लिये ही पकाते (कमाते-खाते) हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।' 'जो पुरुष इस प्रकार प्रवर्तित सृष्टिचक्रके अनुसार बर्ताव नहीं करता, वह इन्द्रियाराम पाप-जीवन मनुष्य तो व्यर्थ ही जीता है।'

इसलिये उचित तो यह है कि आप प्राणिमात्रकी सेवामें अपना धन लगावें और उसीमें सौभाग्य समझें। फिर आपके भाई जो गरीब हैं, जिन आपकी बहनोंको कष्ट है, वृद्ध माता-पिता हैं—उनकी सेवा करना तो आपका प्रधान धर्म है। 'माता-पिता आपकी अपेक्षा आपके अन्य भाइयोंसे अधिक स्नेह करते हैं, उनका पक्ष करते हैं और भाई-बहिन भी आपके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते।' यदि ऐसी बात है तो वे भूल करते हैं। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये। यदि वे मेरी बात मानें तो मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि आप उनके साथ चाहे जितना रूखा बर्ताव करें, आपको सम्पन्न और सुखी देखकर माता-पिताको सुखी होना चाहिये तथा आपके प्रति स्नेह करना चाहिये और भाई-बहिनोंको भी—अपने दुःखोंको अपने कियेका फल मानकर आपको न कोसना चाहिये, न आपके साथ बुरा बर्ताव करना चाहिये। बल्कि यह समझकर कि 'हम चाहे दुःखी हैं, हमारे बाल-बच्चे चाहे कष्ट पाते हैं, पर हमारा एक भाई और उसके बालबच्चे तो सुखी हैं। हमें उसके सुखसे सुखी होना चाहिये' और आपके साथ उन्हें उत्तम-से-उत्तम प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। परंतु जरा आप सोचिये, उनका ऐसा व्यवहार क्यों है और उसमें आप तथा आपका व्यवहार कहाँतक कारण है। पहले माता-पिताको लीजिये। आपके पास लाखों रुपये हैं, खेत हैं, सम्पत्ति है, मोटर है, घरके मकान हैं, आपके घरमें दसों नौकर हैं। आपके माता-पिता वृद्ध हैं और वे अपने दूसरे गरीब लड़कोंके साथ गरीबीसे रहते हैं। वे ही उनको खानेको देते हैं। आप न खानेको देते हैं, न कभी आदर-सत्कार करते हैं, बल्कि अपने धनपर उनका जरा भी अधिकार नहीं मानते, उनकी सेवामें कुछ भी लगाना आप धनकी बर्बादी समझते हैं और यह बात आप उन्हें सुना भी देते हैं। इतना होनेपर वे बेचारे आपको शाप नहीं देते। केवल अपने दूसरे लड़कोंके पक्षमें कुछ कह देते हैं। तो क्या यह उनका अपराध है? मा-बापके लिये सभी बच्चे एक-से हैं, पर जो गरीब, दुखी और संकटग्रस्त हैं, उनके प्रति उनकी अधिक सहानुभूति होना स्वाभाविक है। आप मौज-मजा करें, आपके बालक परम सुख-स्वच्छन्दतासे रहें और उनकी आँखोंके सामने उन्हींके दो लड़के, उनके बच्चे तथा पुत्रियाँ दाने-दानेको तरसें तथा आप उनको कुछ भी देनेकी बात तो अलग रही, मीठी वाणीसे बात-चीत भी न करें। फिर आप कैसे आशा कर सकते हैं कि भाइयोंका, बहिनोंका तथा माता-पिताका बर्ताव आपके साथ अच्छा

हो । वे तो बेचारे दुखी हैं । एक बात याद रखनी चाहिये । विपत्तिकालमें मनुष्य अपने आत्मीय स्वजनोंसे विशेष आशा रखता है । सम्पद्-कालमें उनसे कोई न बोले तो उन्हें दुःख नहीं होता । पर विपत्तिकालमें यदि भूलसे भी स्वजन नहीं बोलता तो विपत्तिग्रस्त मनुष्यको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी दुरवस्थाके कारण यह उपेक्षा की गयी है । इसीसे तुलसीदासजीने कहा है—'बिपतिकालकर सतगुन नेहा' विपत्ति कालमें सौगुना प्रेम करना चाहिये । फिर आप तो अपने गरीब सगे भाई-बहिनोंको जली-कटी भी सुनाते हैं ! यह आपका परम दुर्भाग्य है । आपका काम था अपना सर्वस्व देकर उनको सुखी करना । इससे आपको उनका ऐसा आशीर्वाद मिलता कि जिससे आपका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल और सुखमय हो जाता; परंतु आप जो कर रहे हैं, यह तो महापाप है और इसका परिणाम आपके लिये निश्चित ही बहुत दुःखदायी होगा । आपका यह धन फिर किस काम आवेगा । ऐसे धनको धिक्कार है ! आप निश्चित समझिये, यदि आपने अपना व्यवहार नहीं बदला तो यह धन आपको भीषण नरकाग्निमें जलानेका कारण बनेगा ।

महाभारतमें कहा है—

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥

(उद्योगपर्व ३३ । ७०)

तात ! गृहस्थधर्ममें स्थित एवं लक्ष्मीसे सेवित आपके घरमें इन चार प्रकारके मनुष्योंको सदा आदरपूर्वक रखना चाहिये—अपने कुटुम्बका वृद्ध पुरुष, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना सन्तानकी बहिन ।

अतएव मेरा आपसे साग्रह निवेदन है कि आप अपने गन्दे और तुच्छ विचारोंको बदलिये, इनकी सेवामें आपका धन बर्बाद नहीं होगा, बल्कि इसीसे उसकी सार्थकता होगी । अपनी पत्नीको भी समझाइये । खुले दिलसे सेवा करके पिता-माताका अमोघ आशीर्वाद और भाई-बहिनोंकी सद्भावना प्राप्त कीजिये । उन्हें हर तरहसे सुखी करनेमें ही आपका कल्याण है । भगवान्‌की कृपासे आपके पास साधन हैं, इन साधनोंको सदुपयोग कीजिये ।

(४)

सच्चे प्रेमका व्यवहार कीजिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । मेरे पत्रके उत्तरमें आपका पत्र मिला । आपको साहस, धैर्य, शान्ति और उत्साह मिला सो आनन्दकी बात है । आप प्रेमपूर्ण बर्ताव रखते हैं और रक्खेंगे यह बड़ी अच्छी बात है । मैं चाहता हूँ, केवल बर्ताव नहीं, आप सचमुच हृदयसे प्रेम करें और पति-पत्नीवत् व्यवहार करें । बहुत अंशमें यही ठीक है कि उनसे भूल नहीं हुई होगी, पर यदि हो भी गयी है तो आप अपने विशुद्ध प्रेमसे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दें जिससे भविष्यमें ऐसी कोई भूल उनसे न हो । उनको प्रेमके हाथका सहारा देकर बचा लीजिये । धक्का कभी न दीजिये । यही उनके प्रति आपका सच्चा सद्व्यवहार होगा । इससे ईश्वर आपपर बहुत प्रसन्न होंगे । किसीपर गिरनेका सन्देह ही नहीं करना चाहिये, इसीमें लाभ है, पर यदि कदाचित् कोई कभी पैर फिसलकर गिर भी जाय तो उसे उठाना चाहिये, उसके प्रति सहानुभूति करनी चाहिये और उसको ऐसी स्थितिमें ला देना चाहिये कि जिससे पुनः गिरनेकी सम्भावना ही न रहे । उनकी जगह आप होते तो क्या वे आपको त्याग देतीं, क्या यही उनका कर्तव्य होता ? अतएव मनसे उनके त्यागकी कल्पनाको छोड़ दीजिये । इसीसे आपका तथा उनका—दोनोंका जीवन सुखी हो जायगा । गीता-रामायणका अध्ययन स्वयं कीजिये, उनसे भी कराइये । दिलकी आगको निःस्वार्थ प्रेमसे बुझाकर शान्त कर लीजिये । शेष भगवत्कृपा ।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस समय समस्त विश्वमें हाहाकार मचा है। भय और अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, कलह, कलुष, संग्राम और संहार बढ़ रहे हैं। धर्म तथा ईश्वरके प्रति बढ़नेवाली अश्रद्धासे मनुष्य पिशाच हुआ चला जा रहा है। इसीसे आधिदैविक दुःख भी बढ़ रहे हैं। युद्ध, बाढ़, अवर्षा, अकाल, अन्नकष्ट, व्याधि आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। पता नहीं, ये उपद्रव कितने और बढ़ेंगे। ऐसी दशामें इस विपत्तिसे त्राण पानेके लिये श्रीभगवान्का आश्रय ही एकमात्र उपाय है। भगवदाश्रयके लिये भगवन्नामका आश्रय आवश्यक है। भगवन्नामसे ऐसा कौन-सा विघ्न है जो नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है जो नहीं मिल सकती। प्रतिबन्धक प्रबल होनेपर देर भले ही हो जाय, परंतु नामका अमोघ फल तो होता ही है। इस घोर कलियुगमें तो जीवोंके लिये भगवन्नाम ही एकमात्र अवलम्बन है। अतएव भारतवर्ष तथा समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये तथा साधकोंके परम लक्ष्य एवं मानव-जीवनके परम ध्येय भगवान्की प्राप्तिके लिये सबको भगवन्नामका जप-कीर्तन करना चाहिये। 'कल्याण'के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक तथा सभी पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं। प्रतिवर्षकी भाँति गतवर्ष २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी। प्रसन्नताकी बात है कि सैकड़ों जगह हजारों नर-नारियोंने करोड़ों मन्त्रोंका जप किया है। स्थानोंकी सूची और मन्त्र-संख्या आगामी अङ्कमें प्रकाशित की जायगी। हम इन सभी जापकोंके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं।

इस वर्ष भी अपने देशके, धर्मके तथा विश्वके कल्याणके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करके 'कल्याण'के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंको नाम-जप करना-कराना चाहिये। गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की जाती है। आगामी कार्तिक शुक्ला १५ से जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ल १५ तक हो। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्का नाम इतना प्रभावशाली होनेपर भी इसका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण'के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे करवायें। नियमादि सदाकी भाँति हैं।

यह आवश्यक नहीं कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं। भगवन्नामका जप जितना भी किया जाय, उतना ही

उत्तम है। भगवन्नामकी शरणागति अमोघ है और वह महान् भयसे तारनेवाली होती है।

जो लोग जपका नियम करें-करावें वे नीचे लिखे अनुसार जोड़कर सूचना भेजनेकी कृपा करें।

मेरा तो विश्वास है कि यदि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो शीघ्र ही हमारी प्रार्थनासे भी बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस महान् पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१. जप किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, इस नियमकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ को समझनी चाहिये। उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत उत्तम है।

२. सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३. प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४. सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल अपना नाम और पता लिख भेजें।

५. संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ—यदि ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिन मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है। जिसमें भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद कर देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई जप करें उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब भी इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६. संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७. सूचना भेजनेका पता—**नाम-जप-विभाग 'कल्याण' कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

प्रार्थी—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

कल्याण-सम्पादक

गीता-दैनन्दिनी (गीता-डायरी) सन् १९५२ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, मूल्य अजिल्द ॥=), कपड़ेकी जिल्द ॥।) मात्र।

इसमें अठारहों अध्याय सम्पूर्ण गीता, हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और गुजराती तिथियाँ, सूर्योदय सूर्यास्तका समय तथा मुख्य-मुख्य त्यौहारोंका संकेत किया गया है।

प्रारम्भमें तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रसूचक तिथिपत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कलेण्डर, प्रतिदिन पालनीय २० नियम, नित्य प्रार्थना और जीवन-सुधारके लिये संत-महात्मा और शास्त्रोंके अनेक मनन करनेयोग्य उपदेश, दैनिक वेतन और मकान भाड़ेका नक्सा, रेलयात्रा, डाक, तार, इनकमटैक्स आदिके विषयमें खास-खास जाननेयोग्य बातें, माप-तौलकी सूची, अनुभूत घरेलू प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षाके सात सूत्र एवं अन्तमें जरूरी बातें नोट करनेके लिये कुछ सादे पृष्ठ भी दिये गये हैं।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १-), दोके लिये १॥।-), तीनके लिये २॥), छःके लिये ४॥=) और बारहके लिये ८॥।=) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १≡), दोके लिये २=) तीनके लिये ३), छःके लिये ५॥) और बारहके लिये १०॥=) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याण

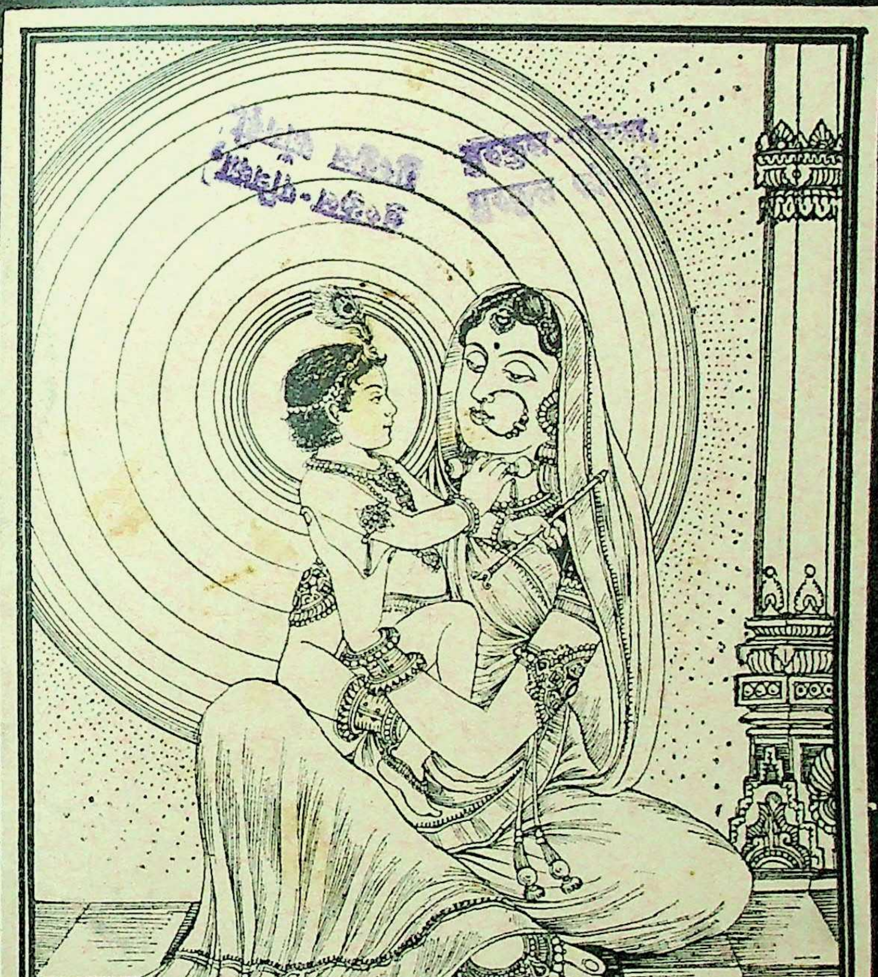

वर्ष २५

अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २००८, नवम्बर सन् १९५१

विषय पृष्ठ-संख्या
१–माखन माँगनेकी अनोखी रीति [कविता] (श्रीसूरदासजी) १३९९
२–कल्याण ('शिव') १४००
३–राजा चक्कवेणके त्यागका प्रभाव (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १४०१
४–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन १४०६
५–छकड़ेका बैल [कविता] (श्रीनागरीदासजी) १४११
६–तपोवन (लेखक–कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर) (अनु०—श्रीधन्यकुमारजी जैन) ... १४१२
७–तप और त्याग (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) १४१९
८–गीता-जयन्ती (श्रीदेवीचरणजी निगम एम्० ए०) १४२०
९–वे अपने अपने नहीं हैं (संकलित—श्रीमद्भागवत) १४२१
१०–वेदोंमें गौका महत्त्व (श्रीकैलाशचन्द्रजी विद्यालङ्कार) १४२२
११–श्रीगणेश–एक महान् भारतीय आदर्श (पं० श्रीलक्ष्मीनारायणजी पुरोहित, साहित्याचार्य, कविकलानिधि) १४२६
१२–निराशापर विजय (श्रीलावेल फिल्मोर) १४२९
१३–देवी-महिमा (पं० श्रीरामदत्तजी भारद्वाज एम्० ए० (त्रय), एल्-एल्० बी०) ... १४३२
१४–भोग और त्याग १४३३
१५–सुखकी जड़ (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) १४३८
१६–सत्यकी खोजमें (डा० श्रीकुलरञ्जन मुखर्जी) १४४२
१७–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) १४४५
१८–कारज सरै न भक्ति बिनु (श्री 'दुर्गेश') १४५०
१९–भक्त-गाथा १४५१
२०–प्रभुसे [कविता] (अकिञ्चन) १४५२
२१–कामके पत्र १४५३
२२–श्रीभगवन्नाम–जप (नाम-जप-विभाग-'कल्याण'–कार्यालय, गोरखपुर) १४६०
२३–श्रीगीता-जयन्ती १४६२

चित्र-सूची

तिरंगा

१–माखन माँगनेकी रीति १३९९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्र
भारतमें ।=)
विदेशमें ॥-)
(१० पैं

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए० शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

कृपालु और प्रेमी ग्राहकों तथा पाठकोंसे निवेदन

यह पचीसवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क प्रकाशित हो जानेपर इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा। छब्बीसवें वर्षका पहला अङ्क (विशेषाङ्क) 'भक्त-चरिताङ्क' होगा। भक्तोंके चरित्र ही संसारमार्गमें भूले-भटके पथिकोंके लिये विश्वस्त मार्ग-दर्शक हैं। श्रीभगवान्‌के महत्त्व, तत्त्व, रहस्य तथा भगवान्‌की भक्त-वत्सलता, भृत्यपरायणता आदि गुणोंका पता भक्तोंके तपःपूत, त्यागपूर्ण, सेवामय तथा भाव-सुधा-प्लावित पावन चरित्रोंसे ही लगता है। 'भक्त-चरित' ही भक्तिदानमें समर्थ है। आजके इस श्रद्धा-विश्वासरहित जडोपासक अन्धकारभरे युगमें तो भक्त-चरितोंके प्रकाशकी विशेष आवश्यकता है। इसीलिये इस बार 'भक्त-चरिताङ्क' प्रकाशित किया जा रहा है। भक्तोंके लिये किसी भी देश, जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म, स्थिति आदिकी महत्ता या लघुता नहीं है। भगवद्विश्वासी सभी देशोंमें, सभी जातियोंमें, सभी वर्णोंमें और सभी धर्मोंमें भक्त हुए हैं और हो सकते हैं। इसीलिये इस 'भक्त-चरिताङ्क' में प्राचीन और अर्वाचीन सभी जातियोंके भक्तोंके शिक्षाप्रद, मधुर, गम्भीर और सरल रसमय भावमय चरित और कहीं-कहीं चुने हुए उपदेश भी रहेंगे। भक्ति-तत्त्वसम्बन्धी दो-चार लेखोंके अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ केवल जीवन-चरित्रोंसे ही पूर्ण होगा। भक्तोंके विविध चरित्रोंसे जीवनको पवित्र प्रेरणा मिलेगी, भगवान्‌के स्वरूपका प्रकाश होगा और जीवनको भक्तिमय बनानेके लिये सुन्दर मार्ग मिलेगा। यह अङ्क अत्यन्त रोचक, शिक्षाप्रद, आनन्ददायक और लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली सामग्रियोंसे सुसज्जित होगा। इसमें ऐसी-ऐसी सुरुचिपूर्ण पवित्र कथाएँ रहेंगी, जिन्हें पढ़-सुनकर बालक, वृद्ध, युवा सभी नर-नारियोंका मन लगेगा और मन लगनेपर उन्हें भक्ति-महारानीके सहज ही दर्शन भी हो सकेंगे।

इस अङ्कमें भगवान् विष्णु, भगवान् शङ्कर, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीभगवती तथा भक्तोंके अनेकों सुन्दर और प्रेरणाप्रद बहुरंगे तथा इकरंगे चित्र होंगे। इसमें लगभग ८०० पृष्ठोंकी ठोस सामग्री रहेगी। यह अङ्क सर्वथा संग्रह करने योग्य तथा मित्रों, विद्यार्थियों, कन्याओं, धार्मिक समाजों, संस्थाओं, पुस्तकालयों आदिको उपहार, पुरस्कारमें देने तथा वितरण करने योग्य होगा।

'कल्याण' के पुराने 'भक्ताङ्क' तथा 'संताङ्क' सर्वथा अप्राप्य हैं। पूर्वका 'भक्ताङ्क' बहुत छोटा था, उसमें प्रायः २०० पृष्ठोंकी ही सामग्री थी। 'संताङ्क' में भक्तोंके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकारके संतोंके चरित्र संगृहीत थे। पर इस 'भक्त-चरिताङ्क' में केवल भक्तोंके ही पुनीत चरित्र रहेंगे और उनमें बहुत-से ऐसे होंगे जो 'संताङ्क' या 'भक्ताङ्क' में नहीं छपे हैं। यह एक अत्यन्त नवीन सुन्दर 'भक्त-माल' होगा। अतएव जो सज्जन पहलेसे ७॥) मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको शायद निराश होना पड़ेगा। क्योंकि 'भक्त-चरिताङ्क' की माँग बहुत अधिक रहनेकी सम्भावना है। इसलिये जिन नये-पुराने सज्जनोंको ग्राहक बनना हो, वे मनीआर्डरसे तुरंत ७॥) भेजनेकी कृपा करें, जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित हो जाय। अधिकांश पुराने ग्राहकोंके लिये मनीआर्डर-फार्म पिछले अङ्कमें भेजा जा चुका है।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं, अतएव पत्रव्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय और मनीआर्डरके कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये । मनीआर्डर-कूपनमें ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये ।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलगसे रुपये तथा आर्डर भेजने चाहिये।

सजिल्द विशेषाङ्क चाहनेवालोंको १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये अर्थात् ८।।।) भेजने चाहिये तथा कूपनमें लिख देना चाहिये कि १।) जिल्दके लिये भेजा गया है।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजने चाहें, वे डाकखानेमें पूरी बीमा वेचकर या मनीआर्डरसे भेजें । सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्ड पत्रसे रुपये कभी न भेजें । ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं । कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ नहीं पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेदारी 'कल्याण' या 'गीताप्रेस'की नहीं होगी । व्यवस्थापक–'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

* * *

कृपालु तथा विद्वान् लेखक महानुभावोंसे प्रार्थना

गताङ्कमें जो विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी थी, उसके अनुसार लेख और जीवनचरित्र बहुत बड़ी संख्यामें आ गये हैं और अभी आ ही रहे हैं। लेख तो माँगे ही नहीं थे, पर लेख भी बहुत आये हैं। साथ ही जीवनचरित्रोंमें भी बहुत ऐसे हैं, जिनमें सभी प्रकारके संतोंके जीवन हैं । संतोंके जीवनचरित्र तो संताङ्कमें प्रकाशित हो चुके हैं, इस अङ्कमें केवल प्रायः उन्हीं भक्त महानुभावोंके जीवनचरित अधिकांशमें प्रकाशित होंगे—जिनका भगवान्‌की भक्तिसे सम्बन्ध है। संत तो योगी, वेदान्ती, त्यागी, सेवक, दैवीगुणसम्पन्न सज्जन—सभी हो सकते हैं । पर भक्तकी श्रेणीमें तो वही आते हैं, जो भक्तिसम्पन्न हों। अतएव आये हुए चरित्रोंमें जो नहीं प्रकाशित किये जायँ, उनके लिये लेखक महानुभावोंसे पहलेसे ही क्षमा-प्रार्थना की जाती है। कुछ चरितोंमें केवल चमत्कारकी बातें हैं, कुछ जीवित संतोंके हैं, अतएव वे भी नहीं छापे जायँगे। हमारी परिस्थिति तथा 'कल्याण' की नीतिको देखकर महानुभावगण क्षमा करें।

अब कोई सज्जन लेख, भक्त-चरित्र या कविता न भेजें। क्योंकि अबतक जितने आ चुके हैं, उन्हींमें अधिकांश स्थानाभावसे नहीं छापे जा सकेंगे ।

सम्पादक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१-**श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी**–'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिन्दी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य	४)
२-**श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य**–[हिन्दी-अनुवादसहित] इसमें मूल, श्लोक, भाष्य, हिन्दीमें भावार्थ, टिप्पणी तथा शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है। पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य	२॥।)
३-**श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य**–[हिन्दी-अनुवादसहित] डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ६०८, तिरंगे चित्र ३, सजिल्द, मूल्य	२॥)
४-**श्रीमद्भगवद्गीता**–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' नामक लेखसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रंगीन चित्र ४, मूल्य	१।)
५-**श्रीमद्भगवद्गीता**–[मझली] प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० ४ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अ० ॥≡), सजि०	१)
६-**श्रीमद्भगवद्गीता**–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥), सजि०	॥।=)
७-**श्रीमद्भगवद्गीता**–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द ।-), सजिल्द	॥-)
८-**श्रीमद्भगवद्गीता**–केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य	।)
९-**श्रीपञ्चरत्न-गीता**–सचित्र, इसमें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज, श्रीअनुस्मृति, श्रीगजेन्द्रमोक्षके मूल पाठ हैं। गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य	≡)
१०-**श्रीमद्भगवद्गीता**–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिल्द	=)॥
११-**श्रीमद्भगवद्गीता**–मूल, तावीजी, साइज २×२॥ इंच, पृष्ठ २९६, सजिल्द, मूल्य	=)
१२-**श्रीमद्भगवद्गीता**–विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य	-)॥
१३-**गीताडायरी सन् १९५२**–सम्पूर्ण गीता और अनेक उपयोगी बातें तथा तारीखेंसहित, मूल्य अ० ॥=) सजि०	॥।)
१४-**ईशावास्योपनिषद्**–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य	≡)
१५-**श्रीमद्भागवतमहापुराण**–(दो खण्डोंमें), सरल हिन्दी-व्याख्यासहित, पृष्ठ २०३२, चित्र तिरंगे २५, सुनहरा १, मोटा कागज, हाथ करघेके कपड़ेकी जिल्द, मूल्य	१५)
१६-**श्रीमद्भागवतमहापुराण**–मूल-गुटका, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य	३)
१७-**अध्यात्मरामायण**–हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य	३)
१८-**श्रीरामचरितमानस**–मोटा टाइप, भाषाटीकासहित, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य	७॥)
१९-**श्रीरामचरितमानस**–बड़े अक्षरोंमें केवल मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य	४)
२०-**श्रीरामचरितमानस**–मूल, मोटा टाइप, पाठभेदवाली, सचित्र, पृष्ठ ७९६, मूल्य	३॥)
२१-**श्रीरामचरितमानस सटीक**–[मझला साइज] महीन टाइप, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, सजिल्द, मूल्य	३॥)
*२२-**श्रीरामचरितमानस**–मूल, गुटका, पृष्ठ ६८०, रंगीन चित्र १ और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द, मूल्य	॥।)
२३-**बालकाण्ड (सटीक)**–पृष्ठ ३१२, सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य	१=)
२४-**मानस-रहस्य**–चित्र रंगीन १, पृष्ठ-संख्या ५१२, मूल्य १।), सजिल्द	१॥=)
२५-**मानस-शंका-समाधान**–चित्र रंगीन १, पृष्ठ १९४, मूल्य	॥)
२६-**विनय-पत्रिका**–गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनुवादक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ४७२, सुनहरी चित्र १, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द	१।=)

---

* संस्करण समाप्त हो गया है, छपनेपर मिलेगी।

२७–गीतावली–गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४४४, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द १।=)

२८–कवितावली–गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत, सटीक, चित्र १, पृष्ठ २२४, मूल्य ।।-)

२९–दोहावली–सानुवाद, अनुवादक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, १ रंगीन चित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य ।।)

३०–प्रेम-योग–लेखक—श्रीवियोगीहरिजी, पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य १।।)

३१–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग १)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५२, मूल्य ।।=), सजिल्द १)

३२–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग २)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५९२, मूल्य ।।।=), सजिल्द १।)

३३–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग ३)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४२४, मूल्य ।।≡), सजिल्द १-)

३४–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग ४)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५२८, मूल्य ।।।-), सजिल्द १≡)

३५–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग ५)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४९६, मूल्य ।।।-), सजिल्द १≡)

३६–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग ६)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४५६, मूल्य १), सजिल्द १।=)

३७–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग ७)–सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५३०, मूल्य १=), सजिल्द १।।)

३८–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग ४)–(छोटे आकारका गुटका संस्करण) सचित्र, पृष्ठ ६८४, मूल्य ।=), सजिल्द ।।=)

३९–ढाई हजार अनमोल बोल (संत-वाणी)–सं०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ३२४, सचित्र, ।।=) स० ।।।=)

४०–सूक्ति-सुधाकर–सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य ।।=)

४१–स्तोत्ररत्नावली–सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।)

४२–पातञ्जलयोगदर्शन–सटीक, व्याख्याकार–श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, पृष्ठ १७६, दो चित्र, मूल्य ।।।) सजिल्द १)

४३–श्रीदुर्गासप्तशती–सटीक, पृष्ठ २४०, चित्र तिरंगा १, मूल्य ।।।), सजिल्द १)

४४–सत्सङ्गके बिखरे मोती–पृष्ठ २४४, ग्यारह मालाएँ, मूल्य ।।।)

४५–सुखी जीवन–लेखिका–श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, मूल्य ।।)

४६–भगवच्चर्चा भाग १–(तुलसीदल)–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य अजिल्द ।।) सजिल्द ।।।=)

४७–भगवच्चर्चा भाग २–(नैवेद्य)–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके २८ लेख और ६ कविताओंका संग्रह, सचित्र,
पृष्ठ २६४, मूल्य ।।), सजिल्द ।।।=)

४८–रामायणके कुछ आदर्श पात्र–पृष्ठ १६८, मूल्य ।=)

४९–उपनिषदोंके चौदह रत्न–पृष्ठ ९०, मूल्य ।=)

५०–लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र]–(प्रथम भाग)—पृष्ठ-संख्या २२०, मूल्य ।=)

५१–लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र]–(द्वितीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २४४, मूल्य ।=)

५२–लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र]–(तृतीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २९२ मूल्य ।।)

५३–रामायण-प्रथमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक–पृष्ठ १५६, मूल्य ।=)

५४–भक्त नरसिंह मेहता–सचित्र, पृष्ठ १६०, मूल्य ।=)

५५–प्रेम-दर्शन–नारदरचित भक्तिसूत्रोंकी विस्तृत टीका, टीकाकार–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ १८८, मूल्य ।-)

५६–भवरोगकी रामबाण दवा–लेखक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ १७२, मूल्य ।-)

५७–विवेक-चूडामणि–सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, मूल्य अजिल्द ।-)

५८–भक्त बालक–गोविन्द, मोहन आदि बालक भक्तोंकी ५ कथाएँ हैं, पृष्ठ ७२, सचित्र, मूल्य ।-)

५९–भक्त नारी–शबरी आदिकी कथाएँ हैं, पृष्ठ ६८, १ रंगीन, ५ सादे चित्र, मूल्य ।-)

६०–भक्त-पञ्चरत्न–रघुनाथ, दामोदर आदि पाँच भक्तोंकी कथाओंकी पुस्तक, पृष्ठ ८८, दो चित्र, मूल्य ।-)

६१–आदर्श भक्त–शिबि, रन्तिदेव आदिकी ७ कथाएँ, पृष्ठ ९६, १ रंगीन, ११ लाइन-चित्र, मूल्य ।-)

६२–भक्त-सप्तरत्न–दामा, रघु आदिकी गाथाएँ, पृष्ठ ८६, चित्र १, मूल्य ।-)

६३–भक्त-चन्द्रिका–सखू, विट्ठल आदि ६ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, चित्र १, मूल्य ।-)

६४–भक्त-कुसुम–जगन्नाथ, हिम्मतदास आदिकी ६ कथाएँ, पृष्ठ ८४, चित्र १, मूल्य

६५-**प्रेमी भक्त**-बिल्वमंगल, जयदेव आदिकी ५ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य	।-)
६६-**प्राचीन भक्त**-मार्कण्डेय, कण्डु, उत्तङ्क आदिकी १५ कथाएँ, पृष्ठ १५२, चित्र बहुरंगे ४, मूल्य	॥)
६७-**भक्त-सरोज**-गङ्गाधरदास, श्रीधर आदिकी १० कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र, मूल्य	।=)
६८-**भक्त-सुमन**-नामदेव, राँका-बाँका आदिकी १० कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र बहुरंगे २, सादे २, मूल्य	।=)
६९-**भक्त-सौरभ**-व्यासदासजी, प्रयागदासजी आदिकी ५ कथाएँ, पृष्ठ ११०, चित्र १, मूल्य	।-)
७०-**भक्त-सुधाकर**-भक्त रामचन्द्र, भक्त लाखाजी आदिकी १२ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य	॥)
७१-**भक्त-महिलारत्न**-रानी रत्नावती, भक्तिमती हरदेवी आदिकी ९ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ७, मूल्य	।≡)
७२-**भक्त-दिवाकर**-भक्त सुव्रत, भक्त वैश्वानर आदिकी ८ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य	।≡)
७३-**भक्त-रत्नाकर**-भक्त माधवदास, भक्त विमलतीर्थ आदिकी १४ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य	।≡)
७४-**भक्तराज हनुमान्**-सचित्र, पृष्ठ ७२, चित्र १ रंगीन, ४ सादे, मूल्य	।-)
७५-**सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र**-पृष्ठ ५२, चित्र रंगीन ४, मूल्य	।-)
७६-**प्रेमी भक्त उद्धव**-पृष्ठ-संख्या ६४, रंगीन चित्र १, मूल्य	≡)
७७-**महात्मा विदुर**-पृष्ठ-संख्या ६०, १ सादा चित्र, मूल्य	=)॥
७८-**भक्तराज ध्रुव**-पृष्ठ-संख्या ४४, २ रंगीन चित्र, मूल्य	≡)
७९-**परमार्थ-पत्रावली**-(भाग १)-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १२४, सचित्र, मूल्य	।)
८०-**परमार्थ-पत्रावली**-(भाग २)-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ८० पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १७२, सचित्र, मूल्य	।)
८१-**परमार्थ-पत्रावली**-(भाग ३)-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ७२ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य	॥)
८२-**परमार्थ-पत्रावली**-(भाग ४)-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ९१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ २०४, सचित्र, मूल्य	॥)
८३-**कल्याणकुञ्ज (भाग १)**-मननीय तरंगोंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ १३६, मूल्य	।)
८४-**कल्याणकुञ्ज (भाग २)**-नयी पुस्तक, सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ १६०, मूल्य	।-)
८५-**महाभारतके कुछ आदर्श पात्र**-पृष्ठ १२६, मूल्य	।)
८६-**भगवान्पर विश्वास**-पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य	।)
८७-**प्रार्थना**-सचित्र, पृष्ठ ५६, इक्कीस प्रार्थनाओंका संग्रह, मूल्य	≡)
८८-**आदर्श नारी सुशीला**-सचित्र, पृष्ठ ५६, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य	≡)
८९-**आदर्श भ्रातृ-प्रेम**-लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ १०४, मूल्य	≡)
९०-**मानव-धर्म**-लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ९८, मूल्य	≡)
९१-**गीता-निबन्धावली**-गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये बहुत उपयोगी है, पृष्ठ ८०, मूल्य	=)॥
९२-**साधन-पथ**-लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य	=)॥
९३-**अपरोक्षानुभूति**-शंकरस्वामिकृत, सानुवाद, पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य	=)॥
९४-**मनन-माला**-यह भावुक भक्तोंके बड़े कामकी चीज है, पृष्ठ ५४, सचित्र, मूल्य	=)॥
९५-**नवधा भक्ति**-लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६०, सचित्र, मूल्य	=)
९६-**बाल-शिक्षा**-लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य	=)
९७-**श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति**-लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, सचित्र, पृष्ठ ४८, मूल्य	=)
९८-**रामायण-शिशु-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक**-पृष्ठ ४०, मूल्य	=)

९९-**भजन-संग्रह**-(प्रथम भाग)-पृष्ठ १८०, मूल्य =)
१००-**भजन-संग्रह**-(द्वितीय भाग)-पृष्ठ १६८, मूल्य =)
१०१-**भजन-संग्रह**-(तृतीय भाग)-पृष्ठ २२८, मूल्य =)
१०२-**भजन-संग्रह**-(चतुर्थ भाग)-पृष्ठ १६०, मूल्य =)
१०३-**भजन-संग्रह**-(पञ्चम भाग)-पृष्ठ १४०, मूल्य =)

१०४-**स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी**-पृष्ठ ५६, मूल्य -)॥
१०५-**नारीधर्म**-पृष्ठ ४८, मूल्य -)॥
१०६-**गोपी-प्रेम**-पृष्ठ ५२, मूल्य -)॥
१०७-**मनुस्मृति**-द्वितीय अध्याय सार्थ, पृष्ठ ५२, मूल्य -)॥
१०८-**ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप**-पृष्ठ ३६, मू० -)॥

१०९-श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्-सटीक, पृष्ठ ९६, मूल्य -)॥
११०-हनुमानबाहुक-सचित्र, सार्थ, पृष्ठ ४०, मूल्य -)॥
१११-श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा-पृष्ठ ४०, -)।
११२-मनको वश करनेके कुछ उपाय-पृष्ठ २४, मू० -)।
११३-ईश्वर-पृष्ठ ३२, मूल्य -)।
११४-मूल-रामायण-पृष्ठ २४, मूल्य -)।
११५-रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक-मूल्य -)॥
११६-हरेरामभजन १४ माला-मूल्य ।-)
११७-हरेरामभजन ६४ माला-मूल्य १)
११८-शारीरकमीमांसादर्शन-मूल्य)॥।
११९-बलिवैश्वदेवविधि-मूल्य)॥

Our English Publications

120-The Bhagavadgitā—(*With Sanskrit text and an English translation*) 0-4-0
Bound 0-6-0
121-Wavelets of Bliss—(*By Hanumanprasad Poddar*) 0-2-0
122-The Immanence of God—(*By Madan Mohan Malviya*) 0-2-0
123-What is God ?—(*By Jayadayal Goyandka*) 0-2-0
124-The Divine Message—(*By Hanumanprasad Poddar*) 0-0-9
125-What is Dharma ?—(*By Jayadayal Goyandka*) 0-0-9

नयी सूचना

छोटी-छोटी ५२ पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं । इन पैकेटोंपर पुस्तकोंके अलग-अलग नाम तथा मूल्य छाप दिया गया है । पैकेटोंमें हेर-फेर नहीं किया जाता है । किसी भी पुस्तककी अधिक संख्यामें अलग माँग दी जा सकती है ।

पैकेटोंका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-संख्या १३, मूल्य ॥।)

१-सामयिक चेतावनी-पृष्ठ २४, मूल्य -)
२-आनन्दकी लहरें-पृष्ठ २४, मूल्य -)
३-गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र-सार्थ, पृष्ठ ३२ मूल्य -)
४-श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश-पृष्ठ १६, मूल्य -)
५-ब्रह्मचर्य-पृष्ठ ३२, मूल्य -)
६-हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप-पृष्ठ २४, मूल्य -)
७-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय-पृष्ठ ३२ -)
८-श्रीभगवन्नाम-पृष्ठ ७२, मूल्य -)
९-श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन-पृष्ठ ६४ -)
१०-भगवत्तत्त्व-पृष्ठ ६४, मूल्य -)
११-सन्ध्योपासनविधि अर्थसहित-पृष्ठ २४, मूल्य -)
१२-हरेरामभजन दो माला-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥।
१३-पातञ्जलयोगदर्शन मूल-पृष्ठ २०, मूल्य)॥
॥।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-संख्या ५, मूल्य ।)

१-संत-महिमा-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥।
२-श्रीरामगीता-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥।
३-विष्णुसहस्रनाम मूल- पृष्ठ ४८, मूल्य)॥।
४-वैराग्य-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
५-रामायण सुन्दरकाण्ड-पृष्ठ ६४, मूल्य -)
।)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-संख्या १६, मूल्य ॥)

१-विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद-(सार्थ) पृष्ठ १६	)॥
२-सीतारामभजन-पृष्ठ ६४, मूल्य	)॥
३-भगवान् क्या हैं ?-पृष्ठ ४०, मूल्य	)॥
४-भगवान्‌की दया-पृष्ठ ४०, मूल्य	)॥
५-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग पृष्ठ,४८,	)॥
६-सेवाके मन्त्र-पृष्ठ ३२, मूल्य	)॥
७-प्रश्नोत्तरी-पृष्ठ ३२, मूल्य	)॥
८-सन्ध्या विधिसहित-पृष्ठ १६,मूल्य	)॥
९-सत्यकी शरणसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मूल्य	)॥
१०-भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय-पृष्ठ ४०, मूल्य	)॥
११-व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मूल्य	)॥
१२-स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग-पृष्ठ २०	)॥
१३-परलोक और पुनर्जन्म-पृष्ठ ४०, मूल्य	)॥
१४-ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन-पृष्ठ ३२	)॥
१५-अवतारका सिद्धान्त-पृष्ठ २८, मूल्य	)॥
१६-गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची-पृष्ठ ४८	)॥
	॥)

पैकेट नं० ४, पुस्तक-संख्या १८, मूल्य ।)

१-धर्म क्या है ?-पृष्ठ १६, मूल्य	)।
२-श्रीहरिसंकीर्तन-धुन-पृष्ठ ८, मूल्य	)।
३-दिव्य सन्देश-पृष्ठ १६, मूल्य	)।
४-नारद-भक्ति-सूत्र-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
५-महात्मा किसे कहते हैं ?-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
६-ईश्वर दयालु और न्यायकारी है-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
७-प्रेमका सच्चा स्वरूप-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
८-हमारा कर्तव्य-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
९-कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ-पृष्ठ ३२, मूल्य	)।
१०-शोक-नाशके उपाय-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
११-ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
१२-चेतावनी-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
१३-त्यागसे भगवत्प्राप्ति-पृष्ठ २४, मूल्य	)।
१४-श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव-पृष्ठ २०, मूल्य	)।
१५-लोभमें पाप-पृष्ठ ८, मूल्य	आधा पैसा
१६सप्तश्लोकी गीता-पृष्ठ ८, मूल्य	आधा पैसा
१७-१८-गजल गीता-पृष्ठ ८, २ प्रति, मूल्य	)।
	।)

थोक पुस्तकें मँगानेवालोंके लिये नयी सुविधा

—कम-से-कम १००) की पुस्तकें एक साथ मँगवानेपर ता० १ नवम्बर सन् १९५१ से मालगाड़ीका पूरा भाड़ा बाद दे दिया जायगा। रेलपारसलसे मँगवानेपर आधा भाड़ा मिलेगा।

आर्डरमें स्टेशनका नाम तथा यह बात साफ-साफ लिखनी चाहिये कि मालगाड़ीसे मँगवाना है अथवा पारसलसे।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने शहरके विक्रेतासे माँगिये

इससे आपको शायद पैसे और समयकी बचत हो सकती है—

गीताप्रेसकी पुस्तकें बहुत-से पुस्तक-विक्रेता भी छपे मूल्यपर ही बेचते हैं और यही उचित भी है; परंतु निम्नलिखित स्थानोंपर तो हमारी पुस्तक-सूचीमें छपे हुए दामोंपर ही बेची जाती हैं। ग्राहकोंको अधिक दाम नहीं देने पड़ते। यदि किसी ग्राहकसे अधिक दाम माँगे जाँय तो कृपया हमें सूचित करें।

उत्तर प्रदेश

(१) **बनारस**—श्रीगीताप्रेस कागज एजेंसी, नीचीबाग।
(२) **ऋषिकेश (देहरादून)**—श्रीगीताभवन, स्वर्गाश्रम।
(३) **लखनऊ**—श्रीमोतीलाल श्यामसुन्दर, श्रीरामरोड।
(४) **फैजाबाद**—गणेश स्कूल बुकडिपो, चौक।
(५) **वृन्दावन**—श्रीभगवान् भजनाश्रम, अष्टखम्भा।
(६) **मेरठ**—श्रीशङ्करदास दुर्गाप्रसाद आढ़ती, सदरगंज बाजार।

(७) **मेरठ**—श्रीराधेहाउस, निकट-तहसील ।
(८) ,, —भीखाराम सनेहीराम, सदरबाजार ।
(९) **मथुरा**—श्रीगीता-आश्रमका पुस्तकभण्डार, गऊघाट ।
(१०) **अलीगढ़**—श्रीअच्युत स्टोर, महाबीरगंज ।
(११) ,, —श्रीशालिग्राम एण्ड सन्स, मदारीगेट, चौकी पुलिसके सामने ।
(१२) **कानपुर**—श्रीप्रकाश घी स्टोर, काहूकोठी ।
(१३) ,, सरस्वती सेवासदन, १०८ पी रोड, सीसामऊ ।
(१४) ,, भारत रिक्शा कम्पनी, लाल्इमलीके सामने । मालरोड ।
(१५) **सीतापुर**—श्रीगीतामन्दिर, गीतानगर ।
(१६) **सहारनपुर**—श्रीचन्द्रभ्राता-पुस्तक-भण्डार, शिवाजी बाजार ।
(१७) **इलाहाबाद**—श्रीबनारस बुकडीपो, ६३, जानसेनगंज ।
(१८) **मैनपुरी**—श्रीरमेशचन्द्र ब्रजेशचन्द्र, कटरा ।
(१९) **फिरोज़ाबाद (आगरा)**—श्रीदेवदत्त ब्रदर्स ।
(२०) ,, —श्रीभारत खादी भण्डार ।
(२१) **शिकोहाबाद**—श्रीशर्मा बुकडीपो ।
(२२) **कोंच (जालौन)**—श्रीअयोध्याप्रसाद दयाराम ।
(२३) ,, —श्रीरामचन्द्र जनरल स्टोर्स, मानिक चौक बाजार ।
(२४) **फतेहपुर**—प्रतापनारायण खन्ना, चौक ।
(२५) **बदायूँ**—बांसल बन्धु ।
(२६) **मुरादाबाद**—लालमनदास ॐप्रकाश, मण्डी चौक ।
(२७) **चन्दौसी**—भोलानाथ गुप्त ।

बिहार

(२८) **पटना**—श्रीलक्ष्मीनारायण शास्त्री, बिड़ला-मन्दिर, सब्जीबाग ।
(२९) **भागलपुर**—श्रीसत्संग कार्यालय, आनन्दप्रेस ।
(३०) **मुंगेर**—श्रीमन्त्री हिंदूसभा कार्यालय ।
(३१) **सिवान**—श्रीगीताप्रेस कागज एजेंसी ।

राजस्थान

(३२) **बीकानेर**—श्रीईश्वरदास डागा, बी० के० विद्यालयके निकट ।
(३३) **जोधपुर**—श्रीकिताब घर, सोजतीगेट ।
(३४) **अलवर**—श्रीसरस्वती पुस्तकालय ।
(३५) **कोटा**—श्रीमोहन न्यूज एजेंसी ।
(३६) **अजमेर**—श्रीलक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुरानी मण्डी ।
(३७) **नारनौल**—श्रीरामभवन

दिल्ली

(३८) श्रीरामनरसिंह हरलालका, अस्पतालके ऊपर, संतनगर करौलबाग ।
(३९) श्रीकुन्दनलाल कौशिक बुकडिपो, दूकान नं० ४४५५, नई सड़क ।
(४०) मोहनलाल जनरल बुक सप्लाई कं०, ओरीजिनल रोड, करोलबाग ।
(४१) देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार ।

मध्य प्रदेश व बरार

(४२) **नागपुर**—श्रीविहारीलाल झुंझनूवाला, श्यामभवन, सुभाष रोड ।
(४३) **शेगाँव**—श्रीहनुमानदास हरलालका ।
(४४) **अकोला**—मन्त्री धर्म-संघ कार्यालय, किराना बाजार ।

आसाम

(४५) **तिनसुकिया**—सनेहीरामजी डूंगरमल

मध्यभारत

(४६) **गुजरी (धार)-(इन्दौर)**—रामगोपाल हजारीलाल बांसल ।

बंबई

(४७) श्रीसत्सङ्ग-भवन, दादीसेठ अग्यारी लेन, सिंहानिया बाड़ी, गणेशबाग ।

पूर्व पंजाब

(४८) **अमृतसर**—मिलखीराम रामरखा धूपवाले, दुर्ग्याणा ।
(४९) **भीवानी**—मंगलराय अलाहभूत ।
पता—गणेशदास युगलकिशोर हाल्द बाजार ।

पश्चिमी बंगाल

३०,
(५०) **कलकत्ता**—श्रीगोविन्द-भवन-कार्यालय, बाँसतल्ला गली ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

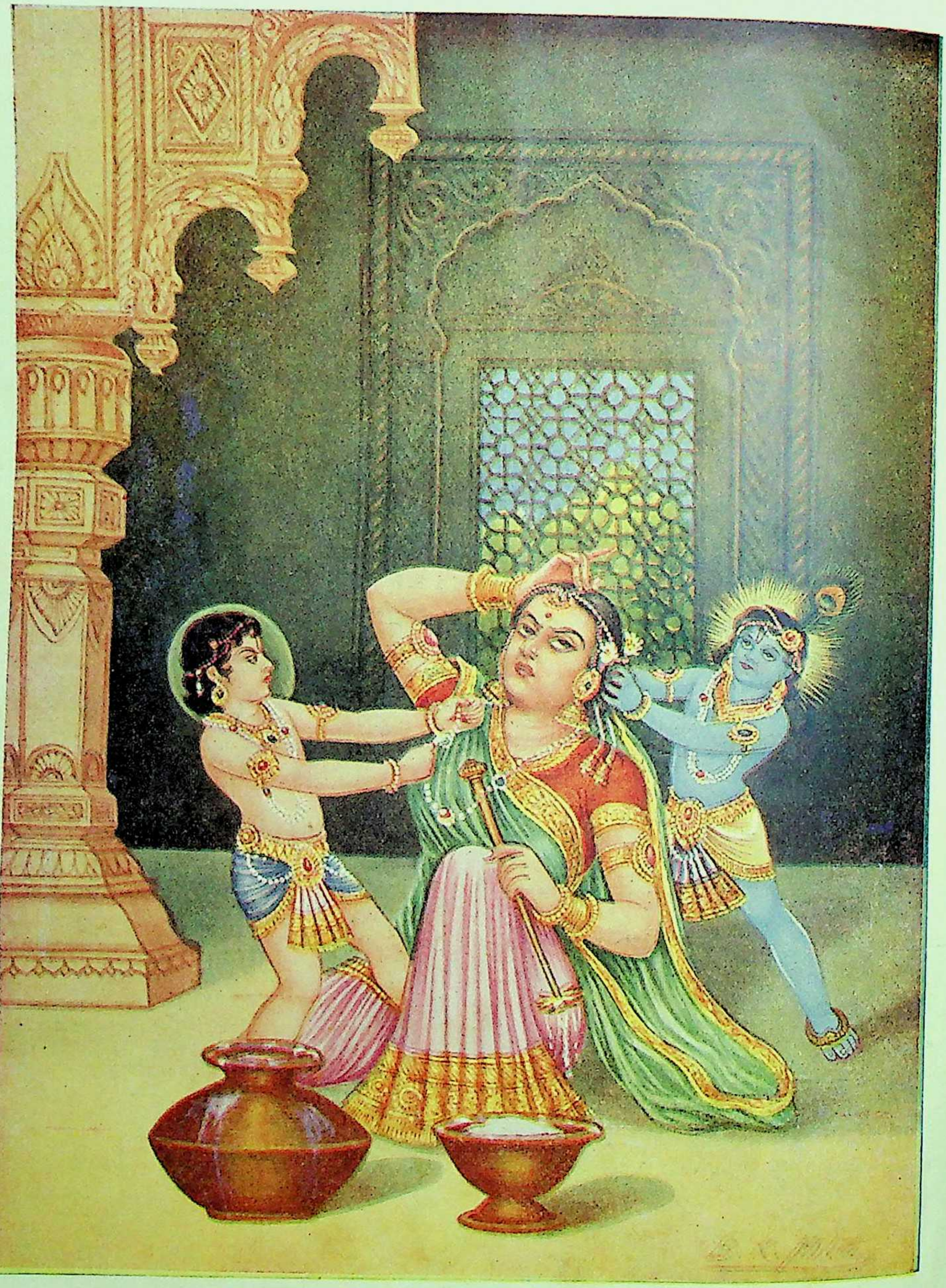

माखन माँगनेकी रीत

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

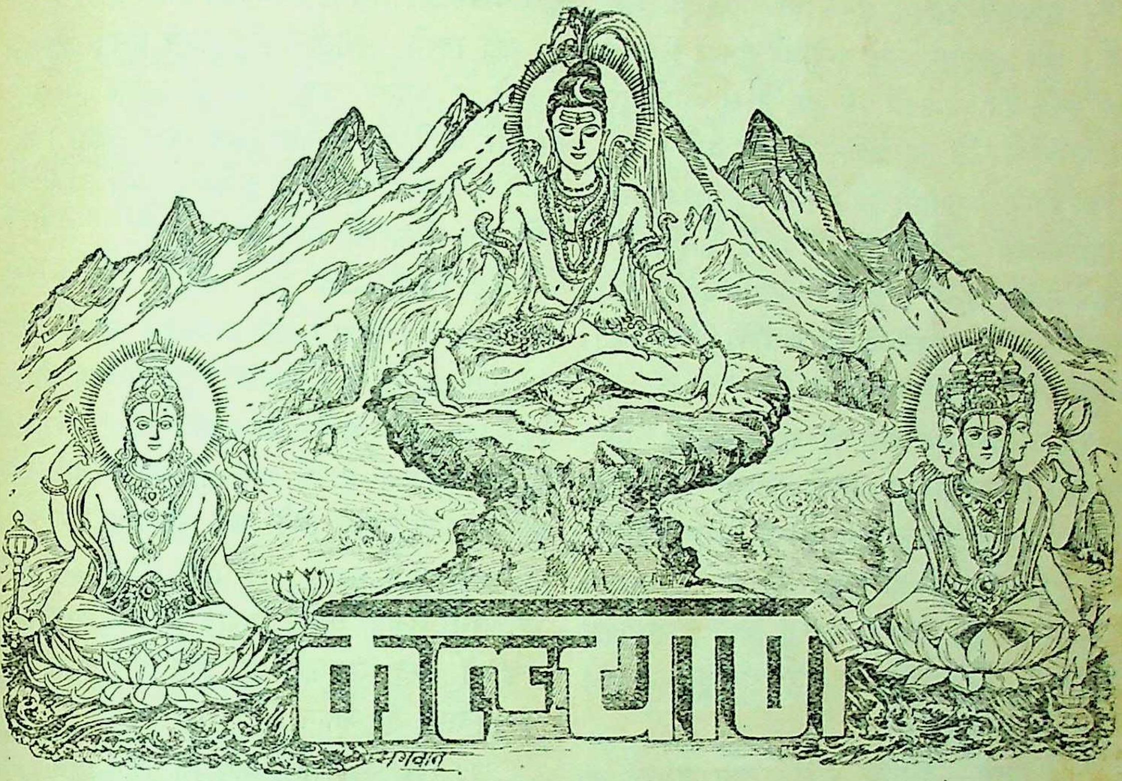

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥

वर्ष २५ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २००८, नवम्बर १९५१ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ३००

माखन माँगनेकी अनोखी रीति

क्रीड़त प्रात समय दोउ बीर ।
माखन माँगत, बात न मानत, झँखत जसोदा जननी-तीर ।
जननी मधि, सनमुख संकर्षन, खैंचत कान्ह खस्यो सिर-चीर ॥
मनहुँ सरस्वति संग उभय दुज, कल मराल अरु नील कँठीर ।
सुंदर स्याम गही कबरी कर, मुक्तामाल गही बलबीर ।
सूरज भष लैबे अप-अपुनौ मानहुँ लेत निबेरे सीर ॥

—सूरदासजी

याद रक्खो—तुम्हारे पास जो धन-सम्पत्ति है, सुख है, सुविधाके साधन हैं—सब भगवान्‌के दिये हुए हैं। और भगवान्‌ने उन्हें इसीलिये तुमको दिया है कि तुम उनके द्वारा अभावमें पड़े हुए, दुःख भोगते हुए और असुविधामें फँसे हुए प्राणियोंकी सेवा करो।

याद रक्खो—तुम्हारी धन-सम्पत्तिपर, सुख-सुविधापर प्राणिमात्रका अधिकार है—वे उसके भागीदार हैं। इसलिये उनका हिस्सा उन्हें देना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम यदि ऐसा नहीं करते तो तुम दूसरोंका हिस्सा हड़प जानेवाले चोर हो, बेईमान हो।

याद रक्खो—तुम यदि यह मानते हो कि 'धन-सम्पत्ति और सुख-सुविधाका स्वामी एकमात्र केवल मैं हूँ, मैं चाहूँ तो किसे दूँ, चाहूँ तो न दूँ, चाहे जिस कार्यमें—चाहे जैसे खर्च करूँ' तो तुम्हारी यह मान्यता भूलभरी है। तुम ट्रष्टी हो, मालिक नहीं। जहाँ जिस प्रकार जितना लगानेकी आवश्यकता और विधि है, वहाँ तुम्हें उतना लगाना ही चाहिये।

याद रक्खो—दूसरोंके अभाव तथा दुःखने ही तुमको विशेष सम्पन्न और सुखी बनाया है। अतएव तुम्हारे पास जो कुछ है सो उन अभाव तथा दुःखग्रस्त प्राणियोंका ही स्वत्व है। व्यवस्था तथा ईमानदारीके साथ उनका स्वत्व उन्हें देते रहो, यही तुम्हारा धर्म है। इसीका नाम 'यज्ञ' है।

याद रक्खो—जो 'यज्ञ'से बचा हुआ खाता है यानी सबको यथायोग्य वितरण करके शेष थोड़े-सेका अपने लिये उपयोग करता है, वह अमृतभोजी है और जो सब कुछ अपना ही मानकर उसे अपने ही उपयोगमें लाता है, वह पाप खाता है।

याद रक्खो—धन-सम्पत्ति तथा सुख-सुविधाके द्वारा किसी प्राणीकी सेवा करके कभी अभिमान न करो, न यह समझो मैंने उस गरीबपर दया की है। यही समझो कि मैंने उसका हक ही उसे दिया है। और भगवान्‌के कृतज्ञ बनो जो उनकी कृपासे तुम्हारे हृदयमें ऐसी सद्बुद्धि उत्पन्न हुई और तुम्हें अवसर मिला।

याद रक्खो—किसीकी सेवा करके उसपर अहसान न करो, न बदला चाहो और न उसका भगवान्‌से ही कोई लौकिक या पारलौकिक फल चाहो। ऐसा करोगे तो तुमपर भगवान्‌की कृपासुधा बरस पड़ेगी, जो तुम्हें परम कल्याणका भागी बना देगी।

याद रक्खो—जो कुछ तुम्हारे पास है, सब भगवान्‌का है। जगत्‌के सारे प्राणियोंके रूपमें भगवान् ही लीला कर रहे हैं। इसलिये तुम्हारे पास जो कुछ है, सबपर सारे प्राणियोंका स्वामित्व है। भगवान्‌की चीज भगवान्‌की सेवामें लगे और उसमें तुम निमित्त बनो, यह तो तुम्हारे लिये परम सौभाग्यकी बात है।

याद रक्खो—तुम यदि इस प्रकार भगवद्भावसे भगवान्‌की सेवामें अपनी सम्पत्ति और सुख-सुविधाको उन्हींकी वस्तु मानकर लगा दोगे तो तुम्हारा जीवन भगवत्पूजामय हो जायगा।

याद रक्खो—यहाँकी कोई भी वस्तु तुम्हारे साथ नहीं जायगी। जबतक तुम्हारे अधिकारमें हैं, तभीतक तुम उनका इच्छानुसार उपयोग कर सकते हो। मरनेके बाद उनपर दूसरोंका अधिकार हो ही जायगा। कठिन बीमारी, वृद्धावस्था या अशक्त स्थितिमें भी तुम्हारा पूरा अधिकार नहीं रहेगा। अतएव जबतक तुम्हारा अधिकार माना जाता है, तभीतक तुम उन वस्तुओंका भगवान्‌की सेवामें जी खोलकर उदारताके साथ उपयोग कर लो।

याद रक्खो—इन छूटनेवाली तुच्छ वस्तुओंके सदुपयोगसे यदि तुम्हें भगवत्-कृपाकी या भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है तो तुम बहुत बड़े लाभमें रहते हो; क्योंकि अन्तमें ये चीजें तो छूटनेवाली ही हैं, छूटती ही। पर तुम्हें कुछ भी नहीं मिलता। तुमने अपने हाथों प्राणिमात्रकी सेवामें भगवत्पूजाके भावसे इनको चढ़ा दिया तो तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

'शिव'

राजा चक्रवेणके त्यागका प्रभाव

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

राजा चक्रवेणकी कहानी कहीं किसी पुस्तकमें तो मैंने नहीं देखी है; परम्परासे लोकविख्यात है। यह चक्रवेणका इतिहास वास्तविक है या काल्पनिक, मुझको पता नहीं। जो भी कुछ हो, हमें तो इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। वह कहानी इस प्रकार है—

एक समय चक्रवेण नामके एक राजा हुए थे। वे बड़े ही धर्मात्मा, सत्यवादी, स्वावलम्बी, अध्यवसायशील, त्यागी, विरक्त, ज्ञानी, भक्त, तेजस्वी, तपस्वी, और उच्चकोटिके अनुभवी महापुरुष थे। वे राज्यके द्रव्यको दूषित समझकर उसे स्वयं अपने और अपनी पत्नीके काममें नहीं लाते थे। प्रजासे जो कुछ 'कर' लिया जाता था, वह सारा-का-सारा प्रजाकी ही सेवामें लगा दिया जाता था। राज्यका कार्य वे निरभिमानपूर्वक निष्कामभावसे तन-मनसे किया करते थे। प्रजापर उनका बड़ा प्रभाव था। रामराज्यकी भाँति उनके राज्यमें कोई दुखी नहीं था, सभी सब प्रकारसे सुखी थे।

वे अपने शरीरनिर्वाहके लिये पृथक् खेती किया करते थे। स्वयं रानी बैलके स्थानमें हल खींचा करती और वे बीज बोया करते। वे अपने ही खेतमें उपजे हुए अन्नसे अपना भरण-पोषण करते थे। वे गन्ना, रूई, अनाज, फल और शाककी खेती किया करते थे। अपने खेतमें उपजी हुई रूईका ही वस्त्र बनाकर पहनते, अपने खेतमें उपजे हुए गन्नोंका ही गुड़ बनाकर खाते और अपने खेतमें उपजे हुए अन्न, फल, शाकको ही भोजनके काममें लाते थे। उनकी पत्नीके पास कोई भी आभूषण नहीं थे; क्योंकि वे राज्यके द्रव्यसे तो आभूषण बनाते नहीं और अपनी की हुई खेतीकी उपजसे केवल सादगीसे खाने-पहननेका काम भर चलता था। खेतीके सिवा उन्हें राज्यके कार्योंमें भी तो समय देना पड़ता था। उनका जीवन एक सीधे-सादे सदाचारी किसानके-जैसा था। छः घंटे शयनके सिवा उनका सारा समय ईश्वरभक्ति, परोपकार, राज्य-कार्य और कृषिके कार्योंमें ही बीतता था। उनका सब जीवोंके प्रति समता, दया और प्रेमका भाव समान था। वे सब प्राणियोंको परमात्माका स्वरूप मानकर सबकी निष्काम प्रेमभावसे सेवा करते थे। वे स्वावलम्बी थे; अपने शरीरका काम स्वयं ही करते थे। किसी राज्यकर्मचारी या नौकर आदिसे नहीं कराते थे। वे जो कुछ भी कार्य करते, आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर बड़े ही उत्साह और धैर्यसे किया करते।

एक दिनकी बात है। जिस देशमें राजा चक्रवेण रहते थे, वहाँ एक बड़ा भारी मेला लगा। उसमें नगरके अन्यान्य प्रान्तोंके लोग बड़ी भारी संख्यामें इकट्ठे हुए। राजा-रानीके दर्शनके लिये यों तो बराबर ही लोग आते रहते, पर मेलेके कारण नर-नारियोंकी भीड़ कुछ अधिक रहती थी। राजाके पास अधिकतर पुरुष आते और रानीके पास अधिकतर स्त्रियाँ आया करती थीं। एक दिन बहुत-से गहनों और रेशमी वस्त्रोंसे सजी-धजी अनेक दासियोंसे घिरी हुई बहुत-सी धनी व्यापारियोंकी स्त्रियाँ रानीका दर्शन करनेके लिये उनके पास आयीं। उन स्त्रियोंने कहा—'रानीजी! आपके-जैसे वस्त्र तो हमारी मजदूरनियाँ भी नहीं पहनतीं; आप हमारी दासियोंको देखिये, कैसे वस्त्राभूषण पहने हैं। आपके वस्त्राभूषण तो हमलोगोंसे भी बढ़कर होने चाहिये। जैसे ये हमारी दासियाँ हैं, उसी प्रकार हमलोग तो आपकी दासीके समान हैं। आपके स्वामी बड़े सम्राट् हैं, आप उनसे थोड़ा-सा भी संकेत कर

देंगी तो वे आपके लिये हमलोगोंसे बढ़कर वस्त्राभूषणकी व्यवस्था कर देंगे। आप हमारी स्वामिनी हैं, इसलिये हमें आपको इस वेशमें देखकर दु:ख होता है। ऐसे वस्त्र तो भीख माँगनेवाली भिखारिन भी पहनना नहीं चाहती। एक सम्राट्की महारानीके-जैसे वस्त्राभूषण होने चाहिये, हम उसी रूपमें आपको देखना चाहती हैं।' इस प्रकार कहकर वे अपना प्रभाव डालकर चली गयीं। रानीके चित्तपर उनकी बातोंका बड़ा असर पड़ा।

रात्रिमें जब महाराज आये, तब रानीने सब घटना उनको सुनायी और दिनमें जो कुछ धनी व्यापारियोंकी स्त्रियोंने कहा था, सब राजासे निवेदन किया एवं उनसे अनुरोध किया कि मेरे पहननेके लिये बहुमूल्य वस्त्र और भूषण मँगा दीजिये। राजाने उत्तर दिया—'कैसे मँगा दूँ। व्यवहारमें लाना तो दूर रहा, मैं राज्यके पैसोंको छूता भी नहीं, उससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।' रानी भी बहुत उच्चकोटिकी पवित्र स्त्री थीं, किंतु वस्त्राभूषणोंसे सजी-धजी धनिकोंकी स्त्रियोंका उनपर काफी असर पड़ चुका था, अतः रानीने कहा—'चाहे जैसे भी हो, आप सम्राट् हैं और मैं आपकी पटरानी हूँ। मेरे लिये तो एक सम्राट्की पटरानीके योग्य बहुमूल्य वस्त्राभूषण मँगानेकी कृपा आपको करनी ही होगी।' पत्नीकी प्रीतिसे प्रेरित राजाने सोचा—'रानी कितना भी आग्रह क्यों न करें, मैं राज्यके द्रव्यको तो किसी भी हालतमें उपयोगमें ला नहीं सकता, किंतु मैं सम्राट् हूँ; दुष्ट, अत्याचारी और बलवान् राजाओंसे 'कर' ले सकता हूँ।' यह सोचकर उन्होंने पर-राष्ट्रों तथा अधीनस्थ राज्योंके कार्यका सम्पादन करनेवाले मन्त्रीको बुलाया और कहा—'मन्त्री! आप राक्षसराज रावणके पास जाइये और कहिये कि राजा चक्रवेणकी ओरसे मैं आया हूँ, उन्होंने मुझे आपसे 'कर' के रूपमें सवा मन सोना प्राप्त करनेके लिये आपके पास भेजा है।'

सम्राट्की आज्ञा पाकर मन्त्री कुछ आदमियोंको लेकर रथमें बैठकर समुद्रके किनारे पहुँचे और फिर जलयानके द्वारा समुद्रके उस पार पहुँचकर लङ्कामें प्रवेश किया तथा राजसभामें जाकर बड़ी नम्रता और सभ्यताके साथ सम्राट् चक्रवेगका सन्देश सुनाया। सन्देशको सुनते ही रावण हँसा और उसने सभासदोंसे कहा—'देखो, ऐसे मूर्ख राजा भी संसारमें अभी हैं, जो ऋषि, देवता, राक्षस आदि सभीसे 'कर' लेनेवाले मुझ-जैसे बलवान् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महान् सम्राट्से भी करकी आशा रखते हैं।' उन्होंने राजा चक्रवेण-के दूतको कैद करना चाहा, किंतु सभासदोंके अनुरोध करनेपर उसे छोड़ दिया। वह रावणकी सभासे उठकर समुद्रके किनारे लौट आया।

तदनन्तर रावण जब रात्रिमें मन्दोदरीके पास महलमें गया, तब रावणने हँसकर मन्दोदरीसे विनोद करते हुए कहा—'कोई एक भारतवर्षमें चक्रवेग नामका राजा है। आज उसका एक दूत सभामें आया था और उसने मुझसे सवा मन स्वर्ण 'कर' के रूपमें देनेको कहा। मुझे इसपर बड़ी हँसी आयी। देखो, संसारमें ऐसे मूर्ख भी अभीतक जीते हैं, जो मुझ-जैसे सबसे कर लेनेवालेसे भी कर लेनेकी आशा रखते हैं। मैं तो उसके दूतको कैद करना चाहता था, पर सभासदोंके अनुरोधसे उसे छोड़ दिया।' मन्दोदरीने दु:ख प्रकट करते हुए कहा—'स्वामिन्! आपने बहुत बुरा किया। चक्रवेगको मैं जानती हूँ, वे सत्यवादी और धर्मात्मा राजा हैं। उनका चक्र चलता है। जो उनकी आज्ञाका पालन नहीं करता, उसका अनिष्ट हो जाता है। उस दूतको सन्तोष कराकर ही आपको उसे भेजना चाहिये था। उसका पता लगाकर अब भी उसको सन्तोष करा दें। नहीं तो, पता नहीं, हमारा कितना अनिष्ट हो जायगा।' रावण बोला—'तू बड़ी डरपोक है, मामूली मनुष्य-राजाओंसे

तू इतना भय करती है, मैं इसकी कुछ भी परवा नहीं करता ।' रानीने कहा—'कल प्रातःकाल मैं आपको चक्रवेणका प्रभाव दिखलाऊँगी ।' प्रातः होते ही राजाके साथ मन्दोदरी महलके छतपर गयी, जहाँ वह रोज कबूतरोंको अनाज डाला करती थी । अनाज चुगने वहाँ बहुत-से कबूतर आया करते । मन्दोदरीने दाने चुगते हुए पक्षियोंसे कहा—'राजा रावणकी दुहाई है, खबरदार ! दाने न चुगना ।' किंतु वे चुगते ही रहे । फिर रानीने राजासे कहा—'देखिये, आपकी दुहाई देनेपर भी ये सब दाने चुगते ही रहे ।' रावणने कहा—'मूर्खे ! ये पक्षी बेचारे क्या समझें ।' मन्दोदरी बोली—'अब आप राजा चक्रवेणके प्रभावको देखिये ।' फिर उसने पक्षियोंसे कहा—'सावधान ! चक्रवेणकी दुहाई है, कोई दाने न चुगना ।' इतना सुनते ही सब पक्षियोंने एक साथ दाने चुगना बंद कर दिया । उनमेंसे एक कबूतर बहिरा था, वह कुछ भी सुन नहीं पाता था, अतः उसने दाना उठा लिया । ज्यों ही उसने दाना उठाया, त्यों ही उसकी गर्दन टूटकर गिर गयी । रानीने रावणसे कहा—'देखिये, राजा चक्रवेणकी दुहाईपर सबने दाने चुगने बंद कर दिये, एक बहिरे कबूतरने न सुननेके कारण दाना उठा लिया, जिससे चक्रवेणके चक्रसे उसका मस्तक कटकर गिर गया ।' फिर रानी पक्षियोंसे बोली—'अब मैं चक्रवेगकी दुहाई हटा लेती हूँ, अब दाने चुगो ।' तुरंत सब पक्षी दाने चुगने लगे । रानीने फिर कहा—'जो तुम्हारे सम्मुख खड़े हैं, उन राजा रावणकी दुहाई है, कोई भी दाने न चुगना ।' किंतु राजा रावणके सामने रहते हुए भी किसीने परवा न की और वे दाने चुगते ही रहे । मन्दोदरीने रावणसे कहा—'देखिये, आपका इन पक्षियोंपर कुछ भी असर नहीं होता, परंतु राजा चक्रवेणके प्रभावपर विचार कीजिये, उनके सामने न रहते हुए भी उनका कितना असर है ।' रावणने कहा—'मालूम होता है तुम्हारी इसमें कोई चालाकी या माया है । नहीं तो, ये पक्षी बेचारे क्या समझें ।' ऐसा कहकर रावण टालमटोल करके राजसभामें चला गया ।

इधर, राजा चक्रवेणके मन्त्रीने समुद्रके किनारे एक नकली लङ्काकी रचना की । उसने कज्जलके समान अत्यन्त महीन मिट्टीको समुद्रके जलमें घोलकर रबड़ीकी तरह बना लिया तथा तटकी जगहको चौरस बनाकर उसपर उस मिट्टीसे ठीक लङ्का-जैसी एक छोटे परिमाणकी आकृति अङ्कित की । घुली हुई मिट्टीकी बूँदोंको टपका-टपकाकर उसीसे लङ्काके परकोटे, बुर्ज और दरवाजों आदिकी रचना की । परकोटेके चारों ओर कँगूरे भी काटे गये एवं उस परकोटेके भीतर लङ्काकी राजधानी और नगरके प्रसिद्ध बड़े-बड़े मकानोंको भी छोटे आकारमें रचना करके दिखाया गया । इन सबकी रचना करनेके बाद वह पुनः रावणकी सभामें गया । उसे देखकर रावण चौंक उठा और उससे बोला—'क्यों जी ! तुम फिर यहाँ किसलिये आये हो ?' उसने कहा—'मैं आपको एक कौतूहल दिखलाना चाहता हूँ । आप मेरे साथ समुद्रतटपर चलिये ।' रावण कौतूहल देखनेको उत्सुक हो गया और कुछ सभासदोंको साथ लेकर समुद्रतटपर गया, जहाँ उस मन्त्रीने छोटे आकारमें नकली लङ्काकी रचना की थी ।

उसने रावणसे पूछा—'देखिये, यह ठीक-ठीक आपकी लङ्काकी नकल है न ?' रावणने उसकी अद्भुत कारीगरी देखी और कहा—'ठीक है; क्या यही दिखानेके लिये मुझे यहाँ लाये थे ?' मन्त्री बोला—'नहीं-नहीं, इस लङ्कासे आपको मैं एक कौतूहल दिखाता हूँ । देखिये, लङ्काके पूर्वका परकोटा, दरवाजा, बुर्ज और कँगूरे साफ-साफ ज्यों-के-त्यों दीख रहे हैं न ?' रावणने कहा—'दीख रहे हैं ।' मन्त्रीने कहा—'मेरी रची हुई लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरोंको मैं राजा चक्रवेणकी दुहाई

देकर गिराता हूँ, इसके साथ ही आप अपनी लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरते हुए देखेंगे।' इतना कहकर मन्त्रीने 'राजा चक्कवेणकी दुहाई है' कहकर अपनी रची लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरा दिये। उनके गिरनेके साथ-साथ ही रावणको असली लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरते हुए दिखायी दिये। यह देखकर रावणको बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके बाद दूतने कहा—'अब मैं अपनी रची हुई लङ्काके पूर्वके परकोटेके द्वारके आस-पासकी चारों बुर्जें मिटाता हूँ, इसके साथ-साथ ही आप अपनी असली लङ्काकी बुर्जोंको भी मिटती हुई देखेंगे।' यह कहकर उसने चक्कवेणकी दुहाई देकर अपनी बनायी मिट्टीकी लङ्काकी बुर्जें मिटा दीं, उसके साथ ही रावणकी असली लङ्काके पूर्वद्वारकी बुर्जें भी चकनाचूर होकर नष्ट हो गयीं। यह देखकर रावणको बहुत ही आश्चर्य हुआ और उसे मन्दोदरीकी कही हुई बात याद आ गयी।

तदनन्तर राजा चक्कवेणके मन्त्रीने कहा—"राजन्! आप यदि सवा मन सोना 'कर'के रूपमें नहीं देंगे तो भी राजा चक्कवेणको आपसे युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। राजा चक्कवेणके प्रभावका चक्र चलता है। मैं अकेले ही आपकी लङ्काको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये काफी हूँ। अभी राजा चक्कवेणकी दुहाई देकर आपकी लङ्काको क्षणमात्रमें एक हाथके झटकेसे नष्ट किये देता हूँ। आप उस लङ्काकी रक्षा कर सकें, तो करें। यदि आपको लङ्काकी रक्षा करनी है तो 'कर'के रूपमें सवा मन सोना दे दीजिये; इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।" रावणने सोचा—'मेरे देखते-देखते क्षणमात्रमें पूर्वद्वारके कँगूरे और चारों बुर्जें गिर गयीं, जो धातुनिर्मित और बहुत ही मजबूत थीं। इसी प्रकार इस सारी लङ्काको नष्ट करना इसके बायें हाथका खेल है।' यह सोचकर रावणने सवा मन सोना करके रूपमें देना स्वीकार कर लिया और मन्त्रीसे कहा—'चलो, मैं आपको सवा मन सोना दे देता हूँ।' तत्पश्चात् उसे सवा मन सोना देकर विदा किया।

मन्त्री सवा मन सोना लेकर राजा चक्कवेणके पास वापस लौट आया। उसने राजा-रानीके पास जाकर उनके सामने सवा मन सोना रख दिया और कहा—"आपकी आज्ञासे रावणसे 'कर'के रूपमें सवा मन सोना ले आया हूँ।" राजाके यह पूछनेपर कि तुमने यह सोना कैसे प्राप्त किया?' उसने आद्योपान्त सारी घटना उनको कह सुनायी।

यह घटना सुनकर रानीको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने राजासे पूछा—'यह क्या बात है?' राजाने कहा—'हमलोग स्वावलम्बी होकर परिश्रमपूर्वक खेती करके अपना निर्वाह करते हुए वैराग्य और त्यागपूर्वक अपना जीवन बिताते हैं और निष्कामभावसे प्रजाके धनको प्रजाकी सेवामें ही लगा देते हैं, अपने व्यक्तिगत कार्यके लिये राज्यके पैसेको छूतेतक भी नहीं, इसीका यह प्रभाव है।'

यह सुनकर रानीका दिल बदल गया। रानी बोली—'स्वामिन्! मैं बहुमूल्य वस्त्राभूषण नहीं पहनूँगी। जिस प्रकार अबतक नियमसे रहती आयी हूँ, वैसे ही रहूँगी, कुछ भी परिवर्तन नहीं करूँगी। धनी व्यवसायियोंकी स्त्रियोंके कुसङ्गसे मेरी बुद्धि त्याग, वैराग्य और धर्मसे विचलित हो गयी थी, किंतु अब उनके सङ्गका मुझपर कोई असर नहीं रह गया है। मैंने आपसे जो कुछ दुराग्रह किया, उसके लिये मैं क्षमा-प्रार्थना करती हूँ। मेरे अपराधको आप क्षमा करें और इस स्वर्णको वापस लौटा दें।'

राजाने उसकी बात मानकर मन्त्रीसे कहा कि 'मन्त्री! इसपर जो कुसङ्गका असर पड़ा था, वह ईश्वरकी कृपासे दूर हो गया है। अब इस धनको जहाँसे तुम

लाये थे, वहीं वापस कर दो ।' राजाकी आज्ञा होते ही मन्त्री वह स्वर्ण लेकर लङ्कापति रावणके पास पुनः गया और सभामें जाकर बोला—'महाराज चक्रवेणने आपका यह स्वर्ण वापस लौटा दिया है । उनकी पत्नीकी जो बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहननेकी अभिलाषा हो गयी थी, वह भगवत्कृपासे अब नहीं रही । अतः अब इसकी उन्हें आवश्यकता नहीं है ।'

इस बातको सुनकर रावणके हृदयपर चक्रवेणके त्यागका और भी अधिक असर पड़ा । उसने वह स्वर्ण रखकर मन्त्रीको आदर-सत्कारपूर्वक विदा किया । मन्त्रीने वापस आकर राजा-रानीको स्वर्ण लौटा देनेका सब हाल सुना दिया । दूतकी बात सुनकर राजा-रानीको बहुत ही प्रसन्नता हुई । राजा चक्रवेणका प्रभाव यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, ऋषि, मुनि, पशु, पक्षी आदि सभीपर था ।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । प्रत्येक स्त्री-पुरुषको निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार न्याय और सत्यतापूर्वक अपनी जीविका चलानी चाहिये । दूसरोंके आश्रित होकर अपना जीवन-निर्वाह करना भी अपने लिये घृणास्पद है । झूठ, कपट, बेईमानी करके उपार्जित द्रव्यसे हमें यदि मेवा-मिष्टान्न भी मिल जायँ तो वे हमारे लिये विषके समान हैं; किंतु अपने न्यायोपार्जित पवित्र द्रव्यसे एक मुट्ठी चने भी खानेको मिलें तो वे हमारे लिये अमृतके समान हैं । हमें बीमारी और आपत्तिकालके अतिरिक्त—नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र और शिष्य आदिके रहते हुए भी, अपने शरीरका काम जहाँतक हो सके, स्वयं ही करनेका अभ्यास डालना चाहिये, जिससे कि हमें दूसरोंके अधीन होकर जीना न पड़े । कल्याणकामी पुरुषोंके लिये दूसरोंके आश्रित होकर जीना लज्जास्पद है ।

साथ ही, हमें समयको अमूल्य समझकर एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये । हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए परोपकार और शरीर-निर्वाह आदिका कार्य करते रहना चाहिये । छः घंटे सोनेके अतिरिक्त एक क्षण भी न तो समय व्यर्थ बिताना चाहिये और न उसका दुरुपयोग करना चाहिये । मनुष्यका जीवन बड़ा ही मूल्यवान् है । अतः क्षणमात्र भी उसे निकम्मा नहीं रहना चाहिये, अपनी बुद्धिसे हम जिसको सबसे बढ़कर कार्य समझें, उसी कार्यको करते रहना चाहिये ।

थोड़ी देरका कुसङ्ग भी मनुष्यके लिये बहुत हानिकर हो जाता है—इस बातको ध्यानमें रखकर नास्तिक, नीच, प्रमादी, भोगी, पापी, निकम्मे, आलसी, दूसरोंपर निर्भर रहकर जीवन-निर्वाह करनेवाले, बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करनेवाले, खेल-तमाशा और मादक वस्तुओंका सेवन करनेवाले दुर्व्यसनी स्त्री या पुरुषोंका कभी भूलकर क्षणमात्र भी सङ्ग नहीं करना चाहिये और प्रमाद, आलस्य, निद्रा, भय, उद्वेग, राग, द्वेष, अहङ्कार और दुर्व्यसन आदिसे रहित होकर अपना जीवन विवेक, वैराग्य, त्याग और संयमपूर्वक निष्कामभावसे भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्यायमें ही बिताना चाहिये तथा सम्पूर्ण प्राणिमात्रको परमात्माका स्वरूप समझकर आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्काम भावपूर्वक तन-मनसे सबकी सेवा करनी चाहिये एवं सबपर समान भावसे हेतुरहित दया और प्रेम रखना चाहिये।

* * *

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५२)

यहाँका कालमान जगत्स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माके लिये कोई महत्त्व नहीं रखता । सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चार युगोंकी एक चतुर्युगी* एवं ऐसी एक सहस्र चतुर्युगी, जिनके एक दिनकी सन्ध्या होनेतक समाप्त हो जाती है तथा पुनः एक सहस्र चतुर्युगी परिमित कालमानकी जिनकी रात्रि होती है—जिनके एक अहोरात्रमें मानवजगत्‌की दो सहस्र चतुर्युगी-जितने कालमानका अवसान हो जाता है, उनके लिये यहाँके दिन, मास, वर्ष क्या मूल्य रखते हैं? इसीलिये हंसवाहनको तो अपने कालमानसे केवल 'त्रुटि' मात्र† समय लगा और वे इतने कालमें ही—श्रीकृष्णचन्द्रके गोपसखाओंको—गोवत्सोंको स्थानान्तरित करनेके पश्चात्—सत्यलोकमें जाकर पुनः वृन्दाकाननके आकाशमें ही लौट आये। किंतु उनका यह 'त्रुटि' मात्र ही मानव-कालमानकी दृष्टिसे—यहाँके लिये एक वर्षकी अवधि बन गयी और इतने समयतक श्रीकृष्णचन्द्रका निर्बाध आत्मविहार होता रहा । आज वर्ष पूर्ण हो रहा है । ठीक आजसे एक वर्ष पूर्व इसी दिन श्रीकृष्णचन्द्रकी पुलिनभोजनलीला सम्पन्न हुई थी—शिशु एवं गोवत्स अपहृत हुए थे । उस दिन भी अग्रज बलराम अपने अनुजके साथ वत्सचारणके लिये वनमें नहीं गये थे और आजके दिन भी अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे अग्रजके जन्म-नक्षत्रका संयोग हो गया और वे घरपर ही शास्त्रोचित कृत्यके लिये रोक लिये गये । आज भी एकाकी श्रीकृष्णचन्द्र ही अपने स्वस्वरूप शिशुसखा एवं गोवत्सोंसे आवृत हुए वनमें पधारे हैं, सुदूर वनस्थलीमें आकर स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं । ठीक उसी रूपमें हंसवाहनको दर्शन भी होते हैं । पर यह दर्शन होनेसे पूर्व स्रष्टाने अपने लोकमें जाकर एक और भी विचित्र अनुभूति कर ली है तथा उसीसे अस्त-व्यस्त होकर दौड़ते हुए वे तत्क्षण लौट आये हैं ।

घटना विचित्र-सी है । वत्स एवं शिशुओंको यथा-स्थान स्थापितकर पद्मयोनि ब्रह्मलोकमें अपने आवासके सिंहद्वारपर उपस्थित हुए । किंतु आज अभ्यर्थना तो दूर, अपितु रोषपूरित नेत्रोंसे द्वारीने द्वाररोध करते हुए परिचय जानना चाहा । हंसवाहन अत्यधिक आश्चर्यमें डूब गये, मानो स्वप्न देख रहे हों । विस्फारित नेत्रोंसे उन्होंने द्वारपालवर्गका समाधान करना चाहा, पर उत्तरमें मिली द्वारिकोंकी सगर्व उक्ति, जिसका सारांश यह था—'महाशय ! आप कोई भी हों, सत्यलोकाधिपति हमारे स्वामी आप कदापि नहीं हैं । हमारे स्वामी अपने आसनपर विराजमान हैं । वेदाधिष्ठातृ देवगण उन्हें आवृत किये हुए हैं । इस समय सनकादि एवं देवर्षि नारद आदि भी पधारे हैं तथा हमारे स्वामी उन्हें श्रीकृष्ण-कथाका पीयूष दान कर रहे हैं । पता नहीं, हमारे स्वामीकी आकृतिका अनुकरण करनेवाले आप कौन हैं?' पद्मयोनिने स्पष्ट देख लिया—इन दौवारिकोंकी वाणीमें ओज है, पूर्ण विश्वास है, एक अजेय शक्ति इन्हें परिव्याप्त कर रही है, इन्हें अतिक्रमण करके अपने अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो जाना दुस्साहसमात्र है । इसलिये उनका मानसंवर्धन करते हुए हंसवाहनने अपने-आपको सत्यलोकाधिपतिकी सन्निधिमें पहुँचा देनेकी ही प्रार्थना की । और द्वारीवर्गने भी उन्हें सभा-

---

* चार लाख बत्तीस हजार वर्षका कलियुग होता है । कलियुगसे दूना द्वापर, तिगुना त्रेता एवं चौगुना सत्ययुगका कालमान है । अर्थात् एक चतुर्युगी तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षकी होती है ।

† एक दिनके अठारह करोड़, बाईस लाख, पचास हजार अंशके एक अंश-जितने परिमित कालको 'त्रुटि' कहते हैं ।

प्राङ्गणमें उपस्थित कर दिया । पद्मयोनि अपनी आठों आँख फाड़कर देखने लगे—'सचमुच उन्हींके आसनपर एक चतुर्मुख ब्रह्मा विराजित हैं । अङ्गोंसे रक्तवर्ण ज्योति झर रही है । मानो कोटि-कोटि समुदित रविमण्डलका तेज सत्यलोकके कण-कणको उद्भासित कर दे रहा हो, ऐसी समुज्ज्वल आभा अधिपतिके रक्ताभ अङ्गोंसे प्रसरित हो रही है । साथ ही गूँज रहा है उनका उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरमें वेदनाद !' हतप्रभ हुए पद्मयोनि स्तब्ध खड़े रह गये । कानोंमें द्वाररक्षकोंकी चर्चा सुन पड़ी, वे उनके सम्बन्धमें ही अपने स्वामीसे विनम्र निवेदन कर रहे थे । और फिर सुन पड़ा अधिपतिका मेघगम्भीर स्वरमें गूढ़ादेश—'द्वारपालो ! मेरे अतिरिक्त ब्रह्मासनपर किसीका भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं । इन्हें सत्यलोककी सीमासे बाहर कर दो ।'—तथा देखते-ही-देखते वे अपने ही किङ्करोंके द्वारा ब्रह्मलोकसे बाहरके देशमें अवस्थित कर दिये गये !

हंसवाहनका हृदय दुर्-दुर् करने लगा । इस पराभवजन्य क्षोभसे नहीं, अपितु अपनेद्वारा आचरित श्रीकृष्णभक्तापराधकी स्मृतिसे । उन्हें यह भान होते देर न लगी कि उन्हींके आसनपर विराजित ये नवीन तेजोमय स्रष्टा कौन थे ? अखिल ब्रह्माण्डपति श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त यह सामर्थ्य और है ही किनमें ? उन्हींके नित्य पार्षद भक्त गोपशिशु, गोवत्सोंको स्रष्टाने मोहित कर उनसे पृथक् किया तथा ऐसा करके वे फूले न समाये । फिर इस भक्तापराधके परिणामस्वरूप ब्रह्मासनका अधिकार छिन जाय तो क्या आश्चर्य है ? हंसवाहनके अनुतापका पार नहीं । ब्रह्मपद चला गया, चला जाय । उसकी आवश्यकता भी नहीं । पर कहीं श्रीकृष्णचन्द्रकी चरणनख-चन्द्रिकाका आलोक हृदयसे अन्तर्हित न हो जाय, श्रीकृष्णचरण-स्मृतिकी अमूल्य निधि न छिन जाय—इस भयसे ही हंसवाहन उद्विग्न हो उठे तथा अविलम्ब वृन्दावनके आकाशमें ही उतर पड़े—

ब्रह्मापि स्वासनस्थेन चतुरास्येन शौरिणा ।
मोहितैर्द्वारपालैश्च परिभूतो न्यवर्तत ॥

अस्तु, अपने कालमानसे त्रुटिमात्रका ही व्यवधान हुआ है और पद्मयोनिने श्रीकृष्णचन्द्रको पुनः देखा । किंतु जो देखा तो अवाक् रह गये । वही, वैसे ही स्वच्छन्द क्रीड़ा चल रही है । कहीं किसी अंशमें भी परिवर्तन नहीं है । सम्पूर्ण लीलापार्षद गोपशिशु भी ज्यों-के-त्यों हैं, असंख्य गोवत्ससमुदाय भी वही-का-वही है । बाल्यलीलाविहारीकी भावभङ्गी भी वैसी-की-वैसी है । क्षणभरके लिये भी उनके इस विहारका विराम नहीं हुआ है, निर्दिष्ट क्रमसे सब कुछ पहलेकी भाँति ही निर्बाध चलता रहा है—

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा ।
पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ४०)

बीत्यो बरष एक एहि रीती । कंजसुवनकी त्रुटि तब बीती ॥

× × ×

बर्ष दिवस बीते बिधि आयौ । निरखि बिनोद सु-बिस्मय पायौ ॥
वैसैं ई बच्छ स्वच्छ ब्रजबाल । जमुन-कच्छ खेलत नँदलाल ॥

× × ×

देखे ब्रह्मा सकल सखा हैं । देखे तैसे चरत बछा हैं ॥

हंसवाहन सोचने लगे—'यह कैसे हुआ ! क्या अनन्तैश्वर्यनिकेतन प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने मेरे जाते ही मायामुग्ध सखाओंको, गोवत्सोंको अपने पास बुला लिया ? नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं हुई है । वह देखो, व्रजमें जितने गोपशिशु थे, गोवत्स थे, वे तो अभीतक मेरी मायासे मुग्ध हुए ज्यों-के-त्यों निद्रित हो रहे हैं, उनके मोहका अपगम हुआ ही नहीं है । वे उठे ही नहीं हैं । पर साथ ही, ओह ! कितना आश्चर्य है, यहाँसे कुछ ही दूरपर उतने-के-उतने गोपशिशु, उतने ही गोवत्स—नहीं-नहीं, सर्वथा वे-के-वे, वैसे-के-वैसे श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भी हैं, एक वर्षसे खेल रहे हैं । मेरी मायासे मुग्ध हुए बालकोंसे, वत्सतरोंसे ये

भिन्न तो अवश्य हैं; क्योंकि पहलेवाले तो ज्यों-के-त्यों उसी अवस्थामें अभी भी अवस्थित हैं ही। फिर ये कौन हैं? कहाँसे आ गये?'

सोचते-सोचते पद्मयोनिकी विवेकशक्ति लुप्त होने लगती है। कभी तो वे दौड़कर मायानिद्रित शिशुओंके समीप जाते हैं और कभी आ जाते हैं कलिन्दनन्दिनीके तटपर उद्दाम कौतुकमें उन्मत्त-से हुए नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके समीप। किंतु दोनों स्थलोंमें सर्वथा ज्यों-की-त्यों उपस्थिति अनुभवकर उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती। किसी मायाके प्रभावसे वे भ्रमित हो रहे हों, इस आशङ्कासे उन्होंने युगपत् दृष्टि दौड़ायी। अपने ज्ञानके आलोकमें वे एक साथ एक समयमें ही दोनों स्थलोंका निरीक्षण करने लगे। पर कोई भी अन्तर न हुआ। दोनों स्थानोंमें ही वस्तुस्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। आखिर इन दोनोंमें एक सत्य और एक तो मायिक सृजन होगा ही—इसका निर्णय करने वे चले। पर यहाँ भी नितान्त निराशा ही हाथ लगी। स्रष्टाका अभ्रान्त ज्ञान उनका साथ न दे सका। युञ्जान योगीकी भाँति अपनी प्रत्यक्ष अनुभूतिपर प्रत्यय स्थापित न कर वे समाधिमें स्थित होकर तथ्यका निर्णय करने लगे। पर वह इन्द्रियातीत आलोकपुञ्ज भी मानो किसी प्रगाढ़ तमके आवरणमें विलीन-सा हो चुका है। उनके नित्यज्ञानकी वह दीपशिखा—जिसकी ज्योतिमें वे पूर्व-कल्पकी सूक्ष्मतम घटनावलीको भी देख लेते हैं—मानो निर्वापित-सी हो चुकी है और वे इस सम्बन्धमें कोई भी निर्णय न पा सके। न जाने कितनी देरतक वे प्रयास करते रहे, बाह्यज्ञान, समाधिज्ञान—सबका आश्रय लेकर श्रान्त हो गये, पर कुछ भी न जान सके। इन दोनोंमें कौन सत्य है, कौन मायासृष्ट है, कौन सच्चे श्रीकृष्णपार्षद हैं और कौन नहीं हैं—इस सम्बन्धमें उन्हें कोई प्रकाश न मिला। वे सर्वथा अक्षम सिद्ध हुए—

यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि।
मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः॥
इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे।
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम्॥
एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः।
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ४१-४३)

माया सयन कराइ सब, बाल वत्स मैं आव।
इहाँ ताहि सम अपर ए, बालक खेलत पाव॥
वे हैं सत्य किधौं ए साचे। इमि व्याकुल चित संसय राचे॥
इत उत फिरै लखै दोउ ठाँमा। बाल वत्स सब सुख अभिरामा॥

× × ×

तैसैंई उत के तैसैंई इत के। कहत कि सत्य आहिं धौं कित के॥

पितामह चले थे महामहेश्वरको मोहित करने, अपनी मायाका विस्तार कर उसका परिणाम देखने; पर हो गये स्वयं भ्रान्त। चतुर्मुखने यह नहीं सोचा था कि जो उनसे (ब्रह्मासे) आरम्भ कर स्तम्बपर्यन्त—बृहत्तममें, कीटाणुओंमें अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूपसे परिव्याप्त हैं, सर्वाधिष्ठान हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, उनपर भी किसीकी माया चल सकती है? जिन्हें मोह कभी स्पर्श नहीं कर सकता, जो नित्य विगतमोह हैं तथा जिनकी माया विश्वके समस्त चर-अचरको मोहित करती रहती है, उनपर मायाप्रसारका क्या परिणाम हो सकता है? सागरके जलकी कितनी गम्भीरता है, गगनमण्डलका परिमाण कितना है—इसकी थाह पानेके उद्देश्यसे सप्तवितस्ति (सात बित्ते) मानका एक काष्ठदण्ड, एक रज्जुखण्ड फेंकनेका प्रयास कितना हास्यास्पद है। हंसवाहनकी चेष्टा ऐसी-सी हुई। वे भूल गये महामहिम श्रीकृष्णचन्द्रकी तुलनामें अपनी सीमित शक्तिको तथा सर्वमायाधीश्वरपर ही अपनी क्षुद्र मायाका प्रयोग कर बैठे। फिर जो होना चाहिये था, वही हुआ। उनकी माया उन्हें ही भ्रान्त करनेमें उपकरण बनी। जैसे नीहार (कुहरा) जन्य अंधकारकी घनता वृक्ष, लता, वल्लरियोंको तथा पशु, पक्षी, मानव, कीट, पतङ्ग, भृङ्गको

आवृत कर सकती है, पर वह प्रगाढ़ तमसाच्छन्न रजनीके अंधकारका, अमानिशाके घोर अँधेरेका आवरण नहीं बन सकती, ऐसे प्रबलतर अँधेरेका संयोग होते ही वह अपनी आवरणशक्तिको उसीमें विलीन कर देनेके लिये बाध्य हो जाती है, स्वयं उससे आवृत हो जाती है; और जैसे खद्योतका क्षुद्र प्रकाश घोर तमसाच्छन्न रात्रिके समय किसी तरुवल्लरीके किसी पत्रांशको एक क्षणके लिये क्षीण चमकका दान भले कर सकता है, पर समुद्भासित मध्याह्न सूर्यके समक्ष उसकी सत्ता सर्वथा नगण्य बन ही जाती है; वैसे ही महान्‌के प्रति क्षुद्र व्यक्तिका क्षुद्र मायाप्रसार, अपने क्षुद्र वैभवका प्रकाश—दोनों ही निरर्थक सिद्ध होते हैं; अपितु प्रयोजकके लिये ही मोहका, कश्मलका सृजन करनेमें, उसके तेजका अपहरण करनेमें हेतु बन जाते हैं। हंसवाहनके लिये यह पूर्णतया चरितार्थ हुआ। महामहिमको अपनी मायासे मोहित करने जाकर वे स्वयं मोहित हो गये, उनपर अपने वैभवका प्रकाश करने जाकर स्वयं हतप्रभ हो गये—

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः॥
तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ४४-४५)

चित भ्रम ते चुप ह्वै रह ठाढा। महा मोह हिय मैं तेहि बाढा॥
अखिल विश्वमोहन भगवाना। तिन्है मोहिबे कों मन आना॥
माया करी बत्स हरि लीन्हा। आपु मोह बस भा अति दीना॥
प्रभु माया कृत अंड अनेका। रचना अमित एक तें एका॥
रोम रोम प्रति अंड कटाहा। तासु प्रभाव देखिबे चाहा॥
किमि मोहै मायापति नाथा। अखिल विश्व सब जेहि के हाथा॥
कोटि कोटि रवि सरिस प्रकासा। कृष्नचंद मुख ससि दुति हासा॥
विधि माया खद्योत समाना। आपुहि लज्जित लह अपमाना॥
जैसें निसि महँ तम अति भारी। पुनि निहार अतिसैं अँधिआरी॥
दोउ तम मिलि एकै ह्वै गएऊ। नहि निहार बल भिन्न जु भएऊ॥
जिमि खद्योत सहस्र मिलि, दिवस न भिन्न प्रकास।
तिमि हरिमाया के विषे, माया सकल निवास॥
तैसेंहि महत पुरुष कहँ कोई। माया करै इतर जो होई॥
वह माया तेहि लगै न कबहू। उलटी फलै करै जो सबहू॥

जो हो, इतनेसे ही हंसवाहनके आश्चर्यदर्शनकी इति हो गयी हो, यह बात नहीं है। अभी तो उन्हें बहुत कुछ देखना है, और वे देखने लगते हैं। सहसा उनके आठों नेत्रोंमें एक दिव्यातिदिव्य तेजका उन्मेष हो जाता है और उस परम दिव्य आलोकमें उन्हें दीख पड़ता है—व्रजेन्द्रनन्दनके पार्श्ववर्त्ती ये समस्त गोवत्स, गोप-शिशु नवनीलनीरदवर्ण, पीतपट्टाम्बरपरिशोभित, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-करधारी, मणिमुकुटधारी, मणिकुण्डल-मुक्ताहारशोभित, वनमाली, चतुर्भुज रूपमें परिणत हो गये हैं। उनमेंसे प्रत्येक मूर्तिके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, भुजाओंमें अङ्गद, हाथोंमें रत्नमय वलय एवं कङ्कण, चरणोंमें नूपुर एवं कड़े, कटिदेशमें करधनी, अङ्गुलियों-में अङ्गुलीयक (अँगूठी) विराजित हैं। अतिशय भाग्यशाली भक्तोंके द्वारा समर्पित सुकोमल नवतुलसीकी मालाएँ नखसे शिखपर्यन्त समस्त अङ्गोंमें आभरण बनी हैं। चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान अधरोंपर नृत्य कर रही है। अरुणिम नेत्रप्रान्तकी चितवनसे मधु झर रहा है। वे अरुणनयन मानो रजके प्रतीक हैं, भक्तोंके अन्तस्तलमें क्षण-क्षणमें नव-नव मनोरथ (सेवा-वासना) का सृजन कर रहे हैं; और वह उज्ज्वल हास्य मानो सत्त्वका प्रतीक हो, जो अधरोंपर नाच-नाचकर भक्तोंके मनोरथका पालन कर रहा हो। इतना ही नहीं, यह देखो! यहाँ अगणित असंख्य ब्रह्मा उपस्थित हैं। ब्रह्मा ही नहीं, उनसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर जीव अपने अधिष्ठातृ देवतारूपमें मूर्तिमान् होकर उपस्थित हैं और नृत्य-गीतके सहित यथायोग्य विविध उपहार समर्पित करते हुए उन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंकी उपासना कर रहे हैं। अणिमादि सिद्धियाँ, माया, विद्या आदि विविध शक्तियाँ, महत्तत्त्व आदि चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठातृ देवता—सभी सेवाकी प्रतीक्षामें उन्हें घेरे

खड़े हैं। प्रकृतिक्षोभमें हेतु काल, प्रकृतिपरिणाममें हेतु स्वभाव, वासनाका उद्बोधक संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि—इन सबके अधिष्ठातृ देवता उन प्रत्येक भगवद्-रूपकी अर्चना कर रहे हैं। भगवत्-प्रभावके समक्ष उन देवोंकी सत्ता-महत्ता नगण्य बन चुकी है। ओह! ये अगणित भगवत्-स्वरूप! सब-के-सब त्रिकालाबाधित सत्य हैं; ज्ञानस्वरूप-स्वप्रकाश हैं; अनन्त—देशकालादि-परिच्छेदरहित हैं; आनन्दस्वरूप हैं; एकरस हैं। इनके **अचिन्त्य-अनन्त** माहात्म्यकी उपलब्धि आत्मज्ञानकी दृष्टि रखनेवाले पुरुषोंके लिये भी सम्भव नहीं—

तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥
चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥
श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः।
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः॥
आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः॥
चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टपालकाः॥
आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः।
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः॥
अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः।
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः॥
कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः।
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः॥
सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ४६–५४)

पुनि जौ फिरि आवै इहि ठौर। ह्वै रही कछू औरकी और॥
बालक-बच्छ इहाँ हैं जिते। बेनु, बिषान, बेत्र दल तिते॥
मुक्तावलि, गुंजावलि जुही। नूपुर, किंकिनि, कंकन सुही॥
अंबर, कंबर, संबर जिते। निरखे चारु चतुर्भुज तिते॥
घन-तन, पीतबसन, बनमाल। अरुन कमल-दल-नैन बिसाल॥
कुंडल-मंडित गंड सुदेस। मनिमय मुकट सु घूँघर केस॥
कंबु-कंठ कौस्तुभ मनि धरे। आयुध संख-चक्र कर करे॥
छबि उलसी तुलसी की माल। बनि रही पदपजंत बिसाल॥
बदन बदन मुसकनि छबि लसी। चंदन मध्य चंद्रिका जसी॥
भिन्न भिन्न ब्रह्मांड बिराजै। तिन मधि इक इक मूरति भ्राजै॥
ब्रह्मादि आदि चराचर जिते। मूरति धरे उपासत तिते॥
अनिमा महिमादिक सिधि जिती। महदादिक विभूति हैं तिती॥
काल-करम-गुन अवर न अंत। सेवत हैं तहँ मूरतिवंत॥

× × ×

तेहि छन अपर अचंभौ भएऊ। कंज सुअन निज नयननि लहेऊ॥
जितने वत्सपाल अज देखा। सपदि लखे अति रूप बिसेखा॥
तन घनस्याम चतुर्भुज रूपा। पीत बसन कटि लसत अनूपा॥
गदा चक्रधर पंकजपानी। सुभग किरीट सीस सुखदानी॥
कुंडल चपल हार बनमाला। श्रीवत्सांक सुललित बिसाला॥
कंबु कंठ अंगद सुठि लोने। कंकन पानि जटित मनि सोने॥
नूपुर कटक ललित अति सोहन। कटि किंकिनि त्रिभुवन मन मोहन
सुभग दसांगुल भूषन नीके। निरखत मन मोहत सबही के॥

नख सिख तुलसी दाम बर, ता करि सोभित गात।
पुन्य पुंज बहु जन्म कृत, तिन गूँथी बहु भाँति॥

कोमल पत्र बिमल कर आनी। भूरि पुन्य कृत कोउ एक प्रानी॥
तिन अर्पित पहिरे सुठि सोहन। एहि बिधि बिधि देखेउ मनमोहन
मृदु मुसुकानि चंद्रिका चारू। अरुन कटाच्छ भरी सुख सारु॥
निज जन बांछा पुरवन हारू। संभव पाल केर भंडारू॥
मनहु सत्व रज गुन ए दोऊ। इत ए बसे अरुन सित सोऊ॥
ऐसी सुभ कटाच्छजुत नैना। निरखत होत सबनि चित चैना॥
ब्रह्मादिक अग जग जे प्रानी। धरे सुभग तनु अति हित मानी॥
लै लै अमित बस्तु बहु भाँती। आए सब निज हृदय सुहाती॥
नृत्य गान अरु बाद्य अनेका। पूजत प्रभुहि एक तें एका॥
अनिमादिक जे सिद्धि कहावै। अज सुरेस जे विभव सुहावै॥
अरु जे चौबिस तत्व समेता। मूर्त्तिवंत सौभाग्य निकेता॥
सेवहिं प्रभु-पद-पंकज तेऊ। ब्रह्मादिक बरने अब जेऊ॥

क्षोभक काल स्वभाव जे, परिनामक जे हेतु।
प्रभु महिमा लखि चकित चित, सेवहिं चरन निकेतु॥

सत्य ज्ञानयुत अमित न अंता। परिपूरन सब ठाम लसंता॥
परमानंद रूप ब्रजपालू। श्रुति गावै जस बिमल रसालू॥
महिमा बहुत लहै नहिं थाहू। हस्तामल श्रुति है सब जाहू॥
तेउ प्रभु महिमा लहै न छोरा। बिधि चक्रित चित भयो न थोरा॥

× × ×

जिते बाल औ बच्छ, तिते सब बिस्नु रूप धृत।
मौल मुकट मनि जटित, श्रवन कुंडल मकराकृत॥

कौस्तुभ मनि उर माल, हास ईखद कहि कीन्हैं ।
चारि बाहु कर चारि, चारि आयुध कहँ लीन्हैं ॥
भृगु चरन अंक अंकित महाँ, पीत बसन तडिता बरन।
ब्रह्मादि देव अस्तुति करत, कर जोरैं सेवत चरन ॥

जिन परब्रह्मात्मक स्वयं भगवान् गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वप्रकाशशक्तिसे यह परिदृश्यमान सचराचर विश्व प्रकाशित होता है, उनके नित्यपार्षद—गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको पद्मयोनि आज इस प्रकार उपर्युक्त रूपमें एक साथ एक समय देख रहे हैं—

एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ५५)

एक हि बार अखिल सब देखा। कृष्न रूप सब अपर न लेखा ॥
जेहि प्रतिबिंब चराचर भासा। सोइ प्रभु ब्रजपति नंद प्रकासा ॥

किंतु अब इससे अधिक देखनेकी सामर्थ्य चतुर्मुखमें नहीं रहती । नेत्र इस चिन्मय चमत्कारसे सर्वथा पूर्ण हो उठे । कर्णरन्ध्रोंमें दिव्यातिदिव्य स्तवनका घोष भर गया । घ्राणेन्द्रिय अप्राकृत दिव्य सुवाससे पूरित हो गयी । समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एक अभिनव आनन्दके पूरमें निमग्न हो गयीं । कर्मेन्द्रियाँ आनन्दातिरेकवश स्थिर हो गयीं । मन उस दर्शन-सुखमें डूबकर अपनी सत्ता खो बैठा । स्रष्टाकी एकादश इन्द्रियाँ ही पहले तो इस आश्चर्यदर्शनसे ऐसी चञ्चल हुईं मानो प्रबल वेगसे इनमें अवस्थित सम्पूर्ण शक्तियोंका किसीने हिण्डन कर दिया हो; पर फिर तुरंत ही ऐसी, इतनी शान्त हो गयीं कि जैसे इनका सम्पूर्ण अस्तित्व ही सदाके लिये विलीन हो गया हो । जो हो, देखते-ही-देखते इन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंके दुर्धर्ष तेजसे हंसवाहन निष्प्रभ, निर्वाक्, निष्पन्द हो उठे । ऐसा प्रतीत हुआ मानो अतिशय प्रीतिसे आराधित किसी ग्राम्यदेवीमूर्तिके समीप शिशुओंकी एक क्रीड़ापुत्तलिका—खेलकी गुड़िया रख दी गयी हो । ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सबके द्वारा सादर उपासित इन अनन्त चतुर्भुजमूर्तियोंके समक्ष पद्मयोनि सर्वथा उपेक्षित-से हुए—एक स्वर्णिम जड़ तुच्छ स्पन्दनहीन क्रीड़ापुत्तलिकाकी भाँति ही—अपने हंसके पृष्ठदेशपर ढलक पड़े—

ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ५६)

अति आचरज देखि सब ठामा। क्षुभित चित्त नहिं लह बिश्रामा॥
इंद्री गन मन बुद्धि समेता। थकित रह्यो गहि मौन अचेता ॥
नयन मूँदि मुख आव न बैना। खरो रह्यो बिधि नहिं चित चैना॥
जिमि ब्रज ग्राम देवता कोई। तासु निकट कौतुक हित जोई ॥
दारु पूतरी रचि मुख चारी। खरी करी बिधि एहि अनुहारी ॥

× × ×

सुधि गई बिधिहि अचेतन भयौ। हंस कौ अंस पकरि रहि गयौ॥
तिहि छिन ताहि फबी छबि ऐसी। चतुर्मुखी कोउ पुतरी जैसी॥

◆

छकड़ेका बैल

भक्ति बिनु नर छकड़ाको बैल ।
लोग बड़ाई दै दै हाँकत चलत दुखित ह्वै गैल ॥
कारज द्रव्य बिना बल घींसै मनसौं सकै न हार ।
लीनो स्वारथ साधि सबै मिलि याकैं सिर दैं भार ॥
भटकत ही मरजाय बृषभ जिम नथे जगतकी लाज ।
नागरिदास बैठि वृन्दावन करै न अपनौं काज ॥

—नागरीदासजी

तपोवन

(लेखक—कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

[अनुवादक—श्रीधन्यकुमारजी जैन]

[गताङ्कसे आगे]

रामायणमें रामका वनवास हुआ । केवल राक्षसोंके उपद्रवके सिवा उस वनवासमें उन्हें और कोई दुःख ही नहीं था । वे एक वनके बाद दूसरा वन, एक नदीके बाद दूसरी नदी, एक पर्वतके बाद दूसरा पर्वत पार करते चले गये हैं । वनभूमिपर सोकर रातें बितायी हैं; परंतु कहीं भी उन्होंने दुःख-क्लेशका अनुभव नहीं किया । इन सब नदी-पर्वतों-वनोंके साथ उनके हृदयका मेल था । यहाँ वे प्रवासी नहीं थे ।

अन्य देशके कवि राम-लक्ष्मण-सीताके माहात्म्यको उज्ज्वलरूपमें देखनेके लिये ही वनवासके दुःखोंको अत्यन्त कठोररूपमें चित्रित करते; परंतु वाल्मीकिने कतई ऐसा नहीं किया । उन्होंने वनके आनन्दका ही बार-बार पुनरुक्तियोंद्वारा कीर्तन किया है ।

राज-ऐश्वर्य जिनके अन्तःकरणको मुग्ध और अभिभूत किये हुए हैं, विश्व-प्रकृतिके साथ मिलन उनके लिये कभी भी स्वाभाविक नहीं हो सकता । सामाजिक संस्कार और चिर-जन्मका कृत्रिम अभ्यास पद-पदपर उन्हें बाधा बिना पहुँचाये नहीं रह सकता । उन सब बाधाओंके भीतरसे प्रकृतिको वे हमेशा प्रतिकूल ही देखा करते हैं । हमारे राजपुत्र ऐश्वर्यमें प्रतिपालित थे, किंतु ऐश्वर्यकी आसक्ति उनके अन्तःकरणको अभिभूत नहीं कर सकी थी । धर्मके अनुरोधसे वनवासको स्वीकार करना ही उसका पहला प्रमाण है । उनका चित्त स्वाधीन था, शान्त था, इसीलिये उन्होंने वनमें प्रवास-दुःखका अनुभव नहीं किया, इसीलिये तरु-लता और पशु-पक्षियोंने उन्हें बराबर आनन्द ही दिया है । यह आनन्द प्रभुत्वका आनन्द नहीं, भोगका आनन्द नहीं, बल्कि मिलनका आनन्द है । इस आनन्दकी नींवमें तपस्या थी, आत्मसंयम था और इसीमें उपनिषद्की वह वाणी थी, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ।'

कौसल्याकी राजकुलवधू—सीता वनको जा रही हैं—

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ।
अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साबला ॥
रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान् ।
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः ॥
विचित्रबालुकाजलां हंससारसनादिताम् ।
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥

'जिन तरु-गुल्म अथवा पुष्पशालिनी लताओंको सीताने पहले कभी नहीं देखा था, उनके बारेमें वे रामसे पूछने लगीं । उनके अनुरोधसे लक्ष्मण उन्हें पुष्पमञ्जरीसे भरे हुए अनेक प्रकारके पौधे और लताएँ ला-लाकर देने लगे । वहाँ विचित्र बालुका-जलयुक्त और हंस-सारसोंसे मुखरित नदी देखकर जानकी मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगीं ।'

पहले-पहल वनमें जाकर रामने चित्रकूट-पर्वतपर जहाँ आश्रय लिया था । वहाँ वे—

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम् ।
ननन्द हृष्टो मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥

'उस सुरम्य चित्रकूट, उस सुतीर्था माल्यवती नदी, उस मृग-पक्षियोंसे सेवित वन-भूमिको प्राप्त होकर राम पुरविप्रवासके दुःखको त्यागकर सन्तुष्ट चित्तसे आनन्द करने लगे ।'

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवनप्रियः ।

गिरि-वनके प्रेमी रामचन्द्र दीर्घकालतक उस पर्वतपर वास करते हुए एक दिन सीताको चित्रकूटका शिखर दिखाकर कहने लगे—

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः ।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥

'इस रमणीय पर्वतको देखकर राज्यच्युति भी मुझे दुःख नहीं देती, सुहृदोंसे दूर रहना भी मेरे लिये पीड़ाका कारण नहीं होता ।'

वहाँसे राम जब दण्डकारण्यमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें आकाश

में सूर्यमण्डलके समान तेज तापस-आश्रमका मण्डल दिखायी दिया। यह आश्रम 'शरण्यं सर्वभूतानाम्' सब प्राणियोंके लिये शरण था। वह ब्राह्मीलक्ष्मीद्वारा समावृत था। वहाँकी कुटीरें सुमार्जित थीं, चारों ओर कितने ही मृग और कितने ही पक्षी विद्यमान थे।

रामका वनवास इसी तरह व्यतीत हुआ था, कभी रमणीय वनमें और कभी पवित्र तपोवनमें। रामके प्रति सीताका और सीताके प्रति रामका प्रेम परस्पर एक दूसरेसे प्रतिफलित होकर चारों ओरके मृग-पक्षियोंको आच्छन्न कर देता था। अपने प्रेमके योगसे वे केवल अपने ही साथ नहीं, बल्कि विश्वलोकके साथ योगयुक्त हुए थे। इसीलिये सीताहरणके बाद रामने वनको अपनी विच्छेद-वेदनाका सहचर पाया था। सीताका वियोग केवल रामके लिये ही नहीं था, सम्पूर्ण अरण्यने ही सीताको खो दिया था। कारण, राम-सीताके वनवासके समय अरण्यने एक नया ऐश्वर्य पाया था—वह था मनुष्यका प्रेम। उस प्रेमसे उसने अपने पल्लवोंसे घनीभूत श्यामलताको, अपनी छायासे गम्भीर गहनताके रहस्यको एक प्रकारकी चेतनाके संचारसे रोमाञ्चित कर लिया था।

शेक्सपियरका 'As you like it' नाटक एक वनवास-कहानी है। 'टेम्पेस्ट' भी वही है; और 'Midsummer night's dream' भी अरण्यकाव्य है। किंतु उन काव्योंमें मनुष्यके प्रभुत्व और प्रवृत्तिकी लीला ही एकान्तरूपसे दिखायी गयी है। उनमें वनके साथ सौहार्द नहीं दिखायी देता। वनवासके साथ मनुष्यके चित्तका सामञ्जस्य उसमें नहीं हुआ। या तो उसपर विजय पानेकी या फिर उसे त्याग देनेकी कोशिश ही बराबर की गयी है। उनमें या तो विरोध है या विराग, और नहीं तो उदासीनता है। मनुष्यकी प्रकृतिने विश्वप्रकृतिको किसी तरह ठेल-ढकेलकर स्वयं स्वतन्त्र होकर अपना गौरव प्रकट किया है।

मिल्टनके 'पैराडाइस लोस्ट' काव्यमें आदिमानव-दम्पतिके स्वर्गारण्यवासका वर्णन एक ऐसा विषय है, जिससे उस काव्यमें अति सहज-स्वाभाविक भावसे मनुष्यके साथ प्रकृतिका मिलन, सरल प्रेमके सम्बन्धमें विराट् और मधुररूपमें प्रकट होना चाहिये था। कविने प्रकृतिके सौन्दर्यका वर्णन किया है। जीव-जन्तु वहाँ हिंसा त्यागकर एक साथ रहते हैं, यह भी कहा है; परंतु मनुष्यके साथ उनका कोई भी सात्त्विक सम्बन्ध नहीं है। उनकी उत्पत्ति खासकर मनुष्यके भोगके लिये ही हुई है, मनुष्य उनका प्रभु है। ऐसा आभास कहीं भी नहीं मिलता कि आदि-दम्पति प्रेमके आनन्दकी अधिकतामें तरुलता और पशु-पक्षियोंकी सेवा कर रहे हैं। और भावनाको, कल्पनाको नदी, पर्वत, अरण्यके साथ नाना लीलाओंमें सम्मिलित कर रहे हैं। इस स्वर्गारण्यके जिस निर्जन निकुञ्जमें मानवके प्रथम पिता-माता विश्राम करते थे, वहाँ—Beast, bird, insect or worm durst enter none; such was their awe of man. अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतंग कोई भी वहाँ प्रवेश करनेका साहस नहीं करता था। मनुष्यके प्रति उनका ऐसा ही समय सम्भ्रम था, मनुष्यका उनपर इतना रोब गालिब था।

यह जो निखिलके साथ मनुष्यका विच्छेद है, इसकी जड़में एक गम्भीरतर विच्छेदकी कहानी है। इसमें 'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' 'जगत्में जो कुछ है सबको ईश्वरके द्वारा समावृत समझना चाहिये।' इस वाणीका अभाव है। इस पाश्चात्त्य काव्यमें ईश्वरकी सृष्टि ईश्वरका यशःकीर्तन करनेके लिये ही है। उसमें ईश्वर सिर्फ दूर रहकर अपनी इस विश्व-रचनासे वन्दना ग्रहण कर रहा है। मनुष्यके साथ भी आंशिकरूपमें प्रकृतिका वह सम्बन्ध प्रकट हुआ है, अर्थात् प्रकृति है मनुष्यकी श्रेष्ठता प्रचार करनेके लिये।

भारतवर्ष मनुष्यकी श्रेष्ठताको अस्वीकार करता हो, सो बात नहीं। परंतु प्रभुत्व करनेको ही वह श्रेष्ठताका मुख्य लक्षण नहीं मानता। मनुष्यकी श्रेष्ठताका सर्वप्रधान परिचय ही यह है कि मनुष्य सबके साथ मिल सकता है। वह मिलन मूढ़ताका मिलन नहीं, चित्तका मिलन है; और इसलिये आनन्दका मिलन है। उस आनन्दकी कहानी ही हमारे काव्योंमें गायी गयी है।

'उत्तररामचरित'में राम और सीताका जो प्रेम है, उस प्रेमने आनन्दके प्राचुर्य वेगसे चारों ओरके जल-स्थल-आकाशमें प्रवेश किया है। इसलिये राम दूसरी बार गोदावरीका गिरि-तट देखकर कह उठे थे—'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवो मे।' इसलिये सीताके विच्छेदके समय उन्होंने अपनी पूर्व-निवासभूमिको देखकर खेद प्रकट किया था—'मैथिलीने अपने कर-कमलोंसे लाया हुआ जल, नीवार और तृण देकर जिन वृक्ष, पक्षी और हरिणोंका पालन किया था, उन्हें देखकर मेरा हृदय पाषाण गलनेकी तरह गला जा रहा है।'

'मेघदूत'में यक्षका विरह अपने दुःखके आकर्षणसे अलग जाकर एक कोनेमें पड़ा हुआ विलाप नहीं करता रहा। विरहके दुःखने ही उसके चित्तको नववर्षासे प्रफुल्लित पृथ्वीकी समस्त नद-नदी, अरण्य-नगरीमें परिव्याप्त कर दिया है। मनुष्यकी हृदयवेदनाको कविने संकीर्ण रूपमें नहीं देखा, उसको विराट्में विस्तीर्ण कर दिया है, इसलिये प्रभुके शापग्रस्त एक यक्षकी दुःखवार्ताने चिरकालके लिये वर्षा-ऋतुके मर्मस्थानको अधिकार किये हुए प्रणयी हृदयकी कल्पना या सुख-स्वप्नको विश्व-सङ्गीतके ध्रुपदमें इस तरह बाँध दिया है।

भारतवर्षकी यही तो विशेषता है। तपस्याके क्षेत्रमें भी हम यही देखते हैं और जहाँ उसकी हृदय-वृत्तिकी लीला है, वहाँ भी यही देखनेमें आता है।

मनुष्य दो तरहसे अपने महत्त्वका अनुभव करता है, एक स्वतन्त्रतामें और दूसरे मिलनमें, एक भोगद्वारा, दूसरे योगके द्वारा। भारतवर्षने स्वभावतः ही दूसरा मार्ग ग्रहण किया है। यही कारण है जो हम देखते हैं कि जहाँ-कहीं भी प्रकृतिमें कोई विशेष सौन्दर्य या महिमाका आविर्भाव है, वहीं भारतवर्षका तीर्थस्थान है। मानव-चित्तके साथ विश्व-प्रकृतिका मिलन जहाँ स्वभावतः ही हो सकता है, उसी स्थानको भारतने अपना तीर्थ माना है। इन स्थानोंमें मनुष्यकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके कोई भी उपकरण नहीं हैं। न तो वहाँ खेती ही हो सकती है और न बस्ती बनाकर रहा ही जा सकता है। न वाणिज्य-वस्तुका ही आयोजन है, न राजाकी राजधानी ही है। कम-से-कम यह सब कुछ वहाँ मुख्य नहीं है। वहाँ तो निखिल प्रकृतिके साथ मनुष्यने अपने योगकी अनुभूति करके आत्माको सर्वज्ञ और वृहत् समझा है। वहाँ मनुष्य प्रकृतिको अपनी आवश्यकताओंकी सिद्धिका क्षेत्र नहीं समझता, उसको आत्मानुभूतिकी साधनाका क्षेत्र समझता है और इसीलिये उसे वह 'पुण्यस्थान' समझता है।

भारतवर्षका हिमालय पवित्र है, भारतवर्षका विन्ध्याचल पवित्र है, भारतवर्षकी नदियाँ, जो लोकालयोंको अपनी अक्षय-धारासे स्तन्य दान करती आ रही हैं, वे सब-की-सब पुण्य-सलिला हैं। हरिद्वार पवित्र है, ऋषीकेश पवित्र है, केदारनाथ-बदरिकाश्रम पवित्र है, कैलास पवित्र है, मानसरोवर पवित्र है, पुष्कर पवित्र है, गङ्गामें यमुनाका मिलन पवित्र है, समुद्रमें गङ्गाका अवसान पवित्र है। जिस विराट् प्रकृतिके द्वारा मनुष्य परिवेष्टित है, जिसके प्रकाशने आकर उसके चक्षुओंको सार्थक किया है, जिसका उत्ताप उसके सर्वाङ्गमें प्राणोंको स्पन्दित कर देता है, जिसके जलमें उसका अभिषेक होता है, जिसके अन्नसे उसका जीवन है, जिसके अभ्रभेदी रहस्य-निकेतनके नाना द्वारोंसे नाना दूतोंने निकल-निकलकर शब्दमें, गन्धमें, वर्णमें, भावमें मनुष्यके चैतन्यको नित्य नियत जाग्रत् बनाये रक्खा है, भारतवर्षने उसी प्रकृतिमें अपनी भक्तिवृत्तिको सर्वत्र ओतप्रोत करके प्रसारित कर दिया है। जगत्को भारतवर्षने पूजाके द्वारा ग्रहण किया है, उसे केवल एक उपभोगके द्वारा खर्च नहीं किया, उदासीनताके द्वारा उसे अपने कार्यक्षेत्रके बाहर दूर नहीं सरका दिया, इस विश्व-प्रकृतिके साथ पवित्र सम्बन्धके द्वारा ही भारतने अपनेको विशाल बनाकर सत्यरूपमें जाना है—भारतके तीर्थस्थान इसी बातकी घोषणा कर रहे हैं।

विद्यालय केवल विद्यालयपर ही निर्भर नहीं है, प्रधानतः छात्रोंपर ही निर्भर है। अनेक छात्र विद्यालयमें जाते हैं, यहाँतक कि उपाधि भी पा लेते हैं; किंतु विद्या नहीं पाते। उसी तरह तीर्थमें बहुत-से लोग जाते हैं, परन्तु तीर्थका यथार्थ फल सबको प्राप्त नहीं होता। जो देखनेकी चीजको देखते नहीं, अन्ततोगत्वा उनकी विद्या किताबी विद्या रह जाती है और धर्म बाह्य आचारोंमें फँसा रहता है। वे तीर्थमें जाते जरूर हैं, पर जानेमात्रको ही वे पुण्य समझ बैठते हैं, पानेको नहीं। उसमें किसी विशेष जल या विशेष मिट्टीके किसी वस्तु-गुणकी कल्पनामात्र होती है और कुछ नहीं, इससे मनुष्यका लक्ष्य भ्रष्ट होता है। जो चित्तकी सामग्री है, उसे वस्तुमें निर्वासित करना, उसे नष्ट करना है। हमारे देशमें साधनासे परिमार्जित चित्तशक्ति जितनी ही मलिन हुई है, यह निरर्थक बाह्यिकता उतनी ही बढ़ती गयी है, इस बातको मानना ही पड़ेगा। परन्तु हमारी इस दुर्गतिके दिनोंकी जडताको ही मैं किसी भी हालतमें भारतवर्षका चिरन्तन अभिप्राय मानकर ग्रहण नहीं कर सकता।

किसी एक विशेष नदीके जलमें स्नान करनेसे अपनी या तीन करोड़ पूर्वपुरुषोंकी पारलौकिक सद्गति होनेकी सम्भावना है, इस विश्वासको मैं सत्यकी नींवपर अवलम्बित माननेको तैयार नहीं और न इस विश्वासको मैं श्रद्धाकी ही वस्तु समझता हूँ। परन्तु अवगाहन—स्नानके समय नदीके जलको जो व्यक्ति यथार्थ भक्तिके साथ अपने सम्पूर्ण अङ्ग और मनसे ग्रहण कर सकता है, मैं उसे भक्तिका पात्र ही

समझूँगा। कारण, नदीके जलको साधारण तरल पदार्थ समझनेका साधारण मनुष्यमें जो एक स्थूल संस्कार है, एक तरहकी तामसिक अवज्ञा है, उस जड संस्कार या अवज्ञाको उसने अपनी सात्त्विकताके द्वारा अर्थात् चैतन्यमयताके द्वारा नष्ट कर दिया है और इसीलिये नदीके जलके साथ केवल उसके शारीरिक व्यवहारका बाह्य सम्बन्ध ही नहीं हुआ, बल्कि उसके चित्तका योग-साधन हुआ है। इस नदीके भीतरसे परम चैतन्य अपनी चेतनाका एक भावमें स्पर्श करता है। उस स्पर्शके द्वारा स्नानका जल केवल उसके शरीरकी मलिनताको ही नहीं, बल्कि उसके चित्तके मोह-प्रलेपको भी माँजकर साफ कर देता है।

अग्नि, जल, मिट्टी, अन्न आदि सामग्रियोंका अनन्त रहस्य कहीं दैनन्दिन अभ्यासके द्वारा हमारे लिये बिल्कुल ही मलिन न हो जाय, यह सोचकर प्रतिदिन नाना कार्यों और नाना अनुष्ठानोंमें हमारे यहाँ उनकी पवित्रता याद रखनेकी विधि है। जो मनुष्य चेतनाभावसे उसका स्मरण रख सकता है, उसके साथ योग रखना ही भूमाके साथ हमारा योग है और इस बातको जिसकी बोधशक्ति स्वीकार कर सकती है, उस व्यक्तिने एक महान् सिद्धि प्राप्त कर ली है। स्नानके जल और आहारके अन्नके प्रति श्रद्धा रखनेकी जो शिक्षा है, वह मूढताकी शिक्षा नहीं है। उसमें जडत्वके लिये जरा भी प्रश्रय नहीं है। कारण, इन सब अभ्यस्त सामग्रियोंको तुच्छ बना डालना ही जडता है, उसमें भी चित्तका उद्बोधन होना, यह केवल चैतन्यके विशेष विकाससे ही सम्भव हो सकता है। हाँ, इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि जो व्यक्ति मूढ है, सत्यको अपनानेमें जिसकी प्रकृतिमें स्थूल बाधा है, वह सम्पूर्ण साधनाको ही विकृत कर लेता है और लक्ष्यको वह बार-बार गलत स्थानपर स्थापित करता रहता है।

यहाँ करोड़ों आदमियोंने—लगभग समस्त जातिने मांस-मछली खाना ही त्याग दिया है, पृथ्वीभरमें कहीं भी इसकी तुलना नहीं मिलती। मनुष्योंमें और कहीं ऐसी जाति देखनेमें नहीं आती, जो आमिष आहार न करती हो।

भारतवर्षने यह जो आमिषका परित्याग किया है, यह कृच्छ्रव्रत (कष्टदायक व्रत) साधनके लिये नहीं, अपने शरीरको पीड़ा देकर किसी शास्त्रोपदिष्ट पुण्य-लाभके लिये नहीं, बल्कि उसका एकमात्र उद्देश्य है—जीवोंके प्रति हिंसा त्याग देना।

इस हिंसाको बिना त्यागे जीवके साथ जीवका योग-सामञ्जस्य नष्ट होता है। प्राणीको अगर हम खा डालने और पेट भरनेकी चीज समझकर उसी दृष्टिसे देखने लगें तो कभी भी उसे सत्य रूपमें नहीं देख सकते। फिर हम प्राणको इतने तुच्छ रूपमें देखनेके आदी हो जाते हैं कि सिर्फ खानेके लिये ही नहीं; बल्कि महज प्राणीकी हत्या करना ही हमारे आमोद-प्रमोदका अङ्ग बन जाता है और निदारुण अहैतुकी हिंसाको मनुष्य जल-स्थल, आकाश-गुफा, देश-विदेश सर्वत्र व्याप्त करता चला जाता है।

भारतवर्षने इस योग-भ्रष्टतासे, बोध-शक्तिकी इस जडतासे मनुष्यको हमेशा बचानेकी कोशिश की है।

मनुष्यका ज्ञान बर्बरतासे बहुत दूर आगे बढ़ गया है, इसका एकमात्र प्रधान लक्षण क्या है? यही न कि मनुष्य विज्ञानकी सहायतासे सर्वत्र ही नियमको देख रहा है। जबतक वह उसे नहीं देख सकता था, तबतक उसके ज्ञानकी सम्पूर्ण सार्थकता नहीं थी। तबतक विश्व-चराचरमें वह विच्छिन्न होकर रह रहा था और देख रहा था कि ज्ञानका नियम केवल उसमें अपनेमें ही है और इस विराट् विश्व-व्यापारमें नहीं है। इसीलिये उसमें ज्ञान होनेके कारण ही जगत्में मानो वह जाति-बहिष्कृत हुआ-सा रहता था। परन्तु अब उसका ज्ञान अणुसे अणुतम और विशालसे विशालतम—सभीके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेमें प्रवृत्त हुआ है, यही विज्ञानकी साधना है।

भारतवर्षने जिस साधनाको अपनाया या ग्रहण किया है, वह है विश्व-ब्रह्माण्डके साथ चित्तका योग, आत्माका योग, अर्थात् सम्पूर्ण योग। केवल ज्ञानका योग नहीं, बोधका योग। गीताका कथन है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(३ । ४२)

'इन्द्रियोंको श्रेष्ठ पदार्थ कहा जाता है, किंतु इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ मन है और मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे भी जो श्रेष्ठ है वह है 'सः' अर्थात् परमात्मा।'

इन्द्रियाँ क्यों श्रेष्ठ हैं? इसीलिये न कि इन्द्रियोंसे विश्वके साथ हमारा योगसाधन होता है। परंतु वह योग आंशिक है। इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, क्योंकि मनके द्वारा जो ज्ञानमय योग होता है, वह व्यापकतर है। परंतु ज्ञानके योगसे भी सम्पूर्ण विच्छेद दूर नहीं होता। मनसे बुद्धि

श्रेष्ठ है। कारण, बोधके द्वारा जो चैतन्यमय योग होता है, वह सम्यक् रूपसे परिपूर्ण है। उसी योगके द्वारा ही हम समस्त जगत्में उन्हींकी उपलब्धि करते हैं, जो सबसे बढ़कर श्रेष्ठ हैं। इस 'सबसे बढ़कर श्रेष्ठ'को सबके भीतर बोधके द्वारा अनुभव करना भारतवर्षकी साधना है।

अतएव यदि हम यह समझ जायँ कि भारतवर्षको इसी साधनासे दीक्षित करना ही भारतवासियोंकी शिक्षाका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये, तो मनमें यह निश्चय रखना ही होगा कि केवल इन्द्रियोंकी शिक्षाको ही नहीं, केवल ज्ञानकी शिक्षाको ही नहीं, बल्कि बोधकी शिक्षाको विद्यालयोंमें प्रधान स्थान देना ही होगा। अर्थात् हमारी शिक्षा सिर्फ कारखानोंमें जाकर दक्षता सीखनेमें ही नहीं, स्कूल-कालेजोंमें जाकर परीक्षा पास करनेमें ही नहीं, बल्कि हमारी यथार्थ शिक्षा तपोवनमें है, प्रकृतिके साथ मिलकर तपस्याके द्वारा पवित्र होनेमें है।

हमारे स्कूल-कालेजोंमें भी तपस्या है, किंतु वह मनकी तपस्या है, ज्ञानकी तपस्या है; बोधकी तपस्या नहीं।

ज्ञानकी तपस्यासे मनको बाधाओंसे मुक्त किया जाता है। जो पूर्व-संस्कार हमारे मनकी धारणाको एकांगी या इकतरफा बनाये रखते हैं, उन्हें क्रमशः धीरे-धीरे साफ कर देना चाहिये। जो निकट होनेसे बड़ा है और दूर होनेसे छोटा, जो बाहर होनेके कारण ही प्रत्यक्ष है और भीतर रहनेके कारण प्रच्छन्न या छिपा हुआ, जो विच्छिन्न करके देखनेसे निरर्थक है और संयुक्त करके देखनेसे ही सार्थक मालूम होता है, उसकी यथार्थताकी रक्षा करते हुए उसे देखनेकी शिक्षा देनी चाहिये। बोधकी तपस्याकी बाधा रिपुकी बाधा है। प्रवृत्ति जब असंयत हो उठती है, तब चित्तका साम्य नहीं रहता; और बोध विकृत हो जाता है। कामनाकी वस्तुको हम जो श्रेय रूपमें देखते हैं, सो इसलिये नहीं कि वह वास्तवमें श्रेय है, बल्कि इसलिये कि उसकी हममें कामना है। लोभकी चीजको हम हमेशा बड़ी देखा करते हैं; इसलिये नहीं कि वह सचमुच ही बड़ी है, बल्कि इसलिये कि उसपर हमारा लोभ है।

इसलिये ब्रह्मचर्यके संयमके द्वारा बोधशक्तिको बाधा-मुक्त करनेकी शिक्षा देना आवश्यक है। भोग-विलासके आकर्षणसे अभ्यासको मुक्त कर देना चाहिये; जो सामयिक उत्तेजनाएँ मनुष्यके चित्तको क्षुब्ध और विचार-बुद्धिको सामञ्जस्य-भ्रष्ट कर देती हैं, उनके धक्कों या झकोरोंको बचाते हुए बुद्धिको सरलताके साथ सीधा बढ़ने देना चाहिये।

जहाँ साधना चल रही है, जहाँकी जीवन-यात्रा सरल और निर्मल है, जहाँ सामाजिक संस्कारोंकी संकीर्णता नहीं है, जहाँ व्यक्तिगत और जातिगत विरोध-बुद्धिको दमन करनेकी चेष्टा है, वहीं, भारतवर्षने जिसे विशेषरूपसे 'विद्या' कहा है, उसके प्राप्त करनेका स्थान है।

मैं जानता हूँ, बहुत-से लोग कह उठेंगे कि यह महज एक भावुकताका उच्छ्वास है, साधारण अनुभवहीन व्यक्तिकी दुराशामात्र है; किंतु मैं इस बातको हरगिज नहीं मान सकता। जो सत्य है, वह अगर असाध्य हो तो वह सत्य ही नहीं। हाँ, यह सच है कि जो सबसे बढ़कर श्रेय है, वह सबसे सहज हो सो बात नहीं। इसीलिये उसकी साधना करनी चाहिये। असलमें पहली बात तो यह है कि सत्यपर श्रद्धा होना ही कठिन है। मान लो, हमें रुपयेकी जरूरत है, यह विश्वास जब ठीक तौरसे मनमें बैठ जाता है, तो फिर ऐसी आपत्ति हम करते ही नहीं कि रुपया पैदा करना कठिन है। उसी तरह भारतवर्षने जब विद्याके प्रति निश्चितरूपसे श्रद्धा की थी, तब उस विद्याकी प्राप्तिकी साधनाको असाध्य समझकर मजाकमें उड़ा नहीं दिया, तपस्या तब अपने-आप ही सत्य हो उठी थी।

इसलिये पहले देशके उस सत्यपर हमारी श्रद्धा होनी चाहिये। श्रद्धा अगर हो गयी, तो फिर दुर्गम बाधाओंमेंसे भी उसका मार्ग आप ही बनता चला जायगा।

वर्तमान समयमें, अभी देशमें इस तरहकी तपस्याका स्थान, ऐसे विद्यालय बहुत-से हो जायँगे, ऐसी आशा मैं नहीं करता। परंतु आज जब कि हम विशेषरूपसे राष्ट्रिय विद्यालयकी प्रतिष्ठा करनेके लिये जाग्रत् हो उठे हैं, तो भारतवर्षके विद्यालय जैसे होने चाहिये, कम-से-कम उसके एकमात्र आदर्शको देशके अनेक चाञ्चल्य और नाना विरुद्ध भावोंके आन्दोलनके ऊपर जाग्रत् हो उठना चाहिये।

राष्ट्रिय विद्या-शिक्षाके माने जैसा यूरोप समझता है, हम भी अगर वैसा ही समझें, तो हमारे समझनेमें बहुत भारी गलती होगी। हमारे देशमें कुछ विशेष संस्कार हैं और हमारी जातिमें कुछ खास लोकाचार हैं। उनसे सीमाबद्ध होकर अपने जातीय अभिमानको अत्युग्र बना देनेके

उपायको मैं किसी भी हालतमें राष्ट्रिय शिक्षा नहीं मान सकता। राष्ट्रियताको हम परम पदार्थ मानकर उसकी पूजा नहीं करते; यही हमारी राष्ट्रियता है; और 'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः'; यही है हमारी राष्ट्रियताका मन्त्र।

प्राचीन भारतके तपोवनमें महासाधनाकी जो वनस्पति एक दिन सिर ऊँचा किये खड़ी थी और सर्वत्र जिसने अपनी शाखा-प्रशाखाएँ विस्तृत करके समाजकी नाना दिशाओंपर अधिकार कर लिया था, वही थी—हमारी जातीय या राष्ट्रिय साधना। वह साधना योगकी साधना थी। योगसाधना कोई उत्कट शारीरिक या मानसिक व्यायाम-चर्चा नहीं है। योग-साधनाके माने है सम्पूर्ण जीवनको इस प्रकार चलाना, जिससे स्वतन्त्रताके द्वारा विक्रमशाली हो जाना ही हमारा लक्ष्य न हो जाय; बल्कि मिलनके द्वारा परिपूर्ण हो जानेको ही हम चरम परिणाम समझें, और ऐश्वर्य सञ्चित करनेको नहीं, बल्कि सत्यके द्वारा आत्माकी अनुभूति करनेको ही सफलता मानें।

बहुत प्राचीनकालमें, एक दिन अरण्यमय भारतवर्षमें हमारे आर्य पितामहोंने प्रवेश किया था। आधुनिक इतिहासमें यूरोपियनोंने ठीक उसी तरह ही नवीन आविष्कृत महाद्वीपोंके महारण्यमें मार्ग उद्घाटित किया है। उनमेंसे साहसियोंने अग्रगामी होकर अपरिचित भूखण्डोंको अनुवर्तियोंके लिये अनुकूल बना लिया है। हमारे देशमें भी अगस्त्य आदि ऋषिगण अग्रगामी थे; और उन्होंने अपरिचित दुर्गमताकी बाधाओंको दूर करके गहन वनको वासोपयोगी बना लिया था। तब पूर्वतन अधिवासियोंके साथ प्राणोंकी बाजी रखकर जैसे वे लड़े थे, अब भी वैसा ही हुआ है। परंतु इन दोनों इतिहासोंकी धाराएँ यद्यपि ठीक एक ही अवस्थामेंसे प्रवाहित हुई हैं; तथापि दोनों एक ही समुद्रमें जाकर मिली नहीं हैं।

अमेरिकाके वनमें जो तपस्या हुई है, उसके प्रभावसे वनमेंसे बड़े-बड़े शहर इन्द्रजालकी तरह जाग उठे हैं। भारतवर्षमें इस तरहसे शहरोंकी सृष्टि हुई ही न हो, सो बात नहीं; परंतु भारतने उसके साथ-ही-साथ अरण्यको भी अङ्गीकार कर लिया था। अरण्य भारतवर्षके द्वारा विलुप्त नहीं हुआ, बल्कि सार्थक हुआ था। जो वन बर्बरोंका आवासमात्र था, वह ऋषियोंका तपोवन बन गया था। अमेरिकामें अरण्यका जो कुछ अंश बचा है, वह आज अमेरिकाकी प्रयोजनीय सामग्री बन गया है। कहीं-कहीं वह भोगकी वस्तु है, किंतु योगका आश्रम कतई नहीं। भूमाकी अनुभूतिसे वे अरण्य पुण्य-स्थान नहीं बने। मनुष्यकी श्रेष्ठतर अन्तरतर प्रकृतिके साथ उस अरण्य-प्रकृतिका पवित्र मिलन स्थापित नहीं हुआ। अरण्यको नवीन अमेरिकाने अपनी बड़ी चीज कुछ भी नहीं दी और अरण्यने भी उसे अपने बड़े परिचयसे वञ्चित ही रक्खा। नवीन अमेरिकाने जिस तरह अपने पुराने अधिवासियोंको लगभग लुप्त ही कर दिया है, अपने साथ मिलाया नहीं; उसी तरह अरण्योंको अपनी सभ्यतासे बाहर फेंक दिया है, अपने साथ मिला नहीं लिया। नगर और नगरियाँ ही अमेरिकाकी सभ्यताके उत्कृष्ट निदर्शन हैं। इस नगर-स्थापनाके द्वारा ही मनुष्यने अपनी स्वतन्त्रताके प्रतापको अभ्रभेदी बनाकर उसका प्रचार किया है और यहाँ भारतकी सभ्यताका चरम निदर्शन है 'तपोवन'। उस तपोवनमें मनुष्यने निखिल प्रकृतिके साथ मानवताके मिलनकी ही शान्तसंयत-भावसे अनुभूति की है।

कोई यह न समझ लें कि भारतवर्षकी इस साधनाको ही मैं एकमात्र साधना मानकर उसका प्रचार करना चाहता हूँ; बल्कि मैं तो खास तौरसे यही बात कहना चाहता हूँ कि मनुष्यमें वैचित्र्यकी सीमा नहीं। वह ताड़ वृक्षकी तरह एक ही ऋजुरेखामें आकाशकी ओर नहीं बढ़ता, बल्कि वटवृक्षकी तरह असंख्य डाल और पत्तियोंसे अपनेको चारों ओर विस्तीर्ण कर देता है। उसकी जो शाखा स्वभावतः जिधर जा सकती है, उसे उसी तरह सम्पूर्ण रूपसे जाने देनेमें ही समग्र वृक्ष परिपूर्णताको प्राप्त होता है और उसीमें सभी शाखाओंका मङ्गल है।

मनुष्यका इतिहास जीवधर्मी है। वह निगूढ़ प्राणशक्तिसे बढ़ता रहता है। वह लोहे-पीतलकी तरह साँचेमें ढालनेकी चीज नहीं है। बाजारमें किसी खास समयपर किसी खास सभ्यताका मूल्य बहुत ज्यादा बढ़ जानेके कारण ही समस्त मानव-समाजको एक ही कारखानेमें ढालकर फैशनके वशीभूत मूढ़ खरीददारोंको खुश कर देनेकी दुराशा बिल्कुल व्यर्थकी चीज है।

पैरोंका छोटा होना सौन्दर्य या आभिजात्यका लक्षण है, यह समझकर कृत्रिम उपायोंसे उन्हें संकुचित करके चीनकी स्त्रियोंने छोटे पैर नहीं पाये, बल्कि विकृत पैर ही उन्हें मिले हैं। भारत यदि हठसे जबरन अपनेको यूरोपीय

आदर्शका अनुगत बनावे, तो वह यूरोप नहीं बन सकता, सिर्फ विकृत भारतवर्ष ही बन सकता है ।

इस बातको दृढ़ताके साथ याद रखना चाहिये कि एक राष्ट्रके साथ अन्य राष्ट्रके अनुकरण और अनुसरणका सम्बन्ध नहीं; बल्कि आदान-प्रदानका सम्बन्ध है। हमारे अंदर जिस चीजकी कमी नहीं या हमें जिस चीजकी आवश्यकता नहीं, तुम्हारे पास भी ठीक वही चीज मौजूद हो तो तुम्हारे साथ हमारा लेन-देन या परिवर्तन नहीं चल सकता और उस हालतमें हमारे लिये तुम्हारी समकक्ष रूपमें कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। भारतवर्ष यदि असली भारतवर्ष न बन सके तो दूसरोंके बाजारोंमें मजदूरी करनेके सिवा दुनियामें उसकी और कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। तब उसका अपने प्रति अपना सम्मान-ज्ञान जाता रहेगा और उस हालतमें फिर अपनेमें अपना आनन्द भी नहीं रहेगा ।

इसलिये आज हमें अच्छी तरह समझ-बूझकर निर्णय करना होगा कि जिस सत्यके द्वारा भारतवर्षने अपने-आपको निश्चितरूपसे प्राप्त किया था, वह सत्य क्या है ? वह सत्य मुख्यतः वणिकवृत्ति नहीं, स्वराज्य नहीं, स्वादेशिकता नहीं, वह सत्य विश्व-जागतिकता है, वह सत्य भारतवर्षके तपोवनमें साधित हुआ है, उपनिषद्‌में उच्चारित हुआ है, गीतामें व्याख्यात हुआ है, बुद्ध और महावीरने उस सत्यको संसारमें समग्र मानव-जातिके नित्य-व्यवहारमें सफल बनानेके लिये तपस्या की है और कालान्तरमें, नाना प्रकारकी दुर्गति और विकृतियोंमेंसे गुजरते हुए भी कबीर, नानक आदि महापुरुषोंने उसी सत्यका प्रचार किया है। भारतवर्षका सत्य है—ज्ञानमें अद्वैत-तत्त्व, भावमें विश्व-मैत्री और कर्ममें योग-साधना । भारतवर्षके हृदयमें जो उदार तपस्या गम्भीरभावसे सञ्चित है, वही तपस्या आज हिंदू, मुसलमान, जैन, बौद्ध और अंग्रेजोंको अपनेमें मिलाकर एक कर लेनेके लिये प्रतीक्षा कर रही है—दासरूपमें नहीं, जडरूपमें नहीं, बल्कि सात्त्विकभावसे, साधकभावसे। जबतक ऐसा न होगा, तबतक हमें दुःख ही उठाना पड़ेगा, अपमान सहना पड़ेगा । तबतक नाना दिशाओंसे बारंबार हमें व्यर्थ होना पड़ेगा, असफल होना पड़ेगा। हमारे भारतवर्षमें ब्रह्मचर्य, ब्रह्मज्ञान, सब जीवोंपर दया, सब प्राणियोंमें आत्मोपलब्धि और आत्माकी अनुभूति किसी भी जमानेमें महज एक काव्य-कथा या मतवादके रूपमें नहीं थी। प्रत्येकके जीवनमें इसे सत्य बनानेके लिये अनुशासन था । उस अनुशासनको यदि हम न भूलें और अपनी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षाको उस अनुशासनके अनुगत कर लें, तभी हमारी आत्मा विराट्‌में अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर सकेगी और तब फिर कोई भी सामयिक बाह्य अवस्था हमारी उस स्वाधीनताको विलुप्त नहीं कर सकेगी ।

प्रबलतामें सम्पूर्णताका आदर्श नहीं है। समग्रके सामञ्जस्यको नष्ट करके प्रबलता अपनेको स्वतन्त्ररूपमें दिखलाती है, इसीलिये वह बड़ी मालूम होती है; परंतु असलमें वह छोटी है । भारतवर्षने उस प्रबलताको नहीं चाहा, उसने परिपूर्णताको चाहा था। वह परिपूर्णता निखिलके साथ योगमें है और वह योग अहङ्कारको दूर करता है विनम्र होकर । यह विनम्रता एक आध्यात्मिक शक्ति है, दुर्बल स्वभावके लोग इसे पा नहीं सकते । वायुका जो प्रवाह नित्य है, उसकी शक्ति शान्तताके द्वारा ही आँधीसे अधिक है । इसीलिये आँधी केवल संकीर्ण स्थानको ही कुछ समयके लिये क्षुब्ध कर सकती है और शान्त वायु-प्रवाह समस्त पृथिवीको नित्यकालतक वेष्टित किये रहता है । यथार्थ नम्रता जो सात्त्विकताके तेजसे उज्ज्वल है, जो त्याग और संयमकी कठोर शक्तिसे दृढ़ प्रतिष्ठित है, वही नम्रता ही समस्तके साथ बिना बाधाके मिलित होकर सत्यरूपमें, नित्यरूपमें समस्तको प्राप्त करती है। वह किसीको दूर नहीं करती, विच्छिन्न नहीं करती, बल्कि अपनेको त्याग करती है और सभीको अपना बनाती है। इसीलिये महात्मा ईसाने कहा है कि जो विनम्र है, वही जगद्विजयी है, श्रेष्ठ धनका अधिकार एकमात्र उसीको है ।

* * *

तू तू करता तू भया मुझमें रहा न हूँ ।
वारी तेरे नामपर जित देखूँ तित तूँ ॥

* * *

तप और त्याग

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

मनुष्यके जीवनके आध्यात्मिक विकासके दो उपाय हैं—एक 'तप' और दूसरा 'त्याग'। तप अभ्यासका परिणाम है और त्याग वैराग्यका। नैतिकता तप सिखाती है और सच्चा धर्म त्याग सिखाता है। तप त्यागकी पहली सीढ़ी है। अपेक्षाकृत त्याग 'तप' कहलाता है। थोड़े समयके लिये किसी भोगको छोड़ना, अथवा किसी बड़े लाभके लिये छोटे लाभका परित्याग करना यह तपका स्वरूप है। त्याग मनुष्यको संसारसे विमुख करता है और उसे आत्मोन्मुखी बनाता है।

तप त्यागकी पहली सीढ़ी होनेके कारण प्रत्येक धर्ममें साधनाका आवश्यक अङ्ग माना गया है। नैतिकता धार्मिक जीवनका आवश्यक अङ्ग है। बौद्ध धर्ममें 'पञ्चशील'का अभ्यास—अर्थात् झूठ न बोलना, चोरी न करना, निन्दा न करना, व्यभिचार न करना और जान न मारना—धार्मिक जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताएँ मानी गयी हैं। इनके बिना समाधिलाभ और सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होती। सांख्यशास्त्रमें भी विषयोंसे मनको खींचना सत्यके ज्ञानके लिये आवश्यक माना है। योगमें भी यम और नियमको प्रथम स्थान दिया गया है।

तपसे मनुष्यकी मानसिक शक्ति बढ़ती है। अपनी इच्छाओंको जान-बूझकर रोकनेसे इच्छाओंकी शक्ति सञ्चित हो जाती है। फिर इस शक्तिसे मनुष्य जो कुछ करना चाहता है, कर सकता है। समाजका उपकार मानसिक शक्तिके सञ्चयके बिना सम्भव नहीं। मानसिक शक्तिका सञ्चय प्रबल तपसे होता है। समाजका उपकार करनेसे मनुष्यके व्यक्तित्वमें महानता आती है। इस प्रकार नीची कोटिकी वासनाओंके रोकनेसे उच्चकोटिकी वासनाओंका विकास होता है। नीची कोटिकी वासनाओंको तृप्त करनेसे वैयक्तिक सुख होता है। वे प्रायः शारीरिक सुख-सम्बन्धी होती हैं। उच्च कोटिकी वासनाओंको तृप्त करनेसे अपने सुखके साथ-साथ अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे लोगोंको भी सुख होता है। ये वासनाएँ शरीर-सुखकी न होकर मानसिक सन्तोष-सम्बन्धी होती हैं। आगे चलकर तो वासनामात्रका त्याग आवश्यक होगा।

जो मनुष्य जीभ और कामेन्द्रियका नियन्त्रण करता है, वह अपने भीतर अमित मानसिक शक्तिको देखने लगता है। इस शक्तिका सदुपयोग करनेसे एक ओर उच्च कोटिकी वासनाओंका उदय होता है और दूसरी ओर समाजका कल्याण मनुष्यसे होता है। इस प्रकार तपसे मनुष्यकी मानसिक शक्तिकी वृद्धि होती है, उसका संसारमें मान बढ़ता है और वह संसारका वास्तविक कल्याण करनेमें समर्थ होता है।

तपका ध्येय जब ज्ञानकी प्राप्ति हो जाता है, तब वह मनुष्यको शाश्वत शान्ति प्रदान करता है। इसके लिये मनुष्यको न केवल भोगोंका त्याग करना पड़ता है वरं इस त्यागका भी त्याग करना पड़ता है अर्थात् मनुष्यको अपने अहंकारका त्याग करना पड़ता है। ज्ञानका इच्छुक मनुष्य तपमें अतिक्रम नहीं करता। किसी प्रकारका अतिक्रम मनुष्यमें अभिमानकी वृद्धि करता है। अतएव वह सहज तप करता है। जबतक बुद्ध भगवान् घोर तप करते रहे, तबतक उन्हें ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई। जब उन्होंने घोर तप छोड़ दिया और मध्यम मार्गका अनुसरण किया, तब उन्हें तत्त्वज्ञान हो गया।

सांसारिक जीवनकी सफलताके लिये भी सहज तप ही वाञ्छनीय है। किसी परोपकारके काममें लगे रहनेसे सहज तप अपने-आप ही हो जाता है। तप मनके रोकनेका ही दूसरा नाम है। जो व्यक्ति दूसरोंकी यथार्थ सेवामें दत्तचित्त हो जाता है, वह काम, क्रोध और लोभ आदि दुर्भावोंसे बच जाता है। सफल गृहस्थ-जीवन भी तपस्वी जीवन है। मनपर काबू किये बिना सफल गृहस्थ-जीवन सम्भव नहीं और मनको काबूमें लानेका सफल गृहस्थ-जीवन एक साधन भी है।

जीवनके पहले भागमें मनुष्य अपने व्यक्तित्वके विकासके लिये तप करता है, जीवनके दूसरे भागमें तपका ध्येय आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करना अथवा निर्वाण प्राप्त करना होता है। जबतक मनुष्यको संसारकी अनित्यता और दुःखरूपताका ज्ञान नहीं होता, तबतक उसका मन बार-बार सांसारिक विषयोंकी ओर जाता ही रहता है, चाहे वह मनको रोकनेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करे। जब मनुष्यको संसारकी दुःखरूपता और अनित्यताका ज्ञान हो जाता है,

तब उसका संसारसे सहज विकर्षण हो जाता है। फिर उसे सांसारिक विषयोंमें मनके जानेको प्रयत्नके द्वारा नहीं रोकना पड़ता।

संसारको दुःखरूप जाननेसे शान्तरूप अथवा आनन्दरूप आत्माका अपरोक्ष ज्ञान होता है। अपने-आपसे जो मनुष्य दुखी रहता है, वही संसारकी ओर दौड़ता है। यह दौड़ सुखकी इच्छाके कारण होती है। पर इससे उसे कोई सुख न मिलकर दुःख ही मिलता है। जब मनुष्य बाह्यपदार्थोंकी दुःखरूपताको जान लेता है, तब वह अपने मनको अपने-आपमें ही केन्द्रित करने लगता है। मन बाहर न जानेसे ही वह आत्मामें केन्द्रित हो जाता है। फिर आत्मा ही आनन्दका आगार दिखायी देने लगता है।

मनुष्यका मन अभ्यासका दास है। जबतक मनुष्य नित्यप्रति तपका अभ्यास नहीं करता, तबतक उसमें मनको रोकनेकी शक्ति नहीं आती। इसी प्रकार जबतक मनुष्य नित्यप्रति संसारकी अनित्यता और दुःखरूपतापर विचार नहीं करता, तबतक उसकी सञ्चित वासनाओंका विनाश नहीं होता। इससे न उसे तत्त्वबोध होता है और न स्थायी शान्ति ही प्राप्त होती है। बहिर्मुखी वृत्तिका मनुष्य सांसारिक सफलता प्राप्त कर सकता है, पर उसे आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त नहीं होती। जैसे-जैसे उसकी मृत्युका समय समीप आता-जाता है, वैसे-ही-वैसे उसकी मानसिक अशान्ति बढ़ती जाती है। प्रकृति स्वयं ही मनुष्यको बुढ़ापेमें त्यागके लिये आदेश देने लगती है। अतएव वह मनुष्य बड़ा भाग्यवान् है, जिसे शरीरकी स्वस्थ अवस्थामें ही अपनी अहंताके त्यागकी सुबुद्धि आ गयी है। जिस प्रकार तप और नैतिकता मनुष्यके इस लोकको बनाते हैं, इसी प्रकार सच्चा त्याग उसके परलोकको बनाता है।

गीता-जयन्ती

(लेखक—श्रीदेवीचरणजी निगम एम्० ए०)

गीता-जयन्तीके दिनके सम्बन्धमें कई विद्वानोंने छानबीन की है। यह तो सभी मानते हैं कि गीताका उपदेश उसी दिन हुआ था, जिस दिन महाभारतकी लड़ाई शुरू हुई थी। और यह भी मानते हैं कि यह लड़ाई मार्गशीर्ष यानी अगहनके महीनेमें हुई थी; परंतु ठीक दिनके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है।

महाभारतमें जो अठारह दिनोंकी लड़ाईका वर्णन है, उसपर ध्यान देनेसे इस विषयमें बहुत कुछ पता लग सकता है। इन वर्णनोंमें स्थान-स्थानपर जो नक्षत्रों और चन्द्रमाका वर्णन आता है, उसपर उस समयके भारतीय ज्योतिष-शास्त्रके अनुकूल विचार करनेसे महाभारतका युद्ध आरम्भ होनेके दिनका अनुमान हो जाता है।

भारतीय ज्योतिष-शास्त्रमें और आजकलकी गणनामें बहुत अन्तर है। वैसे तो सालके ३६५ दिन बने हैं, लेकिन नाम और तरीकोंमें हेर-फेर हो गया है। एक बड़े उदाहरणमें यही बात आती है कि उन दिनों महीने शुक्लपक्षसे आरम्भ होते थे और आजकल कृष्ण-पक्षसे आरम्भ होते हैं*। इस पुरानी प्रथाका इतना ही चिह्न इधर रह गया है कि नया वर्ष शुक्ल-पक्ष चैत्रमें आरम्भ होता है, पूर्णमासीके लिये १५ का अङ्क लिखा जाता है और अमावस्याके लिये ३० का।

अठारहवें दिन यानी अन्तिम दिनके युद्धमें राजा दुर्योधनके हारनेके बाद रातको अश्वत्थामाने पाण्डवोंके डेरेपर आक्रमण किया था। इस आक्रमणका वर्णन 'रौद्री' नामसे किया गया है। 'रौद्री' के अर्थ हैं कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिमें होनेवाली। इससे स्पष्ट प्रकट है कि युद्धका अन्तिम दिन मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्दशी (आजकलकी पौषकृष्ण चतुर्दशी) को था। इस दिनसे उलटे अठारह दिन गिननेपर महाभारतका युद्ध आरम्भ होनेकी तिथि मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी ही पड़ती है।

भीष्मपर्वके सत्रहवें अध्यायमें युद्धका वर्णन करते हुए संजयजी राजा धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि युद्ध बड़े अशुभ समयमें आरम्भ हुआ है; क्योंकि—

---

* गुजरात-महाराष्ट्रादिमें अब भी शुक्ल पक्षसे आरम्भ होते हैं।

'मघाविषयगसोमस्तद्दिनं प्रत्यपद्यत ।'

(भीष्म० १७ । २)

—उस दिन चन्द्रमा 'मघाविषयग' हो गया था। 'मघा' स्वयं और उसके दलके कुछ नक्षत्र बड़े अशुभ माने गये हैं। ज्योतिषके विद्वानोंके मतानुसार युद्धके प्रसङ्गमें जिस दिन पूजनीय पितामह भीष्मजी शरशय्यापर गिरे थे, उस दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्रमें था और मघाके दलमेंसे केवल भरणी नक्षत्र मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशीको था। संजयजी मघा नक्षत्रका नाम नहीं लेते हैं; परंतु मघाके दलके नक्षत्रका। इससे यह बात माननी पड़ती है कि युद्ध आरम्भ होनेके दिन चन्द्रमा भरणी नक्षत्रमें होगा और इस दिन मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी ही होगी।

वीर अभिमन्यु युद्धके तेरहवें दिन मारे गये थे। इसके दूसरे दिन अर्थात् चौदहवें दिन सूर्यास्तपर राजा जयद्रथका वध हुआ और रातभर युद्ध चलता रहा। आधी रातमें घटोत्कच मारा गया। घटोत्कच-वधके बाद दोनों सेनाओंने थोड़ा विश्राम किया। इस समय चन्द्रमाके उदय, आकार और प्रकाश आदिका बड़ा चित्ताकर्षक वर्णन है। ज्यौतिषियोंकी सम्मतिमें चन्द्रमाका यह दृश्य कृष्णपक्षकी दशमीके अतिरिक्त और किसी दिन नहीं पड़ता। इसके हिसाबसे युद्धके चौदहवें दिन मार्गशीर्ष कृष्ण (आजकलका पौष कृष्ण) दशमी पड़ती है। चौदह दिन पीछे गिननेसे युद्ध आरम्भ होनेकी तिथि मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी ही ठहरती है।

भीष्मपर्वमें एक और भी श्लोक आता है। उसका ठीक-ठीक अर्थ तभी लगता है, जब हम यह मान लेते हैं कि युद्ध मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशीको आरम्भ हुआ। वह श्लोक है—

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति ।
अभावं हि विशेषेण कुरूणां तत्र पश्यति ॥

(भीष्म० ३ । १२)

यह युद्धके चौदहवें दिनका वर्णन मालूम होता है। इसी दिन अर्जुन, भीम, घटोत्कच आदिने कौरवोंका विशेष नाश और नुकसान किया था। इसी दिन 'श्वेत' ग्रह चित्रा नक्षत्रमें आया, ऐसा मालूम होता है।

इसी मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशीके दिन युद्ध आरम्भ होनेसे पहले जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको गीताका उपदेश दिया था। इसी दिन अर्जुनको जीवन्मुक्ति प्राप्त हुई थी। इसीलिये तो इस एकादशीको 'मोक्षदा' कहते हैं।

आप भी 'गीता-जयन्ती' मनाइये। गीताके पाठ और मनन करनेका नियम लीजिये। गीताके उपदेशोंपर चलकर अपने जीवनको सफल कीजिये। गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। तनिक गीताके पृष्ठ उलटकर देखिये तो! भगवान् श्रीकृष्ण आपसे बातचीत करनेको आज भी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आपको अचल, नित्य—साथ रहनेवाला परम सुख बाँट रहे हैं। वे कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

(गीता ५ । २१)

* * *

वे अपने अपने नहीं हैं

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥

(श्रीमद्भा० ५ । ५ । १८)

जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है। —ऋषभदेव

वेदोंमें गौका महत्त्व

(लेखक—श्रीकैलाशचन्द्रजी विद्यालङ्कार)

भारतको छोड़कर अन्य सब देशोंमें आचार और धर्म अलग-अलग वस्तु मानी जाती हैं; परंतु भारतका आचार-शास्त्र धर्मको छोड़कर एक कदम भी चलना नहीं जानता। अन्य देशोंमें धर्म, जिसे वे लोग Relegion नाम देते हैं, बौद्धिक जगत्में गिरजाघरमें तथा मन्दिर-मस्जिदोंमें ही सीमित है। परंतु भारतके आचार-शास्त्रका उपदेश धर्मके अंदर आ जाता है। इसका बड़ा कारण यह है कि आदि-मनुको भगवान्ने वेदके रूपमें जो जीवनयापन अथवा आदर्श समाज तथा विचारोंका प्रदान किया, वही एक दूसरेपर आश्रित है। अतः सहस्रों वर्षोंसे वही भारतीय समाजके ऊँचे-नीचे स्तरोंमें अनुस्यूत है। यही कारण है कि आज पाश्चात्त्य, महामानव महात्मा ईसाके विचारोंको अलग रखकर अपने स्वार्थसे व्यवहार करते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनकी उपयोगिताको समझते हुए अपने स्वार्थको पूराकर वे लोग उसका नाश अथवा उपेक्षा करनेसे नहीं चूकते।

समस्त प्राचीन और नवीन वैज्ञानिकोंका मत है कि गाय संसारमें एक अत्यन्त उपयोगी प्राणी है। पाश्चात्त्य लोग भी उसकी उपयोगिताको जानते हैं तथा उसका पालन करते हैं; परंतु अपने स्वार्थतक ही सीमित हैं। भारतीय आदिसाहित्यमें वेदसे लेकर आजतक गौको एक महान् धन माना जाता रहा है। महाकवि कालिदासने अपने रघुवंशमहाकाव्यके प्रारम्भमें आदर्श समाजका चित्र उपस्थित किया है। सर्वप्रथम आदर्श समाज तथा मनुष्यकी प्रतिज्ञाको पूरा करनेके लिये आर्यावर्तके चक्रवर्ती सम्राट् दिलीपके द्वारा गौका पालन करना बताया है। कालिदासने वेदोंके सन्देशको सुनाया, वह जानता था कि मनुष्यके निर्माणमें गायके दूधका कितना स्थान है। उपनिषद्में भी आया है कि जिस समय सत्यकाम जाबाल ऋषिके पास पढ़ने गये, उन्हें निम्न गोत्रका जानकर ऋषिवरने संस्कारके लिये गौओंकी सेवा तथा उनका दुग्ध-पान करनेका आदेश दिया। परिणामस्वरूप जाबाल सत्यकामकी बुद्धि इतनी निर्मल हो गयी कि प्रकृतिका अध्ययन कर उन्होंने स्वयमेव कई तत्त्वोंको जान लिया।

योगिराज श्रीकृष्णने भी गौओंका दूध, घी, मक्खन खाकर ही वह बल पाया तथा गीता-जैसे ग्रन्थको गाकर सुनाया, जिससे मृतप्राय अर्जुनमें भी पुनः साहस तथा नव-जीवनका सञ्चार हो गया। वेद भगवान् भी इस ही तथ्यका प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेदमें आया है कि—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

अर्थात् हे गौओंसे उत्पन्न होनेवाले दुग्धादि पदार्थों! तुम कृश मनुष्यको भी मेदासे युक्त कर मोटा कर देते हो, वह अत्यन्त बलशाली हो जाता है। इसी कारण गाय दूसरी धायके समान मानी जाती है। प्रसिद्ध डाक्टर प्रो० एम्० जे० रोसेनोका कथन है कि 'दूध ही एकमात्र पदार्थ है, जो सब पौष्टिक द्रव्योंसे परिपूर्ण है, जिसे हम पूर्ण भोजन कह सकते हैं। बढ़ते हुए बच्चोंके लिये उत्तमतामें इससे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं।' दूध शरीरमें स्फूर्ति पैदा करता है। अतः हमें किसी उत्तेजक प्रेय (Stimulant) की आवश्यकता नहीं। उष्ण वायुसे ज्ञानतन्तु शीघ्र थक जाते हैं। फिर उत्तेजक पदार्थोंद्वारा और थकावट क्यों उत्पन्न की जाय। जो शान्तिप्रद (Soothing) हो, वही हमारा पेय होना चाहिये। उस कोटिमें यह अमृततुल्य दुग्ध ही पेय हो सकता है।

बहुत-से लोग मद्य पान करते हैं। परंतु मद्य मोद नहीं देता। उससे तो मद, माद, उन्माद और प्रमाद उत्पन्न होते हैं। वह चित्तको बहलाता नहीं; बहकाता है।

दूध कान्तिहीन मनुष्यको सौन्दर्य तथा कान्तिसे युक्त कर देता है। वैज्ञानिकोंका मत है कि Cow-milk and honey are the cause of beauty अर्थात् गो-दुग्ध और मधु सौन्दर्यके कारण हैं।

महीनां पयोऽसि, वर्चोदा असि वर्चो मे देहि।

'तू गौओंका दूध है, शरीरमें कान्ति देनेवाला है, मेरे शरीरको भी कान्ति प्रदान कर।'

इतना ही नहीं, गौएँ अपने मङ्गलमय शब्दसे हमारे घरोंको मङ्गलमय बना देती हैं तथा इतनी उपयोगिताके

कारण ही सभाओंमें इनके वर्धनके लिये प्रस्तावादि किये जाते हैं; परंतु आज सारे संसारमें गो-वध प्रचलित है। भारतमें अन्य देशोंकी अपेक्षा गौएँ अधिक मात्रामें काटी जाती हैं। जिस भारतमें गौको कभी न काटनेका आदेश दिया, उसे माताके समान पूजा और अब भी पूजते चले आते हैं, वहीं प्रतिदिन गौओंका नाश ! आज इस स्वतन्त्र भारतमें भी नये-नये कसाईखाने बन रहे हैं ! इसीलिये आज भारतकी सन्तति क्षीण होती चली जा रही है। वह बल, वह कान्ति और वह प्रतिभा नहीं रही। वेदमें ऐसे पवित्र प्राणीको बचानेके लिये आदेश दिया है—

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः॥
(अथर्व० ४। ५। २१)

‘उन गौओंको काट-काटकर टुकड़े कर देनेवाला मनुष्य उन गौओंको नहीं पा सकता और न वे गौएँ (संस्कृतत्रम्) कसाईखानेकी ओर जाने पाती हैं; किंतु यज्ञशील मनुष्यकी गायें विस्तृत चरागाहोंमें विचरें। राजाका कर्तव्य है कि वह घोषणा करवा दे’ कि—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥
(ऋग्वेद ८। १०१। १५)

‘यह गाय शत्रुओंको रुलानेवाले वीर मरुतोंकी माता है, वसुओंकी कन्या है, अदितिके पुत्रोंकी बहिन है अर्थात् अमरपुरुष देवताओंकी बहिन है। अतः प्रत्येक विचारशील पुरुषको समझाकर कहा जाता कि निरपराध और अवध्य गौका वध न करे।’ क्योंकि—

गोस्तु मात्रा न विद्यते।
(यजु० २३। ४८)

संसारमें गौके समान कोई वस्तु नहीं है; यह गौएँ मनुष्य-जातिकी परम ऐश्वर्यस्वरूपिणी हैं। वेदमें अनेकविध ऐश्वर्य.की गणना करते हुए गौ भी एक प्रमुख ऐश्वर्य माना गया है—

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥
(अथर्व० ४। ५। २१)

गौएँ हमारा मुख्य धन हों, इन्द्र गोपालक हमें गोधन प्रदान करें; क्योंकि यह धन सम्पूर्ण विश्वका पालक है, यह ही सारे विश्वका जीवन है।

वशां देवा उपजीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवद् यावत् सूर्यो विपश्यति॥
(अथर्व० १०। १०। ३४)

‘इन्द्र आदि देवगण गोद्वारा प्राप्त गव्य-हव्यसे अनुप्राणित होते हैं और मनुष्य भी गायके दुग्धादिसे जीवन प्राप्त करते हैं। जहाँतक सूर्य देखता है अथवा प्रकाश करता है, वहाँतक गोद्वारा ही यह समस्त ब्रह्माण्ड बना हुआ है।’ यज्ञोंकी प्रधान वस्तु सोमरसके साथ मिलकर गौओंका दूध ही उनका नैवेद्य बने। वैसे भी आता है कि ‘गोभिः मत्सरं श्रृणीत’ जब कोई अतिथि घरमें आता है तो पञ्चगव्यसे नैवेद्य बनाया जाता है। जिसके पास ये गायें हैं वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है अर्थात् गौओंका दूध पीनेसे मनुष्य परमैश्वर्यवान् हो जाता है। अतः मनुष्य श्रद्धायुक्त मनसे गव्य-पदार्थोंके द्वारा इन्द्र (भगवान्) का पूजन करना चाहते हैं। गौके साथ ही हमारा सौभाग्य है।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥
(ऋग्वेद १। १६४। ४०)

‘हे गौ ! तू उत्तम दाना-चारा खाती हुई सौभाग्यशालिनी हो, तेरे द्वारा हम भी सौभाग्यशाली बनें। हे न मारनेयोग्य गाय ! तू चरागाहोंमें विचरती हुई घास चरा कर और सदा शुद्ध पानी पिया कर।’ अर्थात् गोपालनका आदेश देते हुए कहते हैं कि गौओंको चारा तथा पानी शुद्ध ही देना चाहिये। अस्वच्छ भोजन खाकर उसका दूध भी अच्छा नहीं होता। मनुष्य बीमार आदि हो जाता है। शुद्ध दूधसे ही मनुष्य सौभाग्यशाली कहाता है। गोपालन करनेमें गौको बड़े प्रेमसे रखना चाहिये।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥
(अथर्व० ३। ३। १४)

‘हे गौओ ! तुम मुझ गोपालकके साथ प्रेमसे रहो। यह तुम्हारे लिये गोशाला बनी हुई है। यहाँ सब पोषक सामग्री उपस्थित है। (गौओंको पोषक सामग्री खिलानी चाहिये।) इस

प्रकार पोषक धान्य आदिसे बहुत संख्यामें होती हुई और दीर्घकालतक जीती हुई गौओंको हम जीवाः—जीते हुए—उपसदेम—प्राप्त करते हैं।' इतना लाभकारी प्राणी नष्ट करने-योग्य नहीं है। सब मनुष्योंको मिलकर उसे अभय दान देना चाहिये—

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रतीः सोम्यंमध्वनमीवा उपेतन॥
(अथर्व० ३ । ३ । १४)

'हे गौओ! तुम निर्भय होकर एक साथ विचरती हुई इस गोशालामें रहकर गोबर-मूत्र आदि करती हुई मधुर सात्त्विक दूधको धारण करती हुई रोगरहित होकर हमारे पास आकर रहो।' इसी प्रकार आगे कहा गया है कि—

प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः
शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्ती।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः
परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः॥
(ऋग्वेद ६ । ४ । २५)

'हे गौओ! तुम बछड़े-बछड़ियोंसे युक्त होकर अर्थात् खूब सन्तानवाली हो और उत्तम चारा खाया करो। स्वच्छन्द नाँदोंमें शुद्ध पानी पिया करो। चोर तुम्हें चुराकर न ले जा सकें, हिंसक प्राणी तुम्हें मार न सकें, रुद्रका रक्षात्मक शस्त्र तुम्हारे चारों ओर रहे जिससे तुम्हें कोई भी हानि न पहुँचा सके।'

आज भारतमें गोपालनका तरीका बहुत अशुद्ध है। वेदोंमें जो गोपालनकी प्रणाली बतायी गयी है, उसको आजकल वैज्ञानिक लोग बड़े परिश्रमसे खोज रहे हैं। यह अनुभव-सिद्ध बात है कि गौका स्वभाव बहुत नाजुक होता है। अपने खान-पानमें न्यूनतम त्रुटिके होनेपर भी गाय लात मार देती है अथवा निरन्तर त्रुटि होनेपर दूधमें न्यूनता हो जाती है। अतः वैदिक राज्यव्यवस्थाका यह आदेश है कि राज्यकी ओरसे इन बातोंका प्रबन्ध किया जाय। इसीलिये उन नदियोंकी स्तुति की गयी है जिन नदियोंमें गौएँ पानी पीती थीं—

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः। (ऋग्० १ । २ । ११)

'हमारी गौएँ जहाँ पानी पीती हैं, उन दिव्य गुणयुक्त जल-स्थानोंसे मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे समीप आ जायँ; उनको मैं हविर्भाग दूँगा।' इस कथनसे ज्ञात होता है कि गौओंकी स्वच्छताके लिये कितना ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार गौओंके आरामके लिये आर्यावर्तका प्राचीन मानव स्तुति करता है —

महान्तं कोशमुदचा निषिञ्च
स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात्।
घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि
सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः॥
(ऋग्वेद ४ । ४ । २८)

'बड़े भारी जलकोशको ऊपर उठाकर नीचे उँड़ेल दो, हमारे सामने जलसे भरी हुई छोटी-छोटी नदियाँ बहने लगें। आकाश और भूलोकको जलद्वारा विशेष रूपसे आर्द्र कर दो, जिससे अवध्य गौओंके लिये सुन्दर प्रपाणक बन जायँ।'

इस प्रकार गौके माहात्म्यको समझकर उसकी इतनी चिन्ता करनेवाले देशमें आज मांस-भक्षणके लिये गौएँ काटी जा रही हैं? कितना विनाश है। वेदमें तो गौको लात मारनेवालेके लिये भी दण्ड-विधान किया गया है। वह भी कठोर दण्डका भागी होगा—

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोपरम्॥
(अथर्व० १३ । १ । १)

'जो गायको पैरसे ठुकराता है तथा सूर्यके सम्मुख मूत्रोत्सर्ग करता है, उस पुरुषको मैं जड़-मूलसे काट गिराता हूँ। उसके पश्चात् तू अपनी छाया यहाँ नहीं करेगा।' अर्थात् गौका जरा-सा भी अपमान वैदिककालके सभ्य मनुष्यको सह्य न था। यह विचारधारा तथा उसके प्रति भावनाएँ भारतीय समाजमें अभीतक वर्तमान हैं। इतिहासमें अनेक जगह ऐसे उदाहरण आते हैं—जिस समय भारतीय महान् आत्मा अपनी आँखोंके सामने गोमाताका वध न देख सकी। शिवाजीने औरंगजेबकी क्रूर सल्तनतके अंदर, मुग़लोंके गढ़में एक कसाईका वध कर डाला था। वेदका आदेश है कि—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥
(अथर्व० १ । १६ । ४)

'यदि कोई मनुष्य हमारी गौओंको मारता है, घोड़े अथवा पुरुषकी हत्या करता है तो हम उसे शीशेकी गोलीसे

बाँध देंगे, जिससे वह हमारे वीरोंका वध न कर सके ।' अर्थात् वेद उस मनुष्यके लिये वह दण्डविधान करता है जो आज किसी सैनिक आज्ञाको न माननेवालेके लिये दिया जाता है अर्थात् एकदम गोलीसे शूट कर दिया जाता है। यहाँतक कि गौके मारनेवालेसे जो भिक्षा माँगता था वह भी पतित हो जाता था ।

क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति तम् ।

(वा० य० ३० । १८)

जो गाय काटनेवालेके पास भीख माँगनेके लिये उपस्थित होता है उसे भूखके अर्पण करे । अर्थात् भूखों मरने दो । दूसरे शब्दोंमें गोवध करनेवालेसे जो भीख माँगता है, वह भूखों मरे । भीख माँगनेवाला भी गोघातकके घर भिक्षा लेने न जाय, भले ही भूखों मर जाय । गोवध-कर्ताके लिये वेदमें इतना कड़ा सामाजिक दण्ड रक्खा गया है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । उसको समाजसे बाहर कर देना असह्य है । इसीलिये सम्भवतः गोघातक मुसल्मानके हाथका पानी पीनेवाला भी हिंदू समाजसे बहिष्कृत समझा जाता था ।

आगे चलकर स्मृतिकार भी गोघातकको ही नहीं, उसे चुरानेवालेके लिये भी दण्डविधान करता है कि ब्राह्मणकी गौ चुरानेवाले, बाँझ गायको हलमें जोतनेके लिये नाथनेवाले और पशुओंका हरण करनेवालेके लिये राजाको चाहिये कि उसका आधा पैर कटवा दे । इस प्रकारका कठोर दण्ड सामान्य वस्तुके नाशपर नहीं दिया जा सकता । इसीसे गायका महत्त्व स्पष्ट है । सारे सभ्य मानव-समाजकी उन्नति गोरक्षापर निर्भर है । गाय ही उसकी धाय है । किसी भी देशकी सभ्यताकी उन्नतिका अनुमान करनेके कई साधन बताये जाते हैं । कहीं लोग पुस्तकोंको सभ्यताका मानदण्ड समझते हैं; कहीं धर्म-मन्दिरोंको ही प्रधानता दी जाती है तो कहीं अन्नके उत्पादक वृषभोंकी वृद्धि ही सभ्यताकी मूल आधार मानी जाती है । किंतु भारतमें गायद्वारा ही संस्कृतिका अनुमान किया जाता है । हमारी सभ्यता गो-प्रधान सभ्यता है । जहाँ गोवंशकी वृद्धि न हो, वहाँ किसी जातिकी गुजर नहीं; क्योंकि गाय ही सुख-समृद्धिकी जननी है । कोई भी जाति या देश गाय या गायसे उत्पन्न होनेवाले दुग्धादि पदार्थोंके विना सात्त्विक मानसिक वातावरणमें विचरण नहीं कर सकती; क्योंकि पृथ्वीपर सबसे अच्छा पोषण-द्रव्य गाय ही उत्पन्न करती है । घास-पात खाकर आरोग्यशक्ति और पोषण देनेवाले दुग्धान्न देती है । यथा—

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गोरोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥

(अथर्व० १ । २२ । १)

'सूर्योदयके होते ही तेरा हृदयदाही रोग और पाण्डु रोग दूर हो जायँ, लालवर्णकी गौके रंगसे तुझे हम घेरे रखते हैं ।' अर्थात् इस मन्त्रमें बताया गया कि लाल रंगकी गायके घी, दूध, दही, मक्खन आदिसे हृदयरोग और पाण्डुरोग दूर हो जाते हैं । यह तो आजकलके वैद्योंद्वारा भी अनुभव की हुई वस्तु है । इसके अतिरिक्त गाय अपने बच्चों और स्वामीके खाने भरके लिये ही अन्न नहीं देती; परंतु इतना दूध देती है कि वे स्वयं खाकर बेच भी सकें । गायके विना खेती स्थिर और समृद्ध नहीं हो सकती और न लोग ही स्वस्थ तथा सुखी हो सकते हैं । अतः वेदमें अन्य देवताओंके समान गोमाताकी सेवा करनेको कहा गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये
मारुतं शर्धो अदितिं हवामहे ।
रथं न दुर्गाद् वसवः सुदानवो
विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥

(ऋग्वेद १ । ७ । २४)

अन्तमें परमात्मासे प्रार्थना करते हैं और कामना करते हैं—

'इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ।'

अर्थात् विश्वको अपने शासनसे सुशोभित करनेवाला इन्द्र ! हमारे लिये, दोपाये प्राणियोंके लिये तथा चौपाये प्राणियोंके लिये शान्ति अथवा सुख प्रदान करनेवाला हो ।

* * *

श्रीगणेश—एक महान् भारतीय आदर्श

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मीनारायणजी पुरोहित, साहित्याचार्य, कविकलानिधि)

भारतवर्ष सदासे महान् आदर्शोंके निधानरूपमें रहता चला आया है। इसमें राम, कृष्ण, शंकर, बुद्ध आदि आदर्शभूत ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिनके उदार चरितोंने न केवल भारतवर्षको ही; अपितु सारे ही वसुधावलयको अपने सुसौरभसे सतत सुसुरभित रक्खा है । श्रीगणेश भी एक वैसे ही महान् भारतीय आदर्श हैं; किंतु उनमें एक विशेषता यह भी है कि वे अपने चरित्रोंसे ही नहीं; अपितु अपने अङ्ग-उपाङ्ग, वसन, भूषण, परिकर, परिचर आदिके द्वारा भी ऐसी प्रशस्त पद्धतिका संकेत करते हैं, जिसका अवलम्बन करनेसे सारे ही मानव-समाजके सभी समीहित हित सन्निहित हो सकते हैं। अस्तु !

भगवान् गणेशने माताकी आज्ञाके अनुसार द्वारपालकताका कार्य भी कठोर तत्परताके साथ करते रहकर पिताके कुपित होनेपर भी उन्हें माताकी आज्ञाके विरुद्ध स्नानागारमें प्रविष्ट न होने दिया और शरीरपातपर्यन्त अपने नियोगको निबाहा, ऐसे जिन अनुकरणीय चरित्रोंसे श्रीगणेशने 'मातृदेवो भव, 'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते' इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचनोंको चरितार्थ किया, वे पुराण प्रसिद्ध हैं । अतः उनके विषयमें यहाँ कुछ न लिखकर श्रीगणेशने अपने अङ्गोपाङ्गादिके द्वारा जिन वस्तुओंका संकेत किया है, उन्हींको 'श्रीगणेशस्तवसुवर्णमाला' के रूपमें संकलितकर विबुधजनमनोविनोदार्थ यहाँ स-सारार्थ प्रकट किया जाता है ।

गुणस्तोमालङ्कृतस्य नायकीकरणं जनैः ।
गणेशत्वेन वदते नमस्तस्मै गुणाब्धये ॥

भगवान् गणनायक सभी विद्याओं और दृढ़ कार्यतत्परतादि सद्गुणोंके निधि हैं, गुणनिधि होते हुए जो वे गणपति (गणोंके—प्रमथोंके और समूहोंके स्वामी) हैं, उससे वे यह सूचित करते है कि जो व्यक्ति गुणराशिसे सुशोभित होता है, वही नायक बनाया जाता है । अतः सभीको गुणोंसे युक्त होना चाहिये, जिससे वह कदाचित् नेताके रूपमे जनताके द्वारा वरण किये जानेपर उसका कार्य भी कुशलतापूर्वक सम्पादन कर सके ।

नेता विशालविमलप्रमुदाशयः सन्
स्यात् सर्वदैव सुमुखः स्वजने प्रवृत्तः ।
इत्युद्वदन् प्रमुदितास्यतयान्तराय-
ध्वान्तापहाऽस्तु शरणं मम कोऽपि भास्वान् ॥ २ ॥

भगवान् विघ्नविनायक प्रसन्नवदन होनेके कारण सुमुख भी हैं, उससे वे यह सूचित करते हैं कि लोकसे नायकरूपमें वरण किया गया व्यक्ति मनुष्योंके साथ व्यवहार करता हुआ कभी भी मुँह फुलाये न रहे, प्रत्युत वह अपने हृदयको विशाल, विमल और प्रमुदित रखते हुए सदा सुमुख अर्थात् प्रसन्नमुख ही रहे, इसीमें उसका हित है । एवं—

हसितविभूषितवदनो जनोऽस्तु सकलोऽपि मोदसम्पत्त्यै ।
इतिरददर्शितहृदयः स एकदन्तोऽस्तु मे शरणम् ॥ ३ ॥

भगवान् एकदन्त होनेसे यह प्रकट करते हैं कि सभी पारस्परिक प्रमोदसम्पदाके संवर्धनके लिये अपना वदन हँसीसे विभूषित ही रक्खें । अर्थात् सभीको हँसमुख रहना चाहिये । विद्वानोंने हसित उसे माना है, जिस हासमें दन्तदर्शन किञ्चित् हो । भगवान् भी एकदन्तत्वसे हसितको ही धारण किये हुए हैं ।

यः स्वल्पमप्यञ्चति सद्गुणोदयं
तस्योचितं शिरसा श्लाघनं सताम् ।
इत्यालपन् बालकलाधरे रुचा
स्याद् भूतये भालकलाधरो मम ॥ ४ ॥

बालकलाधरको मस्तकपर धारण करते हुए भगवान् यह प्रकाशित करते हैं कि अपनी कलामें परिपाकको प्राप्त न हुआ हो, ऐसा बालक भी कोई कलाधर हो, तो उसके प्रोत्साहनके लिये उसके कला-गुणकी सशिरःकम्पपूर्वक सत्पुरुषोंको श्लाघा ही करनी चाहिये ।

लोकाराधनकर्म दिग्गजमहामूर्धैव कर्तुं प्रभु-
र्घ्रातुं सर्वगभीरमानसमलं स्याद् दीर्घघोणः पुमान् ।
भङ्ग्याऽऽस्यस्य पुमान् दधातु मतिमान् नीचेषु चोपेक्षण-
मित्याख्यान् करिवक्त्रवक्रिमरुचाऽव्यान्नो गणेशो निजान् ॥ ५ ॥

भगवान् गणनायक हस्तिमस्तकको स्वीकार कर यह सूचित करते हैं कि लोकाराधनाका विषमातिविषम कार्य दिग्गजके समान बड़े माथेवाला ही कर सकता है । अर्थात् महामस्तिष्कवान् व्यक्ति ही नायक बनाया जाना चाहिये, जिससे विभिन्न रुचियों और पृथक्-पृथक् मतियोंके परस्पर प्रतिकूल लोकोंके अनुरञ्जनका दुष्कर कार्य वह कर सके ।

भगवान् दीर्घनासिकाको धारण कर यह सूचित करते हैं कि सभीको सबके गम्भीर अन्तस्तलको सूँघनेके लिये सुदीर्घ नासिकावाला ही होना चाहिये, अर्थात् सभीको मनोवैज्ञानिक बनना चाहिये । जैसे 'सूक्ष्मदृष्टि, दूरदर्शी, मनोजिघ्र' इत्यादि प्रयोग लाक्षणिक हैं, उसी तरह भगवान्‌की सूचित वस्तुमें भी सूँघना शब्द जानने-अर्थमें और सुदीर्घनासिका शब्द सुस्थिर प्रज्ञा-अर्थमें लाक्षणिक हैं ।

भगवान् वक्रतुण्डता अर्थात् मुखकी वक्रतासे यह प्रकट करते हैं कि इस जगत्‌में अकारण वैर रखनेवाले दारुण दुर्जनोंकी भी कमी नहीं है, उनके द्वारा असूया (गुणोंमें भी दोषारोपण) किये जानेपर मतिमान् मनुष्यको मुखभङ्गीके द्वारा उनके विषयमें उपेक्षा ही प्रकट कर देनी चाहिये, उसमें अवधान देकर उलझना उचित नहीं ।

नेता समस्य शृणुयादपि कष्टवार्तां
रक्षन् सदा सहृदयो विपुलश्रवस्त्वम् ।
इत्युद्गिरन् स शरणं गजकर्णकत्व-
स्वीकारवर्यविधिनाऽस्तु गजाननो नः ॥ ६ ॥

भगवान् हाथीके-से विशाल श्रवणोंको स्वीकार कर यह सूचित करते हैं, कि लोकनायकको सदैव सहृदय होते हुए अपने कानोंको विशाल और उदार भी रखना चाहिये और लोककी दुःखमयी गाथाओंको भी सुनते रहना चाहिये ।

लोकः समोऽपि हृदि विप्रियमन्यदत्तं
तूष्णीं दधत् प्रकटयेत् स्वमहाशयत्वम् ।
इत्यादिशन्नुदधिशोभ्युदरादरेण
लम्बोदरः स भगवानवलम्ब आ स्तात् ॥ ७ ॥

लम्बोदरतासे भगवान् यह प्रकट करते हैं कि सभीको महाशयता स्वीकार करते हुए दूसरोंके द्वारा किये गये अपकारोंको चुपचाप अंदर धारण किये रहना चाहिये, न तो उनकी कभी प्रतिक्रिया ही करनी चाहिये और न उन्हें कहीं कभी प्रकट ही करना चाहिये ।

जगति सकलः सर्वं दृष्ट्वा प्रमोदमुपव्रजेत्
शिशिरकिरणं प्रोद्यद्रागो यथा सरितां पतिः ।
इति गणपतिः स्वान्तेऽमित्वाऽऽयता बहिरुद्गमन्
समवतु तनूपिङ्गव्याजानुरागभरेण नः ॥ ८ ॥

हृदयमें न समाकर कपिल शरीरकान्तिके बहाने बाहर प्रकट हुए स्वजनविषयक अनुरागके द्वारा परम कारुणिक भगवान् यह सूचित करते हैं कि पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर समुद्र जिस प्रकार उमड़कर अपना उसके प्रति अनुराग प्रकट करता है, उसी प्रकार सभीको आत्मीयजनोंसे मिलकर गाढ़ अनुरागयुक्त होते हुए परम प्रीति ही प्रकाशित करनी चाहिये ।

खला हि खलु खेलनां बत सतां शुभैः कुर्वते
अतः स्वहितमिच्छता प्रकटवैकटी धव्यताम् ।
इति प्रकटयन् मुदे विकटताविशेषेण नः
स विघ्नतिमिरौघघो भवतु कोऽपि भासां चयः ॥ ९ ॥

विकटताको स्वीकार करते हुए भगवान् यह प्रकट करते हैं कि—खलप्राय इस लोकमें सरल पुरुषोंका निर्वाह अत्यन्त दुर्घट है; क्योंकि सरल जनोंसे अपना वृथा विनोद करते हुए खललोग प्रायः उनके हित-कार्योंमें भी विघ्न करने लग जाते हैं, और वैमनस्य होनेपर कभी उन्हें नष्ट भी करने लग जाते हैं। उन सारे अनर्थोंकी जड़ सरलोंकी सरलता ही होती है, अतः सरलोंको अपनी सरलता छोड़कर प्रकटरूपमें विकटता भी धारण करनी चाहिये, जिससे दुर्जन लोग दूर ही रहें । क्योंकि विष न होनेपर भी सर्पके फण-टोपकी तरह पुरुषकी विकटताका आडम्बर भी भयङ्कर ही होता है ।

जन इह धवलीकरोतु सर्वं
सुकृतभरैरवदातकान्तिवित्तैः ।
इति सितवसनोररीकृतेन
द्विपवदनोऽवतु वेदयन् निजान् नः ॥१०॥

शुक्लाम्बरकी वर विमल-विभासे विभासित होते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि सभी इस जगत्‌को अपने अवदात-सुकृत-सम्भारोंसे विमल बनाते ही रहें और यशस्वी बनें ।

इह खलु सकलः प्रसादकः स्यात्
स जनतयाऽऽप्रियते विषादको न ।
इति पिशुनयतीव मोदकानां
ग्रहविधिना बत कोऽपि नः शरण्यः ॥११॥

मोदकोंके स्वीकार करनेसे भगवान् यह सूचित करते हैं कि सभी मनुष्योंके द्वारा मोदजनक पुरुषका ही आदर किया जाता है; खेदजनकका नहीं; अतः सभीको लोकप्रिय बनना चाहिये ।

नेता यः स्याद् वरगुणगणालङ्कृतः कोऽपि तस्य
पार्श्वस्थाः स्युः सततमखिला ऋद्धयः सिद्धयश्च ।
इत्याख्यान् मे परिवृततया स्वप्रियाभ्यां शुभाभ्यां
स्यात् सन्नद्धो गणपरिवृढो विघ्नविद्रावणाय ॥१२॥

सद्गुणगणनिधि भगवान् गणनायक ऋद्धि और सिद्धिसे परिवृत होते हुए यह सूचित करते हैं कि विद्या, विनय, दया, क्षमता आदि सद्गुणोंसे सेवित जो कोई भी व्यक्ति नेता होता है, उसके पास ही सारी ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ बनी रहती हैं । केवल वाचालतासे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता ।

कदाचिन्नो तुच्छेष्वपि परिवृढा यायुररुचिं
परं स्वीकुर्युस्तान् निजजनतया स्नेहसहितम् ।
इति व्याख्यानाखुं वहनमुररीकृत्य विहृतै-
र्गणानामीशः स्वानवतु सततं विघ्नविसरात् ॥१३॥

मूषकको वाहनरूपसे स्वीकार करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि परिवृढ पुरुषोंको तुच्छजनोंके विषयमें कभी भी अरुचि प्रकट नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत उन्हें स्वजनके रूपमें स्नेहसहित स्वीकार करना चाहिये, इसीसे उनकी महिमा है ।

शक्त्यान्विते परिवृढे सकलर्द्धिसिद्धि-
बाढक्षमे तदितरेण जनेन नित्यम् ।
तुच्छातितुच्छजनवद् विनतेन भाव्य-
मित्याह मूषकवरो गणनाथभक्त्या ॥१४॥

भगवान् गणपतिमें भक्तिके द्वारा मूषककुलमणि तो यह सूचित करता है कि स्वामीके विषयमें सभीको तुच्छातितुच्छकी तरह विनयावनत, निश्छलतानुरागी और सहानुवर्ती बने रहना चाहिये; क्योंकि वही सभी समृद्धियों और सिद्धियोंका धाता-विधाता है और उसीके अनुवर्तनमें सर्वमङ्गल है ।

द्राग् विद्राव्य रजस्तमश्च बलवद्धेतू जनः पाप्मनां
सत्त्वं तत्त्वविबोधबीजमखिलोऽप्यङ्गीकरोत्वत्र वै ।
इत्याख्यान् निजकेतुधूमलमिलद्रूपच्छलौ द्वौ गुणौ
प्रोड्डाय्याऽलिकचन्द्रविग्रहगुणाग्र्यं लान् गणेशोऽवतु ॥१५॥

भगवान् धूम्रकेतु आकाशमें वायुवेगसे उड़ते हुए केतुके धूम्रवर्णमें मिले हुए लोहित और कृष्णवर्णके बहाने रजोगुण और तमोगुणको गगनमें उड़ाकर भालमें स्थित चन्द्रमाके बहाने सत्त्वगुणको स्वीकार करते हुए यह सूचित करते हैं कि—सभीको सारे पापोंके मूल रजोगुण और तमोगुण शीघ्र उखाड़कर दूर कर देना चाहिये और तत्त्वबोधके बीजभूत सत्त्वगुणको स्वीकार करना चाहिये । इसीमें सारे श्रेय और प्रेय निहित हैं ।

नेता स्यादिह यः पुमान् स मतिमाँल्लोकस्य कल्याणकृत्
खेदच्छेदशुभाभिवर्धनविधेर्विघ्नान् विनिघ्नन् सदा ।
वर्तेतेति सुलोकनायकनयं विघ्नौघविध्वंसनैः
शंसन् नः सुषमाविभूषिततनुः पायाद् गणाधीश्वरः ॥१६॥

भगवान् गणनायक निरन्तर किये जानेवाले विघ्नवृन्दोंके विद्रावणोंसे यह सूचित करते हैं कि जो कोई पुरुष नेता बने, वह लोक-कल्याणकारी कार्य करता रहे और उसमें आनेवाले विघ्नोंका सतत सामना करता रहे, कभी भग्नहृदय होकर बैठ न जाय, या स्वार्थपरायणतामें न उलझ जाय ।

मातरि तथोपमातरि सूनुत्वेनैव वर्ततां सकलः ।
इति गणपः ख्यान् पायाद् गङ्गागौर्योः सुतत्वसाम्येन ॥१

भगवान् गणेश द्वैमातार हैं, अर्थात् एक माता गौरी और दूसरी उपमाता होते हुए भी माताके रूपमें सम्मानित माता गङ्गा, उन दोनोंके ही समानरूपसे पुत्र हैं । वे केवल गौरीके साथ ही पुत्रका आचरण करते हों और उपमाता गङ्गाके साथ कभी किसी उपपुत्रका-सा आचरण करते हों, यह बात नहीं । अतः भगवान् अपने द्वैमातुरत्वसे यह सूचित करते हैं कि सभीको माता तथा उपमातामें समानरूपसे व्यवहार करना चाहिये, उसमें वैषम्यको कभी न आने देना चाहिये ।

नेतुः समेऽप्युपकृतिं मनुजा लभन्ते
तत्संयताश्च सुधियो न जनांस्तुदन्ति ।
तल्लोकनायकवरोपचितिं कृतज्ञः
कुर्यादिति प्रथयते गणनायकार्चा ॥१८॥

भगवान् गणपतिकी पूजा यह सूचित करती है कि सभी मनुष्य नायकसे उपकार पाते हैं, उससे नियन्त्रित हुए कुबुद्धिजन व्यर्थ ही दूसरोंको पीड़ित नहीं कर सकते, अतः कृतज्ञ मनुष्यको लोक-नेताका समुचित सम्मान भी करना चाहिये। एवं—

या नार्यः स्वीयभर्तॄन् सततमनुरताः सेवया तोषयन्ति
पातिव्रत्यप्रसादादिह हि दधति ता ऋद्धितां सिद्धितां च।
दारेषु स्वेषु रक्तः सुसुखमनुभवन् स्याच्च ना हृष्टपुष्ट
इत्यन्योन्यस्निहानः पिपुरतु गणपस्तत्प्रिये च ब्रुवन्नः ॥१९॥

मोदमय भगवान् गणपति और उनकी ऋद्धि और सिद्धि प्रियतमाएँ पारस्परिक प्रेमसे यह सूचित करती हैं कि जो नारियाँ अपने भर्ताओंमें अनुरक्त रहती हुई उन्हें सेवासे निरन्तर सन्तुष्ट रखती हैं, उनका पातिव्रत्य-प्रभाव परम ओजस्वी बन जाता है और उससे वे न केवल सकल समृद्धिसिद्धिमती ही बन जातीं; अपितु वे स्वयं ऋद्धि-सिद्धिस्वरूप ही हो जाती हैं। एवं जो मनुष्य अपनी स्त्रीमें ही रत रहता है, वह लौकिक सुखका अच्छी तरह उपभोग करता है तथा परम प्रसन्न और पुष्ट रहता है। अतः दम्पतियोंको पारस्परिक प्रेमका ही विस्तार करना चाहिये।

इत्येतां रुचिरगुणैर्विरोचमानां
भावाढ्यैर्विदितसुसौरभैर्वरेण्याम् ।
आदर्शैर्महिततरां सुवर्णमालां
नागास्यः प्रमदकरीमुरीकरोतु ॥२०॥

इस प्रकार भगवान् विघ्नविनायकके चिन्तनसे उपलब्ध होनेवाले उपदेशसूत्रोंका अनुसरण किये जानेपर न केवल किसी एक ही व्यक्तिके अपितु सारे ही मानव-समाजके पारस्परिक समन्वयपूर्वक ऐहिक, पारलौकिक—सभी हित विघ्नविरहित हो सकते हैं। अतः भारतके महान् आदर्श देव द्वैमातुर सर्वदा हमारे स्मरणीय और समर्हणीय ही हैं।

* * *

निराशापर विजय

(लेखक—श्रीलावेल फिल्मोर)

मानव-स्वभाव कुछ ऐसा बना है कि उसे किसी-न-किसीपर विश्वास करना ही पड़ता है। स्वभावकी इस विवशताके कारण उसे अपने किसी विश्वासपात्रका चुनाव तनिक बुद्धिमानीसे करना होगा, अन्यथा यदि उसका चुनाव गलत हुआ और इस कारण उसे कष्ट भोगना पड़ा तो संभव है, उसे बड़ा दुःख हो।

कभी-कभी भावुकतावश लोग अपने इस चुनावमें भूल कर बैठते हैं और सर्वथा व्यर्थ वस्तुओंको अपना विश्वास दे देते हैं। चुनाव किसी भी चीजका हो सकता है—किसी व्यक्तिका, भूमिके किसी भागका, किसी संस्थाका, किसी सम्राट्का, किसी राजनीतिक दलका, किसी विशेष जीवनवृत्तिका अथवा खरगोशकी टाँग-ऐसी साधारण वस्तुका। पर बादमें जब उन्हें अपनी भूलका अनुभव होने लगता है और यह जान जाते हैं कि जिस चीजमें उन्होंने विश्वास किया था, वह अवलम्बन-के योग्य नहीं है, तब उन्हें बहुत ही वेदना और निराशा होती है।

कोई निराश तो तभी हो सकता है, जब कोई छोटी-सी चीज, जिसे उसने अवलम्बन माना था, उससे छीन ली जाय या वह अपने किन्हीं प्रयत्नोंमें लगा हो और इच्छानुकूल परिणाम न मिले। निराश होनेपर स्वाभाविक ही वह शीघ्र हतोत्साहित हो जायगा या अपनी झेंप छिपानेके लिये वह कोई ऐसा कर्म कर बैठेगा, जिससे उसकी निराशापर पर्दा पड़ जाय।

इन सब परिणामोंको ध्यानमें रखकर हम सबको कोई ऐसी सुदृढ़ एवं अपरिवर्तनशील वस्तु चुननी चाहिये, जिसपर हमारा अडिग विश्वास बना रहे। वह ऐसी कौन-सी वस्तु होगी, जिसमें हम अपना विश्वास रक्खें तो हमें कभी निराश एवं दुखी नहीं होना पड़ेगा? ऐसी

वस्तु एक हमारे प्रभु ही हैं । जो अपने विश्वासको प्रभुके अनन्त स्नेह, ज्ञान एवं शक्तिके उच्च स्तरतक ले जाता है, उसे अपने जीवनमें शायद ही कभी निराशाका अनुभव हो, भले ही उसके प्रयत्न उसके इच्छानुकूल परिणाम न दें ।

भगवान्‌में अपना विश्वास रखनेवालोंके जीवनमें सदा सुख-शान्तिकी वर्षा होती रहती है । भगवान्‌में ऐसा दृढ़ विश्वास रखनेवाला पुरुष धैर्यके साथ किसी भी बड़े-से-बड़े धक्केको सहन कर लेगा, जब कि साधारण व्यक्ति उस धक्केकी चोटसे कराह उठेगा । सर्वशक्तिमान् प्रभुमें विश्वास न रखनेवालोंको बड़ी हानि उठानी पड़ती है और इसी कारण उन्हें निम्नकोटिकी साधारण वस्तुओंपर अतिशय निर्भर रहना पड़ता है । ये निम्नकोटिकी सांसारिक वस्तुएँ कुछ कालके लिये भले ही पर्याप्त जान पड़ें; किंतु एक दिन ऐसा आयेगा, जब किसी विशेष अवसरपर वे जवाब दे बैठेंगी ।

जब एक व्यक्ति यह जान जाता है कि उसकी सांसारिक आकाङ्क्षाएँ डगमगा रही हैं—क्योंकि उन आकाङ्क्षाओंके पाँव मिट्टीके हैं, तब उसे अनुभव होता है कि वह अपने जीवनकी मोड़पर पहुँच गया है । ऐसे समय वह पीछे मुड़े या आगे बढ़े । यदि वह बहुत ही हतोत्साहित हुआ तो संभव है कि जीवनके सत्य-मार्गको छोड़कर उसे पापों, भ्रष्टाचारों अथवा निष्ठुरताओंके उपभोगोंकी ओर मोड़ दे । नहीं तो, अपनी आकाङ्क्षाओंपर विजय-प्राप्तिके लिये नूतन शक्ति एकत्रित करके आगे बढ़ जाय ।

कहा जाता है कि जब मानव अपनी शक्तिके अन्तिम छोरतक पहुँच जाता है, तब ईश्वरको स्मरण करनेका अवसर आता है । असीम निराश होनेपर ही पुराने विचारोंपरसे विश्वास उठता है और सहसा ईश्वरकी ओर आकर्षित होता है एवं सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की अनन्त शक्तिमें अपना विश्वास स्थापित करता है ।

ईश्वरमें विश्वास रखनेपर यदि उसे असफलता मिले तो वह यही सोचेगा कि भगवान्‌के विश्वासमें कोई त्रुटि नहीं है, उसके कार्यमें ही कोई त्रुटि रह गयी, जिससे उसे असफल होना पड़ा । शायद उसने ईश्वरके पावन नियमोंका पालन अक्षरशः नहीं किया । इसलिये वह प्रभुको मार्गदर्शक बनाकर अपनी असफलताओंपर विजय प्राप्त करेगा । और तब उसीकी भीतरी शक्ति (आत्मशक्ति) किसी अवरोधसे कहीं अधिक शक्तिशाली हो जायगी; क्योंकि सर्वशक्तिमान् भगवान्‌पर उसका पूर्ण विश्वास रहेगा ।

जब हमारी कोई एक योजना असफल हो जाती है, तब हम अत्यन्त निराशाका अनुभव करने लगते हैं । इतना ही नहीं, कभी-कभी तो हमें अपनेपर ही क्रोध आता है । क्रोधसे होठ चबाने लगते हैं, उदाससे हो जाते हैं और दुखी दीखने लगते हैं । परिणाम यह होता है कि हममें अपने भाग्यमें ही दोष निकालनेकी आदत पड़ जाती है और हम अपने मुँहसे अपवित्र शब्द भी निकालने लगते हैं । ऐसी बुरी आदतसे ऐसे समय परिस्थिति सुधरनेके बजाय और भी बिगड़ जाती है ।

भूल होनेपर उसे सुधारनेका तुरंत प्रयत्न करना चाहिये, न कि उस भूलसे हुई हानिको और बढ़ा दिया जाय । निराशाभरे शब्दोंका उच्चारण करना और कोसना आदि हमारी आन्तरिक दुर्बलताके लक्षण हैं । इनसे संकटोंकी साँकल टूटनेके बजाय और भी जकड़ जाती है । किंतु पवित्र रचनात्मक शब्द ऐसे समयमें बल एवं उत्साह प्रदान करते हैं और आये हुए संकटोंको झेलनेके लिये निर्भय बना देते हैं । याद रखिये—वे शब्द जो हमारे विश्वासको दृढ़तर बनाते हैं, बड़े ही बलवान् सहायक हैं ।

सत्यके शोधकोंने देखा है कि प्रत्येक व्यक्तिको ईश्वरने एक ऐसा साधन प्रदान किया है जिसके प्रयोग

द्वारा उसकी असफलता सफलतामें परिवर्तित हो सकती है और उस जीवनका पुनर्निर्माण हो सकता है ।

वह साधन है—सत्यको स्वीकार करना अर्थात् ईश्वरमें पूर्ण विश्वास रखकर सदा अपने कार्यमें संलग्न रहना। ईश्वरकी चमत्कारपूर्ण शक्तिमें विश्वास रखनेमें कोई शारीरिक श्रमकी उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती, जितनी कि मूर्खतापूर्ण अपशब्दों और प्रलापोंमें । सत्यमें विश्वास करनेपर ईश्वरीय नियमोंकी रचनात्मक शक्तियाँ जागरूक हो जाती हैं, जिनसे अपने-आप ही निराशापर विजय प्राप्त कर लेते हैं, और साथ ही असफलताके कारणको भी समूल उखाड़ फेंकते हैं ।

कोसने, क्रोधभरे शब्द बोलने, दुखी होने और चिल्लानेसे तो आपकी उलझनें और भी उलझ जाती हैं । इसलिये क्यों न आप अपनी शब्द-शक्तिको सत्यके अङ्गीकार करनेमें लगा दें और ईश्वरमें विश्वास रखकर उन्हें क्रियाशील कर दें । और जब आप इस भाँति सशक्त हो जायँगे, अभाग्य आपके निकट नहीं आयेगा, और आप अपने आध्यात्मिक स्वरकी रक्षा कर सकेंगे ।

ईश्वरका रचनात्मक विधान हमारी उन्नतिके लिये सदा अग्रसर रहता है, इस सत्यको अङ्गीकार करनेपर आप देखेंगे कि आपका कार्य कितना सुलझ जाता है और ऐसा अनुभव होने लगेगा कि कोई दैवी शक्ति आपकी सहायता कर रही है ।

स्मरण रखिये—आपके शब्द बीजके सदृश हैं । आप जो भी शब्द बोलते हैं, वे बीजकी भाँति जम जाते हैं और ईश्वर उन्हें अङ्कुरित एवं विकसित करता है ।

संशय, भय और क्रोधके शब्द बोलकर आप उन बीजोंको बोते हैं, जो उगनेपर प्रचुरमात्रामें वही फल देंगे,—जो आपने बोये हैं—संशय, भय और क्रोध । परंतु जब आप ईश्वरकी महत्ता और उसके प्रेममें विश्वास करने लगते हैं, तब आप ऐसे बीज बोते हैं, जिनमें उसी तरहकी महत्ता और प्यारकी अद्भुत तथा विशाल उपज होगी ।

यदि आप जीवनमें सुख-शान्ति और चैन चाहते हैं तो सुख-शान्ति और चैनके ही शब्द बोलिये और दुःखोंकी चर्चा करना बंद कीजिये । सत्यके ही बीज बोकर आप असफलता, दुःख एवं निराशाके चिह्नोंको अपने जीवनसे मिटा सकते हैं । नहीं तो, इनमें फँस गये तो जीना भी दूभर हो जायगा ।

ईश्वरके सत्य शब्द असत्यसे कहीं शक्तिशाली हैं । सत्यको जीवनका आलम्बन मानकर चलिये, निराशा आपके पास नहीं फटकेगी ।

यदि कोई दुर्घटना घट चुकी है तो उससे कष्ट भोगनेके बजाय क्यों न ईश्वरमें विश्वास कर किसी भले विचारको अपने मनमें प्रश्रय दें ताकि आपका भविष्य उज्ज्वल और सुखी हो ।

दुःखदायी अनुभवोंके अवशेषका उपयोग सुख एवं सफलताकी श्रेष्ठतर उत्पत्तिके लिये किया जा सकता है। आवश्यक यह है कि इस बार आप श्रेष्ठ शब्द-बीज बोयें । ईश्वरमें आपका विश्वास जितना ही दृढ़तर होगा और आपका और ईश्वरका सम्बन्ध जितना ही अटूट होगा, आप उतने ही सुख-शान्ति और चैनका अनुभव करेंगे ।

देवी-महिमा

(लेखक—पं० श्रीरामदत्तजी भारद्वाज एम्० ए० (त्रय), एल्-एल्० बी०)

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

परम सत्ताके सगुण रूपको ऋषियोंने अनेक रूपोंमें देखा है । सगुणकी कल्पना माता, पिता, भाई अथवा सखाके ही नहीं; किंतु शत्रुके भी रूपमें हुई है । यदि शाक्त उसे माताके और ईसाई उसे पिताके रूपमें देखना चाहता है तो रावण और कंस उसे शत्रुके रूपमें । यह तो भक्तोंपर निर्भर है कि वे उसे किस रूपमें भजना चाहते हैं—भगवती दुर्गाके रूपमें, भगवान् ब्रह्माके रूपमें, भगवान् विष्णुके रूपमें, भगवान् शिवके रूपमें अथवा अन्य किसी इष्टदेवके रूपमें ?

परम सत्ताको वेदभगवान्‌ने पुरुष और स्त्री दोनोंके ही रूपमें जाना है । ऋग्वेदके नासदीय और पुरुष सूक्तोंमें चरम सत्ताका वर्णन 'पुरुष' के रूपमें किया गया है; किंतु ऋग्वेदके एक सूक्तमें* उस सत्ताका वर्णन 'स्त्री' के रूपमें है । इस सूक्तसे पता चलता है कि भगवती दुर्गाने जगत्पिताको उत्पन्न किया है और वह समग्र भुवनोंमें प्रविष्ट होकर स्वर्ग-मर्त्यके परे भी वर्तमान है । वह रुद्र, वसु, आदित्य आदि विश्वदेवोंके रूपसे विचरती है और मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, सोम, त्वष्टा, पूषा आदिका आधार है । अतएव देवता अनेक भावसे उनकी उपासना करते हैं । वह यजमानोंके यज्ञफलको धारण करती है और ज्ञानस्वरूपा भी है । यह देवी जिसे चाहती उसे उच्चपद प्रदान करती है, अर्थात् उसे ब्रह्मा या शिव बना देती है । वह जन-कल्याणके लिये युद्ध भी करती है । ब्रह्मा, विष्णु और महेश इसी देवीके विविध रूप हैं, अलग-अलग सत्ताएँ नहीं । इस तथ्यका आभास उक्त देवी-सूक्तसे तो मिलता ही है । मत्स्यपुराण और मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गा-सप्तशतीने भी ब्रह्मा, विष्णु और महेशका सामञ्जस्य एक ही सगुणसत्तामें किया है—एकने ईश्वरमें, तो दूसरेने ईश्वरीमें । सप्तशतीमें प्रार्थना है—'ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी जिसके अतुल प्रभाव और बलको कहनेमें असमर्थ हैं, वही चण्डिका अखिल जगत्का पालन करनेके लिये अशुभ तथा भयके नाश करनेकी इच्छा करे (४ । ४) । वास्तवमें दुर्गा-सप्तशती परम सत्ताकी सामञ्जस्यपूर्ण उत्कृष्ट कल्पनासे ओत-प्रोत है ।

इस 'सप्तशती' के देवीसूक्तमें ईषणाओं, मूल प्रवृत्तियों और उद्वेगोंका जो उल्लेख किया गया है, वह मनोवैज्ञानिकोंके लिये सुन्दर सामग्री है । उक्त प्रवृत्तियोंका भगवती दुर्गासे तादात्म्य कर जो उनका उन्नयन हुआ है, वह ज्ञान-विज्ञान दोनों ही दृष्टियोंसे परम हितकर है । उदाहरणतः—

या देवी सर्वभूतेषु (अमुक) रूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

दुर्गा-सप्तशतीका 'कवच' वराहपुराणसे उद्धृत है । जिस प्रकार कवच युद्धमें योद्धाकी सर्वथा रक्षा करता है, उसी प्रकार यह 'कवच' दुर्गा-भक्तके शरीर और मनकी । श्रीदुर्गाका व्यापक एवं विविध रूप मनुष्यके अङ्ग-प्रत्यङ्ग एवं अन्तःकरण-चतुष्टयकी सब ओरसे सदा रक्षा ही नहीं, अपितु सर्वाङ्गीण अभ्युदय, धनधान्य, पुत्र-कलत्र और मान-शक्तिको प्रदान करता है । जितना अधिक और गहन विचार किया जाय कवचका उतना ही माहात्म्य स्पष्ट होता है ।

---

* वागाम्भृणी (ऋ० वे० १० । १० । १२५)

दुर्गा-सप्तशतीसे सम्बद्ध 'अर्गला' है, जिसमें प्रार्थनाका रूप कितना उदात्त, प्रशस्त और स्तुत्य हो गया है । भक्त माँगता है—'हे भगवति ! मुझे आरोग्य दे, सौभाग्य दे; मुझे विद्वान्, यशस्वी और लक्ष्मीवान् बना; मुझे रूप दे, जय दे, यश दे और मेरे विद्वेषियोंका नाश कर ।' संस्कृत वचन इस प्रकार है—

विद्यावन्तं यशस्वन्तं लक्ष्मीवन्तं जनं कुरु ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥

इस प्रार्थनामें वैदिक ऋषियोंका कर्मण्य आशावाद स्पष्ट है । यह संसार माया है, ठीक है, किंतु माया किसकी ? यदि माया भगवान् या भगवतीकी है तो माया हेय क्यों ? ईश्वर-ईश्वरीसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रत्येक भाव या पदार्थ कल्याणकर ही होना चाहिये । 'प्रार्थना' का अस्तित्व 'व्यवहार' में है, अतएव उसका प्रशस्ततम रूप उपर्युक्त हो सकता है ।

कहनेकी आवश्यकता नहीं—भारतके धार्मिक साहित्यमें दुर्गा-सप्तशतीका स्थान अत्यन्त आदृत है । जो लोग समझते हों कि भारतीय समाजमें नारीका स्थान हीन है, उन्हें इस 'सप्तशती' का अवलोकन अवश्य करना चाहिये ।

* * *

भोग और त्याग

आधुनिक मनोविज्ञानके विश्लेषण (New Psycho-Analysis) का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करनेकी भरपूर चेष्टा कर रहा है कि 'भोगोंको अतिमात्रामें भोग लेनेसे ही शान्ति मिलती है और तभी भोगोंसे हमारी विरति होती है । इस मतके अनुसार मनुष्य भोगोंसे भागकर उनसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकता । भाग जानेपर भी वह बार-बार उनमें फँसेगा, इसलिये आवश्यक है कि भोगोंको खूब भोगकर, उनका खूब अनुभव करके, उनके आनन्द और उपभोगकी अतिमात्राके कारण विरसताका भी अनुभव करके उन्हें सदाके लिये छोड़ दिया जाय । भोगोंका अतिभोग ही सच्ची विरक्ति ला सकता है, न कि उसके प्रति अज्ञान या अवहेलना ।'

दूसरा मत जो हमारे यहाँ बहुत ही प्राचीन कालसे चला आ रहा है और जिसकी घोषणा हमारे शास्त्र और संत डंकेकी चोट कर रहे हैं—वह यह है कि भोगोंके त्यागसे ही शान्ति मिल सकती है; भोगोंकी कोई इति नहीं । अस्तु, उनसे अलग हो जाना ही, उनको त्याग देना ही कल्याणकामियोंके लिये सर्वथा उचित तथा उपादेय है । इस मतके लोगोंका कथन यह है कि भोगोंकी अतिसे क्षणिक विरति भले ही हो, पर बार-बार मन उनमें फिर भी जा सकता है ।

दोनों ही मत अपने-अपने विचारसे ठीक हैं । क्योंकि एक बात तो दोनोंमें ही है और वही मुख्य है—वह है—शान्तिकी इच्छा । किसी प्रकार हो, लोग शान्तिकी खोजमें हैं, शान्ति चाहते हैं और उसी शान्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग तथा मत स्थापित करते हैं । भगवान्ने गीताजीमें शान्तिप्राप्तिके बहुतसे उपाय विभिन्न अधिकारियोंके लिये बतलाये हैं, उनमेंसे एक यह है—

विहाय कामान् यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(२ । ७१)

इस श्लोकमें भगवान्ने चार बातें बतलायी हैं—जो पुरुष (१) सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, (२) सर्वथा ममतारहित होकर, (३) अहङ्काररहित (४) स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शान्तिको प्राप्त करता है । और जब भीतर शान्ति नहीं है, चित्त अशान्त है, तब सुख कहाँ—'अशान्तस्य कुतः सुखम् ?'

मनमें किसी कामनाका उदय होना ही यह सूचित करता है कि कोई अभाव है। अभावके बोधमें ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही अशान्ति है—दुःख है। कामना दो प्रकारकी होती है-—(१) प्रतिकूल वस्तु है तो उसका नाश हो जाय, (२) अनुकूल वस्तु नहीं है तो वह मिल जाय। ये दो प्रकारके अभाव होते हैं-—एकमें प्रतिकूलके नाशका अभाव है, दूसरेमें अनुकूलके न होनेसे अभाव है, यह अभावका बोध ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही दुःख है। जहाँतक कामना है, वहाँतक अभावका अनुभव है। अभाव ही प्रतिकूलता और प्रतिकूलता ही अभाव है। जहाँतक इन कामनाओंका नाश नहीं हो जाता, वहाँतक शान्ति नहीं मिल सकती।

कामनाके नाशके लिये ही उपर्युक्त दोनों मार्ग हैं—भोगोंको भोगना, अतिमात्रामें भोगना, इतना कि भोगते-भोगते उनकी ओरसे मन ऊब जाय—हट जाय और दूसरा यह कि भोग-कामनाको उगने ही नहीं देना, आरम्भसे ही भोगोंका त्याग कर देना। दृष्टिभेदसे दोनों ही ठीक हैं। एक ही वस्तु एक ही व्यक्तिको हर समय बार-बार दी जायगी तो वह कभी-न-कभी उससे अवश्य ही ऊब जायगा। यदि किसी व्यक्तिको खीर खानेकी इच्छा है तो उसे हर समय यदि केवल खीर ही खानेको दिया जाय तो वह ऊब उठेगा, खीरसे घबरा जायगा। इसी प्रकार स्त्री-सुख है। यदि किसी पुरुषको खाने-पीनेको कुछ भी न दिया जाय और रात-दिन केवल स्त्री-संभोगकी ही छुट्टी दे दी जाय तो वह उससे शीघ्र ही ऊब उठेगा। भोगोंको अतिमात्रामें पानेसे उनसे स्वाभाविक ही अरुचि होती है।

परंतु एक बात स्मरण रखनेकी है और वह यह कि कामनाके प्रधानतया दो रूप होते हैं—वासना और इच्छा। जबतक मनमें वासना है, तबतक इच्छा भी होगी ही। वासना सूक्ष्म है, इच्छा स्थूल है। जबतक वासना नष्ट नहीं होती, तबतक यह सर्वथा सम्भव है कि कुछ समय बाद वह स्थूल रूपमें इच्छा बनकर फिर जाग उठे। खीर अधिक खा लेनेसे आज हमारी तृप्ति हो जाती है और उस समय उससे हमारी अरुचि हो जाती है, हम और नहीं चाहते, पर यदि हमारे मनसे उसकी वासना न मिटी तो कुछ दिनों बाद फिर खीरके स्वादका स्मरण आयेगा और हम उसे पाना चाहेंगे। ठीक यही बात स्त्री-संभोगकी भी है। आज उसकी अतिमात्राके कारण उससे भले अरुचि हो जाय, पर महीने-दो-महीनेमें फिर वह वासना धर दबायेगी और उस समय पहलेकी विरतिका स्मरणतक भी नहीं होगा। चित्त जब मुरझाया हुआ होता है, उस समय मनमें ऐसा भासता है कि भीतर भोगकी गन्ध भी नहीं है। पर अवसर और अनुकूल संयोग पाते ही दबी हुई वासना उदय हो ही जाती है। बीमारीकी हालतमें चित्त भोगोंसे हटता है, पर बीमारी बीतनेके बाद फिर वही चाट। अघा जानेपर एक बार विषयोंसे जो उपरति होती है, वह विषयोंसे हमारी स्थायी विरक्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि वासनाका सर्वथा नाश हो गया होता तो फिर वह उगती कहाँसे! भोगोंको अधिक भोग लेनेसे मनमें जो तात्कालिक विरति होती है, वह स्थायी नहीं कहला सकती।

इसी प्रकार बलात्कारसे भोगोंके त्यागकी बात है। उनका हम हठसे त्याग करते हैं। जबतक वासनाका त्याग नहीं होता, तबतक मन उनपर चलता रहता है। जहाँ उस निग्रहका नियम ढीला हुआ कि फिर मन उसी वस्तुपर चला जाता है। भोगोंका अधिक भोग तथा हठपूर्वक त्याग दोनोंसे ही—जबतक चित्तमें वासना है, तबतक स्थायी और सच्ची विरति या उपरति प्राप्त नहीं होती, अतः तबतक शान्ति-सुख भी नहीं मिल सकते। वासनाका मूल नहीं कटता—किसी कारणसे

वह दब-सी जाती है, पर फिर उभर आती है। बहुत बार हम उसे नियमोंके द्वारा दबा देते हैं; पर मन बरबस बार-बार उधर ही जाता है। दोनोंमें ही कामनाका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जबतक अविद्याका—मोहका नाश नहीं होता, तबतक भोगोंका त्याग न हठपूर्वक त्यागसे ही हो सकता है न अधिक भोगसे ही।

यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि 'वासना-नाशके लिये फिर दोनोंमें—अतिभोग और भोगत्यागमें—सही मार्ग कौन-सा है? कौन-सा ऐसा पथ है, जिसके द्वारा हम वासनाका यथार्थतः त्याग कर सकते हों और जो बराबर सुरक्षित हो। इसके उत्तरमें इतना तो डंकेकी चोट कहा जा सकता है 'कि त्यागका मार्ग' ही श्रेष्ठ है। यही हमारे शास्त्रोंका निचोड़ है, यही हमारे संत महापुरुषोंकी अनुभवपूर्ण अमर वाणी है। भोगोंके भोगनेसे और अधिक प्राप्तिसे भले ही शरीर दुर्बल हो जाय, पर भोगोंकी कामना मिट जाती हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब शरीर अशक्य हो जाय और चित्त व्याकुल हो, तब भले ही कामनाका अभाव-सा प्रतीत हो; परंतु जहाँ शक्ति हुई कि पुनः वे ही कामनाएँ और भी भयानक रूपमें सामने आ जाती हैं। भोगोंसे भोग-कामनाका उपशमन कभी नहीं होता?

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घीते।

राजा ययातिने बहुत भोग भोगे, परंतु भोगोंसे तृप्ति हुई ही नहीं, तब हारकर कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १३-१६)

'जिसका चित्त कामनाओंसे ग्रस्त है, उस पुरुषके मनको पृथ्वीमें जितने भी भोग्यपदार्थ—धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, सब मिलकर भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। विषयके भोगनेसे भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती, वरं जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगोंकी प्राप्तिसे भोगवासनाएँ भी प्रबल हो जाती हैं। जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तुके साथ रागद्वेषका भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिये फिर सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं। विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्भवस्थान है, मन्दबुद्धि मनुष्य बड़ी कठिनाईसे उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है, पर तृष्णा नित्य तरुणी ही बनी रहती है। अतः जो कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना) का त्याग कर देना चाहिये।'

ज्यों-ज्यों मनचाही चीज मिलने लगती है, त्यों-त्यों मनचाहीकी सीमा और आगे बढ़ती जाती है। यदि भोगोंकी प्राप्तिमें ही वास्तविक तृप्ति होती तो किसी भी अवस्थामें तो मनुष्य यह कहता कि 'अब और नहीं चाहिये।' पर देखनेमें आता है कि करोड़पति-अरबपतिमें भी वही हाहाकार है, वही अशान्ति, वही 'अभी कुछ और'की पुकार बनी हुई है। जबतक अविद्याका नाश नहीं होता, तबतक शान्ति कहाँ?

'संसारके समस्त सुख-भोग' समृद्धि-वैभव पाकर भी यह जीव तृप्त नहीं होता। इसका क्या कारण है। हम सम्राट् भी हो जायँ फिर भी इच्छाओंकी इति नहीं—इसमें क्या हेतु है?' यह जीव सच्चिदानन्द है। आत्माका सनातन अंश है, नित्य पूर्ण है, उसकी तृप्ति अपूर्णसे कैसे होगी? यह जिस अवस्थाको प्राप्त करता है, जहाँ भी यह जाता है, सम्राट् होनेपर भी यह देखता है कि वहाँ पूर्णता नहीं। देवराज इन्द्र बन जानेपर भी पूर्णताका बोध नहीं होता। वहाँ भी अतृप्त रहता

है। जीवकी यह 'आत्यन्तिक अतृप्ति' यह सूचित करती है कि यह उस अवस्थाकी खोजमें है जो नित्य, सत्य, परिपूर्ण, अज, अविनाशी, शाश्वत, सनातन है। जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक इसे शान्ति नहीं मिलती। यदि भोगोंसे ही वासना मिट जाय तब तो इस सिद्धान्तमें ही बाधा आ जायगी। क्या जीव अपूर्णसे कभी तृप्त होगा? असलमें जीवके लिये इन अपूर्ण वस्तुओंकी प्राप्ति और उनमें रति पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है। 'असत्‌में सद्बुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि और अपवित्रमें पवित्रबुद्धि' ही तो अविद्याके लक्षण हैं। जब यह असत्, अनित्य, अपवित्र और दुःखरूपी वस्तु पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक हैं, तब फिर इसीके बलपर—अविद्याका सहारा लेकर जीव अपनी शाश्वती परमानन्द-स्थितिको कैसे प्राप्त करेगा? हमें तो अपने घर पहुँचना है, यदि राहकी ही किसी वस्तुपर हमारा मन लुभा गया और उसीमें हम रम गये, राहमें ही रह गये तो मार्ग छूटा, घरकी ओर बढ़नेसे रुके और घरसे अलग ही रह गये। इसीलिये तो संसार-शिखरपर खड़े होकर संत-महात्मा हमें चेताते हैं—'घर लौटो, राहमें न भटको! यह संसार दुःखालय है, अशाश्वत है, अनित्य है, असुख है, इसमें न भरमो।' भगवान्‌ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

'इस क्षणभङ्गुर और सुखरहित संसारको पाकर मुझे भजो।' तुम्हारा मार्ग न छूटे। रास्ता छोड़कर अन्यत्र न भटक जाओ। दुःखका यह भण्डार है, क्षणभर भी ठहरनेवाला नहीं है! सावधान! भोगोंमें ही जब सुखका, तृप्तिका बोध होने लगेगा, तब मनुष्य वहीं ठहर जायगा। इसका परिणाम? परिणाम तो स्पष्ट है—वह आत्मासे वञ्चित रह जाता है। 'घर' नहीं पहुँचता, बीचमें ही रुक जाता है। और भोगोंमें तृप्ति कहाँ? ज्यों-ज्यों भोग मिलते हैं, वासना बढ़ती जाती है। इसीलिये संत कहते हैं—इन्हें छोड़ो—'विषयान् विषवत्त्यज!' भोगोंको विषके समान त्याग दो! भोगोंसे तृप्ति नहीं होती, हो नहीं सकती।

हमारे मनमें जो स्फुरणा होती है, उसका कारण है—हमारी सञ्चित कर्मराशि। सञ्चित है क्रियमाणकी पूँजी। क्रियमाणकी तहपर तह लग जाती है—कर्मोंकी बड़ी भारी तह लग गयी। इसी कर्मराशिका नाम सञ्चित है, इस सञ्चितसे कुछ सार लेकर प्रारब्ध बनता है। क्रियमाण और प्रारब्धका यही स्वरूप है। स्फुरणा उसी सञ्चितकी अधिक होती है, जो नवीन होता है। जो कर्म आदमी वर्तमानमें करता है उसीका नया सञ्चित बनता है। सञ्चितसे स्फुरणा (कर्मप्रेरणा) उत्पन्न होती है और बार-बार जैसी स्फुरणा होती है प्रायः वैसा ही नया कर्म बनता है। नया कर्म ही सञ्चित बन जाता है, उसीकी फिर स्फुरणा होती है। यों चक्र चलता जाता है। इससे पुराने सञ्चितके पुराने संस्कार दब जाते हैं। जैसे गोदाममें जो माल सबके बाद रक्खा जाता है निकालते समय सबसे पहले वही निकलता है। इसी प्रकार अन्तरमें जो अनन्त कर्मराशिकी तह-पर-तह लगी है उसमेंसे उसीकी स्फुरणा पहले होती है, जो सबसे आगेकी या ऊपरकी स्तरका कर्म होता है। जैसे गोदाममें नीचे प्याज दबा है, ऊपर और आगे केसर-कपूर भर दिया जाय तो प्याजकी गन्ध दब जाती है और केसर कपूरकी आती है। इतना होनेपर भी कभी-कभी वायुके झोंकेसे नीचे दबे प्याजकी भी गन्ध आ जाती है। वैसे ही वर्तमानके शुभ कर्मोंकी शुभ स्फुरणा होनेपर भी मनमें सञ्चित अशुभ कर्मोंकी अशुभ स्फुरणा भी कभी-कभी हो ही जाती है। पर यदि मनुष्य लगातार शुभका ही सञ्चय करता जाय तो पुराने कर्म बहुत नीचे दब जाते हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह बराबर शुभ सङ्ग रहे और शुभको पकड़े रहे, तो इस प्रकार धीरे-धीरे

उसके सारे बुरे कर्म और भाव दबकर नये शुभ और पुण्य भाव उदय होंगे । नवीन कर्म पुरुषार्थप्रधान है। बार-बार सत् पुरुषार्थ करे । यों करते रहनेसे आगे चलकर शुभका एक ऐसा सुन्दर चक्र बन जायगा कि फिर अशुभ होगा ही नहीं । और जब शुभ खूब बढ़ जायगा तब ज्ञानाग्नि उत्पन्न होगी ही । जैसे केसर-कपूरकी प्रचुरता होनेपर कभी रगड़ लगकर आग उत्पन्न हो ही जाती है । ज्ञानाग्नि शुद्ध अन्तःकरणमें ही उत्पन्न होती है। ज्ञानाग्नि सारी भली-बुरी कर्मराशिको भस्मकर मनुष्यको सच्ची निष्कर्मता प्रदान करती है । गोदाममें आग लग गयी, बुरा-भला सब भस्म हो गया । यदि हम त्यागके मार्गपर रहें तो सारा जीवन त्यागमय हो जाता है। यदि भोगमें रहें तो फिर नये-नये भोगोंका परिचय, उनमें रुचि, वासना, आसक्ति और उनकी कामना मनमें बढ़ती जाती है और परिणामस्वरूप मनमें उन्हींका संस्कार दृढ़ होता है । इससे निश्चय ही नये-नये पाप होते हैं। मनुष्यको यह निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि पाप होनेमें कारण प्रारब्ध नहीं, कामासक्ति है । अर्जुनके पूछनेपर कि 'इच्छा न होनेपर भी मनुष्यसे बलात्कारसे कराये हुएकी भाँति पाप कौन करवाता है ?' भगवान्ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'अर्जुन ! यह रजोगुण (रागात्मक वृत्ति—आसक्ति) से उत्पन्न काम (कामना) ही क्रोध है । यह कभी न अघानेवाला (भोगोंसे सदा अतृप्त रहनेवाला) और महान् पापी (पापोंका उत्पादक) है, इस सम्बन्धमें तू इसीको वैरी समझ ।' पापोंकी जड़ है बस भोगकामना ।

भगवान्ने बतलाया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६१-६२)

'मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें भगवत्परायण न कर दिया जायगा तो मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होगा और विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें भी कामना उत्पन्न होगी, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध होगा (और कामना सफल होनेपर लोभ)। क्रोध (या लोभ) बढ़ते ही महान् मूढ़भाव उत्पन्न होगा और मूढ़तासे स्मरणशक्ति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी, स्मृतिके भ्रंश हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जायगा और बुद्धिके नाश होनेसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे सर्वथा भ्रष्ट हो जायगा ।' इस प्रकार विषयके स्मरणमात्रसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है । अच्छे-से-अच्छे संस्कारवाला पुरुष भी विषयोंके चिन्तनमें लग जाय तो वह महापापी हो जायगा । और उधर महापापी भी चित्तके द्वारा विषयोंका चिन्तन छोड़कर भगवान्के चिन्तनमें लगे तो वह शीघ्र ही पुण्यात्मा हो जायगा—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है ।' विषयोंके चिन्तनमात्रसे अशान्ति एवं सर्वनाशका द्वार खुल जाता है और भगवान्के स्मरणमात्रसे आनन्द और शान्तिका अमृत बरस पड़ता है । यह है महान् अन्तर । विषयोंके चिन्तनका अर्थ है—सर्वनाश । भगवान्की शरणका अर्थ है—आत्माको परम शान्तिकी प्राप्ति । भोगका अर्थ है—बार-बार मरना, बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना । त्यागका अर्थ है—मृत्युसे आत्यन्तिक निवृत्ति, भगवत्प्राप्ति !

इस प्रकार भोगोंसे भोगका नाश कैसे होगा ? 'छूट कि मल मलही के धोये ?' बहादुरीके साथ, निष्ठा और लगनके साथ भोगोंका त्याग करना चाहिये । भोगविषयोंका

त्याग लोगोंको दिखानेके लिये—दम्भके लिये न हो। ईमानदारीसे होना चाहिये। साधन दूसरी वस्तु है तथा साधनका दम्भ दूसरी। लोगोंको दिखलानेके लिये जो कुछ होता है, मान-सम्मानकी आशासे जो कुछ किया जाता है, उसे दम्भ समझना चाहिये। त्यागका स्वाँग त्याग नहीं है। महिमा तो सच्चे त्यागकी है। निश्छल, निष्कपट त्याग ही त्याग है।

त्याग होना चाहिये यथार्थ, सच्चा। ऊपरसे त्याग हो और मनमें चिन्तन चलता रहे, कामनाकी आग बुझे नहीं तो वह दम्भाचार होगा। भोगत्यागका असली अर्थ है—भोगकामनाका त्याग। उस त्यागसे तुरंत शान्ति मिलती है। संसारमें रहनेवालेसे भोगका सर्वथा त्याग तो होगा ही नहीं। पर राग-द्वेषरहित होकर वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे जो संयमित (शास्त्रविहित परिमित और नियमित) विषयोंका भोग होता है, उससे प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता और निर्मलता) प्राप्त होता है तथा उस प्रसादसे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६३-६४)

सुखकी जड़

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

प्राणीमात्र सुख ढूँढ़ते हैं, सुखके लिये ही श्रम करते हैं, परंतु किसी भाग्यशाली पुरुषको छोड़कर, जिसको भी पूछिये, वह अपनेको दुःखमें डूबा हुआ मानता है। राजा हो या रङ्क, धनी हो या गरीब, पण्डित हो या मूर्ख, पुत्रवान् हो या बाँझ, पशु-पक्षी, देव-दानव सभी दुखी हैं। इसका कारण क्या है? यह विषय नितान्त विचारणीय है।

सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला है चित्त। शरीर सुख-दुःखका अनुभव नहीं कर सकता। शरीर अनुभव कर सकता होता तो मुर्दा भी अनुभव करता, क्योंकि शरीर तो वहाँ भी है ही। सुख-दुःखका अनुभव आत्मा भी नहीं करता; आत्माको अनुभव करनेवाला माना जाय तो वह विकारी सिद्ध होता है और विकारी विनाशी होता है तथा जो विनाशी होता है वह जड होता है। पर आत्मा तो चेतनस्वरूप, निर्विकार और अविनाशी है। अतः आत्माकी चेतनाके आश्रयमें सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला चित्त या अन्तःकरण ही है। चित्त जब किसीको अनुकूल देखता है, तब उससे सुख मानता है और जब प्रतिकूल देखता है, तब उससे दुःख मानता है। मनुष्यकी चित्तवृत्ति जब जिसको—अनुकूलताको या प्रतिकूलताको ग्रहण करती है, तब उसीसे वह सुख या दुःखका अनुभव करता है।

मनुष्यकी चित्तवृत्ति जब अपने कल्पित सुखके साधनपर—जो उसे अप्राप्त है, जाती है, तब दूसरे हजारों-लाखों कल्पित सुखके साधन मौजूद रहनेपर भी वह सुखका अनुभव नहीं कर सकता, वह दुःखका ही अनुभव करता है। किसीके घरमें अनेकों सुन्दरी स्त्रियाँ हों, पर जब उस विषयासक्त मनुष्यका मन किसी अन्य स्त्रीपर आसक्त हो जाता है, तब घरमें मौजूद वे अनेकों स्त्रियाँ उसे सुखरूप नहीं दीखतीं। उसे सुख देनेवाले दूसरे अनेकों वैभव होनेपर भी उसे उस स्त्रीकी अप्राप्तिका दुःख क्षणभरके लिये भी चैन नहीं लेने देता। सन्तानहीन पुरुषके जीवनमें अनेकों प्रकारके सुख होनेपर भी उसका

चित्त सन्तानकी अप्राप्तिके दुःखको ही देखता है और उसीका अनुभव करता है ।

जैसे गीध और कौवेको घाववाली चमड़ी ही चोंच मारनेके लिये अच्छी लगती है, वैसे ही साधारण मनुष्य अप्राप्त वस्तुको ही मनमें लाकर दुःखका अनुभव करता रहता है। इसी प्रकार समस्त जगत्में चल रहा है । कोई भी प्राणी इच्छित वस्तुसे पूर्ण नहीं है । ज्ञानीके अतिरिक्त कोई भी ऐसा नहीं है कि जिसको सब वस्तुएँ सुप्राप्त हों और जिसके लिये अब कुछ भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु नहीं रह गयी हो । जैसे आकाशका अन्त नहीं है, वैसे ही मनकी कामनाका अन्त नहीं है । उसे दस मिले तो सौकी कामना उठती है । मनमें पदार्थकी इच्छा होना क्षणभरका काम है, पर उसके प्राप्त होनेमें कदाचित् बहुत समय लगता है । मन इच्छा करता जाय और पदार्थ मिलते जायँ, ऐसा कभी होता ही नहीं ।

कहा जाता है कि सिद्ध पुरुषोंको ऐसा होता है । जैसे थैलीमें घरसे सौ रुपये लेकर जानेवाला तथा उनसे वस्तुओंको खरीदनेवाला मनुष्य जबतक सौ रुपये रहते हैं तभीतक धनवान् रहता है । सौ रुपये समाप्त हो जानेपर तो उसे वस्तु खरीदनेका मोह छोड़ना ही पड़ेगा । वैसे ही सिद्ध, योगी, देवता या तपस्वी पुरुष भी तभीतक संकल्प करके वस्तुएँ प्राप्त कर सकते हैं, जबतक कि उनके पास तपका पुण्य शेष रहता है । ऐसा समझना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुके प्राप्त करनेका संकल्प उनके तप और पुण्यका नाश करता ही है । इस जगत्में खर्च किये बिना कुछ भी नहीं मिलता, हरेकको पदार्थ खरीदना ही पड़ता है । जगत्में मुफ्त कुछ भी नहीं मिलता । प्रकृतिका नियम है कि पहले या पीछे, जो कुछ हम लेंगे, उसका मूल्य हमें चुकाना ही पड़ेगा ।

इस विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि मन ज्यों-ही वस्तुओंकी इच्छा करता जाय त्यों-ही वे मिलती रहें, ऐसा नहीं हो सकता । वस्तुओंके उत्पन्न होनेमें काल और श्रम—दोनोंकी आवश्यकता है । एक छोटी-से-छोटी वस्तुके प्राप्त करनेमें जितना श्रम और समय लगता है, उतनेमें तो मन अनेकों बड़े-बड़े मनोरथ कर लेता है । अतएव मनके मनोरथ और वस्तुकी प्राप्तिमें कभी भी मेल नहीं बैठ सकता । इसलिये जब कभी भी हो, आखिर मनको अपने संकल्प बंद करने ही पड़ेंगे । 'जितना चाहिये था उतना मिल गया और अब कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है, इसलिये अब मैं सङ्कल्प या इच्छा नहीं करूँगा ।' इस प्रकार मन कभी नहीं कहेगा ।

जगत्में ऐसा एक भी पुरुष नहीं है, जो सब वस्तुओंसे सम्पन्न हो और एक भी पुरुष ऐसा नहीं है जिसके पास सुखका साधन कुछ भी हो ही नहीं ।

जिसको सुखकी इच्छा हो, जिसको दुःखकी दरियामेंसे निकलकर आनन्दका अनुभव करना हो, उसे चाहिये कि वह अपनेको जो साधन प्राप्त है, मनसे उसीका अनुभव करे, जो वस्तु अप्राप्त है उसका चिन्तन ही न करे ।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह दुःखको देखता है और दुःखका अनुभव करता है । सुखकी कुंजी तो यह है कि सुखके प्राप्त साधनका चिन्तन करे और सुखका अनुभव करे । कोई अंधा मनुष्य है, उसको दूसरे सारे सुख हैं पर आँखें नहीं हैं । कोई उससे पूछे कि 'कैसे हो ?' तो सुखकी इच्छा करनेवालेको कहना चाहिये कि—'आनन्द है । ईश्वरकी दया है ।' आँखोंके अतिरिक्त दूसरे सुखोंको मनमें याद करके आनन्दमें रहना चाहिये । आँख न होनेके दुःखको सामने रखकर रोना रोनेसे कोई आँखें दे नहीं देगा, क्लेश ही होगा । सार यह है कि मनुष्यको जो वस्तु न हो उसके दुःखका अनुभव नहीं करना चाहिये । पर जो वस्तु हो, उसके सुखका अनुभव करना चाहिये ।

जैसे अंधेके लिये आँखका, वैसे ही तमाम चीजोंका। यह सुखकी जड़ है और इसीका नाम सन्तोष है। 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः।' (गीता ४ । २२)

सन्तोषका अर्थ आलस्य नहीं है, निरुद्यम नहीं है, दरिद्रता नहीं है। सन्तोषका अर्थ है सुप्राप्त वस्तुमें सुखका अनुभव। सन्तोषका अर्थ है—अप्राप्त वस्तुके दुःखका अनुभव न होना।

शास्त्रमें कहा गया है—सन्तोषसे अपरिमित सुख मिलता है—'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः'(योगद० २।४२) सन्तोषी मनुष्यकी वृत्ति सदा सुप्राप्त वस्तुपर ही जाती है और वह उसके सुखका अनुभव करता है। जैसे दुराचारिणी स्त्री घरमें रहती, हँसती, फिरती, घरके सारे काम करती हुई भी अनुभव किये हुए जारका चिन्तन करती है और उस जार-सुखका ही अनुभव करती है। वैसे ही सन्तोषी पुरुष चाहे जैसी स्थिति या प्रसङ्गमें भी सुप्राप्त वस्तुके सुखका ही अनुभव करता है। सन्तोषीकी बुद्धि जहाँ-तहाँ सुख और गुण देखती है। असन्तोषीकी बुद्धि जहाँ-तहाँ दुःख और दोषका अनुभव करती है।

अतएव सन्तोषी सदा सुखका अनुभव करता है और असन्तोषी सदा दुःखका। सन्तोषी सदा प्रसन्न और प्रयत्नशील रहता है और असन्तोषी सदा खिन्न-चित्त, आलसी और विषादवश। सन्तोषीकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है, असन्तोषीकी सदा डावाँडोल। सन्तोषी विपत्ति आनेपर घबराता नहीं, मार्गकी खोज करता है, कार्य करता है और असन्तोषी वैसी स्थितिमें विषाद करता है, घबराता है, मार्ग भूलता है, उल्टे मार्गपर चलता है, ठोकरें खाता है और दुःख भोगता है। सन्तोषी ही सदा प्रसन्नचित्त रह सकता है और प्रसन्नचित्तवाला पुरुष ही दुःखके पार जा सकता है।

'सुप्राप्त वस्तुसे चित्तकी प्रसन्नता' का नाम ही सन्तोष है।

प्राणीमात्रको दो चिन्ताएँ हैं—जीवित रहते सुख हो और मरनेके बाद सुख हो यानी मुक्ति हो। प्राणीमात्र इतना ही चाहते हैं कि जीते हुए और मरनेपर कभी हमें दुःख न हो। जीवनकालमें सुख होनेके लिये पदार्थ-सन्तोष ही सुखकी सच्ची जड़ है। प्राप्त वस्तु या स्थितिमें सुख-शान्तिका अनुभव करना ही सच्चा सुख है।

शरीर छूटनेके बाद क्या होगा, इसकी चिन्ता ज्ञानीको नहीं होती। ज्ञानीका अर्थ है—स्व-स्वरूपको जाननेवाला। 'मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हूँ', यों जाननेवाला अपने सुखके लिये दूसरे किस पदार्थकी कैसे इच्छा करेगा?

जगत्के किसी भी पदार्थ या क्रियाकी गति बुद्धितक है। आत्मापर तो इनमेंसे किसीका असर हो नहीं सकता। जैसे दीपकको दूसरे दीपककी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह स्वयं प्रकाश करता है। वैसे ही आत्माको—जो सुख और आनन्दका धाम है, दूसरे किसीकी आवश्यकता नहीं है। पहले 'पदार्थ-सन्तोष'की बात कही गयी थी। 'मैं चेतन-स्वरूप हूँ' ऐसी भावनासे अखण्ड 'चेतन-सन्तोष' होता है। 'पदार्थ-सन्तोष' पदार्थोंके विकारी और विनाशी होनेके कारण पराधीन है और 'चेतन-सन्तोष' नित्य सुप्राप्त होनेके कारण सदा स्थिर है।

मुमुक्षुको इन दोनोंका सेवन करना चाहिये। बार-बार दोनोंकी भावना करनी चाहिये। 'मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हूँ' बार-बार ऐसी भावना किये बिना, और शरीरके प्रारब्धवश जो कुछ भी मिलता है, उसीमें सुखवृत्ति किये बिना लाख उपायोंसे भी सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सुखकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि वह सदा स्व-स्वरूपका—सच्चिदानन्दरूपका भान करे और उसकी वृत्ति सुप्राप्त पदार्थमें

सुख माने—ऐसा अभ्यास करे । इन दोका सम्पादन किये बिना लाख उपाय करनेपर भी भय, चिन्ता और दुःखोंका नाश नहीं होगा ।

इन दोका ज्यों-ज्यों सम्पादन होगा, त्यों-ही-त्यों प्राणीमात्रमें सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा विराजमान हैं, यह भान होने लगेगा । अपने शरीरमें जो 'हम' है 'वह' जैसे देहरूप नहीं है, वैसे ही दूसरेके शरीरमें जो वह है, सो भी देहरूप नहीं है । वह सच्चिदानन्दरूप ही है । यह भावना ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी, त्यों-ही-त्यों सुख-शान्ति और आनन्द भी बढ़ते जायँगे । अपने स्वरूपको सच्चिदानन्दरूप जाननेवालेके लिये दूसरा कदम प्राणीमात्रके वास्तविक स्वरूपको सच्चिदानन्दस्वरूप जानना है । यों जानते ही द्वेष, दोष, ईर्षा, निन्दा, द्रोह, मोह और तिरस्कार आदि सम्पूर्ण विकार शान्त हो जाते हैं और चित्तवृत्ति भी शान्त हो जाती है ।

आत्मा मैं हूँ और आत्मा असङ्ग तथा अविकारी है—यह भाव जबतक दृढ़ नहीं होता, तबतक प्रत्येक क्रिया और प्राणीके प्रति रागद्वेष दूर नहीं होते । आत्मज्ञान ही रागद्वेष, सुख-दुःख और हर्ष-शोकको मिटानेके लिये रामबाण उपाय है ।

दान, पुण्य, जप, तप, परमार्थ, परोपकार, प्राणीसेवा—ये सभी अपने सुखके लिये हैं । इस जगत्में प्राणीमात्रकी प्रवृत्ति अपने सुखके लिये ही है । स्वयं कष्ट उठाकर दूसरेको सुख पहुँचानेकी प्रवृत्ति भी—(अपेक्षाकृत बहुत उत्तम होनेपर भी—) अपने सुखके लिये है । दूसरेके लिये वह दुःख क्यों उठाता है, इसीलिये कि वह दूसरेके दुःखसे दुखी है । उसके दुःखको मिटाकर स्वयं सुखका अनुभव करनेके लिये ही वह दुःख उठाता है । कोई भी अपने लिये सुखप्राप्तिकी इच्छाके अतिरिक्त प्रवृत्ति नहीं करता । यह सुख कैसे प्राप्त हो, इसके जाननेमें भेद होनेके कारण सुखके लिये प्रयत्न करनेपर भी दुःख नहीं टलता, सुखका अनुभव नहीं होता । जहाँतक दूसरेसे सुख प्राप्त करनेकी वृत्ति नहीं मिटती, जहाँतक स्व-स्वरूपका— सुखके धामरूप सच्चिदानन्दस्वरूपका भान नहीं होता, वहाँतक लाखों उपायोंसे भी दुःख नहीं टल सकता; सुख नहीं हो सकता । दूसरेसे या वस्तुके मिलनेपर जिस सुखका अनुभव होता है, वह सुख पराधीन और अन्तराययुक्त है । और सुखके अन्तरायकालमें दुःखका ही अनुभव होता है, जो वस्तु नित्य अपने अधीन है, दूसरेके अधीन नहीं है, कभी हमसे अलग नहीं होती, ऐसी जो कोई भी वस्तु हो और वह सदा सुख देनेवाली हो, तभी उससे अखण्ड नित्य सुख होता है । इसके अतिरिक्त अखण्ड नित्य सुखको प्राप्त करनेका दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है ।

ऐसी जो कोई वस्तु है, वह हम अपने-आप ही है । अपनेसे जितनी भिन्न वस्तुएँ हैं, वे सभी देश, काल और वस्तुके अन्तरायवाली हैं, परवश हैं । ऐसी वस्तुओंसे अखण्ड और अविच्छिन्न सुखकी इच्छा रखना कभी नहीं बनता ।

स्व-स्वरूपको यथावत् समझनेवाला पुरुष अपने सुखके लिये किसी अन्य वस्तुकी इच्छा नहीं कर सकता । सूर्यनारायण अपने प्रकाशके लिये दीपककी इच्छा नहीं कर सकते । आत्मासे ही इस जड जगत्के पदार्थोंका अस्तित्व है । चेतन स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द आत्मा अपने सुखके लिये जड वस्तुकी इच्छा कभी नहीं कर सकता । आत्मा सदा स्वयं सुखस्वरूप है, दुःख कल्पित है । सुख स्वतः है, दुःखके लिये यत्न करना पड़ता है । आत्मा जबतक स्वयं शरीररूप, इन्द्रियरूप, चित्तरूप नहीं होता, तबतक दुःखका अनुभव कभी नहीं हो सकता । वह देह, इन्द्रिय और चित्तरूप होता है—सुखका अनुभव करनेके लिये,

परंतु वैसा होनेसे उसे स्वयं दुःखका अनुभव होता है। जबतक हमारा यह देह, इन्द्रिय और चित्तभाव नहीं मिट जाता, तबतक लाख बातोंसे भी सुख या आनन्दका अनुभव हो नहीं सकता। अतएव आत्मस्वरूपमें सन्तोष मानना चाहिये। आत्मस्वरूपका—स्व-स्वरूपका भान होना ही सुख और आनन्द है।

जड पदार्थमें सन्तोष होना सांसारिक सुखका कारण है और चेतनस्वरूपमें सन्तोष होना अलौकिक सुखका कारण है।

चित्तमें कोई स्फुरणा हो तो उससे पूछना चाहिये कि 'इसका फल क्या है?' जैसे कपटहृदया नारीके वशमें होकर मूढ मनुष्य उसके पीछे भटककर अपायमें फँस जाता है, वैसे ही हमलोग चित्तके वशमें होकर अपायमें पड़ गये हैं। चित्त जो कुछ भी प्रवृत्ति करे, हमारी आज्ञा लेकर करे—ऐसा अभ्यास हो जाय और उससे चित्त हमारे वशमें रहने लगे, तभी सुख होगा।

(१) सुखकी इच्छावालेको चाहिये कि वह सुप्राप्त वस्तुमें ही चित्तवृत्तिको रखकर सुखका अनुभव करे और अप्राप्त वस्तुके दुःखका अनुभव करे ही नहीं।

(२) 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप नित्यमुक्त अजर-अमर अविनाशी हूँ'—बार-बार ऐसी भावना करनी चाहिये और मरण, दुःख तथा बन्धनके भयको हटाना चाहिये।

(३) चित्तकी समस्त वृत्तियोंको अपने हाथमें ले लेना चाहिये। कोई भी विचार या क्रिया चित्त हमारी सम्मतिके बिना करे ही नहीं—ऐसा अभ्यास डालना चाहिये। व्यवहार और परमार्थ सिद्ध करनेके लिये यह सुन्दर कुंजी है। चित्त एक ऐसा उत्तम सेवक है कि वह यदि बतलाये हुए काममें आज्ञानुसार लगा रहे तो फिर विचारे हुए सारे काम सिद्ध हो जायँ।

ये तीन अभ्यास सुखकी सच्ची जड़ें हैं।

* * *

सत्यकी खोजमें

(लेखक—डा० श्रीकुलरञ्जन मुखर्जी)

परोपकार

अपने लिये सबसे बड़ा उपकार दूसरोंकी भलाईमें ही है। मनुष्य बाहरसे जो कुछ पाता है, उसमेंसे उसके पास कुछ भी नहीं रह जाता। वह भीतरसे जो कुछ पाता है, केवल वही स्थिर रहता है। वह जो कुछ भी बाह्यरूपमें देता है, अन्तरमें सहस्रगुण होकर वही उसको प्राप्त होता है।

मनुष्य जब दूसरोंके लिये त्याग करता है, दूसरोंके लिये मेहनत करता है, उस समय वह अपना ही विस्तार करता है। जो स्वयंका जितना विस्तार करता है, वह उतना ही महान् है।

मनुष्य जब दूसरोंके लिये अपने-आपको भुला देता है, उसी महाक्षणमें उसके अन्तरसे युग-युगान्तरके सञ्चित पाप और मलिनता भस्मीभूत हो जाते हैं।

दूसरोंके हितके लिये अपनेको जितना ही अधिक दुःख और कष्टमें डाला जाय, अन्तरका उतना ही अधिक विकास होता है।

पूजामें जितना कष्ट है, उतना ही आनन्द।

भगवान् कहीं बादलकी आड़में छिपे नहीं बैठे हैं। वे यहीं जीवरूपमें ही उपस्थित हैं। जब स्वयंका विस्तार किया जाता है, सभीके भीतर अपनेको ही देखा जाता है, तभी मानवको विश्वरूपके दर्शन होते हैं।

धर्म

जिसे धारण करके मनुष्य बचता है, वही धर्म है।

बाल्यकालमें बालक खेलपर अवलम्बित रहता है। उस समय खेल ही उसका धर्म है।

कुछ बड़ा होनेपर, विषयासक्तिको ही मनुष्य जीवनका धर्म मान लेता है; किंतु ऐसे पुरुष भी हैं कि ईश्वर-प्राप्तिकी चेष्टा ही उनके जीवनकी प्रधान साधना है। वही उनका धर्म है।

धर्म एक नहीं है—जितने ही मनुष्य हैं उतने ही उनके धर्म भी हैं। पर जिसकी सर्वश्रेष्ठ साधना केवल ईश्वर है, उसीका धर्म सबसे बढ़कर और कल्याणकारक है।

क्रोध

जिसपर क्रोध किया जाता है, उसकी अपेक्षा क्रोध करनेवालेकी कम हानि नहीं होती——शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक—यानी सभी ओरसे क्रोध प्रकट तो होता है बड़ी तेजीके साथ, पर है वह दुर्बलताका भी लक्षण। अपने मनपर संयमका अभाव ही क्रोधका प्रधान चिह्न है।

जो संयमी हैं, उन्हें क्रोध नहीं आता; परंतु अन्यायके प्रति वे बड़े कठोर होते हैं।

क्रोधसे कोई सुधार नहीं होता। आक्रमण किसीको सुधार नहीं सकता, वह चोट पहुँचाता है।

प्रेमके द्वारा ही मनुष्यके मनपर विजय प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ इस प्रकार मन नहीं जीता जा सके, वहाँ समझना होगा कि हमारे प्रेममें कमी है—उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह विरुद्ध शक्तिपर विजय-लाभ कर सके।

आलस्य

जो बुरा है, वह समय पाकर सुधर सकता है; किंतु जडमें चेतनाका सञ्चार होना अत्यन्त कठिन है। आलस्य धीरे-धीरे जडकी ओर खींचता है।

चुपचाप बैठे रहनेकी अपेक्षा कुछ भी करते रहना अधिक अच्छा है। ताश खेलनेवालोंकी तुलनामें फुटबाल खेलनेवाले बहुत अच्छा कार्य करते हैं; क्योंकि उसमें शारीरिक श्रम तो होता है।

ध्यान-धारणा बड़े ही अच्छे गुण हैं; परंतु उनके साथ यदि उद्दीप्तिकारक कर्म न रहे, तो बहुधा अनजाने आलस्य घुस आता है।

चञ्चल मनके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त किया जा सकता है, किंतु दुर्बल मनसे कभी भी ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'

उपदेश और अनुष्ठान

जो दूसरोंको सुधारना चाहता है, उसके लिये उचित है कि वह पहले अपनेको सुधारे। दूसरोंको सुधारनेका सर्वश्रेष्ठ साधन अपने-आपको सुधारना है।

कितने दिनों पूर्व श्रीकृष्णने एक प्रकाश जलाया था। आज भी उसीके प्रकाशसे कोटि-कोटि नर-नारी अपना मार्ग खोज पाते हैं।

सदा उपदेश ग्रहण करते रहना चाहिये। मनको सदा ग्रहणकारी बनाये रखना चाहिये। जो उपदेश ग्रहण नहीं कर सकते, उनके लिये यह समझना होगा कि उनकी उन्नतिका मार्ग अवरुद्ध हो गया।

मनुष्य-जीवनकी उन्नति निर्भर करती है उसकी आहरण-शक्तिपर। मनुष्य बहुत ऊपर उठ सकता है, यदि अपने ही जीवनमें केवल कुछ उपदेश ग्रहण करके वह उनका अनुष्ठान करे। यानी उसी प्रकारका जीवन बनावे। यह अनुष्ठान ही धर्मका प्राण है। सैकड़ों धर्म-ग्रन्थोंके पढ़ने या दिन-रात धर्म-चर्चा करनेसे विशेष लाभ नहीं, यदि इनके साथ अनुष्ठान न हो। बड़े-बड़े उपदेशोंके पोषण करनेकी अपेक्षा, एक छोटे उपदेशके पालन करनेका मूल्य बहुत अधिक है।

सुख और दुःख

इन्द्रियोंके साथ प्रिय वस्तुओंके संयोगका नाम 'सुख'

और अप्रिय वस्तुओंके साथ इन्द्रियोंके योगका नाम 'दुःख' है। सुख-दुःख दोनों ही मनके धर्म हैं। जितने दिन सुखकी वासना रहेगी, उतने दिन दुःख भी रहेगा। सुखकी वासनाका त्याग करना ही दुःखपर विजय पानेका प्रधान उपाय है। जब सुखके पानेसे मन प्रसन्न नहीं होगा, तब दुःख पानेसे भी मन टूट नहीं जायगा।

परंतु सुख-दुःखपर विजय प्राप्त करना है बड़ा ही कठिन कार्य। सुख-दुःखकी अनुभूति मनुष्यके जीवनमें स्वभावसे ही है। मन जब सर्वदा उच्चस्तरपर रहता है, तब निम्न-स्तरके सुख-दुःखको अतिक्रमण कर सकता है। जो सुख-दुःखको पदाक्रान्त कर सकता है, वह स्वर्ग-नरक दोनोंको ही पीछे छोड़ जाता है।

मनुष्य जब सुख-दुःखको पदाक्रान्त कर जाता है, तभी वह ज्ञानप्राप्तिका यथार्थ अधिकारी होता है।

पाप और पुण्य

केवल आनन्दकी अनुभूतिका नाम ही 'पुण्य' है और दुर्बलता, भय तथा अशान्तिकी अनुभूतिका नाम 'पाप' है।

भले काममें आनन्द होता है, इसीलिये वह पुण्य है। और बुरे काममें भय होता है, अशान्ति होती है, दुर्बलताका प्रादुर्भाव होता है, इसी कारण यह पाप है।

पुण्यकार्यमें आनन्द होता है, इसका अर्थ यह है कि उसमें हम आनन्दस्वरूप भगवान्का स्पर्श प्राप्त करते हैं। इस आनन्दको कहींसे जबर्दस्ती नहीं लाना पड़ता। यह आनन्द स्वतः ही भीतरसे प्रवाहित होकर चाँदनीकी तरह चारों ओर छिटक जाता है। जिस कार्यमें यथार्थ आनन्द नहीं मिलता, परलोकमें उसके बदलेमें जिससे फल-प्राप्तिकी आशा की जाती है, वह पुण्य नहीं है, केवल पुण्यलाभकी छलना है।

पापकी अनुभूति (यानी मैं यह पाप करता हूँ, ऐसी जानकारी) भी अपेक्षाकृत एक अच्छी अवस्था है। वह यह प्रमाणित करती है कि मन अभी भी इतना कठोर नहीं हो गया है कि जिसमें पापकी अनुभूति नष्ट हो गयी हो। बुरे काम करते-करते मनमें इतनी जडता आ जाती है कि फिर उसमें पापकी अनुभूति ही नहीं होती। यह अवस्था बड़ी ही कठिन अवस्था है।

बुरेको मनुष्य जब बुरा समझता है, तब वह अवस्था बहुत अच्छी है; किंतु बुरेको जब अच्छा बतलाकर प्रमाणित करना चाहता है, तब उससे बढ़कर भयानक अवस्थाकी कल्पना नहीं की जा सकती।

किंतु कल्याणकामी मनुष्यके लिये पाप जिस प्रकार छोड़ने योग्य है, पुण्य-फल भी उसी प्रकार वर्जनीय है। पुण्यफल भी एक प्रकारका बन्धन है। मनुष्य जब परलोकमें स्वर्गकी आशा रखकर काम करता है, तब वह अपनेको सहस्रों वासनाओंकी शृङ्खलामें जकड़ देता है, किंतु बन्धनको तो खोलना ही होगा। निष्काम कर्म बन्धन खोलता है। पुण्यकार्य करने चाहिये; किंतु उन्हें निष्काम भावसे करनेकी आवश्यकता है।

संयम

मन सदा-सर्वदा भोगकी ओर दौड़कर जाना चाहता है। उसे खींचकर अपने वशमें लानेका नाम 'संयम' है।

संसारमें सभी मनके गुलाम हैं। पर मन जिसका गुलाम है वही यथार्थ मनुष्य है।

आध्यात्मिक जीवनमें उन्नतिके लिये प्रधान कार्य यही करना होगा कि 'मन हमारे अधीन हो, हम मनके अधीन न रहें।'

मनके अंदर दो प्रकारकी भावना है—एक प्रवृत्तिमूलक और दूसरी निवृत्तिमूलक। भोग करते-करते

प्रवृत्ति बढ़ जाती है और संयम करते-करते निवृत्ति बलवान् हो उठती है ।

जिसके जीवनमें कोई संयम नहीं, उसका जीवन बहुत कुछ हवाके झोंकोंसे चलनेवाली नौकाके सदृश है । पर यात्रा तभी सफल होती है, जब नाविक स्वयं पतवार पकड़कर अग्रसर होता है ।

मनुष्यका मन चारों ओर चक्कर काटता रहता है । यही उसकी दुर्बलता है । संयमकी लगाम खींचकर मनको इकट्ठा करना चाहिये । मन जितना ही इकट्ठा होता है, वह उतना ही शक्तिलाभ करता है ।

संयमकी उक्तिको व्रतकी तरह पालन करनेसे मनुष्य महान् होता है; किंतु संयम होना चाहिये स्वेच्छाकृत । संयमकी वाणी जब हृदयके अंदरसे निकलती है, तब तो वह नीति है, पर जब बाहरसे निकलती है, तब वही दासत्व है और जब किसी लोभसे आती है, तब वही कुसंस्कार है !

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर प्रणाम । आपका पत्र यथासमय मिल गया था; परंतु समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ । आपकी शङ्काओंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) ईश्वरकी प्रकृतियाँ अनेक हैं। एक प्रकृति तो वह है, जिसके कारण समस्त जीव मोहित रहते हैं। दूसरी दैवी-प्रकृति है, जिसका आश्रय लेनेपर मनुष्यका उद्धार हो जाता है । तीसरी वह प्रकृति है, जिसको लेकर भगवान् अवतार धारण करते हैं। एक वह प्रकृति है, जिससे भगवान् सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करते हैं । इसी प्रकार ईश्वरकी प्रकृतिके अनेक भेद हैं ।

ईश्वरका स्वरूप सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार सभी प्रकारका है । जिस भक्तकी जिस रूपमें श्रद्धा हो, उसके लिये भगवान्का वही रूप ठीक है ।

ईश्वरका प्रादुर्भाव और तिरोभाव बहुतसे कारणोंसे होता है और अनेक प्रकारसे एवं अनेक रूपोंमें होता है ।

भगवान्ने यह जगत्रूप तमाशा जीवोंको उनका कर्मफल भुगतानेके लिये रचा है, यही निश्चित उद्देश्य शास्त्र बतलाता है ।

भगवान्का यह रचना-कार्य अनादिकालसे चला आता है । 'कबसे हुआ और कबतक चलता रहेगा' यह प्रश्न इस विषयमें नहीं बन सकता । इसे गीतामें अनादि और अनन्त बताया गया है । (देखिये गीता अध्याय १५ श्लोक ३) ।

(२) कोई भी बुरा काम या किसीकी हत्या किसी भी मनुष्यके द्वारा होती है और यदि वह स्वयं जान-बूझकर करता है तो इसमें प्रारब्धकी कोई बात नहीं है । यह करनेवालेका दोष है और उसका दण्ड उस करनेवालेको अवश्य भोगना पड़ेगा । यदि भगवान्के विधानसे किसीके हाथसे किसीकी मृत्यु निश्चित होगी तो उसमें वह न्याययुक्त निमित्त बनेगा, जैसे कि धर्मयुद्धमें योद्धा बनते हैं । किसीको स्वार्थवश अन्यायपूर्वक दुःख देना, किसीकी हत्या करना, कोई बुरा काम करना यह प्रारब्ध या ईश्वरका विधान नहीं है ।

जिसको जो सुख या दुःखका भोग मिलता है,

उसको तो प्रारब्धानुसार ही मिलता है, परंतु अमुक मनुष्यके द्वारा ही वह भोग हो ऐसा निश्चित नहीं है ।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र भी है, परन्तु फल-भोगमें सर्वथा परतन्त्र है । खेत बोना मनुष्यका काम है; परन्तु वर्षा होना न होना, खेतमें अन्न उपजना और न उपजना—यह उसके हाथकी बात नहीं है । अतएव वह भाग्यपर ही निर्भर है । कर्मफल, प्रारब्ध और भाग्य—ये सब बोलचालकी भाषामें पर्यायसे ही हैं।

बुरे काम मनुष्य आसक्ति और स्वार्थवश करता है, अतः वह उसका पाप है । उनका दुःखरूप फल कर्ताको अवश्य भोगना पड़ेगा । अच्छे कर्मोंका अच्छा फल भी अवश्य मिलेगा । लोग दोनों प्रकारके ही कर्म करते आये हैं । अतएव फल भी दोनों प्रकारके ही भोगते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं ।

(३) मनुष्यकी और दूसरे-दूसरे जीवोंकी भी मृत्युका समय निश्चित रहता है; परंतु उसमें एक क्षणका भी हेर-फेर न हो, ऐसी बात नहीं है । कई कारण ऐसे होते हैं जिनके अनुसार हेर-फेर भी हो सकता है ।

वह समय ईश्वरके द्वारा लिख दिया जाता है—यह कथन संसारमें प्रचलित है, परन्तु इसका भाव यही है कि जीवोंके कर्मानुसार उनके जन्म-मृत्यु और भोग आदि निश्चित किये जाते हैं ।

मनुष्य आत्महत्याके द्वारा अपनी आयु घटा सकता है और योगसाधनके द्वारा बढ़ा सकता है, इसी प्रकार दूसरे भी कारण आयु घटाने-बढ़ानेके हो सकते हैं ।

मनुष्यकी मृत्यु जो भूकम्प, बिजली, अग्निकाण्ड, बाढ़ और जहाज डूबनेसे तथा रेल-दुर्घटना आदि दैवी कारणोंसे होती है, उसे तो पूरा-पूरा ईश्वरका विधान समझना चाहिये । इन घटनाओंमें जिसकी मृत्यु बदी होती है वही मरता है, दूसरा नहीं मरता ।

इसके विपरीत जो वेदोंमें आयु-वृद्धिके साधन बताये हैं, वे सर्वथा उचित और न्याययुक्त हैं । उनके अनुसार साधन करनेवाले मनुष्यकी आयु अवश्य बढ़ती है । जो मनुष्य अपने स्वास्थ्यकी परवा नहीं करके कुपथ्य सेवन करते हैं, वे अवश्य भूल करते हैं ।

(४) मृत्युके बाद जीवात्मा अपने कर्मानुसार या तो यहीं दूसरी योनिमें जन्म लेनेके लिये चला जाता है या स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें चला जाता है । जीवोंकी गतिके अनेक भेद शास्त्रोंमें बताये गये हैं, ये सब भेद उनके कर्मानुसार होते हैं । वर्तमान स्थूल शरीरसे जीवात्माके सम्बन्ध-विच्छेदका नाम 'मृत्यु' है ।

स्वर्ग और नरक निश्चित स्थान भी हैं । और नीच योनियोंको भी नरकके नामसे पुकारा जाता है । यमराज नामक देव अवश्य हैं और उनके कर्मचारी आदि भी अवश्य हैं । शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है, उसे सत्य मानना चाहिये । ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो प्रत्यक्ष भी नहीं हैं और हमारी समझमें तथा तर्कमें भी नहीं आतीं; परन्तु उनके तत्त्वको जाननेवालोंके कहनेपर हमको मानना पड़ता है ।

(५) नरक-भोगसे समस्त पापोंका फल नहीं भोगा जाता, जितने पापोंका फल भोगनेके लिये उसे नरक-यातना भुगतायी जाती है उतनोंका ही भोग होता है। बचे हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये पुनः उसे नाना योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है । उन्हींमें ही कभी मनुष्य-शरीर भी मिल जाता है । मनुष्य-शरीरमें यह जीव यदि शास्त्रके विधानके अनुसार चेष्टा करे तो वह सब पापोंसे छूट जाता है । और साधन करनेपर ईश्वरके साक्षात् दर्शन कर सकता है । (गीता अध्याय ११ श्लोक ५४ देखना चाहिये) ।

(६) ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन तो भक्तिसे ही हो सकते हैं । वह भक्ति चाहे 'ईश्वरके गुण-प्रभावके श्रवण-मननसे हो, चाहे कर्मयोगसे और चाहे विचारसे हो;

परन्तु ईश्वरदर्शनका अमोघ उपाय ईश्वरमें अनन्य प्रेम और विश्वासका होना ही है । ईश्वरके रूप अनन्त हैं । अतः उनका कोई एक ही रूप अमुक प्रकारका है, यह नहीं समझना चाहिये । जो भक्त जिस रूपमें उनके दर्शन करना चाहता है, भगवान् उसी रूपमें उसे मिल सकते हैं ।

(७) मृत्युके बाद मनुष्य दूरके देशोंमें, समुद्रपारके देशोंमें भी जन्म ले सकता है । उन देशोंमें जितने भी जीव हैं, वे कभी-न-कभी यहाँ भी जन्मे ही होंगे; क्योंकि सृष्टि-चक्र अनादिकालसे चलता आया है । यह पहले ही लिख चुके हैं कि विभिन्न योनियोंमें जन्म जीवोंके कर्मानुसार होते हैं । मनुष्यके सिवा दूसरी सब योनियोंमें नवीन कर्म नहीं होते, वहाँ केवल पूर्वकृत कर्मोंके फलका ही भोग होता है अतः उन योनियोंमें जो किसी एक जीवके द्वारा दूसरे जीवकी मृत्यु होती है, वह प्रारब्धानुसार ही होती है । उसका पुण्य-पापरूप अदृष्ट नहीं बनता । परन्तु मनुष्य-शरीरमें यह बात नहीं है; क्योंकि उसको कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति मिली हुई है ।

(८) परम पिता परमात्मा ही विष्णु, शिव, कृष्ण, राम आदिके रूपमें समय-समयपर प्रकट होते हैं । अतः सब नाम उन्हींके हैं, यह मानना ठीक है ।

गणेश, कुबेर आदि देवताओंका निश्चित समुदाय है । इनके स्थान आदि भी अवश्य हैं । इनके नौकर, चाकर, सेवक, गण भी होते हैं । ऐसा ही मानना चाहिये । सुख-दुःखके भोग कर्मानुसार देवताओंको भी अवश्य भोगने पड़ते हैं । उनमें भी कोई ऊँचा और कोई नीचा रहता ही है ।

मनुष्यकी बुद्धि बहुत ही छोटी और सीमित होती है । प्रत्यक्ष प्राप्त वस्तुओंका भी वह अपनी बुद्धिसे निर्णय नहीं कर सकता । फिर अदृष्ट विषयोंका निर्णय करना तो उसके लिये दुःसाध्य है ही । अतः शास्त्रोंकी बातोंपर ही उसे विश्वास करना चाहिये; क्योंकि शास्त्रकारोंने जो कुछ लिखा है, जनसाधारणके हितके लिये ही लिखा है ।

(२)

सविनय प्रणाम । आपका विस्तारपूर्वक पत्र मिला । आपने कुटुम्ब एवं अपनी सङ्कटमयी परिस्थिति विस्तारसे लिखी, उसे पढ़ लिया । यह इतना भारी जो कष्ट है, इसमें आपके पूर्वके संस्कार ही प्रधान कारण हैं । इस प्रकार समझकर उनको सहन करना चाहिये ।

अनिच्छासे या परेच्छासे जो भी कुछ दुःख आकर प्राप्त होता है, उसको ईश्वरका विधान समझना चाहिये तथा पद-पदमें ईश्वरकी दयाका दर्शन करना चाहिये । ईश्वर कष्ट देकर पूर्वकालके पापोंका भुगतान करके मनुष्यको शुद्ध बनाते हैं और चेतावनी देते हैं, जिससे मनुष्य भविष्यमें पापोंसे बच जाता है तथा सङ्कटमें ईश्वरकी स्मृति होती है, जिससे परम लाभ होता है ।

× × ×

ईश्वर ही सबकी सहायता तथा सबका दुःख दूर कर सकते हैं । दुःखनिवृत्तिके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये । उनकी दयासे ही सबकी निवृत्ति हो सकती है ।

आपने लिखा कि शिवपञ्चायतन देवताका मन्दिर घरमें है, उसमें शेषनागजीकी मूर्ति खण्डित हो गयी, उसकी पूजा करनी चाहिये या नहीं सो खण्डित मूर्तिकी पूजा नहीं करनी चाहिये । उसे तो गङ्गामें बहा देना चाहिये और नयी मँगवाकर उसकी प्रतिष्ठा करके पूजा करनी चाहिये ।

आपने पूछा कि 'मैं विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम, सप्तश्लोकी दुर्गा, गीता एक अध्याय, शिव-गणेश-विष्णु,

देवी, नवग्रहस्तोत्रोंकी, रुद्री २ । १० अध्याय पूर्ण, नवार्ण, षडक्षर शिवमन्त्र, द्वादशाक्षरी श्रीमन्त्रकी एक-एक माला क्रमशः इन सभी मन्त्रोंकी जपा करता हूँ और सन्ध्या-वन्दन करता हूँ । इसमें क्या फेर-बदल करूँ,' सो इनमेंसे एकको ही इष्टदेव मानकर तथा औरोंको उनका भक्त मानकर या अपने इष्टदेव स्वामीकी आज्ञा मानकर अन्य देवताओंकी पूजा निष्कामभावसे करनी चाहिये । यदि भगवान् विष्णुको इष्टदेव मानें तो उन्हींका ध्यान और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मन्त्रका जप तथा विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका पाठ करना चाहिये । यदि शिवको इष्टदेव मानें तो शिवका ध्यान और 'ॐ नमः शिवाय' इस मन्त्रका जप तथा शिवसहस्रनाम-स्तोत्रका पाठ करना चाहिये । इसी प्रकारसे औरोंके विषयमें भी समझना चाहिये । जिसको इष्टदेव मानें, उसको साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मानना चाहिये तथा औरोंको उनका भक्त मानकर निष्काम-भावसे उपासना करनी चाहिये ।

× × ×

आपने लिखा कि 'भाईको अलगसे पत्र लिखें, जिससे वह कुछ सन्मार्ग पकड़े; क्योंकि हमारे कहनेसे तो वह उल्टा मार्ग ही ग्रहण करता है आदि' सो आपका लिखना ठीक है । उनको मेरी ओरसे कहना चाहिये कि शास्त्रानुकूल निष्कामभावसे धर्मका पालन करनेसे मुक्ति होती है और उसके विपरीत मार्ग ग्रहण करनेसे नरक-की प्राप्ति होती है । उनको मेरी ओरसे समझाना चाहिये। अगर वे मानें तो अच्छा ही है ।

आपने लिखा कि 'मैं ऊब गया, मुझे शान्ति नहीं है, बड़ा दुःख है, भगवान्से प्रार्थना करता हूँ मौतके लिये, किन्तु वह भी नहीं देते।' सो मृत्युकी इच्छासे न तो मृत्यु होती है और न उससे कोई लाभ ही है । अतः मृत्युकी इच्छा नहीं करनी चाहिये । भगवान्की शरण होकर करुणाभावसे भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये । उसीसे शान्ति मिल सकती है ।

आपने लिखा कि 'यदि आप अपने आश्रममें मुझे जगह दें तो वहीं आकर भजनमें समय बिताऊँ ।' सो ठीक है; किन्तु हमारे पास कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं है। स्वर्गाश्रममें जो कई भाई रहते हैं, वे अपने खर्चसे अपना निर्वाह करते हैं । वहाँ रहनेके लिये जगह तो कुछ महीनोंके लिये मिल जाती है, पर खाने-पीनेका प्रबन्ध उन्हें स्वयं ही करना होता है ।

सबकी प्रसन्नताका समाचार देना चाहिये । भजन-ध्यान निरन्तर करते रहना चाहिये ।

(३)

सादर नमस्कार । आपका पत्र मिला । पत्र मिले करीब एक माससे ऊपर हो गया, पर समयाभावके कारण तथा अन्यान्य कई कारणोंसे पत्रोत्तर जल्दी नहीं दिया जा सका, इसके लिये क्षमा करें ।

आपने अपने घरकी परिस्थिति तथा परिचय आदि लिखा, सो सब विदित हुआ । अब आप तीन वर्षोंसे 'कल्याण' पढ़ते हैं, यह आपके प्रेमकी बात है । 'कल्याण' से आपको यह शिक्षा मिली कि अबतक २३ सालका समय व्यर्थ नष्ट कर दिया, अब सत्सङ्ग करना चाहिये और आगे आपने पश्चात्ताप प्रकट करते हुए अब जीवन-को व्यर्थ न जानेकी बात लिखी सो बहुत ही ठीक है। वास्तवमें असली पश्चात्ताप वही है जब कि भविष्यमें समय व्यर्थ न जाय ।

आपने लिखा कि 'सत्सङ्गके लिये मुझे घर छोड़ना पड़े तो सहर्ष स्वीकार है' और घर छोड़कर मेरे पास रहनेकी बात दिखलायी सो यह आपके प्रेमकी बात है। किन्तु इसमें घरवालोंको दुःख हो सकता है । इसपर भी यदि आपका विशेष आग्रह हो तो आप जब मैं लगभग फाल्गुनसे आषाढ़तकके बीचमें सत्सङ्गके निमित्त

गीताभवन ऋषिकेश (हरद्वार के पास) ठहरा करता हूँ, तब आप वहाँ आ सकते हैं । वहाँ सत्सङ्ग, साधन और सेवा तीनोंका ही अवसर मिल सकता है ।

आपने रामायणका यह वचन उद्धृत किया कि 'पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मतिधीर' सो बहुत ठीक है ।

इसका आशय यह है कि जो तीव्र विवेक-वैराग्य-सम्पन्न धीर पुरुष होता है, वही स्त्रीको छोड़ सकता है । वह जानकर स्त्रीको नहीं छोड़ता, वास्तवमें वह घरमें ही रहनेमें असमर्थ हो जाता है । यहाँ ऐसे पुरुषकी ही बात कही गयी है ।

आपने लिखा कि 'सत्सङ्गके अभावमें स्वाध्याय करनेकी कही जा सकती है; किंतु मेरे पास घरमें रहते समय कहाँ' सो ठीक है । समय कम है तो कोई हर्ज नहीं, वास्तवमें यदि काममें लाया जाय तो थोड़े समयके स्वाध्यायसे भी कल्याण हो सकता है । और यदि काममें न आवे तो अधिक समयका स्वाध्याय भी कोई विशेष लाभकर नहीं होता ।

आपने 'वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितम्' श्लोक लिखकर वैराग्य-भाव दर्शाते हुए 'सत्सङ्गरहित' जीवनकी निन्दा की सो ठीक है, यह प्रशंसनीय प्रवृत्ति है । पर यह बहुत ही ऊँचे वैराग्यकी स्थिति है । ऐसी वृत्तिवाला पुरुष धन्यवादके योग्य है ।

आपने मेरे प्रति समर्पणकी बात लिखी सो ऐसा नहीं लिखना चाहिये । भगवान् ही सर्वस्व समर्पणके योग्य हैं, अपनेको उन्हींके चरणोंमें सर्वतोभावेन समर्पित करना चाहिये ।

भजन-ध्यान प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये ।

(४)

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । समाचार मालूम किये । आपने लिखा कि 'मुझसे जो गलतियाँ हुई हों, उन्हें क्षमा कीजियेगा' सो ऐसा आपको नहीं लिखना चाहिये था । न आपसे कोई गलती हुई है, न क्षमाका ही कोई प्रश्न है ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्न प्रकार है—

(१) आत्माका साक्षात्कार हो जानेपर गिर जानेका डर नहीं रहता । आत्माका साक्षात् हो जानेपर, इसी जीवनमें साधन तथा अनुभवका अन्त हो जाता है, फिर भी उसके द्वारा स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये साधन होता है । इसमें साधन करना नहीं पड़ता । इसलिये कुछ जाननेको शेष रहता नहीं ।

(२) 'धर्मशील' और 'धर्मात्मा' में कोई अन्तर नहीं है । यहाँ धर्मात्माको ही धर्मशील कहा है ।

(३) विषयोंमें आसक्ति रखनेवाले पुरुष भी धर्मात्मा हो सकते हैं । धर्मात्माकी अपेक्षा विरक्त बहुत उच्चकोटिका पुरुष है । धर्मात्मा यदि सकाम भावसे धर्मका पालन करे तो स्वर्गको ही प्राप्त हो सकता है, पर विरक्तको सम्पूर्ण मुक्ति मिल जाती है । इसलिये धर्मात्मासे विरक्त ऊँचा है । जो विरक्त है, संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न रहनेके कारण धर्मात्मापन तो उसके अन्तर्गत है ही, किंतु धर्मात्माके अन्तर्गत वैराग्य नहीं है ।

(४) शास्त्रको जाननेवाला तथा 'परोक्षज्ञानी' भी ज्ञानी है; किंतु जीवन्मुक्त उससे बहुत उच्च कोटिका है । वह 'अपरोक्ष-ज्ञानी' है । परोक्ष ज्ञान तो उसके अन्तर्गत ही आ जाता है ।

(५) ब्रह्ममें लीन रहनेवाले जो विज्ञानी जन हैं, उनको अभेद रूपसे निर्गुण तत्त्वकी प्राप्ति होती है । उस विज्ञानीसे भी अनन्य भक्तिका तुलसीदासजीने ऊँचा दर्जा दिया है । इसलिये भक्तिको सर्वश्रेष्ठ माना गया है; किन्तु शङ्कराचार्यजी आदिने विज्ञानीको ही सबसे ऊँच

माना है । इस सम्बन्धमें अलग-अलग मत हैं; किंतु हमारी समझमें विज्ञानी और अनन्य भक्त दोनों ही समान हैं; क्योंकि विज्ञानीको ब्रह्मकी प्राप्ति अभेद-रूपसे है और अनन्य भक्तको सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति यानी भगवान्‌की प्राप्ति भेदरूपसे है । दोनों ही मुक्त हैं । दोनों ही उत्तम हैं ।

सबसे राम-राम ! भगवान्‌के नामका जप एवं उनका ध्यान करते हुए ही हमेशा काम करते रहना चाहिये ।

कारज सरै न भक्ति बिनु

(लेखक—श्री 'दुर्गेश')

प्रभो ! आपके पावन पद-पङ्कजोंमें मेरा अनुराग नहीं—भक्ति नहीं ! आपकी इस सृष्टिके प्रति मेरा भाव मोह तथा द्वेषसे पूर्ण है ! मेरा हृदय अज्ञानान्धकारसे आच्छादित है ! मैं काम, क्रोधके वशीभूत हूँ ! मेरी सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें अनुरक्त हैं ! मुझ-जैसे साधनहीन विषयी प्राणीपर भी आप कितनी कृपा करते हैं । मेरे सच्चे शुभचिन्तक ! आप मुझे भूलते नहीं और मेरे पापोंको धो डालनेके लिये व्याधि-पीड़ाओंको भेजते हैं । जैसे सुनार सोनेको आगमें तपाकर—गलाकर उसे निर्मल करता है, जैसे धोबी पीट-पीटकर कपड़ेको साफ करता है, वैसा ही आपका एक-एक विधान मेरे लिये मङ्गलमय और हित-कर है । मेरे हितैषी ! आप मेरे पापोंको जलाकर मुझे अपने अमल पद-कमलके समीप पहुँचने योग्य बनाना चाहते हैं; क्योंकि निर्मल—पवित्र हुए बिना आपके सुखद पद-पङ्कज मिलते नहीं । उसपर भी जब कभी आप सत्सङ्गका अवसर देते हैं, जो मोह-तिमिरको दूर करनेके लिये ज्योतिपूर्ण प्रदीपके सदृश है ।

मेरे सर्वस्व ! यह मेरा मनरूपी सर्प महान् विषसे पूर्ण, टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलनेवाला है । इसे पाप-शुद्धिके साधनसे छेदकर भक्तिरूपी डोरसे नाथ लीजिये और फिर इसके विषयासक्तिरूपी फणपर खूब थिरक-थिरककर नाचिये । यह काम आपको प्रिय है और आप इसमें अत्यन्त कुशल हैं । इसीसे मैंने आपको इसका स्मरण कराया है—

पतित असंख्य जगतमें तारे बढ़-बढ़कर हे जीवनधन !
मुझे तारने आगे बढ़ अब आये हो अति हर्षित मन ॥
किन्तु अघार्णव है जीवन यह काम-क्रोध छाये तन-मन ।
भक्ति अगस्त्य भेज दो इसको तुरत सुखानेको मोहन ॥
कारज सरै न भक्ति बिनु कीन्हें कोटि उपाय ।
भक्ति हिये प्रकटाइये, कीजै नाथ ! सहाय ॥

तुम मेरी राखो लाज हरी ।
तुम जानत सब अन्तरजामी करनी कछु न करी ॥
औगुन मो तें बिसरत नाहीं पल छिन घरी घरी ।
सब प्रपंचकी पोंट बाँधिकै अपने सीस धरी ॥
दारा-सुत-धन मोह लिये हैं सुधि-बुधि सब बिसरी ।
सूर पतितकौं बेग उधारो, अब मेरी नाव भरी ॥

—सूरदासजी

भक्त-गाथा

भक्त विष्णुमहाराज

भारतके दक्षिण प्रान्तमें एक छोटे-से गाँवमें विष्णुमहाराज नामक एक ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मणके परिवारमें माता, पत्नी और एक कन्या थी। ब्राह्मण बड़े सदाचारी, संयमी, त्यागी और भगवद्भक्त थे। उनकी पतिव्रता पत्नी भी ऐसी ही थी। दोनों स्त्री-पुरुष वृद्धा माताकी सेवा करते। प्रातःकाल उनका चरणोदक लेते और उन्हें सुख पहुँचानेकी सदा चेष्टा करते। बुढ़ियाका रोम-रोम पुत्र और पुत्रवधूको आशीर्वाद देता रहता। घरमें विशेष सम्पत्ति तो नहीं थी, पर ब्राह्मणके पास थोड़ी जमीन थी; खानेभरका अनाज उसमें हो जाता। कुछ आमदनी अध्यापन-कार्यसे हो जाती। सादगी और सन्तोषके साथ घरका काम मजेमें चल रहा था। आजीविकाके कार्यमें विष्णुमहाराज, जहाँतक बनता, कम-से-कम समय लगाते, शेष समय माताकी सेवा, भगवदाराधन और स्वाध्यायमें व्यय होता। समयका बड़ा ध्यान रखते। एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते। जिस समय घरका आजीविकाका कार्य करते, उस समय भी उनका मन भगवान्‌के स्मरणमें लगा रहता। भगवत्-स्मरण प्रधान, और सारे काम गौण। उनका भगवत्कृपासे ऐसा अभ्यास हो गया था कि किसी भी कार्यके करते समय उनके भगवच्चिन्तनमें जरा भी भूल नहीं होती।

निष्काम भाव तो था ही, वे भगवान्‌से यही प्रार्थना करते कि 'प्रभो! मन बड़ा दुष्ट है और इसमें पता नहीं, अनन्त जन्मोंके अनन्त संस्कारोंकी राशि संगृहीत है, कभी किसी संस्कारवश यह आपको, आपके प्रेमको, आपकी कृपाको भूलकर किसी लौकिक-पारलौकिक वस्तुकी कामनाको अपनेमें स्थान न दे दे।'

वास्तवमें यही बात है—जबतक मनुष्य भोगोंकी कामना मनमें रखता है, तबतक उसको श्रीभगवान्‌की सत्ता, महत्ता, भगवत्तामें पूरा विश्वास ही कहाँ है? भगवान्‌को वह सबसे श्रेष्ठ वस्तु मानता ही कहाँ है? उसका मन तो किसी अन्य वस्तुके लिये ललचाता है और भगवान्‌को वह उस वस्तुकी प्राप्तिका साधन बनाता है। भगवान् उसको वह वस्तु प्रदान करा दें तो ठीक है, फिर किसी दूसरी वस्तुके लिये वह भगवान्‌को आदेश दे देगा—(चाहे उसका नाम प्रार्थना ही हो, होता है वह आदेश) प्रार्थना सुनी गयी, आदेशके अनुसार काम भगवान्‌ने कर दिया तो भगवान्‌को बार-बार काम बतलाया जाता रहेगा; न किया, तो भगवान्‌पर कोई श्रद्धा नहीं रहेगी, उनकी भक्तिके प्रति अनास्था होने लगेगी। जब वे हमारी सुनते ही नहीं, तब उनसे हमारा क्या मतलब। वे हमारे लिये हमारे मनके अनुसार, हम जब, जो कुछ, जिस प्रकार चाहें—भले और बुद्धिमान् चतुर सेवककी भाँति वह वस्तु जुटाते रहें—स्थिति निर्माण करते रहें, तबतक हम उनकी भक्ति करते रहेंगे; दूसरे शब्दोंमें, उनसे सेवा लेते रहेंगे। जब वे इस योग्य नहीं रहेंगे, तब सम्बन्ध ढीला हो जायगा। सकामी पुरुषकी यही स्थिति प्रायः हुआ करती है। विष्णुमहाराज थे पूर्ण निष्कामी। वे भगवान्‌से कभी कुछ चाहते ही नहीं थे। विपरीत-से-विपरीत स्थिति भी उन्हें भगवान्‌पर अनास्था उत्पन्न करनेकी प्रेरणा नहीं कर सकती थी। भक्तिसे और भोगसे वस्तुतः सम्बन्ध ही क्या है—भोग प्रारब्धानुसार मिलते रहेंगे। भक्ति तो हृदयका भाव है, जो बिना किसी अन्य अभिलाषाके अपने भगवान्‌के प्रति हुआ करता है और हुआ करता है—एक विलक्षण पवित्रताको लिये हुए। इसमें किसी प्रकारकी अन्य भावनाका सम्मिश्रण नहीं

होता। भोगकी तो बात ही क्या, मोक्षका भी शुद्ध भक्तिके साथ कोई सरोकार नहीं है। मोक्षका भाव बीचमें आ गया तो पवित्र विशुद्ध भक्तिमें एक बाधा आ गयी। वह तो सदा अनन्य, अव्यभिचारिणी, एकान्त और अन्य-भाव-संस्पर्शशून्य चित्तका एक निर्मलतम प्रवाह होता है, जो निरन्तर भगवान्‌की ओर अविच्छिन्न और अनवरत गतिसे बहता रहता है। इसीसे कहा गया है कि---

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

अर्थात् 'जबतक भोग और मोक्षकी पिशाची स्पृहा हृदयमें है, तबतक उस हृदयमें भक्ति-सुखका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है?' अस्तु,

विष्णुमहाराजके मनमें न भोगकी कामना थी, न मोक्षकी। उनके हृदयमें सतत भक्तिका प्रवाह बहता था। इसीसे उनका जीवन पवित्रतम हो गया था। कन्याका विवाह एक सुयोग्यतम ब्राह्मणबालकके साथ कर दिया गया। माताजीका भगवान्‌का स्मरण करते-करते और पुत्र-पुत्रवधूकी सेवासे आप्यायित होते हुए देहान्त हो गया। अब रहे विष्णु और उनकी पत्नी मनोरमा।

इन दोनोंके लिये अब एक ही काम था—भगवान्‌का भजन, कीर्तन, लीलास्मरण, तत्त्वचिन्तन और रहस्यबोध। एक समय सादा भोजन करना, रातको चार घंटे सोना,---शेष समस्त समय भगवदाराधनमें बीतता था। दोनोंकी विलक्षण स्थिति हो गयी। लोक-सम्पर्क सर्वदा छूट गया। अब तो भोजनाच्छादनके लिये भी कोई काम नहीं होता। भगवान्‌की इच्छासे स्वयमेव ही उसकी व्यवस्था हो जाती। इस प्रकार कुछ समय बीतनेपर दोनों स्त्री-पुरुष कावेरीके तटपर चले गये और वहाँ लगभग बीस वर्ष रहे। वहीं दोनोंने एक दिन एक ही समय शरीरका परित्याग किया। कहते हैं उनके जीवन-कालमें ही उन्हें भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणने दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया था।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

प्रभुसे

तुम ही मेरी हो धन-दौलत तब मैं निर्धन क्यों होऊँगा।
तुम हो मेरे सहृदय साजन तब मैं निर्जन क्यों होऊँगा॥
तुम हो मेरे जब पूर्ण स्वास्थ्य तब मैं रोगी क्यों होऊँगा।
तुम हो मेरे भर्तार आप तब मैं भोगी क्यों होऊँगा॥
तुम हो मेरी निश्चित आशा तब मैं निराश क्यों होऊँगा।
तुम हो मेरी जब ऋद्धि-सिद्धि तब मैं हताश क्यों होऊँगा॥
तुम हो मेरे जब निर्भय पद तब मैं भयवश क्यों होऊँगा।
तुम हो मेरे स्नेही स्वामी तब मैं परवश क्यों होऊँगा॥
तुम हो मेरे जब मनके मन तब मैं बे-मन क्यों होऊँगा।
तुम हो मेरे आनन्द नित्य तब मैं अनमन क्यों होऊँगा॥
तुम हो मेरे जब नाथ साथ तब मैं अनाथ क्यों होऊँगा।
तुम हो मेरे जब सबल हाथ तब मैं निहाथ क्यों होऊँगा॥
तुम हो मेरे शुभ शुचि सद्गुण तब मैं दुर्गुण क्यों होऊँगा।
तुम हो मेरे निर्गुण आत्मा तब मैं सहगुण क्यों होऊँगा॥

—अकिञ्चन

कामके पत्र

(१)

दुःख क्यों होते हैं ?

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिल गया था। उत्तर देरसे जा रहा है, क्षमा कीजियेगा। निवेदन यह है कि भक्तिकी प्राप्ति होनेके बाद तो सांसारिक दुःखोंकी इस रूपमें प्रतीति होती ही नहीं, जैसी इस समय हो रही है। भक्तोंको किसी प्रकारके दुःखका स्पर्श ही नहीं होता। दूसरोंकी दृष्टिमें समय-समयपर भक्तोंको भी दुःखभोग होता दिखायी देता है, पर वस्तुतः उनको कोई दुःख होता नहीं। बिल्ली जब अपने बच्चेको दाँतोंसे पकड़कर एक जगहसे दूसरी जगह ले जाती है, तब उस बच्चेको कोई भी दुःख नहीं होता, वरं उसे सुख ही होता है, पर यदि वही बिल्ली चूहेको पकड़ ले तो चूहेके प्राण छटपटाने लगते हैं। इसी प्रकार भक्तपर जो दुःख आया हुआ दीखता है, वह उसके प्रति भगवान्का प्यार-मात्र होता है। भक्तको तो अपने हृदयमें तथा बाहर भी नित्य-निरन्तर दुःखाभासशून्य अथवा सुखस्वरूप भगवान्का ही स्पर्श प्राप्त होता रहता है, वह तो उन्हींमें डूबा हुआ अपनी सारी इन्द्रियोंसे सदा उन्हींको विषय करता रहता है, फिर कोई दुःख उसे कैसे सता सकता है ?

सांसारिक दुःख उन्हींको होते हैं, जो यथार्थ सुख नहीं, किंतु दुःखसे भरी स्थितिको ही सुख समझकर उसकी प्राप्तिके लिये धन, मान, सम्पत्ति, कीर्ति आदिकी अपेक्षा करते हैं और इन्हींकी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं। सुखके नहीं, वरं मिथ्या सुखाभासके पीछे पागल रहनेवालोंकी यही स्थिति होती है। इसमें कभी और कहीं भी सुख नहीं है। दुःख-ही-दुःख है—'दुःखालयम्' 'असुखम्' है सदा यह। जो वास्तविक परम सुख है, वह किसी बाहरी नश्वर और परिवर्तनशील वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता—इसीलिये धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष, विद्वान्-मूर्ख, ऊँच-नीच सभी इसके अधिकारी हैं। आवश्यकता है, बाहरकी ओरसे मुख मोड़कर अन्तर्मुख होनेकी—उस परम सुखकी ओर देखनेकी—अतुल अनन्त सुख-समुद्र भगवान्के सम्मुख होनेकी। जहाँ भगवान्के सम्मुख हुआ कि जीवके सारे पाप-ताप, दुःख-क्लेश कटे। ऐसी अवस्थामें सांसारिक सुखकी इच्छा नहीं रहती—और इस सांसारिक सुखकी इच्छाके न रहनेपर जो सुख होता है, उसकी तुलना सांसारिक मनोभिलषित उच्च-से-उच्च वस्तुप्राप्तिसे होनेवाले सुखके साथ नहीं की जा सकती। उस भक्तिपरिप्लुत निष्काम भावसे उत्पन्न सुखको सूर्य और इस वस्तुजनित सुखको खद्योत कहें, तब भी तुलना ठीक नहीं होती।

जिस सुखमें अभाव है, अल्पता है, और भी कुछ प्राप्त करनेकी आवश्यकता है, वहाँ कामना या स्पृहा रहेगी ही। जहाँ सुखकी स्पृहा है वहीं दुःख है। 'नाल्पे सुखमस्ति'। पर जिसमें अपूर्णता नहीं है, अल्पता नहीं है, और कुछ प्राप्त करनेकी आवश्यकताका बोध भी नहीं है, वहीं पूर्ण सुख है। इसीमें शान्तिका सागर लहराता है। इस परमानन्द-शान्तिसागरमें जो डुबकियाँ लगा रहे हैं, इस पूर्ण सुख-सुधा-समुद्रमें जो अवगाहन कर रहे हैं, उनके लिये किस सुखका कब अभाव होगा और किस दुःख-तापकी कब कैसे अनुभूति होगी ?

अतएव आप यह निश्चय समझिये—जबतक सांसारिक वस्तुओंके अभावसे या अधिक प्राप्त करनेकी इच्छासे दुःख होता है, तबतक भक्ति-भास्करका अभ्युदय हुआ ही नहीं है। जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार नहीं रहता, वैसे ही भक्तिका प्रादुर्भाव होनेपर

विषयान्धकार भी नष्ट हो जाता है। फिर विषयोंकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं होता, उनके चले जाने या नष्ट हो जानेकी आशङ्कासे द्वेष नहीं होता, मिलने न मिलनेकी या चले जानेकी कोई चिन्ता नहीं होगी और गये हुए या नये विषयोंके लिये कोई आकाङ्क्षा नहीं होगी।

जो ऐसा शुभाशुभका (लोकदृष्टिमें जन्म, उत्सव, धनप्राप्ति, मानप्राप्ति आदि शुभ माने जाते हैं और मृत्यु, धननाश, मानकीर्तिका नाश आदि अशुभ माने जाते हैं—इन शुभाशुभसे जिसके मनमें किसी प्रकारका भी हर्ष-विषाद-द्वेष या प्राप्तिका मनोरथ नहीं होता) परित्यागी भक्तिमान् पुरुष है, वह मुझको प्रिय है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
(गीता १२ । १७)

इस विवेचनपर आप फिर विचार कीजिये, फिर खोजिये—दुःखका कारण क्या है और उससे छूटनेका उपाय क्या है। यह निश्चय मानिये—भोगोंकी प्राप्तिमें यदि दुःख है तो भोगोंकी प्राप्ति होनेपर वह दुःख कभी घटेगा या मिटेगा नहीं, जैसे मलसे धोनेपर मल नहीं दूर होता, वैसे ही भोगप्राप्तिजनित सुखसे भोगकी अप्राप्तिजनित दुःख नहीं मिट सकता। कीचड़से कीचड़ धुलता नहीं, वरं और भी बढ़ता है। अतएव यदि दुःखसे यथार्थमें छूटना हो तो भगवान्के आदेशका पालन करके उनका भजन कीजिये—एकमात्र यही उपाय है। भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

'इस अनित्य और सुखरहित लोकको प्राप्त करके, (यदि सुख चाहते हो तो) मुझको भजो।'

(२)

धनका दुरुपयोग

प्रिय महोदय! पत्र मिला। धन्यवाद। जहाँतक मेरा अनुमान है, इस समय अधिकांश धनियोंके धनका सदुपयोग नहीं हो रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि इस समयका धन ही प्रायः 'अधर्मोपार्जित' है। अधर्मसे कमाये हुए धनका यथार्थ धर्मकार्यमें सद्व्यय होना बहुत कठिन है। तथापि यदि सत्परामर्श मिल जाय और उसके अनुसार कार्य हो तो इसमें बहुत कुछ सुधार हो सकता है और धनके दुरुपयोगद्वारा जो एक-से-एक प्रश्रय पाकर पापवृक्षकी शाखाएँ बढ़ रही हैं, वे बहुत अंशोंमें रुक सकती हैं तथा सदुपयोग होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धिमें भी सहायता मिल सकती है। आपका लिखना उचित है और मेरी समझसे दुरुपयोगके इस समय प्रधानतया निम्नलिखित मार्ग हैं—

(१) खर्चीला विलासितामय जीवन, जीवनमें अनावश्यक आवश्यकताओंका बढ़ा लेना, मौज-शौककी इच्छा, बाहरी दिखावेका प्रसार, इन सब कार्योंके लिये वस्तुओंका अमर्याद संग्रह-परिग्रह, खान-पानका असंयम, परिश्रमशीलताका अभाव तथा हाथसे काम न करनेकी प्रवृत्ति तथा उसमें असभ्यता एवं लज्जाका बोध आदि-आदि।

(२) विवाहादि अवसरोंपर अनेक प्रकारसे व्यर्थ आडम्बरमें खर्च।

(३) सिनेमा तथा रेडियोका बेहद प्रचार। इसमें धनका नाश तो है ही। चरित्रका भी महान् नाश हो रहा है।

(४) नास्तिकताको बढ़ानेवाली, अधार्मिक, घोर अनैतिक और युवक-युवतियोंको साथ रखकर उनका नैतिक पतन करानेवाली तथा केवल अर्थपरक शिक्षा और सभ्यताके प्रचारमें सहायता करना।

(५) चोरी छिपाने या अधिक-से-अधिक नाजायज तरीकेसे धन प्राप्त करनेकी इच्छासे घूस देना-लेना। इससे धनके दुरुपयोगके साथ ही समाजका भयानक नैतिक पतन हो रहा है।

(६) नीच स्वार्थ, मानसिक दुर्बलता या अन्य किन्हीं कारणोंसे सरकार तथा सरकारी अधिकारियोंकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये उन लोगोंके मतानुसार धनका अयुक्त उपयोग ।

(७) किसी भी कारणसे ऐसे कार्योंको करना जिनमें जीवहिंसा होती हो, मांस-मद्यका प्रचार-प्रसार होता हो, अनैतिकता बढ़ती हो, और नास्तिकता फैलती हो; फिल्म तैयार करानेका कार्य, सिनेमा-प्रदर्शनालय, मांस-मद्यका या जिनमें मांस-मद्यका प्रयोग होता हो—ऐसी वस्तुओंका व्यापार, नास्तिकता और अधर्म बढ़ानेवाले साहित्यका प्रकाशन या ऐसे प्रकाशनमें सहायता करना, परस्पर द्वेष बढ़ानेवाली पार्टियोंकी सहायता करना । ऐसे कामोंसे धन कमाना और धन कमानेके लिये पूँजी लगाना, ऐसे काम स्वयं करना, दूसरेको सहायता या प्रोत्साहन देना—इन सभीमें होनेवाला धनका दुरुपयोग है ।

(८) इस साल जो चुनाव होगा, उसमें करोड़ों रुपये व्यय होंगे । यह इस 'जन-तन्त्रात्मक' कहलानेवाली प्रणालीका ही पाप है । इसमें अवाञ्छित लोगोंकी—जो धर्मके विरोधी हों, असदाचारी हों, नैतिक दृष्टिसे गिरे हुए हों, भगवान्‌को न मानते हों, दुर्बल हृदय हों, अत्यन्त निर्दय हों, शासकपदके अनधिकारी हों, मूर्ख हों, विपरीत प्रयत्न करके या चुप रहकर जो गोवधका पाप बंद करानेमें असमर्थ हों, शास्त्र और धर्मपर आक्रमण करनेवाले कानूनोंके प्रवर्तक, सहायक या मूक समर्थक हों, जाति और धर्मके नामपर परस्पर द्वेष फैलानेवाले हों, अपने विशुद्ध धर्मपर दृढ़तापूर्वक कायम रहनेकी शक्तिसे रहित हों और मानव-धर्मको न माननेवाले हों—धनसे सहायता करना भी धनका महान् दुरुपयोग होगा ।

इन सब बातोंपर ख्याल करके यदि धनवान् लोग धन कमानेमें पाप करना छोड़कर अनुचित स्वार्थ, विलासिता, शौकीनी, आडम्बरपूर्ण जीवन, आरामतलबी, परिश्रममें लज्जा और मानसिक दुर्बलता आदि दोषोंका त्याग करके, गरीबोंकी श्रेणीसे भिन्न अपनेको दूसरी श्रेणी या दूसरी जातिका आदमी न समझकर, शास्त्रानुमोदन-रूपसे विनयपूर्वक यज्ञकी भावनासे धनका सदुपयोग करने लगें तो उनका जीवन सुखमय हो जाय और परलोक उज्ज्वल हो जाय, समाजके सामने उच्च आदर्शकी स्थापना हो, मानव-जीवन सफलताकी ओर आगे बढ़ने लगे । तथा यहाँ जो आज 'कम्यूनिज्म' का एक भयानक डर हो गया है, वह सहजमें दूर हो जाय ।

आजकल संत श्रीविनोबाजी भावे भूमिके मालिकोंसे सात्त्विकताके साथ भूमि लेकर, जिनके पास भूमि नहीं है, उनको यथायोग्य वितरण करनेका जो महान् 'भूमिदान-यज्ञ' कर रहे हैं, यह बहुत ही उत्तम कार्य तो है ही, साथ ही 'कम्यूनिज्म' के पापकी जड़ भी काटनेवाला है । सारा धन भगवान्‌का है, भगवान्‌के सब हैं, सबके भगवान् हैं, अतएव अपने धनमेंसे सबका यथायोग्य हिस्सा बाँटकर बचे हुएका अपने लिये उपयोग करना यज्ञशिष्ट अमृतका सेवन करना है। पर जो केवल अपने लिये ही कमाता-खाता है, वह तो दूसरोंका हक मारकर मौज करना चाहता है, वह तो पाप ही कमाता और पाप ही खाता है । उसका जीवन पाप-जीवन है । और पाप-जीवनको पापका फल ताप निश्चय मिलेगा ही । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(गीता ३ । १३)

'यज्ञसे (सबको उनका यथायोग्य हिस्सा सात्त्विकताके साथ देकर) बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सारे पापोंसे छूट जाते हैं और जो पापी लोग केवल अपने लिये ही पकाते—(कमाते) हैं, वे तो पाप ही खाते हैं ।'

शेष भगवत्कृपा ।

(३)

गृहस्थीकी बेड़ी

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने लिखा 'जिसको बचपनसे ही संसारसे प्रीति नहीं है, भगवच्चर्चामें मन लगता है, संसारसे बार-बार घृणा होती है और मन परमात्माकी ओर आकर्षित होता है, परंतु गृहस्थाश्रमकी बेड़ी पाँवमें पड़ी है, इसलिये वह क्या करे ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि जब संसारमें प्रीति नहीं है और परमात्माकी ओर मन आकर्षित होता है, तब गृहस्थाश्रमकी बेड़ीके लिये चिन्ता क्यों करनी चाहिये । बेड़ी तो तभीतक है, जबतक मोह है । मनुष्य जब भगवान्‌का हो जाता है, तब दूसरे सारे बन्धन अपने-आप ही कट जाते हैं । श्रीब्रह्माजीने भगवान्‌से कहा है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३६)

'श्रीकृष्ण ! जबतक मनुष्य तुम्हारा नहीं हो जाता, तभीतक राग आदि चोर पीछे लगे रहते हैं, तभीतक घर कैदखानेकी तरह उसे बंदी बनाये रखता है और तभीतक मोहकी बेड़ी पैरोंमें जकड़ी रहती है ।'

भगवान्‌का हो जानेपर तो घर भी भगवान्‌का मन्दिर है, घरका काम भगवान्‌की सेवा है, घरके आदमी भगवान्‌के दिये हुए सेव्य स्वरूप हैं या उनके रूपमें भगवान् ही अभिव्यक्त हो रहे हैं और उनकी सेवा भगवान्‌की पूजा है । उनमें कहीं ममता, आसक्ति या मोह नहीं है । भगवान्‌के लिये ही उनकी सेवा करनी है । ऐसी गृहस्थीमें बन्धन कहाँ है ? चिन्ता सारी भगवान् करेंगे, कब कैसे क्या होगा, उसका विधान भगवान् करेंगे। उसका काम तो भगवान्‌का चिन्तन करते हुए अपने योग्य कर्मोंके द्वारा भगवान्‌के आज्ञानुसार सेवा करनामात्र है । संसारमें घृणा होनी चाहिये उसके भोग्यरूपसे । पर जब वह भगवद्रूप हो जाय, तब तो पूजाका पात्र है । जिसकी भगवान्‌में प्रीति है, संसारमें प्रीति नहीं है; वह संसारमें नहीं बँधता । घर बन्धन नहीं है, बन्धन है घरमें मेरापन । जबतक यह मेरापन है, तबतक वह 'घर' का है—'भगवान्' का नहीं है । जहाँ भगवान्‌का हुआ, वहीं भगवान् उसके हुए । फिर घर 'उसका' नहीं रहता, न वह 'घरका' रहता है । घर भगवान्‌का है, वह भी भगवान्‌का है । फिर घरमें रहकर भी वह भगवान्‌के मन्दिरमें रहता है और अपने प्रत्येक कर्मसे भगवान्‌की सेवा करता है । इसके विपरीत घर-गृहस्थीको छोड़ भी दिया तो जंगलकी कुटियामें, पहननेकी कोपीनमें, उसका मेरापन हो जायगा । उन्हींमें मन फँस जायगा और बन्धन हो जायगा । अतएव उन सज्जनको घरसे घृणा न करके घरकी आसक्ति और ममतासे घृणा करनी चाहिये और उनका त्याग करके घरमें रहते हुए ही अपनेको भगवान्‌का बना देना चाहिये । सदा भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवान्‌की सेवाबुद्धिसे ही सारे कर्म यथायोग्य करने चाहिये, फिर समस्त भवबन्धन आप ही कट जायँगे ।

(२) जिसे अपने अनुकूल बनाना हो, हमें पहले उसके अनुकूल बनना चाहिये । उसकी भर्त्सना, समालोचना न करके प्रेम करना चाहिये और उसकी अच्छी बातोंका हृदयसे तथा वाणीसे समर्थन करना चाहिये, उसकी सेवा तथा उसका हित करना चाहिये । जब उसके मनमें आपके प्रति आदर, प्रेम तथा सद्भाव उत्पन्न हो जाय, तब उपदेशके रूपमें नहीं, परामर्शके रूपमें उसे अच्छी-अच्छी बातें कहनी चाहिये । उपदेशसे काम वहाँ हुआ करता है, जहाँ श्रद्धा होती है । नहीं तो, उपदेशसे काम नहीं हुआ करता । ऐसे स्थानमें उपर्युक्त रीतिसे बर्ताव करना चाहिये । तथा उसे जो बात समझानी हो, वह भी किसी

इतिहास-कथाके रूपमें दूसरेके द्वारा समझानी चाहिये । यदि हम दूसरेको अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं तो अपने मनकी बात छोड़कर पहले उसके अनुकूल बन जाना चाहिये, फिर वह आप ही अनुकूल हो जायगा । यह उत्तम साधन है ।

एक साधन यह है कि उसके दोष न देखकर गुणोंकी खोज करनी चाहिये और गुणोंकी मन-ही-मन प्रशंसा करते हुए उसके प्रति सदा सद्भावना करनी चाहिये । आपकी सद्भावनाका उसपर असर होगा और वह क्रमशः अनुकूल बनता चला जायगा । वशीकरणका मन्त्र प्रेम है; अधिकार, उपदेश आदि नहीं । और जहाँ प्रेम है, वहीं सुख है । यह निश्चित सिद्धान्त है।

(४)

भगवान्की शरणसे ही विघ्ननाश

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । 'आपके पतिदेवकी मृत्युके बाद आपकी मुसीबतें और परेशानियाँ बढ़ती जा रही हैं, आपके घरवालोंके विरोधी विचार बढ़ते चले जा रहे हैं और आपको धर्मभ्रष्ट करनेका घृणित यत्न भी देवरके द्वारा हो रहा है ।' यह बड़े ही दुःखकी बात है। आजकल यह पाप समाजमें चारों ओर बढ़ रहा है । इसका बड़ा भारी बुरा परिणाम होगा । जो लोग किसी विधवा बहिनको 'मूर्खतावश' दुःख देते हैं, वे भी नरकोंमें जाकर भयानक यन्त्रणा भोगते हैं और बुरी-से-बुरी पापयोनियोंमें जन्म लेकर दुःख भोगनेको बाध्य होते हैं; तब जो लोग 'स्वार्थवश' या 'नीच विचार'से किसी विधवाको सताते हैं, उसकी तो कैसी दुर्गति होगी, सो भगवान् ही जानते हैं। एक तो बेचारीको पतिवियोगका महान् दुःख और ऊपरसे सहानुभूतिके बदले घरवालोंका तथा आत्मीयोंका घृणित बर्ताव ! घावपर घाव करनेवाले ऐसे लोग तो राक्षस हैं । आज हमारा समाज ऐसे राक्षसोंका क्रीडाक्षेत्र बन गया है । इन लोगोंको तो नियन्ताके दण्डका शिकार होना ही पड़ेगा । पर आप घबराइये नहीं । सर्वशक्तिमान् भगवान्पर विश्वास करके उनकी शरण हो जाइये । वे सदा सब जगह मौजूद रहते हैं और जो सचाईके साथ उनकी शरण हो जाता है, वे आश्चर्यजनकरूपसे उसकी तथा उसके धर्मकी निश्चय ही रक्षा करते हैं । आपने देवरको कई बार क्षमा किया परंतु एक दिन उसे पीट दिया सो बहुत अच्छा किया । ऐसे दुष्टों और पतितोंकी पता नहीं, कैसी नीच गति होगी । आप भगवान्के शरणापन्न होकर उनका भजन करती रहें । द्रौपदीका चीर बढ़ानेवाले भगवान् आपकी अवश्य रक्षा करेंगे । भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

'तुम मुझमें चित्त लगाओ फिर मेरी कृपासे सारे संकटोंसे सहज ही पार हो जाओगे ।'

आपके पतिदेवका अन्तिम आदेश तथा स्वप्नादेश बहुत ही उत्तम है । आप उसीके अनुसार मुसीबतें उठाकर भी धर्मका पालन और बच्चोंका पालन-पोषण करती रहें । समझदारीसे काम निकालें । अपना अपराध करनेवालोंपर क्षमा करें और अपनेपर संयम रक्खें । सचमुच यदि आप अपनेपर संयम रखती हुई भगवान्पर विश्वास रक्खेंगी तो भगवान्की दयासे कोई भी संकट आपको गिरा नहीं सकेगा । भगवान् आपके धर्मकी रक्षा करेंगे । अपराधीको मनसे क्षमा करें । परंतु सावधान रहें और कभी भी किसीका अनुचित प्रयत्न सहन न करें । डाँट दें ।

(५)

पिताको राजी कीजिये या उनकी आज्ञा मानिये

सादर हरिस्मरण । पत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है कि सावित्रीके द्वारा सत्यवान्के वरण किये जानेके मूलमें पिताकी आज्ञा थी । सावित्री पिताकी आज्ञासे ही अपने

योग्य वरको वरण करने गयी थी। स्वयंवरोंमें भी मूलतः पितृ-आज्ञा ही रहती थी। पिता जब स्वयं सुयोग्य वरका अन्वेषण नहीं कर सकता, तब वह कन्याको इसके लिये आज्ञा देता था। इसीसे कन्याके द्वारा किया हुआ वह वरण पिताको सहर्ष स्वीकार होता था। पर आपके प्रसंगमें ऐसी बात नहीं है। आपका वरण स्वेच्छाकृत है, जो हिंदू-दृष्टिसे अवैध है। अतएव इसमें धर्मतः सावित्रीका उदाहरण पूर्णरूपसे लागू नहीं होता। पर आपका मन दूसरेको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं होता—यह एक बहुत कठिन प्रश्न है। वर्णके जन्मगत या कर्मगत होनेका विवादास्पद प्रश्न छोड़ दीजिये। मेरा मत तो इसमें आपके अनुकूल नहीं है। मैं तो विवाहादिके लिये जन्मकी ही प्रधानता मानता हूँ। अब इसके लिये सुन्दर उपाय तो दो ही हैं—या तो आप अपने पिताजीको समझाकर—उन्हें एक प्रकारका आपद्धर्म बतलाकर, अपनी करुण मानसिक स्थितिको उनके सामने रखकर—किसी उपायसे भी उन्हें आपके इच्छानुसार सम्बन्ध करनेके लिये तैयार कीजिये। (यदि वे मेरी बात मानें तो मैं उन्हें परिस्थितिपर विचार करके आपके पक्षमें ही सम्मति दूँगा।) या आप अपनी बातको छोड़कर पिताजीके इच्छानुसार करनेके लिये तैयार हो जाइये।

आत्महत्या तो महापाप है, उसका तो विचार ही नहीं करना चाहिये। आत्महत्यासे आत्माकी अशान्ति तथा दुःख-सङ्कट बढ़ते हैं, किसी प्रकार भी घटते या मिटते नहीं। फिर वहाँ परतन्त्रता भी यहाँकी अपेक्षा अधिक हो सकती है। यहाँ पत्रव्यवहारकी सुविधा हो सकती है, पर वहाँ तो यह जाननेकी सुविधा भी किसी-किसीको नहीं होती कि कौन किस लोकमें कहाँ है। यह निश्चय है कि शरीरनाशसे आत्माका नाश नहीं होता—परलोक-पुनर्जन्म निश्चित हैं। उपर्युक्त दोनों बातें आप न कर सकें तो फिर भोगविलासका मोह तथा आत्महत्याका विचार छोड़कर आपको दृढ़ताके साथ प्रसन्नतापूर्वक त्यागका असिधाराव्रत ग्रहण करना चाहिये। ऐसी स्थितिमें आप पिताजीसे स्पष्ट शब्दोंमें विनयपूर्वक निवेदन कर दीजिये कि 'मैं प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ, इसलिये मैं दूसरेके साथ विवाह नहीं कर सकती—अतः मैं प्रसन्नताके साथ आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करूँगी।' ऐसा करनेपर आपके लिये जीवनभर पवित्रताकी रक्षाके लिये कठोर संयमसे रहना अनिवार्य होगा। समय बहुत बुरा है, परिस्थिति पलटती है, मनुष्यके मनमें भाँति-भाँतिकी कमजोरियाँ भरी हैं, चारों ओर कुसंग है, पुरुषसमाज पतितप्राय है और आजका मनका भाव सदा बना रहनेमें भी सन्देह है। ऐसी दशामें आजीवन 'कुमारीव्रत' ग्रहण करनेका निर्णय बहुत सोच-विचार कर करना चाहिये। नहीं तो—पीछे और भी अधिक भयानक दुःख या पश्चात्ताप हो सकता है।

(६)

अपनी तपस्यासे पतित पतिको सुधारिये

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके पतिदेवका बर्ताव वास्तवमें अच्छा नहीं है। उसका प्रतीकार अवश्य होना चाहिये। पर आत्महत्या या घरसे निकल जाना उसका प्रतीकार नहीं है। उसका प्रतीकार तो है अपने त्याग, बलिदान, तप और सेवाके द्वारा उनके हृदयको बदल देना। कोई कैसा भी दुराचारी क्यों न हो—सद्भाव, सद्व्यवहार और तपस्यासे उसको बदला जा सकता है। आप उसीके लिये प्रयत्न करें। यद्यपि यह सत्य है कि जो पुरुष अपनी विवाहिता निर्दोष पत्नीका अनादर करता है, उसको सताता है, गाली देता है, मारता है, उसकी अवहेलना या उपेक्षा करके परस्त्रीमें प्रीति करता है और उसे खाने-पीनेको नहीं देता, वह बड़ा पाप करता है। और इसके फलस्वरूप उसे भविष्यमें घोर दुःखोंमें फँसना पड़ेगा। लोक-परलोक दोनों ही बिगड़ेंगे। परंतु पत्नी-

का धर्म तो यही है कि वह अपनी तपस्याके द्वारा उसको पवित्र बनावे, जिससे वह नरकाग्निका अधिकारी होकर भी साध्वी पत्नीके पुण्यसे पापमुक्त हो जाय और नरकोंसे बच जाय । ऐसी तपस्या भारतकी तपस्यामयी आर्य नारी ही कर सकती है !

(७)

भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये

सादर हरिस्मरण । पत्र मिला । किसी विवाहके अवसरपर आपके साथ बलपूर्वक दुराचार किया गया । यह बड़े खेदकी बात है । इससे पुरुषसमाजका घोर पतन प्रत्यक्ष हो जाता है । आपका इस पापसे दुखी होना उचित ही है । आप इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहती हैं—इसके उपाय हैं—महान् पश्चात्ताप, फिर कभी ऐसा न हो इसके लिये प्राणपणसे घोर प्रतिज्ञा । 'राम' नामकी सौ मालाका एक वर्षतक प्रतिदिन जप करना और भगवान्‌से कातर प्रार्थना करना ।

पतिदेवके नाराज होने और भविष्यमें व्यवहार बिगड़नेकी आशङ्का बिल्कुल न हो तब तो उनसे सब बातें बतला दीजिये । पर ऐसा होना है बहुत ही कठिन । नहीं तो, भगवान्‌से अपने अपराधके लिये रोकर क्षमा माँगिये और इस चीजको किसीपर कभी प्रकट मत कीजिये । बच्चा आपका है सो आपके पतिका ही है । भगवान्‌के भजनका प्रयत्न कीजिये और भगवान्‌से कातर प्रार्थना कीजिये । वस्तुतः परपुरुषसे परस्त्रीका और परस्त्रीसे परपुरुषका एकान्तमें मिलना ही महान् अनर्थका कारण होता है । इससे सदा बचना चाहिये ।

(८)

व्यर्थ सन्देह मत कीजिये

प्रिय महोदय । सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आप अपने एक सहपाठीके द्वारा जो पहले आपके साथ शत्रुता रखता था, यह सुनकर कि 'आपकी पत्नी दुश्चरित्रा है' दुखी हैं, सो ऐसी बातें दुःखदायिनी तो होती ही हैं । परंतु जब आपकी पत्नी हर तरहसे अपनी सच्चरित्रताका आपको विश्वास दिलाती हैं, आपको कोई प्रमाण भी नहीं मिलता तथा आपकी आत्मा इसको स्वीकार भी नहीं करती, तब आप उस सहपाठीकी बातोंपर विश्वास करके क्यों स्वयं दुखी होते हैं और क्यों बेचारी पत्नीको दुखी करते हैं । आप ऐसा क्यों नहीं मान लेते कि आपके साथ पुरानी शत्रुता रखनेवाले उन सहपाठी महोदयने ही आपलोगोंके जीवनको दुखी बनानेके लिये यह प्रपञ्च रचकर आपके मनमें भ्रम पैदा करनेका प्रयास किया है । सती-साध्वी पत्नीपर किसीके कहनेभरसे मिथ्या संदेह करके उसे दुखी करना बड़ा पाप है । और इससे बड़े-बड़े दुष्परिणाम होते हैं । अतएव आप सन्देह छोड़कर सुखपूर्वक रहिये ।*

---

* इनमें अन्तिम कई पत्र ऐसे हैं, जिनका उत्तर 'कल्याण'में प्रकाशित करनेकी आवश्यकता नहीं थी; पर पत्र बेनामी थे या उनमें पता न देकर 'कल्याण'में 'कामके पत्र' शीर्षकमें उत्तर माँगा गया था । जो पत्र पारमार्थिक विषयके न होकर घरेलू विषयोंके होते हैं, उनका उत्तर 'कल्याण'में प्रकाशित करनेसे कोई लाभ नहीं है । अतएव ऐसे पत्रोंका और बिना नाम-पतेके पत्रोंका उत्तर 'कल्याण'में नहीं छापा जायगा । जिन भाई-बहिनोंको व्यक्तिगत सलाह पूछनी हो वे कृपया अपना पूरा नाम-पता लिखकर पूछ सकते हैं । उनके पत्र गुप्त रक्खे जायँगे । ऐसे बहुत-से पत्र अभी हमारे पास पड़े हैं—जिनमें नाम-पते नहीं हैं और जिनमेंसे अधिकांश घरेलू विषयोंके हैं । वे लोग यदि अपने पत्रोंका उत्तर चाहते हैं तो पुनः पत्र लिखकर कृपया अपना नाम-पता स्पष्ट लिख दें तथा पहले पत्रमें क्या बातें थीं, उनको फिरसे कृपया लिख दें तो देर-सबेर उनके उत्तर दिये जा सकते हैं । अन्यथा कृपया क्षमा करें ।

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

गत वर्षकी जप-संख्या

'कल्याण'के कृपालु पाठक-पाठिकाओंसे गत वर्ष जो नाम-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी, हर्षका विषय है कि उसपर कल्याण-प्रेमियोंने ध्यान दिया और नाम-जप करने-करानेका मङ्गल प्रयत्न किया । हमारे पास आयी हुई सूचनाओंमें जो लिखी गयीं, उनके अनुसार भारतके सभी प्रान्तोंमें ५९१ स्थानोंमें १७२४३६८०० मन्त्रोंका जप हुआ है । इसकी नाम-संख्या २७५८९८८८०० यानी दो अरब पचहत्तर करोड़ नवासी लाख अठासी हजार आठ सौ होती है । विश्वमङ्गल और आत्मकल्याणके लिये जिन सज्जन पुरुषों और भाग्यवती देवियोंने स्वयं जप किया तथा दूसरोंको प्रेरणा करके करवाया है, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं । आशा करते हैं कि इस वर्ष और भी विशेष उत्साहसे नाम-जपकी हमारी अपीलपर ध्यान दिया जायगा ।

जप तो और भी बहुत अधिक हुआ है, पर उसकी संख्या नहीं जोड़ी जा सकी । कई सज्जनोंने संख्या नहीं लिखी, कुछ सूचनाएँ नोट होनेसे रह गयीं । कुछ लोगोंने सूचना भेजी ही नहीं । उपर्युक्त सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त दूसरे भगवन्नामों-मन्त्रोंका जाप भी हुआ, जो नोट नहीं किया गया । अफ्रिकाके कई स्थलोंसे, लन्दन (इंग्लैंड) से भी जपकी सूचना आयी थी, पर संख्या न होनेसे उसे प्रकाशित नहीं किया गया । नीचे स्थानोंके नाम दिये जाते हैं । जिनके नाम छूटे हों, वे कृपया क्षमा करें ।

स्थानोंके नाम

अकबरपुर, अकालगढ़ ठपयाँ, अगौस, अजनौरा, अजमेर, अजैपुर, अठागुली, अड्डोला रघुनाथपुर टोला, अनन्तजोत, अम्बाबा, अम्बारा, अम्बारी, अम्बाला छावनी, अमरेली, अमरौधा, अमलापुरम्, अमोलापुरम्, अरियालूर, अलीगंज, अस्तरंग, असोइया, अहमदाबाद, आगरा, आबू, आरा, आलमेल, इचाक, इटावा, इटाढ़ी, इटारसी, इलाहाबाद, इन्दौर, उझियानी, उदयपुर, उन्नाव, उमर्दा, उमल्ला, उल्लामऊ, उस्काबाजार, ऊधमपुर, ऊमरपुर, ऊँझा, ऐंचवारा, ओगलेवाड़ी, औडेन्य खुर्द, औरंगाबाद, अंकलेश्वर, अंगारघाट, अंदारा, अंबासेलकर, अंबेजवलो, कइलगढ़ स्टेट, कच्छ, कटक, कटकारमन, कटनी, कटपाडी, कटरा, कठेर चौरा, कण्डूकूर, कनखल, कमरिद, कमाशी, करताज, करिया, कल्याणजागो, कल्याणपुरा, कलकत्ता, कलवाड़ा, कलिंगपत्तनम्, कवाली, कसरागोड़, कहमली, कादरगंज, कादेड़ा, कानपुर, कापड़वंज, कासगंज, कुञ्जनपुर, कुड्वाला, कुन्सा, कुलगोड़, कुलमंडरी, कुँवरा, कूचबिहार, कृष्णनगर, कैथा, कोचरढ़ी, कोचीन, कोटगीर, कोटरा, कोठापेटा, कोठियाँ, कोटलाटेह नूरपुर, कोडंगल, कोयम्बतूर, कोल्हापुर, कोलगी, कौड़ी, कन्द्रपनगर, खजुरी, खडकलाट, खण्डवा, खमोह, खरगडीहा, खरगौन, खाचरोद, खापर खेड़ा, खामगाँव, खाराधोरा, खिलचीपुर, खेड़ते झुंगे, खेतीखान, खेमाईपट्टी, खेरातु, खैरादर्य (मुजफ्फरपुर), खोजवापुर, खौजोली, गगवाना, गडरपिपरिया, गढ़गाँव, गढ़ाकोटा, गढ़ी रणछौड़, गया, गर्च, गिदरगंज, गुजरा, गुनई, गुना, गैरतलाई, गोकर्ण, गोठानीकचहरी, गोरखपुर, गोविन्दगढ़, गोरी बिदानपुर, गोसलपुर, गौरी सलोनेपुर, गङ्गापुर, गंदूर, घाटकोपर, घाटी गुराडिया, चकुर्ली, चकौंध, चमन्धा, चानौद, चालीसगाँव, चाँदापुर, चाँदूर, चितराँव, चिदम्बरम्, चिंतादरीपेट, चीखलठाण, चीरी, चेवरोल, छजइपुर, छजना, छतौनी, छुरिया, जघीना, जबल, जबलपुर, जमिरा, जयपुर, जरकल, जरिगुम्भा, जलगाँव, जहाँगीराबाद, जामनगर, जावरा, जुन्हैड़ा, जुबिली (रावलपिंडी), जेटपुर, जैदपुर, जैसीनगर, जोधपुर, जोरावरडीह, झगरपुर, झहूरा-टमका, झालरापाटन, झालोद, झाँसड़ी, झाँसी, टढब्रितिया, टाकली, ठटिया, डभोई, डलमऊ, डालमियानगर, डिमरौल, डीह मुजफरा, डुमरी, डूँगरी (खड़की), ढेहरी, डोंडी, ढकलगाँव, ढूढीवारी, तप्पाडीह, तखारा, तलाला, तहानी, तालालागीर, तिम्माचीपुरम्, त्रिचनापल्ली, तुलसी, तुलसीग्राम, तुंडी, तेरंगा, थानगढ़, दतेराचक, दरभंगा, दरिया, दवानीवाड़ा, दातारपुर, दार्जिलिंग, दिल्ली, दिलीपनगर, दुगोंडी पो० नरसंगपेट, दुर्जनपुर, द्रुग, देव, देवदुग, देवरिहा पो० कोचस, देवीसराय, देशपालिया, देहरादून, दोकड़ा, धनैला, धनलापैरसु, धमतरी, धारणगाँव, धारवाड़, धुलिया, धूम, धूरिया, धेंग, धौलपुर, न्यांरिया, नई दिल्ली, नकहरा, नगलाचीना, नजरबाग, नजीबाबाद, नडियाद,

नयागाँव, नयाबाजार, नरसिंहपुर, नरसेमपेट, नरहर, नराँव, नलौर, नवसारी, नवादा, नागपुर, नागशंकर, नागौर, नाथद्वारा, नानपारा, नामकुम, निरवती, निजामाबाद, निमियाँ, निवास, नेदुमंगुड़, नेमीकुंड, नेलौर, नेवसा, नैनीताल, नैपालगंज, नौगाँव, नंदरबार, प्यारेपुर, पटना, पटवार, पटा नेमोनी कुरु, पटियाला, पट्टी मठवाली, पड़कौली, पड़रिया, पडिगापुरम्, पताही, पतिया, पदमा, पतरवाड़ी, परवेजपुर, प्रतापगढ़, प्रतापपुर, प्रमोदबाग, पाताबोझ, पातोड़ा, पार्लाकिमेडि, पाली, पालीआद, पांढरी, पांडुर्लि, प्रागपुर, पिछौर, पिथोरा, पिनरायी (मालाबार), पिम्पलास, पिलखुवा, पीथनी, पीपलाद, पुन्नाथुर, पुरानी साब्जीगंज, पुरैनी, पूना, पेटलाबाद, पेंडरा, पोझिया, पोपड़ा, प्रोड्डटूर, फतेहपुर, फर्रुखाबाद, फाजिलका, फीरोजाबाद, फ्रीलैण्ड, फुलवरिया, फूलपूर, फैजाबाद, बंगलौर, बंगोनीवाडी, बगलकोट, बछरावाँ, बड़नगर, बड़ा बिल्होर, बड़ौत, बड़ौदा, बदलपुर, बदौसा, बनारस, बनियापुर, बबियाल, बबेरू, बम्बई, बरनाला, बरपुर, बराणा, बरेली, बरोली वासुदेवपुर, बलरामपुर, बलापुर, बल्लिया (बरेली), बल्लीगाड़ा, बसंतराय, बाघाखाल, बामलावास, बामलास, बामौती, बालंगीर, बालसमुंद, बालापुर, बावल, बार्शीटाउन, बिड़लापुर, बिणगा, बिनैका, बिबियापुर, बिरभानपुर, बिस्कोहर, बिसुनपुर, बिसौली, बिहारीपुर, बुलंदशहर, बुल्डाना, बूँदीरोड, बेतिया, बेनीगंज, बेलखरा बुजुर्ग, बेलगाम, बेहटा बुजुर्ग, भगवतीपुर दरिया, भगवानपुर, भड़ौंच, भद्रावली, भमरहा, भरतपुर सिटी, भरथीपुर, भरोली बाजार, भाड़ले, भानोत, भामला, भारथू, भलावली, भावनगर, भाँडेड़ा, भीखापुरा, भुज, भुसावल, भेलसा, भैरोंजीवाली, भैंसा, मकराई, मखनी, मठिया, मडिया, मण्डावा, मथवड़ा, मथुरा, मद्रास, मधुबनी, मधेपुर, मन्नार गुड़ी, मनीपुर, हटीला, मरही कैम्प, मल्लगद्द पो० युलाची, मलकापुर, मलवासा, मलिपरा, मलेगाँव सिटी, मलंगवा, मस्सोलिया, महरानी पेट्टा, महरौनी, महाराजगंज, महुअरिया, महुआ, महुआपुर, महुई सोनबरसा, महुगाँव, महुर्क सोनबरसा, महुली, महेशपुर, मंगरवाड़, मंड्या, मंडना, माँजगाँव, माड़िया, माणिकपुर पथरी, माधवपुर, मारवाड़-मूंडवा, मालगुवा, यसौली, योलकैम्प, रण्डौल, रनदेवा, रनीला, रुवाराय, रसौटा, रहौद, राजकोट, राजपीपला, राजवरिआ, राजीपुर, राधनपुर, रानीदीरा, रानीबाग पो० काठगोदाम, रामगोपालपुर, रामपुरा, रामबड़गाँव, रामसर, रायचुर, रायपुर, रायबरेली, राँची, रितपुर, रीवागहन, रुदावल, रुपैली, रूपवास, रूपाल, रेपाल्ली, रैंया, रैतपेट, रोयापेटा (मद्रास), रोंसरा, रोसरा घाट, लखनऊ, लक्ष्मणपुर, लटूमर, लावनी, लीलाआमोटा, लुधियाना, लोणार, लोनावला, लोहगरा, वघड़ा, वढ़वाण सिटी, वभ्भन टोली पो० चेता, वरंगल, वराही, वंथली, वादेगाँव, वार, वासुदेवपुर, वांकानेर, विजयनगर, विजयवाड़ा, विन्ध्याचल, विनैका, विष्णपुर, विसाखापट्टनम्, विसुनपुरा, विसौथा, विहरीपुर, वीरगाँव, वीरमगाँव, वीरवासरम्, वेंकटपुरम्, वेंगुर्ल्र, वेड़ा, वेनीगंज, वेरावलबंदर, वैशाली, वौधनी, शमीरपुर, शहजादपुर, शहभार, शाजापुर, शाहाबाद, शिकोहाबाद, शिलकोट, शिवदासपुर, शीकर (मैनपुरी), शुम्भा, शेखूपुर, शेगाँव, शेरगढ़, शेरपुर, शेरवा, शेंदुरवाड़ा, श्रीकरणपुर, श्रीनगर, श्रीनिवासपुर तालुक, श्रीमहरागाँव, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), सगौली सकती, सड़रा, सतना, सतारा, सनिगवाँ, सम्बुक, समतापुर, समनापुर, समल, सरदारनगर, सरस, सरस पुख्ताँ, सरयू वैली, सराय, सराय मीराँ, सलेम, सलोटपार, सहारनपुर, साइली बाजार, सामलकोट, सारेसण्डकलाँ, सालाबाद सुढ़ार, साँनेर, साँभरलेक, साहेबान, सिकरी बुजुर्ग, सिगदोनी, सिन्नर, सिनहापासी, सिपरिया, सिरसा, सिहोरा, सिहोरा रोड, सिंगाही, सीकर, सीतापुर, मीतारामपुर, सीनापाली, मीम पट्टी कलासों, सुखिया पोखरी, सुजनपुर, सुन्दरपुर, न्दुरपुर (होल्ला बुचामन), सुमेरगंज, सूरत, सैंज, सोजीत्रा, सोदपुर, सोनपुर, सोनोशी, सौंसी, हजारीबाग, हण्डालपुर, हण्डिया, हथुआ, हरपन्नापल्ली (मद्रास), हरपुर बोचहा, हरिहरपुर, हरेवली, हाथरस, हिन्दूपुर, होशियारपुर ।

नाम-जप-विभाग—'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर

श्रीगीता-जयन्ती

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(गीता १८। ६५)

'तुम मुझमें मनवाले हो, मेरे भक्त हो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। यों करनेसे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे। यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्यारे हो।'

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान्‌की दिव्य वाणी है, उसमें सभी श्रेणियोंके उपासकों, कर्मियों, ज्ञानियों और भक्तोंके लिये ही नहीं, मानवमात्रके लिये दिव्य सन्देश हैं। वर्तमान जगत् सर्वथा बुद्धिभ्रममें पड़कर कर्तव्यभ्रष्ट हो रहा है। इसीसे उसकी स्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय और भयानक होती जा रही है। सभी ओर पाप और पापाचारियोंकी हां प्रबलता देखनेमें आ रही है। मानव-समाजका नैतिक स्तर बहुत ही गिर गया है। अर्थ और अधिकार ही मनुष्य-जीवनके ध्येय बन गये हैं, चाहे किसी भी घोर-से-घोर अनैतिक साधनोंसे उनकी प्राप्ति हो। त्याग और कर्तव्यके प्रति प्रायः उपेक्षा बढ़ रही है। भोग-लालसाकी कोई सीमा नहीं रही है। धर्ममें रुचि नहीं है, वरं धर्मके नामसे ही लोग चिढ़ने लगे हैं। रुचि है तो धर्मरहित आचार-व्यवहारमें है, अनीतियुक्त अर्थोपार्जन और अन्यायमूलक अधिकारविस्तारमें है। यही सभ्य कहलानेवाले समाजों और राष्ट्रोंके जीवनका परम लक्ष्य बनता जा रहा है। सर्वत्र अति गर्हित अनाचार, भ्रष्टाचार, अत्याचार और नरहत्या एवं उसके आयोजनका विस्तार हो रहा है। पापके इस प्रवाहको रोकने और इस विकट परिस्थितिमें सच्चा सुगम मार्ग दिखलानेके लिये सर्वशक्तिमयी भगवती गीताकी शिक्षा ही समर्थ है। किंकर्तव्यविमूढ भारतको अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्णकी इस दिव्य वाणी गीतासे ही चेतना, स्फूर्ति, शक्ति, ज्ञान और विशुद्ध शीतल प्रकाश मिला था और इसीसे विजय तथा विभूतिकी प्राप्ति हुई थी। आज भी यदि हम ऐसा चाहते हैं तो हमें परम श्रद्धाके साथ गीतामैयाकी ही शरण लेनी चाहिये और उसीकी शिक्षाके अनुसार ज्ञानकी दिव्य ज्योतिसे प्रकाशमान भक्तिसमन्वित निष्काम कर्ममें लगना चाहिये।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ल ११ ता० ९ दिसम्बर रविवारको श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व दिवस है। इस पर्वपर लोगोंको गीता-प्रचार और गीताजीके क्रियात्मक अध्ययनकी स्थायी योजना बनानी चाहिये। और पर्वके उपलक्ष्यपर श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासंभव देशभरमें सभी जगह अवश्य करने चाहिये।

(१) गीताग्रन्थका पूजन

(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।

(३) गीताका यथासाध्य पारायण।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताप्रचारके लिये सभाएँ, गीतातत्त्व और गीतामहत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नामकीर्तन आदि।

(५) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण।

(६) प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्‌की विशेष पूजा।

(७) जहाँ कोई अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभा-यात्रा।

(८) लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें।

|| श्रीहरिः ||

चार नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयी !!

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाके दो नये पुष्प

[सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार]

भक्त-दिवाकर

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ-संख्या १००, आठ सुन्दर इकरंगे चित्र, मूल्य ।≡) मात्र ।

भक्त-चरित-मालाके इस १६ वें पुष्पमें भक्त सुव्रत, भक्त वैश्वानर, भक्त पद्मनाभ, भक्त किरात और नन्दी वैश्य, भक्त राजा पुण्यनिधि, शिवभक्त महाकाल, वेङ्कटरमण और भक्त ललिताचरणकी सुन्दर भक्तिपूर्ण गाथाएँ हैं ।

भक्त-रत्नाकर

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ-संख्या १००, आठ सुन्दर इकरंगे चित्र, मूल्य ।≡) मात्र ।

इस १७ वें पुष्पमें भक्त माधवदासजी, भक्त विमलतीर्थ, भक्त महेश मण्डल, मङ्गलदास, ठाकुर मेघसिंह, ठाकुर किशनसिंह, सच्चा वैष्णवभक्त गूदड़बाबा, एक बालभक्त, नान्हू भगत, भक्त उद्धवरामजी ब्रह्मचारी, भक्तवर स्वामी हरिदासजी गायनाचार्य, ठाकुर उद्धारणदत्त, भक्त देवाजी पुजारी और भक्त राजा जयमल्लसिंहजीकी बहुत ही रोचक, उपदेशप्रद, पावन, पुण्यमयी चौदह कथाएँ हैं ।

लोक-परलोकका सुधार

(कामके पत्र भाग ३)

[लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार]

समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित कामके पत्रोंका यह नया संग्रह प्रकाशित किया गया है। इसमें ९३ पत्र हैं । पृष्ठ-संख्या २९२, सुन्दर पुष्ट टाइटल, मूल्य ॥) मात्र ।

कल्याण-कुञ्ज भाग २

(लेखक—'शिव')

'शिव' के मनकी ४६ तरंगोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या १६०, भगवान् शिवका सुन्दर आकर्षक तिरंगा चित्र, बढ़िया कागज, मूल्य ।-) मात्र । बड़े प्रभावोत्पादक ढंगसे लिखी हुई पुस्तक है ।

ये चारों पुस्तकें बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष—सबके पढ़ने योग्य बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद हैं । एक-एक प्रति अवश्य पास रखने योग्य है ।

* * *

बहुत दिनोंसे अप्राप्त तीन पुस्तकोंके नये संस्करण

श्रीरामचरितमानस

(सचित्र, सटीक मझला साइज)

टीकाकार—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ १००८, आठ बहुरंगे चित्र, मूल्य ३॥) डाकखर्च अलग ।

अध्यात्मरामायण

(हिन्दी-अनुवादसहित)

अनुवादक—श्रीमुनिलालजी, साइज २२×२९=८ पेजी, पृष्ठ-संख्या ४००, एक तिरंगा चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ३) मात्र । डाकखर्च अलग ।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

* * *

रजि० सं० ए० १७५

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

महर्षि वेदव्यास-प्रणीत

श्रीमद्भागवत-महापुराण

(सचित्र, सरल हिन्दी-व्याख्यासहित)

(दो खण्डोंमें)

श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। भगवान् व्यास-सरीखे भगवत्स्वरूप महापुरुषको जिसकी रचनासे ही शान्ति मिली; जिसमें सकाम कर्म, निष्काम कर्म, साधन-ज्ञान, सिद्धज्ञान, साधन-भक्ति, साध्य-भक्ति, वैधी-भक्ति, प्रेमा-भक्ति, मर्यादामार्ग, अनुग्रहमार्ग, द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत आदि सभीका परम रहस्य बड़ी ही मधुरताके साथ भरा हुआ है—उस भागवतकी महिमा क्या कही जाय। इसके पारायणसे लौकिक-पारलौकिक सभी प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

गीताप्रेससे लगभग १०॥ वर्ष पहले यह ग्रन्थरत्न सानुवाद प्रकाशित किया गया था, जो बहुत ही शीघ्र बिक गया। तबसे प्रेमी ग्राहकोंकी आग्रहभरी माँग इसके पुनर्मुद्रणके लिये बराबर आती रही; परंतु अनेक प्रकारकी कठिनाइयोंके कारण यह कार्य अबतक न हो सका। इस बीचमें कल्याणके 'भागवताङ्क'के रूपमें पं० श्रीशान्तनुविहारीजी (वर्तमान स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती) के द्वारा मुख्यतया अनुवादित श्रीमद्भागवतका भावानुवाद गीताप्रेससे प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थमें वही अनुवाद उन्हींके द्वारा पुनः संशोधित करवाकर तथा बहुत-सी अन्य सामग्री जो पूर्वप्रकाशित श्रीमद्भागवतके श्रीमुनिलालजी द्वारा अनुवादित दोनों खण्डोंमें थी, इस बार भी दी गयी है।

इसमें श्लोकोंका केवल अक्षरानुवाद नहीं है; पाठकोंको श्लोकोंका भाव भलीभाँति समझानेके लिये श्लोकोंमें आये हुए प्रत्येक शब्दके भावकी पूर्ण रक्षा करते हुए छोटे-छोटे वाक्योंमें उनकी व्याख्या की गयी है, साथ ही बहुत विस्तार न हो, इसका भी ध्यान रक्खा गया है। कई जगह श्रीभगवान्की मधुर लीलाओंके रसास्वादनके लिये और लीलारहस्यको समझनेके लिये नयी-नयी टिप्पणियाँ भी दे दी गयी हैं। जिनके कारण पिछले संस्करणकी अपेक्षा लगभग २५० पृष्ठ बढ़ गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ दो खण्डोंमें विभक्त किया गया है। प्रथम खण्डमें स्कन्दपुराणोक्त एक छोटा माहात्म्य, श्रीमद्भागवतकी पूजन-विधि आदि, सप्ताह-पारायणकी विधि, आवश्यक सामग्रीकी सूची तथा पद्मपुराणोक्त प्रचलित माहात्म्यसहित स्कन्ध १ से ८ तक दिये गये हैं। द्वितीय खण्डमें स्कन्ध ९ से १२ तथा अन्तमें स्कन्दपुराणोक्त भागवतमाहात्म्य और श्रीमद्भागवत-पाठके विभिन्न प्रयोग दिये गये हैं।

२२×२९ आठ पेजी साइजके मोटे कागजके २०३२ पृष्ठ तथा २५ बहुरंगे और १ सुनहरे चित्रोंसे सुसज्जित, हाथकरघेके कपड़ेकी सुन्दर मजबूत दो जिल्दोंमें विभक्त इस बृहत् ग्रन्थका मूल्य केवल १५) रक्खा गया है।

पूरी पुस्तकका वजन ४॥ सेरके लगभग है। अतः डाकसे मँगानेवालोंको २॥।) अधिक भेजने चाहिये। रेलसे मँगानेसे खर्चमें काफी बचत हो सकती है। परंतु आर्डरके साथ कुछ रुपये पेशगी तथा रेलवे-स्टेशनका नाम साफ-साफ लिखना चाहिये।

१ नवम्बर सन् १९५१से चालू होनेवाले नये नियमके अनुसार कम-से-कम १००) के आर्डर पर मालगाड़ीसे फ्री डिलेवरी और रेल-पारसलसे आधा रेलभाड़ा बाद मिल सकता है अतः कुछ लोग एक साथ मिलकर ७ पुस्तकोंका आर्डर देकर यह लाभ उठा सकते हैं।

इमसे मँगवानेके पहले अपने स्थानीय पुस्तक-विक्रेतासे अवश्य पूछ लीजिये। इससे आप भारी डाक और रेल-पारसलके खर्चसे बच सकते हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

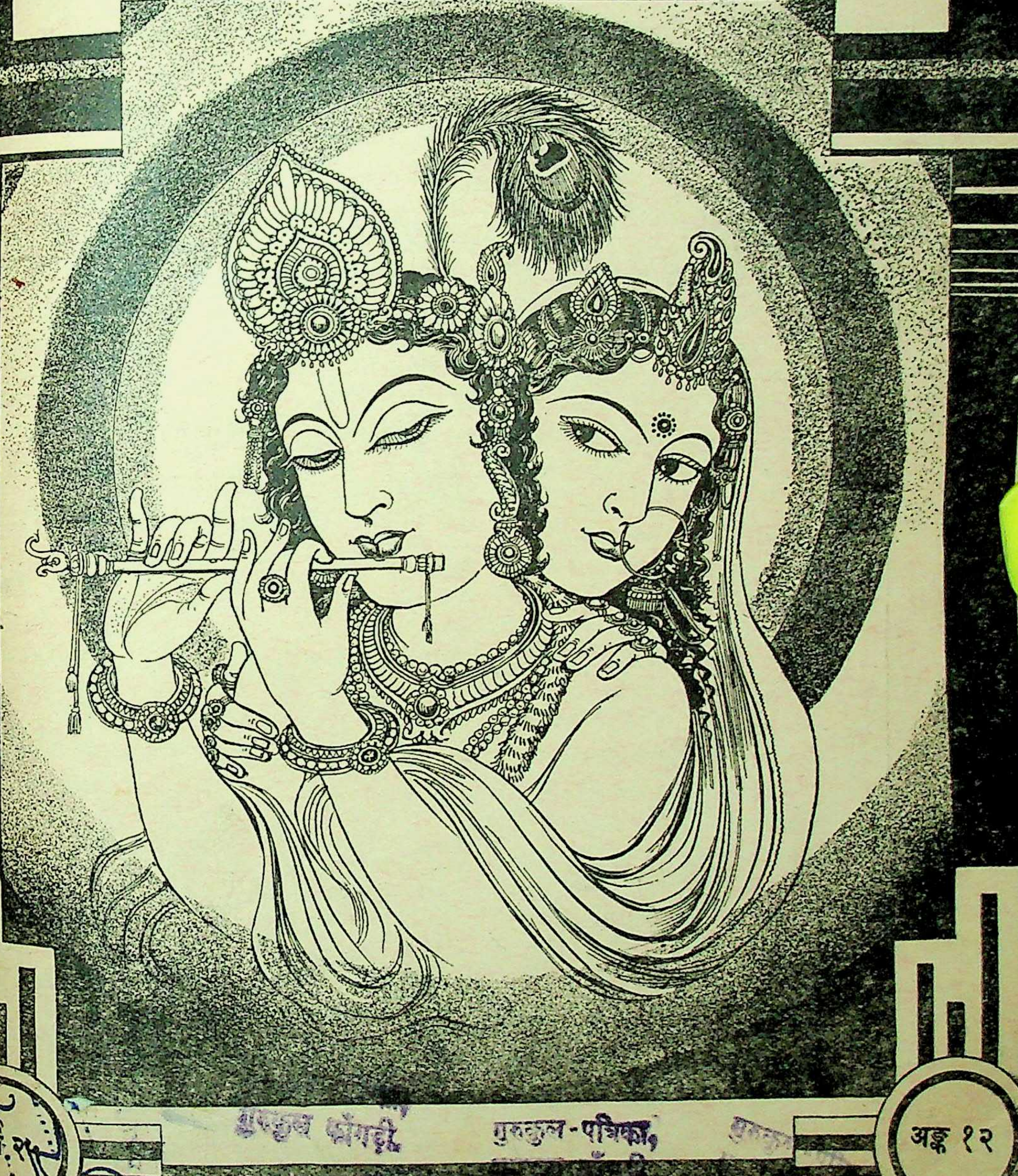

वर्ष २५

अङ्क १२

गुरुकुल काँगड़ी
गुरुकुल-पत्रिका,

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २००८, दिसम्बर सन् १९५१

विषय पृष्ठ-संख्या

१–चित्रकूटमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणकी झाँकी [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) … १४६३
२–कल्याण ('शिव') … … … १४६४
३–भगवान् तथा महात्मामें प्रेम और श्रद्धा कैसे हो ? (पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रवचन) १४६५
४–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन .. … … १४७१
५–गीत [कविता] (श्रीमोहन वैरागी) … … … १४७६
६–गीता और रामायणके क्रियात्मक प्रचारकी आवश्यकता (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) १४७७
७–यज्ञसे देवताओंकी तृप्ति (याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ) … १४७८
८–दूसरेकी आशा [कविता] (श्रीरैदासजी) … … १४७९
९–वसन्तोत्सवका आध्यात्मिक रहस्य (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) … १४८०
१०–वेद और गायत्री (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री) … … १४८४
११–क्या सोचोगे ? (श्रीबालकृष्णजी बलदुआ) … … … १४८५
१२–कल्याणी कैकेयीके चरणोंमें श्रद्धाके फूल [कविता] (श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी) … १४८६
१३–निष्पाप मन [कविता] (पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा) … … १४८६
१४–गायत्रीमन्त्रकी महत्ताका रहस्य (पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि) … … … १४८७
१५–मानसिक परावलम्बन (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) … … १४९४
१६–विषय-त्यागसे मुक्ति (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) … … १४९७
१७–सञ्जीवन बूटी (महात्मा श्रीजयगौरीशङ्करजी सीताराम) … … १५०२
१८–भक्तोंके भक्त श्रीनरहरियानन्दजी (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) … … १५०३
१९–विश्वासका फल (राजकुमारी श्रीमती रमाकुमारी) … … १५०४
२०–अनन्त छवि [कविता] (श्रीमोहनलालजी अवस्थी 'मोहन') … १५१०
२१–चेतावनी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … … १५११
२२–अभय-साधक मन्त्र (सङ्कलित–पद्मपुराण) … … १५१५
२३–वर्तमान गणतन्त्र तथा मतदाताओंका कर्तव्य … … १५१६
२४–वोट किसको दें ? (हनुमानप्रसाद पोद्दार) … … १५१९
२५–भू-दान गीत [कविता] (श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त) … … १५२१
२६–भक्त-गाथा [भक्त श्रीघाटमजी मीना] … … … १५२२
२७–कामके पत्र … … … १५२४

चित्र-सूची

तिरंगा

१–चित्रकूटमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणकी झाँकी … … … १४६३

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।=)
विदेशमें ।/)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए० शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुराने और नये ग्राहक महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना

यह पचीसवें वर्षका अन्तिम बारहवाँ अङ्क है । इस अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है । छब्बीसवें वर्षका पहला अङ्क (विशेषाङ्क) 'भक्त-चरिताङ्क' होगा । भक्तोंके चरित्र ही संसारमार्गमें भूले-भटके पथिकोंके लिये विश्वस्त मार्ग-दर्शक हैं । श्रीभगवान्‌के महत्त्व, तत्त्व, रहस्य तथा भगवान्‌की भक्त-वत्सलता, भृत्यपरायणता आदि गुणोंका पता भक्तोंके तपःपूत, त्यागपूर्ण, सेवामय तथा भाव-सुधा-प्लावित पावन चरित्रोंसे ही लगता है । 'भक्त-चरित' ही भक्तिदानमें समर्थ है । आजके इस श्रद्धा-विश्वासरहित जडोपासक अन्धकारभरे युगमें तो भक्त-चरितोंके प्रचारकी विशेष आवश्यकता है । इसीलिये इस बार 'भक्त-चरिताङ्क' प्रकाशित किया जा रहा है । भक्तोंके लिये किसी भी देश, जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म, स्थिति आदिकी महत्ता या लघुता नहीं है । भगवद्विश्वासी सभी देशोंमें, सभी जातियोंमें, सभी वर्णोंमें और सभी धर्मोंमें भक्त हुए हैं और हो सकते हैं । इसीलिये इस 'भक्त-चरिताङ्क' में प्राचीन और अर्वाचीन सभी जातियोंके भक्तोंके शिक्षाप्रद, मधुर, गम्भीर और सरल रसमय भावमय चरित और कहीं-कहीं चुने हुए उपदेश भी रहेंगे । यह सम्पूर्ण ग्रन्थ विभिन्न विचित्र रुचि और भावयुक्त-भक्तोंके केवल जीवन-चरित्रोंसे ही पूर्ण होगा । भक्तोंके उन चरित्रोंसे जीवनको पवित्र प्रेरणा मिलेगी, भगवान्‌के स्वरूपका प्रकाश होगा और जीवनको भक्तिमय बनानेके लिये सुन्दर मार्ग मिलेगा । यह अङ्क अत्यन्त रोचक, शिक्षाप्रद, आनन्ददायक और लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली सामग्रियोंसे सुसज्जित होगा । इसमें ऐसी-ऐसी सुरुचिपूर्ण पवित्र कथाएँ रहेंगी, जिन्हें पढ़-सुनकर बालक, वृद्ध, युवा सभी नर-नारियोंका मन लगेगा और मन लगनेपर उन्हें भक्ति-महारानीके सहज ही दर्शन भी हो सकेंगे ।

इस अङ्कमें भगवान् विष्णु, भगवान् शङ्कर, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीभगवती तथा भक्तोंके अनेकों सुन्दर और प्रेरणाप्रद बहुरंगे तथा इकरंगे चित्र होंगे । इसमें लगभग ८०० पृष्ठोंकी ठोस सामग्री रहेगी । यह अङ्क सर्वथा संग्रह करने योग्य तथा मित्रों, विद्यार्थियों, कन्याओं, धार्मिक समाजों, संस्थाओं, पुस्तकालयों आदिको उपहार, पुरस्कारमें देने तथा वितरण करने योग्य होगा ।

यह एक अत्यन्त नवीन सुन्दर 'भक्त-माल' होगा । अतएव जो सज्जन पहलेसे ७॥) मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको शायद निराश होना पड़ेगा; क्योंकि 'भक्त-चरिताङ्क' की माँग बहुत अधिक रहनेकी सम्भावना है । इसलिये जिन नये-पुराने सज्जनोंको ग्राहक बनना हो, वे मनीआर्डरसे तुरंत ७॥) भेजनेकी कृपा करें, जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित हो जाय । मनीआर्डर फार्म दसवें अङ्कमें भेजा जा चुका है ।

विशेषाङ्ककी वी० पी० से प्रतीक्षा करनेवाले ग्राहकोंमेंसे सबको अङ्क मिलना बहुत कठिन है; क्योंकि तबतक अङ्कोंके समाप्त हो जानेकी सम्भावना है ।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं । अतः सारे पत्रव्यवहारमें,

वी० पी० मँगवाते समय तथा मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये ।

पत्रव्यवहारमें और रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नम्बर जरूर लिखनेकी कृपा करें । नम्बर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें ।

ग्राहक-नम्बर न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा । इससे आपकी सेवामें विशेषाङ्क नये नम्बरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नम्बरकी वी० पी० दुबारा जायगी । ऐसा भी सम्भव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उसके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय । दोनों ही स्थितियोंमें, आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न करें और प्रयत्न करके नये ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेका कष्ट करें । इस कृपाके लिये 'कल्याण' आपका आभारी होगा ।

जिन महानुभावोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक मनाहीका एक कार्ड अवश्य लिख दें । ऐसा करनेसे उनके सिर्फ तीन पैसे खर्च होंगे, पर 'कल्याण' कई आने डाकखर्चके नुकसान तथा समयके अपव्ययसे बच जायगा ।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है । इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये । पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग ।

सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये । इस वर्ष जिल्दोंकी जुजबन्दीकी सिलाईकी व्यवस्था की गयी है । अङ्क जानेमें देर हो सकती है ।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये ।

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजना चाहें, वे पूरी बीमा बेंचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें । सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्ड पत्रसे रुपये न भेजें । ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं । कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'की नहीं होगी ।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

एक आवश्यक निवेदन

कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार इस समय अस्वस्थ हैं । चिकित्सकोंने उन्हें पत्र-व्यवहारादिसे रोक रक्खा है । अतएव बिना विशेष आवश्यकताके कोई सज्जन न तो उनके नाम पत्र लिखें और न उनसे मिलनेके लिये ही पधारनेका कष्ट करें ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

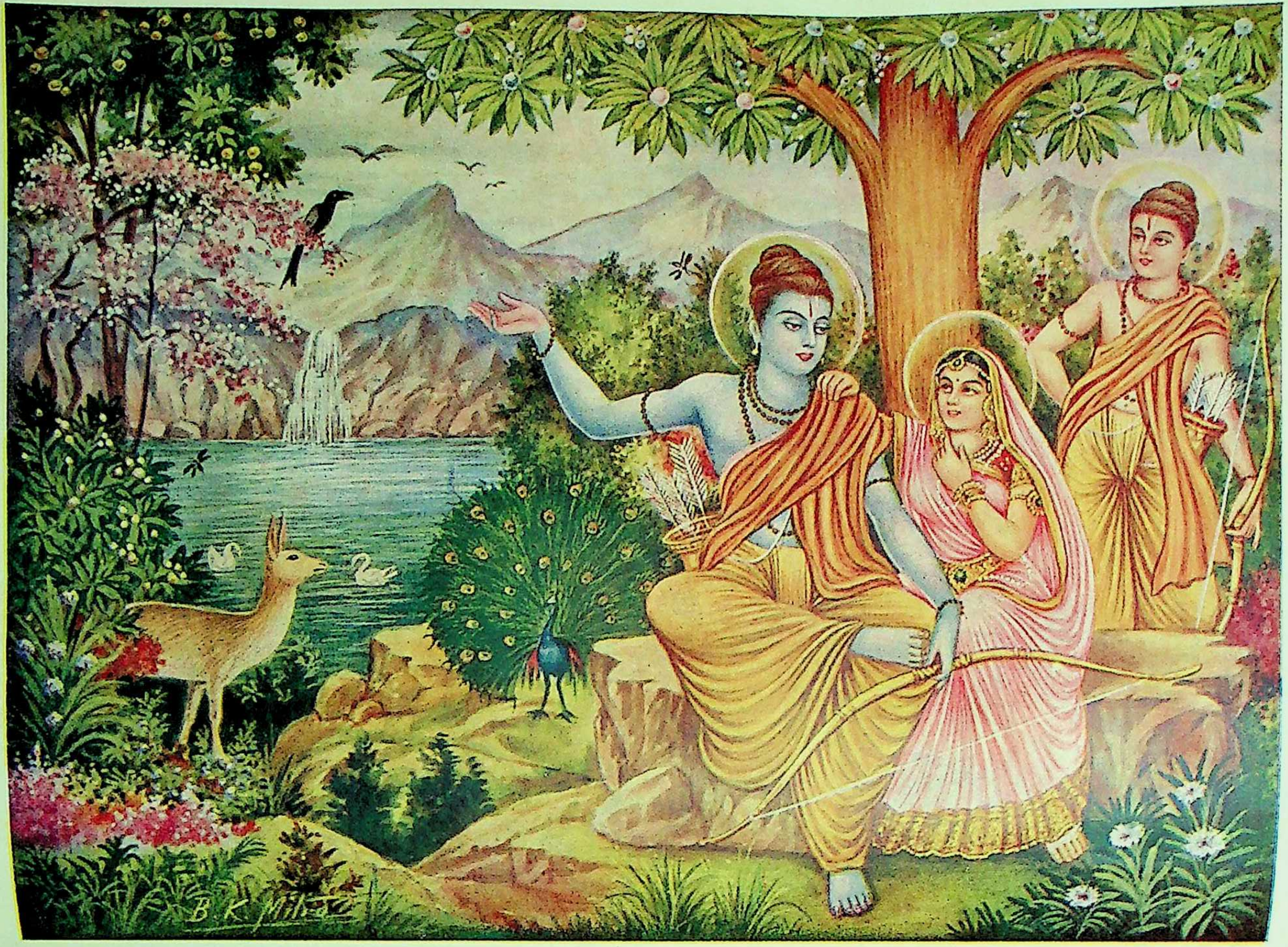

चित्रकूटमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणकी झाँकी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

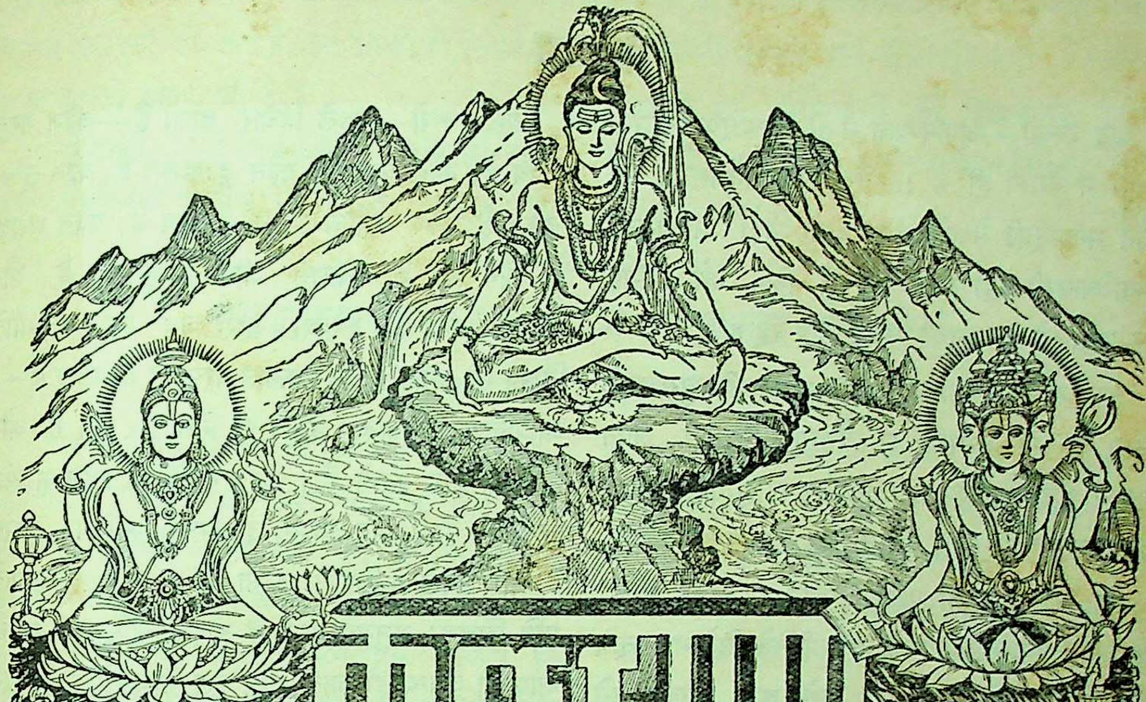

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥

वर्ष २५ } गोरखपुर, सौर पौष २००८, दिसम्बर १९५१ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ३०१

चित्रकूटमें श्रीसीताराम-लक्ष्मणकी झाँकी

लोने लाल लखन, सलोने राम, लोनी सिय, चारु चित्रकूट बैठे सुरतरु-तर हैं ।
गोरे-साँवरे सरीर पीत नील नीरज-से प्रेम-रूप-सुखमाके मनसिज-सर हैं ॥
लोने नख-सिख, निरुपम, निरखन जोग, बड़े उर-कंधर बिसाल भुज बर हैं ।
लोने लोने लोचन, जटनिके मुकुट लोने, लोने बदननि जीते कोटि सुधाकर हैं ॥
लोने-लोने धनुष, बिसिष कर-कमलनि, लोने मुनिपट कटि लोने सरघर हैं ।
प्रिया प्रिय बंधुको दिखावत बिटप, बेलि, मंजु कुंज, सिलातल, दल, फूल, फर हैं ॥
ऋषिनके आश्रम सराहैं, मृग-नाम कहैं, लागी मधु, सरित झरत निरझर हैं ।
नाचत बरहि नीके, गावत मधुप-पिक, बोलत बिहंग, नभ-जल-थल-चर हैं ॥
प्रभुहि बिलोकि मुनिगन पुलके कहत भूरिभाग भये सब नीच नारि-नर हैं ।
तुलसी सो सुख-लाहु लूटत किरात-कोल जाको सिसकत सुर बिधि-हरि-हर हैं ॥

—गोस्वामी तुलसीदासजीकृत गीतावली (अयोध्याकाण्ड)

कल्याण

याद रक्खो—अकर्मण्यता न तो भगवान्पर निर्भरता है और न वैराग्य ही है। भगवान्पर निर्भरतामें तो जीवन भगवान्की सेवासे भरा होता है। भगवान्का सेवक आलसी नहीं होता, वह तो नित्य नये उत्साह और उल्लाससे भगवान्की सेवामें लगा रहता है।

याद रक्खो—आलसी और कर्मसे जी चुरानेवाले मनुष्य कई बार निर्भरता या वैराग्यके नामपर अपने आलस्य और अकर्मण्यताको छिपाना या युक्तियुक्त सिद्ध करना चाहते हैं; परंतु वस्तुतः यह उनका प्रमाद है।

याद रक्खो—जो पुरुष भगवान्पर निर्भर होगा, वह अपने एक-एक क्षणको भगवत्प्रीतिके लिये भगवान्के अनुकूल कार्योंमें लगायेगा। उसे कभी भगवत्सेवासे अवकाश ही नहीं मिलेगा। वह अपने मनको, बुद्धिको और इन्द्रियोंको निरन्तर भगवान्की सेवामें नियुक्त रक्खेगा।

याद रक्खो—जो लोग भगवान्की निर्भरताका नाम लेकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना, सोना या प्रमादमें लगे रहना चाहते हैं, वे अपने-आपको धोखा देते हैं। अकर्मण्यता तमोगुणका मूर्तिमान् रूप है और भगवान्पर निर्भरता सत्त्वगुणका फल है। इन दोनोंमें कभी मेल नहीं हो सकता।

याद रक्खो—जो वैराग्यवान् पुरुष हैं, उनको जगत्के किसी विषयमें, किसी भी इस लोक या परलोकके भोगपदार्थमें आसक्ति नहीं है, न वे किसी पदार्थकी कामना करते हैं, परंतु अपने परमार्थ-साधनमें वे अत्यन्त तत्पर रहते हैं। संसारमें जबतक राग रहता है, तबतक परमार्थमें पूरी प्रवृत्ति नहीं होती। संसारकी आसक्ति बार-बार मनको खींचकर भोगोंकी ओर ले जाती है परंतु जब संसारासक्ति छूटकर विराग प्राप्त हो जाता है, तब तो पूर्णतया परमार्थ-साधनमें संलग्नता हो जाती है। ऐसी स्थितिमें अकर्मण्यता कैसे रह सकती है?

याद रक्खो—पहले विचार होता है—कौन वस्तु त्याज्य है, कौन ग्राह्य है; कौन दुःखरूप है, कौन सुखस्वरूप है; कौन अनित्य है, कौन नित्य है; कौन असत् है, कौन सत् है; किससे जीवनमें छूटना है और किसको पाना है। विवेकके द्वारा जब यह भलीभाँति निश्चय हो जाता है कि एकमात्र परमात्मा ही ग्राह्य हैं—आत्यन्तिक सुखस्वरूप हैं। वे ही नित्य हैं, सत् हैं और उन्हींको प्राप्त करना है। उनके अतिरिक्त इहलोक और परलोकके सभी भोग त्याज्य, दुःखरूप, अनित्य, असत् हैं और उनसे भलीभाँति छूटना है। तब परमात्माके प्रति चित्तका अनुराग होता है और भोगोंके प्रति अपने-आप ही वैराग्य हो जाता है। इस वैराग्यसे छः प्रकारकी सम्पत्ति (धन) मिलती है—उनके नाम हैं—शम (मनका वशमें होना), दम (इन्द्रियोंका वशमें होना), तितिक्षा (सहनशीलता), उपरति (भोगोंके सामने रहनेपर भी उनपर मन न चलना), श्रद्धा (परमात्मामें, उनकी प्राप्तिमें और प्राप्तिके साधन बतलानेवाले शास्त्र तथा संतोंके वाक्योंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास) और समाधान (सारी शङ्काओंका मिट जाना)।

याद रक्खो—जब ये छः सम्पत्ति मिल जाती हैं, तब मोक्षकी—परमात्माको प्राप्त करनेकी तीव्र लालसा जाग उठती है। ऐसी अवस्थामें साधक सब कुछ भूलकर प्राणपणसे परमार्थ-साधनमें लग जाता है। उसका मन, चित्त, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सभी अन्तर्मुखी होकर परमात्माकी प्राप्तिके पथपर अनवरत चलने लगते हैं। अतएव जो लोग वैराग्यके नामपर अकर्मण्यताको आश्रय देते हैं, वे सर्वथा भ्रममें हैं।

याद रक्खो—भगवान्की निर्भरतामें भक्तका जीवन सर्वदा और सर्वथा भगवत्-सेवा-परायण बन जाता है और वैराग्य उत्पन्न होनेपर वह परमात्म-साधनमें घुल-

मिलकर साधनरूप हो जाता है। इन दोनोंमें ही अकर्मण्यता या आलस्यको स्थान नहीं है।

याद रक्खो—ऐसे साधकोंके द्वारा होनेवाले 'कर्म' अवश्य ही विषयी पुरुषोंके कर्मोंसे भिन्न प्रकारके होते हैं। विषयी पुरुषोंके कर्म बाँधनेवाले होते हैं—और इन साधकोंके कर्म कर्मबन्धनसे मुक्ति दिलानेवाले। इसीलिये इन कर्मोंके नाम 'कर्म' न होकर 'निष्कामसेवा,' 'भक्ति' या 'ज्ञान' होता है।

'शिव'

* * *

भगवान् तथा महात्मामें प्रेम और श्रद्धा कैसे हो ?

(पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रवचन)

वास्तवमें प्रेमके आस्पद तो एक भगवान् ही हैं। महात्माओंमें प्रेमकी अपेक्षा श्रद्धा आवश्यक है। ईश्वरमें प्रेम-श्रद्धा दोनोंकी आवश्यकता है; क्योंकि ईश्वरका स्वरूप अलौकिक, दिव्य, चेतन है; महात्माओंका शरीर जड है, भौतिक है। ईश्वरके दर्शनमात्रसे कल्याण हो जाता है, पर महात्माके शरीरमात्रमें प्रेम होनेसे मुक्ति नहीं हो सकती। महात्मामें श्रद्धा होनी चाहिये। श्रद्धाका रूप क्या है ? महात्मा जो कहें, उसका पालन करे, वही श्रद्धा है; महात्माके शरीरकी सेवा-पूजा करनेमात्रसे कल्याण हो जायगा, इसकी गारंटी नहीं, किंतु यदि कोई महात्माकी आज्ञाका पालन करेगा तो उसकी अवश्य मुक्ति हो जायगी। महात्माके शरीरकी सेवा-पूजा करना तो उसे आरामतलब बनाना है। इसीलिये महात्मालोग बहुधा सेवा-पूजा नहीं कराते हैं। वे आराम तथा मान-बड़ाईसे दूर रहते हैं।

भगवान्‌के तो स्वरूप, लीला, धाम, नाम, गुण किसीमें भी प्रेम होनेसे उद्धार हो जाता है। अतः भगवान् प्रेम करनेके योग्य हैं। भगवान्‌के सिवा जो दूसरी चीजमें प्रेम है, वही खतरेकी चीज है। शास्त्रमें, परलोकमें, महात्मामें, परमात्मामें सबमें श्रद्धा करनी चाहिये। श्रद्धाके सब पात्र हैं, पर प्रेम करने योग्य तो परमात्माके सिवा कोई दूसरी चीज है ही नहीं। जिससे प्रेम करते हैं, उसके पास ठहरना अधिक होता है। महात्माके पास अगर पचास वर्ष रहें और उनकी आज्ञाका पालन न करें तो कल्याण नहीं हो सकता। उनका अनुकरण और उनकी आज्ञाका पालन दोनों कल्याणकारी हैं। यही गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३ । २१)

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३ । २५)

महात्मा पुरुषके द्वारा कहे वचनोंको सुनकर जो उसके अनुसार साधन करते हैं, पालन करते हैं, वे दत्तचित्त श्रुतिपरायण पुरुष संसार-सागरको तर जाते हैं। सुननेमें परायण कैसे हो ? जैसे मृग वीणाको सुनकर इतना मुग्ध हो जाता है कि चाहे उसे पकड़ लो, मार डालो, उसे किसी प्रकारका ध्यान नहीं रहता। इसी प्रकार महात्मा जो बतायें, उसे सुननेमें मन लगा दे, फिर उसे समझे और तदनुसार आचरण करे। सुनते तो बहुत हैं, पर लाभ तभी होता है, जब उसका धारण और पालन किया जाता है। सुनकर धारण न होनेका कारण है—श्रद्धाकी कमी। शास्त्रकी-महात्माकी बात सुनकर उसपर जिसको 'इत्थंभूत' विश्वास हो जाय कि बस यही करना है—चाहे मरें या जीवें, तो उसका कल्याण हो जाता है। स्वधर्ममें मरना भी कल्याणकारक है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (गीता ३ । ३५) इसलिये इसमें श्रद्धाकी आवश्यकता है। जितनी अधिक

श्रद्धा होती है, उतनी ही अधिक तेजीसे सिद्धि प्राप्त होती है । गीतामें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(४ । ३९)

श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त करता है । कैसा श्रद्धावान् ? जो साधनमें तत्पर हो । यहाँ यह विशेषण क्यों दिया ? इसीलिये कि जिस कार्यमें जितनी साधनकी तत्परता है, उतनी ही उसमें श्रद्धा है। श्रद्धाकी कसौटी है—तत्परता। जैसे लोभी पुरुष लाभकी वस्तुकी ओर सब प्रकारसे तत्पर होकर जुट जाता है, इसी तरह कल्याणकामी मनुष्यको जब यह दृढ़ विश्वास निश्चय हो जाय कि इस साधनसे कल्याण हो जायगा, तब वह फिर साधनमें कमी नहीं रखता । श्रद्धालु पुरुषको ज्ञान मिलता है, ज्ञानसे परम शान्ति मिलती है, पर जहाँ तत्परता नहीं है, वहाँ श्रद्धा नहीं है । फिर इसका विशेषण दिया ‘संयतेन्द्रियः’ अर्थात् जिसके इन्द्रिय-मन वशमें हैं । जिसके इन्द्रिय-मन वशमें नहीं हैं, वह पूरी तत्परतासे साधन नहीं कर रहा है । श्रद्धाका अभाव अज्ञानके कारण होता है ।

मृत्यु आनेपर एक क्षणका भी अवसर लाख रुपये देनेपर भी नहीं मिल सकता । न रोनेसे काम बनता है न सिफारिश चलती है । ऐसी स्थितिमें कर्तव्य यह है कि जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो, चैन न लें । किसीसे बात करनेका भी अवकाश न दें । साधनमें थोड़ी भी कमी रह गयी और बिना भगवत्-प्राप्तिके जाना पड़ा तो पता नहीं, फिर किस योनिमें जन्म होगा । मनुष्यसे इतर सभी योनियाँ भोग-योनि हैं । इसी योनिमें परमात्माकी प्राप्ति सहज होती है । अतः हम क्यों दूसरे जन्मकी आशा करें ? इसी जन्ममें काम बना लें, नहीं तो, बहुत खतरा है ।

किसी गाँवमें एक उच्चकोटिके महात्मा थे । उनके पास लोग जाया करते थे । उस गाँवके राजाके पास भी यह समाचार पहुँचा । तब लोगोंकी प्रेरणासे एक दिन वह भी वहाँ गया । महात्मा पहलेसे ही यह सोच चुके थे कि ‘यह राजा बड़ा कामी और भोगी है । अतः इसका सुधार हो जाय तो इसके साथ प्रजाको भी लाभ हो ।’ राजा आया । कुशल पूछनेपर राजाने प्रार्थना की—‘महात्मन् ! कोई ऐसी दवा दीजिये, जिससे मैं कितनी ही स्त्रियोंके साथ कितना ही रहूँ, कभी थकूँ नहीं ।’ महात्माने अपनी कुटियासे एक बोतल मँगायी । उसमेंसे दो बूँद दवा राजाको दी और शेष सारी स्वयं पी गये । राजा घरपर गया तथा रात्रिमें काम चेतन होनेपर सब रानियोंको तृप्त कर दिया; पर स्वयं तृप्त नहीं हुआ । उसका वैसे ही काम जाग्रत् रहा । तीन दिन बाद महात्माके पास फिर गया और बोला, ‘आपकी दवा बड़ा काम करती है । दो बूँद और दीजिये ।’ महात्माने और दे दी । इस प्रकार वह दो तीन महीनेतक हर तीसरे दिन दो बूँद दवा ले लेता और खूब विषय-भोग करता । महात्मा भी शेष बची सारी बोतल उसके सामने स्वयं पी जाते। एक दिन राजाने कहा—‘ऐसी दवा दीजिये जिससे रोज-रोज न आना पड़े; सदाके लिये काम हो जाय ।’ महात्माने उसे पूरी बोतल पिला दी । जब राजाने पी ली, तब महात्मा बोले—‘मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गयी। राजा बोला—‘क्या?’ महात्माने कहा—‘क्या बताऊँ, तुम तीन दिनके बाद मर जाओगे ।’ राजा बोला—‘क्या मैं मर जाऊँगा ?’ महात्मा बोले—‘हाँ ।’ राजाने पूछा, बचनेका कोई उपाय भी है ? महात्माने बहुत सोच-विचारकर कहा—‘है, पर बहुत कठिन है ।’ तब राजा बोला—‘कितना ही कठिन हो, मैं उसे कर लूँगा, आप बताइये ।’ महात्माने कहा—‘बस, अबसे लेकर मरणतक भगवान्‌का नाम न भूलो ।’ राजाने कहा—‘ठीक है । मैं पालन करूँगा ।’ घरपर जाकर वह अलग एकान्त महलमें बैठ गया । डुग्गी पिटवा दी कि ‘कोई मेरे पास न आये, जो आयेगा, उसे

मृत्युदण्ड होगा ।' वह परमात्माके भजन-ध्यानमें मस्त हो गया । न खाना याद रहा, न पीना, न मल-मूत्रका त्याग ही । भगवान्‌के ध्यानसे अहङ्कारका नाश हो गया । समाधि लग गयी । सात दिन हो गये, समाधि नहीं टूटी । इधर बाहरके लोगोंने देखा—तीन दिनके बाद मरनेका समय था, सात दिन हो गये, कोई खबर नहीं । जाकर देखा, समाधि लगी हुई है । कुछ हो-हल्ला होनेपर राजाकी भी समाधि टूटी । राजाने कहा—'तीन दिनके पहले दरवाजा क्यों खोला ।' कहा गया 'महाराज ! सात दिन हो गये ।' 'महात्माने कहा था तीन दिनमें मर जाओगे, मैं कैसे नहीं मरा ?' यह सोचकर वह फिर महात्माके पास गया । सब बातें कहीं । तो महात्माने पूछा—'क्या अभी तुम्हारेमें 'मैं' है ?' कहा 'नहीं' । तब बोले ''मैं' अर्थात् जो अहङ्कार था, वह मर गया । शरीरके मरनेकी तो कोई बात नहीं है ।' फिर राजाने पूछा—'आप प्रतिदिन पूरी बोतल दवा पी जाते हैं, आपपर उसका कोई असर नहीं होता । मुझपर तो दो बूँदसे ही इतना असर हो जाता था ।' महात्मा बोले—'अभी सात दिन पहले तुमने भी तो पूरी बोतल पी ली थी । तुमपर क्यों नहीं असर हुआ ?' राजाने कहा—'महाराज ! मुझे तो तीन दिनपर मौत सामने दीखने लगी, इससे स्त्री-पुत्र आदि कुछ भी याद नहीं आये ।' महात्मा बोले—'बस, यही बात है । मुझे तो प्रतिक्षण मौत दिखायी देती है, फिर मुझपर कैसे असर होता ?'

इस प्रकार हम भी यदि मृत्युको अत्यन्त समीप समझें तो थोड़े समयमें ही हमारा कल्याण हो सकता है, जैसे राजा इतना भारी कामी था, किंतु उसके लगन लगनेसे सात दिनोंमें ही उसका कल्याण हो गया ।

लगन लगनेका यह कारण था कि उसे विश्वास हो गया था कि 'मेरी तीन दिनों बाद मृत्यु हो जायगी ।' अतः वह खान-पानको छोड़कर ध्रुवजीकी तरह ध्यानमें मस्त हो गया । इसी प्रकार हमलोग भी मृत्युको अत्यन्त समीप और समयको अमूल्य समझकर रात-दिन परमात्माके ध्यानमें लग जायँ तो हमारा कल्याण भी शीघ्र हो सकता है । समय बहुत अल्प है, उसे बहुत कीमती समझना चाहिये । इस समय हमारा कल्याण नहीं हुआ, तो फिर आगे बहुत खतरा है । परमात्माके सिवा हमारा कोई भी रक्षक नहीं है । हमलोग अनाथके समान मारे जायँगे । इस प्रकार मृत्युको समीप देखकर परमात्माके ध्यानमें मस्त हो जाना चाहिये—यही कल्याणका मार्ग है ।

प्रश्न–कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसमें बुद्धि, विवेक, ज्ञान नहीं है—क्या उसका भी उद्धार हो सकता है ?

उत्तर–हो सकता है ! कैसे ? सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे । उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे, साधन करनेसे ।

प्रश्न–मृत्यु अत्यन्त समीप आ गयी हो और तब फिर चेत हो तो कल्याण हो सकता है या नहीं ?

उत्तर–हो सकता है । जैसे राजाका हुआ । अत्यन्त तत्पर होनेसे शीघ्र ही कल्याण हो सकता है ।

प्रश्न–कोई अत्यन्त दुराचारी है, कामी है, भोगी है, व्यसनी है—उसका भी उद्धार हो सकता है या नहीं ?

उत्तर–हो सकता है । बहुत शीघ्र हो सकता है । जैसे राजाका हो गया । भगवान् स्वयं कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३०–३२)

पापीसे भी पापीका उद्धार हो जाता है । पर अनन्य मन होना चाहिये । अनन्य भावसे भजना चाहिये । जैसे राजाने भजा । जैसे प्रह्लाद एकनिष्ठ भक्त होते हैं । जैसे पतिव्रता स्त्री पतिपरायणा पत्नी होती है ।

उसी प्रकार अव्यभिचारिणी भक्ति होनी चाहिये। परमात्माके सिवा किसीकी इच्छा न हो। उसके सिवा किसीमें निष्ठा न हो, निरन्तर उसीको भजे। तो फिर मनुष्य शीघ्र ही महात्मा बन जाता है। देर नहीं लगती। पर भजन एकनिष्ठ भावसे निरन्तर होना चाहिये। जब ऐसे महान् पापियोंका उद्धार हो जाता है, तब फिर पुण्यवान् पुरुषोंकी तो बात ही क्या है। यदि कहा जाय कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती सो यह ठीक है, परन्तु भगवान्की कृपासे हो सकती है। जो निरन्तर भजता है, उसे भगवान् स्वयं बुद्धियोग दे देते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर प्रेमपूर्वक मुझको भजनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।' गीतामें नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवालोंकी बड़ी महत्ता दिखायी है।

भगवान्ने कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२ । ७)

'अर्जुन! उन मुझमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।' इसलिये तुम—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२ । ८)

'मुझमें मनको लगाओ और मुझमें ही बुद्धिको लगाओ। इसके बाद तुम मुझमें ही निवास करोगे। अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

इससे यह निर्णय हुआ कि चाहे मनुष्य कैसा ही मूर्ख हो, पर अनन्य भक्तिके प्रभावसे भगवान् उसे ज्ञान दे देते हैं। चाहे मनुष्य कैसा ही पापी हो, भक्तिके प्रभावसे उसका भी उद्धार हो जाता है। चाहे मृत्युका समय कितना ही निकट आ गया हो, उसका भी भगवान्की भक्तिसे उद्धार हो जाता है। भगवान्की भक्ति भगवान्में प्रेम होनेपर होती है; भगवान्में प्रेम भगवान्की भक्ति करनेसे होता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इस बातको सोचकर मृत्युको अत्यन्त समीप समझकर, समयको अत्यन्त कीमती समझकर खूब जोरसे भक्तिमें लग जाना चाहिये। मनुष्य एक क्षण भगवान्को न भूले। आयुका एक क्षण लाख रुपये खर्च करनेसे भी नहीं बढ़ सकता। फिर बाँग मार-मारकर रोयेंगे तो भी सुनवाई नहीं होगी, न सिफारिश चलेगी। मृत्यु आ जायगी तब मरना ही पड़ेगा। कोई भी उपाय नहीं कि किसी भी प्रकारसे दो-चार घड़ी भी जीवन रह जाय। मृत्युका कोई भरोसा भी नहीं है कि वह कब आ जाय। मृत्यु आती है तो पहले खबर नहीं देती कि मैं कल आऊँगी। अतः मृत्युका विश्वास न करे। हर समय मृत्युको अत्यन्त निकट समझे। आजका दिन निकल गया तो कलका शायद ही निकले। कलका निकल गया तो फिर उसके आगेका शायद ही निकले—इस प्रकार समझकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हो जाय। निश्चय कर ले कि परमात्माको आज ही प्राप्त करके छोड़ेंगे, नहीं तो मर मिटेंगे। सब कामोंको ठुकराकर सबसे पहले यह काम करना है, क्योंकि हम आज मर गये तो हमारा वैसे ही इस धन, कुटुम्ब, पुत्र, ऐश्वर्य किसीसे भी किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहेगा—जैसे हमारे दादा-पिताका नहीं रहा। तथा इससे पूर्व हम कहाँ थे, कौन थे, क्या जाति थी, क्या स्थिति थी, हमारा क्या ऐश्वर्य था, कुछ भी पता नहीं है। इसी प्रकार आगे भी पता नहीं रहेगा। अतः रुपये आदिके संग्रहमें समय बिताना सरासर मूर्खता है। पूर्व-

जन्मोंमें तो व्यर्थ बिताया, इस जन्ममें तो इन चीजोंके लिये समय व्यर्थ न गँवायें । इनकी तो क्या कहें, यह शरीर भी हमारे साथ नहीं जायगा । इस बातको समझकर सबके मोहको छोड़ देना चाहिये । हमारी आत्माके कल्याणमें जो सहायता करे, वही शरीर हमारा है । वही धन हमारा है, जो आत्माके कल्याणमें सहायता करे । वही पुत्र हमारा है, जो आत्माके कल्याणमें मदद करे । वही संपत्ति हमारी है, जो आत्माके कल्याणमें मदद करे, नहीं तो विपत्ति है । इस प्रकार विचारकर आत्माके कल्याणके लिये कटिबद्ध हो जाय । शरीरका भी, जो हमसे अलग होनेवाला है, क्यों दावा करे । चाहे कल मरता—आज मर जाय । वास्तवमें मरेंगे तभी, जब मरना होगा । इसपर भी एक कहानी है—

एक व्यक्ति मारवाड़का रहनेवाला था; परंतु रहता था बाहर । वह बीस वर्षके बाद सपरिवार अपने घर गया । उसकी हवेली इतने वर्षोंसे बंद थी । हवेली खोली । सफाई की । रातमें सोये तो कई प्रेत आये । बोले, 'यहाँसे निकलो।' मालिक बोला, 'यह मेरी हवेली है।' वे बोले, 'नहीं, हम यहाँ रहते हैं, भाग जाओ।' कहा—'रातभर सोने दो, हम कल चले जायँगे।' दूसरे दिन फिर सो गये । फिर प्रेत आये । तो फिर कहा—'दो-चार दिन और रहने दो, मकानका प्रबन्ध करके चले जायँगे।' इस प्रकार वे टालमटोल करते रहे । एक दिन घरके मालिकने प्रेतोंसे पूछा—'आप दिनमें कहाँ जाते हैं?' बोले—'हम यमराजके पास जाते हैं।' तो उसने कहा कि 'हमारा भी एक काम करना—उनसे पूछ आना कि हमलोगोंकी आयु कितनी है।' प्रेतोंने इसे स्वीकार किया । दूसरे दिन जब प्रेत आये, तब पूछनेपर सबकी आयु भिन्न-भिन्न बतायी । तब वह बोला, 'कृपया हमारा एक काम और कर दो । यमराज आपके मित्र हैं, उनसे प्रार्थना कर दो कि हमलोगोंकी आयुमें या तो वे एक-एक दिन घटा दें अथवा एक-एक दिन बढ़ा दें।' कहा 'इसमें क्या बात है।' जाकर यमराजसे प्रार्थना की । यमराज बोले—'इसमें तो न तिल घट सकता, न राई बढ़ सकती है । यह हमारी सामर्थ्यके बाहरकी बात है।' प्रेतोंने आकर यमराजकी कही सारी बात ज्यों-की-त्यों सुनायी। उसके बाद फिर प्रेतोंने उन्हें घरसे निकलनेके लिये कहा तो वह फिर पहलेकी भाँति टालमटोल करने लगा। तब प्रेतोंने उसे डाँटा कि 'अगर नहीं जाओगे तो हम तुम्हें मार डालेंगे।' वह बोला, 'वाह! जब यमराजकी मारनेकी ताकत नहीं, तब तुम्हारी क्या ताकत है, जो हमारी आयु समाप्त होनेके पूर्व ही मार डालोगे।' तब वे समझ गये और स्वयं घर छोड़कर चले गये। अतः हमें आयुके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। जब आयु समाप्त होगी, तभी मरेंगे । न एक दिन बढ़ सकता है, न एक दिन घट सकता है । इसके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं । किंतु जबतक शरीर है, अपने आत्म-कल्याणका उपाय कर लेना चाहिये । ऐसा न हो कि बिना कल्याण हुए ही मौत आ जाय और हमें पछताना पड़े । गो० तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥

अतः यदि मनुष्य-शरीर पाकर भी अपनी आत्माका उद्धार नहीं किया तो फिर पछताना पड़ेगा। हमें मनुष्य-शरीर मिला हुआ है तथा परमात्मा, श्रुति-स्मृति, तुलसीदासजी, कबीरदासजी आदि संत सब चेतावनी दे रहे हैं।

कबीरदासजी कहते हैं—

कबिरा नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय ।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय ॥

श्रीभगवान् गीतामें कह रहे हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।

'इस अनित्य और सुखरहित लोकको पाकर मुझे भजो।' फिर कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(गीता ९ । ३४)

'मुझमें मनवाले हो, मेरे भक्त हो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार मेरे शरण हुए तुम आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होओगे।'

ये सब बातें आपलोग वर्षोंसे सुनते आ रहे हैं। पर जिस प्रकारसे उन्नति होनी चाहिये, वैसी कम देखनेमें आती है। बहुत-से हमारे मित्र हुए; कई धनी थे, कई गरीब थे, पर सब चले गये। बड़े भी चले गये, बराबरके भी चले गये, छोटे भी चले गये, हम भी चले जायँगे। युक्तिसे भी समझते हैं, शास्त्र भी समझाते हैं, पर समझमें नहीं आ रहा है। महाभारतमें भी यक्षके प्रश्नपर युधिष्ठिरने यही बताया—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

'दिन-प्रतिदिन प्राणी यमलोक जा रहे हैं—मर रहे हैं, फिर भी बचे हुए मनुष्य सदा जीना चाहते हैं—इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा।' बहुतोंको समझाते हैं, हम मित्रोंसे कहते हैं कि 'सावधान हो' तो कोई कहता है कि 'ऋण चुक जाय तब ठीक रहे।' कोई कहता है 'और सब ठीक है, लड़कोंका विवाह हो जाय तो ठीक रहे।' फिर शान्तिसे भजन करें। कोई कहते हैं, और सब ठीक है, लड़के भी होशियार हैं, पर जरा इन्कमटेक्सका मामला और सलटा दें तो ठीक रहे।' यह हमारे मित्रोंका हाल है। बहुत-से मर गये, बाकी मरेंगे ही, एक भी ऐसा नजर नहीं आता, जिसके लिये यह कहा जाय कि उसने मृत्युका इन्तजाम कर लिया है। इसीलिये सबसे कहते हैं—'समय थोड़ा रहा है, तत्परतासे साधन करो।' तो, हाँ, हाँ करते हैं। करेंगे, ऐसा बोलते हैं। बहुत-से ऐसे बोलते-बोलते चले भी गये। अब किसे कैसे समझायें। जीते समझते नहीं, मरनेपर समझानेका उपाय नहीं। इसीका धन-कुटुम्ब आदिकी चिन्तावाले चिन्ता करते-करते मर गये। न चिन्ता मिटी, न आत्म-कल्याण ही हुआ। अब भी बहुतोंको कहते हैं। पर बात समझमें नहीं आती है। या तो हमारा दोष है अथवा सुननेवालोंका। भगवान्का तो है ही नहीं। उनकी तो बड़ी कृपा है। उनकी कृपाका तो प्रवाह बह रहा है। इतनी भारी कृपा है कि हम उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। स्वयं भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।
(गीता ५।२९)

'मैं सारे प्राणियोंका सुहृद् हूँ, यह जानकर जीव शान्ति पा जाता है।'

भगवान् हेतुरहित दयालु हैं। यही बात रामायणमें शिवजी कहते हैं—

उमा राम सम हितु जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥

यह मनुष्य-शरीर हमें भगवान्की बड़ी कृपासे मिला है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इस प्रकार जो कुछ हो रहा है, उसमें भगवान्का मङ्गलमय विधान समझकर परम सन्तुष्ट हो आनन्द मानें। उनकी दया सर्वत्र ओतप्रोत समझें। भगवान्को अपना परम सुहृद् समझें। भगवान्के समान कौन धनी, कौन दयालु है। उनके शरण हो जायँगे तो परम शान्ति मिल जायगी। अनिच्छा-परेच्छा जो भी सुख-दुःख प्राप्त हो, उसे भगवान्का मङ्गलमय विधान मानें। इस प्रकार समझनेसे किसी तरहके दुःखका अनुभव नहीं होता और परम शान्ति मिलती है।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५३)

करुणावरुणालय व्रजराजकुमारका कोमल हृदय आर्द्र हो उठा हंसवाहनकी इस दयनीय दशाको देखकर। यह स्पष्ट था कि वेदज्ञानके आदिप्रवर्तक सर्वविद्यापति पितामह ब्रह्मामें अब तनिक भी सामर्थ्य नहीं रही थी कि वे श्रीकृष्णचन्द्रके असमोर्ध्व ऐश्वर्यका इससे अधिक किञ्चिन्मात्र अंश भी और देख सकें। उनके नेत्रोंके सामने जितना जो अंश व्यक्त था, वही इतना विलक्षण था कि वे भ्रमित हो चुके थे। तर्क उनका समाधान कर नहीं सकता था। श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्रकी समस्त वस्तुएँ तर्कसे अतीत जो हैं। प्रपञ्चनिर्माताके हाथोंसे ही विश्वकी एक-से-एक अधिक विस्मयजनक वस्तुएँ सृष्ट हुई हैं। पर कभी एक भी ऐसी वस्तु निर्मित नहीं हुई, जिसका अवलम्बनकर वे श्रीकृष्णचन्द्रके अचिन्त्य स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्यके सम्बन्धमें तर्क करते हुए अनुमान लगा लें। प्राकृत पदार्थ ही तर्कगोचर होते हैं, हो सकते हैं। पर नन्दनन्दन तो प्रकृतिसे परेकी वस्तु हैं। वे स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप हैं। उन्हें इन्द्रियाँ प्रकाशित ही कैसे कर सकती हैं? कृपापरवश हुए अपनी स्वप्रकाशिका शक्तिसे वे किसीकी बुद्धिमें उतर आयें, तभी उन्हें कोई भले जान ले। अस्तु, स्थूल नहीं, अणु नहीं, क्षुद्र नहीं, विशाल नहीं, घन नहीं, द्रव नहीं, छाया नहीं, तम नहीं, वायु नहीं, आकाश नहीं, सङ्ग नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, नेत्र नहीं, कर्ण नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, तेज नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, माप नहीं—इस प्रकार समस्त अपरमात्म वस्तु मायिक पदार्थोंका निषेध कर ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके द्वारा जिनके सच्चिदानन्दस्वरूपका सङ्केत प्राप्त होता है, उन्हें ब्रह्माने उन्हींकी अपार कृपाके बलपर प्रत्यक्ष देखा, उनके अपरिसीम ऐश्वर्यसमन्वित रूपको देखा। फिर भी वे स्थिर, विकृतिशून्य रह सकें, यह सम्भव ही नहीं। वे मोहित हुए ही, और ऐसे हुए कि क्या देख रहे हैं, वे प्रज्ञा खोकर उस दिव्यातिदिव्य झाँकीके दर्शनमें भी असमर्थ हो गये। वे आये थे व्रजेन्द्रनन्दनके किसी और लीला-वैभवको देखनेकी उत्कण्ठा लेकर तथा नन्दनन्दनने भी उनका मनोरथ पूर्ण हो जानेकी स्वीकृति दे दी। तुरंत ही योगमायाका प्रभाव व्यक्त हो गया और पितामह लगे देखने असाधारण अप्राकृत चमत्कार। किंतु कणिकामात्रके दर्शन होते-न-होते मोहित होकर वे सुध-बुध खो बैठे। परात्पर सर्वकारणकारण श्रीकृष्णचन्द्रने उनकी यह अवस्था भी देख ली। प्रभुके महामहैश्वर्य दर्शनकी उनकी अयोग्यता छिपी न रह सकी। इसीलिये दृश्य-परिवर्तन अनिवार्य हो गया। कृपामय प्रभु द्रवित हो गये और तत्क्षण ही उन्होंने योगमायाकी यवनिका हटा दी—

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ५७)

तब श्री हरि वह माया जिती। अंतरध्यान करी तहँ तिती ॥

अब कहीं पद्मयोनिकी चेतना लौटी। जैसे मृत्युके उस पार पहुँचे हुए प्राणीमें पुनः नवजीवनका सञ्चार हो जाय, इस प्रकार वे अपने इस मुग्ध विवश, संज्ञाविहीन अवस्थासे जागे, बाह्यज्ञानकी वृत्ति उदय हुई, इन्द्रियोंमें क्रियाशीलता आयी। अतिशय कष्टसे अपने आठों नेत्र उन्मीलितकर वे बाहरकी ओर देखने लगे। इस बार अपनी सत्ताका, जगत्‌का उन्हें पुनः अनुसन्धान प्राप्त हुआ। अन्यथा इससे पूर्व तो श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य-सिन्धु उच्छलित हो रहा था, उसकी उत्ताल तरङ्गोंमें अहन्तास्पद अपने आपका, ममतास्पद जगत्‌का सम्पूर्ण अस्तित्व ही विलुप्त हो चुका था—

ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः ।
कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ५८)

हरि माया जब करि उपरामा । खुले नयन तब लखि सब ठामा ॥
जिमि कोउ मृत्यु पाइ पुनि जागै । जहँ तहँ लखै बस्तु अनुरागै ॥
तिमि यह देखत भा चहुँ ओरा । चारि बदन कर सुख नहिं थोरा ॥

ब्रह्माने चारों ओर दृष्टि डाली । सामने अवस्थित वृन्दाकाननके दर्शन हो गये । अहा ! क्या कहना है, सुपक्व सुमधुर फलभारसे अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावली, रङ्ग-विरङ्गे सुरभित कुसुमोंका आभरण धारणकर तरुश्रेणीको वेष्टित किये लतावल्लरियाँ, इनपर आसन डाले चित्र-विचित्र विहङ्गमोंका कलगान, हरित तृणराजि, क्षुप्-वीरुधका अंबार और सर्वत्र मन्द मन्थर पवनका शीतल स्पर्श—कहीं इनकी तुलना भी है ? श्रीकृष्णचन्द्रके इस परमप्रिय श्रीवृन्दावनधामको देखकर हंसवाहनके नेत्र शीतल होने लगे—

सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम् ।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ५९)

वृंदावन श्री निकट निहारी । तरु अति ललित फलित फल भारी ॥
विरुध लता तृन गुल्म सुहावन । सकल जीव बहु अति मन भावन
सदा बसंत सघन तरु छाया । कुहकत कोकिल मोर सुहाया ॥
जीवत जीव अमित चहुँ ओरा । निस दिन तिन कहुँ सुख नहिं थोरा

× × × ×

श्रीवृन्दाबन-सघन-सरस-सुख नित छबि छाजत ।
नन्दनबन से कोटि-कोटि जिहि देखत लाजत ॥
तैसिय निर्मल-नीर निकट जमुना बहि आई ।
मनहुँ नील-मणि-माल बिपिन पहिरे सुखदाई ॥
अरुन, नील, सित, पीत कमल-कुल फूले फूलनि ।
जनु बन पहिरें रंग-रंग के सुरंग दुकूलनि ॥
इन्दीवर कह्लार कोकनद पद्मनि ओभा ।
मनु जमुना दग करि अनेक निरखति बन-सोभा ॥
तिन मधि झरत पराग प्रभा लखि दृष्टि न हारति ।
निज घरकी निधि रमा रीझि जनु बनपर वारति ॥
सरस सुगंध पराग छके मधु मधुप गुँजारत ।
मनु सुषमा लखि रीझि परस्पर सुजस उचारत ॥
पुलिन पवित्र बिचित्र चित्र चित्रित जहँ अवनी ।
रचित कनक मनि खचित लसत अति कोमल कमनी ॥
जलमें झाँही झलमलाति प्रतिबिम्बित सरसें ।
जलके भ्रमर तरंग रंग-रंगिन के दरसें ॥
तट पै ताल तमाल साल गहवर तरु छाए ।
सभा-काज ऋतुराज बितान मनहुँ तनवाए ॥
कल्पवृक्ष संतान पारिजातक हरिचन्दन ।
देवदारु मंदार अगर अंबर मलयज घन ॥
तिनपर चढ़िकर लता उच्च अति फूल झरत खिलि ।
मनु बिमान चढ़ि देवबधू बरषति कुसुमावलि ॥
तुलसी, कुंद, कदंब, अंब, निंबू बहुरंगी ।
बट, असोक, अश्वत्थ, अगस्त आमर्द पतंगी ॥
कोबिदार, कचनार, बंसके बिल्आ चोखे ।
बिजयसार, श्रृंगारदार, अरु चारु अनोखे ॥
अमलबेत, आरू, अंगूर, अंजीर, अमृतफल ।
बरना, आरिनि, कर्निकार, कलियार बेत भल ॥
सेमर, तिंदुक, मधुक, बिल्व, पापरी पलासा ।
सरस, बहेरा, कुरा, कैथ, कमरख, सविलासा ॥
जाइ, जायफल, बकुल, इलाइचि, लौंग, सुपारी ।
कदली मिली कपूर गहरि जिहि लगि रहि भारी ॥
केतकि अरु केवरा नागकेसरि केसरि अति ।
मेहँदी अरु माधवी मधुरि मल्ली अरु मालति ॥
फूली चंपक फैलि रही जिहि सुगँध बिसाला ।
निज गुन मनहु प्रकासि लसति नव जोबन-बाला ॥
नागबेलि बेला प्रबाल को है विस्तारा ।
नरगस मुक्ता, मदनबान, मोगरा, निवारा ॥
सुगंधार, सतबर्ग, जीवबंधुक अरु दौना ।
गुलइबाँस बहु खिले मदन के मनहुँ खिलौना ॥
सूरजमुखी, गुलाब, गुलाला, नाफर मानो ।
सोनजुही, सेवती, सरूँ लै बिच-बिच ठानो ॥
सुरतरु सम द्रुम-बेलि जाति सब सुख-कर श्रेनी ।
चिंतामनि महि सकल बनी चिंतत-फल-देनी ॥
द्रुमबल्ली संकुलित सकल अस लगत सुभग तन ।
मनु जड़ ह्वै निज तियहि सहित सेवत सब सुरगन ॥
बौरमंजरी मूल-फूल फल-दल-मनि-मोती ।
अं.त प्रोत प्रतिबिंब परत अगनित छबि होती ॥
फूल फलनके भार डार झुकि यों छबि छाजैं ।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकनि काजैं ॥
मधु-मकरंद पराग लुब्ध अलि मुदित मत्त-मन ।
बिरद पढ़त ऋतुराज नृपतिके मनु बंदीजन ॥

सुवा सारिका पढ़त कोकिला कूक मचावत ।
मनहुँ टेर दै पथिकजननको टेर बुलावत ॥
चातक, मोर, चकोर, सोर चहुँ ओर निकाई ।
रतिपति-नृपके दूत देत जनु फिरत दुहाई ॥
राजहंस कलहंस बंस यों सब्द सुनावत ।
मनहुँ सप्तसुर मधुर-साज मिलि गँध्रव गावत ॥
सुधा-सलिल-सर भरे विमल कमलनि जुत अलिगन ।
निगुन-ब्रह्म जनु सगुन होइ सोहत मोहत मन ॥
या बनकी बानिक समान पावनहिं निकाई ।
जाकी छबिकी छटा छलकि छबि सब बन छाई ॥

यहाँ इस वृन्दावनके अधिवासी जीवोंके मनमें वैरकी वृत्ति कभी जागती ही नहीं । जो स्वभावसे ही वैरभावयुक्त हैं, मनुष्य-व्याघ्र, विडाल-मूषक, सर्प-नकुल आदि परस्पर शत्रुभावपरायण प्राणिवर्ग हैं—वे भी परस्पर स्नेहके सूत्रमें बँधे, निरन्तर मित्रभावका अवलम्बन करते हुए यहाँ निवास करते हैं । यह अजित—श्रीकृष्णचन्द्रकी आवासभूमि जो ठहरी । इसीलिये उन महामहिमकी सन्निधिके प्रभावसे इस काननमें, काननके आश्रित चराचर समुदायमें मलिन विकृतिकी सम्भावना नहीं । व्रजराजनन्दनकी इस लीलाभूमिमें क्षुधा-पिपासा प्राणोंको चञ्चल नहीं करती, काम मनका मन्थन नहीं करता, क्रोध इन्द्रियोंको जलाने नहीं आता, लोभ संमोहका सृजन नहीं करता—एक भी अशुभ विकृति इस श्रीकृष्णक्रीडास्थलीमें प्रवेश ही नहीं कर सकती, नहीं करती । इनकी यहाँ गन्धमात्र भी नहीं—

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः ।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ६०)

जहँ निसर्ग तें जीव सब वैर भाव बिसराइ ।
बसहिं जहाँ सुख सों सदा प्रीति अधिक अधिकाइ ॥
केहरि करी कलापी ब्यालू । मूषक मृगसावक अरु भालू ॥
फिरहिं एक सँग भय बिसराई । नहिं जिनके हिय बैर बुराई ॥
कृष्णदेव क्रीडा थल पावन । क्रोध लोभ मद गर्व नसावन ॥
क्षुधा तृषा बाधै नहिं ताही । बसैं बिपिन जे नित चित चाही ॥

इस प्रकार परम रमणीय वृन्दारण्यके पावन दर्शनसे स्रष्टा पूर्णतया प्रकृतिस्थ हो गये । उस कमनीय शोभाका स्पर्श पाकर उनकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हो उठीं । उन्होंने जिस ओर दृष्टिपात किया, उधर ही अनुभव हुआ—वनके कण-कणमें केवल निराविल परमानन्द बिखर रहा है, निर्मलतम प्रेमके निर्झर झर रहे हैं, सर्वत्र अप्राकृत भावोच्छ्वासकी उन्मत्त पयस्विनी प्रसरित हो रही है । इस अमित माधुर्यराशिका बिन्दुमात्र पान करते ही हंसवाहनके आठों नेत्र भर आये । इतनेमें सहसा प्राणोंको झङ्कृत करते हुए एक साथ शतसहस्र भावोंकी ऊर्मियोंसे हृदयको प्लावित करते हुए नराकृति परब्रह्म व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र सामने स्फुरित हो उठे । विधाताके नेत्रोंने स्पष्ट देख लिया—बाल्यलीलारसका आवेश वैसा ही है, लीलारसपानकी मत्तता अभी भी वैसी-की-वैसी बनी है । दधिमिश्रित ग्रास भी करकमलमें ठीक वैसे ही सुशोभित है । और वे ठीक पहलेकी भाँति ही गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको चारों ओर खोजते फिर रहे हैं । कितना महान् आश्चर्य है—श्रुतियोंको ब्रह्ममें हस्त, पादकी उपलब्धि नहीं हुई 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' किंतु आज इस वृन्दाकाननमें वही ब्रह्म हाथमें दहीसे सने अन्नका ग्रास धारण किये विराजित है । श्रुतियोंके द्वारा जो एक अद्वय निर्धारित हो चुका है 'एकमेवाद्वितीयम्', वही आज गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको ढूँढ़ता फिर रहा है । जो अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप है, अनन्त है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं, ब्रह्म', वही आज, 'कहाँ गये मेरे सखा ! क्या हुए मेरे गोवत्स !' इस प्रकार अनजानकी भाँति अपनी खोयी निधिका अनुसंधान पा लेनेके लिये अपने चारों ओर दौड़ रहा है ! परात्परकी यह गोपशिशुलीला, एक, अद्वयका शिशुवत्सान्वेषण, ज्ञानस्वरूपकी ऐसी मुग्धता, अनन्तका चारों ओर घूमकर खोज पा लेनेका प्रयास, ब्रह्मका दधिमिश्रित अन्नग्राससे विभूषित कर-पल्लव—यह कितना विस्मयजनक है !

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ६१)

ब्रह्म सनातन गोप सरूपा । निरखत पुनि-पुनि रूप अनूपा ॥
पसुपबंस सिसुलीला धारी । देखत पुनि पुनि बदन निहारी ॥
अद्वय एक बोध सुख रासी । खोजत बत्स बाल अबिनासी ॥
है अनंत पुनि सब घटवासी । जासु प्रभाकन जगत प्रकासी ॥
सो परब्रह्म नाथ जगदीसा । खोजत बत्स बाल हरि ईसा ॥
कवल पानि बिचरत सुख मानी । केवल सिसुलीला में जानी ॥

× × ×

तहँ निरखे ब्रजराजकुमार । अद्वै ब्रह्म अनंत अपार ॥
बहुरि अगाध बोध श्रुति बोलै । सो बछ-बालक ढूँढ़त डोलै ॥

× × ×

जैसे प्रभु पूरब लखे बच्छ हरन के ठौर ।
अक्षि उघारि लखे तहाँ दधि ओदन लिय कौर ॥

अस्तु, व्रजेन्द्रनन्दनकी यह विश्वमनोहर शिशु-लीला देखकर ब्रह्मा अब अपने वाहन हंसपर आसीन न रह सके । क्षणार्ध पूर्ण होनेसे पूर्व ही वे अपने वाहन हंसको छोड़कर वृन्दाकाननके अवनीतलपर उतर आये—वहाँ, जहाँ अतिशय कमनीय भङ्गिमा धारण किये श्रीकृष्णचन्द्र अवस्थित हैं । स्रष्टा धैर्य तो कबके खो चुके थे, आते ही श्रीकृष्णपादपद्मोंमें लुट पड़े । उनका वह अरुणायित पीताभ-वर्ण शरीर—ऐसा प्रतीत हुआ मानो एक विशाल सुवर्णदण्ड वेगसे नीलसुन्दरके चरणाग्रमें तृणसङ्कुलित भूमिपर आ गिरा हो । आज इस क्षण पितामहको अनुभव हुआ, मानो उनके अनादि-सञ्चित अभिमानका भार सदाके लिये श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें समर्पित हो गया । अन्यथा उन्हें आशा नहीं थी कि महामहेश्वर नन्दकुलचन्द्रके इतने निकट जाकर भूमिपर लोटनेका परम दुर्लभ सौभाग्य वे पा सकेंगे । नैसर्गिक सनातन नियमोंका उल्लङ्घन नहीं होता । देवाभिमान अवशिष्ट रहनेपर साधारण प्राकृत भूमिका स्पर्श भी सम्भव नहीं ‘न हि देवा भुवं स्पृशन्ति’ और यह तो सर्वेश्वरकी चिदानन्दमयी क्रीडाभूमि है । इसकी एक रजकणिकाका स्पर्श पा लेनेके लिये योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी लालायित रहते हैं । देवगण तो पायेंगे ही क्या ? लीलापीयूष वितरण करनेके लिये आविर्भूत हुए सर्वेश्वरकी यह अपार करुणा ही है जो अमरवृन्द अन्तरिक्षकी सीमामें अवस्थित होकर लीलादर्शनका अधिकार पा लेते हैं । इससे पूर्व भी पद्मयोनि गोवत्सों-का हरण करनेके लिये वृन्दावनके उस तृणक्षेत्रमें उतरे थे, गोपशिशुओंको स्थानान्तरित करनेके लिये पुलिनके समीप आये थे । पर उस समय श्रीकृष्णचरणचिह्नित काननकी रजकणका पावनतम स्पर्श उन्होंने क्षणभरके लिये भी पा लिया हो, यह बात बिल्कुल नहीं । अपहरणकी समस्त क्रिया उनके द्वारा सम्पादित हुई थी, निम्नतम आकाशमें स्थित रहकर ही—वनभूमिको न छूकर ही । इसीलिये इस समय श्रीकृष्णपदपङ्कजमें दण्डवत् गिरकर पितामहका रोम-रोम आनन्दविह्वल हो उठा । फिर तो प्राणोंमें एक अभूतपूर्व उत्कण्ठा जागी, तिलमात्र और आगे सरक जानेका साहस आया तथा पितामह क्रमशः अपने चारों मस्तकोंको विभूषित करनेवाले मुकुटोंके अग्रभागसे व्रजराजनन्दनके चरण-नख-चन्द्रका स्पर्श करने लगे । इस प्रकार विह्वल होकर इन चरणसरोजोंमें प्रणत होनेका सुख कितना निराला है—इसे एकमात्र पद्मयोनिके प्राणोंने ही अनुभव किया । अवश्य ही प्राणोंकी यह अनुभूति गुप्त न रह सकी । यन्त्रपरिचालितसे हुए स्रष्टाके सिर किञ्चित् ऊपरकी ओर उठ गये और इतनेमें उनके अणु-अणुको प्लावित कर अन्तर्देशका वह सुखपूर, आनन्दप्रवाह बाहरकी ओर छलकने लगा, अश्रुवारिके रूपमें परिणत होकर नेत्रोंके पथसे बह चला । स्रष्टाके आठों नेत्र झरने लग गये, एवं श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणसरोरुह प्रक्षालित होने लगे, नहीं-नहीं, महामहेश्वरकी अर्चना आरम्भ हुई, स्रष्टा प्रथम अपने प्रेमाश्रुकी अजस्र धारासे ही श्रीकृष्णचन्द्रके चरणयुगलका अभिषेक करने लगे—

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य ।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ६२)

जान्यो जु ब्रह्म सरूप जदुवर हंस तजि पायन पर्‍यो ।
जिमि कनक दंड जु गिरै पुहुमी मुकुट निज हरि पद धर्‍यो ॥
मुद वारि नयन प्रवाह करि प्रभु पाइ अभिषिंचन कर्‍यो ।

एक ओर तो स्रष्टाका हृदय पानी बनकर अविराम बह रहा है और अब उधर उनकी स्मृतिके अन्तरालसे श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्यके, अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व देखे हुए दिव्यातिदिव्य चिन्मय दृश्योंके चित्रपट झलमल-झलमल करने लगते हैं। उन्हें स्मरण हो आता है—किस प्रकार ये व्रजेन्द्रनन्दन ही अनन्त गोप-शिशु एवं गोवत्सोंके रूपमें विराजित हो रहे थे, अपने स्वरूपभूत सहचरोंके साथ इनका निर्बाध गोष्ठ-विहार चल रहा था, फिर सहसा इनकी समस्त परिकर-मण्डली अनन्त श्यामल चतुर्भुज रूपमें परिणत हो गयी। इस चमत्कार-दर्शनसे उनके (स्रष्टाके) अचेत हो जानेपर पुनः वह दृश्य अन्तर्हित हो गया, बाह्यज्ञान होनेपर वृन्दावनकी सम्पदा, शोभा नेत्रोंमें भर गयी और वहाँ ये सर्वेश्वर बाल्यावेशसे विमुग्ध हुए पुनः पूर्वकी भाँति ही दृष्टि-गोचर हुए। यह स्मृति ब्रह्माको अतिशय चञ्चल कर देती है और वह पुनः लोटने लगते हैं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें। विचित्र दशा हो गयी है पितामहकी। जब वे व्याकुलतावश दण्डवत् लम्बित होकर अपने चारों मस्तक व्रजराजनन्दनके चरण-कमलोंपर रख देते हैं, उस समय अन्तस्तलमें एक अनिर्वचनीय भावका स्रोत उमड़ चलता है, अपनी क्षुद्रताकी अनुभूति उसकी प्रबल धारामें न जाने कहाँ बह जाती है और उसके स्थानपर श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति विशुद्धतम प्रेमिल अपनत्व जाग्रत् हो उठता है। उस समय स्रष्टा प्राणोंकी उमङ्ग लेकर उठ बैठते हैं और देखने चलते हैं श्रीकृष्णमुखचन्द्रकी शोभा। पर देख नहीं पाते; आँखोंसे अनर्गल अश्रु-प्रवाहका वेग क्षणभरके लिये भी थमा जो नहीं है, तथा इतनेमें पुनः जाग्रत् हो जाती है उस महामहैश्वर्यकी स्मृति। दैन्य फिरसे आवृत कर लेता है परमेष्ठीके मनको और वे वैसे ही श्रीकृष्ण-चरणप्रान्तमें लोटने लग जाते हैं। ऐश्वर्यकी स्मृतिसे दैन्यका प्रादुर्भाव, तज्जन्य श्रीकृष्णपाद-पङ्कजमें पतन, उस पावन स्पर्शसे विशुद्ध स्नेहमयी निजत्व-भावनाका सञ्चार, उससे उद्भूत श्रीकृष्णमुखारविन्द-दर्शनकी उत्कण्ठा, सावधान होकर—उठकर दर्शनका प्रयास और फिर सहसा सर्वेश्वरकी अनुभूत महिमाका पुनः उन्मेष—इस क्रममें नितान्त बँधे-से हुए हंसवाहन न जाने कितनी बार उठे और पुनः वैसे ही वेगसे गिरकर, अपने चारों मस्तक श्रीकृष्णचरणसरोरुहमें समर्पित कर निष्पन्द हो गये। इस प्रकार यह भावमयी वन्दना पर्याप्त समयतक चलती रही, बहुत कालतक परमेष्ठी पड़े रहे श्रीकृष्णपादपङ्कजकी शीतल शन्तम छायामें—

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ६३)

पुनि उठत पुनि गिरि परत पुनि
पुनि गिरत अति आनँद भर्‍यो ॥

× × × ×

ज्यौं-ज्यौं वह महिमा उर फुरै। उठि उठि पद-पङ्कज सो घुरै ॥

आखिर जब क्रमशः भावका आवेग किञ्चित् शान्त हुआ, श्रीकृष्णचरणोंमें अगणित प्रणाम समर्पण करनेके अनन्तर ऊपरकी लहरें विलीन हो गयीं, भावके गम्भीर स्तरमें स्रष्टा निविष्ट होने लगे, तब वे अचिन्त्य प्रेरणावश धीरे-धीरे उठ बैठे। प्रेमजन्य एक सात्त्विक जडिमासे समस्त अङ्ग शिथिल हो रहे थे। किसी प्रकार देहको सँभालते हुए वे उपविष्ट हो सके। अनन्तर उन्होंने हाथोंसे अपने अश्रुपूरित नेत्रोंको पोंछा और दृष्टि उठायी नीलसुन्दरके मुखचन्द्रकी ओर। उन नयनसरोजोंसे पद्मयोनिकी आँखें जा मिलीं। अवश्य ही एक बार मिल-

कर भी वहाँ टिक न सकीं। अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्रने ठुकराया हो, यह बात नहीं, अपने आप विधाताकी आँखें नीची हो गयीं। एक साथ अन्तस्तलकी अनेकों भावनाएँ द्रुत होकर पितामहके नेत्रोंमें छलक आयीं, यह भार असह्य हो गया उन नेत्रोंके लिये और वे स्वतः झुक गये। 'ओह! मैंने प्रभुके प्राणसखाओंको, प्रियातिप्रिय गोवत्सोंको इनसे अलग किया, प्रभुको ही अपने जीवनका सारसर्वस्व अनुभव करनेवाले नित्य भगवत्पार्षदोंका प्रभुसे मैंने अपने स्वार्थवश वियोग कराया—इस अक्षम्य अपराधका पात्र मैं हूँ। ब्रह्मपदके तो मैं सर्वथा अयोग्य हूँ ही, वह छिन गया तो उचित ही हुआ। पर श्रीकृष्णस्मृतिकी निधि मेरे अन्तःकरणसे यदि ले ली गयी तो मेरा क्या होगा? ओह! क्या दशा होगी मेरी? नहीं-नहीं—प्रभुके नेत्रपङ्कज अभी भी वैसे ही, उतने ही शीतल हैं। इस समय भी करुणाकी लहरें उठ रही हैं उनमें। हाय रे! कहाँ तो मैं इतना महान् अपराधी और प्रभुका यह औदार्य!'—इस प्रकार एक साथ अपराध, भय एवं लज्जाकी भावनाएँ स्रष्टाकी आँखोंमें भर आयीं और इनके बोझसे ही दृष्टि नमित हो गयी। युग्म स्कन्ध भी विशेषरूपसे अवनत हो गये। पितामहका रोम-रोम विनयसे पूर्ण हो उठा। अञ्जलि बँध गयी और अब वे नतजानु होकर, समाहित चित्तसे चले महामहेश्वरकी महिमाका गान करने। किंतु इसी समय पुनः हृत्तलकी प्रेमस्रोतस्विनी हिलोरें लेने लग गयी। स्रष्टाके समस्त अङ्गोंमें कम्पन आरम्भ हो गया। नेत्र तो मार्जन करनेके अनन्तर भी अश्रुसे सने थे ही, कण्ठ भी पुनः अश्रुपूरित हो गया। वेदगर्भ ब्रह्माकी वाणी एक बार तो रुद्ध हो जाती है। पर आजकी उत्कण्ठा भी अभूतपूर्व, असाधारण है; अश्रुसे सर्वथा अभिषिक्त हो जानेपर भी वाणी बाहरकी ओर निकल ही पड़ती है, स्रष्टा गद्गद कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करने लगते हैं—

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने
मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः
सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया॥

(श्रीमद्भा० १०।१३।६४)

प्रभु रूप तेज प्रभाव वैभव सुमिरि हिय सकुचातु है।
पुनि उठ्यो निज कर पोंछि लोचन निरखि मुख हरखातु है॥
अति नम्र सिर कर जोरि जुग सह विनय कंपित गातु है।
पुनि प्रेम गदगद पुलक तन नुति करन हित अकुलातु है॥
धरि धीरज सुत कंजको, अस्तुति करत बनाइ।
अति श्रद्धा युत हरषि हिय, लखि मुख अति सुख पाइ॥

× × × ×

नमित बदन दृग भरि रहे पानी। गदगद कंठ फुरै नहिं बानी॥
सापराध बिधि निपटहि डर्यौ। अंजुलि जोरि स्तुति अनुसर्यौ॥

गीत

सुध-बुध भूला-सा सुनता मैं निशिदिन प्रभु तेरा सङ्गीत।
अखिल भुवनमें निखिल गगनमें छाया है तेरा मधु गीत॥
बिछा चतुर्दिश जाल स्वरोंका मैं उसमें बन्दी असहाय।
व्याकुल विह्वल व्यथित विवश-सा करता अपने दिवस व्यतीत॥

—मोहन वैरागी

गीता और रामायणके क्रियात्मक प्रचारकी आवश्यकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

परम कृपालु प्रभुकी परम अनुकम्पासे मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीरकी महिमा ऋषि-महर्षि सभी बड़े हर्षसे गाते हैं; क्योंकि इससे बहुत बड़े प्रयोजनकी सिद्धि हो जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि जिस लाभसे बढ़कर कोई लाभ नहीं और जिसमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी कभी विचलित नहीं किया जा सकता—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(६ । २२)

—ऐसा अनुपम लाभ अभी इसी शरीरमें और हर एक मनुष्यको हो सकता है। मूर्ख-से-मूर्ख एवं पापी-से-पापी मनुष्य भी थोड़े-से-थोड़े समयमें दुर्लभ परमपद परमात्माको प्राप्त कर सकता है। भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(१० । १०)

भगवान् स्वयं जब बुद्धियोग प्रदान करेंगे, तब उनकी प्राप्तिमें कौन-सी अड़चन रहेगी। भगवान्ने यहाँतक कह दिया कि 'अपि चेत्सुदुराचारः' सुष्टु दुराचारी अर्थात् साङ्गोपाङ्ग पापी भी अनन्यभाक् होकर भजन करे तो उसको भी साधु मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय बहुत ही अच्छा कर लिया है। इससे वह क्षिप्र—बहुत ही शीघ्र धर्मात्मा बन जायगा और शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जायगा। अधिक समयकी भी आवश्यकता भगवान् नहीं बताते।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(८ । ५)

इस श्लोकमें 'च' अव्यय अपिके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ होता है कि अन्तकालमें भी मुझको याद करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है तो भी मुझको प्राप्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। तब, जो सब समय भगवान्का चिन्तन करे, उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है। गीता आदि ग्रन्थोंमें विचार करनेपर यह बात समझमें आती है कि प्रभुकी प्राप्ति वास्तवमें कठिन नहीं, तथा उसके लिये अधिक समयकी भी आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है—अपनी हार्दिक लगनकी तथा परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग—तरीके जाननेकी।

मार्गोंको जानने और बतानेवाले हैं—सच्चे महात्मा एवं शास्त्र, वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थ। इनमें महात्माओंको तो हरेक मनुष्य पहचान ही नहीं सकता, तब वह उनसे कैसे लाभ उठावे और वेदादि ग्रन्थोंका सम्यक् रीतिसे अध्ययन करके विचारपूर्वक यथाधिकार साधन चुन लेना साधारण बात नहीं। शास्त्रका पारावार नहीं, ऐसी हालतमें हमें सुगमतासे सरल और सुखमय मार्गका बोध करा देनेवाले छोटे तथा सरल ग्रन्थ हों तो हम अनायास ही अपने जीवनको सफल बना सकते हैं। और इसके लिये मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीतुलसीदासकृत मानसरामायण—ये दो ग्रन्थ बहुत ही उपादेय हैं। श्रीगीतोपदेशके समय अर्जुनकी जो दशा थी, वही किंकर्त्तव्य-विमूढ दशा आज भारतवर्षकी है और इधर राज्य-व्यवस्थाको देखते रामायणकी अर्थात् रामराज्यकी अत्यधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। जीवनमें रामजीका आदर्श बर्तावका नितान्त प्रयोजनीय है और इसके लिये रामायण और गीताका श्रद्धापूर्वक पाठ करना, उसका अर्थ समझना और उसीके अनुसार जीवन बनाना परम आवश्यक है और यह सब तभी सम्भव है, जब कि हम गीता और रामायणको अच्छी तरह समझकर तदनुकूल आचरण करें—उनको अपने जीवनमें उतारें। इसलिये गीता और रामायणका स्वयं पठन-पाठन करना चाहिये और दूसरोंसे करवाना चाहिये। उन बालकोंको जो आधुनिक समयानुसार धर्म-रहित शिक्षा पाये हुए हैं, * विशेषरूपसे सच्ची धार्मिक

---

* धर्मरहित राज्य, ब्राह्मणरहित धर्मविधान, क्षत्रियरहित शासन, वैश्यरहित व्यापार, शूद्ररहित सेवा, अन्त्यजरहित स्वच्छता—सफाई, वृक्षरहित उद्यान, फलरहित वृक्ष, सुगन्धिरहित पुष्प, गोरस-घृतादिरहित मिष्ठान्न भोजन, घृतरहित हवन, अनुभव और आचरणरहित उपदेश, त्यागरहित प्रेम, गुण और धर्मरहित शिक्षा, आदररहित आतिथ्य, श्रद्धारहित साधन, योग्यतारहित

शिक्षाकी आवश्यकता है । हमारे शास्त्रोंका तो कहना है—'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।' यह पशुवृत्ति बड़े जोरोंसे हमारे देशमें फैल रही है और घर कर रही है । अतः इसे निकालनेके लिये उनकी शरण लेनी चाहिये, जो स्वार्थ-त्यागी और जो हमारे यथार्थ हितैषी हैं । ऐसे हैं—भगवान् और उनके प्यारे भक्त—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं । सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं ॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥

संतन मिल निर्णय कियो, मथि पुराण इतिहास ।
भजिबे को दो ही सुघर, कै हरि, कै हरिदास ॥

इन दोनोंके ही साक्षात् वचनामृतरूप ये दो पवित्र ग्रन्थरत्न हैं—श्रीभगवान्के श्रीमुखकी वाणी गीता और भक्तराज तुलसीकी मधुरवाणी श्रीरामायण । भाषाएँ अनेक हैं पर उनमें सर्वश्रेष्ठ है—देवभाषा संस्कृत और दूसरी है राष्ट्रभाषा हिंदी । गीता संस्कृतमें है और रामायण हिंदीमें । हमारे अवतार भी दो ही मुख्य माने जाते हैं—एक श्रीराम और दूसरे श्रीकृष्ण । उक्त दोनों ग्रन्थ भी इन दोनोंकी महिमा हैं । उपदेश देनेके तरीके भी दो ही हैं—एक मुखसे कहकर और एक आचरण कर ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २१)

वही श्रीगीतामें श्रीभगवान्ने कहकर उपदेश दिया और भगवान् श्रीरामजीने श्रीरामायणमें उसीको करके दिखलाया । काव्य भी दो ही तरहके होते हैं—एक दृश्य और दूसरा श्राव्य । रामायण दृश्य और गीता श्राव्य है ।

श्रीमद्भगवद्गीता संक्षिप्त उपदेशसे और रामायण विशद उदाहरणों और लीला-कथाओंसे हमें समझा रही है । इसलिये इन दोनों ग्रन्थरत्नोंका अच्छी तरहसे अध्ययन करके अनुसरण करना चाहिये ।

यज्ञसे देवताओंकी तृप्ति

(लेखक—याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

कुछ लोगोंका ऐसा मत है कि यज्ञ केवल वायु-शुद्धिके लिये किया जाता है, इसके अतिरिक्त इसका और कोई प्रयोजन नहीं है । किंतु यथार्थमें ऐसी बात नहीं है । यज्ञका वायुशुद्धिमात्र प्रयोजन नहीं है, उसे तो नान्तरीयक भी माना जा सकता है । यज्ञका आत्यन्तिक प्रयोजन है यज्ञ-कर्ताका देवताओंके साथ परस्पर-भावन । शास्त्रोंमें स्पष्ट शब्दोंसे इस बातकी पुष्टि की गयी है ।

ऋग्वेदमें यजमान अग्निसे प्रार्थना करता है कि वे उसके हविको देवतातक पहुँचा दें—

'आ अग्ने ! वह हविरद्याप देवान्'
(ऋ० ७ । ११ । ५)

अग्निमें जब उन-उन देवताओंको उद्देश्य करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक द्रव्यका त्याग किया जाता है, तब अग्निके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे उन-उन देवताओंतक उस-उस द्रव्यको पहुँचा दें, जिसमें कि उनकी तृप्ति हो जाय । इसीलिये वेदने अग्निके लिये 'देवदूत' और 'देवमुख' जैसे शब्दोंका प्रयोग किया है—'अग्निर्हि देवानां मुखम्' (शतपथ ब्राह्मण ३ । ७) और इसीलिये होमके समय यह आवश्यक हो जाता है कि जिस देवताके लिये द्रव्य-त्याग किया जा रहा है, उस देवताका उस समय ध्यान अवश्य कर लिया जाय—

'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायेत्'
(निरुक्त ८ । २२ । ११)

यही कारण है कि देवताओंमें हविके लिये पर्याप्त

अधिकार, भजनरहित जीवन, कर्तव्यरहित क्रिया, गो-महिष-रहित घृत, अश्व-गजरहित सवारी, ईश्वररहित जन-समुदाय, न्यायरहित निर्णय, स्त्रीरहित गृहस्थी, पुरुषरहित सेना, साहस-रहित उद्योग, समत्वरहित ज्ञान, अनुरागरहित भक्ति, कुशलता-रहित कर्म, पूर्णनिर्भरतारहित शरणागति, पूर्णसमर्पणरहित आत्मनिवेदन, गुरुओं (अध्यापकों और आचार्यों) पर शिष्योंका (विद्यार्थियोंका) शासन, माता-पितापर पुत्रका शासन, धार्मिकोंपर अधार्मिकोंका शासन, न्यायशील राजापर प्रजाका शासन और पुरुषोंपर स्त्रियोंका शासन आदि ऐसी चीजें हैं कि इनसे समाज और राष्ट्रका सर्वनाश हो जाता है ।

उत्सुकता बनी रहती है। और जो लोग ऐसा नहीं कर पाते, उनपर उनकी कठोर दृष्टि बन जाती है। ऋग्वेदमें मरुत् देवताके लिये 'अभोग्घन' विशेषण दिया है, जिसका अर्थ होता है कि जो देवताओंको भोजनके लिये हवि नहीं देते, मरुद्देवता उन्हें मार डालते हैं—

'ये देवान् हविर्न भोजयन्ति तेषां हन्तारः'

(सायण)

यद्यपि देवता समर्थ हैं, पर प्रशास्ताका कुछ प्रशासन ही ऐसा है कि इस दीन-वृत्तिका आश्रयण उन्हें करना ही पड़ता है, जीवन-निर्वाहके लिये यजमानकी बाट देखनी ही पड़ती है—

'तथा च यजमानं देवा ईश्वराः सन्तो जीवनार्थेऽनुगताश्चरुपुरोडाशाद्युपजीवनप्रयोजनेन अन्यथापि जीवितुमुत्सहन्तः कृपणां दीनवृत्तिमाश्रित्य स्थिताः, तच्च प्रशास्तुः प्रशासनात्।'

(बृ० उ० भा० ३। ८)

मनुष्योंको तो पग-पगपर दैवी-सहायताकी आवश्यकता पड़ती है, इसलिये इन्हें तो उधर मुड़ना ही पड़ता है, किंतु देवताओंको भी हविके लिये मनुष्योंकी ओर उन्मुख होना पड़ता है और इस तरह दोनोंका परस्पर भावन बड़ा दृढ़मूल हो गया है। भगवान्ने भी कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३। ११)

उनकी पुष्टि मनुष्योंके अधीन है और मनुष्योंकी अभिलषित वस्तुएँ उनसे मिल सकती हैं—

'इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।'

(गीता ३। १२)

वेदोंमें भी देवताओंके इस परस्पर-भावन, इस अन्योन्याश्रयताका बड़े विस्तारसे वर्णन है। शुक्ल यजुर्वेदके तृतीय अध्यायके ४९ वें मन्त्रमें यजमान और इन्द्रका संवाद है। यजमान कहता है—

'वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो।'

'हे शतक्रतो! हम दोनों हवि और उसके फलको परस्परमें क्रय-विक्रय करें, मैं हवि देता हूँ, आप मुझे फल दें।'

इन्द्र उत्तर देते हैं—

'देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।'

(शु० य० ३। ५०)

'तुम हमें प्रथम हवि दो, पश्चात् तुम्हें उसका फल देंगे, तुम हमारे समक्ष हवि रखकर देखो तो हम फल देते हैं कि नहीं?'

यजमान प्रत्युत्तर देता है—

'निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा।'

(शु० य० ३। ५०)

'आप ही प्रथम क्रेतव्य वस्तुरूप फल दे दीजिये, पश्चात् मैं उसके मूल्यस्वरूप हवि दूँगा।'

इस संवादसे परस्पर-भावनपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसी सत्यसे प्रेरित होकर महर्षि सायणाचार्यने भी बड़ी दृढ़तासे कहा है—

'तस्मान्मनुष्याणां क्रयविक्रयाविव यजमानदेवतयोर्यागतत्फले विश्रम्भेण व्यवहर्तुं शक्यते।'

(तै० सं० कां० १, प्रपा० १, अनु० १)

वेदका एक दूसरा मन्त्र बहुत स्पष्ट एवं निर्धारणात्मक शब्दोंमें बतलाता है कि देवता जब स्वयं प्रथम तृप्त हो चुकते हैं, तब यजमानको तृप्त करते हैं—

'तृप्त एव एनमिन्द्रः प्रजया पशुभिश्च तर्पयति।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञका केवल अधिभूत ही प्रयोजन नहीं है, उसका वास्तविक प्रयोजन तो आधिदैविक है। अतः इस सम्बन्धमें जो भ्रमात्मक धारणाएँ फैल रही हैं, उनका कोई आदर न होना चाहिये।

दूसरेकी आशा

हरि-सा हीरा छाँडिकै, करै आनकी आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास॥ —रैदासजी

वसन्तोत्सवका आध्यात्मिक रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

यौवनपूजा भारतीय संस्कृतिका एक विशेष अङ्ग है। हिंदू-धर्म नित्य परिपूर्ण यौवनको ही मानव-जीवनके आदर्शरूपमें ग्रहण करके अग्रसर होता है। तैत्तिरीय श्रुति मानव-जीवनके पूर्ण आनन्दके उदाहरणस्वरूप 'आशिष्ठ द्रढिष्ठ बलिष्ठ मेधावी' यौवनको ही आदर्शरूपमें उपस्थापित करती है। ईशोपनिषद्का उपदेश है—'कर्म करते हुए अन्ततक कर्मक्षमता अक्षुण्ण बनाये हुए ही सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये, प्रयत्नशील होना चाहिये।' व्याधि, जरा, मृत्यु—इन तीनोंको मनुष्यमात्र कोई नहीं चाहता। व्याधि और जरा जीवनपर मृत्युके ही आक्रमण हैं—मृत्युकी ही जयघोषणा हैं। मृत्युके साथ जीवनका अनवरत युद्ध चलता रहता है। जब भी मृत्युकी आपेक्षिक विजय होती है और मृत्युका प्रभाव जीवनपर विस्तार पाता है, तभी रोग आता है, तभी जरा (वृद्धावस्था) आती है। साधारण व्याधिमें मृत्युके निकट जीवनका आत्मसमर्पण नहीं होता, अपितु मृत्युको प्रवञ्चित करनेके लिये जीवनका एक सविधि प्रयत्न होता है। जरा तो वास्तवमें मृत्युके चरणोंमें जीवनका नैराश्यपूर्ण आत्मसमर्पण है। वृद्ध मनुष्य सम्पूर्णरूपेण कालके गालमें कवलित होनेकी प्रतीक्षा करता रहता है; जितने दिन कवलित नहीं होता, उतने दिन यन्त्रणा भोग करता है। जगत्के लिये उसका जीना व्यर्थ होता है। अतएव जगत्में कोई उसे चाहता नहीं। मृत्यु भी उसे ग्रसकर आत्मलीन नहीं करती, न उसे जागतिक लाञ्छनासे ही छुटकारा दिलाती है। इसीलिये बुढ़ापा प्रायः व्याधिकी अपेक्षा भी अधिक पीड़ादायक होता है। इसीलिये मनुष्यकी साधना जरा और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये—'जरामरणमोक्षार्थम्' होती है।

जिस जीवनमें मृत्युकी कोई छाया न हो, व्याधि और जराके कोई चिह्न न हों; जिस जीवनमें देह बलिष्ठ, मन द्रढिष्ठ, हृदय आशासे परिपूर्ण, बुद्धि सत्यानुसन्धानमग्ना और विचारनिपुणा हो; जिस जीवनमें विषाद-अवसाद-नैराश्य और कायरताको कोई स्थान न हो, जिस जीवनमें सम्पूर्ण अवयव आनन्दमें झूमते हुए अनवरत पूर्णतर आनन्द-संभोग और रसास्वादनके मार्गपर अग्रसर हो रहे हों—उसी जीवनका नाम यौवन है। यह यौवन ही जीवनका स्वाभाविक विकास है। पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम यौवनमें सुप्रतिष्ठित होना ही मानव-जीवनका आदर्श है। जिस यौवनमें सम्पूर्ण सत्ता और चेतना परिपूर्ण आनन्दमें निमग्न रहती हैं, जिस अवस्थामें सत्ताके किसी अंशके नष्ट या मृत्युग्रस्त होनेकी आशंका नहीं रहती; चेतनाके किसी अंशके आवृत, विमोहित अथवा विक्षुब्ध होनेकी सम्भावना नहीं रहती—जीवनकी वही नित्य अव्याहत निखिलरसामृत-सिन्धु-अवस्था ही जीवनकी पराकाष्ठा है, वही मानव-जीवनका चरम आदर्श है और उसीके लिये है मनुष्यकी साधना। भारतीय अध्यात्मसाधना मनुष्यको 'सर्वभावेन' उसी परिपूर्ण यौवन-लाभके मार्गकी चिरकालसे शिक्षा दे रही है। सभी साधन-पद्धतियाँ, सभी उपासना-प्रणालियाँ, सभी भावानुशीलन, सभी व्रत-नियम, सभी उत्सव और सभी विधि-व्यवस्थाएँ इसी आदर्शको लक्ष्य करके प्रचलित हुई हैं।

भारतीय साधनाके क्षेत्रमें असंख्य देव-देवियोंके दर्शन होते हैं। अध्यात्मदृष्टि और शिल्पनैपुण्यमें परस्परके पूर्ण सहयोगसे इन देव-देवियोंको विचित्र स्वरूपोंमें निर्मितकर संसारके समक्ष उपस्थापित किया है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इसी वेदमन्त्रके द्वारा अनुप्राणित होकर साधकोंने एक अद्वितीय परमतत्त्वको ही विचित्र नामोंसे, विचित्र रूपोंसे, विचित्र गुणशक्तिसे, विचित्र अलङ्कारोंसे, विचित्र अस्त्र-शस्त्र, वेष-भूषाओंसे अलङ्कृत किया है। सभी देव-देवियोंका प्राण तो वह एक ही परमतत्त्व है परंतु अवयव विचित्र, प्रकाश-भङ्गिमा विचित्र, जागतिक लीला विचित्र और उपासकके साथ सम्बन्ध विचित्र हैं। सम्पूर्ण वैचित्र्यके बीचमें एकत्वके चमत्कारका आस्वादन है। यह लक्ष्य करनेका विषय है कि सभी देव-देवियाँ चिरयौवनालङ्कृत हैं। सभी परिपूर्ण यौवनके स्वरूप हैं। किसी भी उपास्यदेव अथवा देवीके जीवनमें जरा-मरणका छायापात भी नहीं है। यौवनको लेकर ही उनका आविर्भाव, यौवनको लेकर ही उनका लीलाविलास; यौवनको लेकर ही उनके सम्पूर्ण वीर्य, ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्यका प्रकाश और यौवनकी ही विचित्र क्रीड़ा उनके सभी क्रियाकलापोंमें प्रकटित है। इन सब देवतागणोंमें पिता, पितामह, माता, मातामही, पुत्र, कन्या, पौत्र, पौत्री सभी ही पूर्ण यौवनके विग्रह हैं।

सर्वलोकपितामह सृष्टिकर्ता ब्रह्मा अनादि अनन्तकालसे सृष्टि करते चले आ रहे हैं । करोड़ों वर्षोंके बाद भी उनके सृष्टि-सामर्थ्य किंवा सृजनके उत्साहमें बिन्दुमात्रकी भी कमी नहीं आयी । एकसे बहुतकी उत्पत्ति करना, एकको अनेक रूपोंमें प्रतीयमान करना, एक ही सत्ताके अन्तर्निहित अव्यक्त ऐश्वर्यको देशकालकी सीमामें विचित्र आशासे परिव्यक्त करके प्रदर्शित करना और पुनः अनेकोंमें प्रत्येककी अन्तर्गूढ़ सम्भावनाको नया-नया वास्तव आकार देना—इसीका नाम है सृष्टि, एवं यही सृष्टि-प्रक्रिया चिरकालसे बड़े वेग और आनन्दके साथ चलती आ रही है । अनादि अतीतसे अनन्त भविष्यकी ओर यह सृष्टिधारा प्रवाहित हो रही है । सृष्टिकर्ताको न कोई क्लान्ति है, न अवसाद, न निरुत्साह है । उनको व्याधि नहीं, जरा नहीं, मृत्यु नहीं । वे हैं चिरयुवा । विश्वके वैचित्र्यकी सृष्टिमें उनके अक्षय यौवनका परिचय मिलता है । सृष्टिकी इसी चिरनवीनतापर मुग्ध और चमत्कृत होकर साधक उसी चिरयुवा सृष्टिकर्ताकी उपासनामें अपनेको नियुक्त करता है, उन्हींके प्राणके साथ अपने प्राणोंको मिलाकर उन्हें एक स्वरमें झंकृत करनेका प्रयास करता है, स्वयं भी इस चिर नूतन जगत्में अपनेको चिर-नूतनत्वमें प्रतिष्ठित करनेके लिये लालायित होता है, एवं नये-नये सृष्टिकार्यमें आत्मनियोग करता है ।

सृष्टिकर्ता जैसे कभी भी वृद्धावस्थासे ग्रस्त नहीं होते, संहारकर्ता रुद्रदेव भी उसी प्रकार कभी जराक्रान्त नहीं होते । उनके संहारकार्यमें भी कभी विराम नहीं होता । एकत्वमेंसे बहुत्वका विस्तार करना जैसे सृष्टिकार्य है, वैसे ही बहुत्वका एकत्वमें विलीन करना संहारकार्य है । एकको अनेक करनेका कार्य जैसे अनादि अनन्तकालसे चलता आ रहा है, उसी प्रकार प्रपञ्चका विनाश-साधन करके उनको अपने-अपने कारणमें लीन करनेका कार्य भी अनादि, अनन्त कालसे चला आ रहा है । इस संहारकार्यमें संहारकर्ता रुद्रदेवको भी कोई क्लान्ति, कोई अवसाद या कभी निरुत्साह होते नहीं देखा जाता । पुरातन प्रतीयमान होनेवाले सब पदार्थोंको कारणके एकत्वमें विलीन करके वे नवीन सृष्टिका मार्ग सुगम कर देते हैं, विश्वजगत्के चिरनवीनत्वकी रक्षा करते हैं । सारी सृष्टि चलती है ध्वंसकी ओर । समस्त ध्वंस चलता है सृष्टिकी ओर । एकसे बहुत, बहुतसे एक—दोनों स्रोत जगत्में समानभावसे प्रवाहित होकर जननी वसुन्धराको भी चिर-यौवन-सम्पन्ना बनाये रखते हैं । ज्ञानस्वरूपिणी सरस्वती देवी ब्रह्माके सृष्टिकार्यमें विचित्र कला-कौशलकार्यमें योग प्रदान करती हैं । सौन्दर्यमयी शक्तिस्वरूपिणी उमादेवी चिरयुवा रुद्रदेवके अङ्कलीना होकर संहार कार्यको भी वैचित्र्यमय और सुशोभन बना देती हैं । विश्वका सृष्टि और संहार सभी यौवनका खेल है ।

सृष्टि और संहारके बीचमें पालन और पोषणका कार्य है । सभी जड-चेतन सृष्ट पदार्थोंमें सौसामञ्जस्यकी प्रतिष्ठा करके वैषम्यमें साम्य स्थापन करके, बहुत्वको ऐक्यके सूत्रमें संग्रथित करके सम्पूर्ण विश्व-जगत्के एकत्वको अक्षुण्ण रखना ही स्थिति अथवा पालनकार्य है । भारतीय मनीषियोंने पालनकर्ता विष्णुको अनादि अनन्तकालसे इस कार्यके अध्यक्षरूपसे वर्णन किया है । सृष्टिके अनादि-आदिसे ही यह पालन-कार्य—सम्पूर्ण वैषम्यमें साम्य और ऐक्यकी प्रतिष्ठा करनेमें—अनन्त संघर्षमें सौसामञ्जस्यकी रक्षा करते हुए विश्वको सुन्दर और महान् बनानेके कार्यमें अनवरत कितनी समस्याओंका उद्भव और कैसे उनके समाधानकी व्यवस्था होती है; कितने संग्राम, कितने घात-प्रतिघातके भीतरसे ही कैसा सुन्दर मिलन और परिपुष्टिका विधान चलता है; कितने क्लेश—कितने आर्तनादके भीतरसे कैसे नित्य अभिनव आनन्दका विकास होता है; कितनी बीभत्सता, कितनी भीषणताका कैसे नूतन-नूतनतर माधुर्यके उपकरण-रूपमें व्यवहार होता है । यह पालन और पोषणकार्य अद्भुत है । विश्वके प्रत्येक अङ्गकी प्रत्येक समस्या ही मानो विश्वको महत्त्व, सौन्दर्य और आनन्दके ऊँचे स्तरोंपर उठा देनेका सुन्दर आयोजन है । इस द्वन्द्वमय जगत्में द्वन्द्वकी तीव्रता और व्यापकताके भीतरसे ही क्रमोत्कर्षके साधनका विधान होता है । विष्णुका सुदर्शनचक्र अत्याश्चर्यरूपमें विश्वके सभी स्थानोंमें और सभी स्तरोंमें घूमता रहता है । वैषम्य सृष्टिका जैसे विराम नहीं है, एक ही सत्यको परस्पर प्रतिद्वन्द्वी असंख्य भावरूपमें अभिव्यक्त करनेका सृष्टिकार्य जैसे अव्याहत गतिसे अनादि-अनन्त कालसे चला आ रहा है, वैसे ही इस द्वन्द्वसंघर्ष, वैषम्य और नैष्ठुर्यके भीतरसे ही एक ही सत्यके स्वरूपभूत सौन्दर्य, माधुर्य, वीर्य और ऐश्वर्यको इस विश्वमें नित्य नूतनरूप देनेका कार्य भी अद्भुतभावसे अव्याहत गतिसे चलता रहता है । सृष्टि और संहारके मध्यमें पालन और पोषणकर्ता विष्णु सर्वदा जाग्रत् रहते हैं । उनको न क्लान्ति होती है, न असावधानता, न अवसाद और न होता है कभी अनुत्साह । चिरयौवनकी परिपूर्ण पराकाष्ठा उनका

भी स्वरूपभूत है। सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री लक्ष्मीदेवी सर्वदा उनकी सेवामें संलग्न रहती हैं। प्रकृति राज्यके अधिनायक देवतावृन्दकी जीवन-लीलामें जरा, व्याधि, मृत्युका कोई छायापात नहीं है। परिपूर्ण जीवनके आदर्शस्वरूप देवगण ही हिंदुओंके उपास्य हैं—उनके जीवनके आदर्श हैं।

इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण, सूर्य, अग्नि प्रभृति जितने भी देवता हैं, सभी चिरयुवा हैं, चिरनवीन हैं। भारतीय जीवनके आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र इत्यादि अवतार, नारद शुक प्रभृति ऋषिगण, ध्रुव-प्रह्लाद प्रभृति भक्त, दत्तात्रेय-गोरक्षनाथ प्रभृति योगी—सभी चिरयुवा, चिरनवीन हैं। मानवगणनाके अनुसार उनकी वयोवृद्धि और वार्द्धक्य स्वाभाविक नियमानुकूल होनेपर भी, हिंदू-जातिकी स्मृतिमें उनमेंसे किसीका वृद्धरूप नहीं है, प्रत्येक ही सदा पूर्ण यौवनके विग्रहरूपमें स्मरणीय और पूजनीय है। जीवनका परिपूर्ण विकासरूप यौवन ही भारतीय शास्त्रोंमें उपास्यरूपमें परिगृहीत हुआ है।

भारतकी इसी यौवन-पूजाकी एक विशेष रूपमें अभिव्यक्ति है 'वसन्तोत्सव'। यह वसन्तोत्सव अत्यन्त प्राचीन कालसे भारतमें सर्वत्र प्रचलित है। जनसाधारणकी रुचि, बुद्धि और प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें और विभिन्न युगोंमें विचित्र रूपमें अनुष्ठित होता आ रहा है। श्रीभगवान्‌ने गीताके विभूतियोगमें कहा है—'ऋतूनां कुसुमाकरः' सब ऋतुओंमें मैं वसन्त हूँ। प्रकृतिकी अन्तर्निहित प्राणशक्ति इस ऋतुमें विचित्र रूप, रस, गन्ध, वर्ण और शोभासम्पत्तिमें आत्मप्रकाश और आत्मसम्भोग करती है। शीतकालकी जडताके अवसानमें प्रकृतिदेवीके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग बन्धनमुक्त प्राणकी क्रीड़ामें उल्लसित होकर नाचने लगते हैं। भविष्यमें उसका कोई अङ्ग तापदग्ध हो सकेगा, इसकी कल्पना भी उसके हृदयमें स्थान नहीं पाती। नातिशीतोष्ण मलयानिलको अपना सहचर बनाकर वह अपने पूर्ण यौवन तथा पूर्ण जीवनके आस्वादनमें मग्न हो जाती है। वासन्ती प्रकृतिके जीवन तथा यौवनसे भरे हुए प्राणके सहित अपना देह, मन, प्राण मिलाकर भारतीय नर-नारी रंगकी क्रीड़ामें अपने जीवन-यौवनके आस्वादनमें उन्मत्त हो जाते हैं। विश्वप्रकृतिके विज्वर, विमृत्यु, विशोक, अमृतमय, प्रेममय, आनन्दमय समष्टिप्राणके सहित अपने व्यष्टिप्राणसमूहको एक सूत्रमें ग्रथित करके, एक सुरमें झंकृत करके आबालवृद्धवनिता सभी हिंदू-सन्तान जीवनके पूर्ण आदर्शका आस्वादन करनेमें प्रयत्नशील होते हैं। वसन्तकी प्रथम शुक्ला पञ्चमीको सर्वकला-विद्याधिष्ठात्री सरस्वतीदेवीके आवाहनसे इस वसन्तोत्सवका प्रारम्भ होता है और अगली शुक्ला नवमीको पशुराजवाहिनी असुरराजमर्दिनी वीर्यैश्वर्यविद्या-सिद्धिप्रसविनी नित्यशिवसुन्दरसङ्गिनी महाशक्तिमयी पराप्रकृतिकी आराधनामें यह वसन्तोत्सव समाप्त होता है। समष्टिप्राणकी विजयघोषणाके भीतरसे अपने प्राणका परिपूर्णस्वरूप साधकगण आनन्दपूर्वक अनुसन्धान करते हैं और अभिनयके मध्य उसका आस्वादन करते हैं। बङ्गप्रदेशकी दोलयात्रा इसी वसन्तोत्सवका एक महिममण्डित विकास है। त्रितल वेदीके ऊपर झूलेपर विराजमान श्रीभगवान् परिपूर्ण सत्ता, परिपूर्ण शक्ति, परिपूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण कल्याण और परिपूर्ण प्रेमके पूर्ण आस्वादनमय परमानन्दमें नित्य झूलते रहते हैं। वहाँ उनका अपनी अन्तरङ्गा शक्तिसमूहके साथ नित्य विहार होता है। उनकी अपरिच्छिन्न सत्ता, वीर्य और ज्ञान परम कल्याणमें सुशोभित तथा परम प्रेममें और सुमधुर परम आनन्दमें उल्लसित रहती है। उनकी सन्धिनी और संवित् शक्ति ह्लादिनीशक्तिके अङ्कलीना रहती है। वहाँपर जीवन और यौवनकी पराकाष्ठा होती है और होता है गभीरतम आस्वादन। यही अप्राकृत अविकार देशकालातीत परमानन्दधाम ही जीवन-यौवनका नित्यधाम है 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते'। यहाँपर जरा, व्याधि और मृत्युका झाँकना भी निषिद्ध है। साधक पुरुष सर्वबन्धनविवर्जित होकर सम्यक् शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्थामें, आनन्द-समाधिमें विश्वके प्राणपुरुषके इस नित्यधाममें प्रवेशाधिकार प्राप्त करता है; अपने जीवन-यौवनके परिपूर्ण स्वरूपका आस्वादन करता है।

यही आस्वादन त्रितल वेदीके द्वितीय सोपानपर उतरता है अन्तरङ्गा शक्तिके नित्य विलासधामसे तटस्थाशक्तिके वैचित्र्यमय आस्वादन क्षेत्रमें—तत्त्वके राज्यसे जीवके भावके राज्यमें। तत्त्वराज्यमें जो अपने-आप प्रेमघनानन्दमें दोलायमान रहते हैं, वे ही भगवान् अपनी जीवभूता तटस्था शक्तिके भावराज्यमें अवतीर्ण होकर अपने नित्य परिपूर्ण जीवनयौवनको कितने वैचित्र्यमय भावविलासके आकारमें आस्वादन करते हैं। इस भावके राज्यमें युगलरूपका अद्भुत विलास और सम्भोग है। यहाँपर मिलनके साथ विरहका युगल भाव, हास्यके साथ रुदनका युगलभाव, हर्षके साथ विषादका युगल भाव, दैन्यके साथ अभिमानका युगलभाव, इत्यादि अनेकों भाव हैं। कितने भाव, कितने काव्य, कितने नाटक, कितनी

शिल्पकला, कितने उत्सव, कितनी पूजार्चना, कितने साधन-भजनके बीचमें आनन्दमय रसराजका आत्मानन्दसम्भोग विचित्र रस-समन्वितरूप अनादि-अनन्तकालसे धारण किये हैं। तत्त्वके राज्यमें विशुद्ध प्रकाशका खेल है, भावके राज्यमें प्रकाश और छायाका खेल है। सभी प्रकाश और छायाके आलिङ्गन और सङ्घर्षके भीतर एक भावातीत आनन्द ही दोलायित होता है। यह भावका राज्य तत्त्व और बहिः-प्रकृतिके बीचमें अवस्थित है। तत्त्वका प्रकाश और बहिः-प्रकृतिकी छाया—अन्तरङ्गाशक्तिका प्रकाश और बहिरङ्गा-शक्तिका आवरण—दोनोंका ही प्रभाव रहता है तटस्थाशक्तिके भावके राज्यमें। प्रकाश आवरण एक-दूसरेको आलिङ्गन करके भावराज्यके शोभासम्पत् तथा सौन्दर्य-माधुर्यको विचित्र आकार प्रदान करता है। कितने वर्णोंमें, कितने गन्धमें, कितने गानमें, कितने छन्दमें रूपातीतका आत्मास्वादन भावराज्यमें रूप धारण करता है। भावसाधकगण भावके राज्यमें भावातीतके अवतरणकी उपलब्धि करके पूर्ण जीवन-यौवनकी सम्पूर्ण वैचित्र्यमय लीलाका आस्वादन करके परमानन्दमें—भावसागरमें तैरते रहते हैं—भावके विचित्र तरङ्गहिल्लोलमें अपने जीवनयौवनका विचित्र रसास्वादन करते रहते हैं।

भावातीत नित्यधामके ह्लादिनीशक्तिविलासी सच्चिदानन्द-घन परम पुरुष भावराज्यके विचित्र रसास्वादनके हिंडोलेपर आरूढ़ होकर निम्नतम सोपानपर अवतरण करते हैं अर्थात् बहिरङ्गा मायाशक्तिके देशकाल-विस्तृत पार्थिव जगत्में पदार्पण करते हैं। अतीन्द्रिय भावराज्यका रसवैचित्र्य पार्थिव रूप, रस, गन्ध, स्पर्शके अद्भुत सत्तावैचित्र्यमें मूर्तिमान् होता है। इस जगत्में कितने विचित्र आकारके कितने विचित्र रूप, रस, गन्ध, स्पर्शके ओषधि, वनस्पति, लता, पत्र, पुष्प, फल; नद-नदीके कितने विचित्र प्रवाह; पर्वतमालाके कितने विचित्र गाम्भीर्य और ऐश्वर्य; पशु पक्षी; कीट-पतङ्गकी कितनी विचित्र आकृति-प्रकृति; कितनी विचित्र जीवन-यापन और सुखसम्भोगकी प्रणाली; मनुष्यके कितने विचित्र शक्तिसामर्थ्य, कितनी विचित्र हृदयवृत्ति, बुद्धिवृत्ति, और चित्तवृत्ति; कितनी उद्भावनी शक्ति, सङ्गठनीशक्ति और संहारिणी शक्ति; कितनी विचित्र सत्यानुसन्धित्सा, रसपिपासा, भावविलास और भोगलिप्सा आदि प्रकट होते हैं। एक ही आनन्दघन परम पुरुष अपनी असीम आनन्दसत्ताको अनन्त रूपमें आस्वादन करनेके निमित्त कितने अनन्त प्रकारके आवरणका सृजन करते हैं, कितने अनन्त प्रकारके द्वन्द्व और संघर्षका आयोजन करते हैं, कितने अद्भुत कला-कौशलसे अपनेको अपने-आप ही छिपाकर सम्भोगलिप्सु अन्धकी तरह आप ही अपनेको खोजते हैं, खोजनेपर न पाकर रोते हैं, खोजकर नये भावमें आविष्कार करके उल्लसित होते हैं। विश्वजगत्के सभी विभागोंमें यही आनन्दका खेल, यौवनका खेल, वसन्तका खेल चिरकालसे चल रहा है। विश्वप्रकृति नित्यनूतन रूप धारण करके, नित्यनूतन वेशभूषासे अलङ्कृत होकर पुरातन जीर्ण, मलिन, निष्प्रभ सब कुछ अपने ही भीतर छिपाकर चिरयौवनकी विचित्र क्रीड़ाका प्रदर्शन करती है। मायिक जगत्के सृष्टि-स्थिति-ध्वंसके तरङ्गायित प्रवाहमें भगवती ह्लादिनी शक्ति ही अपनेको विचित्र आकार-प्रकारमें अभिव्यक्त करती हैं एवं भगवान्के आत्मानन्दसम्भोगका वैचित्र्य सम्पादन करती हैं। वासन्ती पूर्णिमाका झूलनोत्सव इसी अध्यात्मदृष्टिको ही जीवित भावमें आस्वादन करनेकी चेष्टा है।

रसिक भावुक प्रेमिक भक्त इसी दृष्टिसे यावतीय व्यापार-परम्पराका सन्दर्शन करके सर्वत्र ही अनन्तरस-विलासी चिरतरुण श्रीभगवान्के लीलारसका आस्वादन करें एवं अपने जीवनको उसी परिपूर्ण जीवनयौवनके नित्य आदर्शके सहित अविच्छिन्नभावसे योगयुक्त होनेमें प्रयासी हों। देहके सब परिणामोंको, जगत्की सब घटनाओंको वे समान भावसे 'रम्यतयैव' सम्भोग करें। जीवन उनके समीप कभी पुराना या विरस न हो। जराकी अनुभूति उनको स्पर्श न करे; मृत्यु उनको विभीषिका न दिखावे; दैत्यदानवका ताण्डव नृत्य देखकर उनका हृदय संत्रस्त, सङ्कुचित अथवा अवसादग्रस्त न हो। समस्त जगत्में वे आनन्दमयकी आनन्दक्रीड़ा देख-कर, पूर्ण जीवन-यौवन लेकर सभी रंगके खेलोंमें योगदान करें। वसन्तके उत्सवमें मत्त होकर विश्व सब मनुष्योंको—सब जीवोंको आह्वान करके प्राणोंके आलिङ्गनदानसे रँग दे, एवं सबके भीतर एक नित्य सत्य रसमय निर्विकार परिपूर्ण जीवनके विचित्र प्रकाशका दर्शन करें।

पार्थिव जीवनकी सारी अपूर्णता, सारे अभाव-अभियोग, सब द्वन्द्व-कलह, सारी ज्वाला-यन्त्रणा, समस्त दुर्बलता, मलिनता, कदर्यताके मध्य एक परिपूर्ण सच्चित्प्रेमानन्दघन परम पुरुषका प्रेम, कल्याण और आनन्दका ऐश्वर्य-माधुर्यका अनुसन्धान करके जीवनके सब विभागोंमें पूर्णताका आस्वादन करनेके अपूर्व कौशलका आविष्कार, भारतीय अध्यात्म-संस्कृतिकी एक चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति है।

वेद और गायत्री

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री)

चौबीस अक्षरोंवाला प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र वैदिक मन्त्रोंमें अत्युच्च स्थान रखता है। यह गायत्री छन्दमें है; इसलिये इसका नाम गायत्री पड़ा। सविता (सूर्य या विश्व-प्रसव-कर्ता परमात्मा) से सम्बन्धके कारण इसका एक नाम सावित्री भी है।

इस मन्त्रका महत्त्व इससे भी ज्ञात होता है कि यह तीनों वेदोंमें पाया जाता है। ऋग्वेद (३।६२।१०) और सामवेद (उत्तरार्चिक १३।३।३) में तो एक-एक ही बार आया है; परंतु यजुर्वेदमें कई बार आया है—(३। ३५; ३०।२ और३६।३) मन्त्र यह है—

'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥'

सायणाचार्यने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—'जो सविता हमलोगोंकी बुद्धिको प्रेरित करता है, सम्पूर्ण श्रुतियोंमें प्रसिद्ध उस द्योतमान जगत्स्रष्टा परमेश्वरके सम्भजनीय तेजका हमलोग ध्यान करते हैं—

इसका अर्थ इस तरह भी किया जाता है—'विश्वके रचयिता परमात्मा (वा सूर्य) के श्रेष्ठ तेजका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धिको (सत्कर्ममें) प्रेरित करे।'

मन्त्रमें २३ ही अक्षर हैं। परंतु सर्वप्रथम ओंकार (ओ३म् वा ॐ) रहता है; इसलिये २४ अक्षर हो जाते हैं। कुछ आचार्य ओंकारके बिना मन्त्रमें मन्त्रत्व ही नहीं मानते। बहुत लोग गायत्रीमें २३ अक्षर ही मानकर इसका नाम 'निचृद् गायत्री' रखते हैं। कुछ लोग 'वरेण्यम्' का पाठ 'वरेणियम्' करके चौबीस अक्षर मानते हैं। इस मन्त्रके पहले 'भूः भुवः स्वः' भी लोग लगाते हैं। इनका अर्थ है—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ। कुछ लोग इन तीनोंका अर्थ सत्, चित्, आनन्द भी करते हैं। ब्रह्मपरक होनेसे इसका एक नाम 'ब्रह्म-गायत्री' भी है। इसमें तीन चरण हैं।

तैत्तिरीयारण्यक (१।११।२) में इस मन्त्रका विवरण है। छान्दोग्योपनिषद् (३।१२।१) का कहना है कि 'गायत्री वा इदं सर्वम्'। अर्थात् 'ब्रह्माण्डमें जो कुछ है, वह गायत्री है।' बादरायणके ब्रह्मसूत्र (१।१।२५) पर शारीरक-भाष्यमें शङ्कराचार्यने कहा है—'गायत्री मन्त्रके जपसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।' मनुजीने लिखा है—'तीन वर्षतक सावधानीके साथ गायत्रीका जप करते रहनेसे जप-कर्ताको परब्रह्मकी प्राप्ति होती है।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥
(मनुस्मृति २।८२)

भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—'मैं वेदोंमें गायत्री हूँ'—'गायत्री च्छन्दसामहम्' (१०।३५)।

श्रीमद्भागवतको तो गायत्रीका भाष्य ही बताया गया है—'गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः।' माना जाता है कि भागवतके दशम स्कन्धकी 'रासपञ्चाध्यायी' में ब्रह्म-गायत्री महामन्त्रको सर्वाङ्गीण मूर्ति प्रदान की गयी है।

उपनिषदोंमें प्रतिदिन सन्ध्या करनेकी आज्ञा दी गयी है। कहा गया है—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत।'

कर्म तीन प्रकारके बताये गये हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। इनमें स्नान, सन्ध्या, गायत्री-मन्त्र-जप, हवन, देवपूजन और बलिवैश्वदेव आदि छः नित्य कर्म हैं। पर्व, तीर्थ आदिके कर्म नैमित्तिक हैं। फलाशासे हरिवंश-पुराण आदिका पाठ काम्य कर्म है। इनमें नैमित्तिक और काम्य-कर्म करनेसे फल-प्राप्ति तो होती है; परंतु नहीं करनेसे कोई बुरा फल नहीं मिलता। परंतु नित्यकर्म और नित्यकर्मोंमें सर्वश्रेष्ठ गायत्री-जप न करनेसे जीवनमें विघ्न होता है; पाप भी होता है। मनु महाराज कहते हैं—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥

अर्थात् 'प्रातःकाल आसन लगाकर गायत्री जपनेसे रातका किया पाप नष्ट होता है और सायंकाल सन्ध्या (गायत्री-जप) करनेसे दिनका किया पाप विनष्ट होता है।'

यह बात मानी हुई है कि मनुष्य दिन और रातमें कितनी ही बार झूठ बोलता है, कितने ही प्राणियोंको कष्ट देता है और अपने स्वार्थ-साधनके लिये जानते-अनजानते क्या-क्या अनर्थ करता है, इन सब दुष्कर्मोंसे उत्पन्न बुरे फलोंको नष्ट करनेके लिये गायत्रीका प्रतिदिन दो बार जप करना अत्यावश्यक है। याज्ञवल्क्य आदिकी स्मृतियोंमें तो तीन बार जप करनेकी आज्ञा है।

जन्मसे आठवें वर्षमें ब्राह्मण, ग्यारहवेंमें क्षत्रिय और बारहवेंमें वैश्यके बालकोंके उपनयनकी विधि है। इन्हीं समयोंमें इन तीनोंको गायत्रीकी दीक्षा देनेकी भी विधि है। परंतु सोलह वर्षतक ब्राह्मण, इक्कीस वर्षतक क्षत्रिय और बाईस वर्षतक वैश्यके बालकोंका उपनयन न किया जाय और गायत्रीकी दीक्षा न दी जाय, तो वे पतित हो जाते हैं, आर्यजातिकी निन्दाके पात्र बन जाते हैं और फिर उनका गायत्री मन्त्रकी दीक्षा लेनेका अधिकार भी जाता रहता है—

'सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ।'

(मनुस्मृति)

रात-दिन और दिन-रातकी सन्धि (संयोजक वेला) में, प्रातः और सायंकालमें, करणीय माने जानेके कारण इसका एक नाम सन्ध्या है। यह 'सन्ध्या-सावित्री' साक्षात् ब्रह्मरूपिणी जगन्माता मानी गयी है।

'त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा ।'

(दुर्गासप्तशती)

इस प्रकार नाना शास्त्रोंमें गायत्रीकी विविध महिमाएँ बतायी गयी हैं। इसके जपके बड़े-बड़े फल और सिद्धियाँ कही गयी हैं। कितने ही तो इसी एक मन्त्रमें निखिल वेदोंका अन्तर्भाव मानते हैं। इसके साथ कई कर्मोंकी भी विधियाँ हैं—आचमन, अघमर्षण, शुद्धि-मन्त्र, प्राणायाम, विभिन्न न्यास आदि। इस मन्त्रपर इतने भाष्य और इतनी टीका-टिप्पणियाँ निकली हैं कि उनके बड़े-बड़े पोथे बन गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक मन्त्रोंमें सर्वाधिक प्रतिष्ठा और प्रख्याति इसी गायत्री-मन्त्रकी है।*

क्या सोचोगे ?

इस हरियालीमें, नदी-किनारे, मा प्रकृतिकी गोदमें बैठकर तुम क्या सोचोगे ?—

अपने दुःख-द्वन्द्व, ईर्ष्या-द्वेष और मानवताकी पतन-पराकाष्ठा।

नहीं। यह स्निग्ध, रम्य हरियालीकी सुषमा, जो नेत्रोंकी गरमी शान्तकर हृदयको सरस कर देती है, यह सब सोचनेके लिये नहीं।

इन सबपर तो तुम अपने घरमें, अपने आफिसमें, अपनी दुकानमें, अपने क्लबमें और अपनी महती सभाओंमें सोच सकते हो।

हरियालीमें तो टटोलो अपने-आपको। क्या है, जो तुममें ठीक है और क्या है, जो तुममें नहीं होना चाहिये।

और जो नहीं होना चाहिये, उसे दूर करनेकी सोचो—अपना विश्वात्मासे अधिक तादात्म्य कर—एकात्म्य कर।

तुम सोचो—अपने कल्याणकी, विश्व-कल्याणद्वारा।

तुम सोचो—अपने उत्थानकी, सबकी बढ़ोतरीद्वारा; सबके सर्वनाशद्वारा नहीं।

और यों सोचो—दुनियाकी असह्य, अस्वस्थ गरमी शान्तकर उसमें स्वस्थ, शीतल अरुणोदय-लालिमा लानेकी।

आज दुनियाको मा प्रकृतिके हरियाले आँचलमें भरी शान्ति एवं सरस सहृदयताकी जरूरत है और यहाँ बैठकर तुम उसे वही दो—चिन्तनद्वारा, चिन्तनकी अभिव्यक्तिद्वारा और तदनुरूप आचरणद्वारा।

—बालकृष्ण बलदुआ

---

* यह लेख 'वैदिक साहित्य' नामक ग्रन्थसे उद्धृत है। ऋग्वेदके हिंदीभाषान्तरकार, वेदके महान् विद्वान् और अन्वेषक पं० रामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री इस उपादेय ग्रन्थके लेखक हैं और काशीकी 'भारतीय ज्ञानपीठ' ने इसको प्रकाशित किया है। सजिल्द ग्रन्थका मूल्य छः रुपया है। इसमें वैदिक वाङ्मयकी सभी आवश्यक बातोंका सरल भाषामें दिग्दर्शन कराया गया है। इसके पठन और अध्ययनसे वेदसम्बन्धी बहुत-सी बातोंका पाठकोंको ज्ञान होगा और वेदकी महत्ताके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी। लेखकने अपने दीर्घकालीन अध्ययन और अनुशीलनको इस ग्रन्थमें बड़ी सरसताके साथ भर दिया है। 'कल्याण'के पाठक इससे लाभ उठायेंगे, ऐसी आशा है। पुस्तक 'भारतीय ज्ञानपीठ' दुर्गाकुण्ड, बनारससे मिल सकती है।

कल्याणी कैकेयीके चरणोंमें श्रद्धाके फूल

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी)

आज उसीके पद अर्पित हैं, जिसको जग देता गाली ।
सुखद कल्पना काननके, श्रद्धा-सुमनोंकी यह डाली ॥
कैकेयी, सिरपर संकट ले, रखती नहीं कहीं जन-लाज ।
राम-राज्य कैसे हो पाता, रहता क्या अस्तित्व सुराज ॥
राम-चरितसे कैसे युगकी, होती मर्यादा-निर्माण ।
कौन विश्वमें मनुजरूप, दे सकता रावणको निर्वाण ॥
कैकेयीके मन यदि रहता, अपना और पराया भान ।
शैशवसे प्रवास कर पाता, क्या माँकी छातीका प्राण ॥
कैकेयी जब भली कहाती, रहते राम अवधके नाथ ।
बुरा हुआ जो राम बन सके, उसके तपसे त्रिभुवननाथ ॥
लक्ष्य भक्तिका रहस्यपूर्ण यह, राम दिया कैसा वरदान ।
उसने जगसम्मान किया पर जगसे मिला उसे अपमान ॥
राम तुम्हारी ध्येय साधिकाका तुमने तो रक्खा मान ।
पर, न रख सका भरत सरीखा सुत, उसका किञ्चित् भी ध्यान ॥
देवी, देव, नाग, किन्नर, ऋषि-मुनिका जिसने हित जाना ।
राष्ट्र-धुरी दण्डकवन जिसने शान्ति कराना शुभ माना ॥
देश-प्रेमकी बनी पुजारिन, विमलहृदय वह साधक-शक्ति ।
सीखा जिसने नहीं कभी था भावोंकी करना अभिव्यक्ति ॥
जग-निन्दाको शिरोधार्य कर राम-कार्यको किया सफल ।
देश-शान्ति-सुख जनसेवा हित बनी रही जो दृढ अविचल ॥
मानवताकी रक्षाके हित सदा रही जो सेनानी ।
जन-सुराज लानेका गौरव प्राप्त प्रथम यह क्षत्राणी ॥
कैकेयीको दे कलंक हम, नहीं पा रहे अपना क्षेम ।
भक्त-विमुख यह कार्य हमारा राम कहीं मानेंगे प्रेम ॥
भारतीय नारी कैकेयीके आदर्शोंसे क्यों दूर ?
भारतके स्वर्णिम प्रभातको दिया उसीने है सिन्दूर ॥

निष्पाप मन

(रचयिता—पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

सम्पतिका कोष कमाऊँ, चाहे सर्वस्व गँवाऊँ,
सुख हो या दुःख उठाऊँ, जुग जिऊँ अभी मर जाऊँ,
नगरीका नागर बनूँ बसूँ या वनमें,
पर, पाप न आवे हे प्रभु, मेरे मनमें ।
परिवार भले ही छोड़े, प्रिय पत्नी नाता तोड़े,
मुँह सन्तति क्यों न मरोड़े, शासन सब तीत निचोड़े,
कष्टोंका कोप रहे कितना ही तनमें,
पर, पाप न आवे हे प्रभु, मेरे मनमें ।
दुखियोंके दुःख विदारूँ, पतितोंपर प्रेम प्रसारूँ,
बल सदा सत्यका धारूँ, बन वीर न हिम्मत हारूँ,
हो जरा-जीर्ण तन, या उमंग यौवनमें,
पर, पाप न आवे हे प्रभु, मेरे मनमें ।
अन्याय-अनीति मिटाऊँ, सेवा-सन्मार्ग सुझाऊँ,
सद्भाव-सुधा बरसाऊँ, समता-सुनीति सरसाऊँ,
यश हो, या अपयश मिले मुझे जीवनमें,
पर, पाप न आवे हे प्रभु, मेरे मनमें ।

गायत्रीमन्त्रकी महत्ताका रहस्य

(लेखक—पं०श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

'गायत्री छन्दसामहम्' (गीता १० । ३५)

'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।'

यह मन्त्र धार्मिक जगत्में प्रसिद्ध है । यह 'अथर्ववेद'-से अतिरिक्त तीनों वेदोंमें मिलता है । 'अथर्ववेद'की शौनक-संहितासे अन्य किसी संहितामें हो—यह सम्भव है । 'ऋग्वेद'-की 'शाकलसंहिता' (३ । ६२ । १०) में यह मिलता है । 'सामवेद'की कौथुम संहिता (उत्तरार्चिक १३ । ४ । ३ । १) में भी मिलता है । 'यजुर्वेद'की वाजसनेय-संहिता (३ । २५, १६ । ३, २२ । ९, ३० । २) में भी मिलता है । इस प्रकार अन्य संहिताओंमें भी इसका मिलना सम्भव है ।

यह गायत्रीमन्त्र, सावित्रमन्त्र, गुरुमन्त्र आदि नामोंसे प्रसिद्ध है । गायत्री छन्दवाला होनेसे यह 'गायत्री' नामसे प्रसिद्ध है । यद्यपि गायत्री छन्दवाले मन्त्र बहुतसे हैं, तथापि 'प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे प्रधान इस मन्त्रका ही उक्त नाम प्रसिद्ध है । अथवा गायत्री 'गायतेः स्तुतिकर्मणः' (निरुक्त ७ । १२ । ६) 'गायन्तं त्रायते' इत्यादि निर्वचनोंसे यह यौगिकरूपसे भी इस नामसे प्रसिद्ध है । 'सवितुरियम् ऋक्' इस विग्रहसे 'सावित्री' नामसे भी यह मन्त्र प्रसिद्ध है । इसीलिये यह स्त्रीलिङ्गान्त है—सविताकी ऋचा सावित्री । इस प्रकार यही 'वेदमाता' नामसे प्रसिद्ध होनेसे भी स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त होता है । इसी कारण सन्ध्यामें 'उत्तमे शिखरे देवि !' (तैत्तिरीयारण्यक १० । ३०) इस प्रकार उक्त मन्त्रके विसर्जन (समाप्ति) के अवसरपर स्त्रीलिङ्ग दिया गया है । सविताकी शक्तिरूप होनेसे उसका 'श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा' इस प्रकार देवीरूपसे वर्णन आया है । उपनयनके अवसरपर आचार्य गुरु इसी मन्त्रका उपदेश करते हैं, इस कारण गुरुमन्त्र नामसे भी यह मन्त्र प्रसिद्ध है ।

इस मन्त्रमें सविता देवसे प्रार्थना है । सविता यहाँ सूर्य है । तब यहाँ 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (वेदान्तदर्शन २ । १ । ५) इस सूत्रसे सूर्याभिमानी सूर्यमण्डलान्तर्गत चेतन देवविशेष लिया जाता है । जैसे जड जलोंका चेतन देव 'वरुण' वेदमें 'यासां [अपां] राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्' (ऋग्वेद ७ । ४९ । ३) इस अप् (जल) देवतावाले मन्त्रमें सङ्केतित किया गया है, वैसे ही जड कहे जाते हुए भी सूर्यमण्डलका चेतन देव 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (४० । १७) इस शुक्लयजुर्वेद (वा० सं०) के मन्त्रमें सङ्केतित किया गया है ।

सूर्याद्यभिमानी देवता भी उस-उस नामसे प्रसिद्ध होता है । वेदको भी, जो हमें सूर्य आदिकी उपासना सिखलाता है, सूर्य आदि चेतन इष्ट हैं । चाहे एतदादिक पदार्थ लौकिक व्यवहारमें जड प्रसिद्ध क्यों न हों, वे वास्तवमें अभिमानी देवतावाले होनेसे चेतन ही हैं । इसीलिये 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (वेदान्तदर्शन २ । १ । ५) इस उत्तरमीमांसाके सूत्रका भाष्य करते हुए आचार्यपाद श्रीशङ्करस्वामीने लिखा है—

'मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते, न भूतेन्द्रियमात्रम् । ······ **'अनुगताश्च सर्वत्र अभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते इति ।'**

यहाँपर आचार्यने वेद तथा पुराण-इतिहासकी साक्षीसे देवताओंको चेतन माना है । इसीलिये वेदमें 'वरुणोऽपामधिपतिः' (अथर्ववेद शौ० सं० ५ । २४ । ४); 'आपश्च वरुणश्च राजा' (अथर्व० १५ । २ । ६); 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता' (शतपथ ब्रा० ३ । ५ । २ । ९) इस प्रकार अभिमानी देवता स्वीकार किये गये हैं ।

'वेदान्तदर्शन'के १ । ३ । ३३ सूत्रके भाष्यमें भी श्रीस्वामी शङ्कराचार्यपादने यह बात स्पष्ट की है । जैसे कि—

'ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः चेतनावन्तम् ऐश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात् । अस्ति हि ऐश्वर्ययोगाद् देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्च अवस्थातुम्, यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम् । तथाहि श्रूयते— 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंशब्राह्मण १ । १) **स्मर्यते च 'आदित्यः पुरुषो**

भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह—इति । मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते'—'मृदब्रवीत्, आपोऽब्रुवन्—' इति दर्शनात् ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिषु अचेतनत्वमभ्युपगम्यते, चेतनास्तु अधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादि व्यवहारादित्युक्तम्' । (अष्टम देवताधिकरण)।

यहाँपर सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता देवको चेतन सिद्ध किया गया है।

इसी अभिप्रायसे महाभाष्यकार श्रीमान् पतञ्जलिने ३।१।७ पाणिनिसूत्रके वार्तिकका भाष्य करते हुए यावत् पदार्थजातको चेतन सिद्ध किया है और इस पक्षको वेदानुगृहीत माना है। जैसे कि—

'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' अथवा सर्वं चेतनावत्। एवं ह्याह—कंसकाः सर्पन्ति, शिरीषोऽयं स्वपिति, सुवर्चला आदित्यमनु पर्येति । आस्कन्द कपिलक—इत्युक्ते तृणमास्कन्दति । अयस्कान्तमयः संक्रामति । ऋषिः (वेदः) पठति–'श्रृणोत ग्रावाणः'* (तै० सं० १।३।१३।१)

यहाँपर कहा गया है कि जब कि वेद 'पत्थरो ! सुनो' इस प्रकार कहता है, तब पत्थर आदि बाह्य व्यवहारमें अचेतन होते हुए भी वेदकी दृष्टिमें चेतन हैं। इसपर 'प्रदीप'में कैयटने लिखा है—

'सर्वस्य वा—इति, आत्माद्वैतदर्शनेन—इति भावः । ऋषिरिति—वेदः सर्वभावानां चैतन्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः । वैचित्र्येण च पदार्थानामुपलम्भात् सर्वचेतनधर्मः सर्वत्र नोद्भावनीयः ।'

इसमें इस प्रश्नका कि—'यदि पत्थर आदि चेतन हैं, तो वे भी हम चेतनोंकी तरह चलते-बोलते क्यों नहीं ?'—

उत्तर दे दिया गया है कि—पदार्थोंमें विचित्रता भी हुआ करती है। तो सब चेतनोंमें सभी चेतनोंवाले धर्म उसी रूपसे हो भी नहीं सकते। इसकी स्पष्टता 'उद्योत'में श्रीनागेशभट्टने इस प्रकार की है—

'वैचित्र्येण—इति । चेतनेषु मनुष्येष्वपि नानाजातीयव्यवहारदर्शनादिति भावः । सर्वत्र परिणामदर्शनेन चेतनाधिष्ठानं विना च तदसम्भवात् सर्वस्य तदधिष्ठितत्वं ज्ञायते—इति तात्पर्यम् ।'

अर्थात् जब चेतन मनुष्योंमें भी नाना प्रकारके व्यवहार दिखलायी पड़ते हैं, तब चेतन पत्थर आदियोंमें भी सभी चेतनोंवाले व्यवहार नहीं हो जाते। चेतन मनुष्योंमें भी लकवा आदिके कारण चलना-बोलना आदि चेष्टा नहीं रहती। जब सर्वत्र परिणाम-परिवर्तन आदि विकार दीखता है, तब वह चेतनके अधिष्ठानके बिना नहीं हो सकता; इस कारण स्पष्ट है कि सभी पदार्थ चेतन हैं।

वार्तमानिक विज्ञान भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि करता है। वैज्ञानिकोंने रेडियम धातुकी विद्युत्कणिकाके परीक्षण करनेपर यह ज्ञान उपलब्ध किया है कि रेडियम धातुके एक परमाणुसे हज़ारों विद्युत्कण प्रतिक्षण प्रकट होते रहते हैं। परिमाणमें वे कण इतने सूक्ष्म होते हैं कि एक सहस्रकी संख्यामें मिले रहनेपर भी उनका संयुक्त परिमाण वा गुरुत्व 'हाईड्रोजन' के एक परमाणुके तुल्य भी नहीं होता। इनके निकलनेका वेग प्रकाशके वेगके $\frac{१}{३}$ परिमाणका होता है। प्रकाशका वेग एक 'सेकण्ड' में १, ८६,००० मीलका होता है। सूर्यसे लगभग साढ़े नौ करोड़ मील दूर ठहरी हुई पृथिवीमें उसका प्रकाश आठ मिनटोंमें पहुँच जाता है। एतदादिक अपूर्व बातोंको देखकर वैज्ञानिकोंकी यह धारणा हुई है कि चराचर जगत्में सारभूत वस्तु कोई नहीं, और संसारमें कोई भी पदार्थ जड नहीं। जड कहे जाते हुए पदार्थोंके छोटे परमाणुओंके अनुसन्धान करनेपर उनको तोड़कर हजार टुकड़े करनेसे विद्युत्कणिकासे भिन्न और कुछ भी नहीं मिलता; फिर भी उनकी सत्ता दिखलायी पड़ती है और नियमसे प्रतिक्षण उनकी गति दिखलायी पड़ती है। इससे वर्तमान वैज्ञानिकोंके विचारमें जड वस्तुओंमें भी दैवी शक्तिके आभास दीखनेसे जडोंमें भी चेतनकी सत्ता सिद्ध हुई।

वास्तवमें यह सिद्धान्त न्याय्य भी है। शास्त्रका भी यही सिद्धान्त है। शास्त्र परमात्माको अणु-अणुमें व्याप्त मानता है। उस परमात्मासे भिन्न किसी भी वस्तुकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। परमात्मा 'सच्चिदानन्द' इस शब्दसे चेतन माना जाता है। तब समस्त सांसारिक वस्तुजात जड दीख रहा हुआ भी वास्तवमें चेतन ही है। जो कि उसमें स्थूलताके चेतनताकी अभिव्यक्ति नहीं दिखायी देती; वहाँ कारण स्थूलतासे उनमें इन्द्रियों तथा मनकी अभिव्यक्ति न होना ही

---

* सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

'श्रृणोत्वग्निः समिधा हवं मे, श्रृण्वन्तु आपो धिषणाश्च देवीः ।
श्रृणोत ग्रावाणो विदुषो नु यज्ञं श्रृणोतु देवः सविता हवं मे ।'

है। आत्माको ही लीजिये, यह चेतन है। जब मरणके समय उसमें इन्द्रिय तथा मन अभिव्यक्त नहीं होते, तब वह भी चेष्टाशाली मालूम नहीं पड़ता; बल्कि आत्माकी शरीरमें विद्यमानतामें भी, वहाँ होती हुई भी इन्द्रियाँ लकवा आदि कारणवश कार्यमें असमर्थ या निर्बल हुआ करती हैं। तब आत्मासे युक्त शरीरमें भी चेष्टा नहीं दिखायी पड़ती। जैसे कि यहाँपर मूर्छितोंको ले लीजिये। अथवा जो मूर्छित न हों; किंतु निर्बल इन्द्रियशक्तिवाले हों, उन्हींका उदाहरण ले लीजिये। परमात्मा चेतन माना जाता है; पर उसमें हरकत (चेष्टा) क्यों नहीं दीखती? इसमें कारण है उसका स्थूल इन्द्रिय-मनसे संयोग न होना। इसीलिये उस परमात्माके शब्द आदि व्यवहार भी स्थूल नहीं होते।

इससे भी सिद्ध है कि जड वस्तु भी वास्तवमें चेतन होती है। भैंसके पुरीषके जड परमाणुओंमें जब स्थूलतासे विशिष्ट शक्तिका संयोग होता है, तब उस पुरीषमें कीड़े व्यक्त हो जाते हैं। यदि जडमें चेतनशक्ति सर्वथा न होती तो अभावसे भावकी उत्पत्ति किस तरह हुई? जो चेतन शक्ति कीड़ोंमें है, वही भैंसके पुरीषके जड परमाणुओंमें भी थी; परंतु इन्द्रिय आदिकी अभिव्यक्ति न होनेसे उसकी चैतन्यशक्ति अपना उपयोग न कर सकी। इसी सिद्धान्तको आश्रित करके स्व० जगदीशचन्द्र वसुने वृक्षोंमें चेतनता मानी; इसी प्रकार पत्थरमें भी। इसी अभिप्रायसे वर्तमान वैज्ञानिक सूर्यमें भी प्रसन्नता-अप्रसन्नताके परमाणु मानने लग गये हैं, यह अन्य निबन्धमें बताया जा सकता है। अस्तु, अब प्रकरणपर आइये—

सविता सूर्य है—यह पूर्व कहा जा चुका है। 'सुवति–प्रेरयति कर्मणि लोकम्' यह उसकी व्युत्पत्ति है। कई महाशय 'सविता' शब्दको 'षुञ् प्रसवैश्वर्ययोः' इस धातुसे सिद्ध करना चाहते हैं, और कई 'यः चराचरं जगत् सुनोति, सूते वा उत्पादयति स सविता।' यह व्युत्पत्ति करके 'अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं च उत्पादनम्' यह कहकर 'षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इन धातुओंसे सविता-शब्दको सिद्ध करना चाहते हैं; पर यह वेद तथा वेदाङ्गसे अनुकूल नहीं। इसमें 'षुञ् प्रसवैश्वर्ययोः' धातु तो हो नहीं सकती; क्योंकि 'षुञ्' धातु 'अभिषव' अर्थमें हुआ करती है, प्रसवादि अर्थमें नहीं; और 'अभिषव' अर्थ 'सविता' में है नहीं। 'अभिषव' स्नपन वा पीडन अथवा सुरासन्धान (सोमवल्लीका रस निकालना) हुआ करता है। वेदाङ्गप्रकाश-आख्यातिकमें स्वामी दयानन्दजीने भी इस धातुका 'यन्त्रसे रस खींचना वा राज्याधिकार देना' यह अर्थ स्वीकृत किया है—उत्पादनका नहीं।

इधर 'षुञ्' धातु अनिट् हुआ करती है; पर 'सविता' शब्दमें तो 'इट्' प्रत्यक्ष है। जो धातु प्रसव, ऐश्वर्य अर्थमें है, वह 'षु' धातु है 'षुञ्' नहीं। पर वह 'षु' धातु भी सेट् नहीं, किंतु अनिट् है। उसमें भी 'प्रसव' शब्द 'अभ्यनुज्ञान' अर्थवाला है, गर्भमोचनार्थक नहीं। प्रसवार्थमें तो 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' (अ० वे० आ०) यह अदादिगणकी धातु अथवा 'षूङ् प्राणिप्रसवे' (दि० वे० आ०) यह दिवादि-गणकी धातु पूर्वपक्षके मतानुसार हो सकती है; पर वह भी ठीक नहीं; क्योंकि ये धातुएँ सेट् नहीं; किंतु वेट् हैं। एतदादिक मन्त्रोंमें 'सविता' इस प्रकार 'नित्य इट्' ही देखा गया है। किसी सविता देवतावाले मन्त्रमें 'सोता' इस प्रकार 'सूतवे' (अथर्व० ५। २५। १०) की तरह इट्से रहित प्रयोग नहीं मिला; नहीं तो वेट् होनेका फल क्या? और फिर यह अर्थ सवितृ-देवतावाले मन्त्रोंमें देखा भी नहीं गया। 'अनुसूतुं सवितवे' (अथर्व० ६। १७। १) इत्यादिमें उक्त धातुओंकी वेट्कता देखी गयी है; अर्थ भी वही देखा गया है। पर सावित्रमन्त्रोंमें सविता-सोता इस प्रकार वेट्कता नहीं देखी गयी। व्यत्ययसे भी उसकी सिद्धि नहीं; क्योंकि—सविताका मन्त्र ही इसका स्वयं विरोध करता है।

'सविता' में उक्त धातुओंके साधनके लिये उसके वैकल्पिक रूपके प्रदर्शनार्थ 'वि हि सोतोरसृक्षत' (ऋ० १०। ८६। १) इस मन्त्रका प्रदर्शन भी लाभदायक नहीं, क्योंकि—'सोतोः' में 'सविता' वाला अर्थ ही नहीं; किंतु 'सोमाभिषवं कर्तुम्' यही अर्थ उसका इष्ट है, तब यह 'सोतोः' प्रयोग वेट्क धातुका वैकल्पिक प्रयोग भी सिद्ध न हो सका; किंतु अनिट् 'षुञ्' धातुका ही प्रयोग हुआ, जिसका 'सविता' से कोई सम्बन्ध नहीं। इधर 'सोतोः' में 'सविता' की तरह 'तृच्' प्रत्यय भी नहीं; किंतु तोसुन् प्रत्यय है; इस प्रकार यहाँ दोनों ही पक्ष वेदानुगृहीत सिद्ध न हो सके। वेदमें 'सविता' के साथ 'सूति, सूयति, सुनोति' का प्रयोग सर्वथा नहीं देखा गया। इधर 'सविता' में उत्पादन अर्थवाली धातुओंका प्रयोग बतलानेवाले महोदय 'सविता' का अर्थ 'परमात्मा' करते हैं; पर परमात्मा उनके मतमें उत्पादक नहीं; किंतु 'प्रकृति' ही उनके मतमें उत्पादक है। तब वह अर्थ उसमें अन्वित भी नहीं हो सकता।

तब 'सविता' में 'षू प्रेरणे' (तु० से० प०) इस तुदादिगणी धातुको ही मानना चाहिये। यह धातु न तो 'अनिट्' है, न 'वेट्' ही है, किंतु 'सेट्' है। 'सुवति कर्मणि लोकम्' यह 'सविता' की व्युत्पत्ति है। यही धातु और यही अर्थ वेदको भी 'सविता' शब्दमें इष्ट है। इस सम्बन्धमें निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं—'देव ! सवितः ! प्रसुव' (यजुः वा० सं० ९। १) इस मन्त्रमें 'सविता' को सम्बोधित किया गया है; उसमें 'प्रसुव' इस सविताकी क्रियामें 'षू प्रेरणे' यही तौदादिक धातु प्रयुक्त की गयी है। तुदादिमें 'श' विकरण होनेसे अपित्सार्वधातुकताके कारण 'ङित्' संज्ञा हो गयी है, जिस कारण गुण न होकर उवङ् हो गया है।

इसी प्रकार 'सविता नः सुवतु सर्वतातिं—' (ऋ० १०। ३६। १४) यहाँपर भी 'सुवति' का प्रयोग किया गया है; न 'सूति' का, न 'सूयति' का और न 'सुनोति' का। 'सवितः ! आ सुव' (अथर्व० २। २९। २) 'परा तान् सवितः ! सुव' (अथर्व० १९। ८। ४) इनमें भी सविताके साथ उसी तौदादिक धातुका ही प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'सुवाति सविता' (ऋ० ५। ८२। ३–९) 'सवितर्वरेण्यं भागमा सुव' (ऋ० १०। ३५। ७) 'सूर्यः· · 'अय सुव' (ऋ० १०। ३७। ४) 'सविता नु वो देवः सुवतु' (ऋ० १०। १७५। ४) 'देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवताद् अनागसः' (ऋ० ४। ५४। ३) एतदादिक मन्त्रोंमें भी 'कल्याण'-पाठक स्वयं देख लें कि सुवतिका प्रयोग है।

इस प्रकार प्रसिद्ध मन्त्र 'विश्वानि देव ! सवितर् ! दुरितानि परासुव ! यद् भद्रं तन्न आसुव' (यजुः० वा० सं० ३०। ३) यहाँपर भी वही तौदादिक धातु विधि-निषेधमें सविताके लिये लिया गया है। केवल वही धातु क्या, प्रत्युत वेदमें 'सविता' पदमें अर्थ भी 'षू प्रेरणे' इस तुदादिगणी धातुका ही लिया गया है। प्रकृत सावित्री मन्त्र ही ले लीजिये—'तत् सवितुर्वरेण्यं· · 'धियो यो नः प्रचोदयात्'। यहाँ यद्यपि क्रियामें 'सुवति' तो प्रयुक्त नहीं किया गया, तथापि उसका प्रेरणा अर्थ तत्समानार्थक 'चुद्' धातुसे प्रकाशित किया गया है। तब 'सविता' की 'सूते', 'सुनोति' आदि व्युत्पत्तियाँ वेदानुकूल न होकर तद्विरुद्ध सिद्ध हुईं।

तब फिर 'सुवति कर्मणि लोकम्' इस व्युत्पत्तिके ही शेष बच जानेसे तथा वेदसम्मत होनेसे युक्तता सिद्ध हुई। इस व्युत्पत्तिसे सूर्यदेवका ही ग्रहण स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि वही लोगोंको कर्ममें प्रेरित करता है। इसीलिये यजुर्वेद—शतपथ ब्राह्मणमें कहा है—'असौ वै आदित्यो देवः सविता' (६ । ३ । १ । २०)। इसी कारण 'राजसूयसूर्य०' (३। १। ११४) इस पाणिनिसूत्रमें 'सूर्य' शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए श्रीभट्टोजि दीक्षितने 'सिद्धान्तकौमुदी' के कृत्य-प्रकरणमें लिखा है—'सरति आकाशे इति सूर्यः, यद्वा—षू प्रेरणे तुदादिः, क्यपो रुट्। 'सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयतीति सूर्यः', इसी प्रकार वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तकार श्रीयास्कने भी—सूर्य शब्दकी निरुक्ति ऐसे ही की है—'सूर्यः सर्तेर्वा, सुवतेर्वा' (निरु० १२। १४। २) तब सूर्यके पर्यायवाचक 'सविता' शब्दमें भी 'षू प्रेरणे' धातुकी सत्ता स्पष्ट सिद्ध हुई।

वेदमें भी इसकी साक्षी मिलती है—'सूर्य !· · 'अप दुःष्वप्नं सुव (ऋ० १० । ३७। ४)। यहाँपर सूर्यमें भी 'सविता' शब्दवाली 'सुवति' धातुका निर्देश किया गया है। अन्य भी देखिये—'सूर्यो यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्' (ऋ० १०। ८५। ९) इस मन्त्रमें 'सूर्या' को 'सविता' की लड़की दिखलाया है। 'युवो (अश्विनोः) रथं दुहिता सूर्यस्य' (ऋ० १ । ११७। १३) यहाँपर उसी सूर्यकी लड़कीको अश्विनोंके रथमें दिखलाया गया है। 'ता वां (अश्विनोः) वयमद्या हुवेम · 'अश्विना ! यः सूर्यो वहति' (अथर्व, २०। १४३। १) इत्यादि मन्त्रोंमें उसी सूर्या (सूर्यकी दुहिता) को अश्विनोंके रथमें दिखलाया गया है। तब सविता और सूर्य पर्यायवाचक ही सिद्ध हुए। इसी कारण उपनयनके समयमें 'देव ! सवितः ! एष ते ब्रह्मचारी' (सं० वि० पृ० ८४) यह सविताका मन्त्र कहलवाकर स्वामी दयानन्दजी भी ब्रह्मचारीको सूर्यके समक्ष ही ठहराते हैं। सूर्यके ही ब्रह्मचारी होनेसे उसे सावित्र (सौर) मन्त्र 'ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं' की दीक्षा देनी युक्त भी है। इसी प्रकार सविता—सूर्य पर्यायवाचक शब्द स्पष्ट सिद्ध हुए। इसी तरह उपनयन तथा सन्ध्याके समय जहाँ 'तच्चक्षुर्देवहितं' इस प्रकार सूर्यका उपस्थान होता है; वहाँ जप भी 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस प्रकार सूर्यका ही होता है। इस प्रकार सावित्री-मन्त्रमें सूर्यमण्डलाभिमानी देव ही उपासनाका विषय सिद्ध हुआ, जिसके विषयमें शुक्लयजुर्वेद (वा० सं०) के

उपान्तिम मन्त्रमें कहा है—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (४० । १७)

इस कारण 'ब्रह्मसूत्र' के (१ । १ । २०) सूत्रकी व्याख्या करते हुए शाङ्करभाष्यमें कहा गया है—'य एषोऽन्तरादित्ये··· इति श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी । यदपि आधारश्रवणान्न परमेश्वर इति; अत्रोच्यते—स्वमहिमप्रतिष्ठस्यापि आधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति । सर्वगतत्वाद् ब्रह्मणो व्योमवत् सर्वान्तरत्वोपपत्तेः ।' इस प्रकार सूर्यमण्डलाभिमानी देव ही सन्ध्यामें उपास्य सिद्ध हुआ । तभी प्रातः-सन्ध्यामें मुख पूर्वाभिमुख करना पड़ता है और सायं पश्चिमाभिमुख; क्योंकि—उस समय सूर्य उस-उस दिशामें होता है । इसीलिये 'सत्यार्थप्रकाश' (४ समु० ५९ पृ०) में उद्धृत सामवेदके 'षड्विंश ब्राह्मण'में कहा गया है—'तस्माद् अहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन्' (४ । ५) यहाँपर उदय होते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्यका ध्यान ही सन्ध्या माना गया है ।

इसी कारण मन्त्रभाग 'अथर्ववेद' में भी कहा गया है—

'उद्यते नमः, उदायते नमः, उदिताय नमः'

(शौ० सं० १७ । १ । २२)

'अस्तं यते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः'

(अ० १७ । १ । २३)

यहाँपर भी उदयास्तकी तीन दशाओंमें सूर्य-नमस्कार माना गया है । इसी मूलको लेकर पुराणादिमें 'उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका । अधमा सूर्यसहिता प्रातः-सन्ध्या त्रिधा मता ॥' 'उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा । अधमा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधा मता ॥' यहाँपर दोनों सन्ध्याओंको तीन प्रकारका माना गया है । अथवा उक्त आथर्वणिक मन्त्रोंमें दोनों सन्ध्याओंकी अवधि दिखायी गयी है । तभी श्रीमनुने कहा है—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥

(२ । १०१)

'प्रातः-सन्ध्या सूर्यदर्शनतक करे, सायं-सन्ध्या तारोंके दीखनेतक करे ।' अस्तु, अब प्रकरणपर आना चाहिये ।

सावित्रीमन्त्रकी मुख्यताका कारण वेदका सार होनेसे अदृष्टमें जो भी हो; परंतु इसकी दृष्टिमें भी मुख्यता स्पष्ट दीख पड़ती है । उसमें मुख्यता या उसकी महत्तामें कारण इस मन्त्रमें बुद्धिकी प्रार्थना है । सूर्यसे बुद्धिकी प्रार्थना इस कारणसे है कि वह बुद्धिका अधिष्ठाता देव है । इस बुद्धि-दातृत्वके कारणसे ही सूर्यके उदयमें चोरोंकी चौर्यप्रवृत्ति, तथा जारोंकी जारवृत्ति हट जाती है । वैज्ञानिकोंने सूर्यसे ही इस प्रकारकी सुई तैयार की है, जिसके इंजेक्शनसे कुल्टा स्त्रियोंमें सद्बुद्धि उदित होती है, जिसका वर्णन 'सूर्य आत्मा' इस निबन्धमें हम कभी करेंगे । सूर्यके उदय होनेसे ही बुद्धिकी शुद्धि तथा कर्मोंमें प्रेरणासे बुद्धिकी वृद्धि प्रत्यक्ष है ।

बुद्धिकी प्रार्थनासे ही 'वृद्धकुमारीवर' तथा 'वृद्धान्धब्राह्मणवर' की तरह सब कुछ प्रार्थित हो जाता है । इस कारण गायत्रीमन्त्रके बुद्धिदातृत्व होनेसे सर्वदातृत्व होनेके कारण इसकी महत्ता स्पष्ट है । एक वृद्धा कुमारीने पति, पुत्र, धान्य, गौ आदि चाहते हुए बहुत तपस्या की । देवने साक्षात् होकर एक वर माँगनेको कहा । उसने वर माँगा—'मैं अपने पुत्रको सुवर्णके पात्रमें बहुत दूध-घीसे मिला भात खाता हुआ देखना चाहती हूँ ।' इस प्रकार उसने एक ही वरसे यौवन, पति, पुत्र, सोना, धान्य, गाय आदि माँग लिये । इसी प्रकार एक जन्मसे अंधे, निर्धन, अविवाहित ब्राह्मणकी भी कथा है । देवताके मुखसे एक वर माँगना सुनकर उसने वर माँगा—'मैं अपने पोतेको राजसिंहासनपर बैठा हुआ देखना चाहता हूँ ।' इस प्रकार उसने एक ही वरसे अपनी आँखें, धन, यौवन, विवाह, स्त्री तथा पुत्र, पौत्र आदि सन्तान माँग ली ।

यही दशा है बुद्धि-प्रार्थनाकी । हमारे जो कार्य सिद्ध नहीं होते, या उलटे हो जाते हैं, उसमें मुख्य कारण होता है बुद्धिकी विपरीतता । इसलिये प्रसिद्ध है—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ।' महाभारतमें भी कहा है कि देवता डंडा लेकर पशु-रक्षककी तरह पुरुषकी रक्षा नहीं करते । वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे बुद्धि दे देते हैं । जिसे असफल बनाना चाहते हैं; उससे उसकी बुद्धि छीन लेते हैं'—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ॥
यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥

(उद्योगपर्व ३४ । ८०—८१)

बुद्धिके विपरीत होनेपर ही तो पाप होते हैं; इससे बुद्धिका माहात्म्य प्रतिफलित हुआ ।

इसीलिये 'सांख्यदर्शन'में २ । १३ सूत्रके विज्ञानभिक्षुके भाष्यमें कहा है—

अस्याश्च बुद्धेर्महत्त्वं स्वेतरसकलकार्यव्यापकत्वाद् महैश्वर्याच्च मन्तव्यम्'

'यह बुद्धि इस संसारके सारे कार्योंमें व्यापक है और इसका बड़ा सामर्थ्य है।' 'महाभारत'के उद्योगपर्वमें कहा है—जिससे संसारकी सभी बातें गृहीत हो जाती हैं, वह सब बलोंमें श्रेष्ठ बुद्धिबल ही है—

येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत !
तद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ॥

(३ । ७ । ५५)

एक हाथीपर एक लड़का चढ़ा हुआ अङ्कुशके द्वारा हाथीको अपने इच्छानुसार इधर-उधर चला रहा था। हाथीके गलेमें बँधी हुई घण्टी बजती थी। उस शब्दको सुनकर किसी कविने उत्प्रेक्षा की कि यह घण्टी नहीं बज रही, किंतु हाथीके मुखसे ये शब्द निकल रहे हैं—

'मतिरेव बलाद् गरीयसी, यदभावे करिणामियं दशा ।'

'इयं दशा'का यह अर्थ है कि एक बुद्धिमान् बालक भी बलवालेको मनचाहे नाच नचा सकता है।

इस प्रकार जब बुद्धिकी महत्ता सिद्ध हुई, तब बुद्धि-प्रार्थक मन्त्रका महत्त्व तो स्वतः सिद्ध हो गया। इसीलिये इस गायत्रीमन्त्रका फल वेदमन्त्रमें स्वयं कहा गया है—

'स्तुता मया वरदा वेदमाता (गायत्री)……आयुः, प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत (तु) ब्रह्मलोकम्' (अथर्व० १९ । ७१ । १)

'यह वेदमाता गायत्रीका ही फल है।'

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्………………………… ॥

(मनु० २ । १०३)

यहाँपर सन्ध्या न करनेवालोंको शूद्रसदृश कहा है। यहाँ भी यही रहस्य है। सन्ध्याका सर्वस्व है सावित्री, और सावित्रीमें है बुद्धिकी प्रार्थना। जो सन्ध्या नहीं करेगा, वह गायत्रीसे रहित होनेसे बुद्धिके अभाववश स्वयं शूद्रसदृश होगा। इस मनुवचनसे—जो कि वादि-प्रतिवादिसम्मत है—शूद्रका वेदात्मक सन्ध्यामें अनधिकार भी सिद्ध हो रहा है।

इसी प्रकार 'मनुस्मृति'के—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥

(२ । ७६)

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् । (२ । ७७)

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

(२ । ७८)

इस पद्यके अनुसार वेदका सर्वस्व भी गायत्री है। तभी तो उपनयन हो जानेपर 'वेदारम्भ' संस्कारमें वेदके सारस्वरूप गायत्रीको ही पढ़ाकर आचार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको उसी दिन एकजसे द्विज बनाता है। तभी वेदाध्ययन न होनेसे गायत्रीका अध्ययन न होनेके कारण श्रीमनुजीने—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

(२ । १६८)

इस प्रकार वेदाध्ययनाभावमें भी शूद्रसादृश्य माना है। वादि-प्रतिवादि-स्वीकृत इस मनुवचनसे भी शूद्रको वेदानधिकार सिद्ध हो रहा है।

यद्यपि बुद्धिप्रार्थना लौकिक पद्योंसे भी हो सकती है, तथापि वेदमें नियत आनुपूर्वी तथा नियतपद-प्रयोगपरिपाटी होनेसे उसमें अपूर्वता हुआ करती है, जिससे उससे फलातिशय हुआ करता है। जैसे कि 'निरुक्त'में श्रीयास्कमुनिने कहा है—

'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'

(१ । २ । ७)

इसी कारण मन्त्रोंके पदोंका अन्यथात्व करनेपर वह मन्त्रत्व न रहनेसे उसमें वह शक्ति भी नहीं रहती। शक्ति न रहनेसे उसका फल ही क्या मिले।

इस प्रकार गायत्रीमन्त्रकी महत्ता सिद्ध हुई; इसीलिये वैष्णव आदि सबके मान्य भगवान् श्रीकृष्णने 'गायत्री छन्दसामहम्' (गीता १० । ३५) वेदोंमें गायत्रीको अपनी विभूति माना है। 'छान्दोग्य' उपनिषद्में भी (३ । १२) गायत्रीको परब्रह्मका स्वरूप माना है। इसपर सभी साम्प्रदायिकोंका ध्यान जाना चाहिये। अस्तु, गायत्रीकी इसी महत्ताके कारण यदि मृतककर्ममें जपन कराया जाता है तो गायत्रीका। अथ च शुभकर्ममें भी गायत्रीका ही जपन कराया जाता है। चिरायुष्यताके लिये भी गायत्रीका

ही जपन कराया जाता है । वहाँपर रोगीके घरवालों वा वैद्यकी तथा स्वयं रोगीकी बुद्धि-वृद्धि होनेसे स्वयं ही चिरायुष्य-जनक कार्य हो जाते हैं, जिससे रोगीको स्वास्थ्य-लाभ हो जाता है । इसीलिये 'छान्दोग्य' उपनिषद्में कहा है—'गायत्री वा इदꣳ सर्वम्' (३ । १२ । १)। श्रीमनुजीने भी कहा है—'सावित्र्यास्तु परं नास्ति' (२ । ८३) । इस प्रकार बुद्धिप्रार्थक होनेसे गायत्रीमन्त्रकी मुख्यता सिद्ध हुई । इसीलिये द्विजोंको; क्योंकि—

'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्' (अथर्व० १९ । ७१ । १)

—इस वेदोक्तिसे द्विजोंका ही गायत्रीमें अधिकार है—इस मन्त्रका सदा ही जप करना चाहिये; इसीसे उनके सब मनोरथ पूर्ण होंगे ।

'वेदमाता'····'द्विजानाम्' इस उक्त मन्त्रमें 'द्विज' शब्दके दो अर्थ हैं । एक ब्राह्मण; दूसरा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य। अर्थात् गायत्रीमें केवल ब्राह्मणोंका अधिकार है, यह एक पक्ष है । गायत्रीमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनोंका अधिकार है—यह दूसरा पक्ष है । केवल ब्राह्मण इसका अधिकारी है, इसमें उपोद्बलक है गायत्री-विसर्जनका मन्त्र—

उत्तमे शिखरे देवी भूम्यां पर्वतमूर्धनि ।
ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि ! यथासुखम् ॥
(कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयारण्यक १० । ३०)

यहाँपर 'ब्राह्मणेभ्यः' चतुर्थी है—'ब्राह्मणोंके लिये अभ्यनुज्ञात हे गायत्री !' इसी प्रकार 'आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्मसम्मतम् । गायत्री छन्दसां मातः' (बोधायन गृह्यशेषसूत्र ३ । ६ । १) इस गायत्रीके आह्वान-मन्त्रमें भी उसे 'ब्रह्मसम्मित अक्षर' माना गया है । ब्रह्म ब्राह्मणको कहते हैं; जैसे कि—'ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (शतपथ ५ । १ । १ । ११) । ब्राह्मण-भोजनमें भी 'ब्रह्म' शब्द प्रसिद्ध है । अथर्ववेदके गायत्रीविसर्जनके—

'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।'
(१९ । ७१ । १)

—इस प्रसिद्ध मन्त्रमें जहाँ 'द्विजानां' शब्द आया है, अन्तमें 'ब्रह्मवर्चस'की प्रार्थना आयी है । ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना वेदमें ब्राह्मणके लिये आती है—जैसे कि 'आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' (यजुर्वेद वा० सं० २२ । २२) । इससे स्पष्ट है कि गायत्रीमें मुख्य अधिकार ब्राह्मणोंका है । इसीलिये गृह्यसूत्रोंमें उपनयनसंस्कारमें 'गायत्रीं ब्राह्मणाय अनुब्रूयात्···त्रिष्टुभꣳराजन्यस्य, जगतीं वैश्यस्य' (पारस्करगृह्यसूत्र २ । ३ । ७—९; मानवगृ० १ । २ । ३; ऐतरेय ब्रा० १ । ५ । २८); 'तत्सवितुर्वरेण्यमिति गायत्रीं ब्राह्मणाय; देवो याति सविता सुरत्न इति त्रिष्टुभं क्षत्रियाय; युञ्जते मन इति जगतीं वैश्याय' (वाराहगृह्यसूत्र-उपनयन प्र० पञ्चमखण्ड; वसिष्ठधर्मसूत्र ४ । ३)—इस प्रकार गायत्रीमन्त्रका उपदेश ब्राह्मणके लिये ही आया है । यह सङ्गत भी है । गायत्रीके एक पादके आठ अक्षर हैं; अतः गायत्रीके ग्रहण करनेवाले ब्राह्मणका उपनयन भी आठवें वर्षमें आदिष्ट किया गया है । क्षत्रियको उपनयनमें त्रिष्टुप्का अधिकार है, और त्रिष्टुप्के एक पादके ११ अक्षर होते हैं; अतः क्षत्रियका उपनयन भी ११ वें वर्षमें होता है । जगती छन्दके एक पादके १२ अक्षर होते हैं; तब उपनयनसमयमें जगतीका ग्रहण करनेवाले वैश्यका उपनयन भी १२ वें वर्षमें माना गया है । इस विषयमें मनुस्मृतिके टीकाकार श्रीमेधातिथिने यह श्रुति भी उद्धृत की है—

'सावित्र्या ब्राह्मणमुपनयीत, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्।'

इस प्रकार गायत्रीमें ब्राह्मणका अधिकार सिद्ध हुआ । इसी कारण 'सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः' (२ । ७९) इस मनुके पद्यमें भी 'द्विज' का अर्थ 'ब्राह्मण' है ।

दूसरा पक्ष है कि—'सर्वेषां वा गायत्रीमनुब्रूयात्' (पारस्करगृह्यसूत्र २ । ३ । १०) अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनोंको गायत्रीका उपदेश करे । इस पक्षमें 'वेदमाता (गायत्री) द्विजानाम्' (अथर्व० १९ । ७१ । १) इस मन्त्रमें 'द्विज' का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य है । अथवा 'द्विज' का अर्थ ब्राह्मण होता हुआ भी 'द्विज' शब्द 'प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनोंका उपलक्षक है । इसी प्रकार **'ब्रह्मवर्चसा' शब्द** भी क्षत्रिय आदिकोंके 'हस्तिवर्चस' आदिका उपलक्षक है । इसी तरह 'ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता'—गायत्रीके विसर्जनात्मक इस मन्त्रमें भी 'ब्राह्मण' शब्द उक्त न्यायसे प्रधानतासे त्रैवर्णिकका उपलक्षक है । 'अक्षरं ब्रह्मसम्मितम्' में **'ब्रह्मसम्मितम्'** का

'वेदसम्मितम्' अथवा 'ब्रह्मदेवस्य सम्मतम्' यह अर्थ है। अस्तु।

इधर बुद्धिके मन्त्रमें उपास्य देव सूर्य हैं। वे सूर्य वेदमें 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः ७ । ४२) इस प्रकार स्तुत किये गये हैं। सूर्य भेदन-व्यायामसे शारीरिक स्वास्थ्य भी प्रत्यक्ष है। शारीरिक स्वास्थ्य होनेपर मानसिक स्वास्थ्यका होना प्रत्येकको ज्ञात है। तब 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति' इस प्रकार बुद्धिविकास स्पष्ट है। इस प्रकार सूर्यका सेवन आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों—दृष्टियोंसे लाभप्रद है। तभी मुनि लोगोंने भी सन्ध्यावन्दन सूर्यके समक्ष ही नियमित किया है। इन्हीं बातोंको शास्त्रोंसे जानकर पाश्चात्त्य विपश्चिद्गण सूर्यके द्वारा बहुत रोगोंकी चिकित्सामें साफल्यको प्राप्त कर सके। रोगका कारण बुद्धिकी न्यूनता हो जानेसे मस्तिष्क तथा मनमें निर्बलताके कारण बाह्य आहार-विहारकी विषमतासे हुआ अपरिपाक ही होता है। उससे भीतरी अँतड़ी आदिमें त्रुटि हो जानेसे ही रोग हो जाया करते हैं।

इस प्रकार सब दृष्टियोंसे सूर्य तथा सावित्रीकी महत्ता सिद्ध होती है। आजकलके वैज्ञानिक जो कार्य यन्त्रोंसे किया करते हैं, उसे हमारे पूर्वज तपःशक्तिसे कर दिया करते थे। उसीमें गायत्रीका जप भी अन्तर्भूत हो जाता है। उसीके लिये श्रीमनुने कहा है—

> सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
> महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
> (२ । ७९)

ॐ, तीन व्याहृतियों तथा सावित्रीको एक सहस्र जपकर बहुत पापसे छूट जाता है। इससे बढ़कर इसका अन्य माहात्म्य क्या हो, इसपर अन्य कथन वृथा विस्तार है। तथापि गायत्रीके माहात्म्यको देखनेके इच्छुक व्यक्तियोंको निम्नाङ्कित ग्रन्थस्थलोंको देखना चाहिये—

'मनुस्मृति' (२ । ७७–८३), 'बृहद्विष्णुस्मृति' (५५ । १५); हारीतस्मृति (४ । ४०।४७-४८) याज्ञवल्क्यस्मृति (१ । २ । २२-२३); संवर्तस्मृति (२११), शङ्खस्मृति (११ । १-२, १२ । १-३ ८-१४-१५-१६-१७-१८–२०–२३-२४-२५-२६–२९-३०-३१) तथा 'महाभारत' (भीष्मपर्व ४ । १८, अनुशासनपर्व १५० । १–४) इत्यादि स्मृतियोंमें गायत्रीको वेदमाता वेदानुकूल ही कहा है। यही 'गायत्री मन्त्रकी महत्ताका रहस्य' है। आशा है इससे 'कल्याण' पाठकोंका मानसिक कल्याण होगा। शुभम्।

◆

मानसिक परावलम्बन

(लेखक —पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

मनुष्यका मन सदा सुख और शान्तिकी खोज करता रहता है। सुख और शान्तिके लिये ही वह अनेक प्रकारकी इच्छाएँ करता है। इच्छित पदार्थोंके प्राप्त होनेपर उसे सुख होता है और उनके नष्ट हो जानेपर उसे दुःख होता है। यह मानसिक परावलम्बनकी स्थिति है। जो मनुष्य जितना ही अधिक इच्छाके संसारमें भ्रमण करता है, वह उतना ही असन्तुष्ट और दुखी रहता है। एक इच्छाके पूर्ण हो जानेपर दूसरी इच्छा आ जाती है। इन इच्छाओंकी जड़ मनुष्यकी मूलप्रवृत्तियोंमें होती है। पश्चिमी विद्वानोंके अनुसार मनुष्यकी चौदह मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियोंको तीन वर्गोंमें विभाजित किया जाता है। आत्मरक्षा-सम्बन्धी, समाज-सम्बन्धी और सन्तति-सम्बन्धी। इन्हींको 'वित्तैषणा' 'लोकैषणा', और 'पुत्रैषणा' के नामसे हमारे ऋषियोंने पुकारा है। धनकी इच्छा करना, लड़ना, भिड़ना, जिज्ञासा रखना, प्राणरक्षाकी चेष्टा करना, भोजनकी खोज करना—ये आत्म-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरेके समक्ष अपना प्रदर्शन करना, उनके साथ रहनेकी इच्छा करना, उनकी सहायताका भाव रखना, सहायता प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति—ये सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं। कामचेष्टाएँ करना, संतानकी रक्षा करना—ये सन्तति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ हैं। प्रत्येक प्रवृत्तिके साथ-साथ रागात्मक भाव भी कार्य करता है। इस रागके कारण हम उस पदार्थसे बँध जाते हैं, जिससे हमारी किसी प्रकारकी प्रवृत्तिकी तृप्ति होती है।

फ्रायड महाशयके कथनानुसार मनुष्यकी सबसे प्रबल **प्रवृत्ति काम-प्रवृत्ति ही है।** इसके साथ-साथ प्रेमका आवेग

कार्य करता है । दूसरी प्रबल प्रवृत्ति धन पानेकी और तीसरी प्रशंसा-प्राप्तिकी है। इनके कारण मनुष्य प्रेमदाताका दास बनता है, धन देनेवालेका दास बनता है और प्रशंसा देनेवालेका दास बन जाता है। ये सभी प्रकारकी दासताएँ मानसिक परावलम्बन हैं और सभी दुःखका कारण बनती हैं। मनुष्य देनेकी मनोवृत्तिसे तो स्वावलम्बी बनता है और लेनेकी प्रवृत्तिसे परावलम्बी। प्रेम दूसरे व्यक्तिको देना भला है, परंतु दूसरेसे प्रेम-प्राप्तिकी इच्छा रखना बुरा है। एक ही व्यक्तिको प्रेम देना भी मानसिक परावलम्बनका भाव उत्पन्न करता है। एक व्यक्तिका प्रेम कामुकता बन जाता है। उससे मनुष्य स्वयं बँध जाता है। वह अपने प्रियका दास बन जाता है। इस प्रकारके प्रेममें स्वार्थकी भावना रहती है। अपने प्रिय व्यक्तिको वह अपने ही अधिकारमें रखनेकी चेष्टा करता है। वह अपने प्रिय व्यक्तिको दूसरेको प्यार भी करने नहीं देना चाहता; परन्तु इस प्रकार दूसरे व्यक्तिके मनपर अधिकार प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं। अपना मन अपना है, परन्तु इसपर भी मनुष्य अपना पूरा अधिकार नहीं रखता; फिर दूसरे व्यक्तिके मनपर अधिकार रखना तो बड़ा ही कठिन है। जब मनुष्य अपने प्रेमीकी ओरसे प्रेमकी कमी पाता है, तब उसे भारी दुःख होता है। यह मानसिक परावलम्बनका द्योतक है।

कितने ही कवियोंने प्रेमको ही ईश्वर माना है। प्रेम ही परम तत्त्व है और प्रेम ही मनुष्यका अन्तिम पुरुषार्थ है। परंतु इस प्रकारका प्रेम व्यक्तिगत प्रेम नहीं हो सकता। यह व्यापक प्रेम है। इस प्रकारका व्यापक प्रेम भगवान् बुद्धने मानव जातिको प्रदर्शित किया था। दूसरेके दुःखसे दुखी होना, उसके दुःखको हटानेकी चेष्टा करना, उसके प्रति सच्चा प्रेम-प्रदर्शन करना है। अपने आनन्दके लिये नहीं—वरं दूसरेके आनन्दके लिये प्रेम करना, उसकी सेवा करना, आत्माको पसारता है। जब प्रेम केवल एक व्यक्ति-विशेषके प्रति केन्द्रित हो जाता है, तब वह स्वार्थमय हो जाता है। ऐसा प्रेम कामुकता, मोह अथवा बन्धन है। कविवर शैलीने व्यापक प्रेमका व्यक्तिगत प्रेमसे एकीकरण कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उसे अकाल ही मृत्युके मुखमें जाना पड़ा। व्यक्तिगत प्रेमको व्यापक बनाना प्रेमका शोधन है। प्रतिदिन नये-नये व्यक्तियोंकी सेवा करते रहना अपने प्रेमको शुद्ध रखनेका सर्वोत्तम उपाय है।

सामाजिकताके भाव, जिनके ऊपर मनुष्यका नैतिक आचरण आधारित है, प्रेमका एक रूप है। हम दूसरोंके प्रेमके और उनकी प्रशंसाके इच्छुक रहते हैं। इसीलिये समाज-सेवा करते और नैतिक आचरण करते हैं। दूसरोंकी प्रशंसाकी आकाङ्क्षा मनुष्यसे अनेक असाधारण कार्य करा डालती है। परंतु यही प्रशंसाकी इच्छा मनुष्यके प्राण भी ले डालती है। जब मनुष्य सदा दूसरोंकी प्रशंसा प्राप्त करनेके लिये कार्य करता है, तब उसमें स्वतन्त्र निर्णय करनेकी शक्ति कम होते-होते अन्तमें विलुप्त-सी हो जाती है। समाजके प्रचलित विचारोंके अनुसार वह लिखता, पढ़ता, सोचता और आचरण करता है। इस प्रकार उसका विवेक कुण्ठित हो जाता है। वह इसके कारण भारी भूलें कर बैठता है। समाज कभी एक बात चाहता है, कभी दूसरी। समाजके ऊपर अपना निर्णय छोड़ना और अपने सुखको दूसरे व्यक्तिके मस्तिष्कमें रख देना बड़ी अक्षम्य भूल है। इस भूलका परिणाम भारी मानसिक क्लेश और मृत्यु होता है।

मनुष्यकी दूसरी इच्छाएँ भावात्मक दृष्टिसे उतना अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। धनका संग्रह मनुष्य अपनी रक्षाके लिये और दूसरोंसे सम्मानित होनेके लिये करता है। परन्तु इस इच्छाके वशीभूत हो जाना भी दुःखप्रद होता है। धन खर्चके लिये एकत्र करना अच्छा है; परंतु केवल संग्रहके लिये धन एकत्र करना मनुष्यका विनाशक होता है। ऐसा धन स्वयं तो जाता ही है, वह उसके मालिकको भी ले जाता है। धनी व्यक्तिको धनकी चिन्ताएँ खाये डालती हैं। कितने ही लोग धन एकत्र तो करते हैं, परंतु उसका उपभोग नहीं करते। वे जीवित ही मृतके समान रहते हैं।

मनुष्य अपनी उक्त इच्छाओंको नष्ट नहीं कर सकता। ये इच्छाएँ मनुष्यकी मानसिक (आत्मिक) शक्तियाँ हैं। इन्हींके आधारपर मनुष्य अनेक प्रकारके कार्य करता है। इन इच्छाओंको नष्ट करनेमें लग जाना भी ठीक नहीं होता। एक इच्छा दूसरी इच्छासे दबायी जा सकती है; परंतु सभी इच्छाओंको किससे दबाया जा सकता है। धनकी इच्छा काम-इच्छा और सामाजिक भावोंको दबा देती है। काम-वासना धन-संग्रह और समाज-प्रशंसाके भावको तथा सामाजिक-प्रवृत्ति काम-वासना तथा धनकी इच्छाको दबा देते हैं; परंतु सभीको दबा देना सहज नहीं।

वे सभी-की-सभी किस शक्तिसे दबायी जा सकती हैं । विवेक स्वयं शक्तिधारी नहीं है । वह केवल शक्तिका चालक है । जिस प्रकार घोड़े ही रथको खींचते हैं, सारथी रथको नहीं खींचता । इसी प्रकार विवेक मानसिक शक्तियोंको सन्मार्गपर लगा देता है । यदि विवेक सभी शक्तियोंको क्रियाहीन बनाकर जीवन-रथको चलने ही न दे तो वह अविवेक बन जायगा । सभी मानसिक प्रवृत्तियोंको नष्ट कर देनेकी इच्छा करना पागल बन जानेकी इच्छा करना है । मानसिक प्रवृत्तियाँ जब अपने प्रकाशनका उचित मार्ग न पायेंगी, तब अनुचित मार्गसे ही प्रकाशित होने लगेंगी । यदि उन्हें किसी प्रकारका मार्ग नहीं प्राप्त होगा तो वे मनुष्यके शरीरको ही नष्ट कर डालेंगी । मनुष्यका व्यक्तित्व क्रियामय और भावमय है । मनुष्यका शरीर इनके प्रकाशनका साधन है । जब क्रिया और भावका अन्त हो जाता है, तब शरीरकी आवश्यकता नहीं रह जाती । भगवान् श्रीराम अपनी किशोरावस्थामें निष्क्रिय बनना चाहते थे; परन्तु उन्हें भी लोकसेवा करनी पड़ी । अतएव मानसिक परावलम्बनका अन्त करनेका उपाय क्रियात्मक प्रवृत्तियों अर्थात् वासनाओं और भावोंका सर्वथा अन्त करना नहीं है, वरं उनका उदात्तीकरण है ।

मनुष्यकी नैसर्गिक प्रवृत्तियोंका उदात्तीकरण मनुष्यके आत्मसाक्षात्कार करनेमें सहायक होनेसे होता है । जब किसी मनुष्यकी किसी प्रबल प्रवृत्तिका दमन होता है, तब वह प्रवृत्ति मनुष्यके मनमें उत्पात मचाने लगती है । इस तरह भारी असंतोष मनुष्यके मनमें हो जाता है । जब कामवासनाका दमन होता है, तब मनुष्यको नपुंसक हो जानेका भय हो जाता है । धन कमानेकी प्रवृत्तिका दमन होता है तो उसे निर्धन होनेका भय रहता है और सामाजिक प्रवृत्तिका दमन होता है तो उसे सम्मान खोनेका भय रहता है । ये भय और चिन्ताएँ मनुष्यको खाये डालती हैं । मनुष्यके मनमें किसी प्रकारके भयका होना, किसी विशेष प्रकारकी प्रवृत्तिके दमनका परिचायक है । मानसिक प्रवृत्तियोंके दमनसे भी मनुष्यको आत्मज्ञान नहीं होता । मनुष्यको आत्मज्ञान उनके उचित नियन्त्रणसे होता है । मनुष्यकी इच्छाशक्ति मनुष्यकी नैसर्गिक प्रवृत्तियोंको एक ओर मोड़ सकती है अथवा दूसरी ओर । इस प्रकार नैसर्गिक प्रवृत्तियोंको मोड़नेके कार्यसे ही मनुष्यको अपने-आपका ज्ञान होता है । जो मनुष्य अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियोंपर जितना ही अधिक उक्त प्रकारका नियन्त्रण रखता है, वह उतना ही अधिक स्वावलम्बी है । परावलम्बनसे मुक्त होना अपने-आपको निष्क्रिय बनाना नहीं है । निष्क्रियता मानसिक विषादकी जननी है । यह एक प्रकारका परावलम्बन ही है । स्वावलम्बी बनना अपनी सभी मानसिक शक्तियोंको अपने नियन्त्रणमें रखना और प्रत्येक शक्तिको उस उचित और आवश्यक काममें लगाना है, जिसके लिये वह प्रकृतिसे उत्पन्न की गयी है । जब मनुष्यका सभी शक्तियोंमें उचित संतुलन रहता है, तभी उसके मनमें स्वावलम्बनका भाव भी रहता है ।

मनुष्यकी इच्छाशक्तिका बल अपने-आपको कामसे रोक देनेसे नहीं बढ़ता और न वह सभी कामात्मक प्रवृत्तियोंके समाप्त कर देनेसे ही बढ़ता है । जब मनुष्य अपने शरीर और इन्द्रियोंको निष्क्रिय बनानेकी चेष्टा करता है, तब मन और भी चञ्चल हो जाता है । मनुष्य अधिक-से-अधिक चेतन मनको निष्क्रिय बना सकता है; परंतु उसके अचेतन मनकी क्रियाओंको वह कैसे रोकेगा ? मनुष्यकी चेतन और अचेतन मनकी क्रियाओंमें विशेष प्रकारका समीकरणका नियम कार्य करता है । जो क्रियाएँ चेतन मनमें कम होने लगती हैं, वे अचेतन मनमें बढ़ जाती हैं; और जो चेतन मनमें बढ़ती हैं, वे अचेतन मनसे घट जाती हैं । अतएव यदि किसी विशेष प्रकारकी शक्तियोंका प्रकाशन चेतन मनमें न हुआ तो वे शक्ति अचेतन मनमें और भी आवेगके साथ कार्य करेंगी । ये कार्य चेतन मनके विरोधके होते हुए होनेके कारण प्रायः अनुचित कार्य होंगे । जो लोग कामवासना, झगड़ेकी प्रवृत्ति अथवा खाने-पीनेकी प्रवृत्तिको अपनी जाग्रत्-अवस्थामें उचित स्थान नहीं देते, वे इनके द्वारा निर्मित अनेक प्रकारके स्वप्न देखते हैं । जिस प्रकार हमारा स्वप्न-संसार हमारी मानसिक प्रवृत्तियोंद्वारा निर्मित होता है, इसी प्रकार हमारा जाग्रत् संसार भी हमारी मानसिक प्रवृत्तियोंद्वारा निर्मित होता है । । जिस प्रकार बाह्य जगत् चलायमान है, उसी प्रकार मन भी चलायमान है । किसीकी गतिको रोका नहीं जा सकता ।

परंतु गतिके होते हुए भी मनुष्य अपने-आपका, गतिसे स्वतन्त्र अस्तित्वका अनुभव कर सकता है । मनुष्यकी स्वतन्त्र इच्छाशक्तिके प्रवाहको सदा मोड़ते रहनेमें ही उसकी महत्ता है । हम अपने अनजाने भी अपने मनके प्रवाहको इधर-से-उधर मोड़ा करते हैं; परंतु इस

प्रकार मानसिक प्रवाहके इधर-उधर मुड़नेसे मनुष्यको आत्मज्ञान नहीं हो पाता । प्रवाहका इस प्रकारका मुड़ना, केवल वातावरणका परिणाममात्र दिखायी देता है । पूर्व-मानसिक क्रियाएँ पीछेकी मानसिक क्रियाओंकी जननी होती हैं । नियतवादी मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्र इच्छाशक्तिका अस्तित्व ही नहीं मानते । यह जडबुद्धि है । सूक्ष्मबुद्धिसे देखनेसे पता चलता है कि मनुष्यका व्यक्तित्व केवल प्राकृतिक प्रवृत्तियोंका नहीं बना है । उसमें प्राकृतिक प्रवृत्तियोंके अतिरिक्त एक चेतन परम तत्त्व भी है, जो कभी मूलप्रवृत्तियोंके साथ-साथ चलता है और कभी उनका विरोध भी करता है । जब वह केवल मूलप्रवृत्तियोंके अनुसार चलता है, तब वह परावलम्बी हो जाता है, परंतु जब वह अपने सच्चे स्वरूपके अनुसार काम लेता है, तब वह स्वतन्त्र हो जाता है ।

मनुष्यकी प्रत्येक प्रवृत्तिका विशेष कार्य है । सभी प्रकारकी प्रवृत्तियोंको कार्यान्वित करनेके लिये स्वत्वकी सहायताकी आवश्यकता होती है । परंतु बार-बार सहायता देते-देते आत्मा अपने स्वरूपको भूल जाता है । वह प्राकृतिक प्रवृत्तियोंका गुलाम बन जाता है । ऐसी अवस्थामें मनुष्यकी इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है और उसका चित्त दुखी रहता है । चित्तके सुखके लिये आवश्यक है कि जिस प्रकार प्रत्येक प्रवृत्ति अपना कार्य करती है, उसी प्रकार मनुष्यकी इच्छाशक्ति भी अपना कार्य करे । स्वतन्त्र इच्छाशक्तिका कार्य विभिन्न प्रकारकी प्राकृतिक प्रवृत्तियोंमें संतुलन रखना है । जो व्यक्ति जितनी ही कुशलतासे इस कार्यको करता है, वह उतना ही सुखी रहता है । ऐसे व्यक्तिको हम 'स्वावलम्बी' व्यक्ति कह सकते हैं ।

प्रत्येक मनुष्यको स्वावलम्बी बनना पड़ता है । यदि मनुष्य अपनी ही इच्छासे स्वावलम्बी बननेकी चेष्टा करे तो अच्छा है । यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे अनेकों प्रकारके कष्ट भोगकर स्वावलम्बी बनना पड़ता है । कष्टका उद्देश्य ही मनुष्यको विषयपरायणता और आत्म-विस्मृतिसे मुक्त करना है । जबतक मनुष्य परावलम्बी बना है, तबतक वह अपने-आपपर भरोसा न करके दूसरे लोगोंपर भरोसा करता है । वह दुखी ही रहता है । इसी तरह जबतक मनुष्य अपनी इच्छाशक्तिका उचित उपयोग नहीं करता, वह निर्बल मनका बना रहता है । ऐसा व्यक्ति आवेगोंके प्रवाहमें बह जाता है । इसके परिणामस्वरूप उसे अपने-आपका 'सच्चे स्वत्व' का ज्ञान नहीं होता ।

विषय-त्यागसे मुक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

विषस्य विषयाणां हि दृश्यते महदन्तरम् ।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ॥

इस श्लोकके लिखते ही 'चिंता' और 'चिता'के साम्यकी बात याद आ गयी । इन दोनोंमें एक अनुस्वारका ही अन्तर है; परंतु इनके कार्यमें बड़ा अन्तर है । चिता निर्जीवको—मुर्देको जलाती है, पर चिंता तो जीवित मनुष्यको जलाती है । चिता मुर्देको एक ही बार जलाती है, पर चिंता तो जीवनपर्यन्त दिन-रात जलाया ही करती है । चिंता इतना करके भी बुझती नहीं, वह जन्म-जन्मान्तरोंतक मनुष्यका पीछा नहीं छोड़ती; क्योंकि मनुष्यको चिंता होती है—विषयभोगकी और इसलिये जबतक विषयभोगकी तृष्णा शान्त नहीं हो जाती, तबतक जीव अनेकों शरीर धारण करता रहता है और वहाँ चिंता उसे जलाया ही करती है ।

इसी प्रकार 'विष' और 'विषय' शब्द भी एक-से ही लगते हैं, क्योंकि विषयमें विषकी अपेक्षा एक 'य' मात्र अधिक है । परंतु दोनोंके स्वभावमें गम्भीर विषमता है । उपर्युक्त श्लोकमें कहा गया है कि विष तो उसे खानेवालेको ही मारता है; विषके स्मरण कर लेनेमात्रसे कोई मरता नहीं; अफीम या संखियेका कोई कितना ही स्मरण करें—उनके गुण-दोषोंका अनुशीलन करे, उन्हें हाथमें ले ले, परंतु इससे किसीकी मृत्यु नहीं होती । लेकिन 'विषय' तो इतना हत्यारा विष है कि उसके स्मरणमात्रसे मनुष्यका विनाश हो जाता है । फिर, विष तो एक ही बार मनुष्यको मारता है, पर विषय तो अनेकों जन्म-मरणका कारण बन जाता है ।

अब यह देखना है कि विषयके स्मरणमात्रसे मनुष्यका विनाश कैसे होता है । इसके सम्बन्धमें सौभरि मुनिका दृष्टान्त

अति प्रसिद्ध है । सत्ययुगकी बात है और यह आख्यायिका श्रुतिमें भी है । सौभरि मुनि सूर्यतनया श्रीयमुनाजीमें रहकर तप करते थे । कहते हैं कि यों तप करते उन्हें साठ हजार वर्ष हो गये थे । होनहारकी बात, एक दिन उन्होंने एक मच्छ-जोड़ेको अपने बच्चोंके साथ बड़े आनन्दसे खेलते देख लिया । जलमें जल-जन्तुओंके इस निर्दोष आनन्दको देखते ही मुनिके मनमें विषयोंका स्मरण हो आया । स्मरण आते ही गृहस्थाश्रम धारणकर इन मछलियोंकी तरह ही सुख भोगनेकी प्रबल कामना जाग उठी । बस, मुनि बाहर निकले और सीधे पहुँचे राजा मान्धाताके दरबारमें । इस समय सौभरि मुनिके तपकी कीर्ति सब ओर फैली हुई थी । मान्धातासे भी यह बात छिपी नहीं थी । मुनिको आया देख राजाने अपनेको धन्य समझा और मुनिका समुचित आदर-आतिथ्य करके सेवा बतलानेके लिये प्रार्थना की । सरल-हृदय मुनिने तुरंत अपनी इच्छा प्रकट की—'राजन् ! तुम अपनी एक कन्याका विवाह मेरे साथ कर दो ।' राजा विचारमें पड़ गये—इतने वृद्ध तथा तपस्यासे जर्जरित मुनिको कन्या कैसे दी जाय ? परंतु अस्वीकार करनेका परिणाम भी राजासे छिपा नहीं था । अतएव युक्तिके साथ राजाने कहा—'महाराज ! मेरे पचास कन्याएँ हैं, उनमें जो आपका वरण करे, उसीके साथ मैं आपका विवाह कर दूँ ।' यों कहकर मुनिको राजा अन्तःपुरमें ले गये । सिद्धि-प्राप्त मुनिसे राजाके मनकी बात छिपी नहीं रही, अतएव भीतर पहुँचते-पहुँचते मुनिने अपने तपोबलसे कामदेवके समान परम सुन्दर रूप और यौवन धारण कर लिया । अन्तःपुरमें जाकर राजाने अपनी रानी तथा कन्याओंको मुनिका प्रस्ताव सुनाया तथा मुनिसे राजाने जो कुछ कहा था, वह भी बता दिया । वहाँ तो पचासोंने ही मुनिको वरमाला पहना दीं और उसके बाद बड़ी धूम-धामसे पचासों कन्याओंके साथ सौभरिजीका विवाह भी हो गया । मुनिने विषयवासनाके वश होकर पुनः अपनी तपस्याको देकर इन्द्रकी अमरावतीमें भी नहीं हों ऐसे वैभवसे युक्त पचास महल देखते-ही-देखते बना लिये, सम्पूर्ण विलास-सामग्रियाँ आ गयीं और पचासों स्त्रियोंके साथ सौभरि मुनि रहने लगे । इतना वैभव और इतनी स्त्रियाँ होनेपर भी मुनिको सुख तो जरा भी मिला नहीं; उलटे क्लेशका ही उन्हें अनुभव हुआ । विषयोंमें सुख हो, तब न उनकी प्राप्तिसे सुख मिले । बालूमें तेल है नहीं तब मिलेगा कहाँसे ? विषय तो केवल सुखकी भ्रान्ति उत्पन्न करके दुःखके दरियामें ढकेल देते हैं । कुछ वर्षोंके बाद राजा मान्धाताको समाचार मिला कि सौभरि मुनि गृहस्थाश्रमका त्याग करके पुनः तप करने चले गये ।

यही बात श्रीभगवान्ने अर्जुनको समझाते हुए गीतामें कही है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

तात्पर्य यह कि विषय केवल स्मरणसे ही इन्द्रियोंको उत्तेजित कर देते हैं और इससे चित्त उस इन्द्रियकी ओर आकर्षित होकर उस विषयका ध्यान करने लगता है । बार-बार एक विषयके स्मरणका नाम ही ध्यान है । लंबे समय-तक जिसका ध्यान होता है, उस विषयको उपभोग करनेकी वृत्ति जाग उठती है; भोगवृत्तिके जगनेपर उसे प्राप्त करनेकी प्रबल कामना होती है । कामनाके पराभवसे—काम्य वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न आनेसे, वह क्रोधके रूपमें प्रकट होती है । क्रोधसे मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है और ऐसा होनेपर सारासारका भान भूल जाता है और इसके परिणामस्वरूप बुद्धिहीन होकर यथेच्छाचारी बनकर विनाशको प्राप्त होता है । ऐसे विनाशसे बचनेका उपाय बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

अभिप्राय यह कि कामना—विषयभोगकी इच्छाका सर्वथा नाश किये बिना उनसे छूटनेका दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है ।

विषयोंके भोगसे तो, विषयभोगकी तृष्णा दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है । राजा ययातिको स्वर्गके सदृश भोग प्रचुर मात्रामें प्राप्त थे । वैभवका कोई पार नहीं था, स्त्री तथा पुत्र-पौत्रादि थे । सम्पूर्ण जीवन भोग-विलासमें बीता, पर तृष्णा शान्त नहीं हुई । शरीर वृद्ध हो गया, पर विषयभोगकी तृष्णा तो तरुणी ही बनी रही । इसलिये बेटेसे माँगकर जवानी ली, फिरसे तरुण बनकर एक हजार वर्षोंतक मनमाने भोग भोगे, इतनेपर भी जब तृप्ति नहीं हुई, तब हारकर कहना पड़ा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥

अभिप्राय यह कि अग्निमें ज्यों-ज्यों आहुतियाँ डाली

जाती हैं, त्यों-ही-त्यों वह अधिक-से-अधिक प्रचण्ड होती जाती है, वैसे ही विषयभोगोंके भोगसे भोगतृष्णा शान्त नहीं होती, पर अधिक-से-अधिक तीव्र बनती जाती है । अतएव सच्चा सुख-शान्ति चाहिये तो भोगतृष्णाका नाश करना चाहिये। यह तब होगा, जब विषयोंके प्रति अरुचि होगी। अरुचि तब होगी, जब विषयोंसे सुखकी प्राप्तिका भ्रम मिट जायगा। यह भ्रम तब मिटेगा, जब भोगपदार्थोंका असली रूप समझमें आ चुका होगा। पदार्थोंका सच्चा स्वरूप तब समझमें आवेगा, जब मनुष्य विवेकसे विचार करना सीखेगा।

यह विचार इस प्रकार किया जाता है—यदि धनमें सुख होता तो धनवान् मनुष्य कभी दुखी नहीं होते, परन्तु हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे भी दुखी ही हैं । जो प्राप्त है उसके नाश होनेकी चिन्तासे और अधिक प्राप्त करनेकी तृष्णासे वे जलते ही रहते हैं। कीर्तिमें सुख होता तो प्रसिद्ध पुरुष दुखी न होते—'माने दैन्यभयम्' कीर्तिमें निरन्तर पतनका और अपमानका भय लगा ही रहता है। फिर अपने पदकी रक्षाके लिये भाँति-भाँतिके छल-छद्म करने पड़ते हैं, जिसके परिणाममें जीवन दुःखमय हो जाता है । यदि स्त्री-पुत्रादिमें सुख होता तो अधिकांश गृहस्थ दुखी देखनेमें आते हैं, वे न आते । इस प्रकार सभी विषयोंपर विचार करनेसे विवेक जाग्रत् होता है और फिर ऐसा भाव उत्पन्न होता है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

अर्थात् इस जगत्के सब प्रकारके सुख और स्वर्गके सारे सुख कदाचित् एक मनुष्यको मिल जायँ, तो भी जिस पुरुषने तृष्णाका त्याग कर दिया है यानी जिसके चित्तमें एक भी विषयकी कामना नहीं उठती, उस पुरुषके सुखके समान इसका सुख किसी गिनतीमें नहीं है। मतलब यह कि तृष्णाका त्याग ही बड़े-से-बड़ा सुख है । इसी प्रसंगमें कहा गया है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥

भाव यह है कि इस जगत्के तमाम भोगपदार्थ कदाचित् एक ही मनुष्यको मिल जायँ, तो भी यदि उसमें विवेक न होगा तो उनसे उसे सन्तोष नहीं होगा—इसलिये उसे सुख-शान्तिका अनुभव भी नहीं होगा। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको तृष्णाका त्याग करके शान्त होना चाहिये ।

इससे भी अधिक विचार करनेपर पता लगता है कि—

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः ।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः ॥

अर्थात् जो सुख और शान्ति एक वैराग्यवान् और एकान्तवासी मुनिको है, वह सुख देवताओंके राजा इन्द्रको भी नहीं है, तो फिर इस पृथ्वीके चक्रवर्ती राजाको तो होगा ही कहाँसे ?

परन्तु ऐसे विवेकका जाग्रत् होना कठिन अवश्य है । क्योंकि इन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर सदा विषयोंकी ओर खींचा करती हैं और यदि विषयभोगोंपर काबू न रक्खा जाय तो उससे प्राणीका विनाशतक हो जाता है—

कुरंगमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

हरिण संगीत सुननेमें तन्मय हो जानेके कारण अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठता है; हाथी स्पर्शसुखमें फँसकर बन्धनमें आ पड़ता है; पतिंगा दीपकके प्रकाशसे मुग्ध होकर उसमें कूदकर जल जाता है; भ्रमर कमलकी सुगन्धके वश होकर उसमें रह जाता है—कमलके सङ्कुचित हो जानेसे उड़ नहीं सकता और मर जाता है और मछली जीभके स्वादकी लोलुपतासे मांसका टुकड़ा पकड़ने जाकर काँटेसे मर जाती है; इस प्रकार केवल एक-एक इन्द्रियके वश होकर ये पाँचों प्राणी नष्ट हो जाते हैं । फिर मनुष्य, जो पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंको भोगता है, वह प्रमाद करे—अर्थात् इन्द्रियोंको वशमें न रखकर उन्हें यथेच्छ भोग भोगने दे और परिणाममें नष्ट हो जाय, इसमें कौन-सी नयी बात है !

इन प्राणियोंको तो भगवान्ने बुद्धि नहीं दी, इससे ये विवेकको नहीं प्राप्त कर सकते । परंतु मनुष्यको तो भगवान्ने बुद्धि दी है, तो भी वह संयम नहीं रखता और विषय-लोलुप हो जाता है।

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येतद्वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥

(भर्तृहरिवैराग्यशतक २०)

अग्निमें गिरकर जल जाऊँगा, यह न जानकर पतङ्ग दीपकमें जा पड़ता है; मांसका टुकड़ा काँटेमें अटका है, यह न जानकर ही मछली लोभवश उसे खानेको दौड़ती है; परंतु मनुष्य यह जान-बूझकर कि विषयभोग नाना प्रकारकी विपत्तियोंके जालमें फँसानेवाले हैं, उनका त्याग नहीं कर सकते। यह कितना बड़ा मोह है। भगवान्‌की माया महान् बलवती है, यह जानकर भी मनुष्य नहीं जानता। इस घोर अज्ञानसे छूटनेका रास्ता बतलाते हुए कहते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

(भर्तृहरिवैराग्यशतक १६)

विषयभोग चाहे कितने ही दीर्घकालतक हमारे पास रहें पर एक दिन ये अवश्य ही जानेवाले हैं, फिर चाहे हम उन्हें छोड़कर चले जायँ या वे हमें छोड़कर चले जायँ। उनका वियोग तो अवश्यम्भावी है तथापि मोहवश हम अपनी इच्छासे उनका त्याग नहीं करते। जब विषय नाश हो जाते हैं और उनका वियोग हो जाता है, तब मनको अत्यन्त दुःख होता है; परंतु यदि हम अपने मनसे इनका परित्याग कर दें तो अनन्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति कर सकते हैं।

यह श्लोक बड़े महत्त्वका है। अतएव इसपर भलीभाँति विचार करें। अनन्त सुख-शान्तिकी प्राप्तिसे क्या अभिप्राय है। एक वैराग्यवान् पुरुष जीवित अवस्थामें ही तमाम भोगोंसे और भोगोंको प्राप्त होनेवाले शरीरसे आसक्ति निकाल लेता है तो वह शरीर और भोगपदार्थोंसे अलग हो जाता है। एक संसारी पुरुष; जो भोगपदार्थोंमें ही आसक्ति नहीं छोड़ सकता, तब शरीरसें तो कैसे छोड़ सकता है? इस मनुष्यको भी मृत्युके समय शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा। और शरीरके छूटते ही तमाम विषय भी बलात्कारसे छूट जाते हैं; परंतु उनमें आसक्ति रहनेके कारण पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। अब विचारिये—उपर्युक्त दोनों ही मनुष्य शरीर और विषयोंसे छूटते हैं, परंतु छोड़नेके भावमें अन्तर होनेसे उनके फलमें भी बड़ा अन्तर पड़ जाता है। ज्ञानी पुरुष जो जीते-जी ही शरीर और भोगोंको ज्ञानपूर्वक स्वेच्छासे छोड़ देता है; इससे वह अनन्त सुख—मुक्ति या मोक्षको प्राप्त होता है और दूसरे जिस संसारी मनुष्यको शरीर और भोग विवशतासे छोड़ने पड़ते हैं, इससे उसको त्यागका कुछ भी फल नहीं मिलता। यही नहीं—विषयोंमें आसक्ति बनी रहनेके कारण उसे 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्'—जन्म-मरणके चक्रमें भटकना पड़ता है।

श्रुतिने बतलाया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

अभिप्राय यह कि विधाताने इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाकर जीवको बड़ी बुरी स्थितिमें डाल दिया है। जीव स्वरूपसे तो परमात्माका अंश होनेसे चेतन, अमल, अविनाशी है। पर वह अपने स्वरूपको भूल गया है। इस कारण देहके साथ तादात्म्य-सम्बन्धमें बँधकर जीवभावको प्राप्त हो रहा है। तथापि अपने स्वभावको सर्वथा भूल नहीं सका है, इसीसे उसे जड और विनाशशील पदार्थोंके सङ्गसे प्राप्त होनेवाले सुखसे तृप्ति नहीं होती। उसे भूख है—पूर्ण और अक्षय सुखकी; क्योंकि वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। ऐसा सुख उसे जगत्‌के विषयोंमें मिलता नहीं है; कारण, वहाँ वह सुख है ही नहीं। भगवान्‌ने विषयोंके सुखको दुःखयोनि और क्षणभङ्गुर बतलाया है और जगत्‌को दुःखालय तथा अनित्य बतलाया है। जिसको भूख लगी हो, उसे कितना ही बढ़िया संगीत सुनाया जाय अथवा तरह-तरहके नाच दिखाये जायँ तो उसे उनसे सुख नहीं मिलता। उसे तो खानेको देंगे तभी तृप्ति होगी। जिसको बड़ी प्यास लगी हो, उसके सामने भाँति-भाँतिके पक्वान्न रक्खे जायँ अथवा उच्च स्तरका साहित्य दिया जाय तो उससे क्या सुख मिलेगा। उसे तो ठण्डा पानी पीनेको दिया जायगा, तभी उसकी तृप्ति होगी। इसी प्रकार जीवको भूख है—अक्षय और पूर्ण आनन्दकी। वह उसे जगत्‌के विषय-भोगोंमें कहाँसे मिलेगा? इसीलिये वह विषयोंसे तृप्त नहीं होता; क्योंकि सच्चे सुखके बिना उसकी तृप्ति नहीं होती। अतएव श्रुतिका यह तात्पर्य है कि सृष्टिकर्ताने सारी इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाया है, इससे वे इन्द्रियाँ केवल बाहरके विषयोंके साथ ही सम्बन्ध जोड़ सकती हैं। अन्तरात्माकी पहचान उनसे नहीं हो सकती। पर जब कोई भाग्यशाली जीव बाहरके

विषयोंमें भटकते-भटकते थक जाता है और सच्चे शाश्वत सुखकी इच्छासे जब अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेता है, तब उसे यथार्थ ज्ञान होता है और उस समय वह अपने मूल आनन्द-स्वरूपको समझ जाता है । ऐसा निरतिशय सुख मिलनेपर वह जीव परमात्म-स्वरूप ही हो जाता है और इससे जगत्के विषयोंकी तुच्छता उसके ध्यानमें आ जाती है तथा फिर वह उसकी ओर झाँकता भी नहीं । जैसे त्रिलोकीका राज्य मिल जानेपर मनुष्य भीख माँगनेकी इच्छा नहीं करता, वैसे ही निरतिशय आत्मानन्दका अनुभव हो जानेपर तुच्छ विषयानन्दकी ओर वह नहीं देखता—‘एवं लब्धपरानन्दः क्षुद्रानन्दं न काङ्क्षति ।’

विषयभोगोंमेंसे और उन्हें भोगनेवाले शरीरमेंसे आसक्तिको कैसे निकालें—इसपर शास्त्रने समझाया है—

शरीरं व्रणवत् पश्येदन्नं तु व्रणलेपनम् ।
व्रणसेचनवद् वारि वस्त्रं तु व्रणपट्टवत् ॥

शरीर स्वाभाविक दुःखरूप है ही, इसलिये उसे एक फोड़ा समझना चाहिये । फोड़ेका घाव जबतक सूखता नहीं, तबतक वह दुःख देता रहता है, वैसे ही शरीर भी मुक्तिके प्राप्त न होनेतक दुःख देता रहता है—इसलिये शरीरको फोड़ा समझना उचित ही है । घाव भरनेके लिये जैसे प्रतिदिन मलहम आदि लगाते हैं, वैसे ही शरीरको जो अन्न दिया जाता है, उसे समझना चाहिये । घावको जैसे प्रतिदिन जलसे धोया जाता है, वैसे ही शरीरको जल आदि पेय पदार्थ दिये जाते हैं और जैसे घावपर पट्टी बाँधी जाती है, वैसे ही शरीरको वस्त्रादि पहनाये जाते हैं । दीर्घकालतक इस प्रकार भावना करते रहनेसे शरीरसे आसक्ति छूट जाती है और विषयोंका सेवन तो केवल शरीरको सुख पहुँचानेके लिये ही होता है । शरीरमें आसक्ति न रहनेपर विषयोंका राग तो अपने-आप निवृत्त हो जाता है । अभ्यास करना चाहिये—केवल पढ़ने या जान लेनेसे ही कुछ नहीं होता ।

अथवा श्रीशङ्कराचार्यजीकी बतायी हुई भावनाके अनुसार भाव करना चाहिये । यह भावना कुछ ऊँची है, इसलिये इसमें तनिक सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है—

शवाकारं यावद् भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात् क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः ।
यदाऽऽत्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ॥

जबतक मनुष्य शवके सदृश शरीरको भजता है—अर्थात् जहाँतक शरीरको विषय-सेवनके द्वारा सुख पहुँचानेमें जीवनका उपयोग करता है, वहाँतक वह अपवित्र ही रहता है । अतएव मुक्ति पानेके योग्य नहीं होता । विषयोंकी प्राप्तिके लिये दूसरोंसे वैर-विरोध करके सदा क्लेश ही पाया करता है । वह यह नहीं समझता कि मैं जिस शरीरको अपना स्वरूप मानकर उसकी सेवा करता हूँ, वह तो व्याधियोंका भण्डार होनेके कारण कभी सुखी होगा ही नहीं । उल्टे, उसमें आसक्ति रखनेके कारण वह जन्म-मृत्युका दुःख देनेवाला होता है; परंतु जब किसी पूर्व-पुण्यसे या सत्सङ्गसे मनुष्यमें विवेक जाग्रत् होता है, तब वह विशुद्ध और कल्याणस्वरूप अचल आत्माका अनुसन्धान करता है । अर्थात् मैं शरीर नहीं, पर शरीरका नियन्ता शिवस्वरूप और सुखस्वरूप आत्मा हूँ, तब वह दुःख-मात्रसे छूट जाता है । श्रुति भगवती भी यही बात कहती है । संक्षेपमें कहनेका आशय इतना ही है कि यह शरीर तो ‘मुर्दा’ ही है, केवल आत्माके प्रकाशसे चेतन दीखता है । फिर यह स्वभावसे ही दुःखरूप है, अतः इसे सुख पहुँचानेका कोई अर्थ ही नहीं है । अतएव शरीरसे आसक्ति निकालकर ‘मैं आत्मा हूँ’ ऐसी दृढ़ भावना करनी चाहिये ।

‘मैं देह हूँ’ यों माननेवाला देहको सुख पहुँचानेके लिये प्रयत्न किया करता है; परंतु वह सुख प्राप्त कर नहीं सकता; पर जब ‘मैं देह नहीं, आत्मा हूँ’ यह भाव होता है, तब वह स्वभावसे ही सुखमय होकर सदा आनन्दमें रहता है ।

विषय-भोगोंमें जो आसक्ति हो जाती है, वही जन्म-मरणका कारण बनती है और विषयभोगोंके त्यागसे ही जन्म-मरणका बन्धन टूट जाता है । जो ज्ञानरूपी तलवारसे विषय-तृष्णाको काट डालते हैं, उन्हींका जीवन धन्य है; क्योंकि वे ही श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त होते हैं—

ज्ञानासिना यो हि विच्छिद्य तृष्णां
विष्णोः पदं याति स एव धन्यः ।

इसीलिये श्रीअष्टावक्र मुनिने समस्त साधकोंको चेतावनी देते हुए कहा है—

मुक्तिमिच्छसि चेत् तात विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज ॥

हे भाई ! यदि जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहते हो तो विषयोंको विषके समान मानकर छोड़ दो, और क्षमा, सरलता, दया, सन्तोष एवं सत्य आदि दैवीसम्पत्तिको अमृत समझकर उनका सेवन करो ! मुक्ति-प्राप्तिका यही सहज उपाय है ।

* * *

संजीवन बूटी

(लेखक—महात्मा श्रीजयगौरीशङ्करजी सीताराम)

१—जो व्यक्ति संकीर्तनजनित पुण्यसञ्चय नहीं करते, वे अनेकों जन्ममें भी व्याधियोंके आक्रमणसे छुटकारा नहीं पाते ।

२—जो व्यक्ति क्षुधा, तृष्णा और प्रस्खलनादिमें भी निरन्तर राम-नाम रटते रहते हैं, उनपर अधोक्षज भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

३—जिनको सब प्रकारसे राम-नाम ही अवलम्ब है, उनकी गति तीनों कालमें निश्चित है ।

४—जो मनुष्य श्रद्धासे, अश्रद्धासे, भूलसे भी राम-नामका स्मरण करते हैं, उनको इस असार संसारमें किसी तरहका भय नहीं है ।

५—राम-नाम ही सांसारिक मनुष्योंका जीवन-आधार है, रक्षक है, माता-पिता है और राम-नाम ही सब सुखोंका परम साधन है । नामसे ही नामीकी प्राप्ति होती है ।

६—राम-नामके ही रटनसे नामके परम गुप्त रहस्योंका पता चलता और नामीका साक्षात्कार होता है ।

७—जो मनुष्य राम-नामको छोड़कर नाना प्रकारका कर्म करते हैं, वे अभागी पुरुष हैं । उन्हें स्वप्नमें भी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

८—जो मनुष्य शान्त, दान्त तथा क्षमाशील होकर नाममें परायण हैं, वे अनन्त कुलोंका उद्धार करनेमें समर्थ हैं और जीवन्मुक्त हैं ।

९—जो जन राम-नामका श्रद्धासे उच्चारण करते हैं, वे सबपर सहज ही विजय प्राप्त करते हैं और सहजहीमें उन्हें ईश्वरकी प्राप्ति भी हो जाती है ।

१०—जो जन राम-नाम जपते हुए प्रेमसे रुदन करते हैं, आँसू गिराते हैं, उनपर भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होकर दौड़कर प्रेमसे गोदमें उठाकर उन्हें प्यार करते हैं—उनके वशमें हो जाते हैं ।

भक्तोंके भक्त श्रीनरहरियानन्दजी

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

आकाशमें श्याम-घन दौड़ लगा रहे थे। वे रह-रहकर भयङ्कर गर्जन करते थे, जिसे सुनकर हृदय काँप जाता था। मूसलधार वृष्टि हो रही थी। शीतल-समीरका झकोरा तीरकी तरह लग रहा था। घरसे निकलना साधारण काम नहीं था, फिर भी श्रीनरहरियानन्दजीने कुल्हाड़ी उठा ली और वे श्रीदुर्गादेवीके मन्दिरकी ओर चल पड़े।

पानीकी तीव्र बौछारोंको सहते और सर्दीसे ठिठुरते, वे आगे बढ़ते ही जा रहे थे। वे भगवान्‌के भक्त थे। पर जगन्माता श्रीदुर्गाजीके चरणोंमें भी उनकी अपूर्व निष्ठा थी। भगवतीका नाम सुनते ही उनका हृदय गद्गद हो जाता था। कभी मन्दिरकी ओर चले गये तो श्रद्धा और भक्तिसे माके चरणोंमें लोट जाते थे और बड़ी देरतक चरण पकड़े मन-ही-मन जाने क्या कहते रहते थे। माके युगल चरण उनकी आँसुओंकी धारसे भीग जाते थे। फिर वे उठकर माकी मूर्तिकी ओर देखते हुए बाहर निकलते थे, जबतक प्रतिमा दीखती थी। उन्होंने जगदीश्वरीको कभी भी अपनी पीठ नहीं दिखायी।

वे ही नरहरियानन्दजी आज भगवतीके द्वारकी चौखटतक काटनेके लिये तैयार हो गये थे। आँधी और तूफानकी तनिक भी चिन्ता न कर वे जननीके मन्दिरकी ओर भागे ही जा रहे थे। उन्हें न प्राणोंका भय था और न लौकिक-पारलौकिक साधनके सहायक शरीरकी चिन्ता थी। सर्वान्तर्यामी परम शक्तिमयी देवीके कुपित होनेकी भी उन्हें परवा नहीं थी। भयङ्कर अनिष्टकी आशंका उनके लिये कोई वस्तु नहीं रह गयी थी।

कन्धेपर कुल्हाड़ी रक्खे वे चले ही जा रहे थे। विलम्ब होते देख वे तीव्र गतिसे दौड़ने लगे। उनके वस्त्र भीग गये थे। शीतसे वे काँपने लगे थे। कई बार गिर पड़े, किंतु फिर भी उठकर दौड़ पड़े।

दौड़ते हुए वे भगवतीके मन्दिरपर पहुँचे। अंगोछेको निचोड़कर एक बार उन्होंने देह पोंछ ली। भगवतीको प्रेमपूर्ण हृदयसे सादर प्रणाम किया और पुनः कुल्हाड़ी उठा ली। कुल्हाड़ी उन्होंने अपनी पूरी शक्तिसे मन्दिरके द्वारकी चौखटपर चला दी।

कुल्हाड़ी बीचमें ही रुक गयी। उन्होंने देखा साक्षात् जगज्जननी सम्मुख खड़ी हैं। एक हाथसे उन्होंने कुल्हाड़ी पकड़ ली है। उनके मुँहसे निकल पड़ा 'मा !'

माने हँसते हुए उनके सिरपर अपना हस्तकमल फेर दिया। नरहरियानन्दजीने देखा, उनके समस्त वस्त्र सूख गये थे। शीतका नाम भी नहीं था उनके शरीरमें।

'मा !' युगल-चरण पकड़ लिया उन्होंने और गद्गद कण्ठसे कहा, 'मापर पुत्रका अधिकार होता है। माका सर्वस्व पुत्रका सर्वस्व होता है। घरपर भूखे संत पड़े हैं। आटा, चावल, दाल प्रभृति सामग्रियाँ लकड़ीके बिना यों ही पड़ी हैं।

'लकड़ी कहीं नहीं मिली मा ! मैंने निश्चय किया माके द्वारकी चौखटको ही लाकर संतोंकी सेवा····'

'मैं जानती हूँ' माने अत्यन्त मधुर वाणीमें उत्तर दिया 'आजसे प्रतिदिन नियमपूर्वक मैं तुम्हारे यहाँ सूखी लकड़ीका एक बोझ रख आया करूँगी। भक्तोंके भक्त मेरे प्राण हैं।'

मा लकड़ी लेकर आगे-आगे चलीं और भक्तोंका भक्त पुत्र कुल्हाड़ी कन्धेपर रख पीछे-पीछे चला।

भोजन बना और साधुओंने भोग लगाया। नरहरियानन्दजीने शान्तिकी साँस ली।

नरहरियानन्दजीका पड़ोसी मरणासन्न हो गया था । असह्य पीड़ासे वह छटपटा रहा था । वैद्योंने उसे कोरा उत्तर दे दिया । किसी भी औषधका कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था उसपर ।

उसे पता लग गया कि 'नरहरियानन्दजी लकड़ीके लिये देवीके मन्दिरपर कुल्हाड़ी लेकर गये थे । मन्दिरके द्वारपर कुल्हाड़ी चलाते समय देवी प्रकट हो गयीं और प्रतिदिन उनके यहाँ सूखी लकड़ियोंका एक बोझ रख आती हैं ।' बस, उसने भी तेज कुल्हाड़ी कन्धेपर रख ली और भगवतीके मन्दिरपर चल पड़ा ।

कुल्हाड़ी देवीके मन्दिरपर चलानेके लिये उसने उठायी ही थी कि वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा । शत-शत वृश्चिक-दंशन-जैसी यन्त्रणा उसके शरीरमें होने लगी । वह उठ भी नहीं सकता था । किसी दर्शनार्थीने उसकी मूर्च्छितावस्थाका संवाद उसके घर पहुँचाया, घरवाले जाकर उसे उठा लाये । तबसे वह इसी प्रकार तड़प रहा था । पीड़ा घटनेके स्थानपर बढ़ती ही जा रही थी ।

'यदि तू प्रतिदिन नरहरियानन्दजीके यहाँ सूखी लकड़ीका एक बोझ रख आया करे तो अच्छा हो सकता है ।' उससे जैसे भगवती कह रही थीं । भगवतीका भयानक रूप भी उसकी आँखोंने देखा । वह काँप गया था ।

'आज्ञा सिरमाथे मैया !' उसने पीड़ासे त्राण पानेके लिये तुरंत कह दिया ।

यन्त्रणा तुरंत कम हुई । धीरे-धीरे वह स्वस्थ हो गया और जगदम्बाके आज्ञानुसार प्रतिदिन सूखी लकड़ीका एक बोझ नरहरियानन्दजीके यहाँ रखने लग गया ।

संत-सेवा एवं भक्त-भक्तिकी अपूर्व महिमा है । इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

* * *

विश्वासका फल

(सत्य घटनाके आधारपर)

(लेखिका—राजकुमारी श्रीमती रमाकुमारी)

मुंशी हरिनारायणको मायाके विवाहकी बड़ी चिन्ता थी । मरनेके पहले वे कन्यादानका पुण्य ले लेना चाहते थे । मुंशीजीकी पाँच पीढ़ियोंमें कोई कन्या नहीं हुई थी । देवताओंकी बहुत-सी मनौतियाँ करनेके बाद उनके पुत्र प्रेमनारायणको यह कन्यारत्न मिला था ।

प्रेमबाबूने पिताका प्रस्ताव सुनकर कहा—'आपको भी खूब सूझी । अभी उसको नौवाँ साल लगा है ।'

मुंशीजी बोले—'बेटा ! मेरा कौन भरोसा । पक्का हुआ आम हूँ । क्या तुम चाहते हो, मुझे कन्यादानका पुण्य भी न मिले ?'

प्रेमबाबू पिताके भक्त थे । चुप हो गये, परंतु दुधमुँही बच्चीके विवाहकी कल्पना करना उनके लिये हास्यास्पद था ।

मुंशीजीने बेटेके मनके भावको ताड़कर कहा—'इसे मेरी मूर्खता ही समझो; परंतु मैं आशावादी हूँ और ईश्वरपर भरोसा रखता हूँ । किसी तरहकी शंका मत करो । मेरी बेटी जहाँ जायगी, वहीं सुखी रहेगी ।'

प्रेमबाबू बोले—'फिर, जैसी आपकी आज्ञा ।' माया दौड़ी आयी और मुंशीजीकी पीठपर बैठकर उनकी दोनों आँखें बंद करती हुई बोली—'मैं कौन हूँ बतलाओ ?'

मुंशीजीने हँसकर कहा—'तू मेरी रानी बेटी माया है ।'

आज किसी सहेलीने मायाके नामपर हँसी उड़ायी

थी । वह बात मायाके मनमें खटक रही थी । दादाकी गोदमें बैठकर बोली—'दादाजी ! मेरा नाम किसने 'माया' रक्खा ?'

मुंशीजी हँसकर बोले—'बेटी ! यह नाम मैंने रक्खा है । बहुत दिनोंतक मायादेवीकी पूजा की थी कि वह मेरे घर आकर उसे पवित्र करें । जब देवीने मुझे वरदानस्वरूप तुझे दिया, तब मैंने तेरा नाम माया रक्खा ।'

माया प्रसन्न होकर बोली—'तो दादाजी ! मैं भी क्या देवी हूँ ?'

मुंशीजी उसे गले लगाकर बोले—'हाँ, तुम देवी तो हो ही ! हम हिंदूलोग कन्याको देवीके ही रूपमें देखते हैं ।'

(२)

प्रेमबाबू बाहर आये और एक फोटो पिताके हाथमें रखकर बोले—'बड़ा होनहार लड़का है और कितना रूपवान् ।'

मुंशीजी फोटो देखकर बोले—'हाँ, लड़का अच्छा है, परंतु मेरी माया कौन कम है ।'

मायाने मुंशीजीके हाथसे फोटो छीन लिया और बोली—'दादाजी ! यह फोटो मैं लूँगी । मैं इससे विवाह करूँगी ।'

दादाने विनोद किया—'क्या करेगी बेटी ! क्या करेगी ?'

मायाने अपने मामाकी लड़की लीलाका ब्याह देखा था । खूब बाजे बजे थे । अच्छे-अच्छे कपड़े-गहने आये थे और बहुत-सी मिठाइयाँ बनी थीं । वह धूमधाम उसे खूब अच्छी लगती थी । फिर वह क्यों न अपना विवाह करे ?

मुंशीजी हँसकर बोले—'बेटी ! लीलाको तो वे सब अपने घर ले गये । कहीं तुझे भी वे सब ले गये, तो मैं क्या करूँगा ?'

माया कुछ चिन्तित होकर बोली—'तो फिर रहने दो, मैं नहीं लूँगी कुछ भी ।' फिर कुछ सोचकर बोली—'तो दादाजी, सब चीजें लेकर घरमें रख लेना और सबको बाहर भगा देना, दरवाजा बंद कर लेना, अच्छा ।' मुंशीजी बोले—'बेटी ! मैं बूढ़ा हूँ, कैसे उनको जीतूँगा ?'

मायाने सारा कार्यक्रम सोच लिया । दादाजी और बाबूजी और दादीजी और अम्माजी सब लोग रातको चलेंगे और सारा सामान लेकर रातको ही भाग आयेंगे । किसीको खबर भी न होगी ।

मुंशीजीकी आँखोंके सामने बिदाईवाला दृश्य आ गया । बड़े प्रेमसे मायाको छातीसे लगाकर उसका सिर सूँघा और आँखोंमें आँसू भरे वे बाहर चले गये ।

माया सबको वरका फोटो दिखाती थी और बड़ी प्रसन्न थी । इससे उसका ब्याह होगा, उसके साथ खूब खेलेगी । उसकी मा और दादी उसके भोलेपनपर रोती थीं ।

(३)

आज मायाका ब्याह है । बाजे बज रहे हैं । धूम-धाम है । माया बड़ी खुश है…………

बाहरसे प्रेमनारायण आकर बोले—'माताजी ! हमलोग बारात लेने स्टेशन जाते हैं ।'

माने कहा—'जाओ, परंतु देखो माया न देखने पाये, नहीं तो वह भी चलनेको तैयार हो जायगी ।'

तबतक माया खुद ही आ गयी और पिताको कहीं जानेके लिये तैयार देखकर बोली, 'बाबूजी, मैं भी आपके साथ चलूँगी ।'

प्रेमबाबूने हँसकर कहा—'बेटी ! तू कहाँ जायगी मेरे साथ । मैं घूमने नहीं जाता, कामसे जाता हूँ ।

'मैं भी चलूँगी ।'

'वहाँ फौज आयी है । तुझे पकड़कर ले जायगी । मैं तो उनको भगाने जाता हूँ बेटी ।'

माया—'नहीं बाबूजी ! मैं भी मार भगा दूँगी ।' बाहरसे मुंशीजी आकर बोले—'चलो बेटी, हम और तुम बागकी सैर कर आयें । इनको जाने दो । मेरी तबीयत अच्छी नहीं है ।'

माया सब कुछ भूल गयी और दादाजीके साथ बागमें चल दी ।

(४)

बारात खूब धूम-धामसे आयी । बागमें जनवासा दिया गया । माया बेचारीको वहाँ जाने नहीं दिया गया । न जाने वहाँ क्या तमाशा हो रहा है और न जाने उसे क्यों नहीं जाने दिया जाता, परंतु बारात जब द्वारपर आ गयी तब तो उसको रोकना कठिन ही नहीं, असम्भव था । जब मुंशीजी थालमें आरती सजाकर और दूसरे थालमें कपड़े और गिन्नियाँ लेकर चले, तब माया कैसे घरमें रह सकती थी । जब बड़ी स्त्रियाँ ही किसी तरह स्वयं बारातकी शोभा देखनेके लिये अपने मनपर काबू नहीं कर सकतीं, तब माया तो अभी बच्ची ही है ।

माया कूदती-फाँदती अपने दादाके पास पहुँची । जब देखा कि वे बड़े भावसे पूजा कर रहे हैं, तब स्वयं भी बिना कहे-सुने वरके पास ही बगलमें खड़ी होकर बोली—'अबसे तुम मेरे घर रहना, अच्छा ! मुझसे लड़ना नहीं, मैं तुझे खिलौने दूँगी । मेरे घरमें बहुत-सी मिठाई है । तुम्हें खिलाऊँगी अच्छा ।' जब वरने इसका भी कोई उत्तर न दिया, तब माया खीजकर कहने लगी—'क्यों मुँह बनाकर खड़े हो, बोलते क्यों नहीं ? गूँगे हो ?'

प्रेमबाबूने देखा कि भद हुई चाहती है तो जाकर उसे गोदमें उठाकर बोले, 'बेटी ! तू बड़ी पगली है ।'

बारातमें जो बूढ़े थे, वे तो ऐसी भोली कन्या देखकर प्रसन्न थे । उनके बचपनमें इसी तरह ब्याह होते थे । हाँ, युवक हँसते थे । उन्हें ऐसी कन्या एक आश्चर्य थी ।

प्रेमबाबूने ज्यों ही घरमें जाकर मायाको गोदसे उतार दिया, वह फिर दादाजीके पास पहुँच गयी और जब मुंशीजी सब सामान बरातियोंको देने लगे, तब माया उनके हाथोंसे छीनने लगी और रोकर बोली—'यह सब मेरा है, मैं न दूँगी ।'

वरके पिताने हँसकर मायाको गोदमें लेकर कहा—'तुम्हारा ही है बेटी ।' और मुंशीजीसे कहा—'आप यह सब सामान घरमें ही रख लें ।' तब कहीं मायाको सन्तोष हुआ, वह थाल और रुपये लिये घरमें आयी और बारात जनवासे गयी ।

(५)

सब प्रथाओंके बाद विवाहका समय आया । गहने और कपड़े तो मायाने बड़ी प्रसन्नतासे लिये और पहन लिये । नाइन सिखा-पढ़ाकर उसे मण्डपमें लायी, पर जब मायाने देखा कि वरके बैठनेको अच्छी खूबसूरत चौकी है और उसके बैठनेके लिये एक पत्तल है, तब वह वरसे बोली—'मेरी चौकी दो, नहीं तो मैं गिरा दूँगी ।' बेचारा लड़का शरमा गया ।

मुंशीजी बोले—'बेटी ! माया, झगड़ा नहीं करना होता ।'

मायाने बिगड़कर कहा—'मेरे ही लिये तो चौकी आयी थी । मेरी तो चौकी, सो मैं तो पत्तलपर बैठूँ और ये राजा बनके आये हैं, जो चौकीपर बैठेंगे ।'

मायाकी बातोंपर सबको हँसी आ गयी । वरके पिताने कहा—'बेटी ! जाने दो, कल मैं तुम्हारे लिये एक बहुत बढ़िया पीढ़ा मँगवा दूँगा । सबेरा होने दो ।'

ब्याह भी सम्पन्न हो गया । जब बारात जनवासे चली गयी, तब माया बड़ी प्रसन्न थी; क्योंकि गहने-कपड़े सब उसे मिल गये थे ।

(६)

दूसरे दिन वरके पिताने आग्रह किया कि बहूको

विदा कर दीजिये; क्योंकि उनकी माताजी अपने पोतेकी बहूको देखना चाहती थीं ।

मुंशीजी आँखोंमें आँसू भरकर बोले—‘रातके उत्पातको तो आप देख ही चुके हैं । अभी तो वह बहुत बच्ची है ।’

समधीजी बोले—‘बच्ची जैसी आपकी वैसी मेरी, माताजीको भी उसे देखनेकी बड़ी इच्छा है कि बूढ़ी अवस्था है, कहीं मर न जायँ । कृपा करके एक दिनके लिये विदा करा दीजिये । दूसरे दिन बुला लीजियेगा । उनकी इच्छा पूरी हो जायगी ।’

बिदाईका मुहूर्त आ गया । बाजे बजने लगे । द्वारपर पालकी लगा दी गयी । माया अपनी सहेलियोंके साथ आकर पालकीमें बैठ गयी । सब मेला देखने चलेंगे । अपने गहने-कपड़े दिखला रही थी और खिल रही थी ।

रधिया बोली—‘जब मेरा ब्याह होगा, तब मुझे भी इसी तरहका सब सामान मिलेगा । तुम्हारे बाबूजी बड़े अच्छे हैं । तभी तो तुम्हारा ब्याह कर दिया, तभी तो तुम्हें सब गहने-कपड़े मिल गये ।’

उस मण्डलीमें एक लड़की उमा थी । उसकी उम्र बारह सालकी थी, वह दो-एक ब्याह और भी देख चुकी थी । वह समझती थी इन गहनोंके बदले खुद ही सबको छोड़कर एक नये परिवारमें जाना पड़ता है; इसलिये इन चीजोंका मूल्य उसकी आँखोंमें नहींके बराबर हो गया था ।

मायाने हँसकर कहा—‘उमा दीदी ! जल्दी आओ, नहीं तो तुम्हें जगह नहीं मिलेगी ।’

उमा बोली—‘माया तू पगली है, मैं नहीं जाऊँगी ।’ उधर भीतर सब मायाको ढूँढ़ रहे हैं, घरमें पता नहीं । सब रो रहे हैं । माया हँस रही है ।

मुंशीजीने बाहर जाकर देखा तो माया अपनी सहेलियोंके साथ पालकीमें बैठी सबसे हँस-हँसकर बातें कर रही है ।

मुंशीजीके रुके आँसू मायाका भोलापन देखकर और भी उमड़ आये । भरे गलेसे बोले—‘प्यारी माया, क्या तू आज अपने दादाको भूल गयी ? मैं तुझे कबसे ढूँढ़ता हूँ । आ माया ! मैं तुझे छातीसे लगा लूँ बेटी, आ—’

मायाकी समझमें कुछ न आया । बोली—‘दादाजी, आप भी चलिये मेला देखने । आइये बैठिये । मैं न उतरूँगी ।’

जैसे माया बैठी थी, उसी तरह विदा हो गयी, उतरी नहीं । दादा, पिता और भाई-बहनें सब स्टेशनतक पहुँचाने गये ।

(७)

जबतक सखियाँ गाड़ीमें थीं, तबतक माया प्रसन्न थी; किंतु जब वह अकेली एक बूढ़ी महाराजिनके साथ रह गयी, घरका कोई दूसरा नहीं रहा, तब तो मायाने रोना-चिल्लाना शुरू किया । वह गाड़ीपरसे कूदना चाहती थी । बार-बार कहती थी मैं दादाजीके पास जाऊँगी ।

महाराजिनने कहा—‘बेटी ! शोर मत करो । गाड़ीपर चलो, कल हम-तुम दोनों चली आयेंगी ।’

माया रोकर बोली—‘नहीं, मैं अभी जाऊँगी । मैं दादाजीके पास अभी जाऊँगी ।’

महाराजिन—‘दादाजी घर गये सो कल आयेंगे । तब तुम और मैं दादाजीके पास चलेंगे ।’

माया जब किसी तरह चुप नहीं हुई, तब महाराजिन बोली—‘देखो बेटी ! तुम रोओगी, तो ये लोग फिर तुम्हें दादाजीके पास कभी नहीं जाने देंगे । इसलिये बिल्कुल रोना नहीं और उनके घरमें किसीसे बोलना मत । नहीं तो, घरमें बंद कर देंगे, तब क्या होगा । जो कोई कुछ पूछे तो सिर हिला देना, अच्छा । नहीं तो बेटी ये घरमें बंद कर देंगे, तो दादाजीसे हम कैसे मिलेंगे ।’

भोली माया रोकर बोली—'तो दादाजी मुझे छोड़कर क्यों चले गये हैं इन पाजियोंके पास ।'

महाराजिन बोली—'चुप बेटी ! कुछ न कहना, ये सुन लेंगे तो आफत आ जायगी । फिर क्या होगा । बेटी ! उनके घरमें कुछ नहीं बोलना, जो कहें, सुन लेना और जो खाना दें, चुपचाप खा लेना, भला बेटी ! कल दादाजी आयेंगे, हमलोग अपने घर चले आयेंगे ।'

मायाने सारी बातोंको सच समझा—वह सहम गयी और बोली—'मैं कुछ नहीं बोलूँगी चाची ! पर तुम मुझे छोड़कर कहीं न जाना । नहीं तो, ये घरमें बंद कर देंगे, तो फिर क्या होगा चाची ।'

महाराजिन—'हाँ, कुछ न बोलना, मैं कहीं नहीं जाऊँगी ।'

(८)

माया जब ससुराल आयी, तब बहुत डरती थी । किसीसे कुछ नहीं बोलती थी । वह जानती थी 'बोलूँगी तो बंद कर दी जाऊँगी, फिर अपने घर दादाजीके साथ कैसे जाऊँगी ।' मेहमानोंके साथ खाना खाने बैठी, तो ददियासास मायाको अपने हाथसे खाना खिलाने लगीं । कई चीजोंमें मिर्च ज्यादा थी, किंतु माया कुछ नहीं बोली । सी-सी करती जाती थी । आँखोंसे पानी गिरता था और नाकसे भी ।

मायाकी ददियासास बोली—'क्या है माया बेटी !' माया कुछ न बोली ।

दादी फिर बोली—'बेटी ! क्यों रोती है ? बता यह भी तो तेरा घर है ।' जब अबकी बार भी माया न बोली, तब सबको शंका हुई कि कहीं यह गूँगी तो नहीं है !

दादीने महाराजिनसे पूछा—'क्या बात है, बहू बोलती क्यों नहीं ?'

महाराजिनने कहा—'शर्माती है सरकार ! अभी तो आपके घर आयी है ।'

दादी हँसी ! 'अभीसे इसको शर्माना किसने सिखा दिया । अभी तो यह बच्ची है ।'

महाराजिनने कहा—'सरकार, घरपर भी यह बहुत शर्माती है ।'

दादी प्रसन्न हुई, कहा—'मेरी बहू देवी है ।'

महाराजिन—'सब आपकी कृपा है । हम किस लायक हैं ।'

तीसरे दिन माया खुश-खुश घर लौट आयी । दादाजीसे बोली—'आप मुझे छोड़कर चले आये, मैं वहाँ कुछ बोली होती तो वे लोग मुझे बंद कर देते, फिर क्या होता ? अब मुझे कभी किसीके पास न छोड़ना दादाजी, अच्छा ।'

दादाने पूछा—'किसीने तुझे मारा तो नहीं बेटी ! खाना अच्छा दिया था न ?'

माया नाक सिकोड़कर बोली—'क्या अच्छा दिया खाना । जो खिलाती थीं बड़ा कड़ुवा लगता था । पर मैं कुछ बोली नहीं । डरती थी कि सब बंद न कर दें ।'

(९)

माया पढ़ने-लिखनेमें बड़ी तेज है और घरके कामोंमें भी बड़ी कुशल है । साथ-ही-साथ वह देवीजीकी बड़ी भक्त है । एक घंटे रोज बड़ी भक्तिसे पूजा करती है । मायाके दादाजीको मरे दो साल हो गये और जिस दिनसे दादाजी मरे उसी दिनसे माया उनकी देवीजीकी पूजा करती है ।

मा खानेके लिये बुलाती है, तो माया कहती है—'अभी न आऊँगी ।'

मा पूछती है—'देवीसे क्या चाहती है, जो उसी देवीमें रात-दिन लीन रहती है ।'

माया अब बालिका नहीं, युवती है । माया मुखपरसे लंबी-लंबी लटोंको हटाती हुई गम्भीर भावसे बोली—

'मा, मैं माँगती हूँ कि देवीजी मुझको वह शक्ति दो कि मैं जो चाहूँ, कर सकूँ ।'

मा हँसकर बोली—'बेटी ! क्या तू भी मीराँबाई होना चाहती है ?'

'नहीं मा, मीराबाईने जो प्रेम किया, उससे सबका कल्याण नहीं हुआ, केवल मीराँबाईका ही हुआ । मैं चाहती हूँ मुझे वह शक्ति मिले, जो लक्ष्मीबाई झाँसीकी रानीको मिली थी ।'

माने हँसकर कहा—'तू पगली हो गयी है ।' माया हँस पड़ी । उस हास-विलसित मुखपर माको दुर्गाकी छवि दीख पड़ी । उसने सिर झुकाकर आँखें बंद कर लीं और बोली—'तू खुद ही देवी है ।'

माया माकी गोदमें सिर रखकर बोली—'मा ! देवी कैसी होती हैं ? मा ! तुमने कभी देखा है ?'

माने मायाका मुँह चूमकर कहा—'मैंने तो देवीजीको कभी नहीं देखा, किंतु तुम्हारे दादाजी जब पूजा करते थे, तब रातको मैं देवीजीका स्वप्न देखती थी और इच्छा होती थी कि उन्हींको रात-दिन देखती रहूँ, किंतु अब नहीं देखती । अब तो कभी वे स्वप्नमें आती हैं, तो मेरा कलेजा काँपने लगता है । अभी तू हँसी थी तो तेरा रूप उसी स्वप्नोंवाली देवी-जैसा मुझे लगा ।'

(१०)

मायाका गौना जब जाने लगा, तब उसकी मा अपने पतिसे बोली—'मायाके साथ उसकी देवीजीका सिंहासन भी भेज दीजियेगा । वह एक दिन भी पूजा किये बिना नहीं रहती ।'

प्रेमबाबू हँसकर बोले—'तुम भी क्या बच्चोंकी-सी बातें करती हो । मायाके साथ देवीजीका जाना तो खेलवाड़ मालूम होता है । दूसरे लोग इसे ढोंग बतायेंगे । मुझे तो खुद ही हँसी आती है ।'

मायाकी मा रोषके साथ पतिका मुँह देखकर बोली—'पुरुषोंके लिये दुनियाके सभी कार्य ढोंग होते हैं । बाबूजी आपसे कम विद्वान् न थे, जो मायाके लिये बरसों उपासना करते रहे थे ।'

'बाबूजी तो मायाके लिये देवीको पूजते थे । अब मायाको क्या लेना है, सो भी सुन लूँ ?'

'तुमलोगोंसे कौन बात बढ़ावे ।' 'अच्छा, देवीजी भी मायाके साथ जायँगी । अब खुश हुई ।'

'आप अपने उपदेश अपने ही पास रक्खा कीजिये, बहुत दिनोंतक सुन चुकी, बच्ची नहीं हूँ ।'

(११)

माया ससुराल आयी । घरके सभी लोग मायाको प्यार करते थे । माया सबका आदर-सत्कार करती थी और घरके सभी आदमी उससे प्रसन्न थे ।

एक दिन अरुणबाबू मायासे बोले—'क्यों माया ! तुम्हें याद है जब ब्याहमें तुमने मुझे गूँगा कहा था ?' माया हँसकर सिर नीचा करके बोली—'मुझे तो वह बचपन अपना सब कुछ देनेपर भी मिलता तो ले लेती ।'

अरुणबाबू मायाके तनिक समीप सरककर बोले—'तुम्हारा कहना ठीक है । मैं भी बचपनके दिनोंको सोचता हूँ तो मेरी भी यही इच्छा होती है; परंतु फिर तुम कैसे मेरे घर आतीं ?'

माया बोलीं—'हम दोनों दादाजीके पास खेलते । बचपनकी खुशी अब इस जीवनमें फिर न मिलेगी ।'

अरुणने हँसते हुए उसके कन्धेपर हाथ रखकर कहा—'तो चलो माया भगवान्से कहें कि हम दोनोंको फिर बालक बना दें ।' यह कहते-कहते अरुणबाबूने सुराहीसे एक गिलास लिया और पीकर बोले—'मेरे पेटमें कुछ दर्द हो रहा है माया ! आज तो कोई ऐसी चीज भी नहीं खायी । यह अचानक दर्द क्यों होने लगा ?'

मायाने देखा, उनका मुँह पीला पड़ गया है और

पेटको जोरसे दबानेपर भी उनकी बेचैनी बढ़ती जाती है। एक क्षणमें दर्द और बढ़ा, वह चारपाईपर लेटकर हाथ-पाँव पटकने लगे। देखते-देखते जैसे किसीने उनकी देहका खून चूस लिया हो।

मायाने दौड़कर सासको जगाया और उनके साथ लौटी तो अरुण कै कर रहे थे, उनके पिताको खबर दी गयी। वे दौड़े आये। तुरंत डाक्टर बुलाया गया। उसने कहा 'कॉलरा है।' शहरमें कॉलराके केस हो रहे थे; परंतु इस घरमें उसका प्रकोप होगा, यह शंका किसे थी? सबके हाथ-पाँव फूल गये। आज रातसे अरुणबाबूको हैजा हो गया है। आदमियोंकी भीड़ लगी है। घरमें डाक्टर-पर-डाक्टर आते हैं। किसीकी दवा कारगर नहीं होती। जो दवा दी जाती है, उससे लाभके बदले हानि होती है!

अरुणबाबूके मा-बाप सिर पटक-पटककर रो रहे हैं? मा कहती है—'हाय भगवान्! इससे अच्छा—

वैद्यजी आये तो नाड़ी देख बोले—'इसमें जान नहीं है। मुझे क्या देखने बुलाया है?'

मा भीतर पागलकी तरह यह कहती हुई दौड़ी गयी कि 'देवीज़ीकी प्रतिमाको चूर-चूर करके फेंक दूँगी जो बहू रात-दिन पूजती है। मेरे बेटेकी…………'

माया वहीं सिंहासनके पास ध्यान लगाये बैठी थी। सासका आना उसे मालूम न हुआ!

सासने क्रोधमें भरकर मायाकी पीठमें दो लातें जमायीं और बोली—'पापिनी! मेरा लाल वहाँ दम तोड़ रहा है और तू यहाँ देवीकी पूजा करने बैठी है?'

मायाकी समाधि टूटी, सासके पैरोंको सहलाते-सहलाते वह बोली—'मा, देवीजी उन्हें अच्छा कर देंगी। घबराइये नहीं, देवीजीने मुझे अभी-अभीसे कहा है कि तेरा पति ठीक हो गया। देवीजी मुझपर अप्रसन्न नहीं हैं माजी।'

सासने और क्रोधमें भरकर कहा—'अगर तेरी देवीने यह कहा तो झूठा कहा। हाय भगवान्! इस पापिनको कोई कैसे समझाये—इस निगोड़ी देवीकी मूरतको अभी चूर-चूर कर दूँगी, हट जा, मैं इसको उठाकर कूड़ेमें फेंक दूँगी?'

जैसे सासने प्रतिमाकी ओर हाथ बढ़ाया कि माया रोकर बोली—'मा, देवीजी उन्हें अवश्य अच्छा कर देंगी। मुझे विश्वास है।' और उसी समय उठकर वह अरुणके पास आ गयी। मायाके आते ही अरुणने आँखें खोलीं और कहा—'कहाँ थी माया। जरा मुझे पानी पिला दे।'

उसकी सास भी पीछे-पीछे दौड़ी आयी थी, मायाको गले लगाकर लज्जित स्वरमें बोली—'मुझे क्षमा कर बेटी, तू तो सचमुच देवीका अवतार है।'

मायाने सासके चरणोंपर सिर रखकर कहा—'सब आपके पुण्यका फल है। माताजी मैं तो आप सबकी सेविका हूँ। भगवतीकी दया हुई है।'

* * *

अनन्त छबि

वृन्दावन-विपिन-विहारी वासुदेवपर बहती बयार मानो व्यजन डुलाती है,
मस्तक अनन्तका अनन्त अन्त पाता नहीं लाली अधरोंकी देख ऊषा शरमाती है।
'मोहन' मधुर मुसकानकी प्रभा बिलोक कलित कलाधरकी कांति कुम्हलाती है,
मन्दाकिनी जलज-से चक्षुओंको देख आभा पंकजकी पंकमें तुरंत मिल जाती है॥

—मोहनलाल अवस्थी 'मोहन'

चेतावनी

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
(गीता ४ । ७-८)

'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ । साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ ।'

इस समय चारों ओर धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि हो रही है । नास्तिकताका बहुत जोरोंसे प्रचार हो रहा है । इसपर कोई-कोई भाई पूछते हैं—'गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ—तो बतलाइये, यदि इस समय भगवान् अवतार नहीं लेंगे तो कब लेंगे ? हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि क्या अभी भगवान्‌के अवतार लेनेका समय नहीं आया है ?' इसके उत्तरमें मैं यही कहता हूँ कि वर्तमानमें नास्तिकता और पापकी उत्तरोत्तर वृद्धि एवं धर्म, ईश्वर और गायोंका अस्तित्व मिटानेके लिये होनेवाले निन्दनीय आयोजनोंको देखते हुए तथा श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंके कथनको देखते हुए तो आपका कहना ठीक है । किंतु ईश्वर अभी अवतार लेंगे या नहीं, यह तो ईश्वर ही जानें । हम अपनी तुच्छ बुद्धिसे इसका निर्णय नहीं दे सकते । किस समय कितना अधर्म फैलनेपर भगवान् अवतार लेते हैं, यह तो अवतार लेनेवाले भगवान्‌के निर्णयपर ही निर्भर है ! कलियुगके आरम्भमें जिस प्रकार अधर्मका प्रचार होनेकी बात शास्त्रोंमें पढ़ी जाती है, उसकी अपेक्षा तो वर्तमानका अधर्म बहुत अधिक ही देखनेमें आता है । झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और धनादिके लिये दगाबाजी करनेमें लोग बहुत ही कम हिचकिचाते हैं । आजके बीस वर्ष पूर्व धर्मके विषयमें ऐसा घोर प्रमाद नहीं था, जैसा कि आज हो रहा है । बहुत-से लोग झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजीको पाप ही नहीं मानते । उनका एकमात्र यही लक्ष्य है कि येन-केन प्रकारेण धन और अधिकार प्राप्त होना चाहिये !

धनके लोभमें फँस जानेके कारण हमलोगोंका भयानक पतन हो गया है । आज हम धनके लिये दूसरोंकी तो बात ही क्या, अपने निकटतम सम्बन्धी—माता-पिता, भाई, बहिन, बेटी, दामाद आदिसे भी मुकदमेबाजी करनेमें भी न तो लजाते ही हैं न ईश्वर और धर्मका भय ही मानते हैं । हमें तो धन प्राप्त होना चाहिये, चाहे ईश्वर नाराज हों और चाहे धर्म-कर्म चूल्हेमें जाय ! हम धनके लिये सब कुछ छोड़नेको तैयार हैं । केवल धन मिलना और सुरक्षित रहना चाहिये ! धन और पद हमलोगोंको प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय लगते हैं । पर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि इस धन और अधिकारका अन्तमें होगा क्या ? यह धन, अधिकार न तो किसीके साथ गया है और न जायगा । ऐसा विचारके द्वारा समझते हुए भी इनकी ओर हमारा अत्यन्त आकर्षण हो रहा है । किंतु धर्म और ईश्वरकी शरण ग्रहण किये बिना हमारा इस लोक और परलोकमें घोर पतन होगा और हमें भयानक कष्ट सहन करने पड़ेंगे । हमें यह मनुष्यजन्म अर्थ, भोग और कामके लिये नहीं मिला है, यह मिला है आत्माके कल्याणके लिये । जो मनुष्य ऐसे अवसरको पाकर सचेत नहीं होता, उसके लिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥

प्रथम तो यह विचारना चाहिये कि धन और ऐश्वर्य नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं । इनका संयोग भी क्षणिक है और अपना जीवन भी क्षणिक है । अतः जिस कामके लिये हम आये हैं, उसे शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिये ।

झूठ, कपट, चोरी, डकैती, व्यभिचार, पशु-पक्षी आदिकी हिंसा करना, फिजूलखर्ची और कुरीतियाँ आदि दुराचारोंका त्याग तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, परोपकार आदि सदाचारका पालन एवं क्षमा, दया, समता, संतोष, शान्ति, सरलता, निर्भयता, धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि उत्तम गुणोंका सेवन स्वयं करना और दूसरोंसे करवाना—यही देशके लिये महान् कल्याणकारक है; इसके लिये हरेक भाईको जी-तोड़ प्रयत्न करना चाहिये ।

सरकारसे प्रार्थना है कि आजकल जो नशीली चीजें—बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू, गाँजा और मदिरा आदिका तथा गंदे सिनेमा, नाटक आदिका एवं जुआ, सट्टा, फाटका आदिकी बुरी प्रवृत्तियोंका जोरोंसे प्रसार हो रहा है, इनपर विशेष रोक लगानी चाहिये। क्योंकि ये देशके लिये बहुत ही खतरनाक और हानिकारक हैं। अपना हित चाहनेवाले भाइयोंसे भी हमारी यह प्रार्थना है कि वे इन दुर्व्यसनोंका जिस किसी प्रकारसे कतई त्याग हो, जी-तोड़ प्रयत्न करें; क्योंकि इनसे धन और धर्मकी हानि प्रत्यक्ष हो रही है। ये देशके लिये बहुत खतरेकी चीजें हैं, इनसे हमारे देशके भाइयोंका सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और व्यावहारिक—सभी प्रकारसे पतन हो रहा है एवं स्वास्थ्यके लिये तो महान् हानिकारक है ही। अतः इसका सब प्रकारसे क्रियात्मक विरोध करना चाहिये।

इस समय हमारे देशमें राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र आदि जिन-जिन प्रान्तोंमें भयानक दुर्भिक्ष पड़ गया है, उन-उन स्थानोंमें गायों और मनुष्योंकी रक्षाके लिये सरकारको तन-मन-धनसे पूरी सहायता करनी चाहिये। गायोंके लिये कोई भाई कहींसे चारा मँगाये तो उसके लिये रेल-किराया तो सरकारने कम कर ही दिया है; किंतु उनके लिये यह सहूलियत और मिलनी चाहिये कि अन्य सब चीजोंको रोककर सबसे पहले गायोंके लिये चारा और गुवार बिनौले वगैरह खाद्य पदार्थ लादे जायँ।

तथा मनुष्योंकी रक्षाके लिये राजपूताना-जैसे देशोंमें कुआँ, तालाब आदि बनाना, कच्चे तालाबोंकी मिट्टी निकलवाना, सड़क आदि बनवाना तथा गरीबोंको रोजगारके कामोंमें लगाना एवं दुखी, अनाथ, अपंग, असहायोंको बिना मूल्य अन्न-वस्त्र देकर उनके प्राणोंकी रक्षा करना सरकारका मुख्य कर्तव्य है; इसकी ओर सरकारको विशेष ध्यान देना चाहिये।

इस समय गायोंके लिये तो और भी विशेष खतरा है! सरकारी कानून भी गायोंके लिये घातक है। जनताके प्रार्थना करनेपर भी सरकार इस ओर ध्यान नहीं दे रही है। गोवध रोकनेके लिये जो तार-पत्र दिये जाते हैं, वे प्रायः रद्दीकी टोकरीमें गिरा दिये जाते हैं। इसके लिये सरकारसे प्रार्थना करनेका तो हमारा हक है ही और रहेगा ही। जब भारतवर्षको स्वराज्य नहीं मिला था, तब महात्मा गाँधीजी-जैसे लोकहितैषी पुरुषोंने यह विश्वास दिलाया था कि 'इस समय अंग्रेजोंके हाथमें राज्य है, हमलोग गायोंके लिये कुछ भी नहीं कर सकते। स्वराज्य मिलनेपर इस विषयमें विचार किया जायगा और हरेक प्रकारसे गायोंकी रक्षा करना हमारा पहला काम होगा।' ईश्वरकी कृपासे हमें स्वराज्य मिल गया। गायकी कत्ल करना अपना धर्म बतलानेवाले मुसल्मान भाइयोंको पाकिस्तान मिल गया और विदेशी अंग्रेजोंने भारतसे अपना शासन उठा लिया; किंतु दुर्भाग्यवश अभीतक गायोंके लिये कुछ भी सुविधा प्राप्त नहीं हुई! पाकिस्तानवाले जो गायोंकी कुर्बानीको अपना धर्म मानते हैं, वे भी हमारी अपेक्षा स्वार्थके नाते गायोंकी रक्षा और वृद्धिकी अधिक चेष्टा करते हैं; परंतु हमारा देश हिंदुस्थान और हम हिंदू कहलाकर भी हिंदुओंके परम धन गायोंकी रक्षा और वृद्धिकी ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं—यह हमारे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है।

इस समय हमलोगोंके तथा गायोंके दुर्भाग्यके कारण जिन राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र आदि प्रान्तोंमें भयानक दुर्भिक्ष पड़ गया है, उनमें गायोंके लिये चारेका तो इतना अभाव है कि उनका जीवन कैसे कायम रहेगा, कुछ समझमें नहीं आता। साथ ही गोवधनिवारक कानूनके विषयमें भी वर्तमान सरकारकी नीति हितकारक नहीं है।

यदि कहा जाय कि 'यह सरकारी कानून तो कई जगह बना हुआ है कि बछड़ा-बछड़ी तथा दुधार गायोंका कोई वध नहीं कर सकता' सो ठीक है; किंतु इस कानूनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा है। इस कानूनके विद्यमान रहते हुए भी हमारे देशके कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े-बड़े नगरोंमें बछड़े-बछड़ियाँ और दुधारू गायें प्रतिदिन बहुत बड़ी संख्यामें काटी जा रही हैं। क्योंकि मारनेवाले स्वार्थके वशीभूत हुए न तो देशकी हानिपर ध्यान दे रहे हैं और न ईश्वरका भय ही मानते हैं तथा न उक्त सरकारी कानूनका भय ही मानते हैं। गाय बूढ़ी है या जवान—इसका सर्टिफिकेट देनेवाले अफसर पैसोंके लोभसे मन-माने सर्टिफिकेट दे देते हैं और बूढ़ीके नामपर जवान दुधारू गायें कट जाती हैं। इस अन्यायकी भलीभाँति जाँच भी नहीं होती। कई गोहितैषी तो कसाइयोंके भयसे जाँचके लिये जाना ही नहीं चाहते। और कोई स्वयं जाँच करना चाहते हैं तो उनको समुचित सहयोग नहीं प्राप्त होता। अतः इस समय गोधनका ह्रास हमारे देशमें बड़ी तेजीसे हुआ और हो रहा है। ऐसा गोधनका ह्रास आप विचारकर देखेंगे तो आपको किसी देशमें भी नहीं मिलेगा। अतः सरकारसे हमारी विनम्र

प्रार्थना है कि गोरक्षा और गोवृद्धिके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये और भारतवर्षमें गोवधको कतई रोक देना चाहिये। जनतासे भी हमारी प्रार्थना है कि वर्तमानके अकालसे पीड़ित गायोंकी रक्षाके लिये यथाशक्ति तन, मन, धनसे प्रत्येक भाईको प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा अकाल निकट-भूतमें नहीं पड़ा जैसा कि इस समय पड़ा हुआ है। राजस्थान और गुजरात आदि प्रान्तोंमें कुएँ, तालावोंका जीर्णोद्धार कराना चाहिये तथा कच्चे तालावोंकी मिट्टी निकलवानी चाहिये, जिससे उनमें गायोंके लिये जलकी सुविधा हो सके। इससे अकालपीड़ित मनुष्योंको भी मजदूरी मिलनेसे उनकी वेकारी दूर हो सकती है। जिन गाँवोंमें गायोंके पीनेके लिये जल नहीं मिलता, वहाँ गायोंके लिये कुओंसे जल निकलवानेकी शीघ्र व्यवस्था होनी चाहिये। गायोंके चारेके लिये घास, तूड़ी, पूला, पाला आदि और गुवार आदि खाद्य पदार्थ दूसरे प्रान्तोंसे मगवाकर अनाथ और गरीव गायोंके लिये विना मूल्य तथा अन्य गायोंके लिये सस्ते मूल्यमें देनेका प्रबन्ध करना चाहिये।

आजकल वनस्पति तेल (नकली घी) का बड़ी तेजीसे प्रचार हो रहा है, जिसके खानेसे कमजोरी आती है, आयुका क्षय होता है और नपुंसकता बढ़ती है। इस विषयमें भी महात्मा गाँधीजीका सिद्धान्त देखिये। उन्होंने इस विषयमें निर्णय करके तै कर दिया था कि यह हमारे देशके लिये बहुत ही घातक (हानिकर) है। किंतु दुःखकी बात है कि आज हमारे देशके शासक अधिकारीगण इसके बंद करनेकी ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं ! इस नकली घीके कारण भी गायोंकी रक्षा और वृद्धिमें कमी आ गयी है। जब वनस्पति (नकली घी) से काम चल ही जाता है, तब गाय-भैंसके दूध-घीकी क्या जरूरत है—ऐसी भूल धारणा हो चली है; किंतु हम इसपर ध्यान नहीं दे रहे हैं कि वनस्पतिसे हमारे स्वास्थ्यका कितना नुकसान हो रहा है। अतः हम इसके लिये भी सरकारसे प्रार्थना करते हैं कि यह वनस्पति (नकली घी) भी कतई बंद हो जाना चाहिये।

व्यापारियोंका व्यापार तो सरकारके कंट्रोल और टैक्स आदिके कारण प्रायः नष्ट हो गया और होता जा रहा है। इसमें जो बहुत अधिक धनी हैं, उन्हें तो कुछ लाभ भी है; किंतु गरीव और मध्य श्रेणीके व्यक्ति तो बुरी तरह तबाह हो रहे हैं। क्योंकि जो बड़े-बड़े धनी या मिलमालिक हैं, वे लोग तो अधिकारियों और कर्मचारियोंसे मिलकर अपना मतलब गाँठ लेते हैं, शेष सब जनता महान् दुखी है। आप प्रत्यक्ष देखिये, इस समय अन्न और वस्त्र भारतमें मौजूद रहते हुए भी जनता अन्न-वस्त्रके विना महान् दुखी हो रही है। लोगोंको पहननेके लिये वस्त्र नहीं और खानेको अन्न नहीं। चोरवाजारीसे अधिक मूल्य देकर खरीदना अपराध है। पर वह देनेपर भी पर्याप्त अन्न-वस्त्र नहीं मिल पाता ! जैसे बंगालके बाँकुड़ा जिलेमें जो चावल १६) मन है, वही चावल नदिया जिलेमें २६) मन बाजारमें बिक रहा है। इसी प्रकार यू० पी० और विहार आदि प्रान्तोंमें भी गेहूँ, चावल आदि खाद्य पदार्थोंके सम्बन्धमें धाँधली चल रही है। तथा सरकारने अभी खाँची आदि ग्रामोद्योगकी देशी चीनीका मूल्य २९) मन नियन्त्रित किया है और दूसरी ओर मिलोंको चीनीके लिये खुला आर्डर दे दिया है। खाँचीवालोंको २९) में कभी चीनी नहीं पुसा सकती। इससे तो बेचारे गरीव ही मारे जायँगे और मिलमालिक धन इकट्ठा करेंगे। साथ ही यू० पी० में अलसी आदिपर जो सेलटैक्स है, वह प्रत्येक खरीद-बिक्रीपर है। इस कारण प्रायः दूकानदारोंको चोरी करनी पड़ती है। वे पूरा सेलटैक्स नहीं देते। क्योंकि ३२) के मालपर एक पैसा रुपयेके हिसाबसे आठ आना मन टैक्स लग जाता है, दूसरा व्यक्ति टैक्सकी चोरी करके चार आना मनके मुनाफेसे बेच देता है। कोई भला आदमी चोरी करना नहीं भी चाहे तो भी उसे करनी पड़ती है। क्योंकि आठ आना उसे पुसाता नहीं, अतएव या तो उसे चोरी करनी पड़ती है या काम बंद करना पड़ता है। अतः सरकारको प्रत्येक खरीद-बिक्रीपर सेलटैक्स न लगाकर एक बार ही सेलटैक्स लगाना चाहिये। बंगाल और विहार आदि प्रदेशमें सेलटैक्सकी मात्रा अधिक होनेके कारण अर्थात् अधिकांश मालपर प्रति रुपया तीन पैसेतक सेलटैक्स होनेके कारण व्यापारी लोग सरकारको अधिकांशमें टैक्स नहीं देते, चोरी करते हैं। इसलिये जो सरकारी टैक्सकी चोरी करना नहीं चाहते, उनके लिये व्यापार करना ही कठिन हो जाता है। इन सब बातोंको सोचकर सरकारको सेलटैक्सकी मात्रा कम कर देने तथा एक बार ही सेलटैक्स लगानेपर भी पूरा टैक्स मिल जानेसे कोई नुकसान नहीं होगा और लोगोंको भी चोरी नहीं करनी पड़ेगी। अतः सरकारको इसपर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसी प्रकार इनकमटैक्सकी मात्रा अधिक होनेके कारण बड़े-बड़े धनीलोग अपनी धनराशिको छिपा लेते हैं और पूरा टैक्स नहीं

देते । अपने बही-खाते आदिमें झूठे जमा-खर्च करके सरकारको धोखा देते हैं। इस इनकमटैक्सकी मात्रा कम कर देनेपर भी सरकारको पूरा टैक्स मिल जानेसे कोई नुकसान नहीं है तथा लोग भी चोरीसे बच सकते हैं।

व्यापारी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि जो लोग इनकमटैक्स और सेलटैक्सकी चोरी करते हैं तथा चोर-बाजारी करते हैं और चोरबाजारीके रुपयोंसे बिना जमा-खर्च किये व्यापार करते हैं, उनका घोर नैतिक पतन हो रहा है। उनको झूठ, कपट, चोरी बेईमानी करनी पड़ती है, बहीमें झूठे जमा-खर्च करने पड़ते हैं। इस कारण उनको सरकारी अफसरोंसे सदा भय भी बना रहता है, अफसरोंको रिश्वत देनी पड़ती है, धर्मकी हानि होनेके कारण आध्यात्मिकता, धार्मिकता और नैतिकताका बहुत पतन होता है एवं इस लोकमें इज्जत और मानकी हानि तथा मरनेपर दुर्गति भी होती है। इन सब बातोंको ख्यालमें लाकर उनको सचाईके साथ व्यापार करना चाहिये। ऐसा करनेसे उनका इस लोक और परलोकमें सब प्रकारसे हित है। हमारे देशमें अंग्रेजोंने आकर जो व्यापारकी उन्नति की, उसमें उनका सत्यतापूर्वक व्यापार ही प्रधान कारण है। आज भी अंग्रेजोंका व्यापार औरोंकी अपेक्षा अच्छा है, जिसके कारण व्यापारी लोग कपड़े, सूत आदिके लेन-देनमें अंग्रेजोंकी मिलों और व्यापारी संस्थाओंका अधिक विश्वास करते हैं और उन्हींसे लेन-देन अधिक करते हैं। क्योंकि बाजारकी मंदी-तेजीपर वे भारतवासी मिल-मालिकोंकी तरह विशेष बेईमानी नहीं करते। वर्तमान सरकार भी देशवासियोंकी अपेक्षा अंग्रेजोंका तथा उनके बही-खाते रजिस्टरोंका अधिक विश्वास करती है।

व्यापारीलोग जो चोरबाजारी करते हैं, उसमें उनपर कंट्रोल करनेवाले अफसर, उनके नीचे रहनेवाले कर्मचारी तथा रेलके कर्मचारी काफी मदद करते हैं। एवं ये सब लोग ही सरकारको हरएक प्रकारके कंट्रोल रखनेमें सब तरहकी सुविधा दिखलाकर कंट्रोल कायम रखनेके लिये कहते हैं। पर कंट्रोलसे लाभ कम और हानि अधिक हैं। सरकार यदि इसके लिये विशेषरूपसे जाँच-पड़ताल करानेके लिये सुचारुरूपसे प्रबन्ध करे तो सरकारको भी यह अनुभव हो जायगा। सरकारको यह विश्वास करना चाहिये कि इस चोरबाजारीमें केवल व्यापारियोंका ही दोष नहीं है, कितने ही सरकारी अधिकारी, कर्मचारी तथा रेलवे कर्मचारियोंका भी हाथ है। पाँच वर्ष पहले जिसके पास खानेको अन्न और पहननेको वस्त्र नहीं थे, आज उसके पास अफसर बननेके बाद लाखों रुपये हो गये तो सरकारको ध्यान देना चाहिये कि वे कहाँसे आये।

अन्नका कंट्रोल होनेके कारण किसान लोगोंको भी झूठ और कपटका आसरा लेना पड़ता है। क्योंकि सरकारके हुक्मके अनुसार यदि वे गेहूँ और चावल पूरा-पूरा दे दें तो न तो उनके खानेका निर्वाह ही हो और न उन्हें जो चोरबाजारीसे रुपया मिलता है, वही मिले। आजके बीस वर्ष पूर्व जब अन्न-वस्त्रपर कंट्रोल और राशन नहीं था, तब अन्न-वस्त्रके लिये किसीको भी कष्ट नहीं था; क्योंकि मालके यातायातकी कोई रुकावट नहीं थी, इसलिये व्यापारीलोग प्रतिद्वन्द्विता करके जहाँ-तहाँसे माल मँगाते और कम मुनाफेपर बेचते थे। सरकारी अफसरोंको व्यापारका बहुत कम ज्ञान है। यातायातमें खर्च अधिक पड़ता है और कुछ बीचके आदमी खा जाते हैं; इससे सरकारको व्यापारियोंकी अपेक्षा चीज बहुत मँहगी पड़ जाती है। इस कारण जनताको अन्न-वस्त्रका मूल्य देना पड़ता है, फिर भी अन्न-वस्त्र आवश्यकतानुसार नहीं मिलता। इस कारण महान् कष्ट होता है। अतः सरकारको यह अन्न-वस्त्रका कंट्रोल और राशन उठा देना चाहिये। जिन प्रान्तोंमें अकाल पड़ा हुआ है, वहाँके मनुष्योंको तो और भी अधिक कष्ट है। उनके कष्टनिवारणके लिये सरकारको हरएक प्रकारकी सुविधा देनी चाहिये। जो चोर-बाजारी करते हैं, उनको तथा उनकी मदद करनेवाले सरकारी अधिकारी और कर्मचारियोंको भी अच्छी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे भविष्यमें वे ऐसा भ्रष्टाचार न करें।

वर्तमान सरकारने विधवा स्त्री और नाबालिगोंके लिये कानून तो अच्छे बना रक्खे हैं, किंतु इतनेमात्रसे विधवाओं और नाबालिगोंको विशेष लाभ नहीं हो रहा है। क्योंकि अनाथ विधवाओंकी सम्पत्ति जिसके हाथ पड़ती है, वही खा जाता है। अधिकांशमें तो उसके घरवाले ही हड़प जाते हैं। वे बेचारी कमजोर होनेके कारण कुछ भी कर नहीं पातीं। खासकर विधवा स्त्रियोंकी निजी धन-सम्पत्ति, जायदाद या जेवर अथवा पतिकी जीवन-बीमाके रुपये भी पतिके मरनेके बाद उसके ससुर-जेठ या उनकी स्त्रियाँ ही हड़प जाती हैं। वे बेचारी विधवाएँ प्रथम तो लज्जावश अदालतमें ही नहीं जातीं; यदि जायँ तो उनके पास न तो लड़नेके लिये रुपये हैं और न कोई मनुष्य ही उन्हें मदद करता है। सरकारकी इस ओर कुछ दृष्टि ही नहीं कि उनकी कैसी दुर्दशा हो रही

है। अतः ऐसी स्त्रियों और नाबालिगोंके लिये सरकारको अपनी तरफसे जाँच-पड़ताल करनी चाहिये और उनको यह सुविधा मिलनी चाहिये कि यदि उन्हें इसके लिये लड़ना पड़े तो उनसे स्टाम्प आदि खर्च न लिया जाय एवं वकीलोंको भी ऐसी अनाथ विधवाओं तथा नाबालिगोंसे फीस नहीं लेनी चाहिये।

वर्तमान सरकार हिंदूकोडबिलको पास करनेपर तुली हुई है। हमारी समझमें नहीं आता कि इसमें हिंदुओंका क्या हित है। इस विषयमें तो हिंदूधर्मके पालनेवाले जो हिंदू भाई हैं, उन्हींकी सम्मति लेनी चाहिये। जो हिंदूधर्मको मानते ही नहीं, उनकी सम्मति लेना बेकार है। क्या हम सरकारसे यह पूछ सकते हैं कि वह केवल हिंदुओंका ही हित चाहती है? दूसरे जो ईसाई और मुसल्मान भाई हैं, क्या उनका हित और सुधार वह नहीं चाहती? यदि चाहती है तो सब भारतवासियोंके लिये एक ही कानून बनाना चाहिये, केवल हिंदुओंके लिये ही क्यों! हिंदू भाई तो इस हिंदूकोडसे अपनी महान् हानि समझते हैं। सरकार इस कोडबिलसे हिंदुओंका उपकार समझती है, किंतु ऐसे उपकारको हिंदू भाई नहीं चाहते।

विधानमें यह घोषणा की गयी है कि किसीके भी धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा, किंतु इस प्रतिज्ञाका पालन ईसाई और मुसल्मानोंके लिये ही किया जाता है, हिंदुओंके लिये नहीं। ईसाई और मुसल्मानोंके धर्मके विषयमें शासनसभामें कोई जरा भी बात नहीं उठायी जाती। इसी प्रकार हिंदुओंपर दया करके हिंदूधर्मके विषयमें भी कोई कानून नहीं बनाना चाहिये। हम सरकारसे सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि हिंदू भाइयोंके हृदयपर आघात न पहुँचाकर उनपर अनुग्रह करते हुए हिंदूकोडबिलके स्वीकृत करनेका विचार त्याग दें।

इस समय भारतवर्षमें प्रान्तीय धारासभाओंके तथा संसद्के लिये चुनाव होनेवाला है। चुनावमें कांग्रेस सरकारको उचित है कि सबके साथ समान व्यवहार करें, कहीं भी पक्षपात न करें। कांग्रेस, हिंदूमहासभा, जनसंघ, रामराज्य-परिषद्, सोशलिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी आदि किसी भी दलका या स्वतन्त्र कोई भी व्यक्ति चुनावके लिये खड़ा हो तो उसके लिये मोटर गाड़ी, पेट्रोल, कागज आदि आवश्यक चीजें सभीको बिना रोक-टोक समानभावसे मिलें—ऐसी सुचारु रूपसे व्यवस्था करनी चाहिये। इस विषयमें किसीपर चंदा देनेके लिये भी दबाव नहीं डालना चाहिये और कोई व्यक्ति किसी दलको स्वेच्छासे चंदा दे या अन्य किसी प्रकारकी मदद करे तो उसमें बाधा भी नहीं डालनी चाहिये।

सभी भारतवासियोंसे हमारी प्रार्थना है कि इसमें वोट उन्हींको देना चाहिये जो निःस्वार्थभावसे मजदूर, किसान, जमींदार, व्यापारी आदि सारी जनताका हित चाहनेवाले हैं। दुखी, अनाथ, गाय, विधवा और सभीके धर्मकी रक्षा करनेवालोंको तो वोट देने-दिलानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। जो ईश्वर और धर्मको नहीं मानते और हिंदू मुसल्मान, ईसाई आदि किसी भी धर्मके विरुद्ध कानून बनानेकी इच्छा रखते हैं तथा गोवधके वर्तमान कानूनको कायम रखना चाहते हैं एवं वनस्पति नकली घीका प्रचार चाहते हैं, जो कि स्वास्थ्य, धर्म और गायोंके लिये महान् घातक और हानिकारक है, ऐसे धर्मविरोधी नास्तिकोंको भयसे, लोभसे, कामसे या लज्जासे कभी वोट नहीं देना चाहिये। क्योंकि इनको वोट देनेसे वोट देनेवालोंको गाय और धर्मकी हानिके पापका भागी होना पड़ता है।

अभय-साधक मन्त्र

अच्युतानन्तगोविन्द इति नामत्रयं हरेः॥
यो जपेत् प्रयतो भक्त्या प्रणवाद्यं नमोऽन्तकम्।
विषभोगाग्निजं तस्य नास्ति मृत्योर्भयं तथा॥

(पद्मपुराण, ब्रह्मखण्ड ९ । ७-८)

जो पुरुष आदिमें प्रणव और अन्तमें नमः लगाकर श्रीहरिके 'अच्युत', 'अनन्त', 'गोविन्द' (ॐअच्युताय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, ॐ गोविन्दाय नमः)—इन तीन नामोंका भक्तिपूर्वक संयत होकर जप करता है, उसे विषभक्षणसे, अग्निसे तथा मृत्युसे भय नहीं रहता।

वर्तमान गणतन्त्र तथा मतदाताओंका कर्तव्य

आधुनिक गणतन्त्रके अनुसार भारतवर्षमें चुनाव होनेवाले हैं । चुनावमें अनेक दलोंके और स्वतन्त्र हजारों उम्मेदवार खड़े हुए हैं और सभी विभिन्न प्रकारसे विजयकी आशा और चेष्टा कर रहे हैं । 'कल्याण'के बहुतसे सम्मान्य और प्रेमी ग्राहकोंने चुनावमें किनको वोट दिये जायँ, इस सम्बन्धमें 'कल्याण' की स्पष्ट सम्मति चाही है । यह सबको मालूम है कि 'कल्याण' का यह विषय नहीं है । संसारमें जीवोंके कर्मानुसार भगवान्के मङ्गल-विधानसे नये-नये परिवर्तन होते रहते हैं और होते रहेंगे । युग-परिवर्तनका चक्र अनवरत चलता ही रहता है । यहाँ सृजन, पालन और संहारके रूपमें जो कुछ भी होता है, सभी भगवान्की मङ्गलमयी लीला है और लीला लीलामयसे सर्वथा अभिन्न है । इसलिये एकमात्र भगवान् ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा लीलायमान हैं । इस प्रकार भगवान्को सब कुछके रूपमें सर्वत्र देखकर जो उनकी एकान्त उपासना करता है, वही भगवान्का ज्ञानी भक्त है और उसीको भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें 'सुदुर्लभ महात्मा' बतलाया है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

'बहुत जन्मोंके पश्चात् अन्तिम जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानीपुरुष सब कुछ वासुदेव ही है—इस भावसे मेरा भजन करता है । ऐसा महात्मा इस संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है ।'

संसारमें जो कुछ हो रहा है, सब सुनिश्चित दैवी विधानके अनुसार हो रहा है । मनुष्य तो मिथ्या अहङ्कार करके ऐसा मान लेता है कि 'अमुक कर्म मैंने किया है । मैं संसारका सुधार करूँगा, उद्धार करूँगा, लोककल्याण करूँगा । मैं न करूँगा तो जगत्की भलाई कैसे होगी । मेरा अमुक 'वाद' या 'सिद्धान्त' ही लोककल्याणकारी है ।'—'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।'

परंतु जैसे नाटकके रङ्गमञ्चपर भिन्न-भिन्न पात्र एक ही नाट्यलीलाकी साङ्गताके लिये एक ही स्वामीके सुख-सम्पादनार्थ स्वामीके आज्ञानुवर्ती नम्र सेवककी भाँति अपने-अपने वेशके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके अभिनय करते हैं, उसी प्रकार अपने-अपने वर्ण, आश्रम और व्यक्ति-धर्मके अनुकूल भगवत्प्राप्तिके लिये भगवान् और शास्त्रके आज्ञानुसार प्रत्येक व्यक्तिको अपने-अपने कर्तव्यका पालन निष्काम बुद्धिसे करना चाहिये । इसी एक व्यापक उत्तरमें इस सम्बन्धमें 'कल्याण' का क्या मत है, इसे समझ लेना चाहिये ।

संक्षेपमें उपर्युक्त उत्तर होनेपर भी लोगोंने जो प्रश्न किये हैं, उनके उत्तरमें कुछ बातें समझानेकी चेष्टा यहाँ की जाती है । सच्ची बात तो यह है कि यह गणतन्त्र-पद्धति ही सर्वथा दूषित है । यह पाश्चात्त्य पद्धति है और रजोगुण-तमोगुणसे सर्वथा अभिभूत है । जहाँ—जिस पद्धतिमें बुद्धि, ज्ञान, अनुभव, विद्या, आचरण, भाव, सद्गुण आदि सबकी उपेक्षा करके 'संख्या'को प्रधानता दी जाती हो, वहाँ परिणाममें उत्तम फल होना सम्भव ही नहीं है । इस पद्धतिके अनुसार अमुक उम्रके ऊपरका प्रत्येक व्यक्ति मत देनेका अधिकार रखता है और ऐसे मतोंकी 'संख्या'पर ही सब कुछ निर्भर करता है । एक भी वोट बढ़ जानेपर, चाहे वह कैसे ही दुराचारी, मूर्ख और सर्वथा अयोग्य व्यक्तिका ही क्यों न हो, सौ-सौ बुद्धिमान्, सदाचारी और अनुभवी पुरुष हार जा सकते हैं ।

इस पद्धतिके अनुसार विभिन्न दलोंके द्वारा अपने-अपने प्रचार और मतसंग्रहमें, तथा सरकारके द्वारा सुचारुरूपसे मतसंग्रहकी समुचित व्यवस्था करनेमें जो धनव्यय होगा, वह भी इतना अधिक है कि किसी भी राष्ट्रको कंगाल बना देनेमें कारण बन सकता है । लोगोंने अनुमान लगाकर यह बतलाया है कि 'इस चुनावमें सरकारी और गैर-सरकारी प्रकट और गुप्त रूपसे जो धन व्यय होगा, वह एक अरब रुपयेसे कहीं अधिक होगा ।' समर्थ दलोंके लोग बहुत पहलेसे धन-संग्रहमें लग गये हैं । विविध उपायोंसे—छलसे, बलसे, डराकर, धमकाकर, लालच देकर, लोभ दिखलाकर, धोखा देकर रुपये इकट्ठे किये जा रहे हैं । कई उम्मेदवारोंने तो विवशतासे अपनी जमीन, खेती, गहना आदि बेचकर भी इस चुनावके जूएमें दाव लगाया है । कानूनी दृष्टिसे जूआ अपराध है, पर यह जूआ तो प्रत्यक्ष और घोषणा करके खेला जा रहा है । देशके कई प्रान्तोंमें भीषण दुर्भिक्ष पड़ गया है, अन्न-वस्त्रके बिना प्राणी त्राहि-त्राहि कर रहे हैं और यहाँ चुनावके लिये पेट्रोल, कागज, छपाई और प्रचारमें करोड़ों खर्च किये जा रहे हैं । यह देशका दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है ?

जितने दल और जितने स्वतन्त्र व्यक्ति खड़े हुए हैं, सभी अपने कल्पित भूत-भविष्यत् पुण्योंकी गाथा गाने लगे हैं। 'हमने अमुक-अमुक प्रकारसे देशकी इतनी बड़ी-बड़ी सेवाएँ कीं और यदि हम चुन लिये गये तो अमुक-अमुक बड़ी-बड़ी सेवाएँ करेंगे।' चारों ओर गर्वपूर्ण बड़े-बड़े शब्दोंमें हर एकके मुँहसे बड़े-बड़े दावे और वादे किये जा रहे हैं; तथा प्रतिपक्षीमें बिना ही हुए भाँति-भाँतिके दोष बताकर उनकी निन्दा की जाती है और उन्हें गिरानेकी चेष्टा हो रही है। जहाँ सदाचारकी दृष्टिसे 'अपने मुँहसे अपनी सच्ची बड़ाई करना भी बड़ा दोष माना गया है और दूसरेकी सच्ची निन्दा भी सर्वथा निन्द्य और त्याज्य बतलायी गयी है; जहाँ अपने मुँह अपनी बड़ाईको 'आत्महत्या' और बड़ोंके मुँहपर उनकी निन्दाको उनकी 'हत्या' करना बतलाया है, वहाँ अपने ही मुँहसे अपनी झूठी बड़ाइयोंके पुल बाँधना और दूसरोंकी, महान्-से-महान् गुरुजनोंकी झूठी निन्दा करना कितना बड़ा अपराध है—इस बातको प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकता है। परंतु यह पद्धति ही ऐसी है कि इसमें समझदार आदमी भी समझ खो बैठते हैं और 'सिद्धान्त' मानकर बुराई कर बैठते हैं। छोटे-मोटे बेजिम्मेवार आदमी कुछ कह भी दें तो इतनी दोषकी बात नहीं; पर जब बड़े-बड़े लोग अपने दलकी उच्चता और दूसरेकी नीचता घोषित करनेके लिये ऐसी बातें कह देते हैं, जो किसी जिम्मेवार पुरुषको नहीं कहनी चाहिये, तब बड़ा विचार होता है और इस पद्धतिकी बुराईका नग्न दृश्य मूर्तिमान् होकर सामने खड़ा हो जाता है! उदाहरणके लिये हमारे देशके अमूल्य निधि और आजन्म देशकी सेवा करनेवाले, समझदार, बड़े अनुभवी और राष्ट्रिय भारत सरकारके प्रधान मन्त्री तथा कांग्रेसके अध्यक्ष महोदय स्वयं अपनी संस्थाकी उच्चता सिद्ध करते हुए दूसरी किसी संस्थाकी बुराई करनेके लिये उसे महात्मा गाँधीजीकी हत्यामें हाथ रखनेवालीतक बता देते हैं और कांग्रेस-चुनाव-प्रचारकी सभाओंमें प्रधान मन्त्रीके अधिकारके बलपर अमुक-अमुक संस्थाओंको कुचल डालनेकी धमकी देते हैं! समाचार-पत्रोंके पढ़नेवाले लोग आदरणीय पं० नेहरूजीके पिछले व्याख्यानोंको पढ़कर इस बातको जान सकते हैं और इस पद्धतिकी बुराईको अच्छी तरह समझ सकते हैं।

वर्तमान गणतन्त्र एक प्रकारसे दलतन्त्र है। जिस दलके व्यक्ति अधिक संख्यामें होंगे, उसीकी सरकार बनेगी। इसलिये अयोग्य-योग्यका ध्यान न रखकर अपने दलकी संख्या बढ़ानेका प्रयत्न ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है। इसीलिये कांग्रेसने श्रीहृदयनारायणजी कुञ्जरू-जैसे निष्पक्ष लोगोंके विरोधमें भी अपने उम्मेदवार खड़े किये हैं और इसीलिये अन्यान्य सब दल भी अपने दलके सदस्योंकी संख्या-वृद्धिके प्रयत्नमें लगे हैं! ऐसे प्रसङ्गमें अपने आदरणीय और प्रिय-से-प्रिय व्यक्तिका भी दलकी दृष्टिसे विरोध करना पड़ता है; परंतु इस विरोधमें जब द्वेष आ जाता है, तब देशके हितकी व्यापक दृष्टि छूट जाती है और व्यक्तिगत वैर बद्धमूल हो जाता है। इस चुनावमें अधिकांशतः ऐसा ही हो रहा है। अभी चुनाव तो आगे है, पर विभिन्न दलोंके उम्मेदवारोंमें और उम्मेदवारोंको लेकर विभिन्न दलोंमें जो राग-द्वेषके कार्य हुए हैं और हो रहे हैं, उनको देखकर बड़ी निराशा होती है।

गणतन्त्रकी पद्धतिसे भी यदि हमारा आदर्श ऐसे गणतन्त्रकी स्थापनाका होता कि जिसमें गंदी साम्प्रदायिकतासे रहित, शोषणहीन, अन्न-वस्त्र, शिक्षा और चिकित्साको सुलभ और सस्ती करनेवाली, सभी धर्मोंके अनुयायियोंको अपने-अपने धर्म-पालनकी स्वतन्त्रता देनेवाली, आर्थिक दृष्टिसे सबका समान रूपसे हित करनेवाली, अपनी संस्कृतिकी रक्षा करते हुए दूसरी संस्कृतियोंका सम्मान करनेवाली लोक-कल्याणकारिणी समाज-व्यवस्थाका निर्माण हो सकता और सब लोग एक दूसरेके प्रति प्रेम करते हुए एक दूसरेकी सेवा करनेको तत्पर रहते तो ऐसा गणराज्य सर्वथा आदरणीय था; पर जिस प्रकार द्वेष और स्वार्थके विष-बीजोंको लेकर यह पौधा लगाया जा रहा है, बड़े होनेपर और फूलने-फलनेपर इसके फल कितने विषमय होंगे—यह विचारनेकी बात है!

इस समय जो लोग किसी दलविशेषको बिना माँगे या इशारा पानेपर प्रचुररूपमें आर्थिक सहायता दे रहे हैं, उनमेंसे कई व्यक्तियोंसे उनके मनकी बात जाननेका लेखकको अवसर मिला है। उनकी बातोंसे पता लगता है कि वे इस समय इस आशासे रुपये दे रहे हैं कि बहुत अंशमें उनको इसी दलकी सरकार बननेकी सम्भावना है और वे चाहते हैं कि इस दलको रुपये देकर पहलेसे हाथमें रक्खेंगे तो आगे चलकर इसकी सरकार बननेपर वर्तमानमें दिये हुए ये रुपये ही व्याजसमेत वसूल नहीं हो जायँगे, बल्कि दूसरा बहुत बड़ा लाभ भी होगा। असलमें यह श्रद्धाभक्तिका दान नहीं है, यद्यपि कहा वैसा ही जाता है। यह वस्तुतः स्वार्थकी भावनासे

किया हुआ 'इन्वेस्टमेंट' है । बुरी भाषामें कहा जाय तो अपना-अपना काम बनानेके लिये पहलेसे दी हुई रिश्वत है । जहाँ किसी कार्यका उद्देश्य भय, स्वार्थ या द्वेषको सामने रखकर बनाया जाता है, वहाँ उसका फल भी वैसा हुआ ही करता है । वह देशको उठानेवाला न होकर निश्चय ही गिरानेवाला होता है ।

जैसे किसी दर्जी, धोबीका काम भी बिना शिक्षा प्राप्त किये और बिना अनुभव किये अच्छे-से-अच्छा डाक्टर या वकील भी नहीं कर सकता, उसी प्रकार शासनका काम और प्रजाको सुख पहुँचानेका कार्य भी हर-एक व्यक्ति नहीं कर सकता । आज कांग्रेस सरकारपर असफलता और देशमें अभाव तथा दुःखके विस्तारका जो आरोप किया जाता है, उसमें भी अन्यान्य कारणोंके साथ एक प्रधान कारण 'अनुभव-हीनता' भी है । जिसने कभी शासनका और राज्य-सञ्चालनका पाठ ही नहीं पढ़ा हो, वह शासक होकर बैठ जायगा तो 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा । टके सेर भाजी टके सेर खाझा ॥' की कहानी चरितार्थ होनेके अतिरिक्त और क्या होगा ! कांग्रेसके साथ ही आज जो दूसरे दल भी कांग्रेसकी भाँति ही बड़े-बड़े वादे कर रहे हैं, यदि उनके भी योग्य पुरुष सरकारमें नहीं रहे तो उनके इन वादोंका भी कोई मूल्य नहीं समझना चाहिये । किसी दलके सुन्दर नाम, उसके चुनाव-घोषणा-पत्र, उसके नारे अथवा उसके प्रचार और व्याख्यानका कोई भी मूल्य नहीं है, जबतक कि उसके पास सुयोग्य पुरुष न हों । अतएव इन सब बातोंको सोच-समझकर यदि निर्णय किया जाय तो यही सिद्ध होता है कि वर्तमानमें इस प्रणालीसे कोई लाभ शायद ही हो । गणतन्त्रके चुनावमें उत्तमता तभी आ सकती है, जब चाहे जो उम्मेदवार न खड़े हों, बल्कि योग्यतम पुरुषोंको चुन-चुनकर उन्हें खड़े होनेके लिये जनता अनुरोध करे । 'अमुक पुरुष अमुक पार्टीका है,' यही उसकी योग्यताका प्रमाण न हो; बल्कि यह प्रमाण हो कि सब मतोंके लोगोंके मनोंमें उसके प्रति आदरका भाव हो और वह निर्विरोध चुन लिया जाय । अभी-अभी जो परचेमें भूल निकालकर किसीका पर्चा रद्द कर दिया गया, इसलिये उसका प्रतिपक्षी चुन लिया गया, इसका नाम 'निर्विरोध' नहीं है । निर्विरोध तो वह है जिसका विरोध कोई न करे और ऐसे ही सर्वमान्य सुयोग्य प्रतिनिधियोंकी बनी हुई सरकार अच्छा शासन कर सकती है; क्योंकि उसके सदस्योंके मनोंमें किसी दल-विशेषका आग्रह और पक्ष नहीं होता ।

परंतु वर्तमानमें जो स्थिति है, उसको देखते, इस प्रकारके प्रतिनिधियोंकी आशा करना व्यर्थ है । अब तो जो खड़े हुए हैं, उन्हींको मत देना है । एक-एक स्थानके लिये जहाँ दस-दस पंद्रह-पंद्रह पुरुष खड़े हुए हैं, वहाँ संघर्ष, शक्ति तथा धनका अपव्यय, द्वेष और वैरकी वृद्धि तथा अन्याय अनिवार्य है । **तथापि यदि मत देनेवाले लोग अपनी समझके अनुसार ऐसे व्यक्तिको वोट दें—जो सत्य-प्रिय, विद्वान्, प्रभावशाली, निष्पक्ष, असद् आग्रहसे रहित, विचारशील, धैर्यवान्, शासनकी योग्यतासे युक्त, धर्मभीरु, ईश्वर तथा परलोकको माननेवाला, किसी भी धर्मपर आक्षेप न करनेवाला तथा सारे प्राणियोंका सुहृद् हो । कम-से-कम उससे चार प्रतिज्ञा तो अवश्य करवा लेनी चाहिये—**

१. हिंदू-कोड जैसे किसी भी धर्मविरोधी बिलका, चाहे वह किसी भी धर्मपर आघात करनेवाला हो, सक्रिय विरोध करेंगे ।

२. गो-वधको कतई बंद करवानेका कानून बनानेके लिये सच्चे मनसे प्रयत्नशील होंगे ।

३. अन्न-वस्त्र, शिक्षा और चिकित्साको सदा सुलभ और सस्ती बनानेका प्रयत्न करेंगे ।

४. अपने व्यक्तिगत अथवा दलगत स्वार्थकी सिद्धि या किसी प्रकार आर्थिक लाभके लिये कभी कोई अनुचित प्रयत्न नहीं करेंगे ।

ऐसे पुरुषोंको मत देनेसे, वे चाहे किसी दलके हों, वे समाजके लिये लाभदायक ही सिद्ध होंगे और यदि इस प्रकारके चुने हुए लोगोंकी सरकार बन गयी तो वह देशके लिये कल्याणकारिणी होगी । 'कल्याण'का संक्षेपमें भिन्न-भिन्न प्रश्नकर्ताओंके प्रति उत्तरमें यही नम्र निवेदन है ।

* * *

वोट किसको दें ?

आगामी चुनावको लेकर मेरे पास ढेर-के-ढेर पत्र आये हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारसे विभिन्न सज्जनोंने कई प्रकारकी बातें पूछी हैं—किस संस्थाके सम्बन्धमें मेरा क्या मत है, किसे मत देना चाहिये आदि विषयोंमें मेरा मत जानना चाहा है। यह प्रायः सभी जानते हैं कि राजनीतिके साथ मेरा इस समय वर्षोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, न मैं किसी भी राजनीतिक संस्थाका सदस्य हूँ। न मेरा किसीके साथ कोई द्वेष है और भगवान्से यही प्रार्थना करता हूँ—किसीके प्रति मनमें द्वेष-दुर्भावना कभी उत्पन्न ही न हो।

इस सम्बन्धमें मैं कुछ भी न तो कहना चाहता था, न प्रकाशित करना, परंतु प्रथम तो शरीरकी विशेष अस्वस्थताके कारण इतने पत्रोंका अलग-अलग उत्तर लिखना बहुत कठिन जान पड़ा और दूसरे सम्मान्य मित्रों और गुरुजनोंका प्रेमपूर्ण आग्रह रहा, इसलिये कुछ लिखनेको बाध्य होना पड़ रहा है। वस्तुतः किसी भी दलविशेषके साथ मेरा व्यक्तिगत कोई राग-द्वेष नहीं है।

कांग्रेसमें, समाजवादीदलमें और किसान-मजदूरदलमें तथा कांग्रेसकी केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारोंमें एवं संसद् तथा धारा-सभाओंके सदस्योंमें बहुत-से मेरे सम्मान्य मित्र हैं, जिनके साथ मेरा पुराना प्रेम है और आगे भी वह बना ही रहेगा, ऐसा विश्वास है। इस अवस्थामें यहाँ जो कुछ मत मैं व्यक्त कर रहा हूँ, किसीके लिये भी दलगत या व्यक्तिगत आक्षेपकी दृष्टिसे नहीं है।

मेरा यह मत है कि जो लोग कांग्रेसके उद्देश्यमें और उसके कार्योंमें विश्वास रखते हैं और उन्हींसे देशका मङ्गल समझते हैं, वे कांग्रेसके उम्मेदवारोंको मत दें। इसी प्रकार समाजवादी और अन्यान्य दलोंके उम्मेदवारोंको उन-उन दलोंके उद्देश्यों और कार्योंमें विश्वास रखनेवाले सज्जन उनको अपना मत प्रदान करें। पर प्रश्न करनेवालोंमें अधिकांश पुरुष जिन विचारोंमें विश्वास रखनेवाले हैं, उनकी दृष्टिसे कुछ बातें ऐसी हैं, जिनको लेकर विचारपूर्वक मत देना कर्तव्य हो जाता है।—जैसे (१) गो-वधको कतई बंद करनेवाला कानून बनना चाहिये; (२) हिंदूकोड-बिल, अथवा ऐसे ही अन्यान्य कानून कभी नहीं बनने चाहिये। (३) भारतकी प्राचीन शिक्षा और संस्कृतिकी रक्षा होनी चाहिये और (४) भारतका विभाजन महान् हानिकर सिद्ध हुआ है तथा यह कुछ लोगोंकी भूलका परिणाम है। अतः भारत पुनः अखण्ड होना चाहिये।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मैं यह नहीं मानता कि कांग्रेस अथवा वैसी ही अन्यान्य संस्थाओंमें इन चारों विषयोंमें यही मत रखनेवाले पुरुष नहीं हैं। मैं ऐसे बहुत-से मित्रोंको जानता हूँ जो भारतके विभाजनको अभिशाप मानते तथा भारतकी अखण्डतामें विश्वास करते हैं। हिंदूकोड-बिल-जैसे बिलोंको अत्यन्त हानिकर मानते हैं और कांग्रेसके सदस्य रहकर भी जिन्होंने हर तरहसे इस बिलका विरोध किया था और कानूनद्वारा गो-वध कतई बंद किये जानेके लिये भी जिन्होंने भरसक चेष्टा की थी और जो प्राचीन भारतीय संस्कृतिके भी बड़े प्रेमी तथा भक्त हैं; परंतु जहाँ दलगत प्रश्न आ जाता है, वहाँ व्यक्तिगत मतका महत्त्व नहीं रह जाता। आदरणीय श्रीनेहरूजीने कांग्रेसके अध्यक्ष-पदसे अपने भाषणमें यह कहा था कि 'यदि कांग्रेस सरकार बनी तो वह हिंदूकोडको अवश्य लायेगी।' इसका वहाँ किसी सदस्यने विरोध नहीं किया। इससे यह माना जाता है कि हिंदूकोड-बिल अब कांग्रेसदलकी चीज हो गयी है। ऐसी अवस्थामें हिंदूकोडके विरोधी कांग्रेसी सदस्यको इच्छा न रहते हुए भी अपने मतके विरुद्ध या तो कांग्रेसके पक्षमें वोट देना पड़ेगा या कांग्रेससे अलग हो जाना पड़ेगा। इसी प्रकारकी बात गो-वध-बंदीके सम्बन्धमें आ सकती है। ऐसी अवस्थामें कांग्रेसके उम्मेदवारोंके प्रति और श्रीनेहरूजीके प्रति व्यक्तिगत श्रद्धा और आदर रखते हुए भी उन्हें वोट न देकर उन लोगोंको वोट देना कर्तव्य हो जाता है, जो इन विषयोंके लिये पक्का आश्वासन दे सकते हों और जिनका दल भी इनके अनुकूल मत रखता हो। इसीलिये जो सर्वथा गो-वध-बंदीका कानून चाहते हों और हिंदूकोड-बिल आदि-जैसे कानूनोंके विरोधी हों तथा अखण्ड भारतमें विश्वास रखते हों, उनको 'राम-राज्य-परिषद्'के उम्मेदवारोंको मत देना चाहिये; क्योंकि इन सभी बातोंमें राम-राज्य-परिषद्के साथ उनका मत मिलता है। जहाँ 'राम-राज्य-परिषद्' के उम्मेदवार न हों वहाँ 'हिंदू-महासभा' और 'जनसंघ'के उम्मेदवारोंको वोट देना चाहिये। इन संस्थाओंका वर्णाश्रम आदिमें पूरा विश्वास न होनेपर भी ये हिंदुत्वकी दृष्टिसे उपयोगी तथा उपर्युक्त चारों बातोंमें अपेक्षाकृत अधिक विश्वास रखनेवाली हैं। परंतु इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि कांग्रेसके उम्मेदवारोंका

यह विरोध सिद्धान्तको लेकर है, व्यक्तिको लेकर नहीं; संस्थाको लेकर भी नहीं। किसी भी सद्भावयुक्त पुरुषको सदा यही प्रयत्न करना चाहिये कि 'मानवकी मानवताका विकास हो और उससे केवल मानव ही नहीं, जगत्के सारे प्राणियोंको सुख-शान्ति प्राप्त हो। जिससे मानव दानव बन जाय और वह किसी सिद्धान्त, धर्म, नीति या संस्थाके नामको लेकर मानवताकी हत्या करने लगे तो उससे समाजका कभी मङ्गल नहीं हो सकता। सिद्धान्तके नाते कहीं परस्पर विरोध भी करना पड़े तो वह दोषकी बात नहीं, परंतु वहाँ व्यक्तिगत द्वेष न होकर प्रेम बना रहना चाहिये। मत-विरोध होनेपर भी जो प्रेम बना रहता है, वही तो सच्चा प्रेम है। जहाँ मतके साथ-साथ मनका भाव बदल जाता है, प्रेम शत्रुतामें परिणत हो जाता है, मित्रको वैरी मानकर मनुष्य उसे मारनेपर उतारू हो जाता है, वहाँ तो स्पष्ट ही आसुरी भाव है। और आसुरी भावका फल कदापि सुख-शान्ति और यथार्थ उन्नति नहीं हो सकता।

मत-दाताओंको प्रत्येक उम्मेदवारमें इसी अङ्कमें 'वर्तमान गणतन्त्र तथा मतदाताओंके कर्तव्य' शीर्षक अन्यत्र प्रकाशित लेखमें आयी हुई 'सत्यप्रियता' आदि योग्यता अवश्य देख लेनी चाहिये और उनसे उक्त लेखमें लिखित चारों प्रतिज्ञाएँ अवश्य करवा लेनी चाहिये। अपने मतका अत्यन्त निकृष्ट और सदाचारहीन व्यक्ति भी चुनावकी लड़ाईमें विजयी हो और परपक्षका अत्यन्त योग्य पुरुष भी हार जाय, ऐसी मनोवृत्ति भी वास्तवमें कल्याणकारी नहीं है।

वर्णाश्रम-धर्मको माननेवाली हिंदूकोडका अत्यन्त विरोध करनेवाली सनातनधर्मी जनताके प्रति एक विशेष निवेदन है, वह यह कि इस बार कुछ ऐसे विशिष्ट लोग भी खड़े हो गये हैं, जो परम आदरणीय वयोवृद्ध, विद्वान् और सनातनधर्मके सम्मान्य व्यक्ति हैं। जैसे महामहोपाध्याय पं० गिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी, प्रख्यात संत श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, पं० श्रीदेवनायकाचार्यजी और पं० श्रीमाधवाचार्यजी आदि। ये लोग धर्मके आग्रहसे ही खड़े हुए हैं। अतएव धर्ममें जरा भी श्रद्धा रखनेवालोंका यह कर्तव्य हो जाता है कि अपनी ओरसे तन, मन, धनसे इन लोगोंके विजयी होनेमें सहायता करें। इस कार्यमें इनकी सेवा करना धर्मकी महती सेवा है। ऐसे लोग यदि सहायताके अभावमें असफल हो जाते हैं, तो वह सनातनधर्मियोंके लिये बड़े कलङ्ककी बात है।

श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महोदय तो केवल हिंदूकोड-बिलको लेकर ही खड़े हुए हैं, इसलिये हिंदूकोड-बिलका विरोध करनेवाले और उसे हानिकर समझनेवाले लोगोंको विशेषरूपसे ब्रह्मचारीजीकी सहायता करनी चाहिये। श्रीब्रह्मचारीजीका श्रीनेहरूजीसे व्यक्तिगत कोई विरोध नहीं है और न हमारा ही कोई विरोध है। ब्रह्मचारीजी तो यह कह चुके हैं कि 'नेहरूजी यदि हिंदूकोड-बिलका आग्रह छोड़ देंगे, तो वे बैठ जायँगे।' श्रीनेहरूजी-जैसे हठीले और स्पष्टवादी पुरुष अपने मतके विरुद्ध कोई बात कह देंगे, यह उनसे कदापि आशा नहीं रखनी चाहिये और उन-सरीखे पुरुषके लिये इसीमें उनका गौरव भी है। परंतु वे जहाँ हठीले हैं, वहाँ बड़े बुद्धिमान् भी हैं। जैसे हिंदूकोड-बिलको सरकारी बिल घोषित करके भी समय आनेपर उन्होंने श्रीअम्बेदकर महोदयसे उसे वापिस ले लेनेके लिये कह दिया, वैसे ही यदि उनकी समझमें आ जाय कि यह बिल असङ्गत और हानिकारक है तो आश्चर्य नहीं कि वे इस बिलका आग्रह छोड़ देनेकी घोषणा कर दें और ब्रह्मचारीजी महाराजको बैठ जानेका विचार करना पड़े। परंतु ब्रह्मचारीजी महाराजको भी खूब सावधान अवश्य रहना चाहिये। श्रीनेहरूजीके द्वारा बिना किसी लिखित स्पष्ट घोषणाके किसी बीचके पुरुषके कहनेको मानकर ही बैठनेका विचार वे न कर लें।

यहीं एक बात यह भी ध्यान रखनेकी है कि श्रीअम्बेदकर महोदय 'हिंदूकोड-बिल'को ही प्रधानरूपसे लेकर खड़े हुए हैं। अतएव उस क्षेत्रके मतदाताओंको उनका पूरा विरोध करके यह दिखा देना चाहिये कि वहाँकी जनता 'हिंदू-कोड' जैसे कानूनको नहीं चाहती।

यहाँ किसी प्रसङ्गमें अपने धनी बन्धुओंसे भी दो शब्द निवेदन करने हैं। धनी समाजकी जैसी इस समय चाल है उससे एक विशेष प्रकारकी स्थितिका निर्माण हो रहा है, वह यह कि बड़े धनियोंका सम्बन्ध समाजके साथ मानो कट-सा रहा है और उनकी छोटी-सी अलग मानो एक जाति बनती जा रही है। परिणामतः उनके प्रति समाजके प्रायः अधिकांश विभिन्न विचारधाराके समूहोंमें एक अरुचि, परायापन अथवा द्वेषकी-सी भावना बढ़ रही है। धनी लोगोंको अपने व्यापारिक और व्यक्तिगत कार्योंमें इतने फँसे रहना पड़ता है कि उनमेंसे अधिकांशको इस तरफ सोचनेके लिये अवकाश ही प्रायः नहीं मिलता है, परंतु उनमें भी जो लोग कुछ समय निकालकर जगत्की वर्तमान मनोवृत्तिकी ओर देखते हैं, वे जानते हैं कि वे इस समय जिस धरातलपर हैं, वह चाहे जब उनके पैरोंके नीचेसे खिसक जा सकता है। इसीलिये सुना जाता है कि कुछ बुद्धिमान् लोग अपने धनको सुरक्षित स्थानोंमें स्थानान्तरित करनेके प्रयत्नमें लगे हैं, परंतु उन्हें सोचना चाहिये कि भारतवर्षमें यदि

धार्मिक वृत्तिका ह्रास हो गया, धर्मवृत्तिके प्रबल विरोधको प्रोत्साहन देनेवाली सरकार बनी और उससे उत्साहित एवं पोषित होकर धर्मविरोधी प्रचार, साहित्य, शिक्षण-संस्था और विरोधी सभ्यताका विस्तार बढ़ता रहा तो बहुत शीघ्र ऐसा समय आ सकता है, जिसमें धनवानोंको विशेषरूपसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा । इसके प्रतिकूल यदि किसी भी प्रकारसे धार्मिक वृत्तिकी रक्षा हो जाय, धर्मका सच्चा भाव देशभरमें फैल जाय, आध्यात्मिकता और सच्ची धार्मिकताके प्रचारसे अधार्मिक-वृत्तिका प्रवाह रुक जाय और राज्यसत्ताके द्वारा परिपुष्ट होकर विशुद्ध आध्यात्मिक और धार्मिक साहित्यका सृजन और विस्तार होने लगे तो भारतवर्ष ही नहीं, जगत्के समस्त दूषित संहारात्मक वायुमण्डलमें भी परिवर्तन हो सकता है । जगत्में यदि कभी सुख-शान्ति होगी तो आर्थिक स्थितिको लेकर नहीं होगी, आध्यात्मिक स्थितिको लेकर होगी । आत्मिक समता ही वास्तविक समत्व है और जगत्में उसीके प्रचारकी आवश्यकता है । उसके बिना आर्थिक समत्व भी आ नहीं सकता और यदि जबर्दस्ती लाया जाय तो वह टिक नहीं सकता ।

इसलिये धनियोंका कर्तव्य हो जाता है कि वे आज जिस आशा और लोभसे अपने धनको, जिनके हाथों सौंपकर उससे बड़ा लाभ प्राप्त करनेकी सम्भावना कर रहे हैं एवं प्रमाद तथा विलास-वैभवके भ्रममें पड़कर समाजके अधिक भागके साथ अज्ञानपूर्ण उपेक्षाबुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद करके उनकी सहानुभूति खो रहे हैं, इस दोनों दिशाओंसे तुरंत मुड़ जायँ और गरीब, अर्थहीन, अभावग्रस्त बन्धुओंको अपने ही समान मानकर, अपनी ही आत्मा जानकर अपने सुख-वैभवको उनके अधिकारकी वस्तु मानकर निरभिमानताके साथ सम्पत्तिका उनमें यथायोग्य वितरण करें तथा फलतः उनकी सहानुभूति और प्रीति अर्जन करें; और जिन संस्थाओंमें या जिन संस्थाओंके द्वारा सच्चे धार्मिक और आध्यात्मिक विकासकी सम्भावना हो, उन्हें प्रचुरमात्रामें सहायता दें; जिससे बहुत शीघ्र विपत्ति टल सके, भगवान्का आशीर्वाद प्राप्त हो सके और धर्मकी रक्षाके द्वारा उनकी अपनी और देशकी भी रक्षा हो सके ।

इतना सब लिखनेके उपरान्त मैं पुनः इस बातको दुहरा देना चाहता हूँ कि किसी भी व्यक्ति और दलविशेषके प्रति मेरे मनमें कोई दुर्भाव नहीं है, मैं हृदयसे सबका भला चाहता हूँ । यों तो भगवान्के नाते प्राणिमात्र मेरे पूज्य और आत्माके नाते सब मेरे स्वरूप ही हैं; परंतु परिचित मित्र, आदरणीय बन्धु और सम्मान्य गुरुजनोंके नाते जो मेरे सदासे श्रद्धेय हैं, वे सदा वैसे ही रहेंगे, चाहे वे किसी दलके हों, किसी मतके हों, किसी संस्थाके हों । मैं अपने इस वक्तव्यके लिये सबसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहता हूँ । यह मेरा व्यक्तिगत मत है, 'कल्याण' से और उसकी नीतिसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

'सब सुखी हों, सभी तन-मनसे नीरोग हों, सभी कल्याणको देखें—प्राप्त करें, दुःखका भाग किसीको भी न मिले ।'

हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * *

भू-दान गीत*

(रचयिता—श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त)

जग, जगतीके जाये ! जब नरके नारायण आये ॥
हिल-मिल भूमि भोगनेका ही साधु सँदेसा लाये ।
स्वयं साधु नारायणके नर, अब उनका संदेश वहन कर,
आये उसे सुनाने घर घर, सुकृती जो सुन पाये ।
जब नरके नारायण आये ॥
सचमुच भाग्यहीन थे कौरव, समझ न पाये उसका गौरव,
उतरा घरमें ही रण-रौरव, अघी अन्त पछताये ।
जब नरके नारायण आये ॥

हाय ! सुईके अग्रभाग भर, भूमि न देते थे जो तस्कर,
छोड़ गये सबकी सब मरकर, माने नहीं मनाये !
जब नरके नारायण आये ॥

अल्प अंश भी पाते भाई, तो तब होती नहीं लड़ाई ।
अब फिर वही दशा यह आई, जग जगतीके जाये !
जब नरके नारायण आये ॥

---

* पूज्य श्रीबिनोवाजीके 'भू-दान-यज्ञ'के सम्बन्धमें ।

भक्त-गाथा

भक्त श्रीघाटमजी मीना

श्रीघाटमजी थे तो भगवान्के भक्त; किंतु चोरी और बटमारी इनका पेशा था। ये जयपुर राज्यके खोड़ी (घोड़ी) नामक गाँवमें मीना जातिमें उत्पन्न हुए थे। बालूकी रेतमें तेल कहाँ ? इसी प्रकार चौरकर्म करनेवालेके मनमें करुणामय स्वामीकी भक्ति कैसे उत्पन्न हो ? किंतु श्रीघाटमजी पूर्वजन्मके तपस्वी थे। भगवत्प्राप्तिके लिये भजनमें तल्लीन रहते थे। एक दिन उनके मनमें आया 'मनुष्य-जीवनका उद्देश्य क्या है ? मनुष्य एवं पशु-पक्षीमें क्या अन्तर है ? आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि मनुष्य और पशु-पक्षी दोनोंमें ही तो है। मनुष्य मोहनभोगका भोजनकर जिस प्रसन्नता और तृप्तिका अनुभव करता है, शूकर उसी प्रसन्नता और उसी तृप्तिका अनुभव विष्ठा-भोजनमें करता है। फिर मुझमें और उस शूकरमें अन्तर ही क्या है? मुझे बुद्धि किसलिये मिली है। दुर्लभ मस्तिष्कका उपयोग ही मेरे लिये क्या है ?' विचारकी ऊहापोहमें श्रीघाटमजी आकुल हो गये। उनका हृदय धड़कने लगा। डाकूकी आँखें अश्रुसिक्त हो जायँ, कल्पना नहीं होती इसकी।

श्रीघाटमजी अधीर हो रहे थे। वे समीपके एक संतके पास पहुँचे। संत सरल और भगवद्भक्तिनिरत थे। घाटमजी उक्त संतके चरणोंपर गिर पड़े और अबोध शिशुकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। संतके युगलचरण घाटमजीकी अश्रुधारसे भींग गये, किंतु उनके नेत्र भी शुष्क नहीं रह सके। जयपुर राज्यका एक चोर निश्छल और निर्भ्रान्त मनसे उनके चरणोंपर आत्मनिवेदन कर रहा था। उसके कृत्य शतशः अश्रुबिन्दुओंमें बाहर बिखर-बिखर उसे निर्मल और पावन बना रहे थे।

'उठो घाटम !' संतने अपना नेत्र पोंछ लिया था। घाटम चरणोंसे चुम्बककी भाँति चिपक गये थे।

'उठ भैया !' संतने अत्यन्त प्रेमपरिप्लुत शब्दोंमें कहा 'तू क्यों रो रहा है ! तू बड़ा भाग्यवान् है।'

'बाबा !' घाटमजीकी हिचकी बँध गयी 'मैं बड़ा अधम हूँ। मेरा क्या होगा ?'

'परम कल्याण होगा।' संतने आश्वस्त किया 'तू चोरी छोड़ दे, तेरा मङ्गल होगा। तू भगवान्का प्रीतिपात्र बन जायगा।'

'पर यह सम्भव नहीं बाबा।' घाटमजीने मनकी बात स्पष्ट कर दी 'चोरी तो मेरी आजीविका है और स्वभावगत होनेके कारण मैं उसके बिना रह भी नहीं सकता।'

संत चुप हो गये। कुछ ही क्षणों बाद उन्होंने कहा—'अच्छा तू मेरी दो बात मान जा, तो भगवान्की कृपाप्राप्ति कर लेगा।'

'बताइये बाबा !' घाटमजीने उत्सुकतासे सोत्साह कहा—'मैं शरीरमें रक्तकी अन्तिम बूँदके रहते आपकी आज्ञाके विपरीत आचरण नहीं करूँगा।'

'अच्छा, तो तुझे दोनों बातें बता देता हूँ' संतने कहा। 'अपने जीवनमें इन दो नियमोंका पालन अवश्य करना। एक तो सदा सत्य बोलना और दूसरे भगवान्की जहाँ आरती हो, उसमें अवश्य सम्मिलित होना।'

'आपके दोनों नियम पत्थरकी रेखकी भाँति मेरे हृदयपर अङ्कित हो गये।' घाटमजीने संतचरण पकड़कर अत्यन्त विनीत वाणीमें कहा—'आप मेरे गुरु हुए और ये दोनों गुरुमन्त्र मेरे जीवनके कण-कणमें समाये रहेंगे। आप आशिष दें।'

'भगवान् तेरे साथ पानीकी मछलीकी भाँति लगे हैं' संतने उत्तरमें कहा 'तू चिन्ता न कर, वे मङ्गलमय भगवान् तेरा मङ्गल ही करेंगे। कल्याण करना ही उनका स्वभाव है घाटम !'

घाटमजी गुरु-चरणरज नेत्र और माथेपर लगाकर लौट आये और गुरुके बताये दो नियमोंका पालन करने लग गये। सत्य बोलना उनका धर्म हो गया। मिथ्याभाषण उनके जीवनसे सदाके लिये विदा हो गया। वे निश्छल मनके थे।

सत्यकी रक्षामें कुछ कठिनाई तो अवश्य पड़ती है, पर जिन्हें अपने जागतिक स्वार्थ धर्मके सम्मुख तुच्छ और हेय प्रतीत होते हैं, वे उन कठिनाइयोंकी चिन्ता क्यों करने लगे। इसी प्रकार घाटमजीको सत्यभाषणके कारण कठिनाई आती, पर उन्हें उसकी चिन्ता नहीं होती। सत्य तो उनका प्राणाधार हो गया था। कई बार उनके पास भोजनतकके लिये भी कुछ नहीं रह जाता, पर इसका उनके मनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सदा निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त रहते।

एक बारकी बात है । घाटमजीके गुरुजीके यहाँ भगवदुत्सव था । उन्होंने घाटमजीको बुलाया । स्थान दूर था, समय बहुत कम । घाटमजीके पास कोई सवारी थी नहीं । गुरुजीके यहाँ उत्सवमें किस प्रकार पहुँचा जाय, वे चिन्तित हो गये । अन्तमें उन्होंने राजाकी घुड़सालसे घोड़ा चुरानेका निश्चय किया ।

घाटमजी घुड़सालमें प्रवेश करने लगे तो द्वारपालोंने पूछा—'तुम कौन हो और कहाँ जा रहे हो !'

'मेरा नाम घाटम है' उन्होंने स्पष्ट कह दिया 'मैं चोर हूँ और घोड़ा चोरी करने जा रहा हूँ ।'

द्वारपाल इस उत्तरसे मुस्कराकर रह गये । 'यह विनोदमें अपनेको चोर कह रहा है—इस विचारसे द्वारपाल मौन हो गये और घाटमजी आगे बढ़ गये ।

आप सीधे घोड़ोंके पास जाकर वहाँसे सबसे सुन्दर और बढ़िया काले रंगका घोड़ा खोलकर उसपर सवार हो गये । उन्हें इस प्रकार घोड़ेपर सवार हो जाते देख अश्वरक्षकोंने पूछा 'अरे ! तुम कौन हो ? और घोड़ा कहाँ लिये जा रहे हो ?'

'मैं चोर हूँ ।' घाटमजीने साफ कह दिया 'घोड़ा चुराने आया था और सर्वोत्तम घोड़ा लिये जा रहा हूँ ।'

सिपाहियोंको विश्वास नहीं हुआ । चोरमें ऐसा साहस कहाँ कि चोरीकी बात पहरेदारोंके सामने कह दे ।

घोड़ेको एड़ लगी और वह घाटमजीको लिये द्रुतगतिसे उड़ चला । घाटमजीको गुरुजीके आश्रमपर पहुँचनेकी शीघ्रता थी; किंतु घोड़ेके दौड़ते रहनेपर भी पथमें सन्ध्या हो गयी और घाटमजीके कानोंमें घण्टा और शङ्खकी ध्वनि पड़ी । किसी मन्दिरमें आरती हो रही थी । उन्होंने अत्यधिक वेगसे उसी दिशाकी ओर घोड़ा फेंका और मन्दिर-द्वारपर पहुँच गये । घोड़ेको बाहर पेड़में बाँधकर वे मन्दिरमें भगवद्दर्शन करने चले ।

भगवान्की घृतदीपोंसे आरती हो रही थी । घाटमजी उनकी छवि एकटक देख रहे थे । आरती समाप्त होनेपर उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया और चरणामृत लेकर बाहर आये । वहाँ देखा तो राजाके चार-छः सिपाही घोड़ेके पास हताश और उदास खड़े थे । वे, पीछेसे सन्देह होनेपर घोड़ेके पैरोंके निशान देख-देखकर यहाँतक आ गये थे ।

वे उदास इसलिये थे कि घोड़ा वही, पैरोंके निशान घुड़शालासे लेकर यहाँतक बराबर ठीक मिलते हैं, पर घोड़ेका रंग सफेद कैसे हो गया ।

इतनेमें ही घाटमजीको देखकर उन्होंने पहचान लिया और कहा 'भाई ! हम बड़े संकोचके साथ तुमसे पूछ रहे हैं कि अभी-अभी तुम्हीं काले घोड़ेपर सवार होकर घुड़शालासे आये थे पर इस घोड़ेका रंग सफेद कैसे हो गया । क्या हम पहचानमें भूल कर रहे हैं ? कृपा करके बताओ ।'

यह सब देख-सुनकर घाटमजीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली । भगवान्की भृत्यवत्सलताका अनुभव करके वे मन-ही-मन कृतार्थ हो गये । मुझ-जैसे अधम चोरके लिये भगवान्ने घोड़ेका रंग बदल दिया । वे सच्चे भक्तके लिये क्या नहीं करते । घाटमजीने बड़ी नम्रताके साथ गद्गद वाणीमें सिपाहियोंसे कहा—'भाइयो ! तुम्हारी पहचानमें कोई भूल नहीं है । मैं वही चोर हूँ और घोड़ा भी वही है । भगवान्की विचित्र लीला है, उन्होंने मुझे बचानेके लिये इसका रंग बदल दिया । पर मुझको इसे बेचना तो है नहीं, मुझे तो समयपर गुरुजीकी सेवामें पहुँचना है । आपलोगोंमेंसे सब या एक-दो सिपाही मेरे साथ चलें । मैं गुरुजीके उत्सवमें शामिल होकर आपलोगोंके साथ ही लौट आऊँगा और महाराजके सामने जाकर अपना अपराध स्वीकार करूँगा और घोड़ा लौटा दूँगा ।'

घाटमजीकी सत्यप्रियता और उनपर भगवान्की कृपाको देखकर सिपाहियोंके हृदयपर बड़ा प्रभाव पड़ा । वे उनके साथ गुरुजीके उत्सवमें गये, उत्सवका सात्त्विक आनन्द लूटकर, घाटमजीको साथ लेकर राजधानीमें लौट आये ।

राजाके पास पहुँचकर घाटमने सच-सच सारी बातें कह दीं । बड़ा प्रभाव पड़ा राजापर । उन्होंने कहा—'घाटमजी आप चोर नहीं, आप तो महान् भक्त हैं । मैं प्रार्थना करता हूँ, आप मुझसे कुछ गाँव ले लें और चोरीके पेशेको छोड़ दें ।' घाटमजीको भगवान्ने सद्बुद्धि दी । उनका भक्तहृदय था ही; उन्होंने चोरीका परित्याग कर दिया ।

राजा उनके चरणोंमें नत हो गये और उन्होंने अपनेको धन्य माना । गुरुजीके बताये हुए नियमोंका पालन करनेसे घाटमजी जन्म-जात चोरसे भक्तराज बन गये !

कामके पत्र

(१)

पुत्रशोकसे तरनेका उपाय

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र प्राप्त हुआ था। आपके सुशील एवं आज्ञाकारी तरुण पुत्रकी मोटर-दुर्घटनासे मृत्यु हो गयी, यह समाचार वस्तुतः बड़ा ही दुःखद है। इस प्रकारके एकमात्र सुयोग्य पुत्रकी आकस्मिक मृत्युसे माता-पिताको मार्मिक पीड़ा होनी स्वाभाविक ही है। आपके कष्टका अनुभव दूसरा कोई नहीं कर सकता। भगवान् आप दोनोंको धैर्य, बोध तथा आपके स्वर्गीय पुत्रको शान्ति प्रदान करें। संसार संयोग-वियोगशील है। जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि तथा भाँति-भाँतिके अभावोंका दुःख ही इस संसारका स्वरूप है। भगवान्ने गीतामें इसीलिये इसे 'दुःखालय' और 'अनित्य' कहा है। संसारके इस दुःखमय स्वरूपको अच्छी तरह समझ लेनेके बाद तो दुःख नहीं होता; क्योंकि वस्तुमात्र ही मृत्युको साथ लेकर उत्पन्न होती है। दूसरी दृष्टिसे संसारकी प्रत्येक वस्तु परमात्माकी धरोहर है। वे जब चाहें तब अपनी चीजको वापस ले सकते हैं। हमें दुःख इसीलिये होता है कि हम परमात्माकी उस वस्तुको अपनी मानकर उसमें ममता और आसक्ति कर बैठते हैं। जिस भगवान्ने आपको पुत्र दिया था, उसीने ले लिया। भगवान् जीवमात्रके परम सुहृद् और सच्चे सम्बन्धी हैं। आपके और हमारे सबके सच्चे मित्र और आत्मीय भी वही हैं। हमें संसारके पदार्थोंसे प्रीति और ममत्वको हटाकर अपने नित्य परमधनस्वरूप भगवान्में प्रीति और ममत्व करना चाहिये। भगवान् जबतक इस लोकमें रक्खें, प्रेमपूर्वक उनका भजन-चिन्तन करते हुए उनकी दी हुई प्रत्येक सेवाको निष्काम भावसे करते रहना चाहिये और प्रतिक्षण उनके समीप जानेके लिये और उनकी आज्ञाका सहर्ष पालन करनेके लिये तैयार रहना चाहिये। 'भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्के। वे अब भी हमसे अलग नहीं हैं, मरनेके बाद भी हमसे अलग नहीं होंगे और हम कभी उनके प्रेमसे वंचित नहीं होंगे।' यह निश्चय रखना चाहिये।

शान्ति प्राप्त करनेका उपाय तो बस, इन भगवान्का स्मरण ही है। आपका सुपुत्र अपने सद्गुणोंके कारण सबका प्रिय था, इसलिये उसका अभाव सभीके लिये दुःखदायी है, परंतु सद्गुणोंसे प्रेम करनेवाले भगवान् आपके उस पुत्रपर, चाहे वह कहीं भी हो, स्नेह करते ही रहेंगे। आपको चाहिये कि उसकी सद्गतिके लिये भगवान्के नामका जप, गीताका पारायण, विधिवत् श्राद्धादि कर्म करावें। आपके अब एक लड़की है और वह भी कुछ वर्षोंके बाद ससुराल चली जायगी, सो ठीक ही है, पर आप यदि उस लड़कीको ही लड़का मान लें और उसीको अपने वंशकी चलानेवाली समझ लें तो आपके मनका समाधान हो सकता है। दूसरी बात यह है कि वंश चलनेकी इच्छा भी वास्तवमें मोहका ही परिणाम है। हम न मालूम पहले किस-किस जीवनमें कहाँ-कहाँ थे, वहाँ पता नहीं, हमारा वंश कितनी जगह चल रहा होगा, एक जन्ममें किसी जगह नहीं चला तो कोई खास हानिकी बात नहीं है। मनुष्य-जीवनका असली उद्देश्य तो है— 'भगवान्का भजन करके उन्हें प्राप्त कर लेना।' आपको अब भगवान्में ही मन लगाना चाहिये। इस उम्रमें विवाह करनेकी तो बात भी सोचना सर्वथा अनुचित मालूम होता है। जीवनका कोई ठिकाना नहीं, कब इसका अन्त आ जाय, इसलिये मनुष्यका परम कर्तव्य जीवन रहते-रहते भगवान्को प्राप्त कर लेना ही है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

प्रेम तथा बुद्धिमानीसे काम लें

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके विधुर बड़े भाई चरित्रभ्रष्ट हो गये हैं और अपने लड़केको भी डाँटते-डपटते हैं तथा उक्त स्त्रीके कहनेसे घरकी बरबादी कर रहे हैं, यह काण्ड वास्तवमें अनुचित है। इस समय आपका और उनके पुत्रका कर्तव्य है कि वे बड़ी बुद्धिमानीके साथ घरकी रक्षा करें। लड़ाई-झगड़ेसे काम होना उतना सहज नहीं है, जितना प्रेम और बुद्धिमानीके साथ काम करनेसे। आपके जो कुटुम्बी लोग बाहर हैं, उनमेंसे किसी सयानेको बुलाकर उनके द्वारा बड़े भाईको समझानेका प्रयत्न कीजिये और जहाँतक बने घरकी सम्पत्तिको उक्त स्त्रीके चंगुलसे निकालनेका प्रयत्न कीजिये। इस सम्बन्धमें विशेष बातें आप प्राइवेट पत्रमें पूछ लें तो अच्छा होगा।

(३)

भगवान्‌को पुकारें

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपकी स्थिति वास्तवमें बहुत ही विचारणीय है । सासका तथा पतिका आपके साथ जो बर्ताव है, वह असलमें बड़ा निन्दनीय है । जो सास अथवा पति अपनी बहू या पत्नीको इस प्रकारसे कष्ट देते हैं वे बड़ा भीषण पाप करते हैं, परंतु इस समय उन्हें अपने पापका जरा भी ख्याल नहीं है । मनुष्य स्वार्थ या दम्भ-द्वेषवश जब बुराईपर उतर जाता है, तब वह मनुष्यसे असुर बन जाता है, उसके सुधारका उपाय है—प्रभुसे प्रार्थना और सद्भावना । आप मन-ही-मन आर्तभावसे और करुण स्वरसे भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये और उनसे कहिये कि वे आपके पतिको और सासको सद्‌बुद्धि दें । उनके चित्तमें जो बुराई आ बैठी है, उसे दूर करें ।

आपको निरन्तर मानसिक पीड़ा रहती है, यह सत्य है। आप किस-किस प्रकारकी ऊँची अभिलाषाएँ लेकर पिताके घरसे ससुरालमें आयी थीं और अब उसके सर्वथा विपरीत पाकर आपका दुखी होना स्वाभाविक है, परंतु इसमें धीरज छोड़ने या विषाद करनेसे कोई लाभ नहीं होगा । भगवान्‌को पुकारिये । सच्ची बात तो यह है कि संसारमें किसीका कोई नहीं है । सब अपना-अपना कर्मफल भोगने आये हैं । मनुष्यके 'अनमोल शरीरका' सच्चा सदुपयोग तो भगवान्‌के भजनमें ही है । जीवनभर दुःखमें बीते, पर परिणाममें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय तो जीवनका वह दुःख भी महान् सुखका साधन है । इसलिये आपको तो मेरी यह सलाह है कि प्रार्थना कीजिये—भगवान्‌का भजन कीजिये, भगवान्‌ने चाहा तो यहाँ भी पति और सासका हृदय बदल जानेसे आप सुखी हो जायँगी और मानव-जीवनकी सफलता तो भजनसे निश्चित होती ही है । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

कुछ प्रश्नोत्तर

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर नीचे क्रमशः लिखा जाता है—

(१) ऐसी कथा आती है कि वशिष्ठ ऋषिने भगवान् रामसे कहा था कि ये जो मकोड़े चल रहे हैं, इनमें एक भी ऐसा नहीं है जो दस-दस बार इन्द्र न बन चुका हो । आपने किसी महात्माके द्वारा यह कहनेपर कि 'मकोड़ा तीन बार इन्द्र बन चुका है' यह पूछा कि 'भगवान् अपने भक्तको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त कर देते हैं, फिर उन्होंने उसे मुक्त क्यों न किया ।' इससे ऐसा अनुमान होता है कि शायद आप ऐसा समझते होंगे कि जो इन्द्र होता है वह भगवान्‌का भक्त भी अवश्य होता है, अथवा भगवान्‌का भक्त ही इन्द्र होता है; परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है । इन्द्रका पद तो भक्तकी दृष्टिमें अत्यन्त तुच्छ है । भक्त तो ब्रह्माका पद भी नहीं चाहता, बल्कि मुक्तिका भी सेवाके सामने तिरस्कार करता है । भक्त तो केवल सेवाधिकार चाहता है और भगवान्‌के चरणोंमें रहकर सेवा-रस-माधुर्यका ही आस्वादन करना चाहता है । इसका अर्थ यह नहीं कि इन्द्रपदको प्राप्त कोई भी जीव भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता । परंतु अधिकांश जीव, जो अपने पुण्यके प्रभावसे इन्द्रके पदको प्राप्त कर चुके हैं, स्वर्गके वैभव-विलासमें रत होकर अपने कर्तव्य और धर्मतकको भूल जाते हैं । ऐसे लोगोंको स्वर्गमें पुण्यका फलभोग समाप्त होनेपर कर्मानुसार ऊँची-नीची योनियोंमें मर्त्यलोकमें आना पड़ता है ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

कहीं अभिमान और पदके गर्वमें प्रमत्त होकर सत्पुरुषोंका अपराध हो जाता है तो वैसे इन्द्रको राजा नहुषकी भाँति सर्प आदि योनियोंमें भी जाना पड़ता है । कुछ इन्द्र ऐसे भी हो सकते हैं जो इन्द्रका पद प्राप्त करके भी भगवान्‌की भक्ति करना नहीं छोड़ते और वे भजनके प्रतापसे बन्धनसे मुक्त होकर कैवल्य-मोक्ष अथवा भगवान्‌के सेवाधिकारको प्राप्त करते हैं । इन्द्र होनेपर भी जो विषयोंमें भूला रहता है, वह इन्द्रके पदसे भ्रष्ट होकर मकोड़ा बने तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

(२) 'दैव-दैव आलसी पुकारा' इसका यह अर्थ नहीं कि आलसी लोग भगवान्‌को पुकारते हैं अथवा भगवान्‌का नाम 'कादर मन कहँ एक अधारा' है । यहाँ 'दैव'का अर्थ 'भाग्य' है । आलसी लोग पुरुषार्थ या प्रयत्न नहीं करते, भाग्यके भरोसे बैठे रहते हैं । 'भाग्यमें जो बदा होगा, सो होगा ।' यही सोचकर वे पुरुषार्थसे विमुख हो जाते हैं। श्रीलक्ष्मणजीका यही कहना था—'समुद्र तो जड है । इससे विनती करनेसे क्या लाभ ? उठाइये धनुष-बाण और

सोख लीजिये इसके सारे जलको ।' भगवान्ने अन्तमें यही किया । भगवान्का नाम लेना या उनका भजन करना तो जीवके लिये सर्वोत्तम साधन है, इसे तो करना ही चाहिये ।

(३) भगवान्का यह कथन कि 'मैं जिसका हाथ एक बार पकड़ लेता हूँ, फिर कभी नहीं छोड़ता' सर्वथा सत्य है । यहाँ हाथ पकड़नेका अर्थ किसीका हाथ पकड़े बैठे रहना या उसे एक स्थानपर अपनी आँखोंके सामने बैठाये रखना नहीं है । भगवान्का वरद हस्त जिसपर अपनी छत्रछाया करता है, उसपर सदा किये ही रहता है । अङ्गदजीका हाथ बालीने श्रीरामजीको पकड़ाया इसका इतना ही अर्थ है, अब यह आपकी शरणमें है । इसकी रक्षाका, इसके योगक्षेमका भार आपपर है । भगवान्ने यह उत्तरदायित्व लिया और जीवनभर अङ्गदका योगक्षेम वहन किया । अन्तमें उसे परमधाम प्रदान किया । अङ्गदके बहुत कहनेपर भी उसे किष्किन्धा लौटा दिया, अयोध्यामें नहीं रक्खा । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उन्होंने अङ्गदका पकड़ा हुआ हाथ छोड़ दिया । अङ्गदको वहाँका युवराज बनाना था । पहले सुग्रीवको मुक्त करना था । वे अङ्गदको राजा बनाकर ही वहाँसे भगवान्के साथ परमधाममें जानेके लिये आये थे । यदि अङ्गद वहाँ न जाते, न रहते तो सुग्रीव राजपदपर आसक्त होकर वहाँसे आते ही नहीं । रह गयी हाथ पकड़े रहनेकी बात, सो तो भगवान् केवल अयोध्यामें ही नहीं हैं, सर्वत्र उनकी अखण्ड सत्ता है; सब जीव सदा भगवान्की गोदमें ही रहते हैं; परंतु जो अपनेको भगवान्का मानता है, वह भगवत्सान्निध्यका सुख और लाभ उठाता है । शेष लोग भ्रममें ही भटकते रहते हैं ।

(४) मृत्युकालमें मनुष्य जो भावना लेकर मरता है, उसे तदनुरूप गति प्राप्त होती है । श्रीदशरथजीके मुखमें श्रीराम-नाम और मनकी आँखोंमें उनकी श्यामसुन्दर झाँकी थी । हृदय उनके प्रति वात्सल्यप्रेमसे परिपूर्ण था और प्राण उनसे मिलनेके लिये हाहाकार कर रहे थे । इसके अनुसार उन्हें भगवान्का साकेतलोक प्राप्त हुआ, जहाँ उनकी पूर्वोक्त साध अनन्त कालतक अनवरत पूरी होती रहे । महाराज दशरथने तो जान-बूझकर मुक्तिकी अवहेलना की थी । उन्हें तो श्रीरामका प्रेम ही अभीष्ट था । जहाँ वे उनपर वात्सल्य-रसका समुद्र उँड़ेलते रहें—भगवान् शङ्कर कहते हैं—

तातें उमा मोच्छ नहिं पायो । दसरथ भेद भगति मन लायो ॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं ॥

इसके अनुसार उन्हें 'राम-भक्ति' के साम्राज्यमें योग्य स्थान प्राप्त हुआ । स्वर्गमें तो वे अपने सखा इन्द्रके अनुरोधसे कुछ समयके लिये ठहर गये थे । श्रीरामके परमधामगमनकी प्रतीक्षा भी करनी थी ।

(५) स्वर्गलोक भी मर्त्यलोक-जैसा ही लोक है। यहाँकी अपेक्षा वहाँके शरीर और भोग दिव्य होते हैं । परंतु नश्वर वह भी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि दुर्गुणोंसे वहाँका क्षेत्र भी खाली नहीं है । अतः स्वर्गलोक केवल भोग-स्थान है । वहाँ सद्गतिके लिये कोई साधन नहीं है । जो स्वर्गसुखकी इच्छासे सकाम कर्म करता है, वह वहाँ भेजा जाता है । उसे भोगकर वह पुनः लौट आता है । शेष कर्मोंका फल भोगनेके लिये उसे इस संसारमें किसी-न-किसी योनिमें जन्म लेना पड़ता है । भगवान्के भजन बिना भवसागरको पार करना कठिन है । भक्तको परम गति और मोक्ष चाहनेवाले ज्ञानीको मोक्षकी प्राप्ति होती है। पर भजन दोनोंमें आवश्यक है । 'बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ।'

(६) यदि कुलमें एक भगवद्भक्त हो जाय तो वह सारे कुटुम्बको तथा अपनी अनेक पीढ़ीके पितरोंको भी तारनेमें समर्थ होता है ।

(७) आपने भगवान् शङ्करको गुरु बनाया है । उनसे बढ़कर दूसरा कौन होगा । अब आपके लिये किसी अन्य गुरुकी आवश्यकता नहीं है ।

(८) आप, आपकी पत्नी और बहिन—तीनों रामायणका नित्य पाठ करते हैं, इससे भगवान् अवश्य प्रसन्न होंगे । आपलोग 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस महामन्त्रका जप और भगवान् श्रीसीतारामका ध्यान किया करें । प्रेम तथा विश्वासपूर्वक ऐसा करनेसे भगवान् दया करके अवश्य दर्शन देते हैं ।

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष २५

सं० २००७–२००८

सन् १९५१

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] ※ [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७।)
विदेशोंके लिये १०) (१५ शिलिङ्ग) } प्रतिसंख्या ।≡)

|| श्रीहरिः ||

कल्याणके पचीसवें वर्षकी लेख-सूची

(संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क—अङ्क १ से ५ तक)

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१	अक्षमालेश्वर, पाशुपतेश्वर, ध्रुवेश्वर तथा सिद्धि-लक्ष्मीकी महिमा	९९९
२	अगस्त्य-आश्रममें शिवपूजा आदिका माहात्म्य	८४८
३	अगस्त्यकुण्ड, कपिलानदी, वैष्णवी शिला और सिद्धक्षेत्र आदिकी महिमा ...	८५९
४	अगस्त्यजीका काशीपुरीसे प्रस्थान, विन्ध्यपर्वतको लघुरूपमें रहनेका आदेश और महालक्ष्मीकी स्तुति	५४७
५	अगस्त्यजीका श्रीशैलपर कार्तिकेयजीकी सेवामें जाना और उनके मुखसे काशीकी महिमा श्रवण करना	५७९
६	अङ्कपादतीर्थकी महिमा, श्रीकृष्णके द्वारा मरे हुए गुरुपुत्रके लाये जानेकी कथा ...	७११
७	अड़सठ क्षेत्रों और उनमें भी प्रधान आठ क्षेत्रोंके नाम तथा उनके कीर्तनका महत्त्व	८७८
८	अतिथि-सत्कारका माहात्म्य ...	९१३
९	अदितिदेवीद्वारा आराधित अमरेश्वरलिङ्गकी महिमा	८९७
१०	अन्न और जलके दानकी महत्ता ...	८९६
११	अमरकण्टक और यज्ञपर्वतके श्रेष्ठ तीर्थ एवं लिङ्ग, राजा इन्द्रद्युम्नका यज्ञ और उन्हें देवोंका वरदान	७७५
१२	अमरकण्टकपर सूत्रयागका माहात्म्य, कावेरी-सङ्गम और पयोष्णी-सङ्गमकी महिमा तथा वहाँके अन्य तीर्थोंके सेवनकी महत्ता ...	७८१
१३	अमरावतीके दक्षिण विष्णु-मन्दिरकी महिमा, मेघवनका महत्त्व तथा विभिन्न तीर्थोंकी महा-शक्तियोंके नाम	७९३
१४	अमरावतीमें भगवान्‌का दैत्यसूदनरूपसे निवास तथा वहाँके अन्यान्य तीर्थों और शिवलिङ्गोंका माहात्म्य	७८०
१५	अमृतकी उत्पत्ति, भगवान्‌का मोहिनीरूपद्वारा देवताओंको अमृत पिलाना, शिवके द्वारा राहु-से चन्द्रमाकी रक्षा तथा शिवके लिये दीपदान, रुद्राक्ष-धारण और विभूति-धारणका माहात्म्य	२४
१६	अमृतेश्वर लिङ्गकी महिमा तथा व्यासोक्त व्रत एवं धर्मोंका निरूपण ...	६९१
१७	अयोध्याक्षेत्रके अन्य विविध तीर्थोंका वर्णन तथा वशिष्ठके मुखसे विभीषण आदिका अयोध्या-माहात्म्य-श्रवण	४०१
१८	अयोध्यापुरीकी महिमा और सीमाका वर्णन, चक्रतीर्थ एवं श्रीविष्णुहरिका माहात्म्य ...	३८८
१९	अरुणाचलक्षेत्रकी महिमा, विभिन्न पापोंके फल और उन पापकर्मोंका प्रायश्चित्त ...	१९४
२०	अरुणाचलेश्वरकी पूजा, शिवजीके द्वारा सृष्टिका प्रादुर्भाव तथा विष्णुके द्वारा भगवान् शङ्करकी स्तुति	१९६
२१	अरुणादित्य, वृद्धादित्य, केशवादित्य, विमला-दित्य, गङ्गादित्य तथा यमादित्यकी महिमाका वर्णन	६४१
२२	अर्कस्थलका माहात्म्य, आदित्यकी महिमा, दन्तधावनकी विधि	९६०
२३	अर्जुनका कालहस्तीश्वरके समीप भरद्वाजके आश्रमपर जाना और भरद्वाजजीके द्वारा अगस्त्यजीके प्रभावका वर्णन ...	२३९
२४	अवन्तीक्षेत्रके महत्त्वपूर्ण तीर्थ, देवता, वहाँ-की यात्राके क्रम एवं माहात्म्यका वर्णन ...	७४५
२५	अशोकवनिकातीर्थमें महाराज रविश्चन्द्रके द्वारा यज्ञ, दान तथा मुनियोंका उद्धार ...	७९४
२६	अश्वत्थामाके द्वारा सोते हुए पाण्डव-योद्धाओंका वध तथा धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे उसका उद्धार	४२७

२७–अश्वमेधकी पूर्ति, आकाशवाणी, भगवान्की काष्ठमयी प्रतिमाका निर्माण, संस्कार तथा स्तवन २७७
२८–अहल्याका शापोद्धार तथा हाटकेश्वरक्षेत्रमें अहल्या, शतानन्द और गौतमजीकी तपस्या ९२२
२९–आँवलेके वृक्षकी उत्पत्ति और उसका माहात्म्य ३२६
३०–आकाशगङ्गातीर्थकी महिमा—रामानुजपर भगवान्की कृपा तथा भगवद्भक्तोंका लक्षण २३१
३१–आकाशगङ्गातीर्थमें अञ्जनाकी तपस्या और उसे वायुदेवद्वारा वरदानकी प्राप्ति ... २४९
३२–आदित्येश्वरतीर्थकी महिमा, मुनियोंद्वारा नर्मदाका स्तवन और उस तीर्थमें गोदानकी महिमा ८०९
३३–आदिनारायणका माहात्म्य ... ९८६
३४–इन्द्रकी विजय, इन्द्रद्वारा विश्वरूपका वध, नहुषका स्वर्गसे पतन, ब्रह्महत्यासे इन्द्रकी मुक्ति तथा पुनः राज्यकी प्राप्ति ... २७
३५–इन्द्रद्युम्नके द्वारा सहस्र अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान और ध्यानमें भगवान्का दर्शन २७५
३६–इन्द्रद्युम्न-सरोवरमें स्नान, नृसिंहजीका दर्शन-पूजन तथा भगवद्विग्रहोंके ज्येष्ठ-स्नानका वर्णन २८९
३७–इन्द्रलोक तथा अग्निलोकका वर्णन, विश्वानर मुनिके द्वारा की हुई आराधनासे प्रसन्न होकर शिवजीका उन्हें वरदान देना ... ५५८
३८–इन्द्रेश्वरकी स्थापना और उनकी महिमा, देवमज्जनक तड़ागका माहात्म्य तथा लोहासुरके अत्याचारसे धर्मारण्यकी जनताका पलायन ... ४७४
३९–ईशानके द्वारा ज्ञानोद (ज्ञानवापी) तीर्थका प्राकट्य, ज्ञानवापीकी महिमाके प्रसङ्गमें सुशीला (कलावती) की कथा, काशीके विविध तीर्थोंका वर्णन ६११
४०–उज्जयिनीपुरीके कनकशृंगा आदि नाम पड़नेका कारण ७२२
४१–उत्कलदेशके भव्य रूपका परिचय, राजा इन्द्रद्युम्नका एक तीर्थयात्रीसे पुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा सुनकर पुरोहितके भाईको वहाँ भेजना और उनका नीलाचलके समीप शबरसे वार्तालाप २५९
४२–उत्तम-अधम जन्म, व्यर्थ और सफल दान, सुपात्रके लक्षण १०१७
४३–उत्तरार्क सूर्यकी महिमा, सुलक्षणाकी तपस्या और उसपर शिव-पार्वतीकी कृपा ... ६३४
४४–उभय सोमनाथके प्रादुर्भावकी कथा और कमठके द्वारा गर्भवास तथा मानव-शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन १५८
४५–उमा-महेश्वर-व्रतकी महिमा, इसके पालनसे शारदाको शिवलोककी प्राप्ति तथा सत्कथा-श्रवणका माहात्म्य और ब्राह्मखण्डकी समाप्ति ५३७
४६–ॐकारेश्वर आदिका महत्त्व तथा अन्धकासुरको शिवगणोंमें श्रेष्ठ स्थानकी प्राप्ति ... ७२१
४७–एकादशीकी रात्रिमें श्रीहरिके समीप जागरणका माहात्म्य १०६९
४८–एकादशीके जागरण और मत्स्योत्सवकी विधि एवं माहात्म्य ३४८
४९–एकादशीको भगवान्के जगानेकी विधि, कार्तिकव्रतका उद्यापन और अन्तिम तीन तिथियोंकी महिमाके साथ ग्रन्थका उपसंहार ३३८
५०–एकान्तरामनाथ, ब्रह्मकुण्ड, हनुमत्कुण्ड और अगस्त्यतीर्थका माहात्म्य ... ४१४
५१–ऋषियों और देवताओंकी द्वारकायात्रा तथा भगवद्दर्शन एवं पूजन ... १०७२
५२–'कपर्दी' की अग्रपूजाका हेतु और महिमा ९७५
५३–कपालतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ और वसुधारातीर्थकी महिमा ३०९
५४–कपितीर्थकी महिमा—उसमें स्नान करनेसे रम्भा और घृताचीका शापसे उद्धार ... ४३६
५५–कपिला-नर्मदा-सङ्गम और ईशान आदि तीर्थोंकी महिमा, यमलोकके मार्गके कष्टों तथा अट्ठाईस नरककोटियोंका वर्णन ... ७८५
५६–कमठद्वारा शरीरकी उत्पत्ति, विनाश तथा जीवके परलोकवासका वर्णन ... १६१
५७–करञ्जेश्वर तथा कुण्डलेश्वरतीर्थका प्रादुर्भाव और माहात्म्य ८०३
५८–कर्णोत्पलातीर्थकी उत्पत्ति; राजा सत्यसन्ध और कर्णोत्पलाकी अद्भुत कथा ... ८८९
५९–कलकलेश्वर, उत्तङ्केश्वर, वैश्वानरेश्वर तथा गौतमेश्वरकी महिमा ९८३
६०–कलशेश्वरका माहात्म्य, नन्दिनीके द्वारा व्याघ्रयोनिको प्राप्त राजा कलशका शापसे उद्धार ... ८५६

६१–कलहंसेश्वर तीर्थका प्रादुर्भाव और उसका माहात्म्य ७६३
६२–कलाप-ग्रामनिवासी सुतनुद्वारा नारदजीके जटिल प्रश्नोंका समाधान ... ८४
६३–कान्तिशाली तथा कलाधरका उद्धार, राजा वज्राङ्गदद्वारा अरुणाचलेश्वरकी आराधना तथा भगवान् शिवकी उनके ऊपर कृपा ... २०३
६४–कार्तिक मासकी श्रेष्ठता तथा उसमें करनेयोग्य स्नान, दान, भगवत्पूजन आदि धर्मोंका महत्त्व ३१४
६५–कार्तिकमें तुलसी-वृक्षके आरोपण और पूजन आदिकी महिमा ३२१
६६–कार्तिक-व्रत करनेवाले मनुष्यके लिये पालनीय नियम ३१८
६७–कार्तिक-व्रतके पुण्यदानसे एक राक्षसीका उद्धार ३२९
६८–कार्तिक-व्रतसे एक पतित ब्राह्मणीका उद्धार तथा दीपदान एवं आकाशदीपकी महिमा ... ३२०
६९–कार्तिक-शुक्ला प्रतिपदा और यमद्वितीयाके कृत्य तथा बहिनके घरमें भोजनका महत्त्व ... ३२४
७०–कार्तिकेयजीकी स्तुति और उनके द्वारा पर्वतोंको वरदान तथा महाराज श्वेतका चरित्र ... ६७
७१–कालभीतिकी तपस्या तथा धर्मनिष्ठा, महाकालका प्रादुर्भाव और कालभीतिपर भगवान् शङ्करकी कृपा १२१
७२–काशीकी उत्पत्ति-कथा, काशी और मणिकर्णिकाका माहात्म्य ५८१
७३–काशीके अठाईस प्रमुख लिङ्गोंका संक्षिप्त वर्णन तथा ॐकारेश्वरके प्राकट्यकी कथा, ब्रह्माजीके द्वारा ॐकारेश्वरका स्तवन और उनकी महिमा ६७१
७४–काशीके तीर्थोंका संक्षिप्त वर्णन ... ६९३
७५–काशीके ब्राह्मणोंको भगवान् शिवका वरदान तथा काशी-क्षेत्रकी महिमा ... ६५९
७६–काशीपुरीकी श्रेष्ठता, हरिकेश यक्षको शिवाराधनाके द्वारा दण्डपाणिपदकी प्राप्ति और दण्डपाण्यष्टक-स्तोत्र ६०८
७७–काष्ठा, कला आदि कालमान, युग और कल्पभेद तथा प्रतिकल्प पुरीका माहात्म्य ... ७२६
७८–कुटुम्बेश्वर, देवप्रयाग तथा कर्कराज तीर्थकी महिमा ७४४
७९–कुब्जा और नर्मदाके सङ्गमकी महिमा, हरिकेश ब्राह्मणका परिवारसहित ब्रह्मराक्षसयोनिसे उद्धार ७६८
८०–कुमारका अनुताप, भगवान् विष्णुका उन्हें समझाना तथा उनकी सम्मतिसे स्कन्दद्वारा तीन शिवलिङ्गोंकी स्थापना और भगवान् शिवका वरदान १०३
८१–कुमारका विजयस्तम्भ, प्रलम्ब दानवका वध तथा भूगोलका वर्णन १०९
८२–कृत्तिवासेश्वर लिङ्गका प्राकट्य और उसकी महिमा ६६४
८३–कृष्णतीर्थ और भगवान् वेङ्कटेश्वरका माहात्म्य २२७
८४–केदारक्षेत्रका प्रादुर्भाव तथा वहाँ भगवान् शिवकी आराधनाका माहात्म्य ... ८८४
८५–केदारलिङ्गकी महिमा, राजा शशबिन्दुके पूर्वजन्मका वृत्तान्त ... ९७७
८६–केदारेश्वर लिङ्गकी माहात्म्य-कथा ... ६७७
८७–कोटितीर्थकी महिमा, भगवान् श्रीकृष्णका अवतार, कंस-वध तथा श्रीकृष्णका कोटितीर्थमें स्नान ४२२
८८–क्षातासङ्गम तथा उसके निकटवर्ती तीर्थोंकी महिमा, राजा युगादिदेवके धर्ममय राज्यकी प्रशंसा ७३०
८९–क्षीरकुण्डकी उत्पत्ति और महिमा, महर्षि मुद्गलको भगवान् विष्णुका दर्शन ... ४३४
९०–क्षीरोदक तीर्थ, बृहस्पतिकुण्ड, रुक्मिणी आदि कुण्डोंका माहात्म्य ३९९
९१–खड्गतीर्थकी उत्पत्ति, ज्योतिदर्शन, पार्वतीपर अरुणाचलेश्वरकी कृपा तथा भगवान् शिवका वरदान २०१
९२–गङ्गासहस्रनामस्तोत्र ५८७
९३–गङ्गेश्वर और विश्वेश्वरतीर्थका माहात्म्य, बलिके द्वारा देवताओंकी पराजय, ब्रह्माजीका देवताओंको विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका उपदेश देना ७३३
९४–गणेशजीका काशीमें जाना और लोकप्रिय होना, गणेशजीका स्तवन ६४६
९५–गयाकूप आदि अनेक तीर्थोंका माहात्म्य तथा ग्रन्थका उपसंहार ४०२

९६–गयातीर्थकी महिमा, पुरुषोत्तम मास और पुरुषोत्तमतीर्थकी महत्ता तथा गोमती-कुण्डका माहात्म्य ··· ··· ७३१

९७–गरुड़-शिला, वाराही-शिला और नारसिंही-शिलाकी उत्पत्ति और महिमा ··· ३०६

९८–गरुडेश्वर लिङ्ग तथा खखोल्कादित्यकी प्रादुर्भाव-कथा, काशीमें गरुड और विनता-की तपस्या और वरदान-प्राप्ति ··· ६३९

९९–गालवको सूर्यदेवकी आराधनासे पुत्रकी प्राप्ति ८६०

१००–गुणवतीका कार्तिक-व्रतके पुण्यसे सत्यभामाके रूपमें अवतार तथा भगवान्‌के द्वारा शङ्खासुरका वध और वेदोंका उद्धार ··· ३२७

१०१–गुरुकी अवहेलनासे इन्द्रकी दैत्योंद्वारा पराजय, समुद्रमन्थन, शङ्करजीकी कृपासे कालकूट-विषसे सबकी रक्षा, विविध रत्नोंका प्राकट्य तथा लक्ष्मीजीका प्रादुर्भाव ··· २०

१०२–गृहस्थ-आश्रमके धर्म, पञ्चयज्ञकी महिमा, काशीवासकी महत्ता तथा राजा दिवोदासको पृथ्वीके राज्यकी प्राप्ति ··· ··· ६१९

१०३–गृहस्थोचित शिष्टाचार और धर्म ··· ६२१

१०४–गोकर्णक्षेत्रमें शिवरात्रिके शिवपूजनके माहात्म्यसे एक चाण्डालीका परमधाम-गमन ५०९

१०५–गोपी-सरोवरका निर्माण और उसकी महिमाका वर्णन ··· ··· १०६१

१०६–गोप्यादित्यकी स्थापना और महिमा तथा नीलसे हानि ··· ··· ९९७

१०७–गोप्रतार तीर्थकी महिमा और श्रीरामके परमधाम-गमनकी कथा ··· ··· ३९७

१०८–गोमतीमें स्नान और भगवत्पूजनकी महिमा १०५६

१०९–गौतम और प्रेतका संवाद, प्रेतोंका उद्धार तथा प्रेततीर्थकी उत्पत्ति ··· १०१९

११०–गौरी, जया और विजया कुण्डका माहात्म्य ९०१

१११–घटोत्कचका विवाह और बर्बरीकका जन्म १७७

११२–घोणतीर्थका माहात्म्य—गन्धर्वपत्नीका उद्धार ··· ··· २३५

११३–चक्रतीर्थका माहात्म्य, गालवमुनि तथा धर्मकी तपस्याका वर्णन ··· ··· ४०९

११४–चक्रतीर्थ तथा रुक्मिणी-ह्रदका माहात्म्य १०५७

११५–चक्रतीर्थ, शिवतीर्थ, शङ्खतीर्थ और यमुना, गङ्गा एवं गया तीर्थकी महिमा—राजा जानश्रुतिको रैक्वके उपदेशसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति ··· ··· ४२०

११६–चण्डशर्माके द्वारा सत्ताईस शिवलिङ्गोंका पूजन ··· ··· ९०३

११७–चन्द्रदेवके मन्दिरके निर्माणका महत्त्व, अम्बावृद्धाके दर्शनकी महत्ता ··· ८६६

११८–चन्द्रमाकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा ओषधि आदिका पोषण ··· ··· ९६३

११९–चन्द्रमाके द्वारा प्रभासक्षेत्रमें शिवकी आराधना ··· ··· ९६४

१२०–चन्द्रेश्वर, कपिलेश्वर तथा नलेश्वरकी महिमा १०४१

१२१–चन्द्रेश्वर, चक्रपाणि, दण्डपाणि तथा साम्बादित्यकी महिमा ··· ··· ९८९

१२२–चमत्कारपुरमें गयाशीर्ष तीर्थकी महिमा ··· ८३३

१२३–चमत्कारपुरमें पुनर्वासी ब्राह्मणोंकी संख्या ८८०

१२४–चमत्कारीदेवीकी महिमा, कार्तिकेयजीके द्वारा शक्तिकी स्थापना ··· ८६३

१२५–चातुर्मास्यमें इष्ट वस्तुके परित्याग तथा नियम-पालनका महत्त्व ··· ··· ४९०

१२६–चातुर्मास्यमें विशेष-विशेष तप और भगवान्‌की षोडशोपचार-पूजाका क्रम ··· ४९१

१२७–चातुर्मास्य-व्रतका माहात्म्य, संयम-नियम, दयाधर्म तथा चौमासेमें अन्न आदि दानोंकी महिमा ··· ··· ४८८

१२८–चातुर्मास्य-व्रतके पालनीय नियम और उनकी महिमा ··· ··· ९३६

१२९–चार प्रकारके कालमानका वर्णन ··· ९४१

१३०–चित्रशर्मा तथा अन्यान्य ब्राह्मणोंके द्वारा भगवान् शंकरको संतुष्ट करना ··· ८७७

१३१–जय-विजयका चरित्र ··· ··· ३३३

१३२–जय-विजयको सनकादिका शाप, भगवान्‌का वाराहावतार, वाराहके हृदयसे शिप्राकी उत्पत्ति तथा उसका माहात्म्य ··· ७२९

१३३–जैगीषव्यपर भगवान् शिवकी कृपा और उनके द्वारा शिवकी स्तुति ··· ६५६

१३४–ज्ञानयोग और उसके साधन, स्कन्दस्वामीका सेनापतित्व और कौमारव्रत

१३५–ज्ञानवापीकी महिमा और उसके सेवनसे माल्यकेतु और कलावतीको तारक ब्रह्मकी प्राप्ति ६१३
१३६–तलस्वामी, शङ्खावर्ततीर्थ और गोष्पदतीर्थकी महिमा … … १०३४
१३७–तारकासुरको ब्रह्माजीका वरदान, हिमालयके घर सतीका पार्वतीरूपमें अवतार, शङ्करजीके रोषसे कामदेवका भस्म होना तथा पार्वतीकी उग्र तपस्या … … ४६
१३८–तीर्थमें पूजन, श्राद्ध और दानकी महिमा … १०४३
१३९–तुलसी-विवाह और भीष्मपञ्चक व्रतकी विधि एवं महिमा … … ३३६
१४०–तोण्डमानको निषादके साथ भगवान् श्रीनिवासका दर्शन होना … २१८
१४१–त्यागी हुई रानी और राजकुमारकी वैश्य एवं शिवयोगीद्वारा रक्षा तथा शिवयोगीका राजपुत्रको धर्मका उपदेश करना … ५२४
१४२–त्रयोदशीसे लेकर दीपावलीतकके उत्सव-कृत्यका वर्णन … … ३२३
१४३–त्रिदेवोंकी श्रेष्ठता और पापोंके भेद … १३०
१४४–त्रिलोचन लिङ्गकी महिमा … ६७४
१४५–दक्षेश्वर तथा पार्वतीश्वर लिङ्गका माहात्म्य … ६८९
१४६–दान-पात्र-विचार, चक्रतीर्थकी महिमा, पद्मनाभकी तपस्या, भगवान्का वरदान तथा राक्षसके आक्रमणसे चक्रद्वारा पद्मनाभकी रक्षा २३३
१४७–दान, पुण्य, शिवध्यान और नर्मदा-सेवनसे नरकसे उद्धार होनेका तथा संसारसे वैराग्यका उपदेश … … ७८९
१४८–दिलीप-वशिष्ठ-संवाद … … १०७३
१४९–दुर्गदैत्यका वध, देवताओंद्वारा देवीकी स्तुति और दुर्गानामकी प्रसिद्धि … ६६९
१५०–दुर्वासाके शापसे चित्रसम दैत्यका महिष होना तथा कात्यायनीके द्वारा महिषका वध ८८१
१५१–दुर्वासा-लोमहर्षण-संवाद, मन्त्र-सिद्धिकी विधि ८४९
१५२–दुर्वासेश्वर (कामेश्वर) लिङ्गकी महिमा … ६८६
१५३–दूसरोंसे वैसा ही व्यवहार करो जैसा उनसे अपने लिये चाहते हो … पाँचवें अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ
१५४–देवताओंका तारकासुर और उनकी सेनाके साथ संग्राम तथा कुमार कार्तिकेयद्वारा तारकासुरका वध … ६१
१५५–देवताओंकी प्रार्थनासे भगवान् शिवका पार्वतीजीके पास जाना और उनके प्रेमकी परीक्षा ले उनकी तपस्याको सफल बनाना … ५१
१५६–देवताओं तथा ब्रह्माजीके द्वारा भगवद्विग्रहोंका स्तवन और उनकी स्थापना … २७९
१५७–देवपथतीर्थ, शुक्रतीर्थ, दीप्तिकेश्वरकी महिमा, देवासुरोंके द्वारा महादेवजीकी स्तुति तथा वैष्णवतीर्थकी महिमा … … ७९७
१५८–देवमाता, शेषस्थान, प्रभासपञ्चक तथा सङ्गममें स्नानका महत्त्व … १००७
१५९–देवर्षि नारदका वामनजीको मत्स्य आदि अवतारोंका वृत्तान्त सुनाना …. १०४७
१६०–देवर्षि नारदजीके द्वारा भगवान् नृसिंहकी स्थापना और राजा इन्द्रद्युम्नके द्वारा उनका स्तवन … … २७४
१६१–दैत्योंसहित दुर्गमासुरका देवी और उनकी शक्तियोंके साथ युद्ध … … ६६७
१६२–द्वारकाकी महिमा, वहाँकी यात्रा और उसमें योग देनेका माहात्म्य … … १०५४
१६३–द्वारकापुरी, गोपीचन्दन तथा गोमतीका माहात्म्य … … १०६८
१६४–द्वारकापुरी तथा वहाँ श्रीकृष्णके दर्शन-पूजनका माहात्म्य … … १०६५
१६५–द्वारकापुरी तथा श्रीकृष्ण-दर्शनका माहात्म्य … १०७४
१६६–द्वारका-माहात्म्यके पाठकी महिमा … १०७७
१६७–द्वारकामें श्रीकृष्ण-दर्शनकी महिमा … १०७५
१६८–द्वारका-यात्राकी विधि एवं महिमा … १०७१
१६९–धनदतीर्थका माहात्म्य, पूज्य और अपूज्य ब्राह्मण, वृषोत्सर्गकी महत्ता तथा गौतमेश्वर तीर्थकी महिमा … … ८१०
१७०–धनुष्कोटिकी महिमा; सियार, वानर तथा दुराचार ब्राह्मणकी कथा और महालयश्राद्धकी आवश्यकता … … ४३१
१७१–धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे परावसुका पापसे उद्धार … … ४३०
१७२–धर्मकी तपस्यासे धर्मारण्यक्षेत्रकी प्रसिद्धि और उसका माहात्म्य … … ४५६

१७३–धर्मनदतीर्थके पञ्चनद नाम पड़नेका कारण, अग्निविन्दुके द्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति, भगवान्के मुखसे पञ्चनद एवं विन्दुमाधवतीर्थकी महिमाका निरूपण ... ६५१

१७४–धर्मवर्णकी कथा, कलिकी अवस्थाका वर्णन, धर्मवर्ण और पितरोंका संवाद एवं वैशाखकी अमावास्याकी श्रेष्ठता ३८१

१७५–धर्महरिकी स्थापना और स्वर्णखनितीर्थ, रघुका सर्वस्व दान तथा कौत्सकी याचनाको सफल करना ३९३

१७६–धर्मारण्यवासी ब्राह्मणोंके गोत्र तथा उनकी रक्षाके लिये कामधेनुद्वारा वैश्योंकी उत्पत्ति ४७०

१७७–धुन्धुमारेश्वरकी स्थापना और महिमा ... ८४९

१७८–ध्रुवेश्वर, वाराह, चान्द्रायण, द्वादशादित्य तथा गाङ्गालतीर्थकी महिमा, राजा हरिकेशकी शुद्धि ७५८

१७९–नन्दभद्र और बालकका संवाद, बालादित्यकी स्थापना और नन्दभद्रकी मुक्ति ... १५२

१८०–नन्दादित्य, पर्णादित्य, गङ्गेश्वर तथा मूलस्थानगत सूर्यकी महिमा १०२४

१८१–नरकेश्वरका माहात्म्य १०२१

१८२–नरकों और पापोंसे मुक्त होनेका उपाय, भगवान् जलशायीकी महिमा ९३५

१८३–नरकोंका संक्षिप्त वर्णन; केदारेश्वर, जटेश्वर, इन्द्रेश्वर, कुण्डेश्वर, गोपेश्वर, आनन्देश्वर तथा रामेश्वरके दर्शन-पूजनका माहात्म्य ... ७१४

१८४–नर्मदा और मत्स्याके सङ्गमका माहात्म्य, महर्षि आपस्तम्बके द्वारा गौओंकी महत्ताका प्रतिपादन तथा तीर्थके प्रभावसे निषादोंका मछलियोंसहित उद्धार ७६०

१८५–नर्मदाका मर्त्यलोकमें आकर पुरुकुत्सुको अपना पति बनाना तथा नर्मदा-स्नानकी महिमा ७५२

१८६–नर्मदाजीकी तथा भगवान् विष्णुकी स्तुति ... ८००

१८७–नर्मदा-तटवर्ती अनन्तपुर एवं व्यासतीर्थकी महिमा ७५३

१८८–नर्मदा-नागेशके सङ्गममें कण्ठकी ब्रह्महत्यासे मुक्ति और सद्गति ८१२

१८९–नर्मदापुरका माहात्म्य, जमदग्निको कामधेनुकी प्राप्ति, कार्तवीर्यद्वारा मुनिका वध और धेनुका अपहरण तथा परशुरामद्वारा कार्तवीर्यका वध ... ७६४

१९०–नर्मदेश्वर तथा सतीश्वर लिङ्गका माहात्म्य ६९०

१९१–नवग्रहोंकी स्थिति, ऊपरके सात लोकोंका वर्णन, वायुके सात स्कन्ध, सात पाताल, इक्कीस नरक, ब्रह्माण्ड-कटाह एवं काल-मान आदिका निरूपण ११३

१९२–नागविलका महत्त्व, इन्द्रकी ब्रह्महत्यासे मुक्ति ८२८

१९३–नागरखण्डका उपसंहार ... ९४५

१९४–नागरादित्य, पिङ्गानदी, सङ्गमेश्वर तथा गङ्गेश्वरकी महिमा १०२३

१९५–नारदजीके गुणोंका वर्णन तथा गौतमेश्वरकी महिमाके प्रसङ्गमें योगका निरूपण ... १६८

१९६–नारदजीके द्वारा कलाप-ग्रामके ब्राह्मणोंको महीसागर-सङ्गममें ले आना और वहाँ उन्हें भूमि आदि देकर पुण्यस्थानकी स्थापना करना ९०

१९७–नारदजीके द्वारा धर्मवर्माके दानसम्बन्धी जटिल प्रश्नोंका समाधान ७७

१९८–नारदजीके द्वारा भगवान् वासुदेवकी स्थापना, ऐतरेयका अपनी मातासे संसार-दुःखका वर्णन, भगवान्का प्रत्यक्ष प्रकट होकर ऐतरेयको वरदान देना तथा वासुदेवके ध्यानसे ऐतरेयकी मुक्ति १३७

१९९–नारायणगृह तथा जालेश्वर लिङ्गकी महिमा १०३८

२००–निम्बेश्वरकी स्थापना तथा ग्यारह रुद्रोंका प्राकट्य ९४४

२०१–नृसिंहतीर्थकी महिमा ७४३

२०२–नैर्ऋत्यलोक तथा वरुणलोकका वर्णन ... ५६३

२०३–पञ्चतीर्थ, सोमतीर्थ, द्वादशादित्यतीर्थ, चतुःस्रोततीर्थ, सत्यपदतीर्थ तथा नर-नारायणाश्रमकी महिमा ... ३११

२०४–पञ्चतीर्थी, चतुर्दश आयतन, अष्ट आयतन, शैलेशादि और एकादश आयतनोंकी यात्रा, गौरीयात्रा, गणेशयात्रा, अन्तर्गृहयात्रा तथा विश्वनाथयात्राका वर्णन ... ६९६

२०५–पञ्चपिण्डिका गौरी-पूजासे अमाकी सौभाग्यवृद्धि ९०९

२०६–पञ्चाप्सरसतीर्थमें अर्जुनद्वारा अप्सराओंका उद्धार ७२

२०७–पतिव्रताकी शक्तिसे उसके मरे हुए पतिको पुनः नवजीवनकी प्राप्ति ... ...

२०८–पतिव्रता स्त्रियोंके बर्ताव, धर्म और नियम तथा श्राद्ध और धर्मारण्यका महत्त्व ... ४६७
२०९–परशुरामद्वारा लोहयष्टिकी स्थापना और उसकी महिमा तथा देवीकुण्डका माहात्म्य ... ८७०
२१०–परापरेश्वर और व्याघ्रेश्वरलिङ्गकी महिमा, भगवान् शिवद्वारा व्याघ्ररूपधारी दैत्यका वध ६६०
२११–परायी वस्तुके अपहरण और प्रतिग्रहके दोष १०१३
२१२–परावसुके द्वारा मद्यपानका प्रायश्चित्त ... ९१६
२१३–पराशराश्रमकी महिमा, पराशरमुनिकी तपस्या, वरदान-प्राप्ति, भीमेश्वरमें गायत्री-जपका महत्त्व और नारदेश्वरतीर्थका माहात्म्य ... ८११
२१४–परीक्षित् और वज्रनाभका समागम, शाण्डिल्य मुनिके मुखसे भगवान्‌की लीलाके रहस्य और व्रजभूमिके महत्त्वका वर्णन ... ३५४
२१५–पाण्डवेश्वरलिङ्ग तथा ग्यारह रुद्रोंका माहात्म्य ९८७
२१६–पाप-कर्मोंके फल, जयादित्यकी स्तुति और महिमा १६४
२१७–पापनाशनतीर्थकी महिमा—भद्रमति ब्राह्मणका चरित्र २२८
२१८–पापियोंकी नरक-यातनाका वर्णन ... ७८८
२१९–पिप्पलादका जन्म, सुवर्चाका पतिलोक-गमन, देवासुर-संग्राममें नमुचिका वध, प्रदोष-व्रतकी विधि और उद्यापन, इन्द्र और वृत्रासुरका युद्ध तथा इन्द्रकी विजय ३३
२२०–पिप्पलेश्वर, विमलेश्वर, विश्वरूपा-नर्मदा-सङ्गम तथा एक दिनमें मेघनादेश्वर आदि पाँच लिङ्गोंकी यात्राका माहात्म्य, राजा धर्मसेनकी कथा ८०४
२२१–पिशाचमोचनतीर्थकी महिमा ... ६४५
२२२–पुण्डरीक और अम्बरीषद्वारा भगवान्‌की स्तुति तथा पुरुषोत्तमक्षेत्रमें रहकर भजन करनेसे उनकी मुक्तिका वर्णन ... २५६
२२३–पुराणलक्षण, कलिकालका प्रभाव तथा राजर्षि वसुदानके यज्ञमें प्रकट हुई कपिला और नर्मदाके सङ्गमका माहात्म्य ... ७७९
२२४–पुरुषोत्तमक्षेत्रके विभिन्न तीर्थों और देवताओंका परिचय, तीर्थ और भगवान्‌की महिमा तथा पापपरायण पुण्डरीक और अम्बरीषका उस क्षेत्रमें आना ... २५४
२२५–पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें चातुर्मास्यकी महिमा, राजा श्वेतपर भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रसादका माहात्म्य २९२
२२६–पुष्यस्नानोत्सव, उत्तरायणोत्सव तथा दोलारोहणोत्सवका वर्णन ... २९६
२२७–पूतकेश्वर तथा जलशायी (चक्र) तीर्थका माहात्म्य, श्रीविष्णुके द्वारा नलमेघ दानवके वधकी कथा ८१३
२२८–पूर्वजन्ममें अमारूपा लक्ष्मीदेवीके द्वारा पञ्चपिण्डिका गौरीकी उत्पत्ति ... ९१०
२२९–पृथुके गोष्पदतीर्थमें श्राद्ध-यज्ञ करनेसे वेनको स्वर्ग-प्राप्ति १०३७
२३०–पृथ्वीदानकी महिमा ९४०
२३१–पैजवन शूद्र और महर्षि गालवका संवाद तथा शालग्राम-शिलाके पूजनका महत्त्व ... ४९५
२३२–पौलोमीश्वर, शाण्डिल्येश्वर, क्षेमेश्वर तथा सागरादित्यका माहात्म्य ... ९९८
२३३–प्रत्यूषेश्वर, अनिलेश्वर, प्रभासेश्वर, रामेश्वर, लक्ष्मणेश्वर आदिका माहात्म्य ... ९९५
२३४–प्रदोषमें शिवपूजनकी अवहेलनासे दोषकी प्राप्तिके प्रसङ्गमें विदर्भराज और उसके पुत्रकी कथा ५१३
२३५–प्रदोषव्रतकी विधि, इसके पालनसे द्विजकुमार और राजकुमारकी दरिद्रताका निवारण तथा राज्यकी प्राप्ति ५१५
२३६–प्रभास-क्षेत्रकी त्रिविध शक्तियों तथा दूती-शक्तियोंके दर्शन-पूजनका माहात्म्य ... ९८०
२३७–प्रभासतीर्थकी सीमा, क्षेत्र-विभाग, महिमा तथा रक्षकगणोंका वर्णन ... ९५३
२३८–प्रभासमें भगवान् शिवका स्वरूप, पार्वती-द्वारा उनकी स्तुति ९५८
२३९–प्रभासमें सूर्यदेव, सिद्धेश्वरलिङ्ग तथा सिद्धलिङ्गकी महिमा ९५९
२४०–प्रभासेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, सङ्कर्षण, मन्मथेश्वर तथा एरण्डी-सङ्गममें पुत्र-प्राप्ति-पद-तीर्थकी महिमा, अनुसूयाजीके पुत्ररूपसे ब्रह्मा, शिव और विष्णुका अवतार ... ८१४
२४१–बदरी-क्षेत्र और वहाँ भगवान्‌के प्रसाद-ग्रहणकी विशेष महिमा ३०८

२४२–बदरीक्षेत्रकी पाँच शिलाओंमेंसे नारद-शिला और मार्कण्डेय-शिलाका माहात्म्य ··· ३०४

२४३–बदरी-क्षेत्रकी महिमा—अग्निदेवके सर्व-भक्षण-रूप दोषका निवारण ··· ··· ३०३

२४४–बर्बरीक और विजयकी गुप्तक्षेत्रमें साधना तथा पाण्डवोंसे बर्बरीककी भेंट ··· १८०

२४५–बर्बरीकका वध तथा उसके पूर्वजन्मके वृत्तान्तका वर्णन और ग्रन्थका उपसंहार ··· १८७

२४६–बलिके द्वारा देवताओंकी पराजय, अदितिकी व्रत-तपस्यासे संतुष्ट हो भगवान्का वामनरूपमें अवतार, बलिके पूर्व-जन्मका प्रसङ्ग तथा बलिपर वामनजीकी कृपा ··· ३९

२४७–बाणासुरके तीन पुरोंका भगवान् शङ्करके द्वारा संहार, जालेश्वर नामक बाणलिङ्गकी उत्पत्ति और बाणासुरको शिवलोक-प्राप्ति ··· ७७३

२४८–बालरूपधार ब्रह्माकी महिमा, ब्रह्माजीकी आयुका मान ··· ··· ९९०

२४९–बुधलोक और शुक्रलोककी स्थिति, बुध और शुक्रके द्वारा भगवान् शिवकी स्तुति और वरदान-प्राप्ति ··· ··· ५६६

२५०–बृहस्पतिजीके मुखसे लोपामुद्राके पातिव्रत-धर्मका वर्णन ··· ··· ५४५

२५१–ब्रह्मकुण्ड, ऋणमोचन तथा पापमोचन आदि तीर्थोंकी महिमा ··· ३८९

२५२–ब्रह्मकुण्ड, गोमुखतीर्थकी उत्पत्ति-कथा एवं महिमा ··· ··· ८६८

२५३–ब्रह्मकुण्ड, चन्द्रसरोवर तथा पञ्चनदतीर्थका माहात्म्य ··· ··· १०६२

२५४–ब्रह्माजीका दिवोदासकी सहायतासे काशीमें यज्ञ करना और दशाश्वमेधतीर्थकी महिमा ··· ६४३

२५५–ब्रह्माजीका यमराजको समझाना और भगवान् विष्णुका उन्हें वैशाख मासमें भाग दिलाना ··· ३६९

२५६–ब्रह्माजीके द्वारा भगवत्स्वरूपकी एकताका प्रतिपादन तथा भगवान्का राजा इन्द्रद्युम्नको अपनी सेवाका आदेश देना ··· २८४

२५७–ब्रह्माजीके द्वारा मानसी और शारीरिक सृष्टिका प्रादुर्भाव, चारों वर्णोंके धर्म तथा शूद्र जातियोंके भेदोंका वर्णन ··· ४९४

२५८–ब्रह्माजीके द्वारा सौम्या इष्टिसे दानवोंका निवारण तथा रुद्रके एक सौ एक नामोंद्वारा शिवजीका स्तवन ··· ··· ७८४

२५९–ब्रह्माजीके प्रति भक्तिके भेद तथा उनके एक सौ आठ नाम ··· ··· ९९३

२६०–ब्राह्मणकन्या और राजकन्याका अनुपम प्रेम ··· ९१५

२६१–ब्राह्मणकन्या और शूद्रराजकन्याकी तपस्या, भगवान् शिवका वरदान ··· ९१९

२६२–ब्राह्मण-भोजन, प्रसाद-भक्षण और श्रीकृष्ण-कीर्तनकी महिमा ··· ··· ३४९

२६३–ब्राह्मणोंकी महिमा, क्षेत्रवासी ब्राह्मणोंके भेद ९९२

२६४–भक्तिके प्रभावसे विष्णुदास और राजा चोलका भगवान्के पार्षद होना ··· ३३१

२६५–भगवत्कथाके श्रवण और कीर्तनका महत्त्व तथा वैशाखमासके धर्मोंके अनुष्ठानसे राजा पुरुयशाका सङ्कटसे उद्धार ··· ३७१

२६६–भगवान्का वामनरूपसे प्रकट हो बलिसे तीन पग भूमि माँगना और वामन-कुण्डकी महिमा ७४१

२६७–भगवान्की द्वादशादित्य मूर्तियोंकी उपासना, दक्षके द्वारा भगवान्की आराधना और वर-प्राप्ति तथा विभिन्न विभूतियोंके रूपमें भगवान्की उपासनाका फल ··· २९८

२६८–भगवान्के परम धाम पधारनेपर महर्षियोंका ब्रह्माजीकी आज्ञासे प्रह्लादजीके समीप जाना ··· १०५३

२६९–भगवान्के पूजनमें घण्टानाद, चन्दन, पुष्प, तुलसीदल, धूप और दीपका माहात्म्य ··· ३४२

२७०–भगवान् जगन्नाथके नीलमणिमय विग्रहका वर्णन, इन्द्रद्युम्नके पास नारदजीका आगमन और भक्ति एवं भक्तके स्वरूपका विवेचन २६५

२७१–भगवान् पुरुषोत्तमके पार्श्व-परिवर्तन, उत्थापन और प्रावरण आदि उत्सवोंका महत्त्व ··· २९५

२७२–भगवान् रामेश्वरके प्रभावसे राजा शङ्करका ब्रह्महत्या और स्त्रीहत्याके पापसे उद्धार ··· ४४४

२७३–भगवान् वाराहका मन्त्र, उसके जपकी विधि, ध्यान तथा उसके अनुष्ठानका फल ··· २१०

२७४–भगवान् विष्णुका काशी-गमन, केशव एवं पादोदकतीर्थकी महिमा, धर्मक्षेत्रमें पुण्यकीर्तिका उपदेश तथा राजा दिवोदासकी निर्वाण-प्राप्ति ··· ··· ६४८

२७५–भगवान् विष्णुका ब्रह्माजीको पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जानेका आदेश ··· ··· २५१

२७६–भगवान् विष्णुके स्वरूपका विवेचन, प्राणकी श्रेष्ठता, जीवोंके विभिन्न स्वभावों और कर्मोंका कारण तथा भागवत धर्म ... ३७६

२७७–भगवान् विष्णुद्वारा अपने आदिकेशव प्रभृति स्वरूपोंका वर्णन तथा अग्निविन्दुकी मुक्ति ... ६५४

२७८–भगवान् शङ्करका 'अरुणाचल' रूपसे प्रकट होना तथा ब्रह्मा और विष्णुका उनकी स्तुति करना १९०

२७९–भगवान् शिवका नर्मदेश्वर शिवलिङ्गरूप होना तथा गालव-शूद्र-संवादका उपसंहार ... ५००

२८०–भगवान् शिवका स्वागत या वृषभध्वजतीर्थकी महिमा तथा शिवका काशीपुरीमें प्रवेश ६५५

२८१–भगवान् शिवकी महिमा, दक्षका शिवजीसे द्वेष तथा दक्ष-यज्ञमें सतीका गमन ... ९

२८२–भगवान् शिवके आदेशसे सूर्यका काशीमें गमन और निवास तथा लोलार्कतीर्थका माहात्म्य ६३३

२८३–भगवान् शिवके दिये हुए मन्त्रद्वारा ब्राह्मणोंपर आये हुए सर्पोंके उपद्रवका निवारण ... ८७८

२८४–भगवान् शिवके मुखसे विश्वेश्वरलिङ्गकी महिमाका वर्णन ६९४

२८५–भगवान् श्रीरामके द्वारा राक्षसोंसहित रावणका वध और सेतुके क्षेत्रमें रामेश्वरलिङ्गकी स्थापना ४३९

२८६–भगवान् सूर्यकी अष्टोत्तरशत नामोंद्वारा स्तुति तथा अन्यान्य तीर्थोंकी महिमा ... ७१८

२८७–भगवान् सूर्यके अष्टोत्तरशत नामोंकी महिमा १०२७

२८८–भट्टादित्यकी स्थापना तथा नारदजीके द्वारा एक सौ आठ नामोंसे उनकी स्तुति ... १४६

२८९–भद्रकाली, कुबेर तथा गुप्तप्रयागका माहात्म्य १०३१

२९०–भद्ररुद्रेश्वरकी महिमा, दुर्वासाजीके द्वारा अमरकण्टकका गयातीर्थके तुल्य होना तथा राजा भरतका यज्ञ ७८२

२९१–भद्रायु तथा कीर्तिमालिनीके भक्ति-भावकी परीक्षा लेकर भगवान् शिवका उन्हें वरदान देना ५३१

२९२–भस्मकी महिमा, शबरकी चिताभस्मद्वारा की हुई पूजासे शिवजीकी प्रसन्नता और उसकी जली हुई पत्नीका पुनः जीवित होना ... ५३४

२९३–भस्मकी महिमासे ब्रह्मराक्षसका उद्धार ... ५३३

२९४–भानुमतीका तीर्थ-सेवन, शूलभेदतीर्थमें शबर दम्पतिका उद्धार और सती भानुमतीको कैलासधामकी प्राप्ति ८०६

२९५–भृगुतीर्थ और भास्करतीर्थका माहात्म्य ... ७५६

२९६–भैरवतीर्थ और नागतीर्थकी महिमा ... ७४२

२९७–भैरवेश्वर आदि विविध लिङ्गोंका माहात्म्य ... ९८१

२९८–मङ्गल, बृहस्पति और शनिके लोकोंकी स्थिति ५६८

२९९–महर्लोक, जनलोक और तपोलोककी स्थिति; ब्रह्माजीके द्वारा सत्यलोकका महत्त्व-कथन और भारतवर्ष एवं वहाँके तीर्थोंकी महत्ता बताते हुए प्रयाग और काशीकी महिमाका प्रतिपादन ५७६

३००–महर्षि अगस्त्यकी तपस्यासे सुवर्णमुखरी नदीका प्रादुर्भाव और उसका माहात्म्य ... २४१

३०१–महर्षि अगस्त्यकी प्रार्थनासे भगवान् विष्णुका वेङ्कटाचलपर श्री-भू देवियोंके साथ निवास तथा आकाशराजके यहाँ पद्मावती और वसुदानका जन्म २११

३०२–महर्षि च्यवनकी कथा और च्यवनेश्वरकी महिमा १०२७

३०३–महर्षि वशिष्ठके उपदेशसे राजा कीर्तिमान्का अपने राज्यमें वैशाखमासके धर्मका पालन कराना और यमराजका ब्रह्माजीसे राजाके लिये शिकायत करना ३६७

३०४–महाकालकी परिक्रमा, यात्रा और विभिन्न देवताओंके दर्शनका माहात्म्य ... ७०७

३०५–महाकालके समीप जागरणकी महिमा, राजा रुद्रसेनका पूर्व-वृत्तान्त ८५४

३०६–महाकालद्वारा करन्धमके प्रश्नानुसार श्राद्ध तथा युग-व्यवस्थाका वर्णन ... १२५

३०७–महाकालवनमें भगवान् शिवका प्रवेश, कपालमोचन, देवताओंद्वारा स्तवन तथा महापाशुपतव्रतकी महिमा ७००

३०८–महाकाली देवी, पुष्करावर्तका नदी एवं कङ्कालभैरवकी महिमा १०००

३०९–महात्मा नन्दभद्रके सारभूत विचार तथा उनके द्वारा सत्यव्रतके नास्तिकतापूर्ण विचारोंका खण्डन १४८

३१०—महादेवजीके द्वारा पार्वतीको [illegible] एवं ज्ञानयोगका निरूपण ... ५०२
३११—महाराज दिवोदासके धर्मपूर्ण राज्यका वर्णन ... ६३१
३१२—महीसागरसङ्गमकी श्रेष्ठता तथा उसके गुप्त क्षेत्र होनेका कारण ... १७५
३१३—महीसागरसङ्गमतीर्थकी रक्षा करनेवाली देवियोंका परिचय १५६
३१४—मातङ्ग, मृगवन और वाराहतीर्थकी महिमा ७९०
३१५—माधव, शृगालेश्वर और देवविग्रहोंके सेवनकी महिमा १०३२
३१६—मान्धाताका चरित्र ७७२
३१७—मार्कण्डेय मुनिको अमरत्वकी प्राप्ति, ब्रह्माजीकी स्थापना, बालसख्यतीर्थकी महिमा ... ८३६
३१८—मार्कण्डेयेश्वर आदि विविध लिङ्गोंकी महिमा १०१८
३१९—मार्गशीर्ष मासमें प्रातःस्नानकी महिमा, स्नान-विधि, तिलक-धारण, गोपीचन्दनका माहात्म्य, तुलसीमालाका महत्त्व, भगवत्पूजनका विधान और शङ्खकी महिमा ३४०
३२०—मार्गशीर्ष मासमें मथुरा-सेवनका माहात्म्य और ग्रन्थका उपसंहार ३५२
३२१—माहेश्वरतीर्थकी महिमा, राजा सालङ्कायनका यज्ञ ७६९
३२२—मुक्तिदायक तीर्थोंका वर्णन तथा मानसतीर्थ एवं काशीकी श्रेष्ठता ५४९
३२३—मृकण्ड-आश्रममें दो गन्धर्वोंका उद्धार तथा चन्द्रमती-नर्मदा-सङ्गम आदि अन्य तीर्थोंकी महिमा ८०५
३२४—मृगपदतीर्थ और विष्णुपदतीर्थका प्रादुर्भाव तथा माहात्म्य, विष्णुपदीमें स्नान आदिका महत्त्व ८३८
३२५—मृत्युसूचक चिह्नोंका वर्णन ... ६३०
३२६—मेघनादतीर्थका प्राकट्य और उसकी महिमा ८०२
३२७—मेरुगिरिपर भगवान् वाराहकी सेवामें पृथ्वी-देवीका उपस्थित होना और श्रेष्ठ पर्वतों तथा वेङ्कटाचलवर्ती तीर्थोंका माहात्म्य सुनना ... २०७
३२८—मेरुगिरिसे स्पर्धा करके विन्ध्याचलका सूर्यके मार्गको रोकना और ब्रह्माजीके आदेशसे देवताओंका काशीमें अगस्त्य मुनिके समीप जाना ५४२
३२९—[illegible] कपालतीर्थ, दण्डपुष्करिणी, गङ्गा-सङ्गम तथा धर्मक्षेत्र आदिका माहात्म्य और ग्रन्थका उपसंहार ३१२
३३०—यमराजके द्वारा भगवान् शिवकी स्तुति तथा शिवके द्वारा यमराजको आत्मज्ञानका उपदेश ... ६५
३३१—यमराज तथा मार्कण्डेयजीके द्वारा भगवान्की स्तुति और पुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा ... २५२
३३२—यमुना और श्रीकृष्णपत्नियोंका संवाद, कीर्तनोत्सवमें उद्धवजीका प्रकट होना ... ३५६
३३३—योगेश्वरी देवीकी महिमा ... ९८५
३३४—रत्नेश्वरलिङ्गकी महिमा ... ६६३
३३५—राजवापीके प्रसङ्गमें राजा दशरथका प्रभाव, शनैश्चर ग्रहकी पराजय ... ८७२
३३६—राजा इन्द्रद्युम्नका नारदजीके साथ नृसिंहजी, कल्पवट तथा नीलमाधवके स्थानका दर्शन करना और आकाशवाणी सुनना ... २७२
३३७—राजा इन्द्रद्युम्नका पुरुषोत्तमक्षेत्रको प्रस्थान और महानदीके तटपर विश्राम ... २६९
३३८—राजा इन्द्रद्युम्नका ब्रह्मलोक-गमन, पुराण-श्रवणकी विधि और ग्रन्थका उपसंहार ... २९९
३३९—राजाका एकाम्रक्षेत्र (भुवनेश्वर) में जाकर भगवान् शिवका पूजन करना और भगवान् शिवका नारदजीसे उनके कर्तव्यकार्योंका संकेत करना २७१
३४०—राजा गज और भद्रमुनिका संवाद ... १०४१
३४१—राजा चमत्कारकी तपस्यासे संतुष्ट हुए शिवका अचलेश्वररूपसे निवास ... ८३२
३४२—राजा त्रिशङ्कुका वशिष्ठ-पुत्रोंके शापसे चाण्डाल होना ८२५
३४३—राजा परीक्षित्को ब्राह्मणका शाप, तक्षकके काटनेसे उनकी मृत्यु तथा उनकी रक्षा न करनेके पापसे कलङ्कित काश्यप ब्राह्मणका स्वामिपुष्करिणीमें स्नान करके शुद्ध होना ... २२२
३४४—राजा पुण्यनिधिके यहाँ महालक्ष्मीका पुत्रीके रूपमें निवास एवं सेतुमाधवकी महिमा ... ४४७
३४५—राजा पुरुयशाको भगवान्का दर्शन, उनके द्वारा भगवत्स्तुति और भगवान्के वरदानसे राजाकी सायुज्य-मुक्ति २७३
३४६—राजा बलिके राज्यकी प्रशंसा ... १०४५

३४७–राजा युधिष्ठिरके पूछनेपर मार्कण्डेयजीके द्वारा पुरूरवाकी तपस्यासे नर्मदाजीके मर्त्यलोकमें आगमनका वर्णन ··· ··· ७४९
३४८–राजा वीरबाहुके पूर्वजन्मका वृत्तान्त एवं एकादशी व्रत और उसका उद्यापन ··· ३४४
३४९–राजा शतशृङ्गकी पुत्री कुमारीका चरित्र तथा कुमारीखण्डकी श्रेष्ठता ··· ··· ११८
३५०–राजा सुरथके द्वारा भैरवजीकी स्थापना और आराधना ··· ··· ९००
३५१–राजा हिरण्यतेजाके तपसे नर्मदाका अवतरण ७५०
३५२–रामतीर्थ, लक्ष्मणतीर्थ और जटातीर्थकी महिमा ४१६
३५३–रामनामकी महिमा, कलियुगका प्रभाव तथा धर्मारण्यक्षेत्रके माहात्म्य-श्रवणका फल ··· ४८६
३५४–रामेश्वर, चित्राङ्गदेश्वर तथा रावणेश्वरकी महिमा ··· ··· ९९७
३५५–रामेश्वर नामक महालिङ्गकी महिमा ··· ४३७
३५६–रुद्रभक्तिका निरूपण तथा महाकालक्षेत्रमें निवास करनेवाले मनुष्योंके नियम ··· ७०३
३५७–रैवत और क्षेमङ्करीद्वारा रैवतेश्वर तथा कात्यायनीकी स्थापना ··· ··· ८८०
३५८–रैवन्त और अनन्तेश्वरकी महिमा, सावित्री-की कथा, सावित्रीव्रतकी महिमा ··· १००३
३५९–लक्ष्मीतीर्थ और अग्नितीर्थका माहात्म्य, पिशाचयोनिको प्राप्त हुए दुष्पण्यका उद्धार ४१७
३६०–लड्डुकप्रिय गणेश, कुसुमेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, ब्रह्माणीदेवी, ब्रह्मेश्वर, यज्ञवापी, रूपकुण्ड, अनङ्गेश्वर तथा सोमेश्वरका माहात्म्य ··· ७१३
३६१–लोमशजीका राजा इन्द्रद्युम्नको अपने पूर्व-जन्मका चरित्र सुनाकर शिवकी आराधनाका महत्त्व बतलाना ··· ··· ९४
३६२–लोमशेश्वर, चित्रपथा नदी, रूपकुण्ड, रत्नेश्वर तथा वैनतेयेश्वरका माहात्म्य ··· १००२
३६३–लोलजिह्वाक्षका वध, गणेशजीकी उत्पत्ति और देवताओंद्वारा उनका स्तवन ··· ४७२
३६४–वराङ्गना-नर्मदा-सङ्गम तथा कपिलातीर्थका माहात्म्य, महाराज मनुकी त्रिपुरी यात्रा और नर्मदासे वरदान पाना ··· ··· ७५४
३६५–वशिष्ठजीके द्वारा भिन्न-भिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन, श्रीरामकी धर्मारण्य-यात्रा, वहाँके भगे हुए ब्राह्मणोंको पुनः लाकर बसाना और सत्य-मन्दिरकी स्थापना करना ··· ४८०
३६६–वागीश्वरतीर्थमें राजा ब्रह्मदत्तके यज्ञमें प्रेतोंका उद्धार तथा सहस्रावर्त आदि तीर्थों-की महिमा ··· ··· ७९१
३६७–वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमके धर्मका वर्णन, योगमार्गका निरूपण ··· ६२५
३६८–वामनजीका बलिसे तीन पग भूमि ग्रहण करना १०५०
३६९–वायु, कुबेर, ईशान और चन्द्रमाके लोकों-की स्थितिका वर्णन ··· ··· ५६४
३७०–वाराह भगवान् तथा अस्थिसरोवरतीर्थकी महिमा, भक्त कुम्हार तथा राजा तोण्डमानका परमधाम-गमन ··· ··· २२०
३७१–वाल्मीकिकी तपस्या, वाल्मीकेश्वरकी महिमा ··· ७०८
३७२–वास्तुपद तीर्थ तथा अजागृहा देवीकी महिमा ··· ८९२
३७३–विद्यापतिका शबरके साथ नीलमाधवका दर्शन करके तीर्थकी परिक्रमा करना और अवन्तीमें जाकर राजा इन्द्रद्युम्नको सब समाचार सुनाना ··· ··· २६२
३७४–विभिन्न तीर्थोंके देवविग्रहोंका काशीमें आगमन और उनका स्थान ··· ६६५
३७५–विभिन्न देवताओंके सन्तोषके लिये कार्तिक-स्नानकी विधि तथा स्नानके लिये श्रेष्ठ तीर्थों-का वर्णन ··· ··· ३१६
३७६–विविध क्षेत्र, अरण्य और पुरी आदिका वर्णन ९२१
३७७–विश्वकर्माके तपसे वृत्रासुरकी उत्पत्ति तथा दधीचिद्वारा देवताओंको अस्थिदान ··· ३१
३७८–विश्वानरके पुत्र गृहपतिका भगवान् शिवकी आराधनासे अग्नि एवं दिक्पालका पद प्राप्त करना ··· ··· ५६०
३७९–विश्वामित्रका मेनकासे वार्तालाप, सती स्त्रियोंके पालन करनेयोग्य धर्मका वर्णन ··· ८५१
३८०–विश्वामित्रकी उत्पत्ति, राज्यप्राप्ति तथा राज्य त्यागकर तप करनेका निश्चय ··· ९०६
३८१–विश्वामित्रकी तपस्या, ब्राह्मण-पदकी प्राप्ति ··· ९०७
३८२–विश्वामित्रजीके द्वारा त्रिशङ्कुका यज्ञ पूरा करके सृष्टि-रचनाका उद्योग आदि ··· ८२७
३८३–विश्वामित्रतीर्थ एवं रत्नादित्यकी महिमा ९२५

३८४–विष्णुपदीकी अद्भुत महिमा, चण्डशर्माकी शुद्धि ८३९

३८५–विष्णुपदोद्भवतीर्थकी महिमा, उद्धवजीका व्रजमें आगमन १०५८

३८६–वीरेश्वरका जन्म, तपस्या, वीरेश्वरलिङ्गका प्राकट्य और उसकी महिमा ... ६८५

३८७–वीरेश्वरलिङ्गकी महिमाके प्रसङ्गमें राजा अमित्रजित और मलयगन्धिनीका चरित्र ... ६८२

३८८–वेङ्कटाचलके मुख्य तीर्थोंका वर्णन, पुराण-श्रवणकी महिमा और नियम तथा अर्जुनकी तीर्थ-यात्रा २३७

३८९–वेङ्कटाचलनिवासी श्रीहरि और पद्मावतीका विवाह २१२

३९०–वेङ्कटाचलपर राजा शङ्ख और महर्षि अगस्त्य आदिको भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन तथा वर-प्राप्ति २४१

३९१–वेदोंके स्वाध्याय, बलिवैश्वदेव, अतिथि-सेवा, आठ प्रकारके विवाह, पञ्चयज्ञ तथा व्यावहारिक शिष्टाचारोंका कथन ४६४

३९२–वैकुण्ठ और कैलाशकी स्थिति तथा शिव और विष्णुकी अभिन्नता एवं महत्ताका निरूपण ... ५७८

३९३–वैशाखकी अक्षय तृतीया और द्वादशीकी महत्ता, द्वादशीके पुण्यदानसे एक कुतियाका उद्धार ३८४

३९४–वैशाखमासकी अन्तिम तीन तिथियोंकी महत्ता तथा ग्रन्थका उपसंहार ... ३८६

३९५–वैशाखमासकी श्रेष्ठता, उसमें जल, व्यजन, छत्र, पादुका और अन्न आदि दानोंकी महिमा ३६३

३९६–वैशाखमासके माहात्म्य-श्रवणसे एक सर्पका उद्धार और वैशाख-धर्मके पालन तथा राम-नाम-जपसे व्याधका वाल्मीकि होना ... ३८०

३९७–वैशाखमासमें छत्र-दानसे हेमकान्तका उद्धार ३६५

३९८–वैशाखमासमें विविध वस्तुओंके दानका महत्त्व तथा वैशाख-स्नानके नियम ... ३६४

३९९–वैष्णवक्षेत्रमें भगवान् दैत्यसूदनकी महिमा ... ९८४

४००–शङ्करवापी, शङ्करादित्य, गन्धवती नदी, हरसिद्धि देवी, वटयक्षिणी, पिशाचतीर्थ, शिप्रागुप्तेश्वर आदि तथा हनुमत्केश्वरकी महिमा ... ७०५

४०१–शङ्खतीर्थकी महिमा; राजा दम्भका चरित्र तथा ताम्बूलके दोष ९२३

४०२–शङ्खतीर्थकी उत्पत्ति; उसमें स्नानसे राजा चमत्कारके कुष्ठरोगकी निवृत्ति ... ८३०

४०३–शङ्ख-व्याध-संवाद, व्याधके पूर्वजन्मका वृत्तान्त ३७५

४०४–शङ्खोद्धारतीर्थकी महिमा ... १०६७

४०५–शाण्डिलीके उपदेशसे कात्यायनीके द्वारा पञ्च-पिण्डा गौरीकी उपासना ... ८९०

४०६–शाल्कटङ्कटादेवी, दशरथेश्वर, भरतेश्वर आदिका महत्त्व १००६

४०७–शालग्राम-पूजन; द्वादशाक्षर मन्त्र एवं रामनामकी महिमा ४९१

४०८–शिप्राका माहात्म्य, उसके 'ज्वरघ्नी' और 'अमृतोद्भवा' आदि नाम पड़नेका कारण ... ७२७

४०९–शिवकी कृपाके बिना काशीवासकी दुर्लभता तथा काशीकी महिमा ६०६

४१०–शिवके विभिन्न तीर्थोंकी महिमा ... १९२

४११–शिवके षडक्षर एवं पञ्चाक्षर मन्त्रका माहात्म्य, राजा दाशार्ह तथा रानी कलावतीकी कथा ... ५०५

४१२–शिवनेत्र-कुण्ड तथा जनकतीर्थका माहात्म्य ... ७६५

४१३–शिव-पार्वतीके दाम्पत्य-जीवनकी एक झाँकी, पार्वतीकी अरुणाचलक्षेत्रमें तपस्या और दुर्गा-देवीके द्वारा शुम्भ, निशुम्भ और महिषासुरका वध १९८

४१४–शिव-पार्वती-संवाद, तीर्थोंका संक्षिप्त वर्णन ... ९४९

४१५–शिव-पूजनकी महिमा १६

४१६–शिव-पूजाकी महिमाके विषयमें परम शिवभक्त राजा चन्द्रसेन और भक्त श्रीकर गोपकी अद्भुत कथा ५११

४१७–शिव-पूजाकी विधि तथा सदाचारका निरूपण १३३

४१८–शिवयोगीसे शिवकवचका उपदेश और दिव्य खड्ग एवं शङ्ख पाकर भद्रायुका शत्रुओंको जीतना तथा निषध-राजकी पुत्रीसे उसका विवाह ५२७

४१९–शिवरात्रिकी महिमा ९३७

४२०–शिवरात्रिको शिव-पूजनका महत्त्व, राजा मित्रसहका वशिष्ठके शापसे राक्षस होकर ब्राह्मणकी हत्या करना और गौतमजीका उन्हें गोकर्णक्षेत्रकी महिमा सुनाना ... ५०६

४२१–शिवरात्रि-व्रतकी महिमा … ७०
४२२–शिवलिङ्ग-पूजनकी महिमा तथा रावणके उत्कर्ष और पतनका वृत्तान्त … १७
४२३–शिवलोककी उत्कृष्टता, गोसेवाका महत्त्व, दानकी महिमा तथा नर्मदातटपर दान एवं शिव-ध्यानका माहात्म्य … ७९२
४२४–शिवशर्मा और विष्णु-पार्षदोंका संवाद तथा विभिन्न लोकोंका वर्णन … ५५३
४२५–शिवशर्माका सात पुरियोंकी यात्रा करना और हरद्वारमें उसका परमधाम-गमन … ५५१
४२६–शिवशर्माका सूर्यलोकमें पहुँचकर सूर्यदेवकी महिमा श्रवण करना … … ५५५
४२७–शुकदेवजीका जन्म, वैराग्य, व्यासजीके साथ उनका संवाद और वन-गमन … ८९८
४२८–शुक्रेश्वर आदिके पूजनकी महिमा, पञ्चेशानी यात्राका माहात्म्य तथा पद्मावती आदिके दर्शनका फल … … ७१०
४२९–शुक्लतीर्थकी महिमा … … ८८६
४३०–शूलीतीर्थ और दीर्घिका तीर्थका प्राकट्य, माण्डव्य मुनिका धर्मराजको शाप … ८९५
४३१–श्राद्धकर्ता और श्राद्धभोक्ताके लिये नियम … ९३१
४३२–श्राद्धकल्प … … ९२७
४३३–श्राद्धकी आवश्यकता तथा समय … ९२८
४३४–श्राद्धकी विधि, विहित और निषिद्ध ब्राह्मण तथा मन्वादिका वर्णन … ९२९
४३५–श्राद्धके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातें … १००८
४३६–श्राद्ध-विधि, सप्तशुद्धिका विचार, श्राद्धमें ग्राह्य एवं त्याज्यका निर्णय … १०१०
४३७–श्रीकृष्णके बालस्वरूपका ध्यान; दामोदर-मन्त्रके अधिकारी शिष्य और गुरुका लक्षण और श्रीमद्भागवतकी महिमा … ३५१
४३८–श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी देवीके दर्शन और पूजनकी महिमा … १०६४
४३९–श्रीगङ्गाजीकी महिमा … ५८३, ५८६
४४०–श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्रा, गुण्डिचा-महोत्सव तथा पुनः मन्दिर-प्रवेशसम्बन्धी यात्रा एवं उत्सवकी महिमा … २९०
४४१–श्रीधर्मेश्वर लिङ्गका माहात्म्य, धर्मपीठका गौरव तथा मनोरथतृतीयाव्रतकी विधि और महिमा … ६७८
४४२–श्रीमद्भागवतका माहात्म्य, भागवतश्रवणसे श्रोताओंको भगवद्धामकी प्राप्ति … ३५८
४४३–श्रीमद्भागवतका स्वरूप, प्रमाण, श्रोता-वक्ताके लक्षण, श्रवण-विधि और माहात्म्य … ३६०
४४४–श्रीरामके द्वारा लक्ष्मणका त्याग और लक्ष्मणका परमधाम-गमन … … ८७४
४४५–श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा हनुमान्‌जीको ज्ञानोपदेश … … ४४१
४४६–श्रीविश्वकर्मेश्वरलिङ्गकी महिमा … ६८७
४४७–श्रीसत्यनारायण-व्रतकी विधि, ब्राह्मण और लकड़हारेकी कथा … … ८१७
४४८–श्वेतकिंशुक आदि तीर्थोंकी महिमा … ७७१
४४९–श्वेतकेत्वीश्वर आदि विभिन्न शिवलिङ्गोंका माहात्म्य ९७८
४५०–संक्षेपसे श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण चरित्रका वर्णन … … ४७७
४५१–संक्षेपसे सदाचार और उसके महत्त्वका वर्णन … ६१५
४५२–संज्ञाकी तपस्या, अश्विनीकुमारोंका जन्म तथा बकुलादित्यकी स्थापना … ४७३
४५३–संवर्तके मुखसे महीसागरसङ्गमकी महिमा तथा भर्तृयज्ञद्वारा शतरुद्रिय सुनकर शिवकी आराधनासे इन्द्रद्युम्न आदि सब भक्तोंको शिवसारूप्यकी प्राप्ति … ९७
४५४–संवर्तेश्वर, बलभद्रेश्वर, दशाश्वमेधिक तीर्थ तथा दुर्वासादित्यका माहात्म्य … १०२१
४५५–संसारसे मुक्त होनेके लिये पाप और पाखण्डी जनोंके त्याग तथा शिव एवं नर्मदाके आश्रय लेनेका उपदेश … … ७९१
४५६–संस्कारोंका संक्षिप्त परिचय, ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचर्याश्रमके धर्म … … ६१७
४५७–सतीका अग्नि-प्रवेश, दक्ष-यज्ञ-विध्वंस तथा दक्षपर पुनः भगवान् शिवकी कृपा … १२
४५८–सतीका देहत्याग, पार्वती-विवाह, भगवान् शिवका हरिहररूपमें प्राकट्य और शालग्राम-शिलाका महत्त्व … … ४९७
४५९–सत्यनारायण-व्रतकी महिमा—राजा उल्कामुख, साधुवणिक् और राजा वंशध्वजकी कथा ८१९
४६०–सदाचार, शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, बलि-वैश्वदेव आदिका महत्त्व … ४५९

४६१–सनत्कुमारजीके द्वारा महाकाल तीर्थकी श्रेष्ठताका निरूपण ६९९
४६२–सपिण्डनकी आवश्यकता, तीन गति ... ९३३
४६३–सप्तर्षि-आश्रमकी महिमा तथा सप्तर्षियोंका हाटकेश्वरक्षेत्रमें आगमन ८४६
४६४–सप्तर्षियोंका आगमन, शिवके साथ पार्वतीके विवाहका निश्चय, समस्त देवताओंका शिवकी बारातमें आगमन; हिमवान्द्वारा स्वागत तथा मण्डपमें कन्यादानकी तैयारी ... ५४
४६५–सप्तर्षिलोक और ध्रुवलोककी स्थिति, ध्रुवकी तपस्या और वरदान-प्राप्ति ... ५६९
४६६–सप्त सारस्वत तीर्थकी उत्पत्ति, शाण्डिल्या और नर्मदाके सङ्गमकी महिमा तथा नर्मदा-कुब्जाके सङ्गमपर रन्तिदेवका यज्ञ ... ७६६
४६७–सब तीर्थोंका संक्षिप्त माहात्म्य तथा बदरी-क्षेत्रकी विस्तृत महिमाका उपक्रम ... ३०२
४६८–सब पापोंकी शुद्धिके लिये पुरश्चरणसप्तमी-व्रतकी विधि एवं महिमा ९०२
४६९–समुद्रमें स्नानकी विधि और भगवद्विग्रहोंका वर्णन २८६
४७०–समुद्रमें स्नानकी विधि और महिमा ... ९७२
४७१–सम्भेदतीर्थ, सीताकुण्ड, गुप्तहरि और चक्रहरि-तीर्थकी महिमा ३९४
४७२–सरस्वतीतीर्थकी महिमा, राजा अम्बुवीचिकी मूकताका निवारण ८५३
४७३–सरस्वती नदीकी महिमा तथा वहाँ स्नान, दान और श्राद्धका माहात्म्य ... ९७५
४७४–सरस्वती नदी, द्वारकातीर्थ एवं गोवत्स आदि तीर्थोंकी महिमा ४७६
४७५–सर्वतीर्थ तथा धनुष्कोटितीर्थकी महिमा ... ४२५
४७६–सांसर्गिक पुण्यसे धनेश्वरका उद्धार, दूसरोंके पुण्य और पापकी आंशिक प्राप्तिके कारण तथा मासोपवास व्रतकी संक्षिप्त विधि ... ३३४
४७७–साम्बादित्य, द्रौपदादित्य और मयूखादित्यकी माहात्म्य-कथा ६३६
४७८–सारस्वत-कात्यायन-संवाद—दान और त्याग-की महिमा ७४
४७९–सिद्धेश्वरकी महिमा और तुलादानका महत्त्व ... ९३९
४८०–सिद्धेश्वरलिङ्ग, ऋषितीर्थ और देवी-देवताओं-के सेवनकी महिमा १०६३
४८१–सिद्धेश्वरलिङ्गकी महिमा तथा षडक्षर मन्त्रका माहात्म्य एवं अहिंसाकी महत्ताका वर्णन ... ८४२
४८२–सीतासरोवर एवं मङ्गलतीर्थका माहात्म्य, राजा मनोजवकी कथा ४१२
४८३–सुकन्या-सरोवर, गोष्पदतीर्थ तथा कुबेरेश्वरकी महिमा १०२९
४८४–सुन्दर गन्धर्वका वशिष्ठजीके शापसे राक्षस-भावको प्राप्त होकर पुनः उससे मुक्त होना ... २३५
४८५–सुवर्णमुखरी नदीके तीर्थोंका वर्णन, भगवान् विष्णुकी महिमा, प्रलयकालकी स्थिति तथा श्वेत-वाराहरूपमें भगवान्का प्राकट्य ... २४३
४८६–सूतजीके द्वारा प्रभासखण्डका उपक्रम ... ९४६
४८७–सृष्टि-कथा—दक्ष-कन्याओं तथा धर्म एवं कश्यपजीकी संततिका संक्षिप्त वर्णन ... ९६३
४८८–सेतुतीर्थ (रामेश्वरक्षेत्र) की महिमा ... ४०५
४८९–सेतुतीर्थका माहात्म्य तथा इस खण्डका उपसंहार ४५२
४९०–सेतुतीर्थकी यात्राका क्रम ... ४५०
४९१–सेतुबन्धकी कथा तथा सेतुमें स्थित मुख्य-मुख्य तीर्थोंके नाम ४०६
४९२–सेतुबन्धन आरम्भ करनेकी बात तथा सेतु-यात्राका क्रम एवं विधान ... ४१२
४९३–सोमतीर्थ, ब्रह्मकुण्ड, ब्रह्मेश्वरलिङ्ग, सिद्धेश्वर-लिङ्ग तथा सङ्गमतीर्थकी महिमा ... ७५७
४९४–सोमनाथकी महिमा ९५७
४९५–सोमनाथकी यात्रा-विधि ९६९
४९६–सोमनाथके आठ नाम और पार्वतीके अठारह नामोंका वर्णन ९५५
४९७–सोमनाथके दर्शन-पूजनकी महिमा ... ९७३
४९८–सोमनाथके दिव्यस्वरूपका दिग्दर्शन ... ९५५
४९९–सोमवारव्रतकी विधि और महिमा, गन्धर्वसेना-की रोगनिवृत्ति ९६७
५००–सोमवार-व्रतके प्रभावसे सीमन्तिनीको पुनः परमसौभाग्यकी प्राप्ति ५१९
५०१–सौभाग्य आदि तीर्थोंकी महिमा, अर्जुनको इन्द्रसे सूर्य-प्रतिमाकी प्राप्ति तथा अवन्तीमें उसकी स्थापना और उनके दर्शनका माहात्म्य ७१५
५०२–सौवर्णतीर्थ, करण्डेश्वरतीर्थ; भाण्डारतीर्थ, रोहिणीतीर्थ, चक्रतीर्थ तथा धूमपाततीर्थका माहात्म्य और माहात्म्य-श्रवणका फल ... ८१९

५०३–स्कन्द स्वामी और देवयजनकी महिमा तथा तीनों सूर्य-विग्रहोंके दर्शनका माहात्म्य ... ८६५

५०४–स्तुतिपाठ, मन्त्रजप, साष्टाङ्ग प्रणाम तथा दामोदरमन्त्रके जपका माहात्म्य ... ३४४

५०५–स्वर्गद्वार तथा चन्द्रहरितीर्थकी महिमा, चन्द्र-सहस्र-व्रतकी उद्यापन-विधि ... ३९१

५०६–स्वर्णक्षुर आदिकी महिमा, अन्धकासुरका युद्ध, नरदीप एवं शङ्खोद्धार आदिका माहात्म्य ७१९

५०७–स्वामितीर्थकी महिमा और उसमें स्नान करनेसे राजा धर्मगुप्तके शापजनित उन्मादका निवारण २२५

५०८–हनुमान्‌जीद्वारा भगवान् श्रीराम और सीताका स्तवन तथा अपने लाये हुए शिवलिङ्गका स्थापन ४४३

५०९–हाटकेश्वरक्षेत्रकी दक्षिणोत्तर सीमाके गोकर्णोंका परिचय, गोकर्ण और यमका संवाद ८४०

५१०–हाटकेश्वरक्षेत्रमें तीनों पुष्कर तीर्थोंके आगमनका वृत्तान्त ९१२

५११–हाटकेश्वरक्षेत्रमें पुष्करके प्राकट्यका वार्षिक समय ९१४

५१२–हालाहलदैत्यका वध, रुद्रसरोवरकी महिमा तथा कुशस्थलीमें चार समुद्रोंका आगमन और उसका माहात्म्य ... ७०४

५१३–हिमवान्‌के द्वारा काशीमें शैलेश्वरलिङ्गकी प्रतिष्ठा ६६२

५१४–हिमवान्‌द्वारा कन्यादान, बारातका भोजन और बिदाई, शिवमहिमा तथा कुमारका जन्म ५८

संकलित

१–कौन गृहस्थ पृथ्वीका भूषण होता है (स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड) पाँचवें अङ्कका मुखपृष्ठ २

२–निवेदन और क्षमा-प्रार्थना ... ३

३–प्रह्लादकी भगवद्धारणा (स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड) चौथे अङ्कका मुखपृष्ठ २

४–भगवान् शिवको नमस्कार—चौथे अङ्कका मुखपृष्ठ १

५–भगवान् हरि-हर (स्कन्दपुराण, ब्राह्मखण्ड, चातुर्मास्यमाहात्म्य) दूसरे अङ्कका मुखपृष्ठ १

६–वैष्णव कौन हैं २

७–शुक्लाम्बर शशिवर्ण भगवान् विष्णु ... १

८–शेषशायी भगवान् (प्रभासखण्ड, द्वारकामाहात्म्य) पाँचवें अङ्कका मुखपृष्ठ १

९–श्रीरामनाम-महिमा (स्कन्दपुराण, नागरखण्ड) तीसरे अङ्कका मुखपृष्ठ २

१०–श्रीसरस्वतीदेवी– तीसरे अङ्कका मुखपृष्ठ १

११–सुखी और कृतार्थ कौन है ? (स्कन्दपुराण, नागरखण्ड) दूसरे अङ्कका मुखपृष्ठ २

चित्र-सूची

सुनहरे चित्र

१–श्रीश्यामाश्यामकी झाँकी ७३९

२–श्रीसीतारामकी झाँकी ३८८

तिरंगे चित्र

१–गौतमाश्रममें पार्वती १९९

२–तपस्यामें लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शिवके दर्शन ५३

३–दिव्य सिंहासनपर भगवान् जनार्दन, बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शन चक्र ... २७८

४–देवर्षि नारदजीको गरुडवाहन श्रीहरिके दर्शन १३७

५–भगवान् बालकृष्ण ३५१

६–भगवान् वाराह २०८

७–भगवान् शेषशायी १०१५

८–भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अभ्यर्थना ... ४४०

९–भगवान् हरि-हर ८२३

१०–मयूरवाहन स्कन्द और पञ्च देवता (विशेषाङ्कका मुखपृष्ठ)

११–विष-पान ५४२

१२–शिव-परिवार ९५१

१३–शिव-विवाह ६४१

१४–शुक्लाम्बर शशिवर्ण भगवान् विष्णु ... १

१५–श्रीसरस्वती देवी ८८७

१६–संकीर्तनमें उद्धवजीका प्राकट्य ... ३५८

इकरंगे चित्र

१—अर्चा-विग्रहसे प्रकट होकर भगवान् विष्णु ऐतरेयको दर्शन दे रहे हैं ··· १३१
२—कदम्बमूलमें भगवान् गोविन्द झूला झूल रहे हैं २९७
३—गणेशजीका मस्तक-छेदन ··· ४८५
४—गणेशजीको गजमस्तक-दान ··· ४८५
५—गरुडपर मन्दराचल ··· ··· २५
६—चाण्डालके स्थानपर विष्णुदासको भगवान्का दर्शन ··· ··· ३२३
७—छत्र और जलदानसे हेमकान्तपर भगवत्कृपा ३४०
८—त्रिदेवोंकी एकता ··· ··· १३०
९—दक्षके द्वारा सतीका तिरस्कार ··· १४
१०—ध्रुवकी सफल साधना ··· ··· ५७४
११—पद्मालया और भगवान्का परस्पर माला पहनाना ··· ··· २१७
१२—बर्बरीकका बल-प्रदर्शन ··· ··· १७९
१३—ब्रह्मा और यमराजके द्वारा भगवान् विष्णुका स्तवन ··· ··· २५२
१४—ब्रह्माजीका प्राकट्य ··· ··· ५७५
१५—ब्राह्मणके द्वारा राजकन्याका हाथ पकड़ा जाना ४४८
१६—ब्राह्मणोंसे घिरे हुए देवर्षि नारदजीके साथ अर्जुनका संवाद ··· ··· ७४
१७—भक्त भीम कुम्हारका पत्नीसहित विमानारोहण २२२
१८—भक्त विष्णुदासके द्वारा चाण्डालकी सेवा ··· ३२३
१९—भगवान् रामचन्द्रका दान ··· ४८४
२०—भगवान् विष्णुको लक्ष्मीदेवी भोजन परोस रही हैं ··· ··· २९२
२१—भूदेवी तथा श्रीदेवीसहित सपरिकर भगवान् विष्णु ··· ··· २२३
२२—मुर-कन्याको न मारनेके लिये श्रीकृष्णसे कामाख्याका अनुरोध ··· ··· १७८
२३—रत्नसिंहासनपर भगवान् लक्ष्मी-विष्णु ··· ३४१
२४—रत्नहिंडोलेपर भगवान् लक्ष्मीनारायण ··· २९६
२५—राजा इन्द्रद्युम्नको ध्यानमें भगवान्के दर्शन ··· २५३
२६—राजाके द्वारा ब्राह्मणको बंदी बनाया जाना ··· ४४८
२७—राजाके द्वारा लक्ष्मीनारायणका स्तवन ··· ४४९
२८—राजाको स्वप्नमें भगवान्के दर्शन ··· ४४९
२९—राजा वज्राङ्गदपर भगवान् अरुणाचलेश्वरकी कृपा ··· ··· ··· २१६
३०—राजा श्वेतको भगवान् लक्ष्मीनृसिंहके दिव्य दर्शन ··· ··· २९३
३१—रानी सुमित्राके द्वारा अपने पति और पुत्रकी दशाका वर्णन ··· ··· ४१३
३२—वटवृक्षसे देवताओंका निकलना ··· ३२२
३३—वीरभद्रके द्वारा दक्षयज्ञ-विध्वंस ··· १५
३४—शिव-विवाहकी लौटती हुई बरात ··· ७५
३५—श्रीलक्ष्मीका भगवान्को माला-अर्पण ··· २४
३६—समुद्र-मन्थन ··· ··· २५
३७—समुद्र-मन्थनसे श्रीमहालक्ष्मीका प्रादुर्भाव ··· २४
३८—सर्वस्वदानी रघु और ब्राह्मण कौत्स ··· ३९४
३९—सुदर्शन चक्रके द्वारा गालव मुनिकी रक्षा ··· ३९५
४०—हनुमान्जीके द्वारा भगवान् श्रीराम और सीताका स्तवन ··· ··· ४१३
४१—हेमकान्तके द्वारा त्रित मुनिको छत्र-जलदान ··· ३४०

इकरंगे (लाइन)

१—अञ्जनाको वायुदेवके द्वारा वरदान ··· २५०
२—अगस्त्यजीका गङ्गाजीको अपना अभीष्ट मार्ग दिखाना ··· ··· २४२
३—अग्निबिंदुके सामने लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णुका प्राकट्य ··· ··· ६५३
४—अतिथि-सत्कार ··· ··· ४६५
५—अपनी कन्या सीमन्तिनीका भविष्य सुनकर चित्रवर्माका चिन्तामें डूब जाना ··· ५२०
६—अर्जुनके द्वारा पञ्चाप्सरस तीर्थमें ग्राह बनी अप्सराओंका उद्धार ··· ··· ७४
७—अस्थि-सरोवरके प्रभावसे जीवित हुई ब्राह्मणीकी अपने पतिदेवसे भेंट ··· ··· २२१
८—इन्द्रका बृहस्पतिजीसे प्रदोष-व्रतकी उद्यापन-विधि पूछना ··· ··· ३६
९—इन्द्रद्युम्न आदिके सामने भगवान् शङ्करका प्राकट्य ··· ··· १०२
१०—इन्द्रद्युम्नका नारदजीके साथ भगवान्का प्रसाद ग्रहण करना ··· ··· २७०
११—इन्द्रद्युम्नद्वारा भगवान्का स्तवन ··· २७७
१२—ऐतरेयका माताको उपदेश देना ··· १४०
१३—कपर्दीका शिवनाम संकीर्तन करना ··· ६४५
१४—कार्तिकेयजीकी क्रौञ्चपर्वतपर भीषण तपस्या ··· ५०४
१५—कार्तिकेयजीके शक्ति-प्रहारसे तारककी मृत्यु ··· ६४

990361

१६–कालभीतिका प्रकट हुए शिवलिङ्गकी स्तुति करना ··· ··· ··· १२४

१७–काशी-गमनके लिये कलावतीका अपने पतिसे प्रार्थना करना ··· ··· ६१४

१८–कुतियाका दिव्य देहको प्राप्त होना ··· ३८६

१९–कुमारीका दर्पणमें अपना मुँह देखना ··· ११८

२०–कुमारीका पार्वतीजीकी सखी चित्रलेखाके स्वरूपको प्राप्त होना ··· ··· १२०

२१–कुसुम-सरोवरपर संकीर्तनमें उद्धवजीका प्राकट्य ··· ··· ३५८

२२–कैलाशमें शिवजीका राज्य ··· ··· ७१

२३–गालवमुनिद्वारा शालग्राम-पूजनका माहात्म्य-कथन ··· ··· ··· ४९६

२४–गौतमाश्रममें हिंसक प्राणियोंका परस्पर प्रेम ··· १९९

२५–चक्रद्वारा राक्षसका शिरश्छेदन ··· २३४

२६–जुआरीका स्वर्गमें ऋषि-मुनियोंको अंधाधुंध दान देना ··· ··· ४२

२७–तक्षकके काटनेसे वृक्षका भस्म होना ··· २२३

२८–तपस्यामें लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शङ्करका दर्शन तथा परस्पर वार्तालाप ··· ५४

२९–तुलसी-वृक्षके नीचे भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिका पूजन ··· ··· ··· ३१६

३०–त्वष्टाका ब्रह्माजीसे पुत्रप्राप्तिके लिये वर माँगना ३२

३१–दक्षद्वारा भगवान् शङ्करका स्तवन ··· १५

३२–दक्ष प्रजापतिको श्रीजगन्नाथजीका वरदान देना २९८

३३–दुर्गा देवीका महिषासुरके साथ युद्ध करनेके लिये प्रस्थान ··· ··· २००

३४–दुर्वासाजीका कान्तिशाली और कलाधरको शाप देना ··· ··· ··· २०४

३५–देवताओंद्वारा भगवान् विष्णुसे वर-याचना ··· ३१३

३६–धर्मका महीसागरसङ्गमतीर्थको सावधान करना ··· ··· ··· १७६

३७–धर्मकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये वर्धिनी अप्सराका उपस्थित होना ··· ··· ४५७

३८–धर्मक्षेत्र तीर्थमें पुण्यकीर्तिरूपधारी भगवान्का उपदेश देना ··· ··· ६४८

३९–धर्मज्ञ रीछका सिंहको उपदेश ··· २२६

४०–धर्मवर्माका छद्मरूपमें पधारे हुए नारदजीसे परिचय पूछना ··· ··· ८३

४१–ध्रुवका माता सुनीतिके सामने फूट-फूटकर रोना ५७०

४२–नन्दीकी भगवान् शङ्करसे सेवाके लिये प्रार्थना ६१७

४३–नारदजीका ब्रह्माजीसे चातुर्मास्य-व्रतका माहात्म्य पूछना ··· ··· ४८८

४४–नारदजीका ब्राह्मणोंके सामने अपना स्वरूप प्रकट करना ··· ··· ९०

४५–नैध्रुवका शारदाके प्रति उमा-महेश्वरव्रतकी महिमाका कथन ··· ··· ५३८

४६–पार्वतीजीका कुमार षडाननको गोदमें लेनेके लिये उनकी ओर बढ़ना ··· ··· ६१

४७–पार्वतीजीका भगवान् शङ्करसे रत्नेश्वर लिङ्गका स्वरूप एवं प्रभाव पूछना ··· ··· ६६३

४८–पार्वतीजीकी महादेवजीसे हरिकेशको वर देनेके लिये प्रार्थना ··· ··· ६१०

४९–पार्वतीजीके तपसे जगत् संतप्त होनेपर देवताओंद्वारा ब्रह्माजीकी शरण लेना ··· ५०

५०–पार्वतीजीको अरुणाचलपर अपूर्व ज्योतिका दर्शन ··· ··· ··· २०२

५१–पृथ्वीदेवीद्वारा भगवान् वाराहका पूजन ··· २०८

५२–बर्बरीकका नागकन्याओंके विवाह-प्रस्तावको ठुकराना ··· ··· १८४

५३–बर्बरीकका नागगणसे वरदान माँगना ··· १८३

५४–बर्बरीकका भगवान् श्रीकृष्णसे श्रेयको पूछना १८१

५५–बालकका नन्दभद्रको उपदेश देना ··· १५३

५६–ब्रह्माजीका इन्द्रद्युम्नको पृथ्वीपर लौटनेका आदेश ··· ··· ··· ९४

५७–ब्रह्माजीका भगवान्से मार्गशीर्ष मासका माहात्म्य पूछना ··· ··· ··· ३४०

५८–ब्राह्मणोंद्वारा सूर्य भगवान्का स्तवन ··· १६६

५९–भगवान् नारायणका ध्रुवको वरदान देना ··· ५७६

६०–भगवान् रामका अबलाको दुखी देखकर द्रवित होना ··· ··· ४८३

६१–भगवान् रामद्वारा सीता-कुण्डका माहात्म्य-कथन ··· ··· ··· ३९५

६२–भगवान् वाराहके स्वरूपका ध्यान ··· २११

६३–भगवान् वासुदेवका नारदजीके समक्ष प्रकट होना ··· ··· ··· १३७

६४–भगवान् विष्णुका अपने चक्रसे पुष्करिणी खोदना ··· ··· ५८२

11036l....

६५–भगवान् विष्णुका बलि और उसकी पत्नीको वरदान देना ४६
६६–भगवान् विष्णुका वसुको अपने पुत्रका वध करनेसे रोकना २१८
६७–भगवान् विष्णुकी पार्वतीजीसे क्षमा-याचना ४९८
६८–भगवान् विष्णुके द्वारा देवताओंको आश्वासन ... १९
६९–भगवान् शङ्करका बर्बरीकको भीमसेनको छोड़ देनेके लिये आदेश १८६
७०–भगवान् शङ्करका भगवान् विष्णु एवं ब्रह्माजीके सामने प्रकट होना १९१
७१–भगवान् शिवका व्याघ्ररूपधारी दैत्यका वध करना ६६१
७२–भगवान् शिवके द्वारा बदरीक्षेत्रकी महिमाका कथन ३०३
७३–भगवान् श्रीकृष्णका पद्मावतीका स्मरण करना ... २१३
७४–भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा बर्बरीकका मस्तक-छेदन १८८
७५–भगवान् श्रीकृष्णद्वारा उग्रसेनजीको नारदजीके गुणोंका कथन १६९
७६–भगवान् सूर्यका राजा घोषके सामने प्रकट होना ४००
७७–भगवान् सूर्यदेवका नारदजीके सामने प्राकट्य ... १४६
७८–भद्रायु और रानीका शिवयोगीकी पूजा करना ५२६
७९–भद्रायुका व्याघ्रपर तीखे बाणोंकी वर्षा करना ५३१
८०–महीसागरसङ्गमतीर्थमें कुमारद्वारा पार्वतीजी एवं गणेशजीकी स्थापना १०८
८१–मार्कण्डेयजीका नन्दिकेश्वरसे अरुणाचलक्षेत्रकी महिमा पूछना १९४
८२–मेधातिथिका चिरकारीको छातीसे लगाना ... ९३
८३–मोहिनीद्वारा देवताओंको अमृत-रसपान ... २६
८४–राजा पुण्यनिधिके सामने लक्ष्मीनारायणका प्राकट्य ४४९
८५–राजा वीरबाहुका भरद्वाजजीसे अपने सौभाग्यका कारण पूछना ३४५
८६–राजा शङ्खका अगस्त्यजीके साथ भगवान् विष्णुका कीर्तन करना २४७
८७–रामानुजद्वारा भगवान् श्रीविष्णुका स्तवन ... २३२
८८–रिपुञ्जयके सामने शिव-पार्षदोंसे घिरे हुए दिव्य विमानका अवतरण ६५०
८९–रिपुञ्जयको ब्रह्माजीका दर्शन देना ... ६२०
९०–[illegible]टी चुराकर दौड़ते हुए चाण्डाल[illegible] [illegible]छे विष्णु[illegible]का घी लेकर जाना ३३२
९१–[illegible] [illegible]यसे [illegible]ाना ... ५४९
९२–लीला[illegible] [illegible]ात ही जैगीषव्यका उल्लसित हो उठना ६५७
९३–लोपामुद्राके चरण-चिह्नोंको देखकर देवताओंका नमस्कार करना ५४५
९४–लोमशजीका इन्द्रद्युम्नको अपनी चिरायु बताना १६
९५–लोमशजीद्वारा नैमिषारण्यमें मुनियोंको शिवजीका माहात्म्य-कथन १
९६–वशिष्ठजीके द्वारा भगवान् रामके प्रति भिन्न-भिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन ४८१
९७–वानरोंका समुद्रपर पुल बाँधना ... ४०९
९८–विदर्भराजकी पत्नीका ग्राहद्वारा पकड़ा जाना ... ५१४
९९–विद्यापतिका इन्द्रद्युम्नको नीलाचलवासी भगवान् विष्णुका वृत्तान्त सुनाना २६५
१००–विमलादित्यको भगवान् सूर्यके दर्शन ... ६४२
१०१–विरोचनद्वारा ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रको अपना मस्तक उतारकर देना ४३
१०२–विश्वावसु शबरद्वारा ब्राह्मणका आतिथ्य-सत्कार २६१
१०३–वेताल-बाधासे मुक्त ब्राह्मणका दत्तात्रेयजीसे संवाद ४३३
१०४–वैश्योंकी उत्पत्ति ४७१
१०५–व्यासजीका कीटको उद्बोधन करना ... १५५
१०६–व्यासजीका शुकदेवजीको जटातीर्थमें स्नान करनेके लिये भेजना ४१७
१०७–शिवजीका बालक गृहपतिकी इन्द्रके वज्रसे रक्षा करना ५६२
१०८–शिवदूतोंका चाण्डालिनीको दिव्य तेजसे सम्पन्न करना ५१०
१०९–शिवशर्माका सूर्यलोकमें पहुँचना ... ५५५
११०–शुक्राचार्यद्वारा भगवान् शङ्करका स्तवन ... ५६७
१११–शेषनागजीका लक्ष्मणजीके सामने प्रकट होना ३९१
११२–श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्रा ... २९१
११३–श्रीरामकृष्णके समक्ष भगवान् विष्णुका प्राकट्य २२७
११४–सत्यभामाका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त पूछना १२८

११५–सत्यव्रतका नन्दभद्रके सामने अपने नास्तिकतापूर्ण विचार रखना १५१
११६–सप्ततीर्थ (विशेषाङ्कका मुखपृष्ठ)
११७–सुचरित मुनिके सामने भगवान् शङ्करका अर्धनारीश्वर रूपमें प्रकट होना ... ४२५
११८–सुलक्षणाकी बकरीपर अनुग्रह करनेके लिये शिवजीसे प्रार्थना ६३५
११९–सूर्यदेवके सामने भगवान् शङ्करका प्राकट्य ... ६३७
१२०–हारीतका अपने पुत्र कमठसे परम भोजनका स्वरूप पूछना १५९

छठे अङ्कसे बारहवें अङ्कतककी लेख-सूची

५१५–ईश्वर-भक्ति, सदाचार और गीताकी महिमा (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानसे) ... ११४५
५१६–उपासना और मनकी पवित्रता (श्रीदेवीचरणजी निगम, एम्० ए०) ... १३८६
५१७–कल्याण (‘शिव’) १०८०, ११४४, १२०८, १२७२, १३३६, १४००, १४६४
५१८–क्या सोचोगे ! (श्रीबालकृष्णजी बलदुआ) ... १४८५
५१९–कामके पत्र ११३९, ११९५, १२५८, १३२९, १३९५, १४५३, १५२४
५२०–कारज सरै न भक्ति बिनु (श्री ‘दुर्गेश’) ... १४५०
५२१–केनोपनिषद्-मनन (श्रीनारायणसिंहजी राव मसूदा) १२३५
५२२–क्षमा [कहानी] (श्रीजनार्दन शर्मा ‘अवनीन्द्र’) ११३४
५२३–गायत्रीमन्त्रकी महत्ताका रहस्य (पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि) ... १४८७
५२४–गीता और रामायणके क्रियात्मक प्रचारकी आवश्यकता (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) १४७७
५२५–गीता-जयन्ती (श्रीदेवीचरणजी निगम, एम्० ए०) १४२०
५२६–गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई (श्रीबिहारीलालजी मित्तल) १३८३
५२७–गोवधका पाप १२०४
५२८–चन्दन [कहानी] (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) १२४५
५२९–चित्तका श्रम (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) १२९१
५३०–चेतावनी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १५११
५३१–जगत्का स्वभाव (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) १२४३
५३२–तप और त्याग (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) १४१९
५३३–तपोवन [कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर] (अनु०–श्रीधन्यकुमारजी जैन) १३६४, १४१२
५३४–त्रिविध कर्म (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १२७३
५३५–दुःख-नाशके अमोघ उपाय (हनुमानप्रसाद पोद्दार) १२१७
५३६–देवी-महिमा (पं० श्रीरामदत्तजी भारद्वाज एम्० ए० (त्रय), एल्-एल्०बी०) ... १४३२
५३७–धनकी विपत्ति (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ११८२
५३८–धन साधन है या साध्य (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) १३१६
५३९–धर्मपरायणतासे ही भारतका अभ्युदय (पं० श्रीदुर्गादत्तजी शास्त्री, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-स्मृति-पुराण-तीर्थ) ... ११८५
५४०–निराशापर विजय (श्रीलावेल फिल्मोर) ... १४२१
५४१–नैतिक अर्थशास्त्रकी आवश्यकता (श्रीभगवानदासजी केला) ११२०
५४२–नैतिक पतन और उससे बचनेके उपाय ... १२५३
५४३–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ... १३२०, १४४५
५४४–पवित्रताका रहस्य (साधुवेषमें एक पथिक) १३५३
५४५–प्रेम-राज्य (श्री ‘दुर्गेश’) ... १२५७
५४६–ब्रह्मचर्य-रक्षाके उपाय और फल (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ... ११५९

भक्त-गाथा

५४७–देवाजी पुजारी १२४७
५४८–पुरुषोत्तम भक्त १३२४
५४९–भक्त गोविन्द स्वामी (श्रीनटवरलालजी गोस्वामी) ११९२

५५०–भक्त विष्णु महाराज ··· ··· १४५१

५५१–भक्त श्रीघाटमजी मीना ··· ··· १५२२

५५२–भक्तिमती चन्द्रलेखा ··· ··· १३९२

५५३–भक्तोंके भक्त श्रीनरहरियानन्दजी (श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) ··· ··· १५०३

५५४–विरक्त रामभक्त श्रीबनादासजी (बाबा श्रीराघवदासजी एम्० एल्० ए०) ··· ११२४

५५५–भगवान् तथा महात्मामें प्रेम और श्रद्धा कैसे हो ? (पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रवचन) १४६५

५५६–भोग और त्याग ··· ··· १४३३

५५७–भोले भगवान् [कहानी] (श्री'चक्र') ··· १३१०

५५८–मनुष्य-जीवनके कुछ दोष ··· ११७८

५५९–मरनेपर जीव कहाँ और कैसे जाता है ? ··· १३२५

५६०–महत्त्वपूर्ण प्रवचन (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १३३७

५६१–मानव-चक्षु (वैद्यरत्न श्रीप्रतापसिंहजी) ··· १३८९

५६२–मानसिक परावलम्बन (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) ··· ··· १४९४

५६३–मानसिक शक्तियोंका उद्दीपन (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) ··· ११८८

५६४–यज्ञका महत्त्व (याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ) ··· १३७१

५६५–यज्ञसे देवताओंकी तृप्ति (याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ) ··· १४७८

५६६–राजा चक्रवेणके त्यागका प्रभाव (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १४०१

५६७–वर्तमान गणतन्त्र तथा मतदाताओंका कर्तव्य १५१६

५६८–वसन्तोत्सवका आध्यात्मिक रहस्य (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्०ए०) १४८०

५६९–विकासके पथपर (स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजी) १११२

५७०–विश्वासका फल (राजकुमारी श्रीमती रमाकुमारी) १५०४

५७१–विशिष्टाद्वैत वेदान्तके कुछ सिद्धान्त (श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार) ··· १२९३

५७२–विषय-त्यागसे मुक्ति (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ··· ··· १४९७

५७३–विषय-वासनासे तपस्याकी हानि (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी) ··· १२४०

५७४–वेद और गायत्री (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री) ··· ··· १४८४

५७५–वेदोंमें गौका महत्त्व (श्रीकैलाशचन्द्रजी विद्यालङ्कार) ··· ··· १४२२

५७६–वैराग्य (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) १२१५

५७७–वोट किसको दें ? (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· १५१९

५७८–व्यापारीकी प्रार्थना ('यूनिटी') ··· ११६७

५७९–शोकसे मुक्ति (पं० श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री) ··· ··· १३७९

५८०–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन ११५३, १२२३, १२७७, १३४४, १४०६, १४७१

५८१–श्रीगणेश—एक महान् भारतीय आदर्श (पं० श्रीलक्ष्मीनारायणजी पुरोहित, साहित्याचार्य, कविकुलनिधि) ··· १४२६

५८२–श्रीगीताजयन्ती ··· ··· १४६२

५८३–श्रीभगवन्नामजपके लिये विनीत प्रार्थना ··· १० वें अङ्कका तीसरा आवरण पृष्ठ

५८४–श्रीभगवन्नाम-जप ··· ··· १४६०

५८५–श्रीभगवान्‌के दिव्यादेश (श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०) १२८४, १३५४

५८६–संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्कके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १०८१

५८७–सञ्जीवन बूटी (महात्मा श्रीजयगौरीशङ्करजी सीताराम) ··· ··· १५०२

५८८–संस्कृतके पण्डित और अंग्रेजीके विद्वान् (आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ) १३७५

५८९–संस्कृतियोंकी जननी (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ··· १२६४, १३०४

५९०–सतत उद्योग और मनोरथका त्याग (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ११६८

५९१–सत्यकी खोजमें (डा० श्रीकुलरञ्जन मुखर्जी) १४४२

५९२–सत्सङ्ग (श्रीशम्भुनाथजी चतुर्वेदी) ··· ११७४

५९३–सत्सङ्गकी कुछ सार बातें (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १२०९

५९४–सत्सङ्गमाला (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ··· १११५

५९५–सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन (एक सत्सङ्गी) ··· ११२७, ११८९, १२३०

५९६–सब नाम-रूपोंमें एक ही भगवान् (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ··· ११११

५९७–सुखकी जड़ (स्व०श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) १४३८

५९८–सेवाकी सात आवश्यक बातें ··· ११२६

५९९–सेवाके मार्गसे मुक्ति (स्व०श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ··· १३६२

६००–हिंदू-कोड-बिल ···· नवें अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ

76150

पद्य-सूची

१–अनन्त छवि (श्रीमोहनलालजी अवस्थी 'मोहन') … … १५१०
२–कल्याणी कैकेयीके चरणोंमें श्रद्धाके फूल (श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी) … १४८६
३–कहा कहा वारि डारौं … १२२९
४–गीत (श्रीमोहन वैरागी) … १४७६
५–गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णके मनोद्गार (महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') … १३६१
६–चित्रकूटमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणकी झाँकी (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) … १४६३
७–छकड़ेका बैल (श्रीनागरीदासजी) … १४११
८–जय जगजननि ! (श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी) १२२२
९–ज्ञाननौकाके द्वारा उद्धार … १२०७
१०–ज्ञानी … … १३७८
११–झूला-गीत (श्रीराजारामजी खरे) … १२४२
१२–तुम मेरी राखो लाज हरी (श्रीसूरदासजी) १४५०
१३–दूसरेकी आशा (श्रीरैदासजी) … १४७९
१४–दैवी प्रकृतिका आश्रय (अकिञ्चन) … १२७१
१५–निष्पाप मन (पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा) १४८६
१६–पौराणिक सद्धर्म (पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डांगीजी') … … ११७१
१७–प्रभुसे (अकिञ्चन) … १२९६, १४५२
१८–प्रार्थना (अकिञ्चन) … … १३४३
१९–प्रेमविवश राम … … ११४३
२०–भक्तका निश्चय (मीराबाई) … ११८१
२१–भक्तके चेरे (श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी) १३७४
२२–भगवान्‌को छोड़कर अपना कौन है ? (श्रीसूरदासजी) … … ११३३
२३–भू-दान गीत (श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त) १५२१
२४–मनकी दशा (श्रीनानकजी) … ११४२
२५–माखन माँगनेकी अनोखी रीति (श्रीसूरदासजी) … … १३९९
२६–मैं सदैव उठ खड़ा हुआ हूँ (श्रीबालकृष्ण बलदुआ) … … १२९०
२७–विनती … … १३३५
२८–विनय (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) … १३१९
२९–शुभ आकाङ्क्षा (श्रीसूरदासजी) … १०७९
३०–संसारकी असारता (श्रीजनार्दन झा 'जनसीदन') … … १२०६
३१–सेवक … … … १३६३
३२–हृदय-बोध [समर्थ स्वामी श्रीरामदासजीके 'मनांचे' श्लोकका अनुवाद] (डा० पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०) … १२००
१२४९, १३००

संकलित

१२–अभय-साधक मन्त्र (पद्मपुराण) … १५१५
१३–भारतीय साम्यवादका आदर्श · · सातवें अङ्कका चौथा आवरणपृष्ठ
१४–वे अपने अपने नहीं हैं (श्रीमद्भागवत) … १४२१
१५–शुभ अभिलाषा … … १२३९

चित्र-सूची

तिरंगे

१७–चित्रकूटमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणकी झाँकी … १४६३
१८–चिन्मय युगल … … १३३५
१९–ज्ञाननौकाके द्वारा समस्त पापोंसे उद्धार … १२०७
२०–दिव्य युगल … … १०७९
२१–दैवी प्रकृतिका आश्रय … … १२७१
२२–माखन माँगनेकी रीति … … १३९९
२३–सीताजीके वस्त्रको श्रीराम हृदयसे लगा रहे हैं ११४३

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने शहरके विक्रेतासे माँगिये
इससे आपको शायद पैसे और समयकी बचत हो सकती है। व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

श्रीभागवत-सुधा-सागर

(भगवान् वेदव्यासकृत सम्पूर्ण 'श्रीमद्भागवत'
बारहों स्कन्धोंकी सरल हिन्दी व्याख्या, श्लोकाङ्कसहित)

आकार २२×२९ आठपेजी, मोटा कागज, पृष्ठ-सं० १०१६, चित्र २५ बहुरंगे, १ सुनहरा, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ८।।) मात्र। डाकखर्च १।।≈) ।

श्रीमद्भागवत भारतीय वाङ्मयका मुकुटमणि है। वैष्णवोंका तो यह सर्वस्व ही है। भारतवर्षमें जितने भी वैष्णव-सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उन सभीमें श्रीमद्भागवतका वेदोंके समान आदर है। कई आचार्योंने तो प्रस्थानत्रयीके अन्तर्गत उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रोंके साथ इसीको तीसरा प्रस्थान माना है। इसे वेदमहोदधिका अमृत कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी—'वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा।' बल्कि पद्मपुराणान्तर्गत भागवत-माहात्म्यमें स्वयं सनकादि परमर्षियोंने प्रणव, गायत्री-मन्त्र, वेदत्रयी, श्रीमद्भागवत और भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण—इनका तत्त्वतः अभेद बतलाया है। इसे भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात् वाङ्मय-स्वरूप माना गया है। साक्षात् भगवान्‌के कलावतार श्रीवेदव्यासजी-जैसे अद्वितीय महापुरुषको जिसकी रचनासे ही शान्ति मिली, उस श्रीमद्भागवतकी महिमा कहाँतक कही जाय। इसमें प्रेम, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य—सभी कूट-कूटकर भरे हुए हैं। इसका एक-एक श्लोक मन्त्रवत् माना जाता है। इसीसे इसका धर्मप्राण जनतामें इतना आदर है।

जो लोग संस्कृतसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं, अतएव जिनकी केवल अनुवादमात्रको पढ़नेकी रुचि है, ऐसे लोगोंकी सुविधाके लिये यह केवल भाषानुवाद 'श्रीभागवत-सुधा-सागर' के नामसे अलग छापकर पाठकोंके सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। यह अनुवाद हमारे यहाँसे हालमें ही प्रकाशित श्रीमद्भागवतके सटीक संस्करणसे ही लिया गया है। प्रस्तुत अनुवादमें मूल श्लोकोंके अन्तर्गत प्रत्येक शब्दके भावकी रक्षा करते हुए छोटे-छोटे वाक्योंमें उनकी व्याख्या की गयी है। अतएव इसे अनुवाद न कहकर 'सरल संक्षिप्त व्याख्या' कहना अधिक उपयुक्त होगा। स्थान-स्थानपर, विशेष करके दशम स्कन्धमें कई जगह श्रीभगवान्‌की मधुर लीलाओंके रसास्वादनके लिये और लीला-रहस्यको समझनेके लिये नयी-नयी टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं, जिससे ग्रन्थकी उपादेयता और सुन्दरता विशेष बढ़ गयी है और साथ ही आकार भी कुछ बढ़ गया है। चित्र भी अधिक दिये गये हैं। ये इस नवीन संस्करणकी कुछ विशेषताएँ हैं।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

महर्षिवेदव्यासप्रणीत

11-6-67

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

(स्थूलाक्षरं मूलमात्रम्)

[मूल——मोटे अक्षरवाली]

आकार २२×२९ आठपेजी, तीस पौंडका मोटा कागज, पृष्ठ-संख्या ६९२, भगवान् श्रीकृष्णका दधि-भातका और हाथमें लिये सुन्दर बहुरंगा चित्र, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ६) मात्र। डाकखर्च १≡)।

श्रीमद्भागवतका यह मूल संस्करण बड़ी अवस्थावाले, जो महीन अक्षर नहीं पढ़ सकते, उन स्वाध्यायरसिकोंके लिये विशेष उपयोगी है। गीताप्रेससे पूर्वप्रकाशित गुटकेके टाइप छोटे होनेके कारण उन लोगोंको पाठ करनेमें कठिनाई पड़ती थी और बड़े अक्षरोंके संस्करणके लिये बड़ी माँग थी।

प्रस्तुत ग्रन्थका पाठ अनेक प्राचीन, अर्वाचीन हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियोंका अन्वेषण करके अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानोंने सम्मिलित प्रयास करके शुद्ध और प्राचीनतम रूपमें तैयार करनेका प्रयत्न किया है।

श्रीप्रेम-सुधा-सागर

('श्रीमद्भागवत' के केवल दशम स्कन्धकी श्लोकाङ्कसहित और विविध टिप्पणियोंसे समन्वित सरल हिन्दी व्याख्या)

आकार २२×२९ आठपेजी, मोटा कागज, पृष्ठ-सं० ३१६, चित्र १ सुनहरा, १४ बहुरंगे, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ३।।) मात्र। डाकखर्च ।।।≈)।

दशम स्कन्ध श्रीमद्भागवतका हृदयस्थानीय है। उसमें भागवतके परम प्रतिपाद्य श्रीकृष्णकी—जिनका उल्लेख इसी ग्रन्थमें 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहकर हुआ है—म[illegible]निमधुर लीलाओंका परम मनोहर ढंगसे वर्णन हुआ है। भगवान्के चरित्र ही ऐसे हैं कि बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंका मन बरबस उनकी ओर खिंच जाता है। श्रीकृष्णके कुछ अनन्य उपासक श्रीकृष्णलीलाके अतिरिक्त और कुछ भी पढ़ना-सुनना नहीं चाहते। ऐसे लोगोंकी सुविधाके लिये विशेषतः उन लोगोंके लिये जो संस्कृतसे सर्वथा अपरिचित हैं—केवल दशम स्कन्धका यह भाषानुवाद अलग पुस्तकरूपमें 'श्रीप्रेम-सुधा-सागर' के नामसे पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। श्रीभगवान्की मधुर लीलाओंके रसास्वादनके लिये तथा लीला-रहस्यके समझनेके लिये स्थान-स्थानपर नयी-नयी टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं, जिससे ग्रन्थकी उपादयता विशेष बढ़ गयी है।

यह अनुवाद श्रीमद्भागवतके सटीक संस्करणसे ही लिया गया है—जो दो खण्डोंमें हालमें ही प्रकाशित है।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

Compiled
1999-2000